जैन साधना पद्धति में ध्यान योग

पुणे विश्वविद्यालय की 'विद्यावाचस्पति' (पीएच. डी.)
की उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध प्रबंध

शोधार्थी

जैन साध्वी प्रियदर्शनाजी

पूर्व पीठिका (प्रस्तावना)

डॉ. सागरमल जैन

निदेशक, भारतीय विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी

शोधनिर्देशक

डॉ. अ. दा. बतरा

एम. ए., पीएच. डी.
मनोविज्ञान एवं दर्शन विभाग,
अण्णासाहेब मगर महाविद्यालय,
हडपसर, पुणे ४११ ०२८.

१९८६

प्रकाशक :
श्री रत्न जैन पुस्तकालय
आचार्यश्री आनदऋषिजी मार्ग,
अहमदनगर.

मूल्य ३०० रुपये

मुद्रण दिसबर १९९१

मुद्रक :
प्रदीप मुनोत
प्रभात प्रिंटिंग वर्क्स
४२७, गुलटेकडी, पुणे ४११ ०३७

प्राप्ति स्थान :
१) श्री रत्न जैन पुस्तकालय
आचार्यश्री आनदऋषिजी मार्ग,
अहमदनगर - ४१४ ००१
२) भारतीय विद्या प्रकाशन
ओरिएटल पब्लिशर्स ॲन्ड बुक सेलर्स,
१ यु बी जवाहरनगर, बगला रोड,
दिल्ली - ११० ००७

I

समर्पण...

जिनेश्वरी सहज साधना के प्रतीक

श्रुत - सहस्रांशु

परम श्रद्धेय आचार्य भगवंत

पू. आनंदऋषिजी महाराज

के श्रीचरणों में

श्रुतांजलि सहित

- साध्वी प्रियदर्शना

आचार्य सम्राट् पूज्य श्री आनंदऋषिजी म. का

शुभ - सन्देश

जैन तत्त्वज्ञान में शोध की दशा, दिशा और सम्भावना पर
दृष्टिपात करते हुए ऐसा प्रतीत होने लगा है कि
भारतीय मनीषा के प्राच्य मूल्यों का युगीन सन्दर्भ में
यदि आकलन न हो सका तो
हमारी बहुत बड़ी धरोहर उपेक्षा और अवमूल्यन का शिकार बन जायेगी।
विज्ञान और तकनीकी विकास के परिप्रेक्ष्य में
सास्कृतिक, धार्मिक और सामाजिक अवधारणाओं का
समीचीन सन्दर्भ केवल शोध द्वारा सम्भव है
और वह भी अनेकान्त दृष्टिकोण को लक्ष्य रखकर।

योग का विवेचन प्रस्तुत कर
श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण-संघ की विदुषी आर्या
साध्वी प्रियदर्शनाजी ने बहुत बड़े अभाव की पूर्ति की है।
श्रमण सघ के इतिहास में यह उल्लेखनीय प्रयास है।
जैविक चेतना के क्रमिक विकास एव आधारभूत सिद्धातों के प्रतिपादन में
साध्वीजी ने जिस मेधा का परिचय दिया है,
उसके सम्मानार्थ पुणे विश्व विद्यालय के
दर्शन विभाग, मार्गदर्शक, परीक्षक आदि ने जिस किस प्रकार का
योगदान दिया है, उसके प्रति मगल भावना प्रस्तुत है।

विश्वास है, विद्यावारिधि / पीएच डी. उपाधि से विभूषित
साध्वी प्रियदर्शनाजी संयम मार्ग में अबाध गति से चलती हुई
ज्ञान - दर्शन - चारित्र की प्रभावना में
तीन करण - तीन योग से दत्तचित्त रहेगी
और वर्तमान तथा भविष्यत् के लिये ऐसे मानदण्ड प्रस्तुत करेंगी
जिससे विशाल स्तर पर लोग लाभान्वित होंगे।

– आचार्य आनन्दऋषि

गुरु भगिनी एवं
सांसारिक अग्रजा
साध्वी प्रमोदसुधाजी

इस शोध प्रबन्ध की लेखिका
साध्वी प्रियदर्शना

साध्वी प्रियदर्शनाजी के जन्मदाता पिता

स्व. श्री चांदमलजी चोपडा

संथारा ग्रहण
बुधवार दि १७-१०-१९७९

स्वर्गवास
सोमवार दि २२-१०-१९७९

साध्वी प्रियदर्शनाजी की जन्मदात्री माता

स्व. श्रीमती प्यारीबाई

संथारा ग्रहण
रविवार दि १३-१-१९९१

स्वर्गवास
मंगलवार दि २२-१-१९९१

इस ग्रंथ के अर्थ सहयोगी दंपती

श्री. संपतभाऊ एवं सौ. कुसुमबाई

योग्य पिता की सुयोग्य कन्या
कु. विनोदिनी

अर्थ सहयोगी परिवार का परिचय

'जं सेय त समायरे।' जो श्रेयस्कर हो उसीका समाचरण किया जाए। यह है प्रभु महावीर का दिव्य सन्देश। प्राणिमात्र के लिए श्रेय है - मोक्ष-पथ की साधना। मुक्ती की इस साधना के श्रमण-सस्कृति में व्यक्ति-क्षमता के अनुरूप दो मार्ग हैं - एक है श्रमण / अनगार और दूसरा है श्रावक / सागार। वह परिवार, वह कुल, वह कुटुंब निश्चित ही धन्य है, जिसके सदस्य इन श्रेयस्कर पथों की साधना के लिए समर्पित हों। ऐसा ही एक है - चोपडा परिवार, जिसमें से दो साधक आत्माएँ श्रमण पथ पर अग्रसर हैं - परमविदुषी महासतीजी श्री प्रमोदसुधाजी एवं प्रस्तुत शोध-प्रवन्ध की लेखिका महासतीजी वा व्र डॉ प्रियदर्शनाजी।

इस चोपडा परिवार के एक सदस्य - उपरोक्त साध्वीद्वय के सासारिक वन्धु हैं पूना निवासी उदार - हृदयी श्री सपतलाल चोपडा, जो अपने नामानुसार स्नेह, सेवा, सौजन्यरूपी संपदा के धनी अपने प्रियजनों में सपतभाऊ इस नाम से विख्यात हैं। पूना के श्री वर्धमान श्वे स्थानकवासी जैन श्रावक सघ (साधना सदन) के आप वर्षों से मन्त्री हैं। सन्त-सतियों एव अभ्यागत दर्शनार्थियों की सेवा में सदासर्वदा तत्पर रह कर मन्त्री पद की गरिमा बढा रहे हैं। श्रमण संघ के आचार्य सम्राट् प. पू आनन्दऋषिजी महाराज के आप विशेष स्नेह-कृपापात्र हैं। अपनी सेवा-भक्ति द्वारा हर सन्त-सतीवृन्द का मन सहज रूप से आप जीत लेते हैं। सेवाभावी संस्थाओं- आनन्द प्रतिष्ठान, तिलोक रत्न स्था जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, अ भा श्वे स्थानकवासी जैन कान्फ्रेन्स के आप कार्यकारिणी के सदस्य हैं। आपने धार्मिक एव आध्यात्मिक सेवाओं के साथ व्यापार के क्षेत्र में भी सफलता हासिल की है। हर व्यक्ति के सुख-दु ख में सहभागी बनने में भी आपकी तत्परता प्रशंसनीय है।

पिता स्व. चान्दमलजी चोपडा

घोडनदी के निवासी व्यापार के लिए पूना आये हुए श्री. चांदमलजी चोपडा एक धर्मनिष्ठ, श्रद्धाशील सुश्रावक रहे हैं। प्रभुदर्शन, प्रभुस्मरण, प्रभुशरण - यह त्रिसूत्री आपके सपूर्ण जीवन का नित्यक्रम रही है। व्यवसाय में आपने कभी अनीति का आश्रय नहीं लिया। वे अनीति - असत्य की घृणा करते रहे। जीवन की संध्या को पहचानते हुए अपनी दृढ धर्मनिष्ठा - भक्ति की अन्तिम परिणति स्वरूप अपनी सुपुत्री साध्वी प्रमोदसुधाजी के मुखारविंद से संथारा व्रत धारण कर समाधि-मरण प्राप्त किया।

माता स्व. प्यारीबाई चोपडा

अपने धर्मवीर पति की अनुगामिनी श्रीमती प्यारीबाई भी धर्म-साधना में सदा अग्रसर रही हैं। त्यागभावना, व्रत प्रत्याख्यान, सन्त-सती सेवा आदि में ही अपना सपूर्ण जीवन व्यतीत किया। अपने पतिदेव से सहमत हो अपनी दो प्रिय पुत्रियाँ जिनशासन की अभ्यर्थना एव प्रचार के लिए समर्पित की, जो अपने वक्तृत्व एव कर्तृत्व के वल पर श्रमण सघ की गरिमा को चार चाँद लगा रही हैं। स्व प्यारीवाई सत-सतियों की सेवा में सदा आनन्दानुभूति करती रही। उन्ही के पवित्र सस्कारों की सपदा उनके सुपुत्र सपतलालजी विनम्रता एव लगन के साथ वहन कर रहे हैं।

श्रीमती प्यारीवाई ने भी अपने पतिराज का अनुकरण जीवन की सध्या में किया, एव अपनी धर्मनिष्ठा-भक्ति का परिचय दिया। उन्होंने अपनी पुत्री साध्वी प्रियदर्शनाजी के मुखारविंद से सथारा व्रत धारण कर समाधिमरण प्राप्त किया। इन दोनों के जीवन की एक विशेषता यह रही कि, इन दोनों ने एक ही तारीख को याने २२ तारीख को इहलोक की यात्रा पूर्ण की।

ज्येष्ठ भगिनी सौ. ताराबाई पीतलिया

चोपडा दपती की ज्येष्ठ सुपुत्री सौ ताराबाई अपने माता-पिता के पवित्र सस्कारों की देन अपने जीवन में निभा रही हैं। उनका शुभ विवाह कोल्हापूर निवासी श्री मोतीलालजी पीतलिया के साथ सपन्न हुवा। अत्यन्त सरल स्वभावी सौ. ताराबाई का जीवन आचार-विचारों की माधुरी से ओतप्रोत है। उनकी स्वभाव - माधुरी के कारण हर व्यक्ति उनकी ओर आकर्षित होता है। वज्र (सम) सेवाव्रत धारिणी सौ ताराबाई ने अपनी पूजनीय माता के जीवन की अन्तिम घडी तक निरलस सेवाव्रत का आदर्श निर्माण किया। धार्मिक कार्यों में भी वह सदा अग्रसर रहती हैं।

धर्मपत्नी सौ. कुसुमबाई

भारतीय सस्कृति में पत्नी को पति की अर्धांगिनी का स्थान दिया जाता है। सौ कुसुमबाई ने हर कार्य में अपने पतिराज को पूरा सहयोग समर्पित कर अर्धांगिनी पद यथार्थ बनाया है। मिलनसार स्वभाव की एव प्रसिद्धीविन्मुख होने के कारण गृहकार्यदक्ष एव सेवा की प्रतिमूर्ति बनी हुई हैं। अपनी पूजनीया सास की अन्तिम क्षण तक निरलसता से उन्होंने सेवा की। प्रस्तुत ग्रथ के प्रकाशन का आर्थिक दायित्व उठाने की प्रेरणा अपने पति को सौ कुसुमबाई ने ही दी है।

सुकन्या विनोदिनी B Com

अपने श्रद्धाशील सेवाभावी माता-पिता की सुपुत्री होने का सद्भाग्य कु विनोदिनी को प्राप्त हुवा है। विलक्षण बुद्धि-प्रतिभा की स्वामिनी विनोदिनी शालेय जीवन से ही सर्वोच्च स्थान प्राप्त करती आयी है। बी कॉम् की परीक्षा में भी अच्छे गुण प्राप्त कर चोपडा कुल का नाम रोशन किया है। स्वाभाविक दृढता के कारण जो भी निर्णय करती है, उसका आचरण करने में वह कभी हिचकिचाती नही है। सेवाव्रत उसके जीवन का प्रमुख अलकार है। अध्ययन एव परीक्षा की निकटता का बोझ सर पर होते हुए भी पू दादी की अन्तिम घडी में खूब सेवा की। परिस्थिति की प्रतिकूलता में भी वह अपने मन का सन्तुलन दृढता से टिकाए रहती है। अपने कुल की सन्तसेवा की परपरा स्नेहल विनोदिनी ने सपूर्णतया अगीकृत कर ली है। आज के युग में प्रचलित विकृतियों के प्रभाव से वह कोसों दूर है। यही कारण है कि जीवन में विशेष कार्य करके अपनी त्याग वृत्ति का आदर्श निर्माण करने की उसकी महत्त्वाकाक्षा है। सादा जीवन उच्च विचार की प्रतिमूर्ति विनोदिनी ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन में आर्थिक दायित्व उठाने में अपनी माता के प्रस्ताव का दर्यादिली से समर्थन किया।

अपने सभी कुटुबियों की प्रेरणा से जागृत होकर त्याग वृत्ति का उदाहरण इस ग्रंथ के प्रकाशन की आर्थिक जिम्मेवारी सपतभाऊ ने अपने सर पर उठाकर आदर्श निर्माण किया है। उनकी यही उदारता, दातृत्व शक्ति, सेवावृत्ति सदा वृद्धिगत होती रहे तथा दिव्य गुणों के पुष्प उनका जीवन सदा सुरभित करते रहें यही मगल कामना है।

परीक्षक - प्रतिवेदन

पुणे विश्व विद्यालय की पीएच डी (विद्या वाचस्पति) पदवी के लिए ''जैन साधना पद्धति में ध्यान योग'' नामक शोध प्रवध जैन साध्वी प्रियदर्शनाजी ने मेरे मार्गदर्शन में लिखा है। जैन साधना पद्धति में ध्यान का अपना विशिष्ट महत्व माना गया है। यही कारण है कि, प्राचीन जैन साधकों और विचारकों ने ध्यान पर विपुल मात्रा में साहित्य निर्माण किया है। जैन आगम साहित्य इस सकल्पना के मूल स्रोत कहे जा सकते हैं। किंतु इस विपुल आगम साहित्य में से ध्यान की सकल्पना का समग्र रूप से एव व्यवस्थित ढग से आकलन करते हुए विवेचन करने का कार्य अभी तक नहीं हुआ था। साध्वी श्री प्रियदर्शनाजी ध्यान योग की व्यवहारिक साधिका हैं। उन्होंने प्रदीर्घ परिश्रमपूर्वक अध्ययन करने के वाद जैन साहित्य में प्राप्त ध्यान सकल्पना की सारी दृष्टियों का आकलन तथा विवेचन किया है। इस प्रवध के लेखन में साध्वी ने शोधकार्य के अनुकूल धैर्य, परिश्रम और बौद्धिक क्षमताओं का परिचय दिया है। उनकी विवेचन क्षमता सराहनीय है। मैं उनकी कार्यमौलिकता और शोध पटुता से सतुष्ट हूँ। तथा यह अनुज्ञा व्यक्त करता हूँ कि, श्री प्रियदर्शनाजी को इस प्रवध पर पीएच डी की पदवी प्रदान की जाए।

१९-५-८६
पुणे

डॉ. ए. डी. बतरा
एम ए , पीएच डी ,
डी. वाय पी
शोध निर्देशक

परीक्षक - प्रतिवेदन

पुणे विश्व विद्यालय की पीएच डी (विद्या वाचस्पति) पदवी के लिए "जैन साधना पद्धति में ध्यान योग" नामक शोध प्रवध जैन साध्वी प्रियदर्शनाजी ने मेरे मार्गदर्शन में लिखा है। जैन साधना पद्धति में ध्यान का अपना विशिष्ट महत्व माना गया है। यही कारण है कि, प्राचीन जैन साधकों और विचारकों ने ध्यान पर विपुल मात्रा में साहित्य निर्माण किया है। जैन आगम साहित्य इस सकल्पना के मूल स्रोत कहे जा सकते हैं। किंतु इस विपुल आगम साहित्य में से ध्यान की सकल्पना का समग्र रूप से एव व्यवस्थित ढग से आकलन करते हुए विवेचन करने का कार्य अभी तक नही हुआ था। साध्वी श्री प्रियदर्शनाजी ध्यान योग की व्यवहारिक साधिका हैं। उन्होंने प्रदीर्घ परिश्रमपूर्वक अध्ययन करने के वाद जैन साहित्य में प्राप्त ध्यान सकल्पना की सारी दृष्टियों का आकलन तथा विवेचन किया है। इस प्रवध के लेखन में साध्वी ने शोधकार्य के अनुकूल धैर्य, परिश्रम और बौद्धिक क्षमताओं का परिचय दिया है। उनकी विवेचन क्षमता सराहनीय है। मैं उनकी कार्यमौलिकता और शोध पटुता से सतुष्ट हूँ। तथा यह अनुज्ञा व्यक्त करता हूँ कि, श्री प्रियदर्शनाजी को इस प्रवध पर पीएच डी की पदवी प्रदान की जाए।

१९-५-८६
पुणे

डॉ. ए. डी. बतरा
एम ए, पीएच डी,
डी वाय पी
शोध निर्देशक

Dr. Kamal Chand Sogani
PROFESSOR AND HEAD
Department of Philosophy
Sukhadia University
UDAIPUR - 313001 (Raj)

Phone Resi 26088
TH-4, Staff Colony
University New Campus
UDAIPUR - 313001 (Raj)
13-5 86

Report on the thesis 'जैन साधना पद्धति में ध्यान योग' submitted by Jain Sadhvi Priyadarshanaji for the degree of Ph. D of the University of Poona, Pune -

—— 0 ——

Sadhvi Priyadarshanaji has submitted the thesis जैन साधना पद्धति में ध्यान योग At the onset I wish to say that the thesis is an authentic document on Dhyana The candidate deals with the topic of dhyana in an exhaustive manner All the aspects of Dhyana have been duly covered. In the beginning the candidate has surveyed the literature on Dhyana. The survey shows her knowledge of sources from where the material can be drawn In the first chapter some non - Jain concepts of Dhyana have been delineated. The importance of Dhyana in Jain Sadhana, the nature of Dhyana, the types of Dhyana, the effects of Dhyana have been discussed at length.

The whole thesis has been systematically presented Candidate's expression in Hindi is lucid In the end the candidate has explained the technical terms. the explanation is very useful and shows her understanding of the matter

I, there fore, recommend that the candidate may be awarded the degree of Ph. D The theme is very much suitable for publication

(sd) **K. C. Sogani**

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान

आई टी. आई रोड, वाराणसी-५

साध्वी श्री प्रियदर्शनाजी का विशालकाय शोधप्रवन्ध "जैन साधना पद्धति में ध्यान योग" रुचिपूर्वक पढा। प्रस्तुत महाकाय ग्रन्थ अपने में लगभग एक हजार पृष्ठों की सामग्री सजोये हुए हैं। इस विशालकाय शोधप्रवन्ध को तैयार करने में लेखिका ने जो श्रम किया है, वह निश्चित ही सराहनीय है। मेरी दृष्टि में तो इसे जैन साधना में ध्यान योग की अपेक्षा समग्र जैन साधना पद्धति पर लिखा गया शोधप्रवन्ध ही मानना चाहिए। शोध-विषय की दृष्टि से तो इसके केवल चतुर्थ, पञ्चम और षष्ठ अध्याय ही पर्याप्त थे। फिर भी लेखिका ने जो श्रम किया, वह सराहनीय है। यद्यपि शोध-विषय से असम्बन्धित अनेक विवरणों का अनावश्यक विस्तार खटकता है। उदाहरण के रूप में जैन साहित्य का विवरण देते हुए सक्षेप में जैन साहित्य का इतिहास ही लिख दिया गया है। अच्छा होता कि इसमें केवल उन्ही ग्रथों को समाहित किया जाता जो ध्यान पद्धति से संबधित हैं और केवल इतना ही दिखाना पर्याप्त होता कि उनमें ध्यान - सवंधी क्या क्या उल्लेख हैं। जहा तक विषय के प्रस्तुतीकरण का प्रश्न है निश्चय ही वह सन्तोषजनक है और लेखिका ने विषय को उसकी गहराई तक छूने का प्रयत्न किया है। यदि ध्यान की इस चर्चा में प्राचीन और अर्वाचीन अन्य ध्यान पद्धतियों की तुलना को अधिक महत्त्व दिया जाता तो शायद शोधप्रबन्ध की गरिमा और अधिक बढ़ जाती, किन्तु लेखिका के श्रम, अध्ययन सुविधाएँ आदि की मर्यादाओं को ध्यान में रखकर निश्चय ही यह कहना पड़ेगा कि निश्चय ही यह शोध प्रबन्ध अपने विषय का सन्तोषजनक और गम्भीर प्रस्तुतीकरण है। अन्त में पारिभाषिक शब्दावली आदि परिशिष्टों ने शोधप्रबन्ध की उपयोगिता में वृद्धि ही की है।

सामान्यतया ग्रन्थ के भाषायी स्वरूप को सन्तोषजनक कहा जा सकता है किन्तु मेरी दृष्टि में प्रकाशन के पूर्व इसका भाषायी परिष्कार आवश्यक है। स्वय लेखिका ने भी अपनी इस कमी को स्वीकार किया है। शोधप्रबन्ध के टङ्कण में प्राकृत और सस्कृत सन्दर्भों में तो अनेक अशुद्धियाँ हैं, प्रकाशन के पूर्व उनका परिमार्जन भी आवश्यक है। कही-कही सन्दर्भ छूट भी गये हैं। उदाहरण के रूप में पृष्ठ ३७७ पर सन्दर्भ क्रमाक १८१ छूटा हुआ है। फिर भी अपने प्रस्तुतीकरण एव समीक्षात्मक विवरण तथा यथासम्भव अन्य परम्पराओं से तुलना आदि के आधार पर निश्चय ही यह शोधप्रबन्ध पीएच डी की उपाधि हेतु स्वीकृत करने योग्य है। अत मैं विश्व विद्यालय से यह अनुशंसा करूँगा कि इस शोधप्रबन्ध पर लेखिका को अवश्य ही 'विद्या-वाचस्पति' (पी-एच डी) की उपाधि प्रदान की जाये।

१२-५-८६ (प्रो. सागरमल जैन)

प्रकाशक की कलम से

परम पूजनीय आचार्य प्रवर श्री आनन्दऋषिजी महाराज का सपूर्ण जीवन अध्ययन, अध्यापन, चिंतन-मनन से सराबोर रहा है। ज्ञान-साधना यही आपके जीवन का प्रधान अंग रहा है। 'नाणस्स सव्वस्स पगासणाए' यह भगवान महावीर का आदेश आचार्य प्रवर के जीवन का आदर्श कार्य रहा है। धार्मिक परीक्षा बोर्ड, रत्न जैन पुस्तकालय, शिक्षा सस्थाएँ, आध्यात्मिक प्रवचनों एवं ग्रंथों का प्रकाशन आदि की प्रस्थापना आपका आन्दोलन रहा है। यह आपकी अध्ययनशीलता का दूरगामी सुन्दर परिपाक है।

स्वय चिंतन-मनन, अध्ययन रूप महोदधि में डुबकी लगाकर ज्ञान-मुक्ती का लाभ उठाने से आपका समाधान नही हुवा। अपने शिष्य-शिष्याएँ, सपर्क में आनेवाले भी इस ज्ञान-साधना में सदा आगे बढते रहें यह भी आपकी उत्कंठा रही है। यही कारण है कि इस उम्र में भी आप प्रतिदिन मुमुक्षुओं को ज्ञान की सथा देते रहते हैं, मार्गदर्शन करते हैं। आपके साधु-साध्वियाँ ज्ञानार्जन के लिए सतत लालायित रहते हैं। इस क्षेत्र में अपनी विशेषताएँ प्रस्थापित करने में उनके प्रयास जारी रहते हैं।

आचार्यश्री की प्रेरणा से अनेकों साधु-साध्वियाँ धार्मिक एवं विद्यापीठीय परीक्षाओं में प्राविण्य प्राप्त कर रहे हैं। साध्वी प्रियदर्शनाजी भी इन्ही जिज्ञासुओं में अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। आपकी गुरुजी जैन शासन-चद्रिका स्व पू उज्ज्वलकुमारीजी भी एक अध्ययनरत विदुषी थी। उनकी विद्वत्ता की प्रसादी का लाभ स्वयं महात्मा गाधीजी ने भी उठाया था। महासतीजी की अनेक शिष्याएँ पीएच डी भी कर चुकी हैं। आचार्य भगवन् की प्रेरणा, महासतीजी का आदर्श तथा गुरु-भगिनी एव अग्रजा साध्वी प्रमोदसुधाजी के उत्साह का संबल साध्वी प्रियदर्शना को प्रगति करने में बल देते रहे। इन्ही का सुपरिणाम है पीएच डी. के लिए प्रस्तुत यह शोध प्रबन्ध।

'जैन साधना-पद्धति में ध्यान योग' पर संशोधन करने की उत्कटता साध्वीजी के मानस में जागृत हुई और डॉ अ. दा बतरा जैसे विद्वान पंडित के मार्गदर्शन की सुसधि का उत्साहवर्धन लेकर विभिन्न दर्शनों, आगमों, टीकाओं, ग्रंथों आदि का मन्थन शुरू हुवा। जो भी सन्दर्भ स्थान दृष्टिगत हुए उनका अनुशीलन करके टिप्पणियाँ तैयार होती गयीं।

केवल तान्त्रिक एवं तात्त्विक ज्ञान-प्राप्ति से उनको सन्तोष नही हुआ। पठित साहित्य में से उपलब्ध ज्ञान अनुभवसिद्ध होने पर अधिक निखरता है, यह धारणा होने से साध्वीजीने स्वय ध्यान के प्रयोग किए, मन.शान्ति प्राप्त की और शास्त्रीय जानकारी तथा

प्रत्यक्ष अनुभव का शब्दाकन एव सफल विवेचन इस प्रबन्ध में ग्रथित करने का सुयश उन्हें प्राप्त हुवा।

आज के भौतिक जीवन में मानव-मन अस्थिर हो गया है, आन्तरिक शान्ति नष्ट हो गयी है, जीवन में समाधान दुर्लभ हुवा है। मन शान्ति के शोध में मानव भटक रहा है। मानसिक सुख एव शान्ति के लिए अन्तर्मन की शुद्धि की आवश्यकता उसे महसूस हुई है। इसी के लिए ध्यान एव योग की उपयुक्तता का महत्त्व उसके मन में प्रस्थापित हो गया है। यही कारण है कि आज ध्यान एव योग पर उपयुक्त साहित्य की माग देश-विदेश में दिन-व-दिन वढती जा रही है।

डॉ प्रियदर्शनाजी का यह शोधनिवन्ध जिज्ञासुओं की पिपासा का शमन करने में सफल हो सकेगा। रत्न जैन ग्रथालय ने इस प्रवन्ध को प्रकाशित करने का निर्णय लिया।

'सर्वारम्भास्तण्डुलप्रस्थमूला ' के अनुसार आर्थिक समस्या दृष्टिगोचर हुई। मार्ग निकल गया। साध्वी प्रियदर्शनाजी के सासारिक अग्रज पूना निवासी श्री सपतलाल चोपडा की भावना जागी। अपने जन्मदाता माता-पिता के ऋण से उऋण होने का यह सुन्दर मौका हाथ लेने की उनकी धारणा बनी। उनकी प्रशिक्षित सुकन्या कु. विनोदिनी ने अपने पिताश्री का होसला बढाया। और भाई सपतलाल ने अपनी भगिनी के इस शोध-प्रबन्ध के सपूर्ण मुद्रण-व्यय का भार उठा लिया।

महासतीजी के बन्धुतुल्य भाई कनकमल मुनोत ने ग्रथनिर्मिति की व्यवस्था अपने माथे ले ली। ग्रथ का पठन, आवश्यक सुधार, प्रुफ सशोधन एव सलाहमशविरा आदि में उनका दीर्घकालीन अनुभव इस प्रबन्ध को उपयुक्त बनाने में महामोला सिद्ध हुए। भाईसाहब के कार्यकुशल सुपुत्र श्री प्रदीप मुनोत ने अपने कुशल कर्मचारियों के सहयोग से ग्रथ सुन्दर एवं आकर्षक बनाने में काफी कष्ट उठाये।

उसी प्रकार आवश्यक चित्र चितारने में राजगुरुनगर के सिद्धहस्त चित्रकार पिता-पुत्रों ने अपनी कला का परिचय दिया। और भी अनेक व्यक्ति एव कार्यकर्ता सहयोग देते रहें।

उपरोक्त सभी स्नेहिल सहयोगियों के हमारी सस्था की ओर से हम आभार प्रदर्शित करते हैं।

प पू आचार्य आनन्दऋषि दीक्षा जयन्ति
१५ दिसंबर १९९१

मानद मत्री,
श्री रत्न जैन ग्रंथालय

- विषयानुक्रम -

प्रत्यक्ष अनुभव का शव्दाकन एव सफल विवेचन इस प्रवन्ध में ग्रथित करने का सुयश उन्हें प्राप्त हुवा।

आज के भौतिक जीवन में मानव-मन अस्थिर हो गया है, आन्तरिक शान्ति नष्ट हो गयी है, जीवन में समाधान दुर्लभ हुवा है। मन शान्ति के शोध में मानव भटक रहा है। मानसिक सुख एव शान्ति के लिए अन्तर्मन की शुद्धि की आवश्यकता उसे महसूस हुई है। इसी के लिए ध्यान एव योग की उपयुक्तता का महत्त्व उसके मन में प्रस्थापित हो गया है। यही कारण है कि आज ध्यान एव योग पर उपयुक्त साहित्य की मांग देश-विदेश में दिन-ब-दिन वढती जा रही है।

डॉ प्रियदर्शनाजी का यह शोधनिवन्ध जिज्ञासुओं की पिपासा का शमन करने में सफल हो सकेगा। रत्न जैन ग्रथालय ने इस प्रवन्ध को प्रकाशित करने का निर्णय लिया।

'सर्वारम्भास्तण्डुलप्रस्थमूला ' के अनुसार आर्थिक समस्या दृष्टिगोचर हुई। मार्ग निकल गया। साध्वी प्रियदर्शनाजी के सासारिक अग्रज पूना निवासी श्री सपतलाल चोपडा की भावना जागी। अपने जन्मदाता माता-पिता के ऋण से उऋण होने का यह सुन्दर मौका हाथ लेने की उनकी धारणा वनी। उनकी प्रशिक्षित सुकन्या कु विनोदिनी ने अपने पिताश्री का होसला बढाया। और भाई सपतलाल ने अपनी भगिनी के इस शोध-प्रबन्ध के सपूर्ण मुद्रण-व्यय का भार उठा लिया।

महासतीजी के बन्धुतुल्य भाई कनकमल मुनोत ने ग्रथनिर्मिति की व्यवस्था अपने माथे ले ली। ग्रथ का पठन, आवश्यक सुधार, प्रुफ सशोधन एव सलाहमशविरा आदि में उनका दीर्घकालीन अनुभव इस प्रबन्ध को उपयुक्त बनाने में महामोला सिद्ध हुए। भाईसाहब के कार्यकुशल सुपुत्र श्री प्रदीप मुनोत ने अपने कुशल कर्मचारियों के सहयोग से ग्रथ सुन्दर एव आकर्षक बनाने में काफी कष्ट उठाये।

उसी प्रकार आवश्यक चित्र चितारने में राजगुरुनगर के सिद्धहस्त चित्रकार पिता-पुत्रों ने अपनी कला का परिचय दिया। और भी अनेक व्यक्ति एव कार्यकर्ता सहयोग देते रहें।

उपरोक्त सभी स्नेहिल सहयोगियों के हमारी सस्था की ओर से हम आभार प्रदर्शित करते हैं।

प पू आचार्य आनन्दऋषि दीक्षा जयन्ति
१५ दिसंबर १९९१

मानद मंत्री,
श्री रत्न जैन ग्रंथालय

भूमिका

जैन - शास्त्रीय पठन एव चिन्तन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, कि ध्यान की विचारधारा अति प्राचीन एव व्यापक है। वेद, उपनिषद्, त्रिपिटक, आगम, तथा अन्य दर्शनों, वैचारिक सम्प्रदायों परवर्ती चिन्तकों और परवर्ती दार्शनिक सम्प्रदायों में भी यह विचारधारा देखने को मिलती हैं। शोधप्रबध में प्रसगानुसार ध्यान सबधी इन विचार धाराओं का भी उल्लेख किया गया है।

ध्यान की विचारधारा चाहे जितनी प्राचीन या व्यापक हो, जैन धर्म के विशिष्ट विचार के रूप में स्थापित होने के बाद, ध्यान को दर्शन -क्षेत्र में या इसके बाहर के - क्षेत्रों में, विभिन्न आयामों में देखा गया है। इससे इस विचारधारा की उपादेयता स्पष्ट है। इस उपादेयता को विस्तृत एव स्पष्ट रूप से लोगों के सामने प्रकाश में लाना अत्यावश्यक है। क्योंकि वर्तमान काल में ध्यान की परपरा प्राय लुप्त-सी होती प्रतीत हो रही है। उसे अपने निजस्वरूप में लाने के उद्देश्य से ही "ध्यानयोग" विषय पर शोध कार्य करना उपयुक्त प्रतीत हुआ।

सभी दृष्टिकोणों से विचार करने पर तथा वर्तमान कालीन परिस्थितियों का अवलोकन करने से ध्यानयोग में शोध कार्य करने की उपयोगिता प्रतीत हुई। यत्र-तत्र और सर्वत्र ही मानव आधि-व्याधि-उपाधि से सतप्त है। इन त्रिविध दु खों से शाति पाने का एकमात्र उपाय है - 'ध्यानयोग'। इस माध्यम से ही मानव शाति से जी सकता है। इसलिए भी इस शोध कार्य का विषय 'ध्यानयोग' रखा गया है।

इस पर प्राचीन और आधुनिक जैन विद्वानों ने पर्याप्त मात्रा में लिखा है। किंतु यत्र-तत्र बिखरा होने के कारण, उसे सुव्यवस्थित रूप से एक स्थान पर एकत्रित करने की जरूरत महसूस हुई। अत इस कार्य में भगवान महावीर से लेकर आचार्य कुन्दकुन्द तक, आचार्य कुद्कुद से आचार्य हरिभद्र तक, आचार्य हरिभद्र से उपाध्याय यशोविजय तक और उपाध्याय यशोविजय से आज तक की ध्यान परपरा का विशेष सदर्भ लिया गया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबध में छह अध्याय हैं और एक उपसहार है।

प्रथम अध्याय में भारतीय परंपरा में प्रसिद्ध त्रिविध धाराओं की ध्यान परपरा के स्वरूप का स्पष्टीकरण किया गया है।

द्वितीय अध्याय में इस विषय से सबधित आगम तथा आगमेतर साहित्य पर प्रकाश डाला गया है।

तृतीय अध्याय में विभिन्न जैन साधना पद्धतियों के स्वरूप का स्पष्टीकरण किया गया है और उन सब में ध्यान का महत्त्व स्पष्ट किया है।

चतुर्थ अध्याय में जैनागमानुसार कथित ध्यान के स्वरूप का विस्तार के साथ विवेचन किया गया है।

पाँचवें अध्याय में आगमानुसार भेद-प्रभेदों का एव आचार्यों के कथनानुसार ध्यान के भेदों का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है।

छठें अध्याय में शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टि से ध्यान का मूल्याकन किया गया है।

अत में उपसहार के रूप में प्रस्तुत शोध प्रवध की सपूर्ण सामग्री का पुन एक सक्षिप्त आकलन किया गया है।

अध्ययन की परिसीमाः

'ध्यानयोग' पर प्राचीन एव अर्वाचीन जैन आचार्यों ने पर्याप्त मात्रा में लिखकर ध्यान परपरा को पूर्णत विकसित किया है। ऐसी स्थिति में उसमें कुछ मौलिक स्थापना की सभावना अत्यल्प है। हम जैन साधु - साध्वियों को अपनी दिनचर्या, अनेक विधि - निषेधों की परिसीमा में सचालित करनी पड़ती है। शोध कार्य के लिए अन्य शोधार्थी जो सुविधा अपने लिए प्राप्त कर सकते हैं, उनमें से वहुत सी सुविधाएँ हमें सहज उपलब्ध नही हो सकती। पैदल विहार, चतुर्मास में अविहार और विद्युत् प्रकाश का निषेध, जैसी अनेक कठिनाइयों के कारण, दूर दूर उपलब्ध शोध - साधन - स्रोतों का हम सहज ही उपयोग नही कर सकते हैं। फिर भी अपनी अल्पज्ञ वुद्धि के अनुसार सपूर्ण जैन दर्शन में से ध्यानयोग को संकलित करते हुए उसे स्थापित करने का प्रयास किया गया है। उसे चित्रावली के रूप में भी समझाने का प्रयास किया गया है।

समस्त भारत - भूमि में भ्रमण करते हुए जनकल्याणार्थ, सदुपदेश करना साधु - जीवन का एक नैतिक कर्तव्य है - साथ ही - हजारों वर्षों से चली आ रही भारतीय सास्कृतिक एकता की परपराओं को टिकाए रखने में साधु समाज का भी योगदान रहा है। इसी दृष्टिकोण के कारण हम लोग राष्ट्रभाषा में अपने प्रवचन संभाषण करते हैं। उक्त भावनाओं के कारण ही प्रबध को राष्ट्रभाषा हिंदी में लिखने का प्रयास किया गया है। हम साधुओं की राष्ट्रभाषा का अपना एक अलग रूप होता है। विश्व विद्यालयीन स्तर की परिष्कृत भाषा की तुलना हमारी सधुक्कड़ी भाषा से नही हो सकती। मराठी तथा विभिन्न प्रातीय जनभाषाओं के नित्य संपर्क में आने के कारण, हमारी भाषा की शब्दावली, वाक्यसारिणी और शैली में परिष्कृत हिंदी से कुछ अलगाव आ जाना स्वाभाविक है। आशा है सुधीजन हमारी भाषा की सीमाओं को समझेंगे।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रस्तुत प्रबंध को हिंदी में प्रस्तुत करने के लिए पुणे विश्वविद्यालय ने हमारी प्रार्थना को स्वीकार कर अनुमति प्रदान की। इसके लिए पुणे विश्वविद्यालय और उसके दर्शनविभाग के पदाधिकारियों के प्रति हम हार्दिक रूप से कृतज्ञ हैं।

इस कार्य में पुणे के भंडारकर ग्रंथालय एवं जैन साधना - सदन पुस्तकालय; अहमदनगर के श्री तिलोकरत्न स्था. पाथर्डी बोर्ड का ग्रथालय तथा कुछ अन्य - अनेक

ग्रंथालयों-पुस्तकालयों से प्राचीन ग्रथों, शास्त्रों, चूर्णियों, भाष्य एव टीकाओं आदि के पढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ है। इन ग्रथालयों के व्यवस्थापकों के प्रति भी हम अत्यत कृतज्ञ हैं। जिन ग्रथों को पढ़कर, हमने उपयोग किया है - उनके सम्माननीय लेखकों के भी हम आभारी हैं।

आचार्यप्रवर श्री आनद ऋषिजी महाराज, गुरुणी मैया स्व. श्री उज्वलकुँवरजी महाराज, गुरुमाता श्री विनय कुँवरजी महाराज आदि सभी पूज्यवरों की प्रेरणा और आशीर्वाद के प्रति हृदय से नतमस्तक कृतकृत्य हूँ।

मेरे शोध - निदेशक डॉ अ दा वत्तराजी (एम ए, पीएच डी) का, मैं हृदय से कृतज्ञता का अनुभव करती हूँ, जिनके सुलझे हुए, परिष्कृत दृष्टिकोण तथा स्नेहपूर्ण एव निस्पृह मार्गदर्शन में ही यह कार्य सम्पन्नता को प्राप्त हुआ।

इसी तरह पुणे के डॉ केशव प्रथमवीर (एम ए पीएच डी) के बहुमूल्य सुझावों से तथा डॉ किशोर वासवानी (एम ए, पीएच् डी) के सद्प्रयासों से इस कार्य को सम्पन्न करने में पर्याप्त सहायता मिली है। उनकी सहायता का उल्लेख करना हमारा कर्तव्य है।

सद्कार्यों की सहायता के लिए सदैव अग्रसर रहने वाले पुणे के श्री नवलभाऊ फिरोदिया की हार्दिक प्रेरणा और प्रयत्नों के बिना यह कार्य पूरा नही हो सकता था। उनकी हार्दिकता के प्रति शब्दों में आभार प्रकट नही किया जा सकता है। उन्हें सुस्वास्थ्यपूर्वक दीर्घायु प्राप्त होवे यही हमारी हार्दिक भावना है। पुणे विश्व विद्यालय - जैन चेअर के कार्यकर डॉ मोहनलाल मेहता (एम ए, पीएच् डी) तथा बनारस पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान के निदेशक डॉ सागरमल जैन (एम ए, पीएच् डी) इन्होंने इस कार्य को सम्पन्न करने में सहृदय सहयोग दिया अत उनका भी उल्लेख करना हमारा कर्तव्य है।

इसी प्रकार विभिन्न स्थानों के जैन श्रावक सघों ने भी इस कार्य में विभिन्न प्रकार की सहायता पहुँचाई है - वे सभी श्रावकगण हमारे हार्दिक स्नेह एव शुभ कामनाओं के पात्र हैं।

मेरे हस्तलेखन की अव्यवस्था के बावजूद भी श्रीमती लता वासवानी (राष्ट्रभाषा प्रवीण) ने बड़े मनोयोग से इस प्रबध का टकण कार्य सपन्न किया है। वे निश्चय ही साधुवाद की पात्र हैं।

बहुत सावधानी रखने पर भी सस्कृत, प्राकृत और पाली उद्धरणों के कारण एवं मेरी अस्पष्ट लिखावट के कारण टकण में त्रुटियाँ रह गई हैं। उन्हें सतर्कता से शुद्ध करने का प्रयास भी किया है - फिर भी अनेक प्रकार की त्रुटियाँ रहने की पूर्ण सभावना है। इसके लिए हम क्षमा प्रार्थी हैं।

विनीत शोधार्थी
साध्वी प्रियदर्शना

पूर्वपीठिका

श्रमणधारा और ध्यान

भारतीय अध्यात्मवादी परम्परा में ध्यान साधना का अस्तित्व अति प्राचीनकाल से ही रहा है। यहां तक कि अति प्राचीन नगर मोहन-जोदरो और हरप्पा से खुदाई में, जो सीलें आदि उपलब्ध हुई हैं, उनमें भी ध्यानमुद्रा में योगियों के अकन पाये जाते हैं।[१] इस प्रकार ऐतिहासिक अध्ययन के, जो भी प्राचीनतम स्रोत हमें उपलब्ध हैं, वे सभी भारत में ध्यान की परम्परा के अति प्राचीनकाल से प्रचलित होने की पुष्टि करते हैं। उनसे यह भी सिद्ध होता है कि भारत में यज्ञ-मार्ग की अपेक्षा ध्यान मार्ग की परम्परा प्राचीन है और उसे सदैव ही आदरपूर्ण स्थान प्राप्त रहा है।

औपनिषदिक परम्परा और उसकी सहवर्ती श्रमण परम्पराओं में साधना की दृष्टि से ध्यान का महत्वपूर्ण स्थान रहा था। औपनिषदिक ऋषि-गण और श्रमण-साधक अपनी दैनिक जीवनचर्या में ध्यान-साधना को स्थान देते रहे हैं - यह एक निर्विवाद तथ्य है। महावीर और बुद्ध के पूर्व भी अनेक ऐसे श्रमण साधक थे, जो ध्यान साधना की विशिष्ट विधियों के न केवल ज्ञाता थे, अपितु अपने सान्निध्य में अनेक साधकों को उन ध्यान-साधना की विधियों का अभ्यास भी करवाते थे। इन आचार्यों की ध्यान साधना की अपनी-अपनी विशिष्ट विधियाँ थी ऐसे सकेत भी मिलते हैं। बुद्ध अपने साधनाकाल में ऐसे ही एक ध्यान-साधक श्रमण आचार्य रामपुत्त के पास स्वयं ध्यान-साधना के अभ्यास के लिए गये थे। रामपुत्त के सबध में त्रिपिटक साहित्य में यह भी उल्लेख मिलता है कि स्वयं भगवान् बुद्ध ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् भी अपनी साधना की उपलब्धियों को बताने हेतु उनसे मिलने के लिए उत्सुक थे, किन्तु तब तक उनकी मृत्यु हो चुकी थी।[२] इन्ही रामपुत्त का उल्लेख जैन आगम साहित्य में भी आता है। प्राकृत आगमों में सूत्रकृतांग[३] में उनके नाम के निर्देश के अतिरिक्त अन्तकृत्दशा[४], ऋषिभाषित[५]वादि में तो उनसे संबधित स्वतंत्र अध्याय भी रहे थे। दुर्भाग्य से अन्तकृत्दशा का वह अध्याय तो आज लुप्त हो चुका है, किन्तु ऋषिभाषित[६] में उनके उपदेशों का सकलन आज भी उपलब्ध है।

---

१) Mohenjodaro and Indus Civilization, John Marshall Vol I Page 52

२) Dictionary of Pali Proper Names, By J P Malal Sekhar (1937) Vol I P 382-83

३) सूत्रकृताग १ । ३ । ४ । २-३

४) स्थानाग १० । १३३ (इसमें अन्तकृत्दशा की प्राचीन विषयवस्तु का उल्लेख है)

५) इसिभासियाइ - अध्याय २३

६) वही, अध्याय २३

बुद्ध और महावीर को ज्ञान का जो प्रकाश उपलब्ध हुआ वह उनकी ध्यान साधना का परिणाम ही था, इसमें आज किसी प्रकार का वैमत्य नही है। किन्तु हमारा यह दुर्भाग्य है कि प्राचीन साहित्य में भी ध्यान साधना की इन पद्धतियों के विस्तृत विवरण आज उपलब्ध नही हैं, मात्र यत्र-तत्र विकीर्ण निर्देश ही हमें मिलते हैं। फिर भी जो सूचनायें उपलब्ध हैं, उनके आधार पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि औपनिषदिक ऋषिगण और श्रमण साधक अपने आध्यात्मिक विकास के लिए ध्यान-साधना की विभिन्न पद्धतियों का अनुसरण करते थे। उनकी ध्यान-साधना पद्धतियों के कुछ अवशेष आज भी हमें योग परम्परा के साथ-साथ जैन और बौद्ध परम्पराओं में मिल जाते हैं।

जैन धर्म और ध्यान

श्रमण परम्परा की निर्ग्रन्थधारा - जो आज जैन परम्परा के नाम से जानी जाती है - अपने अस्तित्व काल से ध्यान साधना से जुड़ी हुई है। प्राकृत साहित्य के प्राचीनतम ग्रथों आचाराग, उत्तराध्ययन, ऋषिभाषित आदि में ध्यान का महत्व स्पष्ट रूप से प्रतिपादित है। ऋषिभाषित (इसिभासियाइ) में तो स्पष्ट रूप से कहा गया है कि शरीर में जो स्थान मस्तिष्क का है, साधना में वही स्थान ध्यान का है।[१] उत्तराध्ययन सूत्र में श्रमण जीवन की दिनचर्या का विवरण प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि प्रत्येक श्रमण साधक को दिन और रात्रि के दूसरें प्रहर में नियमित रूप से ध्यान करना चाहिए।[२] आज भी जैन श्रमण को निद्रात्याग के पश्चात्, भिक्षाचर्या एव पदयात्रा से लौटने पर गमनागमन एव मलमूत्र आदि के विसर्जन के पश्चात् तथा प्रात कालीन और सायकालीन प्रतिक्रमण करते समय ध्यान करना होता है।[३] उसके आचार और उपासना के साथ कदम-कदम पर ध्यान प्रक्रिया जुड़ी हुई है।

जैन परम्परा में ध्यान का कितना महत्व है - इसका सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि जैन तीर्थंकरों की प्रतिमायें चाहे वे खड्गासन में हों या पद्मासन में सदैव ही ध्यानमुद्रा में उपलब्ध होती हैं। आज तक कोई भी जिन प्रतिमा ध्यान-मुद्रा के अतिरिक्त किसी भी अन्य मुद्रा में उपलब्ध ही नही हुई है। यद्यपि तीर्थंकर या जिन प्रतिमाओं के अतिरिक्त बुद्ध की भी कुछ प्रतिमायें ध्यान मुद्रा में उपलब्ध हुई हैं किन्तु बुद्ध की अधिकाश प्रतिमायें तो ध्यानेतर मुद्राओं - यथा अभयमुद्रा, वरद-मुद्रा और उपदेश-मुद्रा में ही मिलती हैं। इसी प्रकार शिव की कुछ प्रतिमायें भी ध्यान मुद्रा में मिलती हैं - किन्तु नृत्यु मुद्रा आदि में भी शिव प्रतिमायें विपुल परिमाण में उपलब्ध होती हैं। इस प्रकार जहा अन्य परम्पराओं में

---

१) इसिभासियाइ (ऋषिभाषित), २२।१४

२) उत्तराध्ययन सूत्र २६।१८

३) श्रमण सूत्र (उपाध्याय अमरमुनि), प्रथम सस्करण पृ १३३-१३४

अपने आराध्य देवों की प्रतिमायें ध्यानेतर मुद्राओं में भी बनती रही, वहां तीर्थंकर या जिन प्रतिमायें मात्र ध्यानमुद्रा में ही निर्मित हुई, किसी भी अन्य मुद्रा में नही बनी। जिनप्रतिमाओं के निर्माण का दो सहस्र वर्ष का इतिहास इस बात का साक्षी है कि कभी भी कोई भी जिन-प्रतिमा/तीर्थंकर प्रतिमा ध्यान-मुद्रा के अतिरिक्त किसी अन्य मुद्रा में नहीं बनाई गयी। इससे जैन परम्परा में ध्यान का क्या स्थान रहा है - यह सुस्पष्ट हो जाता है। जैनाचार्यों ने ध्यान को साधना का मस्तिष्क माना है। जिस प्रकार मस्तिष्क के निष्क्रिय हो जाने पर मानव जीवन का कोई अर्थ नही रह जाता है उसी प्रकार ध्यान के अभाव में जैन साधना का कोई अर्थ नही रह जाता है।

ध्यान - साधना की आवश्यकता

मानव मन स्वभावत चचल माना गया है। उत्तराध्ययन सूत्र में मन को दुष्ट अश्व की सज्ञा दी गई, जो कुमार्ग में भागता है।[१] गीता में मन को चचल बताते हुए कहा गया है कि उसको निग्रहीत करना वायु को रोकने के समान अति कठिन है।[२] चचल मन में विकल्प उठते रहते हैं - इन्ही विकल्पों के कारण चैत्तसिक आकुलता या अशान्ति का जन्म होता है। यह आकुलता ही चेतना में उद्विग्नता या तनाव की उपस्थिति की सूचक है। चित्त की यह उद्विग्न या तनावपूर्ण स्थिति ही असमाधि या दु:ख है। इसी चैत्तसिक पीड़ा या दु ख से विमुक्ति पाना समग्र आध्यात्मिक साधना पद्धतियों का मूलभूत लक्ष्य है। इसे ही निर्वाण या मुक्ति कहा गया है।

मनुष्य में दु ख-विमुक्ति की भावना सदैव ही रही है। यह स्वाभाविक है, आरोपित नही है। क्योंकि कोई भी व्यक्ति तनाव या उद्विग्नता की स्थिति में जीना नही चाहता है। उद्विग्नता चेतना की विभावदशा है। विभावदशा से स्वभाव में लौटना यही साधना है। पूर्व या पश्चिम की सभी अध्यात्मप्रधान साधना विधियों का लक्ष्य यही रहा है कि चित्त को आकुलता, उद्विग्नता या तनाओं से मुक्त करके, उसे निराकुल, अनुद्विग्न चित्तदशा या समाधिभाव में स्थित किया जाये। इसलिये साधना विधियों का लक्ष्य निर्विकार और निर्विकल्प समता युक्त चित्त की उपलब्धि ही है। इसे ही समाधि/सामायिक (प्राकृतसमाहि) कहा गया है। ध्यान इसी समाधि या निर्विकल्प चित्त की उपलब्धि का अभ्यास है। यही कारण है कि वे सभी साधना पद्धतियाँ जो चित्त को अनुद्विग्न, निराकुल, निर्विकार और निर्विकल्प या दूसरे शब्दों में समत्व-युक्त बनाना चाहती हैं, ध्यान को अपनी साधना में अवश्य स्थान देती हैं।

---

१) उत्तराध्ययन सूत्र २३।५५-५६

२) भगवद्गीता ६।३४

ध्यान का स्वरूप एव प्रक्रिया

जैनाचार्यों ने ध्यान को 'चित्तनिरोध' कहा है।[१] चित्त का निरोध हो जाना ही ध्यान है। दूसरे शब्दों में यह मन की चचलता को समाप्त करने का अभ्यास है। जब ध्यान सिद्ध हो जाता है तो चित्त की चचलता स्वत ही समाप्त हो जाती है। योगदर्शन में 'योग' को परिभाषित करते हुए भी कहा गया है कि चित्तवृत्ति का निरोध ही 'योग' है। स्पष्ट है कि चित्त की चचलता की समाप्ति या चित्तवृत्ति का निरोध ध्यान से ही सम्भव हे। अत ध्यान को साधना का आवश्यक अग माना गया है।

गीता में मन की चचलता के निरोध को वायु को रोकने के समान अति कठिन माना गया है।[२] उसमें उसके निरोध के दो उपाय बताये गये हैं - १ अभ्यास, २ वैराग्य। उत्तराध्ययन में मन रूपी दुष्ट अश्व को निग्रहीत करने के लिए श्रुत रूपी रस्सियों का प्रयोग आवश्यक बताया गया है।[३] चचल चित्त की सकल्प-विकल्पात्मक तरगें या वासनाजन्य आवेग सहज ही समाप्त नही हो जाते हैं। पहले उनकी भाग-दौड़ को समाप्त करना होता है। किन्तु यह वासनोन्मुख सक्रिय-मन या विक्षोभित चित्त निरोध के सकल्प मात्र से नियन्त्रित नही हो पाता है। पुन यदि उसे बलात् रोकने का प्रयत्न किया जाता है तो वह अधिक विक्षुब्ध होकर मनुष्य को पागलपन के कगार पर पहुँचा देता है, जैसे तीव्र गति से चलते हुए वाहन को यकायक रोकने का प्रयत्न भयकर दुर्घटना का ही कारण बनता है, उसी प्रकार चित्त की चचलता का यकायक निरोध विक्षिप्तता का कारण बनता है। प्रथमत मानव मन की गतिशीलता को नियत्रित कर उसकी गति की दिशा बदलनी होती है। ज्ञान या विवेकरूपी लगाम के द्वारा उस मन रूपी दुष्ट अश्व को कुमार्ग से सन्मार्ग की दिशा में मोड़ा जाता है। इससे उसकी सक्रियता यकायक समाप्त तो नही होती, किन्तु उसकी दिशा बदल जाती है। ध्यान में भी यही करना होता है। ध्यान में सर्व प्रथम मन को वासना रूपी विकल्पों से मोड़कर धर्म-चिन्तन में लगाया जाता है - फिर क्रमश इस चिन्तन की प्रक्रिया को शिथिल या क्षीण किया जाता है। अन्त में एक ऐसी स्थिति आ जाती है जब मन पूर्णत निष्क्रिय हो जाता है, उसकी भागदौड़ समाप्त हो जाती है। ऐसा मन, मन न रहकर 'अमन' हो जाता है। मन को 'अमन' बना देना ही ध्यान है।

इस प्रकार चैत्तसिक तनावों या विक्षोभों को समाप्त करने के लिए अथवा निर्विकल्प और शान्त चित्त-दशा की उपलब्धि के लिए ध्यान साधना आवश्यक है।

---

१) तत्त्वार्थ सूत्र ९।२७

२) गीता ६।३४

३) उत्तराध्ययन सूत्र २३।५६

उसके द्वारा सकल्प-विकल्पों में विभक्त चित्त को केन्द्रित किया जाता है। विविध वासनाओं, आकाक्षाओं और इच्छाओं के कारण चेतना-शक्ति अनेक रूपों में विखण्डित होकर स्वत में ही सघर्षशील हो जाती है।[1] उस शक्ति का यह बिखराव ही हमारा आध्यात्मिक पतन है। ध्यान इस चैत्तसिक विघटन को समाप्त कर चेतना को केन्द्रित करता है। चूकि वह विघटित चेतना को सगठित करता है। इसीलिए वह योग (Unification) है। ध्यान चेतना के सगठन की कला है। सगठित चेतना ही शक्तिस्रोत है, इसीलिए यह माना जाता है कि ध्यान से अनेक आत्मिक लब्धिया या सिद्धिया प्राप्त होती हैं।

चित्तधारा जब वासनाओं एव आकाक्षाओं के मार्ग से बहती है तो वह वासनाओं, आकाक्षाओं, इच्छाओं की स्वाभाविक बहुविधता के कारण अनेक धाराओं में विभक्त होकर निर्बल हो जाती है। ध्यान इन विभक्त एव निर्बल चित्तधाराओं को एक दिशा में मोड़ने का प्रयास है। जब ध्यान की साधना या अभ्यास से चित्तधारा एक दिशा में बहने लगती है, तो न केवल वह सबल होती है, अपितु नियत्रित होने से उसकी दिशा भी सम्यक् होती है। जिस प्रकार बाध विकीर्ण जलधाराओं को एकत्रित कर उन्हें सबल और सुनियोजित करता है, उसी प्रकार ध्यान भी हमारी चेतनाधारा को सबल और सुनियोजित करता है। जिस प्रकार बाध द्वारा सुनियोजित जल-शक्ती का सम्यक् उपयोग सम्भव हो पाता है, उसी प्रकार ध्यान द्वारा सुनियोजित चेतनशक्ती का सम्यक् उपयोग सम्भव है।

सक्षेप में आत्मशक्ति के केन्द्रीकरण एव उसे सम्यक् दिशा में नियोजित करने के लिए ध्यान साधना आवश्यक है। वह चित्त वृत्तियों की निरर्थक भागदौड़ को समाप्त कर हमें मानसिक विक्षोभों एवं विकारों से मुक्त रखता है। परिणामत. वह आध्यात्मिक शान्ति और निर्विकल्प चित्त की उपलब्धि का अन्यतम साधन है।

ध्यान के पारम्पारिक एव व्यावहारिक लाभ

ध्यानशतक (झाणज्झयन) में ध्यान से होनेवाले पारम्परिक एव व्यावहारिक लाभों की विस्तृत चर्चा है। उसमें कहा गया है कि धर्मध्यान से शुभास्रव, सवर, निर्जरा और देवलोक के सुख प्राप्त होते हैं। शुक्ल ध्यान के भी प्रथम दो चरणों का परिणाम शुभास्रव एव अनुत्तर देवलोक के सुख हैं, जबकि शुक्ल ध्यान के अन्तिम दो चरणों का फल मोक्ष या निर्वाण है। यहा यह स्मरण रखने योग्य है कि जब तक ध्यान में विकल्प है, आकाक्षा है, चाहे वह प्रशस्त ही क्यों न हो, तब तक वह शुभास्रव का कारण तो होगा ही।

---

१) पुढो छदा इह माणवा, पुढो दुक्ख पवेदित। - आचाराग १।५।२।२५

अणेगचित्ते खलु अय पुरिसे, से केयण अरिहए पूरइतए - आचाराग ५।३।२

फिर भी यह शुभास्रव अन्ततोगत्वा मुक्ति का निमित्त होने से उपादेय ही माना गया है। ऐसा आस्रव मिथ्यात्व के अभाव के कारण ससार की अभिवृद्धि का कारण नही बनता है।[१]

पुन ध्यान के लाभों की चर्चा करते हुए उसमें कहा गया है कि जिस प्रकार जल वस्त्र के मल को धोकर उसे निर्मल बना देता है, उसी प्रकार ध्यानरूपी जल आत्मा के कर्मरूपी मल को धोकर उसे निर्मल बना देता है। जिस प्रकार अग्नि लोहे के मैल को दूर कर देती है,[२] जिस प्रकार वायु से प्रेरित अग्नि दीर्घकाल से सचित काष्ठ को जला देती है, उसी प्रकार ध्यानरूपी वायु से प्रेरित साधनारूपी अग्नि पूर्वभवों के सचित कर्म संस्कारों को नष्ट कर देती है। उसी प्रकार ध्यानरूपी अग्नि आत्मा पर लगे हुए कर्मरूपी मल को दूर कर देती है।[३] जिस प्रकार वायु से ताडित मेघ शीघ्र ही विलीन हो जाते हैं। उसी प्रकार ध्यानरूपी वायु से ताडित कर्मरूपी मेघ शीघ्र विलीन हो जाते हैं।[४] सक्षेप में ध्यान साधना से आत्मा कर्मरूपी मल एव आवरण से मुक्त होकर अपनी शुद्ध निर्विकार ज्ञाताद्रष्टा अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

ध्यान के इन चार अलौकिक या आध्यात्मिक लाभों के अतिरिक्त ग्रन्थकार ने उसके ऐहिक, मनोवैज्ञानिक लाभों की भी चर्चा की है। वह कहता है कि जिसका चित्त ध्यान में सलग्न है, वह क्रोधादि कषायों से उत्पनन होनेवाले ईर्ष्या, विषाद, शोक आदि मानसिक दु खों से पीडित नही होता है।[५] ग्रन्थकार के इस कथन का रहस्य यह है कि जब ध्यान में आत्मा अप्रमत्त चेता होकर ज्ञाता-द्रष्टा भाव में स्थित होता है, तो उस अप्रमत्तता की स्थिती में न तो कषाय ही क्रियाशील होते हैं और न उनसे उत्पन्न ईर्ष्या, द्वेष, विषाद आदि भाव ही उत्पन्न होते हैं। ध्यानी व्यक्ति पूर्व सस्कारों के कारण उत्पन्न होनेवाले कषायों के विपाक को मात्र देखता है, किन्तु उन भावों में परिणत नही होता है। अत॰ काषायिक भावों की परिणति नही होने से उसके चित्त के मानसिक तनाव समाप्त हो जाते हैं। ध्यान मानसिक तनावों से मुक्ति का अन्यतम साधन है। ध्यानशतक (झाणज्झयण) के अनुसार ध्यान से न केवल आत्म विशुद्धि और मानसिक तनावों से मुक्ति मिलती है, अपितु शारीरिक पीडायें भी कम हो जाती हैं। उसमें लिखा है कि जो चित्त ध्यान में अतिशय स्थिरता प्राप्त कर चुका है, वह शीत, उष्ण आदि शारीरिक दु खों से भी विचलित नही होता है। वह उन्हें निराकुलतापूर्वक सहन कर लेता है।[६] यह हमारा

---

१) ध्यान शतक (झाणज्झयण) ९३-९६
२) वही ९७-१००
३) वही १०१
४) वही १०२
५) ध्यानशतक (वीरसेवामदिर) १०३
६) वही १०४

व्यावहारिक अनुभव है कि जब हमारी चित्तवृत्ति किसी विशेष दिशा में केन्द्रित होती है तो हम शारीरिक पीडाओं को भूल जाते हैं, जैसे एक व्यापारी व्यापार में भूख-प्यास आदि को भूल जाता है। अत ध्यान में दैहिक पीडाओं का एहसास भी अल्पतम हो जाता है। आचार्य भद्रबाहु ने कायोत्सर्ग, जो ध्यान साधना की अग्रिम स्थिति है, के लाभों की चर्चा करते हुए आवश्यक निर्युक्ति में लिखा है कि कायोत्सर्ग के निम्न पाच लाभ हैं[१] १) देह जाड्य शुद्धि -श्लेष्म एव चर्बी के कम हो जाने से देह की जड़ता समाप्त हो जाती है। कायोत्सर्ग से श्लेष्म, चर्बी आदि नष्ट होते हैं, अत उनसे उत्पन्न होनेवाली जड़ता भी नष्ट हो जाती है। २) मति जाड्य शुद्धि - कायोत्सर्ग में मन की वृत्ति केन्द्रित हो जाती है, उससे बौद्धिक जड़ता क्षीण होती है। ३) सुख-दु ख तितिक्षा, (समताभाव) ४) कायोत्सर्ग में स्थित व्यक्ति अनुप्रेक्षाओं या भावनाओं का स्थिरतापूर्वक अभ्यास कर सकता है। ५) ध्यान, कायोत्सर्ग में शुभ ध्यान का अभ्यास सहज हो जाता है। इन लाभों में न केवल आध्यात्मिक लाभों की चर्चा है अपितु मानसिक और शारीरिक लाभों की भी चर्चा है। वस्तुत ध्यान साधना की वह कला है जो न केवल चित्त की निरर्थक भाग-दौड़ को नियन्त्रित करती है, अपितु वाचिक और कायिक (दैहिक) गतिविधियों को भी नियन्त्रित कर व्यक्ति को अपने आप से जोड़ देती है। हमें एहसास होता है कि हमारा अस्तित्व चैत्तसिक और दैहिक गतिविधियों से भी ऊपर है और हम उनके न केवल साक्षी हैं, अपितु नियामक भी हैं।

ध्यान आत्मसाक्षात्कार की कला

मनुष्य के लिये, जो कुछ भी श्रेष्ठतम और कल्याणकारी है, वह स्वय अपने को जानना और अपने में जीना है। आत्म बोध से महत्त्वपूर्ण एव श्रेष्ठतम अन्य कोई बोध है ही नही। आत्म साक्षात्कार या आत्मज्ञान ही साधना का सारतत्त्व है। साधना का अर्थ है अपने आप के प्रति जागना। वह कोऽहं से सोऽहं तक की यात्रा है। साधना की इस यात्रा में अपने आप के प्रति जागना सम्भव होता है ध्यान के द्वारा। ध्यान में आत्मा, आत्मा के द्वारा आत्मा को जानता है। यह अपने आप के सम्मुख होता है। ध्यान में ज्ञाता अपनी ही वृत्तियों, भावनाओं, आवेगों और वासनाओं को ज्ञेय बनाकर वस्तुत अपना ही दर्शन करता है। यद्यपि यह दर्शन तभी सभव होता है, जब हम इनका अतिक्रमण कर जाते हैं, अर्थात इनके प्रति कर्ताभाव से मुक्त होकर साक्षी भाव जगाते हैं। अत ध्यान आत्मा के दर्शन की कला है। ध्यान ही वह विधि है, जिसके द्वारा हम सीधे अपने ही सम्मुख होते हैं, इसे ही आत्म साक्षात्कार कहते हैं। ध्यान जीव में 'जिन' का, आत्मा से परमात्मा का दर्शन कराता है।

---

१) आवश्यकनिर्युक्ति १४६२

ध्यान की इस प्रक्रिया में आत्मा के द्वारा परमात्मा (शुद्धात्मा) के दर्शन के पूर्व सर्व प्रथम तो हम अपने 'वासनात्मक स्व' (id) का साक्षात्कार होता है - दूसरे शब्दों में हमें अपने ही विकारों और वासनाओं के प्रति जागते हैं। जागरण के इस प्रथम चरण में हम उनकी विद्रूपता का बोध होता है। हमें लगता है कि ये हमारे विकार भाव हैं - विभाव हैं, क्योंकि हममें ये 'पर' के निमित्त से होते हैं। यही विभाव दशा का बोध साधना का दूसरा चरण है। साधना के तीसरे चरण में साधक विभाव से रहित शुद्ध आत्म दशा की अनुभूति करता है - यही परमात्म दर्शन है। स्वभावदशा में रमण है। यहा यह विचारणीय है कि ध्यान इस आत्म-दर्शन में कैसे सहायक होता है?

ध्यान में शरीर को स्थिर रखकर आख बन्द करनी होती है। जैसे ही आख बन्द होती है-व्यक्ति का सम्बन्ध बाह्य जगत से टूटकर अन्तर्जगत से जुडता है, अन्तर का परिदृश्य सामने आता है, अब हमारी चेतना का विषय बाह्य वस्तुए न होकर मनोसृजनाए होती है। जब व्यक्ति इन मनोसृजनाओं (सकल्प-विकल्पों) का द्रष्टा बनता है, उसे एक ओर इनकी पर-निमित्तता (विभावरूपता) का बोध होता है तथा दूसरी ओर अपने साक्षी स्वरूप का बोध होता है। आत्मअनात्म का विवेक या स्व-पर के भेद का ज्ञान होता है। कर्ता-भोक्ता भाव के विकल्प क्षीण होने लगते हैं। एक निर्विकल्प आत्म-दशा की अनुभूति होती है। दूसरे शब्दों में मन की भाग-दौड समाप्त हो जाती है। मनोसृजनाए या सकल्प-विकल्प विलीन होने लगते हैं। चेतना की सभी विकलताए समाप्त हो जाती हैं। मन आत्मा में विलीन हो जाता है। सहज-समाधि प्रकट होती है। इस प्रकार आकांक्षाओं, वासनाओं, सकल्प-विकल्पों एव तनावों से मुक्त होने पर एक अपरिमित निरपेक्ष आनन्द की उपलब्धि होती है। आत्मा अपने चिदानन्द स्वरूप में लीन रहता है। इस प्रकार ध्यान आत्मा को परमात्मा या शुद्धात्मा से जोड़ता है। अत वह आत्मसाक्षात्कार या परमात्मा के दर्शन की एक कला है।

ध्यान मुक्ति का अन्यतम कारण

जैनधर्म में ध्यान को मुक्ति का अन्यतम कारण माना जा सकता है। जैन दार्शनिकों ने आध्यात्मिक विकास के जिन १४ सोपानों (गुणस्थानों) का उल्लेख किया है, उनमें अन्तिम गुणस्थान को अयोगी केवली गुण-स्थान कहा गया है। अयोगी केवली गुण-स्थान वह अवस्था है जिसमें वीतराग-आत्मा अपने काययोग, वचनयोग, मनोयोग अर्थात शरीर, वाणी और मन की गतिविधियों का निरोध कर लेता है और उनके निरुद्ध होने पर ही वह मुक्ति या निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। यह प्रक्रिया सम्भव है शुक्लध्यान के चतुर्थ चरण व्युपरत क्रिया निवृत्ति के द्वारा। अत ध्यान मोक्ष का अन्यतम कारण है। जैन परम्परा में ध्यान में स्थित होने के पूर्व जिन पदों का उच्चारण किया जाता है वे निम्न हैं-

ठाणेण मोणेण झाणेण अप्पाण वोसिरामि[१] -

अर्थात "मैं शरीर से स्थिर होकर, वाणी से मौन होकर, मन को ध्यान में नियोजित कर शरीर के प्रति ममत्व का परित्याग करता हूँ।" यहा हमें स्मरण रखना चाहिए कि अप्पाण वोसिरामि का अर्थ, आत्मा का विसर्जन करना नही है, अपितु देह के प्रति अपनेपन के भाव का विसर्जन करना है। क्योंकि विसर्जन या परित्याग आत्मा का नही, अपनेपन के भाव अर्थात ममत्व वुद्धि का होता है। जव कायिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं पर पूर्ण नियत्रण स्थापित हो जाता है तभी ध्यान की सिद्धि होती है और जव ध्यान सिद्ध हो जाता है तो आत्मा अयोग दशा अर्थात मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। अत यह स्पष्ट है कि ध्यान मोक्ष का अन्यतम कारण है।

जैन परम्परा में ध्यान आन्तरिक तप का एक प्रकार है। इस आन्तरिक तप को आत्म-विशुद्धि का कारण माना गया है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है कि "आत्मा तप से परिशुद्ध होती है।[२] सम्यक् ज्ञान से वस्तु स्वरूप का यथार्थ वोध होता है। सम्यक् दर्शन से तत्त्व-श्रद्धा उत्पन्न होती है। सम्यक् चारित्र आस्रव का निरोध करता है। किन्तु इन तीनों से भी मुक्ति सम्भव नहीं होती, मुक्ति का अन्तिम कारण तो निर्जरा है। सम्पूर्ण कर्मों की निर्जरा हो जाना ही मुक्ति है और कर्मों की तप से ही निर्जरा होती है। अत ध्यान तप का एक विशिष्ट रूप है, जो आत्मशुद्धि का अन्यतम कारण है।

वैसे यह भी कहा जाता है कि आत्मा व्युपरत क्रिया निवृत्ति नामक शुक्ल ध्यान में आरूढ होकर ही मुक्ति को प्राप्त होता है। अत हम यह कह सकते हैं कि जैन साधना विधि में ध्यान मुक्ति का अन्यतम कारण है। ध्यान एक ऐसी अवस्था है जव आत्मा पूर्ण रूप से 'स्व' में स्थित होता है और आत्मा का 'स्व' में स्थित होना ही मुक्ति या निर्वाण की अवस्था है। अत· ध्यान ही मुक्ति बन जाता है।

योग दर्शन में ध्यान को समाधि का पूर्व चरण माना गया है। उसमें भी ध्यान से ही समाधि की सिद्धि होती है। ध्यान जब अपनी पूर्णता पर पहुंचता है तो वही समाधि बन जाता है। ध्यान की इस निर्विकल्प दशा को न केवल जैन-दर्शन में, अपितु सम्पूर्ण श्रमण परम्परा में और न केवल सम्पूर्ण श्रमण परम्परा में अपितु सभी धर्मों की साधना विधियों में मुक्ति का अंतिम उपाय माना गया है।

योग चाहे चित्त वृत्तियों के निरोध रूप में निर्विकल्प समाधि हो या आत्मा को परमात्मा से जोड़ने की कला हो, वह ध्यान ही है।

---

१) आवश्यकसूत्र - आगारसूत्र (श्रमणसूत्र-अमरमुनि) प्र स पृ ३७६
२) उत्तराध्ययनसूत्र २८/३५

ध्यान और समाधि-

सर्वार्थ सिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिक में समाधि के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार कोष्ठागार में लगी हुई आग को शान्त करना आवश्यक है, उसी प्रकार मुनि-जीवन के शीलव्रतों में लगी हुई वासना या आकाक्षारूपी अग्नि का प्रशमन करना भी आवश्यक है। यही समाधि है।[१] धवला में आचार्य वीरसेन ने ज्ञान, दर्शन और चारित्र में सम्यक् अवस्थिति को ही समाधि कहा है।[२] वस्तुत चित्तवृत्ति का उद्वेलित होना ही असमाधि है और उनकी इस उद्विग्नता का समाप्त हो जाना ही समाधि है। उदाहरण के रूप में जब वायु के सयोग से जल तरगायित होता है तो उस तरगित जल में रही हुई वस्तुओं का बोध नही होता, उसी प्रकार तनावयुक्त उद्विग्न चित्त में आत्मा के शुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार नही होता है। चित्त की इस उद्विग्नता का या तनाव युक्त स्थिति का समाप्त होना ही समाधि है। ध्यान भी वस्तुत चित्त की वह निष्प्रकम्प अवस्था है जिसमें आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप का साक्षी होता है। वह चित्त की समत्वपूर्ण स्थिति है। अत ध्यान और समाधि समानार्थक है, फिर भी दोनों में एक सूक्ष्म अन्तर है। वह अन्तर इस रूप में है कि ध्यान समाधि का साधन है और समाधि साध्य है। योगदर्शन के अष्टाग योग में समाधि का पूर्व चरण ध्यान माना गया है। ध्यान जब सिद्ध हो जाता है, तब वह समाधि बन जाता है। वस्तुत दोनों एक ही है।[३] ध्यान की पूर्णता समाधि में है। यद्यपि दोनों मे ही चित्तवृत्ति की निष्प्रकपता या समत्व की स्थिति आवश्यक है। एक में उस निष्प्रकम्पता या समत्व का अभ्यास होता है और दूसरे में वह अवस्था सहज हो जाती है।

ध्यान और योग

यहा ध्यान का योग से क्या सबध है? यह भी विचारणीय है। जैन परम्परा में सामान्यतया मन, वाणी और शरीर की गतिशीलता को योग कहा जाता है।[४] उसके अनुसार सामान्य रूप से समग्र साधना और विशेष रूप से ध्यान-साधना का प्रयोजन योग-निरोध ही है। वस्तुत मानसिक, वाचिक और शारीरिक क्रियाओं में जिन्हें जैन परम्परा में योग कहा गया है, मन की प्रधानता होती है। वाचिक योग और कायिक-योग, मनोयोग पर ही निर्भर करते हैं। जब मन की चचलता समाप्त होती है तो सहज ही शारीरिक और वाचिक क्रियाओं में शैथिल्य आ जाता है, क्योंकि उनके मूल में व्यक्त या अव्यक्त मन ही है। अत मन की सक्रियता के निरोध से ही योग-निरोध संभव है। योग-दर्शन भी जो योग पर सर्वाधिक बल देता है, यह मानता है कि चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग है।[५] वस्तुत जहा चित्त की चचलता समाप्त होती है, वही साधना की पूर्णता है और

---

१) तत्त्वार्थ वार्तिक ६।२४।८
२) घवला पुस्तक ८, पृ ८८ (दसण-णाण-चरित्तेसु सम्ममवट्ठाण समाही)
३) योग समाधि ध्यानमित्यनर्थान्तरम्। तत्त्वार्थ राजवार्तिक ६।१।१२
४) कायवाड्मन कर्म योग । तत्त्वार्थसूत्र ६।१
५) योगश्चित्त वृत्ति निरोध । योगसूत्र १।२ (पतजलि)

वही पूर्णता ध्यान है। चित्त की चचलता अथवा मन की भाग दौड़ को समाप्त करना ही जैन-साधना और योग- साधना दोनों का लक्ष्य है। इस दृष्टि से देखें तो जैन दर्शन में ध्यान की जो परिभाषा दी जाती है वही परिभाषा योग दर्शन में योग की दी जाती है। इस प्रकार ध्यान और योग पर्यायवाची बन जाते हैं।

योग शब्द का एक अर्थ जोड़ना भी है।[१] इस दृष्टि से आत्मा को परमात्मा से जोड़ने की कला को योग कहा गया है और इसी अर्थ से योग को मुक्ति का साधन माना गया है। अपने इस दूसरे अर्थ में भी योग शब्द ध्यान का समानार्थक ही सिद्ध होता है, क्योंकि ध्यान ही साधक को अपने में ही स्थित परमात्मा (शुद्धात्मा) या मुक्ति से जोडता है। वस्तुत जब चित्तवृत्तियों की चचलता समाप्त हो जाती है चित्त प्रशान्त और निष्प्रकम्प हो जाता है, तो वही ध्यान होता है, वही समाधि होता है और उसे ही योग कहा जाता है। किन्तु जब कार्य-कारण भाव अथवा साध्यसाधन की दृष्टि से विचार करते हैं तो ध्यान साधन होता है, समाधि साध्य होती है। साधन से साध्य की उपलब्धि ही योग कही जाती है।

ध्यान और कायोत्सर्ग -

जैन साधना में तप के वर्गीकरण में आभ्यन्तर तप के जो छह प्रकार बतलाए गये हैं, उनमें ध्यान और कायोत्सर्ग इन दोनों का अलग-अलग उल्लेख किया गया है।[२] इसका तात्पर्य यह है कि जैन आचार्यों की दृष्टि में ध्यान और कायोत्सर्ग दो भिन्न भिन्न स्थितियाँ हैं। ध्यान चेतना को किसी विषय पर केन्द्रित करने का अभ्यास है तो कायोत्सर्ग शरीर के नियन्त्रण का एक अभ्यास। यद्यपि यहा काया (शरीर) व्यापक अर्थ में ग्रहीत है। स्मरण रहे कि मन और वाक् ये शरीर के आश्रित ही हैं। शाब्दिक दृष्टि से कायोत्सर्ग शब्द का अर्थ होता है 'काया' का उत्सर्ग अर्थात देह-त्याग। लेकिन जब तक जीवन है तब तक शरीर का त्याग तो सभव नही है। अत कायोत्सर्ग का मतलब है देह के प्रति ममत्व का त्याग, दूसरे शब्दों में शारीरिक गतिविधियों का कर्ता न बनकर द्रष्टा बन जाना। वह शरीर की मात्र ऐच्छिक गतिविधियों का नियन्त्रण है। शारीरिक गतिविधिया भी दो प्रकार की होती हैं- एक स्वचालित और दूसरी ऐच्छिक। कायोत्सर्ग में स्वचालित गतिविधियों का नहीं, अपितु ऐच्छिक गतिविधियों का नियन्त्रण किया जाता है। कायोत्सर्ग करने से पूर्व जो आगारसूत्र का पाठ बोला जाता है उसमें श्वसन-प्रक्रिया, छीक, जम्भाई आदि स्वचालित शारीरिक गतिविधियों का निरोध नही करने का ही स्पष्ट उल्लेख है।[३] अत कायोत्सर्ग

---

१) 'युजपी योगे' हेमचन्द्र धातुमाला, गण ७

२) उत्तराध्ययन सूत्र ३०।३० (झाण च विउस्सग्गो एसो अब्भिन्तरो तवो)

३) आवश्यकसूत्र-आगारसूत्र

ऐच्छिक शारीरिक गतविधियों के निरोध का प्रयत्न है। यद्यपि ऐचिछक गतिविधियों का केन्द्र मानवीय मन अथवा चेतना ही है। अत. कायोत्सर्ग की प्रक्रिया ध्यान की प्रक्रिया के साथ अपरिहार्य रूप से जुड़ी हुई है।

एक अन्य दृष्टि से कायोत्सर्ग को देह के प्रति निर्ममत्व की साधना भी कहा जा सकता है। वह देह में रहकर भी कर्ताभाव से उपर उठकर द्रष्टाभाव में स्थित होना है। यह भी स्पष्ट है कि चित्तवृत्तियों के विचलन में शरीर भी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। हम शरीर और इन्द्रियों के माध्यम से ही बाह्य विषयों से जुड़ते हैं और उनकी अनुभूति करते हैं। इस अनुभूति का अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव हमारी चित्तवृत्ति पर पडता है। जो चित्त विचलन का या राग-द्वेष का कारण होता है।

चित्त (मन) और ध्यान

जैन दर्शन मे मन की चार व्यवस्थाएं - जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराओं में चित्त या मन ध्यान साधना की आधारभूमि है, अत चित्त की विभिन्न व्यवस्थाओं पर व्यक्ति के ध्यान साधना के विकास को आँका जा सकता है। जैन परम्परा में आचार्य हेमचन्द्र ने मन की चार अवस्थाएँ मानी हैं १) विक्षिप्त मन, २) यातायात मन, ३) श्लिष्ट मन और ४) सुलीन मन।[१]

१) विक्षिप्त मन - यह मन की अस्थिर अवस्था है, इसमें चित्त चचल होता है, इधर उधर भटकता रहता है, इसके आलम्बन प्रमुखतया बाह्य विषय ही होते हैं। इसमें सकल्प-विकल्प या विचारों की भाग-दौड़ मची रहती है, अत इस अवस्था में मानसिक शान्ति का अभाव होता है। यह चित्त पूरी तरह बहिर्मुखी होता है।

२) यातायात मन - यातायात मन कभी बाह्य विषयों की ओर जाता है तो कभी अपने में स्थित होने का प्रयत्न करता है। यह योगाभ्यास के प्रारम्भ की अवस्था है। इस अवस्था में चित्त अपने पूर्वाभ्यास के कारण बाहरी विषयों की ओर दौड़ता रहता है, वैसे थोडे बहुत प्रयत्न से उसे स्थिर कर लिया जाता है। कुछ समय उस पर स्थिर रहकर पुन बाह्य विषयों के सकल्प-विकल्प में उलझ जाता है। जब-जब कुछ स्थिर होता है तब मानसिक शान्ति एव आनन्द का अनुभव करने लगता है। यातायात चित्त कथचित् अन्तर्मुखी और कथचित बहिर्मुखी होता है।

३) श्लिष्ट मन - यह मन की स्थिरता की अवस्था है। इस अवस्था में चित्त की स्थिरता का आधार या आलम्बन विषय होता है। इसमें जैसे जैसे स्थिरता आती है, आनन्द भी बढ़ता जाता है।

---

१) योगशास्त्र, १२/२

४) सुलीन मन - यह मन की वह अवस्था है, जिसमें सकल्प-विकल्प एव मानसिक वृत्तियाँ का लय हो जाता है। इसको मन की निरुद्धावस्था भी कहा जा सकता है। यह परमानन्द की अवस्था है, क्योंकि इसमें सभी वासनाओं का विलय हो जाता है।

बौद्ध दर्शन में चित्त की चार अवस्थाएँ - अभिधम्मत्थसगहो के अनुसार बौद्ध दर्शन में भी चित्त (मन) चार प्रकार का है-१. कामावचर, २. रूपावचर, ३ अरूपावचर और ४ लोकोत्तर।[१]

१) कामावचर चित्त - यह चित्त की वह अवस्था है, जिसमें कामनाओं और वासनाओं का प्राधान्य होता है। इसमें वितर्क एवं विचारों की अधिकता होती है। मन सासारिक भोगों के पीछे भटकता रहता है।

२) रूपावचर चित्त - इस अवस्था में वितर्क-विचार तो होते हैं, लेकिन एकाग्रता का प्रयत्न भी होता है। चित्त का आलम्वन बाह्य स्थूल विषय ही होते हैं। यह योगाभ्यासी चित्त की प्राथमिक अवस्था है।

३) अरूपावचर चित्त - इस अवस्था में चित्त का आलम्वन रूपवान बाह्य पदार्थ नही है। इस स्तर पर चित्त की वृत्तियों में स्थिरता होती है लेकिन उसकी एकाग्रता निर्विषय नही होती। उसके विषय अत्यन्त सूक्ष्म जैसे अनन्त आकाश, अनन्त विज्ञान या अकिंचनता होते हैं।

४) लोकोत्तर चित्त - इस अवस्था में वासना-सस्कार, राग-द्वेष एवं मोह का प्रहाण हो जाता है। चित्त विकल्पशून्य हो जाता है। इस अवस्था की प्राप्ति कर लेने पर निश्चित रूप से अर्हत पद एव निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है।

योगदर्शन मे चित्त की पाँच अवस्थाएँ - योगदर्शन में चित्तभूमि (मानसिक अवस्था) के पाँच प्रकार हैं - १. क्षिप्त, २. मूढ, ३. विक्षिप्त, ४ एकाग्र और ५. निरूद्ध।[२]

१) क्षिप्त चित्त - इस अवस्था में चित्त रजोगुण के प्रभाव में रहता है और एक विषय से दूसरे विषय पर दौडता रहता है। स्थिरता नही रहती है। यह अवस्था योग के अनुकूल नही है, क्योंकि इसमें मन और इन्द्रियों पर सयम नही रहता।

२) मूढ चित्त - इस अवस्था में तम की प्रधानता रहती है और इससे निद्रा, आलस्य आदि का प्रादुर्भाव होता है। निद्रावस्था में चित्त की वृत्तियों का कुछ काल के

---

१) अभिधम्मत्थसंगहो, पृ १
२) भारतीय दर्शन (दत्ता) पृ १९०

ऐच्छिक शारीरिक गतविधियों के निरोध का प्रयत्न है। यद्यपि ऐचिछक गतिविधियों का केन्द्र मानवीय मन अथवा चेतना ही है। अत॰ कायोत्सर्ग की प्रक्रिया ध्यान की प्रक्रिया के साथ अपरिहार्य रूप से जुड़ी हुई है।

एक अन्य दृष्टि से कायोत्सर्ग को देह के प्रति निर्ममत्व की साधना भी कहा जा सकता है। वह देह में रहकर भी कर्ताभाव से उपर उठकर द्रष्टाभाव में स्थित होना है। यह भी स्पष्ट है कि चित्तवृत्तियों के विचलन में शरीर भी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। हम शरीर और इन्द्रियों के माध्यम से ही बाह्य विषयों से जुड़ते हैं और उनकी अनुभूति करते हैं। इस अनुभूति का अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव हमारी चित्तवृत्ति पर पडता है। जो चित्त विचलन का या राग-द्वेष का कारण होता है।

चित्त (मन) और ध्यान

जैन दर्शन मे मन की चार व्यवस्थाएं - जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराओं में चित्त या मन ध्यान साधना की आधारभूमि है, अत चित्त की विभिन्न व्यवस्थाओं पर व्यक्ति के ध्यान साधना के विकास को आँका जा सकता है। जैन परम्परा में आचार्य हेमचन्द्र ने मन की चार अवस्थाएँ मानी हैं १) विक्षिप्त मन, २) यातायात मन, ३) श्लिष्ट मन और ४) सुलीन मन।[१]

१) विक्षिप्त मन - यह मन की अस्थिर अवस्था है, इसमें चित्त चचल होता है, इधर उधर भटकता रहता है, इसके आलम्बन प्रमुखतया बाह्य विषय ही होते हैं। इसमें सकल्प-विकल्प या विचारों की भाग-दौड़ मची रहती है, अत इस अवस्था में मानसिक शान्ति का अभाव होता है। यह चित्त पूरी तरह बहिर्मुखी होता है।

२) यातायात मन - यातायात मन कभी बाह्य विषयों की ओर जाता है तो कभी अपने में स्थित होने का प्रयत्न करता है। यह योगाभ्यास के प्रारम्भ की अवस्था है। इस अवस्था में चित्त अपने पूर्वाभ्यास के कारण बाहरी विषयों की ओर दौड़ता रहता है, वैसे थोडे बहुत प्रयत्न से उसे स्थिर कर लिया जाता है। कुछ समय उस पर स्थिर रहकर पुन॰ बाह्य विषयों के सकल्प-विकल्प में उलझ जाता है। जब-जब कुछ स्थिर होता है तब मानसिक शान्ति एवं आनन्द का अनुभव करने लगता है। यातायात चित्त कथचित् अन्तर्मुखी और कथचित बहिर्मुखी होता है।

३) श्लिष्ट मन - यह मन की स्थिरता की अवस्था है। इस अवस्था में चित्त की स्थिरता का आधार या आलम्बन विषय होता है। इसमें जैसे जैसे स्थिरता आती है, आनन्द भी बढ़ता जाता है।

---

१) योगशास्त्र, १२/२

४) सुलीन मन - यह मन की वह अवस्था है, जिसमें सकल्प-विकल्प एवं मानसिक वृत्तियाँ का लय हो जाता है। इसको मन की निरूद्धावस्था भी कहा जा सकता है। यह परमानन्द की अवस्था है, क्योंकि इसमें सभी वासनाओं का विलय हो जाता है।

बौद्ध दर्शन में चित्त की चार अवस्थाएँ - अभिधम्मत्थसगहो के अनुसार बौद्ध दर्शन में भी चित्त (मन) चार प्रकार का है-१ कामावचर, २ रूपावचर, ३ अरूपावचर और ४ लोकोत्तर।[१]

१) कामावचर चित्त - यह चित्त की वह अवस्था है, जिसमें कामनाओं और वासनाओं का प्राधान्य होता है। इसमें वितर्क एव विचारों की अधिकता होती है। मन सासारिक भोगों के पीछे भटकता रहता है।

२) रूपावचर चित्त - इस अवस्था में वितर्क-विचार तो होते हैं, लेकिन एकाग्रता का प्रयत्न भी होता है। चित्त का आलम्बन बाह्य स्थूल विषय ही होते हैं। यह योगाभ्यासी चित्त की प्राथमिक अवस्था है।

३) अरूपावचर चित्त - इस अवस्था में चित्त का आलम्बन रूपवान बाह्य पदार्थ नही है। इस स्तर पर चित्त की वृत्तियों में स्थिरता होती है लेकिन उसकी एकाग्रता निर्विषय नही होती। उसके विषय अत्यन्त सूक्ष्म जैसे अनन्त आकाश, अनन्त विज्ञान या अकिंचनता होते हैं।

४) लोकोत्तर चित्त - इस अवस्था में वासना-संस्कार, राग-द्वेष एव मोह का प्रहाण हो जाता है। चित्त विकल्पशून्य हो जाता है। इस अवस्था की प्राप्ति कर लेने पर निश्चित रूप से अर्हत पद एवं निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है।

योगदर्शन में चित्त की पाँच अवस्थाएँ - योगदर्शन में चित्तभूमि (मानसिक अवस्था) के पाँच प्रकार हैं - १. क्षिप्त, २. मूढ़, ३ विक्षिप्त, ४. एकाग्र और ५. निरुद्ध।[२]

१) क्षिप्त चित्त - इस अवस्था में चित्त रजोगुण के प्रभाव में रहता है और एक विषय से दूसरे विषय पर दौडता रहता है। स्थिरता नही रहती है। यह अवस्था योग के अनुकूल नहीं है, क्योंकि इसमें मन और इन्द्रियों पर संयम नही रहता।

२) मूढ चित्त - इस अवस्था में तम की प्रधानता रहती है और इससे निद्रा, आलस्य आदि का प्रादुर्भाव होता है। निद्रावस्था में चित्त की वृत्तियों का कुछ काल के

---

१) अभिधम्मत्थसगहो, पृ १

२) भारतीय दर्शन (दत्ता) पृ १९०

लिए तिरोभाव हो जाता है, परन्तु यह अवस्था योगावस्था नही है। क्योंकि इसमें आत्मा साक्षी भाव में नही होता है।

३) विक्षिप्त चित्त - विक्षिप्तावस्था में मन थोड़ी देर के लिए एक विषय में लगता है, पर तुरन्त ही अन्य विषय की ओर दौड़ जाता है और पहला विषय छूट जाता है। यह चित्त की आशिक स्थिरता की अवस्था है।

४) एकाग्र चित्त - यह वह अवस्था है, जिसमें चित्त देर तक एक विषय पर लगा रहता है। यह किसी वस्तु पर मानसिक केन्द्रीकरण या ध्यान की अवस्था है। इस अवस्था में चित्त किसी विषय पर विचार या ध्यान करता रहता है। इसलिए इसमें भी सभी चित्तवृत्तियों का निरोध नही होता, तथापि यह योग की पहली सीढी है।

५) निरुद्ध चित्त- इस अवस्था में चित्त की सभी वृत्तियाँ का (ध्येय विषय तक का भी) लोप हो जाता है और चित्त अपनी स्वाभाविक स्थिर शांत अवस्था में आ जाता है।

जैन, बौद्ध और योग दर्शन में मन की इन विभिन्न अवस्थाओं के नामों में चाहे अन्तर हो, लेकिन उनके मूलभूत दृष्टिकोण में कोई अन्तर नही है, जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है।

जैन दर्शन	बौद्ध दर्शन	योगदर्शन
विक्षिप्त	कामावचर	क्षिप्त एव मूढ
यातायात	रूपावचर	विक्षिप्त
श्लिष्ट	अरूपावचर	एकाग्र
सुलीन	लोकोत्तर	निरुद्ध

जैन दर्शन का विक्षिप्त मन, बौद्ध दर्शन का कामावचर चित्त और योगदर्शन के क्षिप्त और मूढ चित्त समानार्थक हैं, क्योंकि सभी के अनुसार इस अवस्था में चित्त में वासनाओं एवं कामनाओं की बहुलता होती है। इसी प्रकार जैन दर्शन का यातायात मन, बौद्ध दर्शन का रुपावचर चित्त और योगदर्शन का विक्षिप्त चित्त भी समानार्थक हैं, सामान्यतया सभी के अनुसार इस अवस्था में चित्त में अल्पकालिक स्थिरता होती है तथा वासनाओं के वेग में थोडी कमी अवश्य हो जाती है। इसी प्रकार जैनदर्शन का श्लिष्ट मन, बौद्ध-दर्शन का अरूपावचर चित्त और योगदर्शन का एकाग्रचित्त भी समान ही हैं। सभी ने इसको मन की स्थिरता की अवस्था कहा है। चित्त की अन्तिम अवस्था जिसे जैन दर्शन में सुलीनमन, बौद्धदर्शन में लोकोत्तर चित्त और योगदर्शन में निरुद्ध चित्त कहा गया है भी समान अर्थ के द्योतक हैं। इसमें वासना, संस्कार एव संकल्प-विकल्प का पूर्ण अभाव हो जाता है। ध्यान साधना का लक्ष्य चित्त की इस वासना सस्कार एव संकल्प-विकल्प से रहित अवस्था को प्राप्त करना है। आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं कि क्रम से अभ्यास बढ़ाते हुए

अर्थात विक्षिप्त से यातायात चित्त का, यातायात से श्लिष्ट का और श्लिष्ट से सुलीन चित्त का अभ्यास करना चाहिए। इस तरह अभ्यास करने से निरालम्बन ध्यान होने लगता है। निरालम्बन ध्यान से समत्व प्राप्त करके परमानन्द का अनुभव करना चाहिए। योगी को चाहिए कि वह बहिरात्मभाव का त्याग करके अन्तरात्मा के साथ सामीप्य स्थापित करे और परमात्ममय बनने के लिए निरन्तर परमात्मा का ध्यान करे।[१]

इस प्रकार चित्त-वृत्तियों या वासनाओं का विलयन ही समालोच्य ध्यानपरम्पराओं का प्रमुख लक्ष्य रहा है क्योंकि वासनाओं द्वारा ही मन-क्षोभित होता है, जिससे चेतना के समत्व का भग होता है। ध्यान इसी समत्व या समाधि को प्राप्त करने की साधना है।

ध्यान का सामान्य अर्थ -

ध्यान शब्द का सामान्य अर्थ चेतना का किसी एक विषय या विन्दु पर केन्द्रित होना है।[२] चेतना जिस विषय पर केन्द्रित होती है वह प्रशस्त या अप्रशस्त दोनों ही हो सकता है। इसी आधार पर ध्यान के दो रूप निर्धारित हुए- १) प्रशस्त और २) अप्रशस्त। उसमें भी अप्रशस्त ध्यान के पुन दो रूप माने गये- १) आर्त और २) रौद्र। प्रशस्त ध्यान के भी दो रूप माने गये- १) धर्म और २) शुक्ल। जब चेतना राग या आसक्ति में डूब कर किसी वस्तु और उसकी उपलब्धि की आशा पर केन्द्रित होती है तो उसे आर्त ध्यान कहा जा सकता है। अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति की आकाक्षा या प्राप्तवस्तु के वियोग की सभावना की चिन्ता में चित्त का डूबना आर्त ध्यान है।[३] आर्तध्यान चित्त के अवसाद/विषाद की अवस्था है।

जब कोई उपलब्ध अनुकूल विषयों के वियोग का या अप्राप्त अनुकूल विषयों की उपलब्धि में अवरोध का निमित्त बनता है तो उस पर आक्रोश का जो स्थायीभाव होता है, वही रौद्रध्यान है।[४] इस प्रकार आर्त ध्यान रागमूलक होता है और रौद्र ध्यान द्वेष मूलक होता है। राग-द्वेष के निमित्त से उत्पन्न होने के कारण ये दोनों ध्यान ससार के जनक हैं, अत· अप्रशस्त माने गये हैं। इनके विपरीत धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान प्रशस्त माने गये हैं। मेरी दृष्टि में स्व-पर के लिये कल्याणकारी विषयों पर चित्तवृत्ति का स्थिर होना धर्मध्यान है। यह लोकमगल और आत्म विशुद्धि का साधक होता है। चूंकि धर्मध्यान में भोक्ताभाव होता है, अत यह शुभ आस्रव का कारण होता है। जब आत्मा या चित्त की वृत्तियाँ साक्षीभाव या ज्ञाता द्रष्टा भाव में अवस्थित होती है, तब साधक न तो कर्ताभाव से जुडता है और न भोक्ताभाव से जुड़ता है, यही साक्षीभाव की अवस्था ही शुक्ल ध्यान है। इसमें चित्त शुभ-अशुभ दोनों से ऊपर उठ जाता है।

---

१) योगशास्त्र, १२/५-६

२) तत्त्वार्थसूत्र ९।२७, ३) वही ९।३१, ४) वही ९।३६.

ध्यान शब्द की जैन परिभाषाएँ

सामान्यतया अध्यवसायों (चित्तवृत्ति) का स्थिर होना ही ध्यान कहा गया है। दूसरे शब्दों में मन की एकाग्रता को प्राप्त होना ही ध्यान है।

इसके विपरीत जो मन चचल है उसे भावना, अनुप्रेक्षा अथवा चिन्ता कहा जाता है।[१] इस प्रकार ध्यान वह स्थिति है जिसमें चित्त वृत्ति की चंचलता समाप्त हो जाती है और वह किसी एक विषय पर केन्द्रित हो जाती है। तत्त्वार्थसूत्र में ध्यान को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि अनेक अर्थों का आलम्बन देनेवाली चिन्ता का निरोध ध्यान है।[२] दूसरे शब्दों में जब चिन्तन को अन्यान्य विषयों से हटा कर किसी एक ही वस्तु में केन्द्रित कर दिया जाता है तो वह ध्यान बन जाता है। यद्यपि भगवती आराधना में एक ओर चिन्ता निरोध से उत्पन्न एकाग्रता को ध्यान कहा गया है किन्तु दूसरी ओर उसमें राग-द्वेष और मिथ्यात्व से रहित होकर पदार्थ की यथार्थता को ग्रहण करनेवाला जो विषयान्तर के सचार से रहित ज्ञान होता है, उसे ध्यान कहा गया है।[३] आचार्य कुन्दकुन्द पचास्तिकाय में ध्यान को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि दर्शन और ज्ञान से परिपूर्ण और अन्य द्रव्य के संसर्ग से रहित चेतना की जो अवस्था है वही ध्यान है।[४] इस गाथा में पण्डित बालचन्द्रजी सिद्धान्त शास्त्री ने "दसणणाण समग्गं" का अर्थ सम्यक्-दर्शन व सम्यक् ज्ञान से परिपूर्ण किया है, किन्तु मेरी दृष्टि में यह अर्थ उचित नही है। दर्शन और ज्ञान की समग्रता (समग्ग) का अर्थ है ज्ञान का भी निर्विकल्प अवस्था में होना। सामान्यतया ज्ञान विकल्पात्मक होता है और दर्शन निर्विकल्प। किन्तु जब ज्ञान चित्त की विकल्पता से रहित होकर दर्शन से अभिन्न हो जाता है, तो वही ध्यान हो जाता है। इसीलिए अन्यत्र कहा भी है कि ज्ञान से ही ध्यान की सिद्धि होती है।[५] ध्यान शब्द की इन परिभाषाओं में हमें स्पष्ट रूप से एक विकासक्रम परिलक्षित होता है। फिर भी मूल रूप में ये परिभाषाएं एक दूसरे की विरोधी नही हैं। चित्त का विविध विकल्पों से रहित होकर एक विकल्प पर स्थिर हो जाना और अन्त में निर्विकल्प हो जाना ही ध्यान है। क्योंकि ध्यान की अन्तिम अवस्था में सभी विकल्प समाप्त हो जाते हैं।

ध्यान का क्षेत्र

ध्यान के साधन दो प्रकार के माने गये हैं-एक बहिरंग और दूसरा अन्तरंग। ध्यान के बहिरंग साधनों में ध्यान के योग्य स्थान (क्षेत्र), आसन, काल आदि का विचार किया

---

१) ध्यानस्तव (जिनभद्र, प्र. वीर सेवा मदिर) २

२) तत्त्वार्थसूत्र ९।२७

३) भगवती आराधना, विजयोदया टीका - देखें ध्यान शतक प्रस्तावना पृ २६

४) पचास्तिकाय १५२

५) णाणेण झाणसिद्धि

जाता है और अन्तरग साधनों में ध्येय विषय और ध्याता के सम्बन्ध में विचार किया गया है कि ध्यान के योग्य क्षेत्र कौन से हो सकते हैं। आचार्य शुभचन्द्र लिखते हैं कि 'जो स्थान निकृष्ट स्वभाववाले लोगों से सेवित हो, दुष्ट राजा से शासित हो, पाखण्डियों के समूह से व्याप्त हो, जुआरियों, मद्यपियों और व्यभिचारियों से युक्त हो और जहा का वातावरण अशान्त हो, जहा सेना का सचार हो रहा हो, गीत, वादित्र आदि के स्वर गूज रहे हों, जहां जन्तुओं तथा नपुसक आदि निकृष्ट प्रकृति के जनों का विचरण हो, वह स्थान ध्यान के योग्य नहीं है। इसी प्रकार काटे, पत्थर, कीचड़, हड्डी, रुधिर आदि से दूषित तथा कौए, उल्लू, शृगाल, कुत्तों आदि से सेवित स्थान भी ध्यान के योग्य नही होते।[१]

यह बात स्पष्ट है कि परिवेश का प्रभाव हमारी चित्तवृत्तियों पर पड़ता है। धर्म स्थलों एव नीरव साधना-क्षेत्रों आदि में जो निराकुलता होती हे तथा उनमें जो एक विशिष्ट प्रकार की शान्ति होती है, वह ध्यान-साधना के लिए उपयुक्त होती है। अत ध्यान करते समय साधक को क्षेत्र का विचार करना आवश्यक है। सयमी साधक को समुद्र तट, नदी तट, अथवा सरोवर के तट, पर्वत शिखर अथवा गुफा किंवा प्राकृतिक दृष्टि से नीरव और सुन्दर प्रदेशों को अथवा जिनालय आदि धर्म स्थानों को ही ध्यान के क्षेत्र रूप में चुनना चाहिए। ध्यान की दिशा के सम्बन्ध में विचार करते हुए कहा गया है कि ध्यान के लिए पूर्व या उत्तर दिशा अभिमुख होकर बैठना चाहिये।

ध्यान के आसन -

ध्यान के आसनों को लेकर भी जैन ग्रन्थों में पर्याप्त रूप से विचार हुआ है। सामान्य रूप से पद्मासन, पर्यंकासन एव खड्गासन ध्यान के उत्तम आसन माने गये हैं। ध्यान के आसनों के सबध में जैन आचार्यों की मूलदृष्टि यह है कि जिन आसनों से शरीर और मन पर तनाव नही पडता हो ऐसे सुखासन ही ध्यान के योग्य आसन माने जा सकते हैं। जिन आसनों का अभ्यास साधक ने कर रखा हो और जिन आसनों में वह अधिक समय तक सुखपूर्वक बैठ सकता हो तथा जिनके कारण उसका शरीर स्वेद को प्राप्त नही होता हो, वे ही आसन ध्यान के लिये श्रेष्ठ आसन हैं।[२] सामान्यतया जैन परम्परा में पद्मासन और खड्गासन ही ध्यान के अधिक प्रचलित आसन रहे हैं।[३] किन्तु महावीर के द्वारा गोदुहासन में ध्यान करके केवलज्ञान प्राप्त करने के भी उल्लेख हैं।[४] समाधिमरण या शारीरिक अशक्ति की स्थिति में लेटे लेटे भी ध्यान किया जा सकता है।

---

१) ज्ञानार्णव २७/२३-३२

२) ज्ञानार्णव २८।११

३) ज्ञानार्णव २८।१०

४) 'गोदोहिआए उक्कुडयनिलिज्जाए' कल्पसूत्र १२०

ध्यान शब्द की जैन परिभाषाएँ

सामान्यतया अध्यवसायों (चित्तवृत्ति) का स्थिर होना ही ध्यान कहा गया है। दूसरे शब्दों में मन की एकाग्रता को प्राप्त होना ही ध्यान है।

इसके विपरीत जो मन चचल है उसे भावना, अनुप्रेक्षा अथवा चिन्ता कहा जाता है।[१] इस प्रकार ध्यान वह स्थिति है जिसमें चित्त वृत्ति की चचलता समाप्त हो जाती है और वह किसी एक विषय पर केन्द्रित हो जाती है। तत्त्वार्थसूत्र में ध्यान को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि अनेक अर्थों का आलम्बन देनेवाली चिन्ता का निरोध ध्यान है।[२] दूसरे शब्दों में जब चिन्तन को अन्यान्य विषयों से हटा कर किसी एक ही वस्तु में केन्द्रित कर दिया जाता है तो वह ध्यान बन जाता है। यद्यपि भगवती आराधना में एक ओर चिन्ता निरोध से उत्पन्न एकाग्रता को ध्यान कहा गया है किन्तु दूसरी ओर उसमें राग-द्वेष और मिथ्यात्व से रहित होकर पदार्थ की यथार्थता को ग्रहण करनेवाला जो विषयान्तर के सचार से रहित ज्ञान होता है, उसे ध्यान कहा गया है।[३] आचार्य कुन्दकुन्द पचास्तिकाय में ध्यान को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि दर्शन और ज्ञान से परिपूर्ण और अन्य द्रव्य के ससर्ग से रहित चेतना की जो अवस्था है वही ध्यान है।[४] इस गाथा में पण्डित बालचन्द्रजी सिद्धान्त शास्त्री ने "दसणणाण समग्ग" का अर्थ सम्यक्-दर्शन व सम्यक् ज्ञान से परिपूर्ण किया है, किन्तु मेरी दृष्टि में यह अर्थ उचित नही है। दर्शन और ज्ञान की समग्रता (समग्ग) का अर्थ है ज्ञान का भी निर्विकल्प अवस्था में होना। सामान्यतया ज्ञान विकल्पात्मक होता है और दर्शन निर्विकल्प। किन्तु जब ज्ञान चित्त की विकल्पता से रहित होकर दर्शन से अभिन्न हो जाता है, तो वही ध्यान हो जाता है। इसीलिए अन्यत्र कहा भी है कि ज्ञान से ही ध्यान की सिद्धि होती है।[५] ध्यान शब्द की इन परिभाषाओं में हमें स्पष्ट रूप से एक विकासक्रम परिलक्षित होता है। फिर भी मूल रूप में ये परिभाषाए एक दूसरे की विरोधी नही हैं। चित्त का विविध विकल्पों से रहित होकर एक विकल्प पर स्थिर हो जाना और अन्त में निर्विकल्प हो जाना ही ध्यान है। क्योंकि ध्यान की अन्तिम अवस्था में सभी विकल्प समाप्त हो जाते हैं।

ध्यान का क्षेत्र

ध्यान के साधन दो प्रकार के माने गये हैं-एक बहिरंग और दूसरा अन्तरग। ध्यान के बहिरंग साधनों में ध्यान के योग्य स्थान (क्षेत्र), आसन, काल आदि का विचार किया

---

१) ध्यानस्तव (जिनभद्र, प्र वीर सेवा मदिर) २

२) तत्त्वार्थसूत्र ९।२७

३) भगवती आराधना, विजयोदया टीका – देखें ध्यान शतक प्रस्तावना पृ २६

४) पंचास्तिकाय १५२

५) णाणेण झाणसिद्धि

जाता है और अन्तरंग साधनों में ध्येय विषय और ध्याता के सम्बन्ध में विचार किया गया है कि ध्यान के योग्य क्षेत्र कौन से हो सकते हैं। आचार्य शुभचन्द्र लिखते हैं कि 'जो स्थान निकृष्ट स्वभाववाले लोगों से सेवित हो, दुष्ट राजा से शासित हो, पाखण्डियों के समूह से व्याप्त हो, जुआरियों, मद्यपियों और व्यभिचारियों से युक्त हो और जहा का वातावरण अशान्त हो, जहा सेना का सचार हो रहा हो, गीत, वादित्र आदि के स्वर गूज रहे हों, जहा जन्तुओं तथा नपुसक आदि निकृष्ट प्रकृति के जनों का विचरण हो, वह स्थान ध्यान के योग्य नही है। इसी प्रकार काटे, पत्थर, कीचड़, हड्डी, रुधिर आदि से दूषित तथा कौए, उल्लू, शृगाल, कुत्तों आदि से सेवित स्थान भी ध्यान के योग्य नही होते।[१]

यह बात स्पष्ट है कि परिवेश का प्रभाव हमारी चित्तवृत्तियों पर पडता है। धर्म स्थलों एव नीरव साधना-क्षेत्रों आदि में जो निराकुलता होती है तथा उनमें जो एक विशिष्ट प्रकार की शान्ति होती है, वह ध्यान-साधना के लिए उपयुक्त होती है। अत ध्यान करते समय साधक को क्षेत्र का विचार करना आवश्यक है। सयमी साधक को समुद्र तट, नदी तट, अथवा सरोवर के तट, पर्वत शिखर अथवा गुफा किंवा प्राकृतिक दृष्टि से नीरव और सुन्दर प्रदेशों को अथवा जिनालय आदि धर्म स्थानों को ही ध्यान के क्षेत्र रूप में चुनना चाहिए। ध्यान की दिशा के सम्बन्ध में विचार करते हुए कहा गया है कि ध्यान के लिए पूर्व या उत्तर दिशा अभिमुख होकर बैठना चाहिये।

ध्यान के आसन -

ध्यान के आसनों को लेकर भी जैन ग्रन्थों में पर्याप्त रूप से विचार हुआ है। सामान्य रूप से पद्मासन, पर्यंकासन एव खड्गासन ध्यान के उत्तम आसन माने गये हैं। ध्यान के आसनों के सबध में जैन आचार्यों की मूलदृष्टि यह है कि जिन आसनों से शरीर और मन पर तनाव नहीं पडता हो ऐसे सुखासन ही ध्यान के योग्य आसन माने जा सकते हैं। जिन आसनों का अभ्यास साधक ने कर रखा हो और जिन आसनों में वह अधिक समय तक सुखपूर्वक बैठ सकता हो तथा जिनके कारण उसका शरीर स्वेद को प्राप्त नही होता हो, वे ही आसन ध्यान के लिये श्रेष्ठ आसन हैं।[२] सामान्यतया जैन परम्परा में पद्मासन और खड्गासन ही ध्यान के अधिक प्रचलित आसन रहे हैं।[३] किन्तु महावीर के द्वारा गोदुहासन में ध्यान करके केवलज्ञान प्राप्त करने के भी उल्लेख हैं।[४] समाधिमरण या शारीरिक अशक्ति की स्थिति में लेटे लेटे भी ध्यान किया जा सकता है।

---

१) ज्ञानार्णव २७/२३-३२

२) ज्ञानार्णव २८।११

३) ज्ञानार्णव २८।१०

४) 'गोदोहियाए उक्कुडयनिलिज्जाए' कल्पसूत्र १२०

ध्यान शब्द की जैन परिभाषाएँ

सामान्यतया अध्यवसायों (चित्तवृत्ति) का स्थिर होना ही ध्यान कहा गया है। दूसरे शब्दों में मन की एकाग्रता को प्राप्त होना ही ध्यान है।

इसके विपरीत जो मन चंचल है उसे भावना, अनुप्रेक्षा अथवा चिन्ता कहा जाता है।[१] इस प्रकार ध्यान वह स्थिति है जिसमें चित्त वृत्ति की चचलता समाप्त हो जाती है और वह किसी एक विषय पर केन्द्रित हो जाती है। तत्त्वार्थसूत्र में ध्यान को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि अनेक अर्थों का आलम्बन देनेवाली चिन्ता का निरोध ध्यान है।[२] दूसरे शब्दों में जब चिन्तन को अन्यान्य विषयों से हटा कर किसी एक ही वस्तु में केन्द्रित कर दिया जाता है तो वह ध्यान बन जाता है। यद्यपि भगवती आराधना में एक ओर चिन्ता निरोध से उत्पन्न एकाग्रता को ध्यान कहा गया है किन्तु दूसरी ओर उसमें राग-द्वेष और मिथ्यात्व से रहित होकर पदार्थ की यथार्थता को ग्रहण करनेवाला जो विषयान्तर के सचार से रहित ज्ञान होता है, उसे ध्यान कहा गया है।[३] आचार्य कुन्दकुन्द पचास्तिकाय में ध्यान को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि दर्शन और ज्ञान से परिपूर्ण और अन्य द्रव्य के ससर्ग से रहित चेतना की जो अवस्था है वही ध्यान है।[४] इस गाथा में पण्डित बालचन्द्रजी सिद्धान्त शास्त्री ने "दसणणाण समग्ग" का अर्थ सम्यक्-दर्शन व सम्यक् ज्ञान से परिपूर्ण किया है, किन्तु मेरी दृष्टि में यह अर्थ उचित नही है। दर्शन और ज्ञान की समग्रता (समग्ग) का अर्थ है ज्ञान का भी निर्विकल्प अवस्था में होना। सामान्यतया ज्ञान विकल्पात्मक होता है और दर्शन निर्विकल्प। किन्तु जब ज्ञान चित्त की विकल्पता से रहित होकर दर्शन से अभिन्न हो जाता है, तो वही ध्यान हो जाता है। इसीलिए अन्यत्र कहा भी है कि ज्ञान से ही ध्यान की सिद्धि होती है।[५] ध्यान शब्द की इन परिभाषाओं में हमें स्पष्ट रूप से एक विकासक्रम परिलक्षित होता है। फिर भी मूल रूप में ये परिभाषाए एक दूसरे की विरोधी नही हैं। चित्त का विविध विकल्पों से रहित होकर एक विकल्प पर स्थिर हो जाना और अन्त में निर्विकल्प हो जाना ही ध्यान है। क्योंकि ध्यान की अन्तिम अवस्था में सभी विकल्प समाप्त हो जाते हैं।

ध्यान का क्षेत्र

ध्यान के साधन दो प्रकार के माने गये हैं-एक बहिरंग और दूसरा अन्तरंग। ध्यान के बहिरंग साधनों में ध्यान के योग्य स्थान (क्षेत्र), आसन, काल आदि का विचार किया

---

१) ध्यानस्तव (जिनभद्र, प्र वीर सेवा मदिर) २

२) तत्त्वार्थसूत्र ९।२७

३) भगवती आराधना, विजयोदया टीका - देखें ध्यान शतक प्रस्तावना पृ २६

४) पचास्तिकाय १५२

५) णाणेण झाणसिद्धि

पाया जाता है। अपने व्यापक अर्थ में ध्यान में प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों ही प्रकार के ध्यानों का समावेश होता है। अत हमें यह मानना होता है कि इन अप्रशस्त ध्यानों की पात्रता तो आध्यात्मिक दृष्टि से अपूर्ण रूप से विकसित सभी प्राणियों में किसी न किसी रूप में रही हुई है। नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव आदि सभी में आर्तध्यान और रौद्रध्यान पाये जाते हैं। किन्तु जब हम ध्यान का तात्पर्य केवल प्रशस्त ध्यान अर्थात धर्मध्यान और शुक्लध्यान से लेते हैं तो हमें यह मानना होगा कि इन ध्यानों के अधिकारी सभी प्राणी नही हैं। उमास्वाती ने तत्त्वार्थसूत्र में किस ध्यान का कौन अधिकारी है इसका उल्लेख किया है।[१] इसकी विशेष चर्चा हमने ध्यान के प्रकारों के प्रसंग में की है। साधारणतया चतुर्थ गुणस्थान अर्थात सम्यक्दर्शन की प्राप्ति के पश्चात् ही व्यक्ति धर्मध्यान का अधिकारी बनता है। धर्मध्यान की पात्रता केवल सम्यक् दृष्टि जीवों को ही है। आर्त और रौद्र ध्यान का परित्याग करके अपने को प्रशस्त चिन्तन से जोड़ने की सम्भावना केवल उसी व्यक्ति में हो सकती है, जिसका विवेक जागृत हो और जो हेय, ज्ञेय और उपादेय के भेद को समझता हो। जिस व्यक्ति में हेय-उपादेय अथवा हितअहित के बोध का ही सामर्थ्य नही है, वह धर्मध्यान में अपने चित्त को केन्द्रित नही कर सकता।

यह भी स्मरणीय है कि आर्त और रौद्र ध्यान पूर्व सस्कारों के कारण व्यक्ति में सहज होते हैं। उनके लिए व्यक्ति को विशेष प्रयत्न या साधना नही करनी होती, जबकि धर्मध्यान के लिए साधना (अभ्यास) आवश्यक है। इसीलिए धर्मध्यान केवल सम्यक्दृष्टि को ही हो सकता है। धर्म-ध्यान की साधना के लिए व्यक्ति में ज्ञान के साथ-साथ वैराग्य/विरति भी आवश्यक मानी गई है और इसलिए कुछ लोगों का यह मानना भी है कि धर्मध्यान पांचवें गुणस्थान अर्थात देशव्रती को ही संभव है। अत स्पष्ट है कि जहाँ आर्त और रौद्र ध्यान के स्वामी सम्यक्दृष्टि एवं मिथ्यादृष्टि दोनों प्रकार के जीव हो सकते हैं, वहाँ धर्मध्यान का प्रश्न अधिकारी रूप से सम्यक्दृष्टि श्रावक और विशेषरूप से देशविरत श्रावक या मुनि ही हो सकता है।

जहा तक शुक्लध्यान का प्रश्न है वह सातवें गुणस्थान के अप्रमत्त जीवों से लेकर १४ वें अयोगी केवली गुणस्थान तक के सभी व्यक्तियों में सम्भव है। इस सम्बन्ध में श्वेताम्बर - दिगम्बर के मतभेदों की चर्चा ध्यान के प्रकारों के प्रसग में आगे की है।

इस प्रकार ध्यानसाधना के अधिकारी व्यक्ति भिन्न-भिन्न ध्यानों की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न कहे गये हैं। जो व्यक्ति आध्यात्मिक दृष्टि से जितना विकसित होता है वह ध्यान के क्षेत्र में उतना ही आगे बढ़ सकता है। अत· व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास उसकी ध्यानसाधना से जुड़ा हुआ है। आध्यात्मिक साधना और ध्यानसाधना में विकास

---

१) देखें-तत्त्वार्थसूत्र ९।३१-४१

जैन दार्शनिकों की दृष्टि में प्राथमिक स्तर पर ध्यान के लिए किसी ध्येय या आलम्बन का होना आवश्यक है, क्योंकि बिना आलम्बन ही चित्त की वृत्तियों को केन्द्रित करना सम्भव नही होता है। वे सभी विषय और वस्तुएँ जिनमें व्यक्ति का मन रम जाता है, ध्यान का आलम्बन बनने की योग्यता तो रखती हैं, किन्तु उनमें से किसी एक को अपने ध्यान का आलम्बन बनाते समय व्यक्ति को यह विचार करना होता है कि उससे वह राग की ओर जायेगा या विराग की ओर, उसके चित्त में वासना और विक्षोभ जगेंगे या समाधि सधेगी। यदि साधक का उद्देश्य ध्यान के माध्यम से चित्त-विक्षोभों को दूर करके समाधि-लाभ या समता-भाव को प्राप्त करना है तो उसे प्रशस्त विषयों को ही अपने ध्यान का आलम्बन बनाना होगा। प्रशस्त आलम्बन ही व्यक्ति को प्रशस्त ध्यान की दिशा की ओर ले जाता है।

ध्यान के आलम्बन के प्रशस्त विषयों में परमात्मा या ईश्वर का स्थान सर्वोपरि माना गया है। जैन दार्शनिकों ने भी ध्यान के आलम्बन के रूप में वीतराग परमात्मा को ध्येय के रूप में स्वीकार किया है।[१] चाहे ध्यान पदस्थ हो या पिण्डस्थ, रूपस्थ हो या रूपातीत, ध्येय तो परमात्मा ही है। किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि जैनधर्म में आत्मा और परमात्मा भिन्न नही हैं। आत्मा की शुद्धदशा ही परमात्मा है।[२] इसलिए जैन दर्शन में ध्याता और ध्येय अभिन्न हैं। साधक आत्मा ध्यानसाधना में अपने ही शुद्ध स्वरूप को ध्येय बनाता है। आत्मा, आत्मा के द्वारा आत्मा का ही ध्यान करता है।[३] जिस परमात्म-स्वरूप को ध्याता ध्येय के रूप में स्वीकार करता है वह उसका अपना ही शुद्ध स्वरूप है।[४] पुन॰ ध्यान में जो ध्येय बनता है वह वस्तु नही, चित्त की वृत्ति होती है। ध्यान में चित्त ही ध्येय का आकार ग्रहण करके हमारे सामने उपस्थित होता है। अत॰ ध्याता भी चित्त है और ध्येय भी चित्त है। जिसे हम ध्येय कहते हैं, वह हमारा अपना ही निज रूप है, हमारा अपना ही प्रोजेक्शन (Projection) है। ध्यान वह कला है जिसमें ध्याता अपने को ही ध्येय बनाकर स्वयं उसका साक्षी बनता है। हमारी वृत्तियाँ ही हमारे ध्यान का आलम्बन होती हैं और उनके माध्यम से हम अपना ही दर्शन करते हैं।

ध्यान के अधिकारी-

ध्यान को व्यापक अर्थों में ग्रहण करने पर सभी व्यक्ति ध्यान के अधिकारी माने जा सकते हैं, क्योंकि जैन दर्शन के अनुसार आर्त और रौद्र ध्यान तो निम्नतम प्राणियों में भी

---

१) ज्ञानार्णव - ३२।९५, ३९।१-८, मोक्खपाहुड ७

२) अप्पा सो परमप्पा

३) तत्त्वानुशासन ७४

४) मोक्खपाहुड ५

पाया जाता है। अपने व्यापक अर्थ में ध्यान में प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों ही प्रकार के ध्यानों का समावेश होता है। अत: हमें यह मानना होता है कि इन अप्रशस्त ध्यानों की पात्रता तो आध्यात्मिक दृष्टि से अपूर्ण रूप से विकसित सभी प्राणियों में किसी न किसी रूप में रही हुई है। नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव आदि सभी में आर्तध्यान और रौद्रध्यान पाये जाते हैं। किन्तु जब हम ध्यान का तात्पर्य केवल प्रशस्त ध्यान अर्थात धर्मध्यान और शुक्लध्यान से लेते हैं तो हमें यह मानना होगा कि इन ध्यानों के अधिकारी सभी प्राणी नही हैं। उमास्वाती ने तत्त्वार्थसूत्र में किस ध्यान का कौन अधिकारी है इसका उल्लेख किया है।[१] इसकी विशेष चर्चा हमने ध्यान के प्रकारों के प्रसंग में की है। साधारणतया चतुर्थ गुणस्थान अर्थात सम्यक्दर्शन की प्राप्ति के पश्चात् ही व्यक्ति धर्मध्यान का अधिकारी बनता है। धर्मध्यान की पात्रता केवल सम्यक् दृष्टि जीवों को ही है। आर्त और रौद्र ध्यान का परित्याग करके अपने को प्रशस्त चिन्तन से जोड़ने की सम्भावना केवल उसी व्यक्ति में हो सकती है, जिसका विवेक जागृत हो और जो हेय, ज्ञेय और उपादेय के भेद को समझता हो। जिस व्यक्ति में हेय-उपादेय अथवा हितअहित के बोध का ही सामर्थ्य नही है, वह धर्मध्यान में अपने चित्त को केन्द्रित नही कर सकता।

यह भी स्मरणीय है कि आर्त और रौद्र ध्यान पूर्व सस्कारों के कारण व्यक्ति में सहज होते हैं। उनके लिए व्यक्ति को विशेष प्रयत्न या साधना नही करनी होती, जबकि धर्मध्यान के लिए साधना (अभ्यास) आवश्यक है। इसीलिए धर्मध्यान केवल सम्यक्दृष्टि को ही हो सकता है। धर्म-ध्यान की साधना के लिए व्यक्ति में ज्ञान के साथ-साथ वैराग्य/विरति भी आवश्यक मानी गई है और इसलिए कुछ लोगों का यह मानना भी है कि धर्मध्यान पाचवें गुणस्थान अर्थात देशव्रती को ही सभव है। अत स्पष्ट है कि जहाँ आर्त और रौद्र ध्यान के स्वामी सम्यक्दृष्टि एव मिथ्यादृष्टि दोनों प्रकार के जीव हो सकते हैं, वहाँ धर्मध्यान का प्रश्न अधिकारी रूप से सम्यक्दृष्टि श्रावक और विशेषरूप से देशविरत श्रावक या मुनि ही हो सकता है।

जहा तक शुक्लध्यान का प्रश्न है वह सातवें गुणस्थान के अप्रमत्त जीवों से लेकर १४ वें अयोगी केवली गुणस्थान तक के सभी व्यक्तियों में सम्भव है। इस सम्बन्ध में श्वेताम्बर - दिगम्बर के मतभेदों की चर्चा ध्यान के प्रकारों के प्रसंग में आगे की है।

इस प्रकार ध्यानसाधना के अधिकारी व्यक्ति भिन्न-भिन्न ध्यानों की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न कहे गये हैं। जो व्यक्ति आध्यात्मिक दृष्टि से जितना विकसित होता है वह ध्यान के क्षेत्र में उतना ही आगे बढ़ सकता है। अत व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास उसकी ध्यानसाधना से जुड़ा हुआ है। आध्यात्मिक साधना और ध्यानसाधना में विकास

---

१) देखें-तत्त्वार्थसूत्र ९।३१-४१

का क्रम अन्योन्याश्रित हैं। जैसे-जैसे व्यक्ति प्रशस्त ध्यानों की दिशा में अग्रसर होता है उसका आध्यात्मिक विकास होता है और जैसे-जैसे उसका आध्यात्मिक विकास होता है, वह प्रशस्त ध्यानों की और अग्रसर होता है।

ध्यान का साधक गृहस्थ या श्रमण ?

ध्यान की क्षमता त्यागी और भोगी दोनों में समान रूप से होती है, किन्तु अक्सर भोगी जिस विषय पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है वह विषय अन्त में उसके मन को प्रमथित करके उद्वेलित ही बनाता है। अत उसके ध्यान में यद्यपि कुछ काल तक चित्त तो स्थिर रहता है, किन्तु उसका फल चित्तवृत्तियों की स्थिरता न होकर अस्थिरता ही होती है। जिस ध्यान के अन्त में चित्त उद्वेलित होता हो वह ध्यान साधनात्मक ध्यान की कोटि में नही आता है। यही कारण है कि परवर्ती जैन दार्शनिकों ने अपने ग्रन्थों में आर्तध्यान और रौद्र ध्यान को ध्यान के रूप में परिगणित ही नही किया, क्योंकि वे अन्ततोगत्वा चित्त की उद्विग्नता के ही कारण बनते हैं। यही कारण था कि दिगम्बर परम्परा ने यह मान लिया कि गृहस्थ का जीवन वासनाओं, आकांक्षाओं और उद्विग्नताओं से परिपूर्ण है अत. वे ध्यान साधना करने में असमर्थ हैं।

ज्ञानार्णव में इस मत का प्रतिपादन हुआ है कि गृहस्थ ध्यान का अधिकारी नही है।[१] इस सबध में उसका कथन है कि गृहस्थ प्रमाद को जीतने में समर्थ नही होता, इसलिए वह अपने चचल मन को वश में नही रख पाता। फलत· वह ध्यान का अधिकारी नही हो सकता। ज्ञानार्णव कार का कथन है कि गृहस्थ का मन सैंकड़ों झझटों से व्यथित तथा दुष्ट तृष्णा रूप पिशाच से पीड़ित रहता है इसलिए उसमें रहकर व्यक्ति ध्यान आदि की साधना नही कर सकता है। जब प्रलयकालीन तीक्ष्ण वायु के द्वारा स्थिर स्वभाववाले बड़े-बड़े पर्वत भी स्थान भ्रष्ट कर दिये जाते हैं तो फिर स्त्री-पुत्र आदि के बीच रहनेवाले गृहस्थ को जो स्वभाव से ही चंचल हैं क्यों नही भ्रष्ट किया जा सकता हैं।[२] इस चर्चा को आगे बढ़ाते हुए ज्ञानार्णवकार तो यहां तक कहता है कि कदाचित आकाश कुसुम और गधे के सीग (शृग) सभव भी हों, लेकिन गृहस्थ जीवन में किसी भी देश और काल में ध्यान सभव नही होता।[३] इसके साथ ही ज्ञानार्णवकार मिथ्या दृष्टियों, अस्थिर अभिप्राय वालों तथा कपटपूर्ण जीवन जीने वालों में भी ध्यान की सभावना को स्वीकार नही करता है।[४]

यहा यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या गृहस्थ जीवन में ध्यान सभव ही नही है।

---

१) ज्ञानार्णव ४।१०-१५
२) वही - ४।१६
३) वही - ४।१७
४) वही ४।१८-१९

यह सही है कि गृहस्थ जीवन में अनेक द्वन्द्व होते हैं और गृहस्थ आर्त और रौद्र ध्यान से अधिकाश समय तक जुड़ा रहता है। किन्तु एकान्त रूप से गृहस्थ में धर्मध्यान की संभावना को अस्वीकार नही किया जा सकता। अन्यथा गृहस्थ लिंग की अवधारणा खण्डित हो जायेगी। अत-गृहस्थ में भी धर्म ध्यान की सभावना है।

यह सत्य है कि जो व्यक्ति गृहस्थ जीवन के प्रपचों में उलझा हुआ है, उसके लिए ध्यान संभव नहीं है। किन्तु गृहस्थ जीवन और गृही वेश में रहनेवाले सभी व्यक्ति आसक्त ही होते हैं, यह नही कहा जा सकता। अनेक सम्यक्दृष्टि गृहस्थ ऐसे होते हैं जो जल में कमलवत् गृहस्थ जीवन में अलिप्त भाव से रहते हैं। ऐसे व्यक्तियों के लिए धर्मध्यान की संभावना को अस्वीकार नही किया जा सकता। स्वय ज्ञानार्णवकार यह स्वीकार करता है कि जो साधु मात्र वेश में अनुराग रखता हुआ अपने को महान समझता है और दूसरों को हीन समझता है वह साधु भी ध्यान के योग्य नही है।[१] अत व्यक्ति में मुनिवेशधारण करने से ध्यान की पात्रता नही आती है। प्रश्न यह नही कि ध्यान गृहस्थ को सभव होगा या साधु को? वस्तुत- निर्लिप्त जीवन जीने वाला व्यक्ति चाहे वह साधु हो या गृहस्थ, उसके लिए धर्मध्यान संभव हो सकता है। दूसरी ओर आसक्त, दभी और साकाक्ष व्यक्ति, चाहे वह मुनि ही क्यों न हो, उसके लिए धर्मध्यान असभव होता है। ध्यान की संभावना साधु और गृहस्थ होने पर निर्भर नही करती। उसकी सभावना का आधार ही व्यक्ति के चित्त की निराकुलता या अनासक्ति है। जो चित्त अनासक्त और निराकुल है, फिर वह चित्त गृहस्थ का हो या मुनि का, इससे कोई अन्तर नही पड़ता। ध्यान के अधिकारी बनने के लिए आवश्यक यह है कि व्यक्ति का मानस निराकाक्ष, अनाकुल और अनुद्विग्न रहे। यह अनुभूत सत्य है कि कोई-कोई व्यक्ति गृहस्थ जीवन में रहकर भी निराकाक्ष, अनाकुल और अनुद्विग्न बना रहता है। दूसरी ओर कुछ साधु, साधु होकर भी सदैव आसक्त, आकुल और उद्विग्न रहते हैं। अत ध्यान का सबंध गृही जीवन या मुनि जीवन से न होकर चित्त की विशुद्धि से है। चित्त जितना विशुद्ध होगा ध्यान उतना ही स्थिर होगा। पुन जो श्वेताम्बर और यापनीय परम्परायें गृहस्थ में भी १४ गुणस्थान सम्भव मानती हैं, उनके अनुसार तो आध्यात्मिक विकास के अग्रिम श्रेणियों का आरोहण करता हुआ गृहस्थ भी न केवल धर्म ध्यान का अपितु शुक्ल ध्यान का भी अधिकारी होता है।

ध्यान के प्रकार -

सामान्यतया जैनाचार्यों ने ध्यान का अर्थ चित्तवृत्ति का किसी एक विषय पर केन्द्रित होना ही माना है। अत जब उन्होंने ध्यान के प्रकारों की चर्चा की तो उसमें प्रशस्त और

---

१) ज्ञानार्णव - ४।३३

अप्रशस्त दोनों ही प्रकार के ध्यानों को ग्रहीत कर लिया। उन्होंने आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ये ध्यान के चार प्रकार माने।[१] ध्यान के इन चार प्रकारों में प्रथम दो को अर्थात ससार का हेतु और अन्तिम दो को प्रशस्त अर्थात मोक्ष का हेतु कहा गया है।[२] इसका आधार यह माना गया है कि आर्त और रौद्र ध्यान राग-द्वेष जनित होने से बन्धन के कारण हैं। इसलिए वे अप्रशस्त हैं। जबकि धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान कषाय भाव से रहित होने से मुक्ति के कारण हैं, इसलिए वे प्रशस्त हैं। ध्यानशतक की टीका में तथा अमितगति के श्रावकाचार में इन चार ध्यानों को क्रमश तिर्यंचगति, नरकगति, देवगति और मुक्ति का कारण कहा गया है। यद्यपि प्राचीन जैन आगमों में ध्यान का यह चतुर्विध वर्गीकरण ही मान्य रहा है। किन्तु जब ध्यान का सम्बन्ध मुक्ति की साधना से जोड़ा गया तो आर्त और रौद्र ध्यान को बन्धन का कारण होने से ध्यान की कोटि में ही परिगणित नही किया गया। अत दिगम्बर परम्परा की धवला टीका[३] में तथा श्वेताम्बर परम्परा के हेमचन्द्र के योगशास्त्र[४] में ध्यान के दो ही प्रकार माने गए-धर्म और शुक्ल। ध्यान में भेद-प्रभेदों की चर्चा से स्पष्ट रूप से यह ज्ञात होता है कि उसमें क्रमश विकास होता गया है। प्राचीन आगमों यथा-स्थानाग, समवायाग, भगवतीसूत्र में तथा झाणज्झयण (ध्यानशतक) और तत्त्वार्थसूत्र में ध्यान के चार विभागों की चर्चा करके क्रमश उनके चार-चार विभाग किये गए हैं किन्तु उनमें कही भी ध्यान के पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत इन चार प्रकार की चर्चा नही है। जबकि परवर्ती साहित्य में इनकी विस्तृत चर्चा मिलती है। सर्वप्रथम इनका उल्लेख योगीन्दु के योगसार और देवसेन के भावसग्रह में मिलता है।[५] मुनि पद्मसिंह ने ज्ञानसार में अर्हन्त के सन्दर्भ में धर्म ध्यान के अन्तर्गत पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ की चर्चा की है किन्तु उन्होंने रूपातीत का कोई स्पष्ट निर्देश नही किया है।[६] इस विवेचना में एक समस्या यह भी है कि पिण्डस्थ ओर रूपस्थ में कोई विशेष अन्तर नही दिखाया गया है। परवर्ती साहित्य में आचार्य नेमिचन्द्र के द्रव्य सग्रह में ध्यान के चार भेदों की चर्चा के पश्चात् धर्म ध्यान के अन्तर्गत पदों के जाप और पच परमेष्टी के स्वरूप का भी निर्देश किया गया है।[५] इसके टीकाकार ब्रह्मदेव ने यह भी बताया है कि जो ध्यान मन्त्र वाक्यों के आश्रित होता है वह पदस्थ है, जिस ध्यान में स्वआत्मा का चिन्तन होता है वह पिंडस्थ है, जिसमें चेतना स्वरूप या चिद्रूपता का विचार किया जाता है वह रूपस्थ है

---

१) तत्त्वार्थसूत्र ९।२९
२) वही ९।३०, ध्यान शतक ५
३) धवला पुस्तक १३ पृ ७०
४) योगशास्त्र ४।११५
५) योगसार, ९८
६) ज्ञानसार १८-२८
५) द्रव्यसग्रह (नेमीचन्द्र) ४८-५४ टीका ब्रह्मदेव गाथा ४८ की टीका

तथा निरंजन व निराकार का ध्यान ही रूपातीत है।[1] अमितगति[2] ने अपने श्रावकाचार में ध्येय या ध्यान के आलम्बन की चर्चा करते हुए पिण्डस्थ आदि इन चार प्रकार के ध्यानों की विस्तार से लगभग २७ श्लोकों में चर्चा की है। यहां पिण्डस्थ से पहले पदस्थ ध्यान को स्थान दिया गया है और उसकी विस्तृत चर्चा भी की गई है। शुभचन्द्र[3] ने ज्ञानार्णव में पदस्थ आदि ध्यान के इन प्रकारों की पूरे विस्तार के साथ लगभग २७ श्लोकों में चर्चा की है। परवर्ती आचार्यों में वसुनन्दि, हेमचन्द्र, भास्करनन्दि आदि ने भी इनकी विस्तार से चर्चा की है। पुन पार्थिवी, आग्नेयी, मारुति, वारुणी और तत्त्वभू ऐसी पिण्डस्थ ध्यान की जो पाच धारणाए कही गई हैं उनका भी प्राचीन ग्रन्थों में कही उल्लेख नही मिलता है। तत्त्वार्थसूत्र और उसकी प्राचीन टीकाओं में लगभग ६ठी ७ वी शती तक इनका अभाव है। इससे यही सिद्ध होता है कि ध्यान के प्रकारों, उपप्रकारों, लक्षणों, आलम्बनों आदि की जो चर्चा जैन परम्परा में हुई है, वह क्रमश विकसित होती रही है और उन पर अन्य परम्पराओं का प्रभाव भी है।

प्राचीन आगमिक साहित्य में स्थानाग में ध्यान के प्रकारों, लक्षणों, आलम्बनों और अनुप्रेक्षाओं का जो विवरण मिलता है वह इस प्रकार है :-

१) आर्तध्यान- आर्तध्यान हताशा की स्थिति है। स्थानाग के अनुसार इस ध्यान के चार उपप्रकार हैं।[4] अप्रिय वस्तु के प्राप्त होने पर उसके वियोग की सतत चिन्ता करना यह प्रथम प्रकार का आर्त ध्यान है। दु ख के आने पर उसे दूर करने की चिन्ता करना यह आर्त ध्यान का दूसरा रूप है। प्रिय वस्तु का वियोग हो जाने पर उसकी पुन प्राप्ति के लिए चिन्तन करना तीसरे प्रकार का आर्त ध्यान है और जो वस्तु प्राप्त नही है उसकी प्राप्ति के लिए इच्छा करना चौथे प्रकार का आर्त ध्यान है। तत्त्वार्थ सूत्र के अनुसार यह आर्तध्यान, अविरत, देशविरत और प्रमत्त सयत में होता है। इसके साथ ही मिथ्या दृष्टियों में भी इस ध्यान का सद्भाव होता है। सैद्धान्तिक दृष्टि से मिथ्या दृष्टि, अविरत सम्यक्दृष्टि तथा देशविरत सम्यक्दृष्टि में आर्तध्यान के उपरोक्त चारों ही प्रकार पाये जाते हैं, किन्तु प्रमत्त संयत में निदान को छोड़कर अर्थात् अप्राप्त की प्राप्ति की आकाक्षा को छोड़कर अन्य तीन ही विकल्प होते हैं। स्थानांगसूत्र में इसके निम्न चार लक्षणों का उल्लेख हुआ है।[5]

१) क्रन्दनता - उच्च स्वर से रोना।
२) शोचनता - दीनता प्रकट करते हुए शोक करना।

---

१) पदस्थ मन्त्रवाक्यस्थ - वही गाथा ४८ की टीका -
२) श्रावकाचार (अमितगति) परिच्छेद १५
३) ज्ञानार्णव (शुभचन्द्र) सर्ग ३२-४०
४) स्थानागसूत्र ४।६०-७२
५) स्थानागसूत्र ४।६२

३) तेपनता - आसू बहाना।

४) परिदेवनता - करुणा-जनक विलाप करना।

रौद्र ध्यान -

रौद्रध्यान आवेगात्मक अवस्था है। रौद्रध्यान के भी चार भेद किये गये हैं[१]

१) हिंसानुबधी - निरन्तर हिंसक प्रवृत्ति में तन्मयता करानेवाली चित्त की एकाग्रता।

२) मृषानुबधी - असत्य भाषण करने सम्बन्धी चित्त की एकाग्रता।

३) स्तेनानुबन्धी - निरन्तर चोरी करने कराने की प्रवृत्ति सम्बन्धी चित्त की एकाग्रता।

४) सरक्षणानुबन्धी - परिग्रह के अर्जन और संरक्षण सम्बन्धी तन्मयता।

कुछ आचार्यो ने विषयसरक्षण का अर्थ बलात् ऐन्द्रिक भोगों का सकल्प किया है, जब कि कुछ आचार्यों ने ऐन्द्रिक विषयों के सरक्षण में उपस्थित क्रूरता के भाव को ही विषयसरक्षण कहा है। स्थानाग में इसके भी निम्न चार लक्षणों का निर्देश है।[२]

१) उत्सन्नदोष - हिंसादि किसी एक पाप में निरन्तर प्रवृत्ति करना।

२) बहुदोष - हिंसादि सभी पापों के करने में सलग्न रहना।

३) अज्ञानदोष - कुसंस्कारों के कारण हिंसादि अधार्मिक कार्यों को धर्म मानना।

४) आमरणान्त दोष - मरणकाल तक भी हिंसादि क्रूर कर्मों को करने का अनुताप न होना।

धर्मध्यान -

जैन आचार्यों ने साधना की दृष्टि से केवल धर्मध्यान और शुक्लध्यान को ही ध्यान की कोटि में रखा है। यही कारण है कि आगमों में इनके भेद और लक्षणों की चर्चा के साथ-साथ इनके आलम्बनों और अनुप्रेक्षाओं का भी उल्लेख मिलता है। स्थानांगसूत्र आदि में धर्मध्यान के निम्न चार भेद बताये गये हैं।[३]

१) आज्ञाविचय - वीतराग सर्वज्ञ - प्रभु के आदेश और उपदेश के सम्बन्ध में आगमों के अनुसार चिन्तन करना।

२) अपायविचय - दोषों और उनके कारणों का चिन्तन कर उनसे छुटकारा कैसे हो, इस सम्बन्ध में विचार करना। दूसरे शब्दों में हेय क्या है? इसका चिन्तन करना।

---

१) स्थानांग सूत्र ४।६३

२) वही ४।६४

३) वही ४।६५

३) विपाक विचय - पूर्वकर्मों के विपाक के परिणामस्वरूप उदय में आनेवाली सुखदु.खात्मक विभिन्न अनुभूतियों का समभावपूर्वक वेदन करते हुए उनके कारणों का विश्लेषण करना। दूसरे कुछ आचार्यों के अनुसार हेय के परिणामों का चिन्तन करना ही विपाकविचय धर्मध्यान है।

विपाकविचय धर्मध्यान के निम्न उदाहरण से भी समझा जा सकता है -

मान लीजिए कोई व्यक्ति हमें अपशब्द कहता है और उन अपशब्दों को सुनने से पूर्वसंस्कारों के निमित्त से क्रोध का भाव उदित होता है। उस समय उत्पन्न होते हुए क्रोध को साक्षी भाव से देखना और क्रोध की प्रतिक्रिया व्यक्त न करना तथा यह विचार करना कि क्रोध का परिणाम दु खद होता है अथवा यह सोचना कि मेरे निमित्त से इसको कोई पीड़ा हुई होगी, अत यह मुझे अपशब्द कह रहा है, यह विपाकविचय धर्मध्यान है। संक्षेप में कर्मविपाकों के उदय पर उनके प्रति साक्षी भाव रखना, प्रतिक्रिया के दु खद परिणाम का चिन्तन करना एव प्रतिक्रिया न करना ही विपाकविचय धर्मध्यान है।

४) सस्थान विचय - लोक के स्वरूप के चिन्तन को सामान्यरूप से संस्थान विचय धर्मध्यान कहा जाता है। किन्तु लोक एव सस्थान का अर्थ आगमों में शरीर भी है। अत शारीरिक गतिविधियों पर अपनी चित्तवृत्तियों को केन्द्रित करने को भी संस्थानविचय धर्मध्यान कहा जा सकता है। अपने इस अर्थ में सस्थान विचय धर्मध्यान शरीर-विपश्यना या शरीर-प्रेक्षा के निकट है। आगमों में धर्मध्यान के निम्न चार लक्षण कहे गये हैं।[१]

१) आज्ञारुचि - जिन आज्ञा के सम्बन्ध में विचार-विमर्श करना तथा उसके प्रति निष्ठावान रहना।

२) निसर्गरुचि - धर्मकार्यों में स्वाभाविक रूप रुचि होना।

३) सूत्ररुचि - आगम शास्त्रों के अध्ययन अध्यापन में रुचि होना।

४) अवगाढ़रुचि - आगमिक विषयों के गहन चिन्तन और मनन में रुचि होना। दूसरे शब्दों में आगमिक विषयों का रुचि गम्भीरता से अवगाहन करना।

स्थानांग में धर्मध्यान के आलम्बनों की चर्चा करते हुए, उसमें चार आलम्बन बताये गये हैं[२] - १) वाचना-अर्थात आगमसाहित्य का अध्ययन करना, २) प्रतिपृच्छना-अध्ययन करते समय उत्पन्न शका के निवारणार्थ जिज्ञासावृत्ति से उस सम्बन्ध में गुरुजनों से पूछना। ३) परिवर्तना - अधीत सूत्रों का पुनरावर्तन करना ४) अनुप्रेक्षा - आगमों के अर्थ का चिन्तन करना। कुछ आचार्यों की दृष्टि में अनुप्रेक्षा का अर्थ संसार की अनित्यता आदि का चिन्तन करना भी है।

---

१) स्थानाग ४।६६

२) वही ४।६७

स्थानागसूत्र के अनुसार धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षाएं कही गई हैं[१]- १) एकस्थानुप्रेक्षा, २) अनित्यानुप्रेक्षा, ३) अशरणानुप्रेक्षा और ४) ससारानुप्रेक्षा। ये अनुप्रेक्षाएँ जैन परपरा में प्रचलित १२ अनुप्रेक्षाओं के ही अन्तर्गत है। जिनभद्र के ध्यानशतक तथा उमास्वाती के तत्त्वार्थसूत्र में धर्मध्यान के अधिकारी के सम्बन्ध में चर्चा उपलब्ध होती है। जिनभद्र[२] के अनुसार जिस व्यक्ति में निम्न चार बातें होती हैं वही धर्मध्यान का अधिकारी होता है। १. सम्यक्ज्ञान (ज्ञान), २ दृष्टिकोण की विशुद्धि (दर्शन), ३ सम्यक् आचरण (चारित्र) और ४ वैराग्यभाव। हेमचन्द्र[३]ने योगशास्त्र में इन्हें ही कुछ शब्दान्तर के साथ प्रस्तुत किया है। वे धर्मध्यान के लिए १. आगमज्ञान, २ अनासक्ति, ३ आत्मसयम और ४. मुमुक्षुभाव को आवश्यक मानते हैं। धर्मध्यान के अधिकारी के सम्बन्ध में तत्त्वार्थ का दृष्टिकोण थोडा भिन्न है। तत्त्वार्थ के श्वेताम्बर पाठ के अनुसार धर्मध्यान अप्रमत्तसयत, उपशांतकषाय और क्षीणकषाय में ही सम्भव है। गुणस्थान सिद्धान्त की दृष्टि से यदि हम कहें तो सातवें, ग्यारहवें और बारहवें में ही धर्मध्यान सभव है। यदि इसे निरतरता में ग्रहण करें तो अप्रमत्त सयत से लेकर क्षीणकषाय तक अर्थात सातवें गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक धर्मध्यान की सभावना है। तत्त्वार्थसूत्र के दिगम्बर मान्य मूलपाठ में धर्मध्यान के अधिकारी भी विवेचना करनेवाला सूत्र है ही नही। यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र की दिगम्बर टीकाओं में पूज्यपाद अक्लक और विद्यानन्दि सभी ने धर्मध्यान के स्वामी का उल्लेख किया है किन्तु उनका मतव्य श्वेताम्बर परम्परा से भिन्न है। उनके अनुसार चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक ही धर्मध्यान की सभावना है। आठवें गुणस्थान से श्रेणी प्रारंभ होने के कारण धर्मध्यान संभव नही है।

इस प्रकार धर्मध्यान के अधिकारी के प्रश्न पर जैन आचार्यें में मतभेद रहे हैं।

शुक्ल ध्यान -

यह धर्म-ध्यान के बाद की स्थिति है। शुक्लध्यान के द्वारा मन को शान्त और निष्प्रकम्प किया जाता है। इसकी अन्तिम परिणति मन की समस्त प्रवृत्तियों का पूर्ण निरोध है। शुक्ल ध्यान चार प्रकार का है[४]- १ पृथक्त्व-वितर्क-सविचार-इस ध्यान में ध्याता कभी द्रव्य का चिन्तन करते करते पर्याय का चिन्तन करता है और कभी पर्याय का चिन्तन करते करते द्रव्य का चिन्तन करने लगता है। इस ध्यान में कभी द्रव्य पर तो कभी पर्याय पर मनोयोग का संक्रमण होते रहने पर भी ध्येय द्रव्य एक ही रहता है। २. एकत्व-वितर्क

---

१) स्थानाग ४।६८ २)ध्यान शतक ६३ ३) योगशास्त्र ७।२-६
४) स्थानाग ४।६९

अविचारी-योग संक्रमण से रहित एक पर्याय विषयक ध्यान एकत्व वितर्क अविचार ध्यान कहलाता है। ३. सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती-मन, वचन और शरीर व्यापार का निरोध हो जाने एवं केवल श्वासोच्छ्वास की सूक्ष्म क्रिया के शेष रहने पर ध्यान की यह अवस्था प्राप्त होती है। ४. समुच्छिन्न-क्रिया-निवृत्ति-जब मन, वचन और शरीर की समस्त प्रवृत्तियों का निरोध हो जाता है और कोई भी सूक्ष्म क्रिया शेष नही रहती उस अवस्था को समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति शुक्लध्यान कहते हैं। इस प्रकार शुक्लध्यान की प्रथम अवस्था से क्रमश. आगे बढ़ते हुए अन्तिम अवस्था में साधक कायिक, वाचिक और मानसिक सभी प्रवृत्तियों का पूर्ण निरोध कर अन्त में सिद्धावस्था प्राप्त कर लेता है, जो कि धर्म-साधना और योगसाधना का अन्तिम लक्ष्य है।

स्थानागसूत्र में शुक्लध्यान के निम्न चार लक्षण कहे गये हैं[१]-

१) अव्यथ-परीषह, उपसर्ग आदि की व्यथा से पीड़ित होने पर भी क्षोभित नही होना।

२) असम्मोह - किसी भी प्रकार से मोहित नही होना।

३) विवेक - स्व और पर अथवा आत्म और अनात्म के भेद को समझना। भेदविज्ञान का ज्ञाता होना।

४) व्युत्सर्ग - शरीर, उपधि आदि के प्रति ममत्व भाव का पूर्ण त्याग। दूसरे शब्दों में पूर्ण निर्ममत्व से युक्त होना।

इन चार लक्षणों के आधार पर हम यह बता सकते हैं कि किसी व्यक्ति में शुक्लध्यान सभव होगा या नही।

स्थानाग में शुक्लध्यान के चार आलम्बन बताये गये हैं[२]- १ शान्ति (क्षमाभाव), २. मुक्ति (निर्लोभता, ३. आर्जव (सरलता) और ४. मार्दव (मृदुता)। वस्तुत शुक्लध्यान के ये चार आलम्बन चार कषायों के त्यागरूप ही हैं। शान्ति में क्रोध का त्याग है और मुक्ति में लोभ का त्याग है। आर्जव माया (कपट) के त्याग का सूचक है तो मार्दव मनन कषाय के त्याग का सूचक है।

इसी ग्रन्थ में शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाओं का उल्लेख भी हुआ है किन्तु ये चार अनुप्रेक्षाएं सामान्यरूप से प्रचलित १२ अनुप्रेक्षाओं से क्वचित रूप में भिन्न ही प्रतीत होती है। स्थानांग में शुक्लध्यान की निम्न चार अनुप्रेक्षाए उल्लेखित हैं[३]-

१) अनन्तवृत्तितानुप्रेक्षा - संसार में परिभ्रमण की अनन्तता का विचार करना।

२) विपरिणामानुप्रेक्षा - वस्तुओं के विविध परिणमनों का विचार करना।

---

१) स्थानाग ४।७० २) वही ४।७१ ३) वही ४।७२

३) अशुभानुप्रेक्षा - संसार, देह और भोगों की अशुभता का विचार करना।

४) अपायानुप्रेक्षा - राग द्वेष से होनेवाले दोषों का विचार करना।

शुक्लध्यान के चार प्रकारों के सम्बन्ध में बौद्धों का दृष्टिकोण भी जैन परम्परा के निकट ही आता है। बौद्ध परम्परा में चार प्रकार के ध्यान माने गये हैं।

१) सवितर्क - सविचार-विवेकजन्य प्रीतिसुखात्मक प्रथम ध्यान।

२) वितर्क विचार - रहित - समाधिज प्रीतिसुखात्मक द्वितीय ध्यान।

३) प्रीति और विराग से उपेक्षक हो स्मृति और सम्प्रजन्य से युक्त उपेक्षा स्मृति सुखविहारी तृतीय ध्यान।

४) सुख-दु ख एव सौमनस्य-दौर्मनस्य से रहित असुख-अदु खात्मक उपेक्षा एवं परिशुद्धि से युक्त चतुर्थ ध्यान।

इस प्रकार चारों शुक्ल ध्यान बौद्ध परम्परा में भी थोड़े शाब्दिक अन्तर के साथ उपस्थित हैं।

योग परम्परा में भी समापत्ति के चार प्रकार बतलाये हैं, जो कि जैन परम्परा के शुक्लध्यान के चारों प्रकारों के समान ही लगते हैं। समापत्ति के वे चार प्रकार निम्नानुसार हैं - १ सवितर्का, २ निर्वितर्का, ३. सविचारा और ४. निर्विचारा।

शुक्लध्यान के स्वामी के सम्बन्ध में तत्त्वार्थसूत्र के श्वेताम्बर मूलपाठ और दिगम्बर मूलपाठ में तो अन्तर नही है किंतु 'च' शब्द से क्या अर्थ ग्रहण करना इसे लेकर मतभेद है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार उपशान्त कषाय एवं क्षीणकषाय पूर्वधरों में चार शुक्लध्यानों में प्रथम दो शुक्लध्यान सम्भव हैं। बाद के दो केवली (सयोगी केवली और अयोगी केवली) में सम्भव हैं। दिगम्बर परम्परा के अनुसार आठवें गुणस्थान से चोदहवें गुणस्थान तक शुक्लध्यान सम्भव है। पूर्व के दो शुक्लध्यान सम्भव आठवें से बारहवें गुणस्थानवर्ती पूर्वधरों के होते हैं और शेष दो तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवर्ती केवली के।[१]

जैनधर्म में ध्यान साधना का इतिहास-

जैन धर्म में ध्यान साधना की परम्परा प्राचीनकाल से ही उपलब्ध होती है। सर्वप्रथम हमें आचारांग में महावीर के ध्यान साधना संबंधी अनेक सन्दर्भ उपलब्ध हैं। आचाराग के अनुसार महावीर अपने साधनात्मक जीवन में अधिकांश समय ध्यान साधना में ही लीन रहते थे।[२] आचाराग से यह भी ज्ञात होता है कि महावीर ने न केवल

---

१) तत्त्वार्थ सूत्र ९।३९-४०, २) आचाराग १।९।१।६, १।९।२।४, १।९।२।१२

चित्तवृत्तियों के स्थिरीकरण का अभ्यास किया था। अपितु उन्होंने दृष्टि के स्थिरीकरण का भी अभ्यास किया था। इस साधना में वे अपलक होकर दीवार आदि पर किसी एक बिन्दु पर ध्यान केन्द्रित करते थे। इस साधना में उनकी आखें लाल हो जाती थी। और बाहर की ओर निकल आती थी जिन्हें देखकर दूसरे लोग भयभीत भी होते थे।[१] आचाराग के ये उल्लेख इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि महावीर ने ध्यान साधना की बाह्य और आभ्यन्तर अनेक विधियों का प्रयोग किया था। वे अप्रमत्त (जाग्रत) होकर समाधिपूर्वक ध्यान करते थे। ऐसे भी उल्लेख उपलब्ध होते हैं कि महावीर के शिष्य प्रशिष्यों में भी यह ध्यान साधना की प्रवृत्ति निरन्तर बनी रही। उत्तराध्ययन में मुनिजीवन की दिनचर्या का विवेचन करते हुए स्पष्ट रूप से निर्देश दिया गया है कि मुनि दिन और रात्रि के द्वितीय प्रहर में ध्यान साधना करें।[२] महावीर कालीन साधकों को ध्यान की कोष्ठोपगत विशेषता आगमों में उपलब्ध होती है। यह इस बात का सूचक है कि उस युग में ध्यान साधना मुनि जीवन का एक आवश्क अंग थी। भद्रबाहु द्वारा नेपाल में जाकर महाप्राण ध्यान की साधना करने का उल्लेख भी मिलता है।[३] इसी प्रकार दुर्बलिकापुष्यमित्र की ध्यान साधना का उल्लेख आवश्यकचूर्णि में है[४] यद्यपि आगमों में ध्यान सबधी निर्देश तो हैं किन्तु महावीर और उनके अनुयायियों की ध्यान प्रक्रिया का विस्तृत विवरण उनमें उपलब्ध नही।

महावीर के युग में श्रमण परम्परा में ऐसे अनेक श्रमण थे जिनकी अपनी अपनी ध्यान साधना की विशिष्ट पद्धतियां थी। इनमें बुद्ध और महावीर के समकालीन किन्तु उनसे ज्येष्ठ रामपुत्त का हम प्रारम्भ में ही उल्लेख कर चुके हैं। आचाराग में साधकों के सम्बन्ध में विपस्सी[५] और पासग[६] जैसे विशेषण मिलते हैं। इससे ऐसा लगता है कि भगवान महावीर की निर्ग्रन्थ परम्परा में भी ज्ञात-दृष्टा भाव में चेतना को स्थिर रखने के लिए विपश्यना जैसी कोई ध्यान साधना की पद्धती रही होगी। यद्यपि विस्तृत विवरणों के अभाव में आज उस पद्धति की सम्पूर्ण प्रक्रिया की चर्चा तो नहीं कर सकते, परतु आचारांग जैसे प्राचीन आगम में इन शब्दों की उपस्थिति इस तथ्य की सूचक अवश्य है कि उस युग में ध्यान साधना की जैन परम्परा की अपनी कोई विशिष्ट पद्धति थी। यह भी हो सकता है कि साधकों की प्रकृति के अनुरूप ध्यान साधना की एकाधिक पद्धतिया भी प्रचलित रही हों, किन्तु आगमों के रचनाकाल तक वे विलुप्त होने लगी थी। जिस रामपुत्त का निर्देश भगवान बुद्ध के ध्यान के शिक्षक के रूप में मिलता है उनका उल्लेख जैन परंपरा के प्राचीन आगमों में जैसे सूत्रकृतांग, अंतकृत्दशा, औपपातिक दशा, ऋषिभाषित आदि में होना[७] इस बात का प्रमाण है कि निर्ग्रंथ परम्परा रामपुत्त की ध्यान साधना की पद्धति से प्रभावित थी। बौद्ध परम्परा की विपश्यना और निर्ग्रंथ परम्परा की आचारांग की ध्यान

---

१) आचारांग १।९।१।५, २) उत्तराध्ययन २६।१८,
३) आवश्यक चूर्णि भाग २ पृ १८७, ४) वही, भाग १ पृ ४१०
५) आचारांग १।२।५।१२५ (आचार्य तुलसी), ६) वही १।२।३।७३, १।२।६।१८५
७) देखें - Prakrut Proper Names Vol II Page 626

साधना में जो कुछ निकटता परिलक्षित होती है, वह यह सूचित करती है कि सम्भवत: दोनों का मूल स्रोत रामपुत्त की ध्यान-पद्धति रही होगी। इस सबंध में तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन किया जाना अपेक्षित है।

षट्आवश्यकों में कायोत्सर्ग को भी एक आवश्यक माना गया है। कायोत्सर्ग ध्यान साधना पूर्वक ही होता है, इसमें कोई सदेह नही है। प्रतिक्रमण में अनेक बार कायोत्सर्ग (ध्यान) किया जाता है। वर्तमान काल में भी यह परम्परा अविच्छिन्न रूप से जीवित है। आज भी ध्यान की इस परम्परा में तत्सबंधी दोषों के चिन्तन के अतिरिक्त नमस्कार मंत्र, चतुर्विंशतिस्तव के माध्यम से पचपरमेष्टी अथवा तीर्थंकरों का ध्यान किया जाता है। मात्र हुआ यह है कि ध्यान की इस समग्र क्रिया में, जो सजगता अपेक्षित थी, वह समाप्त हो गई है और ये सब ध्यान सबधी प्रक्रियाए रूढि मात्र बनकर रह गई हैं। यद्यपि इन प्रक्रियाओं की उपस्थिति से यह ज्ञात होता है कि ध्यान की इन प्रक्रियाओं में चेतना को सतत रूप से जाग्रत या ज्ञाता-दृष्टा भाव में स्थिर रखने का प्रयास किया जाता रहा है।

आगम युग तक जैन धर्म में ध्यान का उद्देश्य मुख्य रूप से आत्मशुद्धि या चरित्रशुद्धि ही था अथवा यों कहें कि वह चित्त को समभाव में स्थिर रखने का प्रयास था।

मध्ययुग में जब भारत में तत्र और हठयोग सबधी साधनाएं प्रमुख बनी तो ध्यान की प्रक्रिया में परिवर्तन आया। आगमिक काल में ध्यान साधना में शरीर, इन्द्रिय, मन और चित्त वृत्तियों के प्रति सजग होकर चेतना को दृष्टा भाव या साक्षीभाव में स्थिर किया जाता था, जिससे शरीर और मन के उद्वेग और आकुलताए शान्त हो जाती थी। दूसरे शब्दों में वह चैत्तसिक समत्व अर्थात् सामायिक की साधना थी, जिसका कुछ रूप आज भी विपश्यना में उपलब्ध है। किन्तु जैसे-जैसे भारतीय समाज में तत्र और हठयोग का प्रभाव बढ़ा वैसे-वैसे जैन साधना पद्धति में भी परिवर्तन आया। जैन ध्यान पद्धति में पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ आदि ध्यान की विधियाँ और पार्थिव, आग्नेयी, वायवी और वारुणी जैसी धारणाए सम्मिलित हुईं। बीजाक्षरों और मंत्रों का ध्यान करने की परम्परा विकसित हुई और षट्चक्रों के भेदन का प्रयास भी हुआ।

यदि हम जैन परम्परा में ध्यान की प्रक्रिया का इतिहास देखते हैं तो यह स्पष्ट लगता है कि उस पर अन्य भारतीय ध्यान एव योग की परम्पराओं का प्रभाव आया है, जो हरिभद्र के पूर्व से ही प्रारभ हो गया था। हरिभद्र ने उनकी ध्यान विधि को लेकर भी उसमें अपनी परम्परा के अनुरूप बहुत कुछ परिवर्तन किये थे। मध्ययुग की जैन ध्यान साधना विधि उस युग की योग-साधना विधि से पर्याप्त रूप से प्रभावित हुई थी। मध्ययुग में ध्यान साधना का प्रयोजन भी बदला। जहा प्राचीन काल में ध्यान साधना का प्रयोजन मात्र आत्म-विशुद्धि या चैत्तसिक समत्व था, वहां मध्य युग में उसके

और लब्धियों की चर्चा भी जुड़ी और यह माना जाने लगा कि ध्यान साधना से विधि अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। ध्यान की प्रभावशीलता को बनाए रखने के लिए यह आवश्यक तो था, किन्तु इसके अन्य परिणाम भी सामने आये। जब अनेक साधक इन हठयोगी साधनाओं के माध्यम से ऋद्धि या लब्धि प्राप्त करने में असमर्थ रहे तो उन्होंने यह मान लिया कि वर्तमान युग में ध्यान साधना सभव ही नही है। ध्यान साधना की सिद्धि केवल उत्तम संहनन के धारक मुनियों अथवा पूर्वधरों को ही सभव थी। ऐसे भी अनेक उल्लेख उपलब्ध होते हैं, जिनमें कहा गया है कि पंचमकाल में उच्चकोटि का धर्मध्यान या शुक्लध्यान सभव नही है। मध्ययुग में ध्यान प्रक्रिया में कैसे-कैसे परिवर्तन हुए, यह बात प्राचीन आगमों और तत्त्वार्थ के उल्लेखों को तत्त्वार्थसूत्र की टीकाओं, दिगम्बर जैन पुराणों, श्रावकाचारों एवं हरिभद्र, शुभचन्द्र, हेमचन्द्र आदि के ग्रथों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाती है। मध्यकाल में ध्यान की निषेधक और समर्थक दोनों धाराए साथ-साथ चली। कुछ आचार्यों ने कहा कि पचमकाल में चाहे शुक्लध्यान की साधना संभव न हो, किन्तु धर्म-ध्यान की साधना तो सभव है। मात्र यह ही नही मध्ययुग में धर्म ध्यान के स्वरूप में काफी कुछ परिवर्तन किया गया और उसमें अन्य परम्पराओं की अनेक धारणाए सम्मिलित हो गयी। इस युग में ध्यान सबधी स्वतत्र साहित्य का भी पर्याप्त विकास हुआ। झाणज्झयण (ध्यानशतक) से लेकर ज्ञानार्णव, ध्यानस्तव आदि अनेक स्वतंत्र ग्रंथ भी ध्यान पर लिखे गये। मध्ययुग हठयोग और ध्यान के समन्वय का युग कहा जा सकता है। इस काल में जैन ध्यान पद्धति योग परम्परा से, विशेष रूप से हठयोग की परम्परा से पर्याप्त रूप से प्रभावित और समन्वित हुई।

आधुनिक युग तक यही स्थिति चलती रही। आधुनिक युग में जैन ध्यान साधना की पद्धति में पुन एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आया है। इस क्रान्ति का मूलभूत कारण तो श्री सत्यनारायणजी गोयनका के द्वारा बौद्धों की प्राचीन विपश्यना साधना पद्धति को बर्मा से लेकर भारत में पुनर्स्थापित करना था। भगवान् बुद्ध की ध्यान साधना की विपश्यना पद्धति की जो एक जीवित परम्परा किसी प्रकार से वर्मा में बची रही थी, वह सत्यनारायणजी गोयनका के माध्यम से पुन· भारत में अपने जीवंत रूप में लौटी। उस ध्यान की जीवत परम्परा के आधार पर भगवान् महावीर की ध्यान साधना की पद्धति क्या रही होगी इसका आभास हुआ। जैन समाज का यह भी सद्भाग्य है कि कुछ जैन मुनि एवं साध्वियां उनकी विपश्यना साधना-पद्धति से जुडे। सयोग से मुनि श्री नथमलजी (युवाचार्य महाप्रज्ञ) जैसे प्राज्ञ साधक विपश्यना साधना से जुड़े और उन्होंने विपश्यना ध्यान पद्धति और हठयोग की प्राचीन ध्यान पद्धति को आधुनिक मनोविज्ञान एव शरीर-विज्ञान के आधारों पर परखा और उन्हें जैन साधना परम्परा से आपूरित करके प्रेक्षाध्यान की जैन धारा को पुनर्जीवित

किया है। यह स्पष्ट है कि आज प्रेक्षाध्यान प्रक्रिया जैन ध्यान की एक वैज्ञानिक पद्धति के रूप में अपना अस्तित्व बना चुकी है। उसकी वैज्ञानिकता और उपयोगिता पर भी कोई प्रश्नचिन्ह नही लगाया जा सकता है, किन्तु उसके विकास में सत्यनारायणजी गोयनका द्वारा भारत लायी गयी विपश्यना ध्यान की साधना पद्धति के योगदान को विस्मृत नही किया जा सकता। आज प्रेक्षाध्यान पद्धति निश्चित रूप से विपश्यना की ऋणी है। इसके गोयनकाजी का ऋण स्वीकार किए बिना हम अपनी प्रामाणिकता को सिद्ध नही कर सकेंगे। साथ ही इस नवीन पद्धति के विकास में युवाचार्य महाप्रज्ञजी का जो महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है, उसे भी नही भुलाया जा सकता है। उन्होंने विपश्यना से बहुत कुछ लेकर भी उसे प्राचीन हठयोग की षट्चक्र भेदन आदि की अवधारणा से तथा आधुनिक मनोविज्ञान और शरीर विज्ञान से जिस प्रकार समन्वित और परिपुष्ट किया है, वह उनकी अपनी प्रतिभा का चमत्कार है। इस आलेख में विस्तार से न तो विपश्यना के सन्दर्भ में और न प्रेक्षाध्यान के सन्दर्भ में कुछ कह पाना सभव है, किन्तु यह सत्य है कि ध्यान साधना की इन पद्धतियों को अपना कर जैन साधक न केवल जैन ध्यान पद्धति के प्राचीन स्वरूप का कुछ आस्वाद करेंगे, अपितु तनावों से परिपूर्ण जीवन में आध्यात्मिक शान्ति और समता का आस्वाद भी ले सकेंगे।

सम्यक् जीवन में जीने के लिए आज विपश्यना और प्रेक्षाध्यान पद्धतियों का अभ्यास और अध्ययन आवश्यक है। हम युवाचार्य महाप्रज्ञ के इसलिए भी ऋणी है कि उन्होंने न केवल प्रेक्षाध्यान पद्धति का विकास किया है, अपितु उसके अभ्यास केन्द्रों की स्थापना भी की। साथ ही जीवन विज्ञान ग्रंथमाला के माध्यम से प्रेक्षाध्यान से संबधि लगभग ४८ लघुपुस्तिकाए लिखकर जैन ध्यान साहित्य को महत्त्वपूर्ण अवदान भी दिया है।

यह भी प्रसन्नता का विषय है कि विपश्यना और प्रेक्षा की ध्यान पद्धतियों से प्रेरणा पाकर आचार्य नानालालजी ने समीक्षण ध्यान विधि को प्रस्तुत किया है। इस संबध में एक-दो प्रारभिक पुस्तिकाएं भी निकली हैं, किन्तु प्रेक्षाध्यान विधि की तुलना में उनमें न तो प्रतिपाद्य विषय की स्पष्टता है और न वैज्ञानिक प्रस्तुतिकरण ही। क्रोध समीक्षण आदि एक-दो पुस्तकें और भी प्रकाश में आयी हैं किन्तु इस पद्धति को वैज्ञानिक और प्रायोगिक बनाने के लिए अभी उन्हें बहुत कुछ करना शेष रहता है।

वर्तमान युग और ध्यान

वर्तमान युग में जहा एक ओर योग और ध्यान संबंधी साधनाओं के प्रति आकर्षण बढ़ता है, वही दूसरी ओर योग और ध्यान के अध्ययन और शोध में भी विद्वानों की रुचि जागृत हुई है। आज भारत की अपेक्षा भी पाश्चात्य देशों में योग और ध्यान के प्रति विशेष

आकर्षण देखा जाता है। क्योंकि वे भौतिक आकांक्षाओं के कारण जीवन में जो तनाव आ गये हैं, उससे मुक्ति चाहते हैं। आज भारतीय योग और ध्यान की साधना पद्धतियों को अपने-अपने ढंग से पश्चिम के लोगों की रुचि के अनुकूल बनाकर विदेशों में निर्यात किया जा रहा है। योग और ध्यान की साधना में शारीरिक विकृतियों और मानसिक तनावों को समाप्त करने की जो शक्ति रही हुई है उसके कारण भोगवादी और मानसिक तनावों से संत्रस्त पश्चिमी देशों के लोग चैत्तसिक शान्ति का अनुभव करते हैं और यही कारण है कि उनका योग और ध्यान के प्रति आकर्षण बढ़ रहा है। इन साधना पद्धतियों का अभ्यास कराने के लिए भारत से परिपक्व एव अपरिपक्व दोनों ही प्रकार के गुरु विदेशों की यात्रा कर रहे हैं। यद्यपि अपरिपक्व, भोगाकांक्षी तथाकथित गुरुओं के द्वारा ध्यान और योग साधना का पश्चिम में पहुचना भारतीय ध्यान और योग परम्परा की मूल्यवत्ता एव प्रतिष्ठा दोनों ही दृष्टि से खतरे से खाली नही है। आज पश्चिम में भावातीत ध्यान, साधना भक्ति वेदान्त, रामकृष्ण मिशन आदि के कारण भारतीय ध्यान एव योग साधना के प्रति लोकप्रियता बढी, वही रजनीश आदि के कारण उसे एक झटका भी लगा है। आज श्री चित्तमुनिजी, आचार्य सुशीलकुमारजी, डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल आदि ने जैन ध्यान और साधनाविधि से पाश्चात्य देशों में बसे हुए जैनों को परिचित कराया है। तेरापथ की कुछ जैन समणियों ने भी विदेशों में जाकर प्रेक्षाध्यान विधि से उन्हें परिचित कराया है। यद्यपि इनमें कौन कहा तक सफल हुआ है यह एक अलग प्रश्न है। क्योंकि सभी के अपने अपने दावे हैं। फिर भी इतना तो निश्चित है कि आज पूर्व और पश्चिम दोनों में ही ध्यान और योग साधना के प्रति रुचि जागृत हुई है। अत आवश्यकता इस बात की है कि योग और ध्यान की जैन विधि सुयोग्य साधकों और अनुभवी लोगों के माध्यम से ही पूर्व-पश्चिम में विकसित हो, अन्यथा जिस प्रकार मध्ययुग में हठयोग और तत्रसाधना से प्रभावित होकर भारतीय योग और ध्यान परम्परा विकृत हुई थी उसी प्रकार आज भी उसके विकृत होने का खतरा बना रहेगा और लोगों की उससे आस्था उठ जावेगी।

ध्यान एवं योग संबंधी शोध कार्य

इस युग में गवेषणात्मक दृष्टि से योग और ध्यान सबधी साहित्य को लेकर पर्याप्त शोधकार्य हुआ है। जहां भारतीय योग साधना और पतञ्जलि के योगसूत्र पर पर्याप्त कार्य हुए हैं, वहीं जैनयोग की ओर भी विद्वानों का ध्यान आकर्षित हुआ है। ध्यानशतक, ध्यानस्तव, ज्ञानार्णव आदि ध्यान और योग सबंधी ग्रंथों की समालोचनात्मक भूमिका और हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशन इस दिशा में महत्वपूर्ण प्रयत्न कहा जा सकता है। पुन. हरिभद्र के योग सबधी ग्रंथों का स्वतत्र रूप से तथा चतुष्टय के रूप में प्रकाशन इस कड़ी का एक अगला चरण है। प. सुखलालजी का 'समदर्शी हरिभद्र', अर्हतदास बडबोध

दिगे का पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान से प्रकाशित 'जैन योग का आलोचनात्मक अध्ययन', मंगला साड का भारतीय योग आदि गवेषणात्मक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण प्रकाशन कहे जा सकते हैं। अग्रेजी भाषा में विलियम जेम्स का 'जैन योग', टाटिया की 'स्टडीज इन जैन फिलासफी', पद्मनाभ जैनी का 'जैन पाथ आफ प्यूरिफिकेशन' आदि भी इस क्षेत्र की महत्त्वपूर्ण कृतिया हैं। जैन ध्यान और योग को लेकर लिखी गई मुनिश्री नथमलजी (युवाचार्य महाप्रज्ञ) की 'जैन योग' 'चेतना का ऊर्ध्वारोहण', 'किसने कहा मन चंचल है', 'आभामण्डल' आदि तथा आचार्य तुलसी की प्रेक्षा-अनुप्रेक्षा आदि कृतियां इस दृष्टि से अत्यत ही महत्वपूर्ण है। उनमें पाश्चात्य मनोविज्ञान और शरीर-विज्ञान का तथा भारतीय हठयोग आदि की पद्धतियों का एक सुव्यवस्थित समन्वय हुआ है। उन्होंने हठयोग की षट्चक्र की अवधारणा को भी अपने ढग से समन्वित किया है। उनकी ये कृतिया जैन योग और ध्यान साधना के लिए मील के पत्थर के समान है।

प्रस्तुत कृति

इस प्रकार जैन परम्परा में ध्यान और योग के अध्ययन एव तत्संबधी ग्रंथों के प्रकाशन का जो क्रम चल रहा है उसी श्रृखला की एक कड़ी साध्वीश्री प्रियदर्शनाजी का यह ग्रथ - ''जैन साधना पद्धति में ध्यान योग'' है। साध्वीश्रीजी ने इस ग्रथ में अत्यत परिश्रम पूर्वक न केवल जैन ध्यानयोग की परम्परा का विवरण प्रस्तुत किया है अपितु एक दृष्टि से सपूर्ण जैन धर्म और साधना पद्धति को ही प्रस्तुत कर दिया है। यही कारण है कि यह ग्रथ आकार में बहुत बड़ा हो गया है। उनके इस अध्ययन की व्यापकता और सर्वांगीणता सराहनीय है, फिर भी इसके बृहद् आकार में आनुषगिक विषयों के विस्तृत विवरण के कारण कही-कही प्रतिपाद्य विषय गौण होता सा प्रतीत होता है।

प्रस्तुत कृति छ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में योग एवं ध्यान की वैदिक, बौद्ध और जैन साधना पद्धतियों के विवरण के साथ ही साथ भारतीयेतर धर्मों की ध्यान एवं योग की साधना पद्धतियों का भी विवरण प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय अध्याय ध्यान-साधना सबधी जैन साहित्य का विवरण प्रस्तुत करता है, उसमें पूर्व साहित्य तथा अग और अंगबाह्य साहित्य के विवरण के साथ-साथ आगमिक व्याख्या साहित्य के रूप में निर्युक्तियों, भाष्यों, चूर्णियों और टीकाओं का भी विवरण प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त दिगम्बर परम्परा के षट्खण्डागम, भगवती आराधना आदि तथा कुन्दकुन्द के समयसार, नियमसार, पंचस्तिकाय एव प्रवचनसार की भी चर्चा की गयी है। साथ ही तत्त्वार्थ की टीकाओं यथा - तत्त्वार्थ भाष्य, सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक आदि को इसमें समाहित किया गया है। यद्यपि हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि आगमों, आगमिक-

व्याख्या-साहित्य, तत्त्वार्थ और उसकी टीकाओं में ध्यान सबधी विवरण अल्प ही है। यदि साध्वी श्री तुलनात्मक दृष्टि से विवेचन करते हुए यह दिखाने का प्रयास करती कि ध्यान के विभिन्न पक्षों को लेकर इनमें किस-किस प्रकार से परिवर्तन और विकास हुआ है और उन पर अन्य परम्पराओं का प्रभाव कैसे आया है, तो इस कृति का महत्त्व अधिक बढ़ जाता। साध्वीश्री ने उमास्वाति के प्रशमरति प्रकरण, जिनभद्र के झाणज्झयण (ध्यानशतक), अज्ञातकृत ध्यानविचार, पूज्यपाद के समाधिशतक, योगीन्दु के परमार्थप्रकाश और योगसार, हरिभद्र के योगबिन्दु, योगशतक, योगदृष्टि समुच्चय, योगविंशिका एवं षोडषक, शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव, हेमचन्द्र के योगशास्त्र, मुनि सुन्दरसूरि के अध्यात्मकल्पद्रुम, यशोविजय के अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद एवं ज्ञानसार, देवचन्द्र की ध्यानदीपिका, न्यायविजय के अध्यात्म-तत्त्वालोक आदि ध्यान तथा योग सबधी स्वतत्र ग्रथों का भी निर्देश किया है। इससे यह ज्ञात होता है कि उन्होंने योग और ध्यान सबधित विस्तृत साहित्य का परिशीलन किया है। निश्चय ही यह साहित्य जैन साधना की अमूल्य निधि है।

तृतीय अध्याय 'जैन साधना और उसमें ध्यान का स्थान' से सबधित है। इस संपूर्ण अध्याय में सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को आधार बनाकर सपूर्ण जैनाचार को सक्षेप में प्रस्तुत कर दिया गया है। इसमें तप के भेद-प्रभेदों की चर्चा के प्रसग में ध्यान का उल्लेख हुआ है। इस अध्याय की विशेषता यह है कि इसमें समाधि मरण के साथ-साथ प्रतिमावहन और विभिन्न प्रतिमाओं की भी विस्तृत चर्चा की गई है। प्रतिमा-वहन जैन साधना और ध्यान-पद्धति का एक समन्वित रूप है। जैन परम्परा में साधना की दृष्टि से अनेक प्रतिमाओं (तप एव ध्यान की विशिष्ट विधियों) का विवरण उपलब्ध होता है। इस अध्याय के अन्त में जैन धर्म में ध्यान साधना का क्या महत्व है? इसकी भी चर्चा की गई है। चतुर्थ अध्याय विशे . रूप से जैन धर्म में ध्यान के स्वरूप का प्रतिपादन करता है। शताधिक पृष्ठों के इस अध्याय में ध्यान के विभिन्न पक्षों का विस्तृत विवेचन हुआ है। ग्रथ का पचम अध्याय ध्यान के प्रकारों से संबधित है। इसमें आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान के स्वरूप लक्षण और भेद आदि की शताधिक पृष्ठों में चर्चा की गई है। षष्टम अध्याय में मुख्य रूप से ध्यान की उपलब्धियों की चर्चा की गई है। ध्यान के शारीरिक मानसिक लाभों की चर्चा के साथ-साथ इसमें परम्परागत दृष्टि से ध्यान-साधना से उपलब्ध लब्धियों (सिद्धियों) का भी विवरण प्रस्तुत किया गया है, यद्यपि यहा वैज्ञानिक दृष्टि से इनकी समीक्षा की आवश्यकता प्रतीत होती है। परिशिष्ट में तप साधना संबधी विभिन्न चित्र और पारिभाषिक शब्दों को दिये जाने के कारण ग्रंथ की

उपयोगिता में अभिवृद्धि हुई है। साध्वीजी का यह प्रयास सराहनीय है। हम आशा करते हैं कि भविष्य में भी वे इस दिशा में अपना अवदान प्रस्तुत करेंगी। अंत में मैं साध्वीश्री के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ कि इस भूमिका लिखने के बहाने मुझे जैन ध्यान पद्धति सबंधी साहित्य के आलोडन का एक अवसर दिया। साथ ही भूमिका लिखने में हुए विलम्ब के लिए क्षमाप्रार्थी भी हूँ।

दीपावली
वीर परिनिर्वाण
५-११-९१

सागरमल जैन
निदेशक
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान,
आई टी. आई. रोड, वाराणसी-५

अध्याय १

ध्यान परंपरा में साधना का स्वरूप

प्राचीनकाल से ही भारत धर्म प्रधान देश रहा है। यहाँ जीवन के उद्देश्य के रूप में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष नामक चार पुरुषार्थों की संकल्पना की गई है। इन पुरुषार्थों में भी धर्म को ही प्रथम स्थान पर रखा गया है। शेष तीनों के मूल में धर्म की ही स्थापना है।

'धर्म' शब्द के व्युत्पत्तिमूलक अर्थ में 'धारयति इति धर्म ' बताया गया है। अर्थात जो धारण करे वह धर्म है। एक दूसरे स्थान पर भी यह कहा गया है कि "जो दुर्गति में पड़े हुए आत्मा को धारण करके रखता है, या जो धारण किया जा सकता है वह धर्म है।" विभिन्न धार्मिक शास्त्रों में, धर्म शब्द की विभिन्न अर्थों में व्याख्या की है। इसीलिए सामान्य भाषा में धर्म शब्द गुण, स्वभाव, कर्तव्य, आस्था, विश्वास, जप, तप, दान, यज्ञ आदि अनेकानेक अर्थों में प्रयोग किया जाता है। भारत में धर्म का सबध जीवन के प्रत्येक आचार-विचार से जुड़ा हुआ है।

भारतीय चिंतन धारा में धर्माचार का आधार 'दर्शन' है। दर्शन की व्याख्या भी अनेकानेक विधियों से की गई है। 'दर्शन' शब्द की व्युत्पत्ति दृश् धातु से की गई है। हमारे यहाँ धार्मिक जीवन के मार्गदर्शन के लिए दार्शनिक विवेचन हुआ है। धर्म के क्षेत्र में उत्पन्न होनेवाली जन्म-मृत्यु, पाप-पुण्य, आत्मा-परमात्मा, जीव-जगत् आदि से सबधित जिज्ञासाओं के समाधान के रूप में किये गए चिंतन को दर्शन कहा जा सकता है। इसलिए भारतीय चिंतनधारा में धर्म तथा दर्शन इतने सयुक्त हैं, कि उन्हें नितात रूप से अलग-अलग करके नही देखा जा सकता। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि दर्शन के लिए, अंग्रेजी का 'फिलासफी' शब्द ठीक-ठीक पर्याय नही कहा जा सकता। पाश्चात्य विचारधारा में फिलासफी (दर्शन) का स्वरूप भारतीय दर्शन से नितात भिन्न माना जाता है।

भारतीय दर्शनों में प्रमुख रूप से वैदिक (न्याय, योग, वैशेषिक, साख्य, मीमांसा, वेदात आदि आस्तिक दर्शन) और अवैदिक (चार्वाक,जैन, बौद्ध आदि नास्तिक दर्शन)* समाहित किये जाते हैं। पुनर्जन्म की सकल्पना की दृष्टि से इन दर्शनों को दो भागों में

* चिंतन करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि, जैन बौद्ध आदि दर्शनों को कैसे नास्तिक मानें?

विभाजित किया गया है- एक आत्मवादी दर्शन है जिनमें वैदिक दर्शनों तथा जैन और बौद्ध दर्शनों का समावेशन है। दूसरे अनात्मवादी दर्शन हैं- जिनके अतर्गत चार्वाक दर्शन है।

सामान्यत आत्मवादी दर्शन जीवात्मा के पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं। पुनर्जन्म के आधार रूप में 'कर्मफल' की सकल्पनाएँ मानी गई हैं। विभिन्न दार्शनिक मान्यताओं के अनुसार कर्म के अनेक सूक्ष्म-स्थूल-शुभाशुभ आदि भेद-प्रभेद किए गए हैं, जिनके अनुसार कर्मफल की असख्य कोटियाँ कल्पित की गई हैं। कर्मफल के परिणामस्वरूप ही जीवात्मा जन्म-मरण के चक्र में परिभ्रमण करता है और नाना प्रकार के शरीर धारण कर, सुख-दु खात्मक फलों का भोग करता है। किन्तु सामान्यत यह माना जाता है कि जन्म-मरण के परिभ्रमण में जीवात्मा आधि, व्याधि, उपाधि आदि नाना प्रकार के दु.ख उठाता है। इन दु खों से मुक्ति पाने के लिए ही नाना प्रकार की धार्मिक साधना पद्धतियों का आविष्कार किया गया है। यहाँ हम प्रमुख भारतीय साधना पद्धतियों का एक समुचित आकलन करके यह देखना चाहते हैं।

साधना 'सिद्ध' धातु अर्थात् शोधन या जीतना अर्थ में प्रयुक्त हुई है, और उसमें 'णिच्' और 'युज्'[१] से सस्कारित होकर साधना शब्द विकसित हुआ है। इसमें सिद्धि, आराधना, उपासना और तुष्टिकरण का भाव होता है।[२] मानव कर्म क्षय और पुरुषार्थ के लिए साधना मार्ग का अवलम्बन करता है। साधना प्रक्रिया में दृष्टि अन्तर्मुखी बनती है। यह अतर्मुखी दृष्टि ही ध्यान अर्थात् मानसिक एकाग्रता की ओर सप्रेषित करती है।

प्राचीन वैदिक ग्रन्थों में जिज्ञासा वृत्ति का बोध होता है। इसके फलस्वरूप मानव के मन में आत्म तत्त्व और परमात्म तत्त्व को जानने की जिज्ञासा खड़ी हुई।[३] ऋग्वेद और यजुर्वेद में अनेक तत्त्वों की उपासना का भी उल्लेख मिलता है।[४] भगवत् गीता में इस उपासना पद्धति का स्वरूप यज्ञ के रूप में दिखता है जैसा कि हमने ऊपर निर्देश किया है। सभी वैदिक साहित्य में साधना-कर्म यज्ञ के स्वरूप द्वारा समझे जाते हैं।[५]

वैदिक काल में कर्म को भी साधना का मार्ग मान लिया गया और उसे कर्मयोग के स्वरूप में साधना पद्धति का आकार मिल गया। अत प्रत्येक कर्म यज्ञ कर्म होने लगा। और इसमें सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि का समावेश कर लिया गया।[६] इसी प्रकार जीवन को एक निश्चित दिशा देने के लिए अहिंसा इत्यादि संकल्पनाएँ भी महत्त्वपूर्ण स्थान पर आ गईं। यजुर्वेद में अहिंसा की परिभाषा बहुत ही व्यापक स्वरूप में उपलब्ध है।[७] इसी प्रकार अथर्ववेद और ऋग्वेद में भी बड़े व्यापक स्वरूप में अहिंसा तत्त्व की मीमासा की गई है।[८] अहिंसा के साथ-साथ ब्रह्मचर्य का भी महत्त्व प्राचीन आचार्यों ने बड़े स्पष्ट रूप से प्रस्थापित किया है।[९] अहिंसा ब्रह्मचर्य के साथ-साथ कर्मयोग का भी बड़ा महत्त्व रहा है और इसमें साधना का स्वरूप धारण कर लिया है।[१०] इसी प्रकार ज्ञानयोग

भी साधना मार्ग के लिए एक अत्यन्त उपयोगी और प्रभावी तत्त्व माना गया है।[११] कर्म, ज्ञान के साथ-साथ भक्तियोग भी साधना का ही एक अग है। वास्तव में कर्म, ज्ञान और भक्ति का अलग-अलग अध्ययन करना कठिन है। ये तीनों प्राय एक साथ ही रहते हैं।[१२] भागवत में नवधा भक्ति का उल्लेख मिलता है।[१३] मानवीय जीवन की मनोवैज्ञानिक दृष्टि से आस्था और श्रद्धा इस वर्गीकरण में बड़े स्पष्ट रूप से अनुलक्षित होती हैं। इसी प्रकार वेदों में भी इसका उल्लेख मिलता है।

साधना पद्धतियों में सर्वाधिक प्रिय और प्रचलित प्रणाली योग की मानी जाती है। वैदिक साहित्य के बाद दर्शन युग में पतजलि ने क्रमबद्ध योगशास्त्र का विवेचन किया। योग की सभी सकल्पनाएँ उपनिषदों में अनेक रूपों में दिखती हैं। कालान्तर में पतजलि के योग के साथ-साथ मत्रयोग, लययोग, हठयोग, राजयोग आदि का विवेचन उपलब्ध है।[१४] योग के सर्वश्रेष्ठ विचारक पतजलि के अनुसार चित्तवृत्तियों का निरोध करना योग का ध्येय है। इसके लिए योगशास्त्र में क्रियायोग और अष्टागयोग का मार्ग प्रस्तुत किया है। अष्टागयोग के बहिरग और अन्तरग ऐसे दो भेद माने जाते हैं। अन्तरग योग में धारणा, ध्यान और समाधि का विवेचन है। योगशास्त्र क्रमिक गति से साधक का विकास करने में सहायक साधन है। और ध्यान उसमें एक महत्त्वपूर्ण अग है। बिना ध्यान के योग साधना की चरम सिद्धि सभव नही है। पतजलि के बाद योग के व्यवहार और प्रायोगिक स्वरूप के कारण योग के अनेक रूप विकसित हुए। कुछ प्रणालियों का उल्लेख हमने ऊपर किया है। प्रस्तुत अध्ययन में साधना पद्धति की दृष्टि से यह विवेचन उपयोगी है। इन अलग-अलग सम्प्रदायों के विकसित होने का कारण मानवीय स्वभाव की विभिन्नता है। और साधकों में अपनी अभिरुचि और आवश्यकतानुसार विशिष्ट प्रणाली विकसित हुई। कुछ प्रणालियों का वर्णन निम्न प्रकार से है-

(१) मंत्रयोग :- मत्र योग में शास्त्रोक्त उक्ति के अनुसार जप अनुसधान और आत्मानुसंधान से नाममत्र के जप से भगवान् के रूप का ध्यान करते हुए चित्तवृत्ति का निरोध करके मुक्ति की ओर अग्रसर होने वाले मार्ग को मत्रयोग कहते हैं।[१५] मत्रयोग का आधार साधक अपनी अभिरुचि के अनुसार अपने इष्ट देव का निरतर स्मरण करने के लिए आधार के रूप में लेता है। ससार की सभी साधना पद्धतियों में मत्रयोग का उपयोग बडे विस्तृत स्वरूप से किया जाता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से साधक स्वय को अपने इष्ट देव से सबधित रखने के लिए एक आलम्बन का आधार लेता है और निरतर उसका ध्यान करता रहता है। इसे ही जप योग का नाम दिया गया है। और मत्रयोग के महत्त्वपूर्ण अगों में भक्ति का स्थान श्रेष्ठ माना जाता है। विचारों की पवित्रता और आत्मनिरीक्षण भी मत्रयोग का एक अपरिहार्य अग है,[१६] जप के अनेक प्रकार माने जाते हैं। सामान्यत सभी का ध्येय

मन की एकाग्रता और तल्लीनता प्रस्थापित करना है। इसकी चरम सीमा अजपा जप अथवा सोऽहं के स्वरूप में मानी जाती है।[१७]

(२) लययोग :- मन्त्रयोग की ही श्रेणी में योग की एक साधना पद्धति का नाम लययोग है। लययोग की सभी क्रियाएँ कुण्डलिनी योग में पायी जाती हैं। इस योग में स्थूल एव सूक्ष्म क्रियाओं द्वारा कुण्डलिनी उत्थान, षट्चक्र भेदन, आकाश इत्यादि व्योमपचक, बिन्दु ध्यान सिद्धि आदि का आत्मसाक्षात्कार होता है।[१८] यम, नियम, स्थूल क्रिया, सूक्ष्म क्रिया, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, लयक्रिया और समाधि लययोग के नौ अग हैं।[१९] स्थूल क्रिया और वायु प्रधान क्रिया को सूक्ष्म क्रिया कहते हैं। बिन्दुमय प्रकृति पुरुषात्मक ध्यान को बिन्दु ध्यान कहते हैं। यह ध्यान लययोग का परम सहायक तत्त्व है। लययोग अनुकूल अति सूक्ष्म सर्वोत्तम क्रिया जो केवल जीवन मुक्त योगियों के उपदेश से प्राप्त होती है, लय क्रिया कही जाती है। पतजलि के अष्टागमार्ग को लययोग में समाविष्ट कर लिया गया है। सक्षेप में प्रकृति-पुरुष के सयोग से निर्मित ब्रह्माण्ड और पिण्ड दोनो एक ही हैं। पिण्डज्ञान से ब्रह्माण्ड का ज्ञान होता है। गुरुकृपा की प्रबल शक्ति द्वारा पिण्ड का ज्ञान करने के बाद कौशल्यपूर्ण क्रिया द्वारा प्रकृति को पुरुष में लय करने को लययोग कहते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो जिस उपाय के द्वारा विषय-वासना-कामना - आसक्ति-सकल्प-विकल्प आदि की विस्मृति होती है, उस क्रिया को लययोग कहते हैं, लययोग सिद्धि के लिये खेचरी इत्यादि मुद्राओं का भी आलम्बन मान्य किया गया है। इसलिये चक्रों की जागृति के बाद जो ध्यान प्रक्रिया शुरू होती है, वह बिन्दु ध्यान के नाम से प्रचलित है और इसकी चरमसीमा समाधि महालय अथवा लयसिद्धियोग समाधि कहलाती है।[२०] लययोगसहिता में विस्तार के साथ इन सब क्रियाओं का विवेचन किया गया है।

(३) हठयोग :- मत्र और लययोग की भाँति ही हठयोग साधना पद्धतियों में सर्वाधिक प्रसिद्ध और लोकप्रिय माना जाता है। हठयोग का तात्त्विक विवेचन न करते हुए प्राय आसन प्राणायाम तक ही लोगों ने अपने को सीमित कर लिया है। और विपुल मात्रा में हठयोग के नाम से भ्रामक साहित्य और गुरु उपलब्ध होने लगे हैं। हठ शब्द का भी लौकिक भाषा में जिस अर्थ में प्रयोग होता है उसी स्वरूप में योग में, योग के साथ भी उसका अर्थ लोगों ने समझना शुरू कर दिया है। वास्तव में पतजलि के योगसूत्र के भाँति ही हठयोग का सुसगत और सुसगठित साहित्य उपलब्ध है। (हठयोगप्रदीपिका, घेरण्ड सहिता, शिव सहिता, सिद्ध सिद्धान्तपद्धति, भक्ति साधक)। हठ शब्द 'ह' और 'ठ'- हकार को सूर्य कहते हैं और ठकार को चन्द्र। सूर्य और चन्द्र के सयोग से जो जोग, वह हठयोग कहलाता है। कारण यह है कि इडा में सचार करने वाले प्राण को चन्द्र कहते हैं

और पिंगला में बहने वाले प्राण को सूर्य कहते हैं। प्राणायाम और मुद्रादि के अभ्यास द्वारा कुण्डलिनी का उत्थान होकर सूर्य चद्र का प्रवाह शिथिल बनकर अभ्यासु के प्राण वायु का सुषुम्णा में प्रवेश होता है। इस प्रकार की सूर्य चद्र को एकत्र करने की कला को हठयोग कहते हैं। हठयोग की दूसरी मृदु, प्रक्रिया इस प्रकार है। 'हृदय में सूर्य का निवास स्थान है और नासिका के बाहर द्वादश अगुल पर चन्द्रमा का स्थान है। इनके आवागमन की प्रक्रिया को जो पुरुष योग कला के द्वारा देखता है वही यथार्थ देखता है'।[२१]

हठयोग के सप्ताग बताये गये हैं- १) षट्कर्म, २) आसन, ३) मुद्रा, ४) प्रत्याहार, ५) प्राणायाम, ६) ध्यान और ७) समाधि। योग शास्त्र में बताया गया है कि 'षट्कर्म द्वारा शरीर शोधन, आसन द्वारा दृढ़ता, मुद्रा द्वारा स्थिरता, प्रत्याहार द्वारा धीरता, प्राणायाम द्वारा लाघवता, ध्यान द्वारा आत्मा का प्रत्यक्षीकरण और समाधि द्वारा निर्लिप्तता तथा मुक्ति का लाभ होता है।[२२] मानसिक और आध्यात्मिक लाभ के साथ ही साथ हठयोग के सप्ताग के साधन के साथ शारीरिक स्वास्थ्य लाभ भी प्राप्त होता है। हठयोग के अभ्यास में क्रियात्मक स्वरूप होने के कारण शास्त्रकारों ने गुरु के सान्निध्य का महत्त्व बताया है। उसी प्रकार साधना और साधना की प्रगति को गुप्त रखने का भी निर्देश है। इसलिए प्राय साधक समाज से परे रहा करते थे। आधुनिक युग में भी इन तथ्यों का महत्त्व किसी भी मात्रा में कम नही हुआ है। हठयोग की प्रायोगिक क्रियाओं में केवल साहित्य का अवलबन घातक सिद्ध हुआ है और साधना की प्रगति का विवेचन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अहकार की पुष्टि करता है। और भ्रष्ट होने का मार्ग प्रस्तर हो जाता है। आचार्यों ने बड़े ही स्पष्ट और विस्तृत रूप से सभी क्रियाओं का उल्लेख किया है। ध्यान प्रक्रिया में इन सभी क्रियाओं का अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान है। क्रियात्मक स्वरूप होने के कारण यह अधिक प्रचलित भी हो रहा है।

(४) राजयोग :- पतजलि के योग शास्त्र कालान्तर में मत्रयोग, लययोग, हठयोग का ही एक स्वरूप राजयोग के नाम से भी उपनिषदों में उपलब्ध होता है। योगतत्त्व उपनिषद् में मत्र, लय, हठ और राजयोग इस प्रकार का वर्गीकरण उपलब्ध है।[२३] स्मृति ग्रन्थों में भी सभी प्रकार के योग-विधियों में राजयोग श्रेष्ठ माना है। योगशास्त्र में राजयोग का वर्णन इस प्रकार है- सृष्टि, स्थिति और लय का कारण अन्त करण ही है। उसके माध्यम से जिसका साधन किया जाता है उसे राजयोग कहते हैं। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार - ये चार अन्त करण है। अन्त करण रूपी कारण और जगत् रूपी कार्य दृश्य का कार्य-कारण सबध है। दृश्य से द्रष्टा का सबध होने पर सृष्टि होती है। चित्तवृत्ति का चाचल्य ही इसका कारण है। वृत्तिजयपूर्वक स्वरूप का प्रकाश प्राप्त करना राजयोग है। इसमें विचारशुद्धि की प्रधानता है। विचारशुद्धि की पूर्णता ही

राजयोग का कारण है। इसकी ध्यान-प्रक्रिया को 'ब्रह्मध्यान' कहते हैं। इससे सिद्धि प्राप्त महात्मा का नाम 'जीवन्मुक्ति' है। महाभाव (मन्त्रयोग की समाधि) प्राप्त योगी महाबोध (हठयोग की समाधि) प्राप्त योगी और महालय (लययोग की समाधि) प्राप्त योगी तत्त्वज्ञान की सहायता से राजयोग-भूमि में अग्रसर होते हैं। यह समस्त योग साधनों में श्रेष्ठ एवं साधन की चरमसीमा होने से राजयोग है।[२४]

शास्त्रों में इसके सोलह अग प्रतिपादन किये हैं[२५] षोडश कला से परिपूर्ण राजयोग षोडश अग वाला है। सप्त ज्ञान-भूमिकाओं के अनुसार सात अग हैं। ये विचार प्रधान हैं। उनके साधन अनेक हैं। धारणा के दो अग हैं- १) प्रकृति-धारणा और २) ब्रह्म-धारणा। ध्यान के तीन अग हैं- १) विराट् ध्यान, २) ईश-ध्यान और ३) ब्रह्म-ध्यान। ब्रह्मध्यान में ही सबकी परिसमाप्ति है। समाधि के चार अग हैं- दो सविचार और दो निर्विचार। इस प्रकार राजयोग के षोडश अग हैं। मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग इन तीनों में सिद्धि हस्तगत करने के लिए अनन्तर अथवा किसी एक में सिद्धिलाभ करने के पश्चात साधक को राजयोग का पूर्ण अधिकार प्राप्त होता है।

प्रथमत राजयोग का साधन धारणा और ध्यानभूमि से प्रारभ होता है और राजयोग की साधनाभूमि प्रधानत समाधिभूमि है। समाधिभूमि में क्रमश वितर्क, विचार, आनन्दागत अवस्था एव अस्मितानुगत अवस्था प्राप्त होती है। विशेष लिंग, अविशेष लिंग, लिंग और अलिंग-ये चार दृश्य के भेद हैं। प्रथम के दो त्याज्य हैं। मैं ब्रह्म हूँ यह भाव भी निर्विकल्प समाधि में नही रहता। द्वैत भाव अथवा विकल्पभाव का अभाव ही तु-रीयावस्था है। समाधिभूमि का साधन-क्रम शास्त्र से नही हो सकता। उसके लिये तो जीवन्मुक्त गुरु ही मार्गदर्शक है।[२६]

योग की अभ्यास पद्धति शरीर और मन दोनों को प्रभावित करती है। इसलिए ये सभी प्रणालियाँ एक दूसरे के लिए पूरक सिद्ध होती हैं। चर्चात्मक भेद व्यवहारिक दृष्टि से भले ही उपयोगी हो परन्तु प्रयोगात्मक दृष्टि से उसका विशेष महत्त्व नही माना जाता है। हम यह कह सकते हैं कि ये सभी साधना-पद्धतियाँ साधकों की अभिरुचि और मनोवृत्ति का स्वरूप प्रदर्शित करती हैं। योग में कुछ अन्य पद्धतियों का भी विवेचन हमारे इस अध्ययन में पोषक सिद्ध होगा। कुछ मतभेद के साथ हम तन्त्रयोग का भी विश्लेषण आवश्यक समझते हैं। वैदिक, बौद्ध और जैन साधना प्रणाली में योग के समान ही तन्त्रशास्त्र का विकास हुआ। और जिस प्रकार योग में विकृतियाँ आईं उसी प्रकार तन्त्रशास्त्र में भी विकृतियों ने आश्रय लिया। इस विकृति का कारण मानवीय स्वभाव की विभिन्न वृत्तियाँ और शास्त्रीय परपराओं का ऐतिहासिक क्रम का लोप होना है। उपलब्ध ग्रथों के सूत्रमय होने के कारण भाष्यकारों ने भी इनके विकार में योगदान दिया है। अब तो स्थिति

ऐसी आ चुकी है कि तत्र साधना निकृष्ट मानी जाने लगी है। वास्तव में यह सब साधनाएँ बड़ी सूक्ष्म और तत्काल प्रभाव दिखाने वाली है। अत इसकी सक्षिप्त चर्चा अपने अध्ययन की सर्वांगीण पुष्टि के हेतु हम आवश्यक समझते हैं।

तत्र शब्द को सिद्धान्त, मार्ग, शास्त्र, शासन, व्यवहार, नियम, शिवशक्ति की पूजा, आगम, कर्मकाण्ड, इत्यादि के रूप में लिया गया है। तत्र शब्द 'तन्' और 'त्रय' इन दो धातुओं के सयोग से बना है, जिसके अनुसार प्रकृति और परमात्मा को स्वाधीन करना है। परमात्म पद की प्राप्ति ही तत्र साधना है। और सभी अनुष्ठान इसमें समाविष्ट हैं।[२७] कौलमार्ग और वाममार्ग तत्रशास्त्र के दो प्रमुख भाग हैं।[२८] तान्त्रिक उपासना का भेद अद्वैत सिद्धि है। इसके लिये उपासना के अनेक मार्ग बताये गये हैं।[२९] साधना में मुद्रा महत्त्वपूर्ण अग है। इसमें आसन, प्राणायाम, ध्यान आदि क्रियाओं का समावेश होता है। ये क्रियाएँ शारीरिक और मानसिक बल प्रदान करती हैं। बौद्ध मत के अनुसार वज्रयान अथवा मत्रयान प्रणाली का सदर्भ मिलता है। इसमें अनेक सम्प्रदाय हुए हैं।[३०] जैन आचार्य भी यति तान्त्रिक साधना का माध्यम स्वीकार करते हैं।[३१] जैन दर्शन में तो योग को ही तत्र कहा है। और तीर्थ, मार्ग प्रवचन, सूत्र, ग्रथ, पाठ आदि भी तत्र के पर्यायवाची शब्द माने गये हैं।[३२]

सक्षेप में तत्र साधना शक्ति उपासना का स्वरूप धारण करती है और विष्णु उपासना, शिवोपासना, गणपति उपासना, सूर्य उपासना और शक्ति उपासना नामक पाँच भेद हैं। शक्ति उपासना ही प्राय बौद्ध उपासना में 'दण्डनी' अथवा 'तारा' और हीनयान सम्प्रदाय में 'मणिमेखला देवी' है। इसी प्रकार जैन विचार धारा में 'पद्मावती देवी' का स्वरूप ही शक्ति देवी का स्वरूप माना जाता है।

सक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि तत्र साधना भारतीय साधना प्रणाली में बहु आयामी है और इसके कारण समाज को पर्याप्त दुष्परिणाम भी भोगने पड़े हैं। परतु विविध स्वरूप और आकार में इस पद्धति का निरूपण चिन्तन और परिष्कृत साहित्य निर्माण करना बहुत आवश्यक है। प्रणालियाँ साधकों की अपरिपक्व बुद्धि के कारण विकृत हो जाती हैं और भ्रम अथवा भययुक्त वातावरण निर्मित हो जाता है।

प्राचीन भारतीय साधना प्रणालियों के साथ-साथ आधुनिक समय में भी उत्कृष्ट कोटि के साधक भारतीय वातावरण में पनप रहे हैं। अति सक्षेप में हम यह आवश्यक समझते हैं कि इन साधकों का विवेचन किया जाये। इसका हेतु यह सिद्ध करना है कि ये साधना प्रणालियाँ आधुनिक प्रगति और विज्ञानमय जीवन में भी सभव हैं और इनकी आवश्यकता भी है। वैसे तो वर्तमानकालीन युग में अनेक हिंदु साधकों ने साधना मार्ग में

कीर्तिमान स्थापित किये हैं। किन्तु यहाँ उनमें से नमूने के तौर पर रामकृष्ण परमहस, स्वामी विवेकानद, महात्मा गाधी और रवीद्रनाथ टैगोर तथा योगी अरविद के सबंध में ही सक्षिप्त टिप्पणियाँ करेंगे -

१) रामकृष्ण की साधना पद्धति :- रामकृष्ण परमहस एक बडे साधक थे। उन्होंने भक्ति के अन्तर्गत ही प्रेमयोग का समावेश किया था। भक्तियोग को ही जीवन का माध्यम बनाया। भक्ति के तीन पहलू[३३] सात्त्विक, राजसिक और तामसिक के अन्तर्गत साधक के गुणों-अवगुणों का वर्णन करते हुए बताया है कि सात्त्विक भक्ति के द्वारा ही साधक अपने साध्य को सिद्ध करता है।

रामकृष्ण परमहस ने साधना के सात सोपानों का वर्णन किया है - १) साधु सग, २) श्रद्धा, ३) निष्ठा, ४) भक्ति, ५) भाव, ६) महाभाव और ७) प्रेम। ये सातों ही भक्ति के अग हैं। इन्हें दो विभागों में विभाजित किया गया है। १) विधि भक्ति और २) राग भक्ति, इसे परमभक्ति भी कहते हैं।

इनका दूसरा साधना मार्ग था - कर्मयोग। निष्काम भाव से साधक (गृहस्थ) द्वारा किये गये कर्म ही कर्मयोग हैं। ईश्वर को समर्पित होना ही कर्मयोग है। साधक और ईश्वर में साधन-साध्य भाव प्रस्फुटित होता है। अत· रामकृष्ण ने भक्तियोग और कर्मयोग की साधना ही जीवन में श्रेष्ठ मानी।

२) स्वामी विवेकानंद की साधना पद्धति :- स्वामी विवेकानद रामकृष्ण परमहस के शिष्य थे। गुरुमिलन से इनका अभिमान विगलित हो गया और वे बड़े योगी बन गये।

इनकी आध्यात्मिक साधना का मूलस्रोत मानव सेवा थी। ईश्वर दर्शन का परम साधन मनुष्य सेवा को ही माना था क्योंकि उन्होंने ज्ञान-योग, भक्तियोग, कर्मयोग, प्रेमयोग और वैराग्य अर्थात् राजयोग का अपूर्व समन्वय मानव सेवा द्वारा ही ईश्वर-प्राप्ति का अपूर्व साधन माना। ये ही इनके पच साधनासूत्र हैं, जिनका उत्तरोत्तर एक दूसरे के साथ घनिष्ठ सबध है।

विवेकानद ने धर्म के चरम लक्ष्य की प्राप्ति के साधनों को ही योग माना है। विभिन्न प्रकृतियों और स्वभावों के अनुरूप योग के विभिन्न प्रकार हैं। विज्ञान और धर्म में केवल पद्धति का भेद है। अत इनके मन्तव्यानुसार योग का भावार्थ है पूर्णत्व प्राप्त करके आत्मा की मुक्ति पाना (साधना) उसका उपाय योग है।[३४]

३) महात्मा गाधी की साधना पद्धति (१८६९-१९४८) :- गाधी साधक, योगी और भक्त थे। उन्होंने परम शुभ सत्यान्वेषण में सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्यादि को ही

माना था। क्योंकि गांधीजी ने राजनीतिक क्षेत्र में अपने कार्य करने की अदम्य शक्ति का स्रोत आध्यात्मिक शक्ति को बताया है। उनकी आध्यात्मिक साधना का मूल स्रोत आत्मशुद्धि है। इसीलिये उन्होंने आध्यात्मिक साधना के मूल स्तभ सत्यादि पच महाव्रतों को रखा। इसके अतिरिक्त अन्य भी उनके साधना सूत्र हैं।

गाधीजी की साधना पद्धति के एकादश व्रत हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं - १) सत्य, २) अहिंसा, ३) ब्रह्मचर्य, ४) इद्रिय निग्रह, ५) अस्तेय, ६) अपरिग्रह, ७) स्वदेशी, ८) अभयव्रत, ९) अस्पृश्यता, १०) देशी भाषाओं के माध्यम से शिक्षा, ११) शरीर श्रम। उन्होंने सत्याग्रह के माध्यम से आध्यात्मिक साधना का स्तर कई शव्दावली में समझाने का प्रयत्न किया। राजनीतिक चेतना की दृष्टि से गाधी की साधना पद्धति 'सत्याग्रह' विश्व में एक नई क्राति की जन्मदाता बनी।

गाधीजी की दृष्टि से सत्य की साधना ही ध्यान साधना है। समग्र सत्य की साधना ही मन को एकाग्र करती है। सत्यशील साधक ही प्रार्थना के माध्यम से ध्यान की अवस्था में पहुचता है। मन को एकाग्र करने की यह परम प्रक्रिया है। गाधी की दृष्टि से यही ध्यानयोग है।

४) रवीन्द्रनाथ टैगोर (ठाकुर) की साधना पद्धति :- रवीन्द्र युगचेतना के प्रवर्तक कहे जा सकते हैं, क्योंकि उन्होंने काव्य कला के माध्यम से अनेक नवीन दिशाओं का उद्घाटन किया। वे उच्चकोटि के साधक, कवि और योगी थे। इसीलिए तो उन्हें आधुनिक भारतीय साहित्य-बोध के जनक और नवीनयुग के आदि कवि माना है। क्योंकि उनकी साधना पद्धति का माध्यम कविता और कला थी। काव्य कला को ही वे ईश्वर प्राप्ति का मार्ग बताते हैं। गीताजलि में विभिन्न साधना पद्धतियों का दिग्दर्शन किया है। और काव्य सौष्ठव से ध्यानयोग की पद्धति स्पष्ट की है। उनका कथन है, कि वैराग्य ही मेरी मुक्ति का साधन नही है, बल्कि अनुराग के पाश से ही मुझे मुक्ति के आनंद का अनुभव होता है। प्रेम ही भक्तियोग का अग है। भगवान के निकट पहुचने में अनुराग ही परम साधन है।[३५] आत्मा अनन्त में विचरण करती है। उसका साक्षात्कार करना ही परम मुक्ति पाना है।

अशुभ से हटकर शुभ में प्रवृत्ति करना अर्थात् अपूर्णता से उन्मुख बनकर पूर्णता के सन्मुख होना ही जीवन का सही आनद है। यह कविता के माध्यम से मिल सकता है। कविता की तान में तल्लीन होना ही ध्यानयोग है। इसी प्रक्रिया से ईश्वरत्व की प्राप्ति होती है। अत रवीन्द्र की मुख्य साधना पद्धति काव्य कला का आनद है।

५) **अरविन्द की साधना पद्धति :-** अरविन्द आधुनिक युग के महायोगी हैं, जिनकी साधना भूमि पाडुचेरी रही है। इग्लैंड से लौटने के बाद १६ वर्ष तक यानी १८९३ से १९०९ तक का समय, गायकवाड नरेश के साथ बडौदा में अग्रेजी प्रोफेसर के रूप में व्यतीत किया। यही १६ वर्ष का काल उनकी सुप्त चेतना के बहुपक्षीय विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण रहा। क्रातिकारी और आध्यात्मिक, दोनों ही जीवन का विकास यही से हुआ। १९०९ के सूरत अधिवेशन में 'नेशलिस्ट दल' के रूप में कॉंग्रेस से इनका दल पृथक् हो गया। स्वदेशी आदोलन में सहयोग देने के कारण वे १९०९ में गिरफ्तार कर दिये गये। कारावास में ही उनके आध्यात्मिक जीवन का प्रारभ हुआ। तब से पाडुचेरी के एकान्तवास में निरतर योग साधना में लीन रहे।

आत्मा के साथ एकाकार होने की क्रिया को ही उन्होंने योग कहा था। क्योंकि उनके मन्तव्यानुसार योग विज्ञान और कला दोनों ही है। विज्ञान के द्वारा चिंतन, मनन व अनुभूति तथा एषणा के मानवीय उपकरणों की प्रकृति और चेतना के अन्य क्रियाकलापों की खोजबीन की जाती है और कला मस्तिष्क को पूर्णरूपेण नियत्रित करने के व्यवहारिक तरीकों का, उसे 'अह' और 'स्व' से निरासक्त कर, सच्चिदानद से सम्मिलन कराता है।

दिव्य अति मानव योग (पूर्ण योग) :- अरविन्द के पूर्वयोग की पीठिका अलीपुर कारागार, गीतोक्त योग साधना, वासुदेव दर्शन, विवेकानदवाणी का श्रवण, चन्द्रनगर में वेदोक्त देवियों का दर्शन है। उनकी दृष्टि से सपूर्ण जीवन ही योग है। क्योंकि जीवन के तीन स्तर हैं - अधिमानस, मानस और अतिमानस। अति प्राज्ञ समन्वय को अरविन्द 'तेजोमय समन्वय' की सज्ञा देते हैं। उनका मन्तव्य रहा है कि अतिप्राज्ञ की दिशा में बढते हुए चरण से सपूर्ण सत्य का अन्वेषन होगा ही। अधिमानस, मनस् और अतिमानस के बीच की कड़ी है। एक से अनेक की ओर, अनेक से एक की ओर गमन करने की यह सीढी है। क्योंकि मानव का स्वभाव है स्वय अपने को अतिक्रम कर जाना। आत्मा का शुद्ध स्वरूप पाना। वह शुद्ध स्वरूप आत्मा, मन, प्राण और जडतत्त्व के परदे के पीछे है। वह आध्यात्मिक दिव्य, अतिमानव, वास्तविक पुरुष बनता है। जो मनोमय पुरुष से ऊपर है। अति मानव बनने का अर्थ है अपने मन, प्राण और शरीर का स्वामी बनना। अत स्वय 'तुम' बन जाने का अर्थ है दिव्य अति मानव बनना।

आत्मा में अमरत्व प्राप्त करना ही अतिमानव बनना है। इस योग का यही उद्देश्य रहा है कि उस सर्वोच्च सत्य चेतना में रूपांतरित होना अतिमानस चेतना नही, बल्कि उच्चतर चेतना है। उसमें प्रवेश किये बिना वास्तविक आनद लोक में आरोहन करना असभव है, *क्योंकि अतिमानसिक रूपातर सिद्धि की अतिम अवस्था है।*[३६]

अति मानस के तीन स्तर हैं जो सबुद्ध मन की तीन क्रियाओ के अनुरूप हैं :-

१) व्याख्यामूलक अतिमानस, २) सादृश्यमूलक अतिमानस और ३) प्रभुत्व-मूलक अतिमानस।

अरविन्द के योग का रहस्य रहा है कि जीवन के अन्दर दिव्य शक्ति की ज्योति, शक्ति, आनद और सक्रिय निश्चलता को उतारकर मानव जीवन को सर्वांशत· रूपान्तरित कर उसमें अतिमानसिक ज्योति की प्रतिष्ठा करना है। इसे ही उन्होंने अध्यात्मयोग अथवा पूर्णयोग कहा है। सम्पूर्ण रूप से अपने को प्रभु के समक्ष अर्पित करना ही पूर्णयोग है। इस योग में अशुभ को कोई स्थान नही है।[३७]

ध्यान साधना :- प्रार्थना, आकांक्षा, भक्ति, प्रेम और समर्पण आदि साधना के प्रथम चरण हैं और ध्यान प्रक्रिया से मस्तिष्क में एकाग्रता पाना ही केन्द्र का पूर्ण खुलना है जो इसे दिव्य से सीधा जोड़ता है। हमारे भीतर दिव्यत्व से चेतना को जन्म दिया जाता है। इसे नवजन्म अथवा आध्यात्मिक जन्म कहा जा सकता है। जितना अधिक समर्पण उतनी ही अधिक पूर्ण साधना। यही ध्यान साधना का मौलिक विचार तत्त्व है।

बौद्ध साधना पद्धति :- बोधिसत्व की प्राप्ति के बाद गौतम बुद्ध ने चार आर्य-सत्य प्रस्थापित किये। ये चार आर्य-सत्य दु ख, दु ख समुदाय, दु ख निरोध, दु ख निरोधगामिनी प्रतिपदा के स्वरूप में शास्त्रों में उपलब्ध हैं। इस मार्ग का अवलबन करने से दु खों से छुटकारा मिल सकता है। बुद्ध धर्म की लोकप्रियता के साथ-साथ उसमें अनेक शाखाएँ, उपशाखाएँ विकसित हुईं। प्रमुख शाखाएँ विज्ञानवाद अथवा योगाचार माध्यमिक अथवा शून्यवाद, वैभाषिक और सौत्रातिक के नाम से जानी जाती हैं। इनकी साधना पद्धतियाँ अष्टागिक नाम से जानी जाती हैं। बौद्ध शास्त्रों ने साधकों के विषय में भी बहुत ही विस्तृत विवेचन किया है, और सासारिक दु·खों से छूटने का अष्टागयोग ही एकमेव मार्ग बताया है।[३८] अष्टाग मार्ग में सम्यग्दृष्टि, सम्यक् सकल्प, सम्यक् वाचा, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि।[३९] इस मार्ग को गौतम बुद्ध के शब्दों में धर्मयान के नाम से भी माना जाता है।[४०] इसका आधार शील, समाधि और प्रज्ञा है।[४१] अहिंसा, विवेक, तितिक्षा आदि का भी विवेचन किया गया है। अष्टाग साधना मार्ग का मूल सम्यग्दर्शन माना जाता है। इस प्रकार चार आर्य-सत्य और अष्टाग मार्ग की सम्यग्दृष्टि साधना मार्ग का मूल मानी जाती है। इसी प्रकार शील अथवा सदाचार का भी बौद्ध साधना में एक विशेष स्थान है।[४२] बौद्ध ग्रथों में शील का बहुत ही विस्तृत विवेचन उपलब्ध है और प्राय सभी सभाव्य प्रश्नों के उत्तर देने का प्रयत्न किया गया है। शील के साथ-समाधि और प्रज्ञा का भी उल्लेख मिलता है जैसा

कि हमने पीछे निर्देश किया है। बौद्ध धर्म का विकास और प्रभाव भारत और भारत के बाहर बड़े विस्तृत स्वरूप में फैला। परिणामस्वरूप भिन्न-भिन्न बौद्ध विचार शाखाओं में भी अनेक साधना पद्धतियों का विकास होना शुरू हुआ। कुछ विवेचन हमने किया है। इसके अतिरिक्त महायान साधना पद्धति में बोधिचित्त द्वारा पारमिताओं की प्राप्ति, दस भूमियाँ और त्रिकायवाद का उल्लेख मिलता है।[४३] यह विस्तृत विश्लेषण बौद्ध साधकों की साधना के परिणामस्वरूप शास्त्रीय आकार में हमें उपलब्ध है। इसी प्रकार स्थविरवादी साधना पद्धतियाँ भी विकसित हुईं। ये पद्धतियाँ आधुनिक युग में प्रयोग में लायी जाती हैं। इसमें शपथ भावना, विपश्यना भावना और आनापानसति[४४] ये तीनों साधना-पद्धतियाँ चित्त की एकाग्रता के लिये अत्यन्त सहायक हैं। साधना मार्ग के विघ्नों का नाश करना, शुभ, अशुभ की विवेचना, अष्टाग मार्ग का आलम्बन, इत्यादि विपश्यना भावना की ओर ले जाते हैं।

विपश्यना भावना :- बौद्ध साधना पद्धति में समाधि भावना (शपथ भावना) का और विपश्यना भावना (अन्तर्ज्ञान) का विशेष महत्त्व है। विपश्यना आध्यात्मिक विकास की वैज्ञानिक प्रक्रिया है। इसका उद्देश्य अनुकूल, प्रतिकूल सवेदनाओं का निरीक्षण करना है, और परमविशुद्धि की ओर अग्रसर होना है। विपश्यना का शाब्दिक अर्थ-यथार्थ अथवा सम्यक् अथवा विशेष प्रकार से देखना है। यह देखना केवल चरमचक्षु तक मर्यादित नही है। इसमें मनोवैज्ञानिक तथ्य निहित है। इसके अनुसार शरीर, चित्त और कर्म ग्रथियों का अनुभव लेना है।[४५] साधक कर्म और उनके विपाक को जानकर शुद्ध चेतना को देखने का प्रयास करता है। विपश्यना की प्रक्रिया ध्यान साधना कही जाती है। दूसरे शब्दों में विपश्यना अन्तर्प्रवेश की क्रिया है। विशुद्धिमग्ग में इसका विस्तृत विश्लेषण मिलता है।

इस प्रक्रिया के चार अंग निम्नलिखित हैं :- १) काय विपश्यना, २) वेदना विपश्यना, ३) चित्त विपश्यना और ४) धर्म विपश्यना। कायविपश्यना में शरीर के एक-एक भाग को देखा जाता है, साथ ही शरीर से जुड़े हुए रोग, जरा, मृत्यु आदि का भी दर्शन किया जाता है। वेदना विपश्यना में शरीर के ऊपरी और आंतरिक सवेदनाओं का अनुभव किया जाता है। चित्त विपश्यना से मन के भीतरी पटल खुलते हैं अर्थात् शरीर और मन की भीतरी तल पर स्थित सूक्ष्म ग्रथियाँ खुलती हैं तथा समभाव के कारण नवीन ग्रथियों का निर्माण भी रुक जाता है। ग्रथियों के खुलने से शरीर और मन में विद्यमान विकार दूर होते (हो) जाते हैं। तन, मन व आत्मा स्वस्थ होने लगते हैं। धर्मानुपश्यना से सभी ग्रथियाँ विमूल हो जाती हैं और अतीन्द्रिय अवस्था की अनुभूति होने लगती है। अत विपश्यना ध्यान पद्धति सब पद्धतियों में श्रेष्ठ मानी गई है।[४६]

आनापानसति भावना :- आनापानसति अथवा स्मृति भावना पारपारिक योग साधना पद्धति के प्राणायाम से मिलती जुलती है। स्मृतिपूर्वक श्वासप्रश्वास की प्रक्रिया पर ध्यान रखना स्मृति भावना कहलाती है।[४७] इस पद्धति का विस्तृत विश्लेपण सयुक्त-निकाय में उपलब्ध है।[४८]

ध्यान योग :- बौद्ध साधना पद्धति में ध्यान और साधना का परस्पर घनिष्ट सबध है। इन दोनों को पृथक् नही किया जा सकता है। क्योंकि ध्यान का शाब्दिक अर्थ है-चिन्तन करना। परतु यहाँ पर ध्यान से तात्पर्य है कि अकुशल कर्मों का दहन करना। बौद्ध साधना पद्धति में ध्यान के अन्तर्गत ही समाधि, विमुक्ति, अधिचित्त, योग, कम्मट्ठान, प्रधान, निमित्त, आरम्भण और लक्खण आदि शब्दों का प्रयोग किया है। वस्तुत ध्यान समाधि प्रधान पारिभाषिक शब्द है। इसलिए ध्यान का क्षेत्र विस्तृत है। यदि साधना को ध्यान से अलग कर दें तो ध्यान का स्वरूप समझ ही नही पा सकेंगे। क्योंकि अकुशल धर्मों का मूल लोभ, दोष और मोह है। इन्ही का दहन साधना और ध्यान से ही किया जाता है। परतु यहाँ पर अकुशल धर्मों से पाच नीवरणों को लिया गया है।[४९]

बौद्ध साहित्य में ध्यान के दो प्रमुख भेद हैं- १) आरम्भन उपनिज्झान (आलबन पर चिंतन करने वाला) और २) लक्खण उपनिज्झान (लक्षण पर ध्यान करने वाला)। आरम्भण उपज्झान आठ प्रकार का माना जाता है। उसके दो भाग हैं- रूपावचर और अरूपावचर। इन्हें समापत्ति के नाम से भी सबोधित किया जाता है। लक्खण उपज्झान के तीन भेद माने जाते हैं।[५०]

लोकोत्तर ध्यान :- बौद्ध आचार्यों ने मानवीय मन की चचलता और बहु आयामी स्वरूप को भलीभाँति समझने का प्रयत्न किया। और भिक्षु सम्प्रदाय साधना पद्धति पर पूर्ण विश्वास करता था। साधना के प्रायोगिक अनुभवों का, कठिनाइयों का विस्तृत विश्लेषण ऊपर लिखी हुई पद्धतियों में दृष्टिगोचर होता है। हमने अति सक्षेप में इन अनुभवों का शास्त्रीय स्वरूप ग्रहण किया है। वास्तव में यह विषय शास्त्रीय विवेचन का नही है। परंतु अध्ययन की तात्रिक भूमिका के स्वरूप में पठन-पाठन के महत्त्व को भी दुर्लक्षित नही किया जा सकता। अत यह विश्लेषण दिया गया है। बौद्ध आचार्यों ने विस्तृत साधना पद्धति विकसित की, और चचल चित्त को नियत्रण में करने के लिए कोई भी उपाय नही छोड़ा। ध्यान साधना की अनेक पद्धतियों का हमने उल्लेख किया है। उसमें लोकोत्तर ध्यान पद्धति चरम सीमा का द्योतक है।

साधक रूपावचर और अरूपावचर ध्यान के माध्यम से परिशुद्ध समाधि को प्राप्त करता है। लोकोत्तर ध्यान में उसका प्रहरण किया जाता है। सत्काय दृष्टि, विचिकितत्र,

शीलव्रत परामर्श, काम छंद, प्रतिघ, रूपराग, अरूपराग, मान, औद्धत्य एव अविद्या ये दस सयोजन हैं। यद्यपि इन सबका नीवरण के रूप में प्रहरण हो ही जाता है फिर भी बीजरूप में शेष रहे सभी सयोजन का लोकोत्तर ध्यान में नाश किया जाता है। जिसके फलस्वरूप साधक में क्रमश निम्न अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं- स्रोतापन्न, (स्रोतायन्ति), सकदागामी, अनागामी और अर्हन्। लोकोत्तर भूमि में चिन्ता की आठ अवस्थाओं में से प्रत्येक अवस्था में पांच प्रकार के रूप ध्यान का अभ्यास किया जाता है। इस प्रकार लोकोत्तर ध्यान में चित्त के चालीस भेद किये गये हैं। सभी ध्यानों में लोकोत्तर ध्यान ही श्रेष्ठ है तथा वही परिशुद्ध ध्यान है।[५१]

ध्यान सम्प्रदाय :- बौद्ध धर्म का साधनात्मक और सैद्धातिक स्वरूप भारतीय सीमा तक ही मर्यादित नही रहा। छट्ठी शताब्दी में बोधिधर्म ने चीन में बौद्धधर्म की स्थापना की। सस्कृत ध्यान शब्द प्राकृत में झान बनता है। चीनी अनुलिपि में यह शब्द 'च. ा' बन गया। जापानी अनुलिपि में यह शब्द 'जेन' बन गया। बोधिधर्म की मृत्यु के बाद भी अनेक आचार्यों ने इस परम्परा को विकसित किया। 'चान' और 'जेन' को ही ध्यान-सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध किया गया है।[५२] ये दोनों ताओ मत और कन्फ्युशियल धर्म के साथ सबध रखते हैं।

जैन साधना पद्धति :- आने वाले अध्यायों में जैन साधना पद्धति का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया जायेगा। अत यहाँ पर उल्लेख मात्र से ही हम अपनी चर्चा समाप्त करते हैं। मुक्ति मार्ग में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग् चारित्र का विवेचन उत्तराध्ययन सूत्र में विस्तृत स्वरूप में किया है। ऐतिहासिक दृष्टि से जैन साधना पद्धति का विकास चार भागों में उपलब्ध है -

१) भगवान महावीर से आचार्य कुन्दकुन्द तक

२) आचार्य कुन्दकुन्द से आचार्य हरिभद्र तक

३) आचार्य हरिभद्र से उपाध्याय यशोविजय तक और

४) उपाध्याय यशोविजय से आधुनिक युग तक।

जैन दर्शन का हेतु मोक्ष है। सवर और निर्जरा उसके दो मार्ग हैं। उसके लिये तप की आवश्यकता है। ध्यान तप का प्रधान अग है। इसलिए मोक्ष का मुख्य साधन ध्यान है।[५३]

भारतीयेतर धर्मों की कुछ साधना पद्धतियाँ :- ऊपर हमने योग की अनेक भारतीय साधना पद्धतियों का उल्लेख किया है। परतु मानवी मन की साधना पद्धतियों की ओर आकर्षण के स्वरूप विश्व के सभी भागों में अनेक प्रकार की साधना पद्धतियों का

उल्लेख मिलता है। विषय और स्वय की मर्यादा को ध्यान में रखते हुए यद्यपि हम सभी पद्धतियों का उल्लेख नही कर सके हैं। तथापि कुछ प्रमुख साधना पद्धतियों का निर्देश करना इसलिये आवश्यक है कि मनुष्य कही भी रहे, किसी भी धर्म का पालन करे, और किसी भी काल में उसका जन्म हो, किसी न किसी स्वरूप में साधना की ओर उसका लक्ष्य खीच ही जाता है। इस प्रकार ससार में अनेक पद्धतियों के स्वरूप देखने को मिलते हैं। जैसा कि हमने पीछे निवेदन किया है कि साधना पद्धतियाँ मानवी मन को नियत्रण में रखने का उपयोगी और सफल प्रयास है। और शताब्दियाँ बीत जाने के बाद भी धर्म के अनेक रूप विकसित होकर भी साधना पद्धतियाँ किसी न किसी रूप में उपलब्ध हैं और साधना करने वाले साधक भी मौजूद हैं।

इस विवेचन में हम सक्षेप में भारतीयेतर धर्मों की साधना पद्धतियों का कुछ उल्लेख करना चाहते हैं -

ताओ धर्म की साधना :- इस सम्प्रदाय के सस्थापक लाओत्से ने 'ताओ ते किंग' नामक ग्रथ में अपने सिद्धात प्रस्थापित किये हैं। यह दर्शन ताओ और तेह इन दो शब्दों पर आधारित है। 'ताओ' का अर्थ चरम तत्त्व का मार्ग, विश्व का मार्ग और स्वदर्शन है। इसी प्रकार 'तेह' का अर्थ जीवन प्रेम, प्रकाश, सकल्प, आत्मसिद्धि और सद्गुण है। इसके आचरण से आत्म साक्षात्कार किया जा सकता है। लाओत्से ने विनयशीलता, नम्रता, मार्दव और पच ज्ञानेन्द्रिय पर सयम करने का निर्देश किया है।[५४] इस धर्म की साधना पद्धति का मूलाधार प्रेम और नम्रता ही है।

कन्फ्युशियस धर्म की साधना :- चीन में ही लाओत्से के समान कन्फ्युशियस ने भी मानवीय जीवन की वृत्तियों को नियत्रण के लिए अपने धर्म की स्थापना की। उन्होंने सद्गुणों को अपना आधार माना है। निंदा, दोष, बुराई का त्याग, विवेक, न्याय की स्थापना, सदाचारी जीवन और सद्गुणों का विकास करना साधना पद्धति का भाग बताया है। उन्होंने साधना के पाच सूत्र दिये हैं - जेन, चुन-जु, ली, ते और वेन उसके अनुसार वैचारिक स्पष्टता, कर्तव्यशीलता, दया, विवेक, नैतिकता और अपने सिद्धान्तों के लिये दृढ विश्वास। सक्षेप में सद्गुणों को ही उन्होंने व्यक्ति और समाज के विकास के लिये आधारभूत साधन माना है।[५५]

पारसी धर्म की साधना :- पारसी साधना पद्धति सामाजिक जीवन को नियन्त्रित करने का स्वरूप है। धार्मिक आचरण कर्मकाण्ड से बधा हुआ नही है। अग्नि देव की ज्योत को आधार लेकर दया, दान, न्याय, नीति इत्यादि की प्रस्थापना और मनुष्य के दस कर्तव्य बताए हैं - निंदा, क्रोध, चिन्ता, ईर्ष्या, आलस्य इत्यादि का त्याग। सक्षेप में असत् का

त्याग और सत् का आचरण ही इनका उद्देश्य है। इसी को पवित्र विचार, पवित्र वचन और पवित्र कार्य भी कहते हैं।[५६]

यहुदी धर्म की साधना :- इस धर्म का मूल ग्रथ 'पुरानी वाइबिल है'। उसके तीन विभाग हैं - १) तोरा, जिसमें दस आज्ञा का प्रतिपादन किया गया है, २) नवी, जिसमें साधना, प्रेम और अहिसा का स्वरूप प्रतिपादन किया है, जो कि साधना का अग है। और ३) नविश्ते, जिसमें जीवन का आदर्श स्पष्ट किया है। अत यहुदी धर्म में बाइबिल के बाद 'तालमुद' का नाम ही विशेष प्रसिद्ध है।

यहुदी धर्म की साधना पद्धति प्रेमयोग पर आधारित है। मन, वचन और काय की शुद्धता पर ही प्रेमयोग की नीव खडी है। क्योंकि मनोविजेता ही प्रेमयोग की साधना द्वारा यहोवा को प्राप्त कर सकता है। सत्य, करुणा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, श्रमनिष्ठा, भूमि की सेवा, दुखियों की सेवा, अनाथ दीन दु खी की सेवा, विधवाओं की सेवा, सदाचार एव पवित्रता प्रेम की साधना से ही प्राप्त हो सकता है।[५७] मन, वचन और काय की शुद्धि ही इस धर्म की साधना पद्धति है। वह शुद्धिकरण प्रेम के माध्यम से होता है।

ईसाई धर्म की साधना ·- ईसाई धर्म का उद्‌गम स्थान यहुदी धर्म है। ईसाइयों का धर्म ग्रथ भी वाइबिल ही है। उसके दो विभाग हैं- १) पुरातन सुसमाचार (Old Testament) और २) नूतन सुसमाचार (New Testament)। पुरातन सुसमाचार सम्पूर्ण बाइविल का तीन चौथाई भाग है और नूतन सुसमाचार ईसाई धर्म का मूल ग्रथ है। इसमें ईसा के जीवन और उपदेशों का सकलन है।

ईसाई धर्म की साधना का मूल नैतिकता है। प्रेम की साधना से ईश्वर को प्राप्त किया जा सकता है। ईसाई धर्म की साधना पद्धति प्रेमयोग ही है। क्योंकि ईसा मसीह का कथन है कि बुराई का सामना बुराई से न करके प्रेम से करें। यदि कोई तुम्हारे दायें गाल पर थप्पड मारे तो उसके सामने बाया गाल खडा कर दो, मारने वाले के सामने प्रेम बरसाओ, प्रेम से शत्रु को मित्र बनाओ।[५८]

ईसाई धर्म की साधना पद्धति निम्नलिखित है -

१) सदाचारी जीवन विताना।
२) क्षमा को जीवन का अलकार बनाना।
३) प्रेम और अहिंसा का पालन करना।
४) सेवा और त्याग ही जीवन का आदर्श वनाना।
५) ईसा का पवित्र जीवन ही उसका प्रकाश स्तम्भ है।
६) सत्यमय जीवन वनाना।

७) शत्रु-मित्र पर समभाव रखना।

८) मन, प्राण और बुद्धि से परमेश्वर पर प्रेम करना तथा पड़ोसी का सम्मान करना।

ईसाई धर्म की साधना ही जीवन विकास की साधना है।

इस्लाम धर्म की साधना पद्धति :- इसके सस्थापक हजरत मुहम्मद साहब थे। इस धर्म का विकास अरब में हुआ।

इस्लाम धर्म की साधना का आधार 'कुरान' है। इसे 'कुरान शरीफ' भी कहते हैं। इस ग्रथ में बताये हुए सैद्धान्तिक और व्यवहारिक खण्डों के अनुसार पाच मौलिक साधना सूत्र हैं- १) अल्लाह में ही विश्वास करना, २) फरिश्ते (ईश्वराज्ञा पालक) में विश्वास करना, ३) कुरान में विश्वास करना, ४) देवदूतों में विश्वास करना और ५) निर्णय दिन, स्वर्ग, नरक में विश्वास करना। इस्लाम धर्म में पुनर्जन्म को नही मानते परन्तु 'मुकर' और 'नकीर' नामक फरिश्ता मृतक व्यक्ति के कर्मानुसार परीक्षा करके आत्मा को 'बरजख' में रखते हैं। 'बरजख' 'मृत्यु' और 'कयामत' के बीच की अवस्था है।

साधना पद्धति के सूत्राधार निम्नलिखित हैं-५९

१) मत का उच्चारण - अल्लाह के सिवाय दूसरा कोई ईश्वर नही है तथा मुहम्मद उसके देवदूत हैं।

२) नमाज पढ़ना - जिसमें 'वजू' की विधि बताई गयी है। वजू का अर्थ है शरीर शुद्धिकरण। 'शुक्रवार' को पवित्र मानते हैं। सामूहिक नमाज का विशेष महत्त्व।

३) जकात (खैरात) - यह तीसरी साधना पद्धति है जिसमें प्रत्येक मुसलमान का कर्तव्य है कि वह अपनी आय का एक अश दान में व्यय करे।

४) रमजान के महिने में उपवास करना - रमजान के दिनों में रोजा रखना। रोजा से तात्पर्य है इन्द्रियों को वश में करना।

५) हज करना - पापों का प्रायश्चित्त, दान, दानी की सगति, मक्का यात्रा, रात्रियात्रा, यात्रा के समय गाड़ी के आगे रहना, शरीर शुद्धि आदि पद्धतियों के द्वारा अल्लाह की प्राप्ति करना।

इस्लाम धर्म की यही साधना पद्धति है। इस धर्म के चार संप्रदाय हैं। उनमें एक सूफी सप्रदाय है, जो प्रेमयोग की साधना पद्धति से अल्लाह याने परमात्मा को प्राप्त करते हैं। मुहम्मद साहब को दो प्रकार से ज्ञान मिला था- १) 'इल्मे सफीना' = किताबी ज्ञान

और २) 'इल्मे सीना' = हार्दिक ज्ञान। 'इल्मे सीना ही तसव्वूफ की अर्थात् सूफी सम्प्रदाय की बुनियाद है।[६०]

सूफियों की साधना पद्धति :- मुख्यत साधक (शिष्य) गुरु के माध्यम से निम्नलिखित चार अवस्थाओं को पार करके अल्लाह को प्राप्त करता है। इन मजिलों को पार करने के प्रयासकाल को 'सूफी' 'मार्ग' या 'साधना-पथ' कहते हैं। ये मंजिलें चार हैं।[६१]

१) शरीअत :- इसके अन्तर्गत मुरीद (साधक) मुरशिद (गुरु) के मार्गदर्शक से तिलवत (कुरान पाठ), जिक्र (स्मरण), फिक्र (चिन्तन), समा (कीर्तन), अवराद (नित्य-प्रार्थना) से परमात्मा (परमसत्ता) को प्राप्त करने के लिये बैचेन रहता है। इसमें (शरीअत) सलात (प्रार्थना), जकात (दान), सौम (उपवास) और हज्ज का समावेश होता है। हृदय शुद्धि पर विशेष जोर है।

२) तरीकत :- शरीअत अवस्था को पार करने पर तरीकत साधना पथ पर आरूढ होता है। इसमें साधक बाह्य क्रियाकलापों से ऊपर उठकर परमसत्ता का ध्यान करता है। इसमें विद्यमान साधक की अवस्था को 'मलकूत' कहते हैं। नफ्स (अह भावना) को परास्त करके हृदय में 'म्वारिफ'=परमज्ञान को प्राप्त करता है। इसमें गुरु ही मार्गदर्शक होता है। गुरु कृपा से कुछ सोपानों को क्रमश पार करके परमज्ञान का अधिकारी बनता है। सोपान का क्रम इस प्रकार है - तोबा (पश्चाताप-अनुताप), जहर (स्वेच्छा-दारिद्र्य), सब्र (सतोष), शुक्र (कृतज्ञता, धैर्य), रिआज (दमन), तव्वकुल (गुरुकृपा पर पूर्ण विश्वास), रजा (वैराग्य या तटस्थता) और मुहब्बत या इश्क।

३) मारिफत :- तीसरी साधना पद्धति का प्रारभ हृदयानुभूति से होता है। उसी को 'इश्क' 'वज्द' या 'वस्ल' कहते हैं। साधक इस अवस्था में अपने आपको भूल जाता है। यह साधना की उच्चतम अवस्था है। इसे 'जबरुक' कहते हैं।

४) हकीकत :- तीनों साधना हृदयगम होने पर हकीकत की अवस्था प्राप्त होती है। यह सूफी साधना की पराकाष्ठा है। इसमें साधक सुख-दु ख से परे एकमात्र अल्लाह में ही मस्त रहता है। उसी का ध्यान करता है।

ये चार साधना पद्धतियाँ सूफियों की मुख्य साधना पद्धति हैं। इसके अलावा और भी साधना पद्धतियाँ हैं-[६२]

तवज्जह :- इसमें गुरु शिष्य को अपने सन्मुख बिठाकर एक सास में १०१ बार अल्लाह का ध्यान कराता है।

जिक्र जेहर :- यह साधना गोपनीय है। साधक को आसन में विठाकर (वज्रासन) 'बिसमिल्ला' या 'ला इलाहइल्लिल्लाह' को तीन बार पढ़ाता है।

जिक्रे पासे अनफास :- इस साधना पद्धति में अनफास अर्थात् भीतर के सास के साथ 'ला इलाह' और बाहरी सांस के साथ 'इल्लिल्लाह' का स्मरण करता है।

हब्जे दम :- यह साधना पद्धति सूफियों को अधिक मान्य हैं। इसमें प्राणायाम की प्रक्रिया को अधिक महत्त्व दिया है।

शगले नसीर :- प्रात· और शाम के समय जानुओं पर बैठकर आंखों की दृष्टि नासिकाग्र भाग पर लगाते हैं। ध्यान को अधिक महत्त्व दिया है।

शगले महमूदा :- भौंहों के बीच दृष्टि लगाये ध्यान करना।

यों तो सूफी मत में अनेक साधना पद्धतियाँ हैं पर पहले बताये हुए चार साधना मार्ग को ही अधिक महत्त्व देते हैं। सूफी साधना का अग्रण्य 'गुरु' है। गुरुकृपा से चार मंजिल पार की जा सकती हैं। यही मुख्य साधना पद्धतियाँ हैं।

संसार में स्थान और व्यक्तिआस्था भेद के अनुसार अनेकानेक साधना पद्धतियाँ हैं। ऊपर हमने नमूने के तौर पर ही कुछ साधनाओं का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया है। अगले अध्याय में हम ध्यान संबधी जैन साधना साहित्य का आकलन प्रस्तुत करेंगे।

संदर्भ सूचि

१ ण्यासश्रन्थो युच । अष्टाध्यायी, ३/३/१७

२ सस्कृत शद्बार्थ - कौस्तुभ, पृ १२४८

३ इय विसृष्टिर्यत आ बभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्ष परमे व्योमन् त्सो अंगवेद यदि वा न वेद ।।

ऋग्वेद, १०/१२९/७

४ क) इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु - रथो दिव्य स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एक सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि यमं मातरिश्वानमाहु ।।

ऋग्वेद, १/१६४/४६

ख) तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमा ।
तदेव शुक्र तद् ब्रह्मताऽआप स प्रजापति ।।

यजुर्वेद, ३२/१

५ (क) ऋग्वेद, १०/९०/१६

(ख) वैदिक साहित्य और संस्कृति (आ बलदेव उपा) पृ ४९३

(ग) योगस्थ कुरु कर्माणि सग त्यक्त्वा धनजय ।
सिद्ध्यसिद्धयो समो भूत्वा समत्व योग उच्यते ।।

गीता, २/४८

(घ) यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाक महिमान- सचन्त यत्र पूर्वे साध्या सन्ति देवा ।।

ऋग्वेद, १/१६४/५०

६ यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चित्तश्चन ।
स धीना योगमिन्वति ।। ऋग्वेद, १/१३/७

७ (क) पशून् पाहि, गा मा हिंसी , अजा मा हिंसी ।
आवि (भेड) मा हिंसी , इमं मा हिंसी , द्विपादं पशुम् ।
मा हिंसी एक शफ पशुम्, मा हिंस्यात् सर्वभूतानि ।।

यजुर्वेद, १३/४७-४८

(ख) मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् ।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे ।।

यजुर्वेद, ३६/१८

८ (क) योऽस्मान् दृष्टि यं वयं द्विष्मस्त वो जम्भे दध्म ।

अथर्ववेद, ३/२७/१

(ख) संगच्छध्वं सवदध्व सं वो मनासि जानताम् ।
देवा भाग यथा पूर्वे सजानाना उपासते ।।
समानी व आकूति समाना हृदयानि व ।
समानमस्तु वो मनो यथा व सुसहासति ।।

ऋग्वेद, १०/१९१/२,४

(ग) सज्ञानं न स्वेभि सज्ञान मरणेभि ।
सज्ञानमश्वि ना युवमिहास्मासु नि यच्छतम् ।।
स जानामहै मनसा स चिकित्वा मा युत्स्महि मनसा दैव्येन ।
मा घोषा उत्थुर्बहुले विनिर्हते मेदु पप्तदिन्द्रस्याहन्यागते ।।

अथर्ववेद, ७/५२/१-२

(घ) यन्नूनमश्यां गतिं मित्रस्य याया पथा ।
अस्य प्रियस्य शर्मण्यहिंसानस्य सश्चिरे ।।

ऋग्वेद, ५/६४/३

९ (क) सत्यं च समता चैव दमश्चैव न संशय ।
अमात्सर्व क्षमा चैव - ही स्तितिक्षाऽनसूयता ।।
त्यागो ध्यानमथार्थत्वं धृतिश्च सतत स्थिरा ।
अहिंसा चैव राजेन्द्र सत्याकारास्त्रयोदशं ।।

महाभारत, शान्तिपर्व, १६२/८-९

(ख) वर्जयेन्मधु मांस च गन्ध माल्य रसान् स्त्रिय· ।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ।।

मनुस्मृति, २/१७८

१०. (क) कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा ,।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।।

यजुर्वेद ४०/२

(ख) इच्छन्ति देवा सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति ।
यान्ति प्रमादमतन्द्रा ।। ऋग्वेद, ८/२/१८

(ग) न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवा ।। ऋग्वेद, ४/३३/११

(घ) गीतारहस्य अथवा कर्मयोग शास्त्र (बाल गंगाधर तिलक) पृ ५३

(च) कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सगोऽस्त्वकर्मणि ।। गीता, २/४७

११ (क) ' ज्ञानयोग कर्मयोग इति योगो द्विधा मत ।

१० योगोपनिषद (विशिखिवाह्मणोपनिषद २३) पृ १२७

(ख) विद्यां वाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं स ह ।
अविद्याया मृत्यु तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ।।

१०८ उपनिषद, (ज्ञानखड) 'इशावास्योपनिषद्' पृ. १७

(ग) आत्मा वा अरे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो
मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेद सर्व विदितम्।।

बृहदारण्यकोपनिषद्, २/४/५

(घ) तस्यै तपो दम कर्मेति प्रतिष्ठा वेदा
सर्वांगानि सत्यमायतनम् ।

१०८ उपनिषद् (ज्ञानखंड) 'केनोपनिषद्' पृ २६

१२ (क) भजन भक्ति ।
(ख) भजन्ति अनया इति भक्ति ।
(ग) भज्यते अनया इति भक्ति ।

कल्याण-भक्ति अंक, (गोरखपूर), पृ ४१

(घ) पा सू ३/३/९४

१३ श्रवण कीर्तनं विष्णो स्मरण पादसेवनम् ।
अर्चन वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ।।
इति पुसार्पिता विष्णोर्भक्तिश्चेन्नवलक्षणा ।

श्रीमद्भागवत, ७/५/२३-२४

१४ योगो हि बहुधा ब्रह्मन् भिद्यते व्यवहारत ।
मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगक ।।

१०३ उपनिषद् (ब्रह्म-विद्या-खन्ड) 'योगतत्त्वोपनिषद्' पृ ३८

१५ शास्त्रोक्ताना नाममन्त्राणा जपेन भगवद्रूपाना च ध्यानेन चित्तवृत्तिं निरुध्य मुक्तिपथाग्रेसरणप्रकारो मन्त्रयोग·। तथा च भगवतो दिव्याना नाम्ना रूपाना चावलम्बनेन चित्तवृत्तेर्निरोधाय यावत्य क्रिया उपदिष्टा सन्ति, ता सर्वा एव मन्त्रयोगेऽन्तर्भवन्ति ।।

पुराणपर्यावलोचने (भा १) पृ ३२५-६

१६ (क) भावसशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते । गीता १७/१६

(ख) आत्म-परीक्षण हि नाम मनुष्यस्य प्रथम समुन्नतेर्मूलम् ।

प्रबन्ध प्रकाश, भा २, पृ ५१ (उद्धृत मन्त्रयोग) पृ ४१

१७ (क) एतत्सख्यान्वित मन्त्र जीवो जपति सर्वदा ।
अजपा नाम गायत्री योगिना मोक्षदा सदा ।।

१०८ उपनिषद् (सा ख) 'योग चूडामणि उप ' पृ ७०

(ख) ध्यान योग रहस्य (स्वामि शिवानन्द) पृ १२६-७

(ग) 'सोऽह मन्त्राध्याय पूर्ण' । आत्मा राम स्वयें होसी ।

आत्मप्रभा (द ल निरोखेकर) पृ १३७

(घ) सोऽहं ध्यानें विषय हनन । सोऽह ध्याने कर्म दहन ।
सोऽह खडी जन्म मरण । सोऽहं करी अजरामर ।।

आत्मप्रभा (द ल निरोखेकर) पृ १३८

१८ (क) कुण्डलिनी योग तत्त्व (दीवान गोकुलचंद कपूर) पृ २३

(ख) मूलकन्दाद् ब्रह्मरन्ध्रपर्यंतं विस्तृतायां सुषुम्णानाड्यां या षड् ग्रन्थय सन्ति, ता· षट् चक्राण्युच्यते । योगक्रियाभिर्मूलाधारे स्थितामनुबुद्धा कुण्डलिनीं समुद्बोध्य षट्चक्रद्वारा सुषुम्णापथे प्रवाहितां कृत्वा ब्रह्मरन्ध्रोपरि सहस्रदले स्थिते परमशिवे लय एव लययोगस्योद्देश्यम् ।

पुराणपर्यालोचनम् भा १ पृ ३२७

१९ (क) कुण्डलिनी योग तत्त्व पृ २३

(ख) अगानि लययोगस्य नवैवेति पुराविद ।
यमश्च नियमश्चैव स्थूलसूक्ष्मक्रिये तथा ।।
प्रत्याहारो धारणा च ध्यान चापि लयक्रिया ।
समाधिश्च नवागानि लययोगस्य निश्चितम् ।।
स्थूल देहप्रधाना वै क्रिया स्थूलाभिधीयते ।
वायुप्रधाना सूक्ष्मा स्याद्ध्यानं बिन्दुमय भवेत्।।
ध्यानमेतद्धि परमं लययोगसहायकम्।
लययोगानुकूला हि सूक्ष्मा या लभ्यते क्रिया ।।
जीवन्मुक्तोपदेशेन प्रोक्ता सा हि लयक्रिया ।
लयक्रियासाधनेन सुप्ता सा कुलकुण्डली ।।
प्रबुद्धय तस्मिन् पुरुषे लीयते नात्र संशय ।
शिवत्वमाप्नोति तदा साहाय्यादस्य साधक ।।
लयक्रियाया ससिद्धौ लयबोध प्रजायते ।
समाधिर्येन निरत कृतकृत्यो हि साधक ।।

योगशास्त्र, उद्धृत कल्याण - साधना अक, पृ १३३

२० (क) सूक्ष्मा योगक्रिया या स्याद ध्यानसिद्धिं प्रसाध्य वै ।
समाधिसिद्धो साहाय्य विदधाति निरन्तरम् ।।
दिव्यभावयुता गोप्या दुष्प्राप्या सा लयक्रिया ।
महर्षिभिर्विनिर्दिष्टा योगमार्गप्रवर्तकै ।।
लयक्रिया प्राणभूता लययोगस्य साधने ।
समाधिसिद्धिदा प्रोक्ता योगिभिस्तत्त्वदर्शिभि ।।
षट्चक्र षोडशाधाराद्विलक्ष्य व्योमपंचकम् ।
पीठानि चोनपचाशज्ज्ञात्वा सिद्धिरवाप्यते ।।
समाधिसिद्धिर्ध्यानस्य सिद्धिश्चाप्यनया भवेत् ।
आत्मप्रत्यक्षतां याति चैतसा योगविज्जन ।।

लययोग सहिता, उद्धृत, कल्याण साधना अंक पृ १३३

(ख) गोरक्ष सहिता (डॉ चमनलाल गौतम) २/६३-७४

(ग) सिद्ध-सिद्धांत पद्धति (गोरखनाथ) २/१०-२५

(घ) योगोपनिषद (मण्डलब्राह्मणोपनिषदि प्रथम ब्राह्मणे द्वितीय खण्ड.) पृ २७७

(ङ) सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति (गोरखनाथ) २/२६-२९
" " " " २/३०
" " " " २/३१

२१ (क) हकार कीर्तित· सूर्यष्ठकारश्चद्र उच्यते ।
सूर्यचद्रमसोर्योगात् हठयोगो निगद्यते ।।

सिद्ध-सिद्धान्त पद्धति (गोरखनाथ)

(ख) द्वादशांगुलपर्यंतं नासाग्रे सस्थितं विधुम् ।
हृदये भास्करं देवं य. पश्यति स पश्यति ।।

योग वासिष्ट 'निर्वाणप्रकरण' (उद्धृत श्रीयोगस्कौतुभ पृ ६८)

२२ (क) षट्कर्मणा शोधन च आसनेन भवेत् दृढम् ।
मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता ।।
प्राणायामालाघव च ध्यानात्प्रत्यक्षमात्मन ।
समाधिना त्वलिप्तत्व मुक्तिश्चैव न सशय ।।

योगशास्त्र, उद्धृत, साधना कल्याण अक, पृ १३२

(ख) तत्र धौति-बस्ति-नेति-त्राटक-नौलि-कपालभातिनामिकै. षट्कर्मभिर्देहशुद्धि , आसनेन दृढता, मुद्रया स्थिरता, प्रत्याहारेण धीरता, प्राणायामैर्लघुता ध्यानेनात्मन प्रत्यक्षम्, समाधिना च निर्लेपता, ततो मुक्ति सम्पद्यते ।

पुराण पर्यालोचन (प परि.) पृ. ३२७

२३ राजत्वात् सर्वयोगाना राजयोग इति स्मृत ।

कल्याण साधना अक, पृ १३४

२४ (क) सृष्टिस्थितिविनाशानां हेतुता मनसि स्थिता ।
तत्सहायात्साध्यते यो राजयोग इति स्मृत ।।
अन्त करणभेदास्तु मनो बुद्धिरहकृति ।
चित्तञ्चेति विनिर्दिष्टाश्चत्वारो योगपारगै ।।
तदन्त करणं दृश्यन्नात्मा द्रष्टा निगद्यते ।
विश्वमेतत्तयो कार्यकारणत्व सनातनम् ।।
दृश्यद्रष्ट्रोश्च सम्बन्धात्सृष्टिर्भवति शाश्वती ।
चांचल्य चित्तवृत्तीना हेतुमत्र विदुर्बुधा ।।
वृत्तीर्जित्वा राजयोग स्वस्वरूपं प्रकाशयेत् ।
विचारबुद्ध प्राधान्य राजयोगस्य साधने ।।
ब्रह्मध्यान हि तद् ध्यानं समाधिनिर्विकल्पक ।

तेनोपलव्धसिद्धिर्हि जीवन्मुक्त प्रकथ्यते ।।

योगशास्त्र, कल्याण साधना अंक पृ १३४

(ख) विवेक चुडामणि । - गा १५-१६

(ग) ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्या निरालम्बतया स्थिति॰ ।

\- - - - - - - - -

निर्विकारतया वृत्या ब्रह्मकारतया पुन॰ ।

वृत्तिविस्मरणं सम्यक् समाधिरभिधीयते ।।

योगोपनिषद 'तेजोविन्दूपनिषदि प्रथमोध्याय

गा ३५-३६' पृ ५३

२५. (क) कलाषोडशकोपेतराजयोगस्य षोडश ।

सप्त चांगानि विद्यन्ते सप्तज्ञानानुसारत ।।

विचारमुख्यं तज्ज्ञेयं साधनं बहु तस्य च ।

धारणांगे द्विधा ज्ञेये ब्रह्मप्रकृति भेदत ।।

ध्यानस्य त्रीणि चांगानि विदु॰ पूर्वे महर्षय ।

ब्रह्मध्यान विराट्ध्यान चेशध्यानं यथाक्रमम् ।।

ब्रह्मध्याने समाप्यन्ते ध्यानान्यन्यानि निश्चितम् ।

चत्वार्थ्यंगानि जायन्ते समाधेरिति योगिन ।।

सविचारं द्विधाभूत निर्विचारं तथा पुन ।

इत्थ संसाधन राजयोगस्यागानि षोडश ।।

कृतकृत्यो भवत्याशु राजयोगपरो नर॰ ।

मन्त्र हठे लये चैव सिद्धिमासाद्य यत्नत ।।

पूर्णाधिकारमाप्नोति राजयोगपरो नर॰ ।

योगशास्त्र, उद्धृत, कल्याण साधना अक, पृ १३४

२६. साधन राजयोगस्य धारणाध्यानभूमित॰ ।

आरभ्यते समाधिर्हि साधनं तस्य मुख्यत ।।

समाधिभूमौ प्रथम वितर्कः किल जायते ।

ततो विचार आनन्दानुगता तत्परा मता ।।

अस्मितानुगता नाम ततोऽवस्था प्रजायते ।

विशेषलिंगं त्वविशेषलिंगं लिंगं तथालिंगमिति प्रभेदान् ।।

वदन्ति दृश्यस्य समाधिभूमिविवेचनायां पटवो मुनीन्द्रा ।

हेया अलिंगपर्यन्ता ब्रह्माहमिति या मति॰ ।।

निर्विकल्पे समाधौ हि न सा तिष्ठति निश्चितम् ।

द्वैतभावास्तु निखिला विकल्पश्च तथा पुन ।

क्षीयन्ते यत्र सा ज्ञेया तुरीयेति दशा बुधै ।।
समाधिसाधन शास्त्राभ्यासतो न हि लभ्यते ।
गुरोर्विज्ञाततत्वात्तु प्राप्तुं शक्यमिति ध्रुवम् ।।

राजयोग सहिता, उद्धृत कल्याण साधना अक पृ १३५

२७ (क) श्री पुष्करमुनि अभिनन्दन ग्रन्थ, खड १, पृ १००

(पं रूद्रदेव त्रिपाठी)

(ख) आगत शिववक्त्रेभ्यो, गतं च गिरिजामुखे ।
मत च वासुदेवस्य, तत् आगम उच्यते ।।

ऊद्धृत, श्री पुष्करमुनि अभिनन्दन ग्रन्थ, खड १, पृ १०१

२८ (क) अस्य वामस्य सूक्त तु जपेश्चान्यत्र वा जले ।
ब्रह्म इत्यादिक दग्ध्वा विष्णुलोकं स गच्छति ।। ऋग्विधान

उद्धृत, कल्याण, शक्ति अक, पृ १४९

(ख) अस्त्रेमा अनेमा अनेद्या अनवद्या अनभ्यासास्ता ,
उक्थ्य सुनीथ पाक वाम वयनमिति दश प्रशस्य नामानि ।।

उद्धृत, कल्याण, शक्ति अक, (गोरखपूर) पृ १४९

(ग) वामो मार्ग परम गहनो योगिनामप्यगम्य ।

उद्धृत, कल्याण शक्ति अंक, पृ १४९

(घ) कुलं शक्तिरिति प्रोक्तमकुल शिव उच्यते ।
कुलाकुलस्य सम्बन्ध कौलमित्याभिधीयते ।।

योग दर्शन (प श्रीराम शर्मा) पृ ७८

२९ (क) मुख्यत पूजा के दो प्रकार बताये हैं - बाह्य और परम। साधारण पूजा में बाह्य उपकरणों का प्रयोग होता है। तन्त्र में ६४ उपचार, १८ उपचार, १६ उपचार, १० उपचार एव ५ उपचारों से पूजा का विधान है।

मन्त्रयोग (चमन गौ) पृ २८४-२८६

(ख) पूजा के अनेक प्रकार होते हैं - आवाहन, आसन, स्नान, नैवेद्य, आचमन, प्रदक्षिणा, गन्ध, अक्षत, पुष्प, धूप, दीप, बलि, पान, अर्घ्य, प्रसाद ।

मन्त्रयोग , पृ २८९-२९४

(ग) तीन प्रकार की भी पूजा है - उत्तम, मध्यम और अधम जिसे 'परा', 'परापरा' और 'अपरा' भी कहा जाता है । (वर्तमान में इसे सात्विक, राजसिक और तामसिक पूजा कहते हैं।)

मन्त्रयोग, (चमन गौ) पृ २९४

३०   कल्याण शक्ति अंक, पृ ५४५

३१   दीयते ज्ञानसद्भाव क्षीयते पशुबन्धनम्।
दानक्षपणसयुक्ता, दीक्षा तेनेह कीर्तिता ।।

दृष्टव्य पुष्कर अभिनन्दन ग्रन्थ,
ख ९, पृ १०७, तन्त्रालोक

३२   सुयधम्मतित्थमग्गो पावयणं पवयण च एगट्ठा।
सुत्त तंतं गथो पाठो (प्र पाढो) सत्थ च एगट्ठा ।।

विशेषावश्यक भाष्य प्रथम भाग २ और
'हेमचद्रसूरि' - गा १३७८

३३   श्री रामकृष्ण उपदेश (हिन्दी अनु पृ २३७) (स. मा द पृ ५४)

३४   (क) समकालीन भारतीय दर्शन, (डॉ श्रीमती लक्ष्मी सक्सेना, पृ ७७)
(ख) ज्ञानयोग, (प्रका नागपुर) पृ ३८५, ३२५-३४७
(ग) राजयोग (प्र नागपुर) भूमिका पृ ५

३५   वैराग्य साधन में ही मेरी मुक्ति नही है,
अनुराग के हजारों बधनों में ही मुझे मुक्ति का, आनद अनुभव होता है। मेरे सब भ्रम आनन्दयज्ञ की समिधा बनकर प्रकाशित होंगे और मेरी सब वासनाएँ प्रेमफल के रूप में परिपक्व होंगी।

दृष्टव्य, समकालीन भारतीय दर्शन पृ ११४

३६   योग साधना के कुछ प्रमुख तत्त्व, 'अरविन्द' पृ २१

३७   समकालीन भारतीय दर्शन पृ २५४

३८   ------ अनुपगम्य मज्झिमा पटिपदा तथा गतेन अभिसम्बुद्धाचक्खुकरणी ञाणकरणी, उपसमाय अभिञ्ञाय सम्बोधाय निब्बानाय सवत्तति ९ अयमेव अरियो अट्ठगिको मग्गो, सेय्यथीद - सम्मादिट्ठि ---- मे ---- सम्मासमाधि अय खो सा गामणि, मज्झिमा पटिपदा-------।

संयुक्त निकाय, सळायतनवग्ग, ४२/१२/१२

३९   'कतमा च, भिक्खवे, सम्मादिट्ठि? य खो भिक्खवे, दुक्खेञाण, दुक्खसमुदयेञाणं, दुक्खनिरोधञाणं, दुक्खनिरोधगामिनिया पटिपदायञाण अयं वुच्चति, भिक्खवे, सम्मादिट्ठि।

'कतमो च, भिक्खवे, सम्मासकप्पो ? यो खो भिक्खवे, नेक्खम्मसंकप्पो, अव्यापादसंकप्पो अविहिंसासंकप्पो --- अय वुच्चति, भिक्खवे सम्मासंकप्पो।

'कतमा च भिक्खवे, सम्मावाचा ? या खो भिक्खवे, मुसावादा वेरमणी, पिसुणायवाचाय वेरमणी, फरुसाय वाचाय वेरमणी, सम्फप्पलापा वेरमणी - अय वुच्चति, भिक्खवे सम्मावाचा। 'कतमो च भिक्खवे, सम्मा कम्मन्तो ? या खो भिक्खवे,पाणातिपाता वेरमणी, अदिन्नादाना वेरमणी, अब्रह्मचरिया वेरमणी - अयं वुच्चति, भिक्खवे, सम्मा कम्मन्तो।

'कतमो च, भिक्खवे, सम्माआजीवो? इध, भिक्खवे, अरियसावको, मिच्छाआजीव पहाय सम्माआजीवेन जीवित कप्पेति -- अय वुच्चति, भिक्खवे, सम्मा आजीवो।

'कतमो च भिक्खवे, सम्माआयामो? इध, भिक्खवे, भिक्खु अनुप्पन्नान पापकान अकुसलान धम्मानं अनुप्पादाय छन्द जनेति वायमति विरिय आरभति चित्त पग्गण्हाति, पदहति, उप्पन्नान, पापकान अकुसलान धम्मान पहानाय छन्द जनेति-- पे - अनुप्पन्नान कुसलान धम्मान उप्पादाय छन्द जनेति --पे--उप्पन्नान कुसलान धम्मान ठितिया असम्मोसाय भिय्योभावाय वेपुल्लाय भावनाय पारिपूरिया छन्द जनेति वायमति विरिय आरभति चित्त पग्गव्हाति पदहति -- अय वुच्चति, भिक्खवे सम्मावायामो।

'कतमो च भिक्खवे, सम्मासति? इध, भिक्खवे, भिक्खुकाये कायानुपस्सी विहरति आतापी सम्पजानो सतिमा, विनेय्य लोके अभिज्झादोमनस्स, वेदनासु वेदनानुपस्सी विहरति आतापी सम्पजानो सतिमा, विनेय्य लोके अभिज्झादोमनस्स, चित्ते चित्तानुपस्सी विहरति आतापी सम्पजानो सतिमा, विनेय्य लोके अभिज्झादोमनस्स - अय वुच्चति, भिक्खवे सम्मासति।

'कतमो च भिक्खवे, सम्मासमाधि? इध, भिक्खवे, भिक्खु विविच्चेव कामेहिं विविच्च, अकुसलेहिं धम्मेहिं सवितक्क सविचार विवेकज पीति सुख पठम झान (पठम-ज्झान) उपसम्पज्ज विहरति वितक्कविचारान वूपसमा अज्झत्तं सम्पसादन चेतसो एकोदिभाव अवितक्क अविचार समाधिज पीतिसुख दुतिय झान उपसम्पज्ज विहरति। पीतिया च विरागा उपेक्खको च विहरति सतो च विरागा उपेक्खको च विहरति सतो च सम्पजानो, सुख च कायेन पटिसवेदेति, य त अरिया आचिक्खन्ति - 'उपेक्खको सतिमा सुखविहारी' ति ततिय झानं उपसम्पज्ज विहरति। सुखस्स च पहाना दुक्खस्स च पहाना पुब्बेव सोमनस्स-दोमनस्सान अत्थगमा अदुक्खमसुख उपेक्खासतिपारिसुद्धि चतुत्थ झान उपसम्पज्ज विहरति - अय वुच्चति, भिक्खवे, सम्मासमाधी ति॥

सयुक्त निकाय, महावग्ग, ४५/१/१

४० (क) 'इमस्सेव खो एत, आनन्द परियायन वेदि यथा इमस्से

अरियस्स अट्ठंगिकस्स मग्गस्स अधिवचनं -
'ब्रह्मयान' इति पि 'धम्मयान' इति पि,
'अनुत्तरो संगामविजयो' इति पीति ।।
सयुक्त निकाय, महावग्ग, जाणुस्सोणिब्राह्मण सुत्त, ४५/४/४

(ख) इमिना अरियेन अट्ठगिकेन मग्गेन समन्नागतो अयं वुच्चति सोतापन्नो
सयुक्तनिकाय, महावग्गपालि, ५५/५/६

४१ (क) 'अन्तो जटा बहि जटा जटाय जटिता पजा ।
तं त गोतम पुच्छामि, को इम विजटये जट ।।
सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो, चित्त पञ्ञ च भावय ।
आतापी निपक्को भिक्खु, सो इम विजटये जट ।।
संयुक्तनिकाय १ - २३-२९

४२ विशुद्धिमग्ग सीलनिद्देसो - १७-----१९, १४/२/३

४३, (क) बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, डॉ गोविन्द चद पाण्डेय, पृ ३६२/३

(ख) जातक, खण्ड - १, पृ ७९-८५ (भदन्त आनन्द कौशल्यायन)

(ग) पश्यता बोधिमासन्ना सत्वार्थस्य च साधन ।
तीव्र उत्पद्यते मोदो मुदिता तेन कथ्यते ।।
दौ शील्याभोग वैमल्याद्विमला भूमिरुच्यते ।
महाधर्मावभासस्य करणाच्च प्रभाकरी ।।
अर्चिर्भूता यतो धर्मा बोधिपक्षा प्रदाहका ।
अचिष्मतीति तद्योगात्सा भूमिर्द्वयदाहत ।।
सत्वानां परिपाकश्च स्वचित्तस्य च रक्षणा ।
धीमभ्दिर्जीयते दु ख दुर्जया तेन कथ्यते।।
अभिमुख्याद् द्वयस्येह ससारस्यापि निर्वृते ।
उक्ताह्यभिमुखी भूमि प्रज्ञापारनिताश्रयात्।।
एकायनपथश्लेषाद् भूमिर्दुरंगमा मता ।
द्वय सज्ञा विचलनादचला च निरुच्यते ।।
प्रतिसविन्मति साधुत्वाद् भूमि साधुमती मता ।
धर्ममेघाद्वयव्याप्तेर्धर्माकाशस्य मेघवत् ।।
बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास,
डॉ गोविन्दचंद्र पाण्डेय, पृ ३६२-३

(घ) तिट्ठ चर निसिन्नो वा, सयानो वा यावतस्स विगतमिद्धो ।

एवं सति अदिट्ठेयूय, ब्रह्ममेतं विहारं इधमाहु ।।

सुत्तनिपात, ८/९

(ङ) चत्तारो सतिपट्ठाना, चत्तारो सम्मप्पधाना, चत्तारो
इद्धिपादा, पचिन्द्रियानि, पच बलानि, सत्त बोज्झंग,
आरियो अट्ठगिको मग्गो - ति हि इमे सत्ततिस धम्मा
बुज्झनट्ठेन वोधो ति लद्धनामस्स आरियमग्गस्स पक्खे भवता
बोधिपक्खिया नाम । विशुद्धिमग्ग, ३/२२/१८

(च) सद्धाय तरती ओघं, अप्पमादेन अण्णवं ।
विरियेन दुक्ख अच्चेति, पंञाय परिसुज्झति । सुत्तनिपात, १०/४

(छ) यत्थ च सव्वसो दुक्ख, असेसं उपरूज्झति ।
ये च दुक्ख पजानन्ति, अथो दुक्खस्स सम्भवं । तंच मग्गं पजानन्ति
दुक्खुपसमगामिनं ।
चेतोविमुक्तिसम्पन्ना, अथो पञाविमुत्तिया ।
भब्बा ते अन्तकिरियाय, न ते जातिजरूपत्ता ति ।

सुत्तनिपात, ३८/९-३

(ज) सर्वैं जहाति यै सर्वैरपि दु खसमुदयनिरोधमार्ग क्षान्तिज्ञाननैर्विरज्यते,
यै क्लेशान् प्रजहाति । अभिधम्म कोश तृ भा

(झ) प्रतिसम्भिदायें चार हैं-अर्थ, धर्म, निरुक्ति और प्रतिभान
विशुध्दिमग्ग (हिन्दी -भा १) पृ ६

(ञ) ये केचि पाणभूतत्थि, तसा वा थावरा वा अनवसेसा ।
दीवा वा ये महन्ता वा, मज्झिमा रस्सकाणुकथूला ।।
दिट्ठा वा येव अद्दिट्ठा, ये च दूरे वसन्ति अविदूरे ।
भूता वा संभवेसी वा, सब्बे सत्ता भवन्तु सुश्वितत्ता ।।

सुत्तनिपात्त, ८/४-५

४४. कतमं च, भिक्खवे, असखतं? यो, भिक्खवे, रागक्खयो, दोसक्खयो, मोहक्खयो इद वुच्चति, भिक्खवे असगत । कतमो च असखतगामि मग्गो? समथो च विपस्सना च । अय वुचति, भिक्खवे, असंखतगामिमग्गो --।

सयुक्तनिकाय, सलायतन वग्ग, ४३/२/२

४५. विशुद्धिमग्ग (आचार्य बुद्ध घोष) पृ ९९

४६ 'कतमे चत्तारो ?' इध, भिक्खवे, भिक्खु काये कायानुपस्सी विहरति आतापी

सम्पजानो सतिमा विनेय्य लोके अभिज्झादोमनस्सं वेदनासु वेदनानुपस्सीविहरति, आतापी सम्पजानो, सतिमा विनेय्य लोके अभिज्झा-दोमनस्स, चित्ते चित्तानुपस्सी विहरति, आतापी सम्पजानो, सतिमा विनेय्य लोके अभिज्झादोमनस्सं, धम्मेसु धम्मानुपस्सी विहरति, आतापी सम्पजानो सतिमा विनेय्य लोके अभिज्झादोमनस्स ।

मज्झिम निकाय (मूल वण्णासक, मज्झिम पण्णासक)
ले भिक्खु ज काश्यप १०/९/१-२पृ ७६

४७ इधानंद, भिक्खुं अरूञ्ञतो वा रुक्खमूलभतो वा सुजाञाञतो वा । निसीदति पल्लुकं आभुजित्वा उजु काय पणिधाय परिमुखं सति उपट्ठपेत्वा । सो सतो व अस्ससति, सतो व पस्ससति .. पे ''पटि निस्सग्गानुपस्सी अस्ससिमामी' ति सिक्खति 'पटिनिसग्गानुपस्सी अस्ससिमामी' ति सिक्खति । एवं भावितो खो, आनन्द आनापानस्सति समाधि एवं बहुली कतो महप्फलो होति महानिससो'' 'यस्मि समये, आनन्द भिक्खु दीघं वा अस्ससन्तो' दीघं अस्ससामी 'ति पजानामि दीघ वा पस्ससन्तो दीघ पस्ससामि' ति पजानातिरस्स वा अस्सअस्ससन्तो' रस्स अस्ससामि' ति पजानाति रस्स वा पस्ससन्तो' रस्स पस्ससामि ति पजानाति; सव्वकायप्पटिसवेदी अस्ससिसामि, 'ति सिक्खति' सव्वकायपटिसवेदि पस्ससिसामि, ति सिक्खति, 'परसम्भय काय सखार अस्ससिसामि ति सिक्खति पस्सम्भय काय सखार पस्ससिसामि ति सिक्खति-कायेकायानुपस्सी आनन्द भिक्खु तस्मि समये विहरति आतापी सम्पजनो सतिमा, विनेय्यलोके अभिज्झादोमनस्सत किस्स हेतु ? कार्यजतराह, आनन्द एत्त वदामि यदि इ - अस्सासपस्सास। तस्मातिहानन्द, काये कायानुपस्सी भिक्खु तस्मि समये विहरति आतापी सम्पजानो सतिमा, विनेय्यलोके अभिज्झादोमनस्स ।

सयुत्तनिकाय 'महावग्ग' ५४/१०/१०

४८ यस्मि समये आनन्द भिक्खु 'पितिप्पहि संवेदि अस्ससिस्सामी' ति सिक्खति 'पीतिप्पटिसंवेदि पस्ससिसामी' ति सिक्खति 'सुखप्पटिसवेदी अस्ससिस्सामी ति सिक्खति' 'चित्तसखारप्पटि सवेदि अस्ससिस्सामी' ति सिक्खति 'परसम्भ चित्तसखारप्पटि सवेदि पस्ससिस्सामि' ति सिक्खति ' परसम्भय चित्तसखार पस्ससिसामि ति सिक्खति वेदनासु वेदनानुपस्सी आनद भिक्खु तस्मि समये विहरति आतापी सम्पजानो-सतिमा विनेय्य लोके अभिज्झादोमनस्स । त किस्स हेतु ? वेदनाञतराह , आनद एतं वदामि, यदि दं अस्सासपस्सासान साधुक मनसिकारं । तस्मातिहानद वेदनानुपस्सी भिक्खु तस्मि समये विहरति आतापी सम्पजानो सतिमा, विनेय्य लोके अभिज्झादोमनस्स । 'यस्मि समये आनद भिक्खु' चित्तप्पटिसंवेदी अस्ससिसामी, ति सिक्खति। 'चित्तप्पटिसवेदी पस्ससिस्सामी' ति

सिक्खति। अभिषमोदय चित्तं पे समादहं चित्तं 'विमोचय' चित्तं अस्ससिस्सामी ति सिक्खति', विमोचय चित्तं अस्ससिस्सामी ति सिक्खति', विमोचय चित्त पस्ससिस्सामी' ति सिक्खति चित्ते चित्तानुपस्सी आनद भिक्खु, तस्मि समये विहरति आतापी सम्पजनो सतिमा, विनेयूय लोके अभिज्झादोमनस्स। त किस्स हेतुं ? नाह, आनद मुट्ठसतिस्स असम्पजानस्स आनापानस्ससति समाधि भावनं वदामि । तस्मातिहानद, चित्ते चित्तानुपस्सी भिक्खु तस्मि समये विहरति आतापी सम्पजानो सतिमा विनेयूय लोके अभिज्झादोमनस्सं 'यस्मि समये आनद भिक्खु' अनिच्चानुपस्सी अस्ससिस्सामी 'ति सिक्खति' ---पे--- विरागानुपस्सी- -निरोधानुपस्सी -- पटिनिस्सग्गानुपस्सी अस्ससिसामी 'ति सिक्खति' पटिनिस्सग्गानुपस्सी पस्ससिस्सामी 'ति सिक्खति' धम्मेसु धम्मानुपस्सी आनद भिक्खु तस्मि समये विहरति आतापी सम्पजानो सतिमा विनेयूय लोके अभिज्झादोमनस्स । सो य त होति अभिज्झादोमनस्सानपहानं त पञ्ञाय दित्त्वा साधुकं अज्झुपेक्खिता होति । तस्मातिहानंद धम्मेसु धम्मानुपस्सी भिक्खु तस्मि समये विहरति आतापी, सम्पजानो सतिमा, विनेयूय लोके अभिज्झा-दोमनस्स।

सयुक्त निकाय, वर्ग ५ वां - महावग्ग, ५४/१०/१०

४९ (क) तीणिमानि, भिक्खवे, अकुसलमूलानि । कतमानि तीणि ?
लोभो अकुसलमूल, दोसो अकुसलमूलं, मोहो अकुसलमूलं ।

सुत्तपिटके, अगुत्तरनिकाय, ३/७/९, पृ १८६-

(ख) कतमे धम्मा नीवरणा? छ नीवरणाकामच्छद नीवरण, व्यापादनीवरण, थिनमिद्धनीवरण, उद्धच्चकुक्कुच्चनीवरण, विचिकिच्छानीवरण, अविज्ज्ञानीवरण ।

अभिधम्मपिटके, धम्मसगिणिपालि, ४/२/४८

५० (क) विसुद्धि मग्ग, खन्धनिद्देसो, पृ ३८० -

(ख) रूपावचर पन झानग योग भेदतो पंचविध होति । सेयूयथीदवितक्क - विचारपीति सुख समाधियुत्त पठम, ततो अतिक्कन्तवितक्क दुतिय, ततो अतिक्कन्तविचार ततियं, ततो विरत्तपीतिक चतुत्थ अत्यंगतसुख उपेक्खा- समाधियुत्त पचम ति ।
अरूपावचर चतुन्नं आरूप्पान योगवसेन चतुब्बिधं ।
वुत्तप्पकारेन हि आकासानचायतनज्झानेन सम्पयुत्त पठम, विञ्ञाणचायतनादीहि दुतिय-ततिय-चतुत्थानि ।

विसुद्धि मग्ग 'खग्गनिद्देसो' पृ ३८२

(ग) सयुक्त निकाय महावग्ग ५३/१/१२/१-१२
-" - - -" - षळायतनवग्ग ४०/२/२, ४०/३/३, ४०/४/४,
४०/५/५, ४०/६/६, ४०/७/७, ४०/८/८

५१ लोकुत्तर चतुमग्गसम्पयोगतो चतुब्बिध ति।
विसुद्धिमग्गा, खग्धनिद्देसो, पृ ३८२

५२. ध्यान सम्प्रदाय (डॉ भरतसिंह उपाध्याय) पृ. १५

५३ सवर - विणिज्जराओ मोक्खस्स पहो, तवो पहो तासिं।
झाणं च पहाणग तवस्स, तो मोक्खहेऊयं ॥
ध्यान शतक, जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण, हरिभद्र टीका, गा ९६

५४ (क) धर्म-दर्शन की रूप रेखा 'ताओ धर्म' पृ १६६ खण्ड २
(ख) ताओ और कन्फ्यूशियस धर्म क्या कहता है ? पृ १९-२३

५५ -" - - " - - -" - - -" - - " पृ ४८, ५७ (श्री कृष्णदत्त भट्ट)

५६ (क) हुमतनॉम् हूक्खनॉम् हूवर्‌श्तनॉम अवेस्ता यस्न हा, ३५/२
दृष्टव्य, पारसी धर्म क्या कहता है ? पृ ४६
(ख) हुमत हूख्त हूर्‌श्त। दृष्टव्य, पारसी धर्म क्या कहता है?
'श्रीकृष्णदत्त भट्ट' पृ ११

५७ यहुदी धर्म क्या कहता है ? पृ १३, १४, २२, २३

५८ धर्म दर्शन की रूपरेखा (डॉ हरेन्द्रप्रसाद सिन्हा) 'ईसाई धर्म' पृ ८३, ८६

५९. (क) 'ला इलाह इल्लऽल्लाह' इस्लाम धर्म क्या कहता है ? पृ. ९
(ख) धर्म दर्शन की रूपरेखा, खण्ड - २, 'डॉ हरेन्द्रप्रसाद सिन्हा'
पृ ६३-६४

६०. इस्लाम धर्म क्या कहता है? (श्रीकृष्णदत्त भट्ट) पृ ५९-६०

६१ (क) कल्याण साधना अक (गोरखपुर) पृ ६१०
(ख) इस्लाम धर्म क्या कहता है? पृ ६०
(ग) जिनवाणी का साधना अक पृ १७८-१७९

६२ (क) कल्याण साधना अक (गोरखपुर) पृ ६१०
(ख) इस्लाम धर्म क्या कहता है? पृ ६०
(ग) जिनवाणी का साधना अक पृ १७८

अध्याय २

ध्यान साधना संबंधी जैन साहित्य

जैन साधना के स्वरूप का आकलन करने के पूर्व यह आवश्यक है कि हम इस साधना के आधारभूत साहित्य का एक परिचयात्मक आकलन करें। जैन धर्म के आधार-भूत साहित्य को हम अपनी दृष्टि से दो भागों में विभाजित करके देख सकते हैं -

१) मूलभूत आगम साहित्य और

२) व्याख्यात्मक आगम साहित्य

जिसके अन्तर्गत निर्युक्तियाँ, भाष्य, चूर्णियाँ और टीकाएँ हैं। आगमेतर साहित्य के अन्तर्गत हम उन जैनाचार्यों के साहित्य का समावेशन कर सकते हैं जिन्होंने भले ही प्राचीन आगम साहित्य का आधार तो लिया है लेकिन उन्होंने अपने अनुभवों को भी, साहित्य में समाहित किया है। आगे के पृष्ठों में हम इसी क्रम से सबधित जैन साहित्य का सक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करने का प्रयास कर रहे हैं।

भारत के दार्शनिक साहित्य में जैन आगम साहित्य का विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह साहित्य जैन साहित्य का प्राचीन विश्लेषण माना जाता है। इसमें साधना साहित्य भी समाविष्ट है। जैन मान्यताओं के अनुसार भगवान् महावीर की वाणी आगम कहलाती है। दूसरे शब्दों में भगवान् महावीर की वाणी ही आगम है। आचार्य समन्तभद्र ने आगम शास्त्र के छह गुण बतलाये हैं। प्राचीन काल में श्रुत अथवा सम्यक् श्रुत, श्रुत-केवली, आगम केवली, सूत्र केवली, श्रुतस्थविर इत्यादि शब्दों का प्रयोग और सूत्र, ग्रथ, सिद्धात, उपदेश, प्रवचन, जिनवचन इत्यादि शब्द आगम के लिए प्रयुक्त हुये हैं।[१] पदार्थों के यथार्थ बोध का ज्ञान आचार सहिता से युक्त और आप्त वचन से उत्पन्न अर्थ ज्ञान आगम कहलाता है। विशेष ज्ञान भी आगम का विषय है। आगम में गणिपिटक अथवा द्वादशागी का प्रमुख स्थान है। यह स्वत प्रमाण है। शेष आगम परत प्रमाण है।[२] 'पूर्व' और 'अग' के रूप में आगम साहित्य का वर्गीकरण किया गया है। पूर्व में चौदह ही सख्या हैं। इनमें श्रुत अथवा शब्द ज्ञान के विषयों का विवेचन है। इनकी रचना के विषय में दो विचार धाराएँ हैं। यह साहित्य द्वादशागी से प्रथम (पूर्व) निर्मित हुआ, इसलिये

उत्तरवर्ती साहित्य रचना के लिए इसे 'पूर्व' कहा गया है। दूसरे मत के अनुसार पूर्व भगवान् पार्श्वनाथ की परपरा की श्रुतराशि है। भगवान महावीर से पूर्ववर्ती होने के कारण यह श्रुत राशि पूर्व कहलाती है। सामान्य अथवा साधारण बुद्धि वाले इसे नही समझ सकते, उनके लिए द्वादशागी की रचना की गई।[३] आगे चलकर द्वादशागी को ही व्याख्याक्रम और विषयक्रम के अनुसार चार अनुयोगों में विभाजित किया गया। व्याख्याक्रम की दृष्टि से आगम का विश्लेषण दो भागों में किया गया-[४] अपृथक्त्वानुयोग और पृथक्त्वानुयोग। आर्यरक्षित के पूर्व अपृथक्त्वानुयोग का ही प्रचलन था। उसमें प्रत्येक सूत्र की चरण-करण, धर्म, गणित और द्रव्य की दृष्टि से व्याख्या की जाती थी। इस व्याख्याक्रम की प्रणाली अत्यन्त जटिल थी। मेधावी शिष्यगण भी इसे समझने में असफल होने लगे। इसलिये आर्यरक्षित ने पृथक्त्वानुयोग का प्रवर्तन किया। और उसे विषय सादृश्य की दृष्टि से चार भागों में विभाजित किया। चरण-करणानुयोग (कालिक श्रुत, छेद श्रुत आदि), धर्मकथानुयोग (ज्ञाताधर्म कथा, उत्तराध्ययन आदि), गणितानुयोग (सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति आदि) और द्रव्यानुयोग[५] यह तो स्थूल वर्गीकरण है। इन चार अनुयोगों का दिगम्बर साहित्य में भी कुछ रूपान्तर से नाम मिलते हैं-[६] प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग (पुराण, महापुराण) (त्रिलोक प्रज्ञप्ति व तिलोक सार) (मूलाचार और द्रव्यानुयोग) प्रवचनसार, गोम्मट सार आदि।

अग प्रविष्ट और अग बाह्य रूप में भी आगम साहित्य का वर्गीकरण मिलता है। किन्तु नन्दीसूत्र में अग बाह्य के स्थान पर अनंग प्रविष्ट शब्द उपलब्ध होता है। तथा अग बाह्य ग्रथों की सामान्य सज्ञा 'प्रकीर्णक' भी प्रतीत होती है।[७] निरयावलियासूत्र के प्रारम्भिक उल्लेख में अग बाह्य के लिये 'उपाग' शब्द का प्रयोग मिलता है।[८] ठाणाग, समवायाग, अनुयोगद्वार तथा अवचूरि (पाक्षिक) तक तो अग और अग बाह्य रूप में ही आगमों का विभाजन मिलता है। उत्तरोत्तर आचार्यों के ग्रथ में भी यही क्रम मिलता है।[९] किन्तु स्मरण रहे कि सभी तीर्थंकरों के समक्ष द्वादशागी का ही स्वरूप नियत रहता है, अग बाह्य (अनग प्रविष्ट) का नही।[१०] अग बाह्य रचना दो प्रकार की है - कृत (स्वतत्र) और निर्यूहण। जो आगम पूर्वों या द्वादशागी से उद्धृत किये जाते हैं, वे निर्यूहण कहलाते हैं।[११] और भी विशेष तौर से अग बाह्य आगम साहित्य को आवश्यक, आवश्यक व्यतिरिक्त, कालिक और उत्कालिक रूप में विभाजित किया गया है।[१२]

आगम साहित्य का चतुर्थ वर्गीकरण अग, उपाग, मूल और छेद के रूप में हमारे सामने आता है। तत्त्वार्थ भाष्य में अग बाह्य के रूप में ही 'उपाग' शब्द का प्रयोग किया है।[१३] तदनन्तर आचार्य श्री चन्द्र, जिनप्रभ एव चूर्णि साहित्य में उपांग शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है।[१४] इस शब्द का प्रयोग पहले किसने किया, यह अन्वेषण का विषय

है। उपाग की तरह ही मूल और छेद का भी विषय अन्वेषण का ही है। 'छेद सूत्र' का सर्वप्रथम प्रयोग आवश्यक निर्युक्ति में मिलता है, तदनन्तर विशेषावश्यक भाष्य और निशीथ भाष्य में।[१५] कही-कही छेद सूत्रों की सख्या छह, पाँच और चार मिलती हैं। किन्तु चार ही सख्या योग्य है। क्योंकि जीतकल्प जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का होने से आगम की कोटि में नही आ सकता। वैसे ही हरिभद्र द्वारा पुनरुद्धार किया गया महानिशीथ भी आगम की कोटि में नही आ सकता। केवली, अवधि-ज्ञानी, मन पर्यवज्ञानी, चतुर्दशपूर्वधर और दशपूर्वधर की रचना को ही आगम कहा जाता है।[१६] अत 'छेद' चार ही है और वह उत्तम श्रुत माना जाता है। क्योंकि उसमें प्रायश्चित्त विधि का विधान है। प्रायश्चित्त विधि से चारित्र की विशुद्धि होती है और चारित्र की विशुद्धि से परमात्मपद की प्राप्ति होती है। एतदर्थ यह उत्तम श्रुत है।[१७] इस प्रकार हमें विक्रम स १३३४ में निर्मित प्रभावक चरित्र में सर्वप्रथम अग, उपाग, मूल, और छेद का विभाजन मिलता है, तदनन्तर उपाध्याय समयसुन्दरगणि के समाचारी शतक में[१८] प्राप्त होता है।

वर्तमान काल में उपलब्ध जो अग साहित्य है, वह सुधर्मा की वाचना का है। इसलिये वह सुधर्मा द्वारा रचित माना जाता है। द्वादशागी को श्वेताम्बर और दिगम्बर समान सख्या में ही मानते हैं।[१९] किंतु अग बाह्य आगमों की सख्या में एक मतैक्य नही है। उनमें विभिन्नता नजर आती है। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक मूल आगमों में निर्युक्तियों को मिलाकर४५ आगम मानते हैं, जब कि दिगम्बर ८४ आगम मानते हैं। स्थानकवासी और तेरापथी परपरानुसार ३२ ही आगम माने जाते हैं। उन आगमों की तालिका इस प्रकार है-[२०]

१२ अग	१२ उपाग
१) आयार (आचार)	१) उववाइय (औपपातिक)
२) सूयगड (सूत्रकृत)	२) रायपसेणइज्जं (राजप्रसेनजितक) अथवा रायपसेणिय, राजप्रश्नीय
३) ठाण (स्थान)	३) जीवाजीवाभिगम (जीवाभिगम)
४) समवाय	४) पण्णवणा (प्रज्ञापना)
५) विवाह पण्णत्ति (भगवती, व्याख्याप्रज्ञप्ति)	५) सूरपण्णत्ति (सूर्यप्रज्ञप्ति)
६) नायाधम्मकहाओ	६) जबूद्दीवपण्णत्ति (जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति)
७) उवासगदसाओ	७) चदपण्णत्ति (चन्द्रप्रज्ञप्ति)
८) अतगडदसाओ (अन्तकृद्दशा)	८) निरयावलियाओ
९) अनुत्तरोववाइयदसाओ	९) कप्पवडिसियाओ

१०) पण्हावागरणाइ	१०) पुप्फियाओ (पुष्पिका)
११) विवागसुत्तं	११) पुप्फचूलाओ (पुष्पचूला)
१२) दृष्टिवाद (विच्छेद हो गया)	१२) वण्हिदसाओ (वृष्णिदशा)

४ मूल- १) दशवैकालिक, २) उत्तराध्ययन, ३) अनुयोगद्वार और ४) नन्दीसूत्र।

४ छेद- १) निशीथ, २) व्यवहार, ३) बृहत्कल्प और ४) दशाश्रुतस्कन्ध।

११ + १२ + ४ + ४ = ३१ और ३२ वाँ आवश्यक सूत्र है।

जैन दर्शन के अनुसार चौबीस तीर्थंकर माने जाते हैं। उनमें प्रथम ऋषभदेव और अन्तिम महावीर स्वामी हैं। भगवान महावीर की वाणी प्रत्यक्ष श्रवण करके त्रिपदी के आधार पर गणधरों ने आगम-वाचना का कार्य किया। किन्तु वीर निर्वाण के बाद उस आगम सम्पदा का उत्तरोत्तर ह्रास होता गया। इन विचारों को श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा भिन्न-भिन्न रूप से मानती है। श्वेताम्बर परम्परा की मान्यता है कि समय-समय पर द्वादश वर्षीय दुर्भिक्ष के कारण बहुश्रुत मुनि एव आगमधर मुनि दिवंगत हो गये। भिक्षा की उचित प्राप्ति न होने के कारण अध्ययन, अध्यापन, धारण तथा प्रत्यावर्तन सभी अवरुद्ध हो गये। द्वादशवर्षीय दुष्काल के कारण ग्रहण, गुणन एवं अनुप्रेक्षा के अभाव में सूत्र नष्ट हो गये। किन्तु सम्पूर्ण रूप से नष्ट नही हुए। समस्त श्रमण सघ ने आचार्यों के नेतृत्व में पाँच वाचनाएँ ली।[२१] उनमें मुख्यत तीन अधिक प्रसिद्ध हैं। आगम संकलन हेतु प्रथम वाचना वीर निर्वाण के १६० वर्ष पश्चात् पाटलीपुत्र में ली गई, जिसका नामकरण ही पाटलीपुत्रवाचना है। आगम सकलन का द्वितीय प्रयास वीर निर्वाण के ८२७ और ८४० के बीच स्कदिलाचार्य की अध्यक्षता में मथुरा में हुआ। इसलिये इसे माथुरी-वाचना और 'स्कन्दिली वाचना' भी कहा जाता है। इसी समय वल्लभी में भी आचार्य नागार्जुन की अध्यक्षता में संघ एकत्रित हुआ। जिन-जिन श्रमणों को जो-जो स्मृति में था, उसे संकलित किया गया। अत उसे 'वल्लभी वाचना' अथवा 'नागार्जुनीय वाचना' भी कहा गया। अन्तिम वाचना वीर-निर्वाण की दशवी शताब्दी (९८०-९९३ वर्ष) में देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण के नेतृत्व में पुन वल्लभी में हुई। स्मृति दौर्बल्य, परावर्तन की न्यूनता, धृति का ह्रास और परम्परा की व्यवच्छित्ति आदि-आदि कारणों से श्रुत का अधिकाश भाग नष्ट सा हो गया। विस्मृत श्रुत को संकलित एव सग्रहित करने का, पुन. प्रयत्न किया गया। देवर्द्धिगणी ने अपनी बुद्धि प्रतिभा से उसकी संयोजना करके उसे पुस्तकारूढ किया। उन्होंने माथुरी और वल्लभी वाचनाओं के कंठगत आगमों को एकत्रित करके उन्हें एकरूपता देने का प्रयास किया। जहाँ अत्यन्त मतभेद था वहाँ माथुरी वाचना को मूल मानकर वल्लभी वाचना के पाठों को पाठान्तर में स्थान दिया। फलत. यही कारण है कि आगम के व्याख्याग्रंथों में यत्र-तत्र 'नागार्जुनीयास्तु पठन्ति' इस प्रकार का उल्लेख मिलता है। हम देखते हैं कि आगम साहित्य का मौलिक स्वरूप बड़े परिमाण में

है। उपाग की तरह ही मूल और छेद का भी विषय अन्वेषण का ही है। 'छेद सूत्र' का सर्वप्रथम प्रयोग आवश्यक निर्युक्ति में मिलता है, तदनन्तर विशेषावश्यक भाष्य और निशीथ भाष्य में।[१५] कही-कही छेद सूत्रों की सख्या छह, पाँच और चार मिलती हैं। किन्तु चार ही सख्या योग्य है। क्योंकि जीतकल्प जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का होने से आगम की कोटि में नही आ सकता। वैसे ही हरिभद्र द्वारा पुनरुद्धार किया गया महानिशीथ भी आगम की कोटि में नही आ सकता। केवली, अवधि-ज्ञानी, मन पर्यवज्ञानी, चतुर्दशपूर्वधर और दशपूर्वधर की रचना को ही आगम कहा जाता है।[१६] अत 'छेद' चार ही है और वह उत्तम श्रुत माना जाता है। क्योंकि उसमें प्रायश्चित्त विधि का विधान है। प्रायश्चित्त विधि से चारित्र की विशुद्धि होती है और चारित्र की विशुद्धि से परमात्मपद की प्राप्ति होती है। एतदर्थ यह उत्तम श्रुत है।[१७] इस प्रकार हमें विक्रम स १३३४ में निर्मित प्रभावक चरित्र में सर्वप्रथम अग, उपाग, मूल, और छेद का विभाजन मिलता है, तदनन्तर उपाध्याय समयसुन्दरगणि के समाचारी शतक में[१८] प्राप्त होता है।

वर्तमान काल में उपलब्ध जो अग साहित्य है, वह सुधर्मा की वाचना का है। इसलिये वह सुधर्मा द्वारा रचित माना जाता है। द्वादशागी को श्वेताम्बर और दिगम्बर समान सख्या में ही मानते हैं।[१९] किंतु अग बाह्य आगमों की सख्या में एक मतैक्य नही है। उनमें विभिन्नता नजर आती है। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक मूल आगमों में निर्युक्तियों को मिलाकर४५ आगम मानते हैं, जब कि दिगम्बर ८४ आगम मानते हैं। स्थानकवासी और तेरापथी परपरानुसार ३२ ही आगम माने जाते हैं। उन आगमों की तालिका इस प्रकार है-[२०]

१२ अंग	१२ उपाग
१) आयार (आचार)	१) उववाइय (औपपातिक)
२) सूयगड (सूत्रकृत)	२) रायपसेणइज्ज (राजप्रसेनजितक) अथवा रायपसेणिय, राजप्रश्नीय
३) ठाण (स्थान)	३) जीवाजीवाभिगम (जीवाभिगम)
४) समवाय	४) पण्णवणा (प्रज्ञापना)
५) विवाह पण्णत्ति (भगवती, व्याख्याप्रज्ञप्ति)	५) सूरपण्णत्ति (सूर्यप्रज्ञप्ति)
६) नायाधम्मकहाओ	६) जबूद्दीवपण्णत्ति (जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति)
७) उवासगदसाओ	७) चदपण्णत्ति (चन्द्रप्रज्ञप्ति)
८) अतगडदसाओ (अन्तकृद्दशा)	८) निरयावलियाओ
९) अनुत्तरोववाइयदसाओ	९) कप्पवडिसियाओ

१०) पण्हावागरणाइं	१०) पुप्फियाओ (पुष्पिका)
११) विवागसुत्त	११) पुप्फचूलाओ (पुष्पचूला)
१२) दृष्टिवाद (विच्छेद हो गया)	१२) वण्हिदसाओ (वृष्णिदशा.)

४ मूल- १) दशवैकालिक, २) उत्तराध्ययन, ३) अनुयोगद्वार और ४) नन्दीसूत्र।

४ छेद- १) निशीथ, २) व्यवहार, ३) बृहत्कल्प और ४) दशाश्रुतस्कन्ध।

११ + १२ + ४ + ४ = ३१ और ३२ वाँ आवश्यक सूत्र है।

जैन दर्शन के अनुसार चौबीस तीर्थंकर माने जाते हैं। उनमें प्रथम ऋषभदेव और अन्तिम महावीर स्वामी हैं। भगवान महावीर की वाणी प्रत्यक्ष श्रवण करके त्रिपदी के आधार पर गणधरों ने आगम-वाचना का कार्य किया। किन्तु वीर निर्वाण के बाद उस आगम सम्पदा का उत्तरोत्तर ह्रास होता गया। इन विचारों को श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा भिन्न-भिन्न रूप से मानती है। श्वेताम्बर परम्परा की मान्यता है कि समय-समय पर द्वादश वर्षीय दुर्भिक्ष के कारण बहुश्रुत मुनि एवं आगमधर मुनि दिवगत हो गये। भिक्षा की उचित प्राप्ति न होने के कारण अध्ययन, अध्यापन, धारण तथा प्रत्यावर्तन सभी अवरुद्ध हो गये। द्वादशवर्षीय दुष्काल के कारण ग्रहण, गुणन एवं अनुप्रेक्षा के अभाव में सूत्र नष्ट हो गये। किन्तु सम्पूर्ण रूप से नष्ट नही हुए। समस्त श्रमण संघ ने आचार्यों के नेतृत्व में पाँच वाचनाएँ ली।[२१] उनमें मुख्यत तीन अधिक प्रसिद्ध हैं। आगम सकलन हेतु प्रथम वाचना वीर निर्वाण के १६० वर्ष पश्चात् पाटलीपुत्र में ली गई, जिसका नामकरण ही पाटलीपुत्रवाचना है। आगम सकलन का द्वितीय प्रयास वीर निर्वाण के ८२७ और ८४० के बीच स्कदिलाचार्य की अध्यक्षता में मथुरा में हुआ। इसलिये इसे माथुरी-वाचना और 'स्कन्दिली वाचना' भी कहा जाता है। इसी समय वल्लभी में भी आचार्य नागार्जुन की अध्यक्षता में संघ एकत्रित हुआ। जिन-जिन श्रमणों को जो-जो स्मृति में था, उसे सकलित किया गया। अत. उसे 'वल्लभी वाचना' अथवा 'नागार्जुनीय वाचना' भी कहा गया। अन्तिम वाचना वीर-निर्वाण की दशवी शताब्दी (९८०-९९३ वर्ष) में देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण के नेतृत्व में पुन वल्लभी में हुई। स्मृति दौर्बल्य, परावर्तन की न्यूनता, धृति का ह्रास और परम्परा की व्यवच्छित्ति आदि-आदि कारणों से श्रुत का अधिकाश भाग नष्ट सा हो गया। विस्मृत श्रुत को सकलित एव सग्रहित करने का, पुन. प्रयत्न किया गया। देवर्द्धिगणी ने अपनी बुद्धि प्रतिभा से उसकी सयोजना करके उसे पुस्तकारूढ़ किया। उन्होंने माथुरी और वल्लभी वाचनाओं के कठगत आगमों को एकत्रित करके उन्हें एकरूपता देने का प्रयास किया। जहाँ अत्यन्त मतभेद था वहाँ माथुरी वाचना को मूल मानकर वल्लभी वाचना के पाठों को पाठान्तर में स्थान दिया। फलत. यही कारण है कि आगम के व्याख्याग्रथों में यत्र-तत्र 'नागार्जुनीयास्तु पठन्ति' इस प्रकार का उल्लेख मिलता है। हम देखते हैं कि आगम साहित्य का मौलिक स्वरूप बड़े परिमाण में

लुप्त-सा हो गया किन्तु पूर्ण नही, अब भी वह शेष है। अंगों और उपागों की मुख्यत जो तीन बार आगम वाचनाएँ हुई, उसमें मौलिक रूप अवश्य बदला है। उसमें उत्तरवर्ती घटनाओं तथा विचारणाओं का समावेश भी जरूर हुआ है। स्थानाग में सात निह्नवों और नौ गणों का उल्लेख इस बात को स्पष्ट करता है।[२२] फिर भी अगों का अधिकाश भाग मौलिक है। भाषा और शैली की दृष्टि से भी प्राचीन है। 'आयार' रचना शैली की दृष्टि से शेष सब अगों से भिन्न है। अत आगम का मौलिक रूप आज भी विद्यमान है। परन्तु दिगम्बर परम्परा वीर निर्वाण के ६८३ वर्ष के बाद आगम का मौलिक स्वरूप नष्ट सा मानती है।

इन आचार्यों ने आगम-सकलना का महत्त्वपूर्ण कार्य करके आगमों की सुरक्षा की।

आचार्य जम्बू के वीर निर्वाण ६४ (वि पूर्व ४०६) से श्वेताम्बर व दिगम्बर सम्प्रदाय के आचार्यों की नाम परपरा विभक्त हो गई। श्वेताम्बर परम्परा में प्रभव, शय्यभव, यशोभद्र, सभूतिविजय, भद्रबाहु और स्थूलभद्र श्रुतकेवली माने जाते हैं, जब कि दिगम्बर परम्परानुसार विष्णु, नन्दीमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु श्रुतकेवली हैं। इन दोनों परम्पराओं में भद्रबाहु को मुख्य माना गया है।[२३] इन आचार्यों का कालमान १६२ वर्ष का है और श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार जम्बू के बाद प्रभव से भद्रबाहु तक का कालमान १७० वर्ष का है। इन दोनों में आठ वर्ष का अतर हैं किन्तु भद्रबाहु के पास सम्पूर्ण द्वादशागी सुरक्षित थी, ऐसे दोनों सम्प्रदायें एक स्वर से स्वीकार करती है। वीर निर्वाण के १७० वर्ष बाद भद्रबाहु का स्वर्गवास हुआ। आचार्य जम्बू के बाद दस बातों का विच्छेद हो गया[२४] और आचार्य भद्रबाहु के बाद श्रुत धारा क्षीण होने लगी। इसका प्रमुख कारण उस युग का द्वादशवर्षीय दुष्काल था। अतएव भद्रबाहु के स्वर्गस्थ होने पर उसी समय अर्थ की दृष्टि से अन्तिम चार पूर्वों का विच्छेद हो गया और शब्द की दृष्टि से अन्तिम चार पूर्व स्थूलभद्र की मृत्यु के बाद (वी नि २१६) विच्छिन्न हुये।[२५] इसके बाद दस पूर्वों की परम्परा आर्यवज्र तक चली। दसपूर्वधरों की दस ही सख्या है-[२६] १) महागिरि, २) सुहस्ती, ३) गुणसुन्दर, ४) कालकाचार्य, ५) स्कन्दिलाचार्य, ६) रेवतिमित्र, ७) मगू, ८) धर्म, ९) चन्द्रगुप्त और १०) आर्य-वज्र। अन्तिम दस पूर्वधर आर्यवज्र का स्वर्गवास वीर निर्वाण के ५७१ माना जाता है और कही-कही ५८४ भी।[२७] उसी समय दसवा पूर्व विच्छिन्न हो गया। दिगम्बर परम्परा के अनुसार दशपूर्व की ज्ञान सम्पदा वी नि १८३ वर्ष तक सुरक्षित रही। धर्मसेन उनके अन्तिम दशपूर्वधर थे।

श्वेताम्बर परम्परानुसार आर्य रक्षित नौपूर्व पूर्ण और दशम पूर्व के आधे भाग के ज्ञाता थे। उनका शिष्य दुर्बलिकापुष्यमित्र नौ पूर्व का ज्ञाता था। उन दोनों की मृत्यु के (क्रमश वीर नि ५९२, वीर नि ६०४ अथवा ६१७) पश्चात् साढे नौ पूर्व और नौ

पूर्व के कोई भी ज्ञाता नही रहे। देवर्द्धिगणी एक पूर्व के ज्ञाता माने जाते हैं। इस प्रकार वीर निर्वाण के १००० वर्ष तक पूर्व ज्ञान की परपरा सुरक्षित रही। वीर निर्वाण के १००० वर्ष के बाद पूर्व ज्ञान का विच्छेद हो गया।[२८] दिगम्बर परम्परानुसार वीर निर्वाण के ६२ वर्ष तक केवल ज्ञान रहा। अन्तिम केवली जम्बूस्वामी हुए। उसके पश्चात् १०० वर्ष तक चौदह पूर्वों का ज्ञान रहा। भद्रबाहु के पश्चात् १८३ वर्ष तक दसपूर्वधर रहे। उनके पश्चात् ग्यारह अंगों की परम्परा २२० वर्ष तक चली। उनके अन्तिम अध्येता ध्रुवसेन हुए। उनके पश्चात् एक अंग (आयार) का अध्ययन ११८ वर्ष तक चला। इनके अन्तिम अधिकारी लोहार्य हुए। वीर निर्वाण ६८२ के पश्चात् आगम साहित्य सर्वथा लुप्त हो गया।[२९] किन्तु धवला टीका और तिलोयपण्णत्ति को देखने से स्पष्ट होता है कि वे भी अगों का पूर्णत विच्छेद नही मानते, बल्कि 'अग पूर्व के एकदेशधर' के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं।[३०] अत· श्रीधरसेनाचार्य ने जिनवाणी का सर्वथा अभाव न हो जाय इस दृष्टि से पुष्पदन्त और भूतबलि द्वारा श्रुतज्ञान को लिपिबद्ध कराया।[३१]

वर्तमान में जो आगम उपलब्ध हैं, वे सब देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण की वाचना के हैं। अगों के कर्ता गणधर, अंग बाह्य श्रुत के कर्ता स्थविर और उन सबका सकलन एवं सम्पादन कर्ता देवर्द्धिगणी हैं। अत· वर्तमान आगमों के कर्ता वे ही माने जाते हैं।[३२] उनके पश्चात् वर्तमान स्थित आगमों में संशोधन, परिवर्धन एव परिवर्तन नही हुआ।

अगले पृष्ठों पर आगम साहित्य का वर्णन ऊपर बताये हुए बत्तीस आगम अनुसार ही होगा।

ध्यान संबंधी मूलभूत आगम साहित्य

१२ अंग

१) आयार :- यह द्वादशागी का प्रथम अंग है। जितने भी तीर्थंकर हुए हैं, उन सब ने सर्वप्रथम आचाराग का उपदेश दिया है। वर्तमान काल में जो तीर्थंकर (विहरमान) महाविदेह क्षेत्र में विद्यमान हैं, वे भी अपने शासन काल में सर्वप्रथम इसका प्रवचन देंगे। और गणधर भी इसी क्रम से अग सूत्रों को ग्रथित करते हैं।

निर्युक्तिकार का कथन है कि मुक्ति का अव्याबाध सुख प्राप्त करने का मूल आचार है। उन्होंने प्रश्नोत्तर के रूप में स्पष्ट किया है कि अंग सूत्रों का सार क्या है? आचार। आचार का सार क्या है? अनुयोग-अर्थ। अनुयोग का सार क्या है? प्ररूपणा करना। प्ररूपणा का सार क्या है? सम्यक् चारित्र को स्वीकार करना। चारित्र का सार क्या है? निर्वाण पद की प्राप्ति। निर्वाण पद की प्राप्ति का सार क्या है? अक्षय सुख को प्राप्त करना। ज्ञान और क्रिया की समन्वित साधना ही मोक्ष है। अत· मुक्ति के लिए सबसे प्रथम

आवश्यकता चारित्र की है। इसी कारण सभी तीर्थंकरों ने तीर्थ की स्थापना करते समय सर्व प्रथम आचाराग का उपदेश दिया है। इसलिए द्वादशागी में इसे प्रथम स्थान दिया है।

प्रस्तुत आगम के दो श्रुतस्कन्ध है। प्रथम श्रुतस्कन्ध के नौ अध्याय और द्वितीय के १६ अध्ययन हैं, तथा पाँच चूलिकाएँ हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध में ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार का सम्यक् वर्णन है। इसके नौवे अध्याय में ध्यानयोगी भगवान महावीर की साधना का दिग्दर्शन किया है। उनकी सम्पूर्ण साधना पद्धति ध्यानयोगमय ही थी। इसमें ध्यानयोग की प्रक्रिया स्पष्ट नही बताई गई है किन्तु इसका निरीक्षण परीक्षण करने के बाद हमारी अल्पज्ञ बुद्धि इस धारणा पर पहुँचती है कि पहले निरीक्षणात्मक पद्धति का प्रयोग किया गया है। बाद में परीक्षणात्मक और अन्त में प्रयोगात्मक पद्धति द्वारा ध्यान के पर्यायवाची शब्द समाधि और अप्रमाद शब्द द्वारा ध्यान का स्वरूप स्पष्ट किया है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध में चारित्राचार का वर्णन विस्तृत रूप से स्पष्ट किया है। चतुर्थ चूलिका में ध्यान साधना में पोषक पाँच महाव्रत एवं उनकी भावनाओं का उल्लेख है। तथा ध्यान में बाधक तत्त्वों (ममत्व, आरभ, परिग्रह व प्रमाद) का भी उल्लेख है।

दोनों श्रुतस्कन्धों में २५ अध्ययन और ८५ उद्देश्यक हैं। किन्तु प्रथम श्रुतस्कन्ध के 'महापरिज्ञा' नामक अध्ययन लुप्त होने से २५ अध्ययन और ७८ उद्देश्यक ही हैं।

ध्यान का मूल केन्द्रबिन्दु 'रत्नत्रय' की साधना है। अत प्रथम अग में सयमी साधक जीवन के लिये आभ्यन्तर और बाह्य शुद्धि का साधन आचार है। आचार शुद्धि द्वारा ही ध्यान सिद्ध किया जा सकता है।

यह ग्रंथ लुधियाना, उज्जैन आदि स्थानों से प्रकाशित है।

२) सूयगड :- द्वादशांगी में यह दूसरा अग सूत्र है। इसके भी दो श्रुतस्कन्ध हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध के १६ एवं द्वितीय श्रुतस्कन्ध के ७ अध्याय हैं। इसमें स्वमत परमत, जीवादि नौ तत्त्वों के विश्लेषण के साथ ३६३ पाखण्डियों के मत का विवेचन है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध के दशम अध्याय में समाधि का वर्णन है। समाधि के चार प्रकार हैं- द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। इनमें भाव समाधि पर अधिक जोर दिया गया है। एकादश अध्याय में भाव समाधि के लिए चार मार्ग- ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप, बताये हैं। इन्ही के द्वारा ही साधक धर्मध्यान की साधना कर सकता है। धर्मध्यान की साधना में 'परिग्रह' को बाधक बताया है। वह द्रव्य - (बाह्य) (क्षेत्र, वास्तु, धन-धान्य, ज्ञातिजन, मित्र, वाहन, शयन, आसन, दास, दासी इन पर मूर्च्छा भाव रखना ये दस हैं) और भाव -

(आभ्यन्तर) (यह चौदह प्रकार का है - क्रोध, मान, माया, लोभ, स्नेह, द्वेष, मिथ्यात्व, कामाचार, संयम में अरुचि, असयम में रुचि, विकारी भाव, हास्य, शोक, भय और घृणा) रूप से दो प्रकार का है। इसमें ध्यान विषयक सहागक तत्त्वों (गुरु आज्ञा-सेवा का पालन, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य आदि) का भी विवेचन है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध में ध्यान साधक के मूलगुण एव उत्तरगुण में आने वाले हिंसादि विघ्नों का विवेचन है। अशुभ ध्यान से ससार वृद्धि होती है। इसलिए षट्जीवनिकाय जीवों की हिंसा का निषेध किया है।

प्रस्तुत अग में ध्यानयोग, समाधियोग और भावनायोग शब्द का प्रयोग मिलता है। इसके पर्यायवाची सवर, तप, समाधि और धर्म आदि शब्द है। इस प्रकार इस अंग सूत्र में ध्यान का विशिष्ट स्वरूप स्पष्ट होता है।

प्रथम अग सूत्र में मैं कौन था? इस स्वरूप का चिन्तन है तो द्वितीय अग सूत्र में बन्ध और मोक्ष की चर्चा है। अशुभ ध्यान से बन्ध होता है और शुभ ध्यान से मोक्ष मिलता है। यही स्वरूप इसमें स्पष्ट किया है।

यह ग्रथ सैलाना से प्रकाशित है।

३) **ठाण :-** यह द्वादशागी का तीसरा अंग है। इसमें एक अध्याय से लेकर दस अध्याय तक विभिन्न दृष्टियों से पदार्थों का विवेचन है। सामान्यगणना से इसमें कम-से-कम १२०० विषयों का वर्गीकरण है और भेद प्रभेद की दृष्टि से लाखों विषयों का स्पष्टीकरण हैं, इसके चतुर्थ अध्ययन में ध्यान के भेद, लक्षण, आलम्बन, अनुप्रेक्षा के रूप में विस्तृत वर्णन मिलता है। प्रथम दो अगों की अपेक्षा इस तीसरे अंग में ही ध्यान का विशेष वर्णन मिलता है। चार प्रकार के ध्यान में से कौन-सा ध्यान साधक के लिए सहायक हो सकता है? यह भी विस्तृत रूप से वर्णित है।

प्रस्तुत आगम लुधियाना से प्रकाशित है।

४) **समवाय :-** स्थानाग सूत्र की तरह इसमें भी संख्या की दृष्टि से वस्तु का निरूपण किया गया है। संख्या क्रम से पाताल, पृथ्वी, आकाश - तीनों लोक में विद्यमान जीवादि समस्त तत्त्वों का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से लेकर कोटानुकोटिसख्या तक के विषयों का सकलन है। इसमें स्थानांगसूत्र में वर्णित आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्लध्यान का नाम निर्देश किया है और धर्मध्यान के चार भेद में से सस्थान विचय धर्मध्यान का विस्तृत वर्णन है।

५) **विवाहपण्णत्ती :-** इसे व्याख्याप्रज्ञप्ति और भगवती भी कहते हैं। अन्य ग्रथों

की अपेक्षा इसका कलेवर विशाल है, यह १५००० श्लोक प्रमाण माना जाता है, इसमें ३६००० हजार प्रश्नोत्तरी है। विभिन्न विषयों का विस्तृत वर्णन है। साथ में तप के अन्तर्गत ध्यान का विस्तृत वर्णन किया है। स्थानांग सूत्र की तरह ही इसमें ध्यान का वर्णन है। विशेषता इतनी ही है कि ध्यान यह तप का अग है।

इस सूत्र के अतिरिक्त अन्य किसी भी अंग अथवा अंग बाह्य सूत्रों के प्रारभ में मंगल का कोई विशेष पाठ उपलब्ध नही होता, जो इसमें है। जिससे पदस्थ ध्यान का सकेत मिलता है। प्रस्तुत आगम में धर्मध्यान और शुक्लध्यान के स्वरूप का विशेष विवेचन मिलता है।

प्रस्तुत आगम सात भागों में सैलाना से प्रकाशित हुआ है।

६) नायाधम्मकहाओ :- इसके भी दो श्रुतस्कन्ध हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध में १९ अध्ययन और द्वितीय श्रुतस्कन्ध में १० वर्ग हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध में पूर्व कथित आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल - इन चार ध्यानों को विभिन्न कथायोग के द्वारा स्पष्ट किया है तथा उन चारों ध्यान का फल भी स्पष्ट कर दिया है। मेघकुमार (अ १) और तेतलीपुत्र (अ ४) की कथा द्वारा पहले आर्तध्यान का स्वरूप स्पष्ट किया और बाद में उन दोनों को क्रमश भगवान् महावीर एव पोट्टिला के बोध से धर्मध्यान एव शुक्लध्यान का स्वरूप स्पष्ट किया। विजय चोर की कथा (अ २) द्वारा रौद्रध्यान का स्वरूप स्पष्ट करके उसका फल नरक गति बताया। मल्ली भगवती की कथा द्वारा (अ ८) शुक्लध्यान का स्वरूप स्पष्ट करके उसका फल मोक्ष बताया। नन्दमणियार श्रावक की कथा (अ १३) द्वारा आर्तध्यान का स्वरूप स्पष्ट करके उसका फल तिर्यंच गति बताया। नागेश्री की कथा द्वारा रौद्रध्यान का परिणाम नरकगति है, यह स्पष्ट किया गया और यह भी बताया गया कि भविष्य में साध्वी के सुयोग से परिणामों की विशुद्धि उत्तरोत्तर करके यही नागेश्री का जीव द्रौपदी के रूप में जन्म लेकर धर्म-शुक्लध्यान की साधना से स्वर्ग की प्राप्ति करता है। कुण्डरीक और पुण्डरीक राजा की कथा द्वारा क्रमश रौद्र और धर्मध्यान का स्वरूप विवेचन किया है।

प्रस्तुत आगम में धर्म कथानुयोग द्वारा चार ध्यान का विस्तृत वर्णन किया गया है। यहाँ ध्यान का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। चारों ध्यान का फल भी तिर्यंचगति, नरकगति, देवगति, मनुष्यगति एवं मोक्ष का स्वरूप वर्णित किया है।

यह आगम पाथर्डी से प्रकाशित हुआ है।

७) उवासगदसाओ :- यह द्वादशागी का सातवा अग है। इसमें भगवान् महावीर कालीन दस साधकों का वर्णन है। उन दस श्रावकों ने श्रावक धर्म को अगीकार करके

उपासक की ग्यारह पडिमाओं की आराधना की। उन ग्यारह पडिमाओं में कायोत्सर्ग पडिमा का वर्णन है, जो ध्यान का प्रारभ काल है। इसमें कायोत्सर्ग के माध्यम से ध्यान का उल्लेख किया है।

प्रस्तुत आगम लुधियाना आदि स्थानों से प्रकाशित है।

८) अंतगडदसाओ :- यह द्वादशांगी का आठवा अग है। इसमें आठ वर्ग और ९० अध्ययन हैं। ९० अध्ययन में अरिष्टनेमि और महावीरकालीन ९०महापुरुषों का वर्णन हैं। आठ वर्गों में क्रमश. १० + ८ + १३ + १० + १० + १६ + १३ + १० अध्ययन गुफित है। पाँच वर्गतक भगवान् अरिष्टनेमि के पास प्रवर्जित होने वाले ५१ साधकों का उल्लेख है। बाद के तीन वर्ग में महावीर कालीन ३९ साधकों की साधना का उल्लेख है।

प्रस्तुत आगम में तप साधना का विशिष्ट उल्लेख है। इस अग के द्वारा स्पष्ट कर दिया है कि तप ही ध्यान है। ९० साधकों में से मुख्य मुख्य साधकों ने गुणरत्नसवत्सर, बारह भिक्षु-पडिमा, गजसुखमालमुनि ने सिर्फ बारहवी भिक्षु पडिमा तथा सातवें आठवें वर्ग में श्रेणिक राजा की नन्दा, नन्दवती, नन्दोत्तरा, नन्दश्रेणिका, काली, सुकाली, महाकाली, कृष्णा, सुकृष्णा, महाकृष्णा, वीरकृष्णा, रामकृष्णा, पितृसेनकृष्णा, महासेनकृष्णा आदि महाराणियों ने श्रमण धर्म अगीकार करके ग्यारह अंगों का अध्ययन करके 'रत्नावली, कनकावली, क्षुल्लकसिंह निष्क्रीडित, महानिष्क्रीडित, लघु सर्वतोभद्र, महासर्वतो भद्र, भिक्षु-पडिमा, मुक्तावली एव आयबिल वर्धमान' आदि उग्र तपाराधना करके अन्त में सलेखना व्रत से कर्मेधन को जलाकर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाते हैं। यहाँ पर 'तप' यह ध्यान का प्रतीक है। ध्यान प्रक्रिया से कर्म को समूल नष्ट कर दिया जाता है। इसीलिये तो नौवें अग में भी तप का ही वर्णन किया है।

९) अणुत्तरोववाइय दसाओ :- इस आगम के तीन वर्ग हैं। प्रथम वर्ग में १० अध्ययन, द्वितीय वर्ग में १३ अध्ययन और तृतीय वर्ग में १० अध्ययन हैं। प्रत्येक वर्ग में मुख्यत एकेक महापुरुष का वर्णन है। प्रथम वर्ग में गुणरत्न सवत्सर, चउत्थ, छट्ठ, अट्ठम, दसम, दुवालसेहिं, अधमासखमण आदि उग्र तप का वर्णन है। द्वितीय वर्ग में भी इसी प्रकार है। तीसरे वर्ग में भगवान् महावीर कालीन चौदह हजार श्रमणों में धन्ना अणगार को उग्र तपस्वी माना गया है। अत्यन्त कठोर तपाराधना में छह मास तक छट्ठ - छट्ठ (बेले-बेले) के पारणे में आयबिल (लुखा सूखा आहार) व्रत की आराधना से कर्मों की महानिर्जरा करने वाले धन्ना अनगार ही है।

प्रस्तुत आगम में ध्यान का पर्यायवाची 'तप' है। इसमें स्पष्ट किया गया है कि ध्यानाग्नि द्वारा समस्त कर्म-इधन को जलाकर आत्मा का निज-स्वरूप प्राप्त किया जाता है।

यह आगम लुधियाना से प्रकाशित है।

१०) पण्हावागरणाइं :- समवायाग एव नन्दीसूत्र के अनुसार प्रस्तुत आगम का एक ही श्रुतस्कन्ध है, किन्तु अभयदेव वृत्ति[३३] में इसे दो श्रुतस्कन्ध में विभाजित किया गया है- १) आस्रवद्वार और २) सवरद्वार। आगे चलकर वे भी पुन इसी धारणा पर आ जाते हैं कि दो श्रुत न मान कर एक ही मान लिया जाय।[३४] परन्तु हमारी धारणानुसार प्रस्तुत आगम आस्रव और सवर इन दोनों का भिन्न-भिन्न विषय होने से दो श्रुतस्कन्ध मानना ही तर्क सगत है। आस्रव (हिंसा, असत्य, स्तेय-चोरी, अब्रह्मचर्य व परिग्रह) के द्वारा मन का रोग भवभवान्तर तक बढ़ता रहता है। उन रोगों की सही चिकित्सा संवर (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह) द्वारा ही हो सकती है। सत्रर की साधना ही ध्यान का फल है। धर्म ध्यान की साधना ही सवर की साधना है। अत इसमें ध्यान साधना में आने वाले बाधक और साधक तत्त्व का वर्णन किया है।

११) विवागसुय :- यह द्वादशागी का ग्यारहवाँ अग है। इसके दो श्रुतस्कन्ध और २० अध्ययन हैं। दुष्कृत सुकृत कर्मों के विपाक का विस्तृत वर्णन होने से इसका नाम विवाग सुय रखा गया है।

जैन दर्शन का प्रधान अग कर्म सिद्धान्त है। और ध्यान का फल कर्म निर्जरा है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध के दस अध्ययन मृगापुत्र, उज्झितक, अभग्न सेन, शकट, बृहस्पति, नन्दिवर्धन, उम्बरदत्त, शौरिकदत्त, देवदत्ता व अजु द्वारा रौद्र ध्यान के दुष्परिणाम का फल बताया है और स्पष्ट किया है कि आद्य दो ध्यान (आर्त व रौद्र) त्याज्य हैं। द्वितीय श्रुतस्कन्ध के भी दस अध्याय सुबाहुकुमार, भद्रनन्दी, सुजातकुमार, सुवासवकुमार, जिनदासकुमार, धणपतिकुमार, महाबलकुमार, भद्रनन्दीकुमार, महाचन्द्रकुमार व वरदत्तकुमार द्वारा अन्तिम शुभ धर्म और शुक्लध्यान की आराधना का सुफल स्वर्ग और मोक्ष बताया है।

प्रस्तुत आगम में धर्मकथानुयोग द्वारा आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान का स्वरूप, लक्षण एवं फल स्पष्ट कर दिया है। तथा शुभ और अशुभ ध्यान की व्याख्या भी स्पष्ट दी है। शुभ ध्यान ही करने योग्य बताया है अशुभ नही।

१२) दृष्टिवाद :- यह आगम वर्तमान में उपलब्ध नहीं है।

१२ उपाग :-

सभी उपाग साहित्य में ध्यान सबधी विषय नहीं है। १२ अग के ही १२ उपाग हैं। जिन-जिन उपागों में ध्यान सबधी सामग्री है, उन्हीं उपागों का नाम नीचे उल्लेख किया जा रहा है-

१) उववाइय :- यह आचारांगसूत्र का उपांग है। इसमें ४३ सूत्र हैं। भगवान् महावीर कालीन इन्द्रभूति गौतम प्रमुख १४ हजार साधु, चन्दनबाला प्रमुख ३६ हजार साध्वियाँ, आनद प्रमुख १ लाख ५९ हजार उपासक तथा जयंतीप्रमुख ३ लाख १८ हजार उपासिकाएँ थी। यह व्रतधारी चतुर्विध सघ की संख्या थी। उनमें से १४ हजार श्रमण और ३६ हजार श्रमणियों में से कुछ उग्र तपस्वी थे, कुछ अभिनिवोधि ज्ञानी, श्रुतज्ञानी, मन पर्यवज्ञानी और केवलज्ञानी थे, कुछ मनबलिया, वयबलिया, काय बलिया, कुछ खेलोसहि, (श्लेष्म), जल्लोसहि (पसीना), विप्पोसहि (पेशाव-लघुनिति), आमोसहि, सव्वोसहि, कुछ कोट्ठबुद्धि, बीज बुद्धि, पडबुद्धि, पयाणुसारी, सभिन्नसोयाखीरास ा, महुआसवा, सप्पि आसवा, अक्खीण महाणसिया एवं कुछ उज्जुमई, विउलमई, वैक्रयविक्रीडिता (विउव्वणिड्ढिपत्ता), चारण, विद्याधर एव आकाशगामिनी विद्याधारी आदि २८ प्रकार के लब्धिधारी थे। इसके अतिरिक्त कुछ कणकावलि, एकावलि, क्षुद्रसिंहनिष्क्रीडित, महासिंहनिष्क्रीडित, भद्र पडिमा, महाभद्रपडिमा, सर्वत्तो भद्र पडिमा, आयबिल वर्धमान, मासिक, द्विमासिक जाव दस दस भिक्षुपडिमाधारी, क्षुद्रमोयपडिमाधारी, महद् मोयपडिमाधारी, जवमज्झ चदपडिमा, वज्रमज्झपडिमा आदि तपाराधक तथा पडिमाधारी श्रमण श्रमणियाँ थी।

उग्र तपस्वी एव लब्धि धारियों के अतिरिक्त अन्य अबंड आदि तपस्वियों के आतापना एव पचाग्नि तप का भी वर्णन है।

योगनिरोध और केवलीसमुद्घात एव सलेखना के वर्णन से प्रस्तुत आगम में धर्मध्यान और शुक्लध्यान का स्वरूप स्पष्ट किया है। योग निरोध और केवली समुद्घात की प्रक्रिया दूसरे व तीसरे शुक्लध्यान की है। इस प्रकार इस आगम में ध्यान का विस्तृत वर्णन मिलता है।

प्रस्तुत आगम में प्रयोगात्मक ध्यानयोग की प्रक्रिया के साथ ही साथ ध्यान साधना के मौलिक तत्त्व 'उपशम' 'विलेक' और 'धर्म' का भी उल्लेख है।

यह अमदाबाद से प्रकाशित है।

२) रायपसेणइय :- यह सुयगडांग का उपांग है। उसी में वर्णित विषयों का विस्तृत वर्णन है। श्रद्धा ध्यान का मूल है। सूर्याभदेव के द्वारा इस कथन की पुष्टि की है। साथ ही साथ यह भी स्पष्ट किया है कि क्रूर प्रदेशी (पएसी) राजा केशीश्रमणमुनि के समागम से आत्मचिन्तक साधक बन जाता है। और श्रमणोपासक श्रावक बन कर पोषधव्रत की आराधना से आत्म चिन्तन में लीन रहता है। पत्नी सूर्यकान्ता के विष देने पर भी वे स्वचिन्तन में लीन रहे और सर्व प्राणातिपात आदि दोषों का त्याग करके अपने

समस्त कर्मों की आलोचना कर सलेखना तप द्वारा कर्ममल का क्षय करके सौधर्म देव लोक में सूर्याभदेव बने।

ध्यान की योग्यता सन्त शरण से ही प्राप्त होती है। यह इस आगम में खास बताया गया है। सन्त शरण से समता का बीजारोपण होता है। समत्वयोग ही ध्यान है। यह पएसी राजा की कथा से स्पष्ट किया गया है।

प्रस्तुत आगम अमदाबाद एव अन्य स्थानों से प्रकाशित किया गया है।

३) जीवाजीवाभिगम :- प्रस्तुत आगम ठाणाग का उपांग है। उपांग साहित्य में इसका तीसरा नबर है। इसमें जीव अजीव तत्त्व का विस्तृत वर्णन है। जीव द्रव्य से समस्त ससारी जीवों का विवेचन है और अजीव द्रव्य द्वारा अधो लोक, मध्यलोक एवं ऊर्ध्वलोक का भी व्यापक दृष्टि से वर्णन है। मध्यलोक से संबधित जम्बूद्वीप, धातकी खण्ड द्वीप, अर्द्धपुष्करार्ध द्वीप आदि का विस्तृत वर्णन है।

इस आगम में धर्मध्यान का चतुर्थ भेद लोक सस्थान विचय का विस्तृत वर्णन मिलता है।

प्रस्तुत आगम अमदाबाद से प्रकाशित है।

४) पन्नवणा (प्रज्ञापना) :- यह समवायांग का चौथा उपाग है। इसमें ३४९ सूत्रों द्वारा विभिन्न विषयों पर विचार किया गया है। उसमें छह जीवनिकाय (पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पति काय और त्रसकाय), लेश्या एवं केवलीसमुद्घात के विस्तृत वर्णन से धर्मध्यान और शुक्लध्यान का स्वरूप स्पष्ट किया है। केवलीसमुद्घात शुक्लध्यान के द्वितीय भेद की प्रक्रिया है। इसमें विशेषत धर्मध्यान का चतुर्थ भेद सस्थान विचय धर्मध्यान और शुक्लध्यान का तीसरा भेद सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती का विशेष स्वरूप स्पष्ट हो रहा है।

प्रस्तुत आगम अमदाबाद से प्रकाशित किया गया है।

५) जम्बुद्वीपपण्णत्ती :- इसकी क्रम सख्या में मतभेद है। कही-कही इसे पाचवाँ या छट्ठा उपाग माना गया है। इसमें विशेषत काल चक्र का वर्णन विस्तृत रूप से किया गया है। इसके अतिरिक्त जम्बूद्वीप् का विस्तृत वर्णन करके, प्रथम जिन, प्रथम केवली, प्रथम तीर्थंकर, एवं प्रथम चक्रवर्ती ऋषभदेव के चरित्र द्वारा पाँच महाव्रत, छह जीवनिकाय एवं अष्ट प्रवचन माता का स्वरूप स्पष्ट किया है। ये सभी धर्मध्यान में सहायक अग हैं। धर्मध्यान की साधना के बाद ही शुक्लध्यान की साधना से ऋषभदेव भगवान् को

न्यग्रोधवृक्ष के नीचे केवलज्ञान प्राप्त हुआ। तदनन्तर वे सिद्ध बुद्ध मुक्त बने। धर्मध्यान और शुक्लध्यान ही साधना के श्रेष्ठ मार्ग है।

यह अहमदाबाद से प्रकाशित है।

४ मूलसूत्र

१) उत्तराध्ययन :- यह जैनागमों का प्रथम मूलसूत्र है। कही-कही दशवैकालिक को प्रथम मूलसूत्र भी मानते हैं। उत्तराध्ययन में भगवान् महावीर की अन्तिम देशना का संग्रह है (सकलन है) इसमें ३६ अध्ययन हैं और उन सबके भिन्न-भिन्न नाम हैं। प्रथम 'विनय' का अध्ययन और अन्तिम में जीव अजीव का स्वरूप स्पष्ट किया है। इसमें चार अनुयोगों (चरण-करणानुयोग, धर्मकथानुयोग, गणितानुयोग और द्रव्यानुयोग) द्वारा परीषह, लेश्या, कर्म, समाचारी, लोकालोक, आदि विभिन्न विषयों का वर्णन किया गया है। परन्तु मुख्यत. चरण-करणानुयोग और धर्मकथानुयोग द्वारा क्रमश अष्टप्रवचनमाता (पाँच समिति, तीन गुप्ति), दस साधु समाचारी, ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार एवं तपाचार तथा सम्यक्त्व पराक्रम के सवेग, निर्वेद, धर्म-श्रद्धा, गुरु और साधर्मियों की सेवा शुश्रूषा, आलोचना, निन्दा, गर्हा, सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, प्रत्याख्यान, स्तवस्तुतिमगल, काल प्रतिलेखना, प्रायश्चित्‌करण, क्षमापना, स्वाध्याय, वाचना, प्रतिपृच्छना, परावर्त्तना, अनुप्रेक्षा, धर्म-कथा, श्रुत की आराधना, एकाग्र मन की सन्निवेशना, सयम, तप, व्यवदान, सुखशाय, अप्रतिबद्धता, विविक्त शयनासन का सेवन, विनिवर्तना, सभोग-प्रत्याख्यान, उपधि-प्रत्याख्यान, आहार-प्रत्याख्यान, कषाय-प्रत्याख्यान, योग-प्रत्याख्यान, शरीर-प्रत्याख्यान, सहाय-प्रत्याख्यान, भक्त-प्रत्याख्यान, सद् भाव प्रत्याख्यान, प्रतिरूपता, वैयावृत्य, सर्वगुण सम्पूर्णता, वीतरागता, शाति, मुक्ति, मार्दव,आर्जव, भाव सत्य, करण-सत्य, योग सत्य, मनोगुप्तता, वागुप्तता, कायगुप्तता, मन समाधारण, वाक् समाधारण, काय समाधारण, ज्ञानसम्पन्नता, दर्शनसम्पन्नता, चारित्रसम्पन्नता, श्रोत्र इन्द्रिय-निग्रह, चक्षु इन्द्रिय-निग्रह, घ्राणइन्द्रिय-निग्रह, जिह्वा इन्द्रिय-निग्रह, स्पर्शइन्द्रिय-निग्रह, क्रोध-विजय, मान-विजय, माया-विजय, लोभ-विजय, राग-द्वेष और मिथ्यादर्शन-विजय, शैलेशी और अकर्मता इन ७३ बोल द्वारा धर्म ध्यान शुक्लध्यान का स्वरूप स्पष्ट किया है। धर्मध्यान का मूल सवेग है और शुक्लध्यान का फल अकर्मता है। चरणकरणानुयोग की भाँति ही धर्मकथानुयोग द्वारा भी जैसे कपिल केवली, नमिराजर्षि, इक्षुकार राजा, सयति राजा, मृगापुत्र, अनाथीमुनि, समुद्रपालित राजा, विजयघोष राजा आदि संयमी साधकों के माध्यम से धर्म और शुक्लध्यान का स्वरूप वर्णित किया है।

पूर्व आगमों में बताया गया है कि संयम मार्ग में नारी का ससर्ग त्याज्य है। परन्तु इसमें कमलावती राणी, व राजीमती कथा द्वारा स्पष्ट किया गया है कि धर्म भ्रष्ट राजा और सयम भ्रष्ट साधु को सही मार्ग दिखाने वाली नारी ही है। उसके दो रूप हमारे सामने दृष्टिगोचर होते हैं ज्योति और ज्वाला के रूप में।

इस प्रकार प्रस्तुत आगम में चरण-करणानुयोग और धर्मकथानुयोग द्वारा धर्मध्यान व शुक्लध्यान का स्वरूप एव फल विवेचन किया है।

प्रस्तुत मूल आगम लुधियाना से तीन भागों में प्रकाशित है।

२) दशवैकालिक ः- यह जैनागम साहित्य का द्वितीय मूल सूत्र है। इसके कर्ता शय्यभवाचार्य हैं। उन्होंने अपने पुत्र 'मणग' की छह मास ही आयु शेष रहने के कारण, उसे संपूर्ण श्रमणाचार का ज्ञान कराने हेतु इस आगम का निर्माण किया। इसके दस अध्याय और दो चूलिकाएँ हैं। चूलिकाएँ शय्यभवाचार्य की नही है ऐसा माना जाता है।

ध्यान करने की योग्यता किसमें हो सकती है? इसका प्रतिपादन प्रस्तुत आगम में है। जो साधक अहिंसा, संयम और तप की आराधना (साधना) से भ्रमर भिक्षा ग्रहण करके, ५२ अनाचार को टालकर, छह जीवनिकाय जीवों का रक्षक बनकर श्रमणाचार का पालन करता है वही ध्यानयोग का सच्चा साधक है। सयमी साधक को कैसे भिक्षा ग्रहण करना? किससे करना? कब करना? कैसे चलना? कैसे बोलना? आदि बातों का सूक्ष्म रूप से इसमें वर्णन किया गया है। ध्यानयोगी के लिए वाक् शुद्धि आवश्यक है। शरीर में बल हो तब तक ही साधना का प्रारभ करना चाहिये, क्योंकि क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाश करता है, माया मित्रता का नाश करती है और लोभ सबका विनाश करता है। अत ध्यान साधक को क्रोध के उपशम से, मान को मृदुता से, माया को आर्जव से और लोभ को सतोष से जीतना चाहिये। कषाय और स्त्री संसर्ग ही भवभ्रमण का कारण है। अत इनसे दूर रहे।

विनीत शिष्य सर्व सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है। अविनीत के लिये कोई सिद्धि नही। 'गुरुकृपा' से ध्यान की योग्यता प्राप्त होती है। गुरुकृपा 'विनय' से प्राप्त की जाती है। यदि मानो कि आसीविष सर्प के डंख मारने से, गिरिकन्दरा से गिरने से, अग्नि में गिरने से, जल में डूबने से उसी भव में मृत्यु हो जाती है। परन्तु आचार्य अथवा गुरु के अप्रसन्न होने से बोधि (सम्यक्त्व) की प्राप्ति ही नही होती। समाधि में लीन होने के लिये साधक को विनय समाधि, श्रुतसमाधि, तपसमाधि और आचार समाधि से युक्त होना चाहिए। जो मन, वचन और काय का सयत है वही सच्चा साधक (भिक्षु) है। आठ मदों का त्यागी और धर्म ध्यान का आराधक ही सच्चा साधक (भिक्षु) है।

मन को वश में कैसे किया जाय? तो कहते हैं कि जैसे चचल घोड़े को लगाम से वश किया जाता है, मदोन्मत्त हाथी को अकुश से वश किया जाता है, समुद्र में डूबती हुई नाव को ध्वजा से वश किया जाता है वैसे ही अठारह स्थानों का दुषम काल में दु खपूर्वक जीवन व्यतीत किया जाता है। १) गृहस्थ लोगों के कामभोग अल्पकालीन हैं, २) दुषमकालीन मनुष्य विशेष छल-कपट करनेवाले हैं, ३) दु:ख मुझे चिरकाल स्थायी नही होंगे, ४) सयम त्यागने से नीच पुरुषों का सन्मान करना होगा, ५) वमन किये हुए विषयभोगों को पुन पीना होगा, ६) नीच गति योग्य कर्म बांधने होंगे, ७) गृहपाश में स्थित गृहस्थों को धर्म दुर्लभ है, ८) विषूचिकादि रोग धर्महीन के वध के लिए होते हैं, ९) सकल्प विकल्प भी उसको नष्ट करनेवाले हैं, १०) गृहस्थावास क्लेश से सहित और चारित्र से रहित है, ११) गृहवास बंधनरूप है और चारित्र मोक्षरूप है, १२) गृहवास पापरूप है और चारित्र पाप से सर्वथा रहित है, १३) गृहस्थों के कामभोग बहुत से जीवों को साधारण रूप है, १४) प्रत्येक आत्मा के पुण्य-पाप पृथक-पृथक हैं, १५) मनुष्य जीवन कुश के अग्र भाग पर स्थित जलबिंदु के समान चचल है, अनित्य है, १६) प्रबल पापों का उदय है जिससे मुझे ऐसे निन्द्य विचार उत्पन्न होते हैं, १७) दुष्ट विचारों एव मिथ्यात्वादि से बाधे हुए पूर्वकृत कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नही, अथवा तप द्वारा उक्त कर्मों का क्षय करने से मोक्ष हो सकता है, १८) चिन्तन करने से मन को वश में किया जा सकता है।

ध्यान का काल स्वाध्याय के रूप में दिन के प्रथम और चतुर्थ प्रहर तथा वैसे ही रात्रि के भी जानना चाहिए। प्रस्तुत आगम में स्पष्ट किया है कि स्वाध्याय के बाद ध्यान करें। स्व अध्ययन के बाद ही ध्यान होगा। अत ध्यान ही तप है।

प्रस्तुत आगम लुधियाना से प्रकाशित है।

(३-४) नन्दी सूत्र और अनुयोग द्वार - ये आगम में चूलिका सूत्र कहलाते हैं। चूलिका शब्द का अर्थ है- अध्ययन एव ग्रन्थ विषयक स्पष्टीकरण।

तीसरा मूलसूत्र नदी में पाँच ज्ञान का भेद प्रभेदों के साथ विस्तृत वर्णन किया गया है। सम्यग्ज्ञान के बिना ध्यान की योग्यता प्राप्त नही होती। यह इसमें स्पष्ट किया है।

अनुयोगद्वार सूत्र में इन्हीं पाँच ज्ञानों को नय, प्रमाण और निक्षेपों के द्वारा विशेष वर्णित किया है। इन्हीं के द्वारा सम्यग्ज्ञान का विस्तृत विचार किया गया है। ध्यान की पात्रता सम्यग्ज्ञान से ही है। यह आगम से स्पष्ट किया गया है।

नन्दी सूत्र का प्रकाशन पाथर्डी से हुआ है और अनुयोग द्वार सूत्र का अजमेर से।

इन दोनों सूत्रों के क्रम मे कही-कही अतर है।

पूर्व आगमों में बताया गया है कि सयम मार्ग में नारी का ससर्ग त्याज्य है। परन्तु इसमें कमलावती राणी, व राजीमती कथा द्वारा स्पष्ट किया गया है कि धर्म भ्रष्ट राजा और सयम भ्रष्ट साधु को सही मार्ग दिखाने वाली नारी ही है। उसके दो रूप हमारे सामने दृष्टिगोचर होते हैं ज्योति और ज्वाला के रूप में।

इस प्रकार प्रस्तुत आगम में चरण-करणानुयोग और धर्मकथानुयोग द्वारा धर्मध्यान व शुक्लध्यान का स्वरूप एव फल विवेचन किया है।

प्रस्तुत मूल आगम लुधियाना से तीन भागों में प्रकाशित है।

२) **दशवैकालिक :-** यह जैनागम साहित्य का द्वितीय मूल सूत्र है। इसके कर्ता शय्यंभवाचार्य हैं। उन्होंने अपने पुत्र 'मणग' की छह मास ही आयु शेष रहने के कारण, उसे सपूर्ण श्रमणाचार का ज्ञान कराने हेतु इस आगम का निर्माण किया। इसके दस अध्याय और दो चूलिकाएँ हैं। चूलिकाएँ शय्यभवाचार्य की नही है ऐसा माना जाता है।

ध्यान करने की योग्यता किसमें हो सकती है? इसका प्रतिपादन प्रस्तुत आगम में है। जो साधक अहिंसा, सयम और तप की आराधना (साधना) से भ्रमर भिक्षा ग्रहण करके, ५२ अनाचार को टालकर, छह जीवनिकाय जीवों का रक्षक बनकर श्रमणाचार का पालन करता है वही ध्यानयोग का सच्चा साधक है। सयमी साधक को कैसे भिक्षा ग्रहण करना? किससे करना? कब करना? कैसे चलना? कैसे बोलना? आदि बातों का सूक्ष्म रूप से इसमें वर्णन किया गया है। ध्यानयोगी के लिए वाक् शुद्धि आवश्यक है। शरीर में बल हो तब तक ही साधना का प्रारभ करना चाहिये, क्योंकि क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाश करता है, माया मित्रता का नाश करती है और लोभ सबका विनाश करता है। अत ध्यान साधक को क्रोध के उपशम से, मान को मृदुता से, माया को आर्जव से और लोभ को सतोष से जीतना चाहिये। कषाय और स्त्री संसर्ग ही भवभ्रमण का कारण है। अत इनसे दूर रहे।

विनीत शिष्य सर्व सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है। अविनीत के लिये कोई सिद्धि नही। 'गुरुकृपा' से ध्यान की योग्यता प्राप्त होती है। गुरुकृपा 'विनय' से प्राप्त की जाती है। यदि मानो कि आसीविष सर्प के डख मारने से, गिरिकन्दरा से गिरने से, अग्नि में गिरने से, जल में डूबने से उसी भव में मृत्यु हो जाती है। परन्तु आचार्य अथवा गुरु के अप्रसन्न होने से बोधि (सम्यक्त्व) की प्राप्ति ही नही होती। समाधि में लीन होने के लिये साधक को विनय समाधि, श्रुतसमाधि, तपसमाधि और आचार समाधि से युक्त होना चाहिए। जो मन, वचन और काय का सयत है वही सच्चा साधक (भिक्षु) है। आठ मदों का त्यागी और धर्म ध्यान का आराधक ही सच्चा साधक (भिक्षु) है।

मन को वश में कैसे किया जाय? तो कहते हैं कि जैसे चंचल घोड़े को लगाम से वश किया जाता है, मदोन्मत्त हाथी को अंकुश से वश किया जाता है, समुद्र में डूबती हुई नाव को ध्वजा से वश किया जाता है वैसे ही अठारह स्थानों का दुषम काल में दु खपूर्वक जीवन व्यतीत किया जाता है। १) गृहस्थ लोगों के कामभोग अल्पकालीन हैं, २) दुषमकालीन मनुष्य विशेष छल-कपट करनेवाले हैं, ३) दु ख मुझे चिरकाल स्थायी नही होंगे, ४) सयम त्यागने से नीच पुरुषों का सन्मान करना होगा, ५) वमन किये हुए विषयभोगों को पुन पीना होगा, ६) नीच गति योग्य कर्म बाधने होंगे, ७) गृहपाश में स्थित गृहस्थों को धर्म दुर्लभ है, ८) विषूचिकादि रोग धर्महीन के वध के लिए होते हैं, ९) सकल्प विकल्प भी उसको नष्ट करनेवाले हैं, १०) गृहस्थावास क्लेश से सहित और चारित्र से रहित है, ११) गृहवास बधनरूप है और चारित्र मोक्षरूप है, १२) गृहवास पापरूप है और चारित्र पाप से सर्वथा रहित है, १३) गृहस्थों के कामभोग बहुत से जीवों को साधारण रूप है, १४) प्रत्येक आत्मा के पुण्य-पाप पृथक-पृथक हैं, १५) मनुष्य जीवन कुश के अग्र भाग पर स्थित जलबिंदु के समान चचल है, अनित्य है, १६) प्रबल पापों का उदय है जिससे मुझे ऐसे निन्द्य विचार उत्पन्न होते हैं, १७) दुष्ट विचारों एवं मिथ्यात्वादि से बाधे हुए पूर्वकृत कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नही, अथवा तप द्वारा उक्त कर्मों का क्षय करने से मोक्ष हो सकता है, १८) चिन्तन करने से मन को वश में किया जा सकता है।

ध्यान का काल स्वाध्याय के रूप में दिन के प्रथम और चतुर्थ प्रहर तथा वैसे ही रात्रि के भी जानना चाहिए। प्रस्तुत आगम में स्पष्ट किया है कि स्वाध्याय के बाद ध्यान करें। स्व अध्ययन के बाद ही ध्यान होगा। अत ध्यान ही तप है।

प्रस्तुत आगम लुधियाना से प्रकाशित है।

(३-४) नन्दी सूत्र और अनुयोग द्वार - ये आगम में चूलिका सूत्र कहलाते हैं। चूलिका शब्द का अर्थ है- अध्ययन एवं ग्रन्थ विषयक स्पष्टीकरण।

तीसरा मूलसूत्र नदी में पाँच ज्ञान का भेद प्रभेदों के साथ विस्तृत वर्णन किया गया है। सम्यग्ज्ञान के बिना ध्यान की योग्यता प्राप्त नही होती। यह इसमें स्पष्ट किया है।

अनुयोगद्वार सूत्र में इन्हीं पाँच ज्ञानों को नय, प्रमाण और निक्षेपों के द्वारा विशेष वर्णित किया है। इन्हीं के द्वारा सम्यग्ज्ञान का विस्तृत विचार किया गया है। ध्यान की पात्रता सम्यग्ज्ञान से ही है। यह आगम से स्पष्ट किया गया है।

नन्दी सूत्र का प्रकाशन पाथर्डी से हुआ है और अनुयोग द्वार सूत्र का अजमेर से।

इन दोनों सूत्रों के क्रम मे कही-कही अतर है।

४ छेद सूत्र

अप्रमादी साधक ही ध्यानयोग की साधना निर्विघ्न रूप से कर सकता है। साधना-कालीन जीवन में लगनेवाले दोषों का परिमार्जन करने से आत्मा निर्मल बनती है। इसलिए जैनागम साहित्य में छेदसूत्र को महत्त्व का स्थान दिया है। जैन सस्कृति का सार श्रमण धर्म है। श्रमण-धर्म की सिद्धि आचार धर्म की साधना से है। ध्यान योग की साधना में आचार धर्म नीव रूप है। आचार धर्म के उत्सर्ग, अपवाद, दोष और प्रायश्चित्त इनकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म क्रियाकलाप को विशुद्ध रूप से समझने के लिए छेत्रसूत्रों का ज्ञान-ध्यान साधक के लिए आवश्यक है। छेद सूत्र की संख्या चार है।

(१) आचार दशा अथवा दशाश्रुतस्कन्ध - इस प्रथम छेदसूत्र के दस अध्ययन हैं, जिनके अन्तर्गत साधक कालीन जीवन में आनेवाले विघ्नों का तथा साधना में सहायक तत्त्वों का विवेचन है। उपासक की ग्यारह पडिमा में से कार्योत्सर्ग पडिमा में ध्यान का स्वरूप अल्प मात्रा में स्पष्ट किया है। किन्तु भिक्षु की बारह पडिमा में से अन्तिम पडिमाओं में ध्यान का स्वरूप विशेष रूप से स्पष्ट किया है। प्रस्तुत आगम में पडिमा के रूप में ध्यान का विश्लेषण किया गया है।

यह आगम लाहोर से प्रकाशित है।

(२) बृहत्कल्प - सभी छेद सूत्रों में इसका स्थान महत्त्व का है। इसके अन्तर्गत श्रमण-श्रमणियों के आचारविषयक विधि-निषेध, उत्सर्ग-अपवाद, तप-प्रायश्चित्त आदि विषयों का विस्तृत वर्णन है। विशेषत श्रमणों की विशिष्ट साधना पद्धतियों (स्थविरकल्पी, जिनकल्पी, यथालन्द एव परिहारविशुद्ध कल्प) का वर्णन है। इसके छह उद्देश्यक हैं, जो सभी गद्य में हैं। इसका ग्रन्थप्रमाण १८५ श्लोक प्रमाण है। क्रमश ५०+२५+३१+३७+४२ = १८५

साधना पद्धतियों में से ध्यान को निकाल दिया जाय तो साधना सिद्ध हो ही नही सकती। अत. ध्यान साधना का अनिवार्य अंग है।

(३) व्यवहार सूत्र - यह कल्पसूत्र का ही पूरक तथा गद्यमय छेदसूत्र है। इसके दस अध्ययन और ३०० सूत्र हैं। इसमें विशेष तौर से प्रायश्चित्त पर विशेष प्रकाश डाला गया है। इसके अतिरिक्त ध्यान योग के विशिष्ट साधक आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक आदि का भी वर्णन है। गीतार्थ, अगीतार्थ, साधक की योग्यता, अयोग्यता का भी स्पष्ट वर्णन मिलता है। दीक्षा का स्वरूप, श्रमण-श्रमणियों की आचार भिन्नता, श्रमण-श्रमणियों का परस्पर व्यवहार कैसे हो? दीक्षा कब दी जाय? योग्य को दी जाय या अयोग्य को? शय्या सस्तारक आदि विभिन्न विषयों पर विवेचन किया गया है। खास तौर से भिक्षु

पडिमा, यवमध्यपडिमा, वज्रमध्यपडिमा, पच व्यवहार एव बाल दीक्षा की विधि पर विशेष प्रकाश डाला गया है जो ध्यान के पोषक तत्त्व हैं। इन साधनाओं के द्वारा ध्यान विकसित होता है।

(४) निशीथ सूत्र - प्रस्तुत छेदसूत्र में चार प्रकार के प्रायश्चित्त का विस्तृत वर्णन है। ये प्रायश्चित श्रमण-श्रमणियों के लिए ही हैं। इसके २० उद्देश्य हैं। १९ वें उद्देश्यक में प्रायश्चित्त का विधान है और २० वें उद्देश्यक में प्रायश्चित्त देने की प्रक्रिया है।

प्रथम उद्देश्यक में 'गुरुमासिक' प्रायश्चित्त का अधिकार है। द्वितीय उद्देश्यक से पंचम उद्देश्यक तक 'लघुमासिक' प्रायश्चित्त का विधान है। छट्ठे उद्देश्यक से लेकर ग्यारहवें उद्देश्यक तक 'गुरु चातुर्मासिक' प्रायश्चित्त का अधिकार है। बारहवें उद्देशक को लेकर उन्नीसवें उद्देश्यक तक 'लघुचातुर्मासिक' प्रायश्चित्त का प्रतिपादन किया गया है। बीसवें उद्देश्यक में आलोचना एव प्रायश्चित्त करते समय लगने वाले दोषों का सम्यक् विचार करके विशेष प्रायश्चित्त की व्यवस्था की गई है। ये सब ध्यान के पोषक हैं।

इस ग्रन्थ में करीबन १५०० सूत्र है।

३२ वाँ आगम 'आवश्यक सूत्र'

प्रस्तुत आगम जैन साधना का प्राण माना जाता है। जीवन शुद्धि और दोष परिमार्जन का हेतु होने से इसे आवश्यक सज्ञा दी है।

जैन साधना पद्धति में चिन्तन की दृष्टि से द्रव्य भाव को अधिक महत्त्व दिया गया है। हर पदार्थ को इन दो के द्वारा मापा जाता है। क्योंकि प्रत्येक क्रिया द्रव्य और भाव के द्वारा ही की जाती है। अत आवश्यक क्रिया भी दो प्रकार की है- द्रव्य और भाव।

यों तो आवश्यक छह प्रकार के हैं।

(१) सामायिक (२) चर्तुविंशतिस्तव (३) वन्दना (४) प्रतिक्रमण

(५) कायोत्सर्ग और (६) प्रत्याख्यान

यहाँ आवश्यक शब्द आध्यात्मिक शुद्धि का प्रतीक है। आत्मशुद्धि के बिना मनोनिग्रह नही हो सकता और मनोनिग्रह के बिना ध्यान सभव ही नही। अत ध्यान साधना में आवश्यक क्रिया सहायभूत है।

व्याख्यात्मक आगम साहित्य

मूल आगम ग्रन्थों के प्रत्येक शब्दों का गूढार्थ प्रकट करने के लिए व्याख्यात्मक साहित्य का निर्माण हुआ। यह प्राचीनतम परंपरा है। इसे हम चार भागों में विभाजित कर सकते हैं। (१) निर्युक्तियाँ (२) भाष्य (३) चूर्णियाँ (४) सस्कृत टीका।

अप्रमादी साधक ही ध्यानयोग की साधना निर्विघ्न रूप से कर सकता है। साधना-कालीन जीवन में लगनेवाले दोषों का परिमार्जन करने से आत्मा निर्मल बनती है। इसलिए जैनागम साहित्य में छेदसूत्र को महत्त्व का स्थान दिया है। जैन सस्कृति का सार श्रमण धर्म है। श्रमण-धर्म की सिद्धि आचार धर्म की साधना से है। ध्यान योग की साधना में आचार धर्म नीव रूप है। आचार धर्म के उत्सर्ग, अपवाद, दोष और प्रायश्चित्त इनकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म क्रियाकलाप को विशुद्ध रूप से समझने के लिए छेत्रसूत्रों का ज्ञान-ध्यान साधक के लिए आवश्यक है। छेद सूत्र की सख्या चार है।

(१) आचार दशा अथवा दशाश्रुतस्कन्ध - इस प्रथम छेदसूत्र के दस अध्ययन हैं, जिनके अन्तर्गत साधक कालीन जीवन में आनेवाले विघ्नों का तथा साधना में सहायक तत्त्वों का विवेचन है। उपासक की ग्यारह पडिमा में से कार्योत्सर्ग पडिमा में ध्यान का स्वरूप अल्प मात्रा में स्पष्ट किया है। किन्तु भिक्षु की बारह पडिमा में से अन्तिम पडिमाओं में ध्यान का स्वरूप विशेष रूप से स्पष्ट किया है। प्रस्तुत आगम में पडिमा के रूप में ध्यान का विश्लेषण किया गया है।

यह आगम लाहोर से प्रकाशित है।

(२) बृहत्कल्प - सभी छेद सूत्रों में इसका स्थान महत्त्व का है। इसके अन्तर्गत श्रमण-श्रमणियों के आचारविषयक विधि-निषेध, उत्सर्ग-अपवाद, तप-प्रायश्चित्त आदि विषयों का विस्तृत वर्णन है। विशेषत श्रमणों की विशिष्ट साधना पद्धतियों (स्थविरकल्पी, जिनकल्पी, यथालन्द एव परिहारविशुद्ध कल्प) का वर्णन है। इसके छह उद्देश्यक हैं, जो सभी गद्य में हैं। इसका ग्रन्थप्रमाण १८५ श्लोक प्रमाण है। क्रमश ५०+२५+३१+३७+४२ = १८५

साधना पद्धतियों में से ध्यान को निकाल दिया जाय तो साधना सिद्ध हो ही नही सकती। अत ध्यान साधना का अनिवार्य अंग है।

(३) व्यवहार सूत्र - यह कल्पसूत्र का ही पूरक तथा गद्यमय छेदसूत्र है। इसके दस अध्ययन और ३०० सूत्र हैं। इसमें विशेष तौर से प्रायश्चित्त पर विशेष प्रकाश डाला गया है। इसके अतिरिक्त ध्यान योग के विशिष्ट साधक आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक आदि का भी वर्णन है। गीतार्थ, अगीतार्थ, साधक की योग्यता, अयोग्यता का भी स्पष्ट वर्णन मिलता है। दीक्षा का स्वरूप, श्रमण-श्रमणियों की आचार भिन्नता, श्रमण-श्रमणियों का परस्पर व्यवहार कैसे हो? दीक्षा कब दी जाय? योग्य को दी जाय या अयोग्य को? शय्या सस्तारक आदि विभिन्न विषयों पर विवेचन किया गया है। खास तौर से भिक्षु

पडिमा, यवमध्यपडिमा, वज्रमध्यपडिमा, पच व्यवहार एव बाल दीक्षा की विधि पर विशेष प्रकाश डाला गया है जो ध्यान के पोषक तत्त्व हैं। इन साधनाओं के द्वारा ध्यान विकसित होता है।

(४) निशीथ सूत्र - प्रस्तुत छेदसूत्र में चार प्रकार के प्रायश्चित्त का विस्तृत वर्णन है। ये प्रायश्चित श्रमण-श्रमणियों के लिए ही हैं। इसके २० उद्देश्य हैं। १९ वें उद्देश्यक में प्रायश्चित्त का विधान है और २० वें उद्देश्यक में प्रायश्चित्त देने की प्रक्रिया है।

प्रथम उद्देश्यक में 'गुरुमासिक' प्रायश्चित्त का अधिकार है। द्वितीय उद्देश्यक से पचम उद्देश्यक तक 'लघुमासिक' प्रायश्चित्त का विधान है। छट्ठे उद्देश्यक से लेकर ग्यारहवें उद्देश्यक तक 'गुरु चातुर्मासिक' प्रायश्चित्त का अधिकार है। बारहवें उद्देशक को लेकर उन्नीसवें उद्देश्यक तक 'लघुचातुर्मासिक' प्रायश्चित्त का प्रतिपादन किया गया है। बीसवें उद्देश्यक में आलोचना एव प्रायश्चित्त करते समय लगने वाले दोषों का सम्यक् विचार करके विशेष प्रायश्चित्त की व्यवस्था की गई है। ये सब ध्यान के पोषक हैं।

इस ग्रन्थ में करीबन १५०० सूत्र है।

३२ वाँ आगम 'आवश्यक सूत्र'

प्रस्तुत आगम जैन साधना का प्राण माना जाता है। जीवन शुद्धि और दोष परिमार्जन का हेतु होने से इसे आवश्यक सज्ञा दी है।

जैन साधना पद्धति में चिन्तन की दृष्टि से द्रव्य भाव को अधिक महत्त्व दिया गया है। हर पदार्थ को इन दो के द्वारा मापा जाता है। क्योंकि प्रत्येक क्रिया द्रव्य और भाव के द्वारा ही की जाती है। अत आवश्यक क्रिया भी दो प्रकार की है- द्रव्य और भाव।

यों तो आवश्यक छह प्रकार के हैं।

(१) सामायिक (२) चर्तुविंशतिस्तव (३) वन्दना (४) प्रतिक्रमण

(५) कायोत्सर्ग और (६) प्रत्याख्यान

यहाँ आवश्यक शब्द आध्यात्मिक शुद्धि का प्रतीक है। आत्मशुद्धि के बिना मनोनिग्रह नही हो सकता और मनोनिग्रह के बिना ध्यान सभव ही नही। अत ध्यान साधना में आवश्यक क्रिया सहायभुत है।

व्याख्यात्मक आगम साहित्य

मूल आगम ग्रन्थों के प्रत्येक शब्दों का गूढार्थ प्रकट करने के लिए व्याख्यात्मक साहित्य का निर्माण हुआ। यह प्राचीनतम परंपरा है। इसे हम चार भागों में विभाजित कर सकते हैं। (१) निर्युक्तियाँ (२) भाष्य (३) चूर्णियाँ (४) सस्कृत टीका।

(१) निर्युक्तियाँ : जैसे वैदिक पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करने हेतु यास्क महर्षि ने निघण्टु भाष्य रूप निरुक्त लिखा वैसे ही जैनागमों के पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करने के लिए आचार्य भद्रबाहु ने प्राकृत पद्य में निर्युक्तियों की रचना की। इसकी व्याख्या शैली निक्षेप पद्धति की है। निक्षेप पद्धति में किसी एक पद के सभवित अर्थ करने के बाद उनमें से अप्रस्तुत अर्थों का निषेध करके प्रस्तुत अर्थ को ग्रहण किया जाता है। यह पद्धति जैन शास्त्र में अति लोकप्रिय रही है। इसीलिए भद्रबाहु ने प्रस्तुत पद्धति को निर्युक्ति के लिए उपयुक्त मानी। उनका कथन है कि भगवान महावीर की देशना (उपदेश) के समय कौनसा अर्थ किस शब्द से सबधित है, इस बात को लक्ष्य में रखते हुए, सही दृष्टि से अर्थ का निर्णय करना और उस अर्थ का मूल सूत्र के शब्दों के साथ सबध स्थापित करना निर्युक्ति का प्रयोजन है।[३३] दूसरे शब्दों में कहे तो सूत्र और अर्थ का निश्चित सबध बतलाने वाली व्याख्या को निर्युक्ति कहते हैं।[३४] अथवा निश्चयार्थ का प्रतिपादन करने वाली युक्ति को निर्युक्ति कहते हैं।[३५] अनुयोग द्वार सूत्र में तीन प्रकार की निर्युक्तियों का दिग्दर्शन है[३६] (१) निक्षेप निर्युक्ति (२) उपोद्घात - निर्युक्ति और (३) सूत्रस्पर्शिका - निर्युक्ति

आचार्य भद्रबाहु ने आगम ग्रन्थों पर दस निर्युक्तियाँ लिखी हैं। वे निम्नलिखित हैं।

(१) आवश्यक निर्युक्ति, (२) दशवैकालिक निर्युक्ति, (३) उत्तराध्ययन निर्युक्ति (४) *आचाराग* - निर्युक्ति (५) सूत्र*कृताग* निर्युक्ति (६) दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति (७) बृहत्कल्प - निर्युक्ति (८) व्यवहार - निर्युक्ति (९) सूर्यप्रज्ञप्ति और (१०) ऋषिभाषित निर्युक्ति। इनमें से अन्तिम दो निर्युक्तियाँ उपलब्ध नही हैं। शेष आठ उपलब्ध हैं।

भद्रबाहु नाम के एक से अधिक आचार्य हुए हैं। श्वेताम्बर मान्यतानुसार चतुर्दशपूर्वधर आचार्य भद्रबाहु हैं जो नेपाल में महाप्राण साधनार्थ गये थे, जब कि दिगम्बर- परम्परानुसार ये ही भद्रबाहु नेपाल में न जाकर दक्षिण में गये थे। यह तो अन्वेषण का विषय रहा है।

(१) आवश्यक निर्युक्ति : यह व्याख्या साहित्य की प्रथम रचना है। इसमें सभी आगमकालीन महत्त्वपूर्ण विषयों का विस्तृत एव सुव्यवस्थित व्याख्यान है। अन्य निर्युक्तियों में इसी की ओर संकेत किया जाता है। इसके छह अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में उपोद्घात है। इसे इस ग्रन्थ की भूमिका रूप में समझना चाहिये। यह भूमिका रूप होते हुए भी इसमें ८८० गाथाएँ हैं।

उपोद्घात अध्याय में ज्ञानाधिकार, ऋषभदेव व महावीर चरित्र हैं। क्षेत्र-कालादि

द्वार आदि का विस्तृत वर्णन करने के बाद मगल पाठ, नमस्कार रूप में सामायिक निर्युक्ति की सूत्रस्पर्शिक व्याख्या का प्रारभ करते हैं।

द्वितीय अध्याय में 'चर्तुविंशतिस्तव' का वर्णन है। 'चतुर्विंशति' शव्द का छह प्रकार से और 'स्तव' शब्द का चार प्रकार से निक्षेप पद्धति द्वारा वर्णन किया है।

तृतीय अध्याय 'वन्दना' का है। वन्दनाकर्म, चितिकर्म, कृतिकर्म, पूजाकर्म और विनयकर्म ये पाँच सामान्यत. वन्दना के पर्यायवाची शब्द हैं।

चतुर्थ अध्याय में 'प्रतिक्रमण' का उल्लेख है। प्रतिक्रमण-पर तीन प्रकार से विचार किया गया है। (१) प्रतिक्रमण रूप क्रिया (२) प्रतिक्रमण का कर्ता (प्रतिक्रामक) और (३) प्रतिक्रन्तव्य - प्रतिक्रमितव्य अशुभयोग रूप कर्म। जीव पापकर्मयोगों का प्रतिक्रामक है। अत जो ध्यान, प्रशस्त योग है, उसका साधु को प्रतिक्रमण नही करना चाहिये। प्रतिक्रमण, प्रतिचरण, परिहरणा, वारणा, निवृत्ति, निंदा, गर्हा, शुद्धि ये सभी प्रतिक्रमण शब्द के पर्यायवाची हैं।

पाँचवाँ अध्याय 'कायोत्सर्ग का है। इसी में प्रायश्चित्त के दस भेद बताये हैं। बाद में कायोत्सर्ग की व्याख्या की है। कायोत्सर्ग और व्युत्सर्ग एक ही पयार्यवाची शब्द है। कायोत्सर्ग का अर्थ व्रण चिकित्सा किया गया है। व्रण दो प्रकार का है। (१) तदुद्भव (कायोत्थ) और (२) आगन्तुक (परोत्थ)। इनमें से यहाँ पर आगन्तुक व्रण का शल्योद्धरण किया गया है। शल्योद्धरण की विधि शल्य की प्रकृति के अनुरूप होती है। जैसा व्रण होता है वैसी ही उसकी चिकित्सा होती है। यह तो बाह्य चिकित्सा की बात हुई। आभ्यन्तर व्रण चिकित्सा की भी अलग-अलग विधियाँ है। भिक्षाचर्या से उत्पन्न व्रण चिकित्सा की भी अलग-अलग विधियाँ है। भिक्षाचर्या से उत्पन्न व्रण आलोचना से ठीक हो सकता है। व्रतों के अतिचारों की शुद्धि प्रतिक्रमण से होती है। किसी अतिचार की शुद्धि कायोत्सर्ग (व्युत्सर्ग) से होती है। कोई कोई अतिचार तपस्या से शुद्ध होते हैं। इस प्रकार आभ्यन्तर व्रण चिकित्सा के अनेक उपाय है।

कायोत्सर्ग की व्याख्या करते समय निर्युक्तिकार ने निम्नलिखित ग्यारह द्वारों का आधार लिया है। (१) निक्षेप (२) एकार्थक (३) शब्द (४) विधान मार्गणा (५) काल प्रमाण (६) भेदपरिमाण (७) अशठ (८) शठ (९) विधि (१०) दोष (११) अधिकारी और (१२) फल। इनमें भेदपरिमाण की चर्चा के अन्तर्गत नौ भेदों की गणना करते है। (१) उच्छितोच्छित (२) उच्छित (३) उच्छितनिष्पण्ण (४) निषण्णोच्छित (५) निषण्ण (६) निषण्णनिषण्ण (७) निर्विण्णोच्छ्रित (८) निर्विण्ण और

(९) निर्विण्णनिर्विण्ण। इनमें से उच्छित का अर्थ है 'ऊर्ध्वस्थ' (खड़ा हुआ), निषण्ण का अर्थ है 'उपविष्ट' (बैठा हुआ) और निर्विण्ण का अर्थ है 'सुप्त' (सोया हुआ)।

भेदपरिमाण की चर्चा के साथ ही निर्युक्तिकार कायोत्सर्ग के फल की चर्चा प्रारभ करते हैं। उनका कथन है कि कायोत्सर्ग से देह और मति (जड़ता) की शुद्धि होती है, सुख-दु ख सहने की क्षमता आती है, अनुप्रेक्षा (अनित्यादि भावना) का चिन्तन होता है तथा एकाग्रतापूर्वक शुभध्यान का अभ्यास होता है। शुभ ध्यान का आधार लेकर निर्युक्तिकार 'ध्यान' की चर्चा करते हैं।

ध्यान का आगमिक दृष्टि से स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि अन्तर्मुहूर्त के लिये जो चित्त की एकाग्रता है वही ध्यान है। आगम के अनुसार ही ध्यान के चार भेद बताये हैं। उनमें से प्रथम दो ससार वर्धक और अन्तिम दो मोक्ष के हेतु बताये हैं। इन चार ध्यानों को शुभ और अशुभ भेदों में विभाजित किया है। प्रस्तुत अधिकार शुभ ध्यान के विषय में है। निर्युक्तिकार ध्यान से विशिष्ट सबध रखनेवाली अन्य बातों का भी इसमें वर्णन करते हैं। ध्यान की दृष्टि से ५वाँ अध्याय विशेष महत्त्व का है।

छट्ठे अध्याय में 'प्रत्याख्यान' का वर्णन है। प्रत्याख्यान दस प्रकार के हैं। निर्युक्तिकार इस पर छह प्रकार से विचार करते हैं।

प्रस्तुत निर्युक्ति में ध्यान का सविस्तृत वर्णन कायोत्सर्ग अध्याय में ही है।

यह निर्युक्ति भावनगर और राजनगर से प्रकाशित है।

(२) दशवैकालिक - निर्युक्ति - इसमें द्रुमपुष्पिका आदि दस अध्ययन हैं। निर्युक्तिकार ने सूत्रस्पर्शिक निर्युक्ति द्वारा 'धर्म' पद का व्याख्यान 'नाम धर्म, स्थापना धर्म, द्रव्य धर्म और भाव धर्म' से चार प्रकार का किया है। धर्म के लौकिक और लोकोत्तर ऐसे दो भेद भी किये हैं। लौकिक्क धर्म अनेक प्रकार का है - गम्यधर्म, पशु धर्म, देश धर्म, राज्य धर्म, पुखर धर्म, ग्राम धर्म, गणधर्म, गोष्ठीधर्म, राजधर्म आदि। लोकोत्तर धर्म दो प्रकार का है। श्रृतधर्म और चारित्र धर्म। श्रुतधर्म स्वाध्याय रूप है और चारित्र धर्म श्रावक और श्रमणरूप है - श्रुतधर्म के अन्तर्गत ही बाह्य और आभ्यन्तर 'तप' का वर्णन है। आभ्यन्तर तप में ही ध्यान का वर्णन है। ध्यान का अधिकारी आगार और अनगार है। आगारधर्म बारह प्रकार का है और अनगार धर्म शान्ति आदि दस धर्म मूलक तथा पाँच समिति, तीन गुप्ति और पाँच महाव्रतरूप हैं। विनयवान साधक ही ध्यान की साधना कर सकता है। नौवें अध्याय में विशेषत भावविनय के पाँच भेद बताये हैं। (१) लोकोपचार (२) अर्थनिमित्त (३) कामहेतु (४) भयनिमित्त और (५) मोक्षनिमित्त। मोक्षनिमित्तक

विनय पाँच प्रकार का है - दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और उपचार। इनमें तप के अन्तर्गत ही ध्यान का विशेष वर्णन है।

(३) उत्तराध्ययन निर्युक्ति : दशवैकालिक निर्युक्ति की ही भाँति इस निर्युक्ति में भी अनेक पारिभाषिक शब्दों का निक्षेप दृष्टि से चिंतन किया है तथा अनेक शब्दों के विविध पर्यायवाची शब्द भी दिये हैं। यत्र-तत्र अनेक शिक्षाप्रद कथानक भी दिये गये हैं। यथा, गधार, श्रावक, तोसलिपुत्र, आचार्य स्थूल भद्र, स्कन्दपुत्र, ऋषि पाराशर, कालक, करकडु, प्रत्येक बुद्ध, हरिकेश, मृगापुत्र आदि आवश्यक निर्युक्ति में कथित ध्यान का वर्णन यहाँ पर अदृष्य रूप से सयम शब्द के अन्तर्गत समाविष्ट कर दिया है। द्रव्य प्रव्रज्या की अपेक्षा भाव प्रव्रज्या को अधिक महत्त्व दिया गया है। भाव प्रव्रज्या ही ध्यान है।

भावाग का दो प्रकार से वर्णन किया गया है (१) श्रुतांग और (२) नो श्रुताग। श्रुताग आचारागादि बारह अग है और नोश्रुताग चतुरगीय के रूप में प्रसिद्ध है जैसे कि मानुष्य, धर्म श्रुति, श्रद्धा और वीर्य (तप और संयम से पराक्रम)

(४) आचारांग-निर्युक्ति : प्रस्तुत निर्युक्ति दोनों श्रुतस्कन्धों पर हैं। इसमें ३४८ गाथाएँ हैं। जिसके अन्तर्गत आचार, अंग, ब्रह्म, चरण, शस्त्र, सज्ञा, दिशा, पृथ्वी, विमोक्ष, ईर्या, निक्षेप, पर्याय आदि शब्दों पर चिंतन किया गया है। विशेषत अग शब्द पर विस्तृत चर्चा की गई है। बारह अगों में आचाराग को ही प्रथम क्यों रखा गया? इसका तार्किक दृष्टि से सुविस्तृत वर्णन किया गया है कि अगों का सार आचार है और आचार का सार क्रमश अनुयोग—प्ररूपणा—चरण—निर्वाण—अव्याबाध सुख। अव्याबाध सुख की प्राप्ति तप कर्म से ही होती है। सयम और तप से ही सिद्धि मिलती है। इस निर्युक्ति में सयम और तप के अन्तर्गत ध्यान का समावेश किया है। संयमी एव तपोमय जीवन ही ध्यान है। इस निर्युक्ति का यही सार तत्त्व है।

(५) सूत्रकृतागनिर्युक्ति : इस निर्युक्ति में २०५ गाथाएँ हैं। गा १८ और २० में 'सूत्रकृताग' शब्द पर विचार किया गया है। गा ६६ और ६७ में नारकी के १५ परमाधामी देवों का वर्णन है। अम्ब, अम्बरीष, शाम, शबल, रुद्र, अवरुद्र, काल, महाकाल, असिपत्र, धनुष्य, कुम्भ, वालुक, वैतरणी, खरस्वर और महाघोष इन पन्द्रह प्रकार के देवताओं का कार्य अपने-अपने नामानुसार ही है। गा. ६८ से लेकर ११८ तक की गाथाओं में निर्युक्तिकार ने नारकीय जीवों के दु खों का (वेदनाओं का) हृदयस्पर्शी वर्णन किया है। गा ११९ में १८० क्रियावादी, ८४ अक्रियावादी, ६७ अज्ञानवाद एवं ३२ वैनयिक आदि ३६३ पाखण्डियों का सुदर वर्णन किया है। इन विषयों के अतिरिक्त षोडश, श्रुत, स्कन्ध, पुरुष, विभक्ति, समाधि, मार्ग, आदान, ग्रहण, अध्ययन, पुण्डरीक,

(९) निर्विण्णनिर्विण्ण। इनमें से उच्छ्रित का अर्थ है 'ऊर्ध्वस्थ' (खड़ा हुआ), निषण्ण का अर्थ है 'उपविष्ट' (बैठा हुआ) और निर्विण्ण का अर्थ है 'सुप्त' (सोया हुआ)।

भेदपरिमाण की चर्चा के साथ ही निर्युक्तिकार कायोत्सर्ग के फल की चर्चा प्रारंभ करते हैं। उनका कथन है कि कायोत्सर्ग से देह और मति (जड़ता) की शुद्धि होती है, सुख-दु.ख सहने की क्षमता आती है, अनुप्रेक्षा (अनित्यादि भावना) का चिन्तन होता है तथा एकाग्रतापूर्वक शुभध्यान का अभ्यास होता है। शुभ ध्यान का आधार लेकर निर्युक्तिकार 'ध्यान' की चर्चा करते हैं।

ध्यान का आगमिक दृष्टि से स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि अन्तर्मुहूर्त के लिये जो चित्त की एकाग्रता है वही ध्यान है। आगम के अनुसार ही ध्यान के चार भेद बताये हैं। उनमें से प्रथम दो संसार वर्धक और अन्तिम दो मोक्ष के हेतु बताये हैं। इन चार ध्यानों को शुभ और अशुभ भेदों में विभाजित किया है। प्रस्तुत अधिकार शुभ ध्यान के विषय में है। निर्युक्तिकार ध्यान से विशिष्ट सबध रखनेवाली अन्य बातों का भी इसमें वर्णन करते हैं। ध्यान की दृष्टि से ५वाँ अध्याय विशेष महत्त्व का है।

छट्ठे अध्याय में 'प्रत्याख्यान' का वर्णन है। प्रत्याख्यान दस प्रकार के हैं। निर्युक्तिकार इस पर छह प्रकार से विचार करते हैं।

प्रस्तुत निर्युक्ति में ध्यान का सविस्तृत वर्णन कायोत्सर्ग अध्याय में ही है।

यह निर्युक्ति भावनगर और राजनगर से प्रकाशित है।

(२) दशवैकालिक - निर्युक्ति - इसमें द्रुमपुष्पिका आदि दस अध्ययन हैं। निर्युक्तिकार ने सूत्रस्पर्शिक निर्युक्ति द्वारा 'धर्म' पद का व्याख्यान 'नाम धर्म, स्थापना धर्म, द्रव्य धर्म और भाव धर्म' से चार प्रकार का किया है। धर्म के लौकिक और लोकोत्तर ऐसे दो भेद भी किये हैं। लौकिक धर्म अनेक प्रकार का है - गम्यधर्म, पशु धर्म, देश धर्म, राज्य धर्म, पुखर धर्म, ग्राम धर्म, गणधर्म, गोष्ठीधर्म, राजधर्म आदि। लोकोत्तर धर्म दो प्रकार का है। श्रृतधर्म और चारित्र धर्म। श्रुतधर्म स्वाध्याय रूप है और चारित्र धर्म श्रावक और श्रमणरूप है - श्रुतधर्म के अन्तर्गत ही बाह्य और आभ्यन्तर 'तप' का वर्णन है। आभ्यन्तर तप में ही ध्यान का वर्णन है। ध्यान का अधिकारी आगार और अनगार है। आगारधर्म बारह प्रकार का है और अनगार धर्म शान्ति आदि दस धर्म मूलक तथा पाँच समिति, तीन गुप्ति और पाँच महाव्रतरूप हैं। विनयवान साधक ही ध्यान की साधना कर सकता है। नौवें अध्याय में विशेषत भावविनय के पाँच भेद बताये हैं। (१) लोकोपचार (२) अर्थनिमित्त (३) कामहेतु (४) भयनिमित्त और (५) मोक्षनिमित्त। मोक्षनिमित्तक

विनय पाँच प्रकार का है - दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और उपचार। इनमें तप के अन्तर्गत ही ध्यान का विशेष वर्णन है।

(३) उत्तराध्ययन निर्युक्ति : दशवैकालिक निर्युक्ति की ही भाँति इस निर्युक्ति में भी अनेक पारिभाषिक शब्दों का निक्षेप दृष्टि से चिंतन किया है तथा अनेक शब्दों के विविध पर्यायवाची शब्द भी दिये हैं। यत्र-तत्र अनेक शिक्षाप्रद कथानक भी दिये गये हैं। यथा, गधार, श्रावक, तोसलिपुत्र, आचार्य स्थूल भद्र, स्कन्दपुत्र, ऋषि पाराशर, कालक, करकडु, प्रत्येक बुद्ध, हरिकेश, मृगापुत्र आदि आवश्यक निर्युक्ति में कथित ध्यान का वर्णन यहाँ पर अदृष्य रूप से सयम शब्द के अन्तर्गत समाविष्ट कर दिया है। द्रव्य प्रव्रज्या की अपेक्षा भाव प्रव्रज्या को अधिक महत्त्व दिया गया है। भाव प्रव्रज्या ही ध्यान है।

भावाग का दो प्रकार से वर्णन किया गया है (१) श्रुताग और (२) नो श्रुताग। श्रृतांग आचारांगादि बारह अंग है और नोश्रुतांग चतुरगीय के रूप में प्रसिद्ध है जैसे कि मानुष्य, धर्म श्रुति, श्रद्धा और वीर्य (तप और सयम से पराक्रम)

(४) आचारांग-निर्युक्ति : प्रस्तुत निर्युक्ति दोनों श्रुतस्कन्धों पर हैं। इसमें ३४८ गाथाएँ हैं। जिसके अन्तर्गत आचार, अंग, ब्रह्म, चरण, शस्त्र, संज्ञा, दिशा, पृथ्वी, विमोक्ष, ईर्या, निक्षेप, पर्याय आदि शब्दों पर चिंतन किया गया है। विशेषत अग शब्द पर विस्तृत चर्चा की गई है। बारह अगों में आचारांग को ही प्रथम क्यों रखा गया? इसका तार्किक दृष्टि से सुविस्तृत वर्णन किया गया है कि अंगों का सार आचार है और आचार का सार क्रमश अनुयोग—प्ररूपणा—चरण—निर्वाण—अव्याबाध सुख। अव्याबाध सुख की प्राप्ति तप कर्म से ही होती है। सयम और तप से ही सिद्धि मिलती है। इस निर्युक्ति में सयम और तप के अन्तर्गत ध्यान का समावेश किया है। संयमी एवं तपोमय जीवन ही ध्यान है। इस निर्युक्ति का यही सार तत्त्व है।

(५) सूत्रकृतागनिर्युक्ति : इस निर्युक्ति में २०५ गाथाएँ हैं। गा १८ और २० में 'सूत्रकृतांग' शब्द पर विचार किया गया है। गा. ६६ और ६७ में नारकी के १५ परमाधामी देवों का वर्णन है। अम्ब, अम्बरीष, शाम, शबल, रुद्र, अवरुद्र, काल, महाकाल, असिपत्र, धनुष्य, कुम्भ, वालुक, वैतरणी, खरस्वर और महाघोष इन पन्द्रह प्रकार के देवताओं का कार्य अपने-अपने नामानुसार ही है। गा. ६८ से लेकर ११८ तक की गाथाओं में निर्युक्तिकार ने नारकीय जीवों के दु खों का (वेदनाओं का) हृदयस्पर्शी वर्णन किया है। गा ११९ में १८० क्रियावादी, ८४ अक्रियावादी, ६७ अज्ञानवाद एवं ३२ वैनयिक आदि ३६३ पाखण्डियों का सुदर वर्णन किया है। इन विषयों के अतिरिक्त षोडश, श्रुत, स्कन्ध, पुरुष, विभक्ति, समाधि, मार्ग, आदान, ग्रहण, अध्ययन, पुण्डरीक,

आहार, प्रत्याख्यान, सूत्र, आर्द्र आदि विभिन्न विषयों पर विवेचन किया गया है। 'आर्द्र'पद की व्याख्या के साथ ही साथ आर्द्र की जीवन कथा भी दी गई है। अन्त में नालंदा की निर्युक्ति करते समय 'अलम्' शब्द से नाम, स्थापना, द्रव्य भाव निक्षेप से व्याख्या की है और यह भी स्पष्ट किया है कि राजगृह के बाहर नालन्दा है।

विशेष रूप से इस निर्युक्ति में 'समाधि' और 'मार्ग' के निक्षेप पद्धति से ध्यानयोग का विश्लेषण किया है। प्राचीन काल में भी ध्यान, समाधि और भावना इन तीन शब्दों के साथ 'योग' शब्द को जोड़ा गया है। अत॰ प्राचीनकालीन शब्दों का भी दिग्दर्शन इस निर्युक्ति में विशेष रूप से मिलता है।

(६) दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति : प्रस्तुत निर्युक्ति दशाश्रुतस्कन्ध नामक छेदसूत्र पर है। प्रथमत॰ दशा, कल्प एव भद्रबाहु को नमस्कार करने के बाद 'एक' और 'दश' का निक्षेप पद्धति से व्याख्यान किया गया है। तदनन्तर दस अध्ययनों के अधिकारों का निर्देश है।

प्रथम अध्याय असमाधि स्थान की निर्युक्ति में द्रव्य और भाव समाधि का स्वरूप बताकर स्थान के नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, अद्धा, ऊर्ध्व, चर्या, वसति, सयम, प्रग्रह, योध, अचल, गणन, सधान और भाव इन पन्द्रह प्रकार से निक्षेपों का उल्लेख किया है। द्वितीय अध्याय में शबल दोष की व्याख्या करते हुए आचार से भिन्न व्यक्ति भाव शबल बताया है। तृतीय अध्याय में आशातना की व्याख्या दो प्रकार से की है। मिथ्याप्रतिपादन सबधी और लाभ सबधी। चतुर्थ अध्याय में 'गणि' और 'सपदा' इन दो पदों का निक्षेप पद्धति से विवेचन किया है। पचम अध्याय में 'चित्त' और 'समाधि' पर निक्षेप पद्धति से विचार किया गया है। इन दोनों के नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव रूप से चार -चार प्रकार हैं। भाव चित्त की समाधि ही ध्यानावस्था की स्थिति है। छट्ठे अध्याय में 'उपासक' और 'प्रतिमा' का निक्षेप-दृष्टि से व्याख्यान किया गया है। उपासक चार प्रकार के बताये हैं- द्रव्योपासक, तदर्थोपासक, मोहोपासक तथा भावोपासक। सम्यग्दृष्टि ही भावोपासक हो सकता है। उपासक को श्रावक भी कहते हैं। 'प्रतिमा' भी नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव चार प्रकार से हैं। सद्गुण धारणा का नाम भाव प्रतिमा है। वह दो प्रकार की है। भिक्षु प्रतिमा और उपासक प्रतिमा। भिक्षु प्रतिमा बारह प्रकार की है और उपासक प्रतिमा ग्यारह प्रकार की। सप्तम अध्याय में ही बारह भिक्षु प्रतिमा का वर्णन है, जिसके अन्तर्गत ही ध्यान का स्वरूप स्पष्ट किया है। भिक्षु प्रतिमा चार प्रकार की है- नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। भाव भिक्षु प्रतिमा पाँच प्रकार की है। समाधि प्रतिमा, उपधानप्रतिमा, विवेकप्रतिमा, प्रतिसलीनताप्रतिमा और एकविहारप्रतिमा। अष्टम अध्याय में पर्युषणकल्प का व्याख्यान

किया गया है और नौवें दशवें में क्रमश मोहनीय स्थान का तथा 'आजाति' जन्म-मरण का क्या कारण है और 'अनाजाति' मोक्ष किस प्रकार प्राप्त हो? आदि का वर्णन है।

प्रस्तुत निर्युक्ति में समाधि शब्द के अन्तर्गत ध्यान का स्वरूप स्पष्ट किया है।

(७) बृहत्कल्पनिर्युक्ति : प्रस्तुत निर्युक्ति में 'मगल' और 'अनुयोग' शब्द का निक्षेप-पद्धति से विवेचन किया गया है। श्रमण धर्म से सबधित साधना में आवश्यक विधि-विधान, उत्सर्ग-अपवाद, दोष-प्रायश्चित्त आदि का व्याख्यानात्मक वर्णन के साथ ही साथ श्रमणों की विशिष्ट साधना पद्धति (जिनकल्प व स्थविरकल्प) का भी वर्णन किया है। इसी के अंतर्गत ध्यान का विश्लेषण किया है।

अनार्य क्षेत्र में विचरण करने से लगनेवाले दोषों का स्कन्दकाचार्य के दृष्टात द्वारा तथा आर्य क्षेत्र में विचरण करने से ज्ञान-दर्शन-चारित्र की रक्षा एवं वृद्धि के लिए संप्रतिराजा के दृष्टान्त से समर्थन किया है।

ज्ञान दर्शन चारित्र की साधना आर्याक्षेत्र में ही सुलभ है। स्थान की दृष्टि से भी ध्यान का स्थान आर्य क्षेत्र ही है।

(८) व्यवहार -निर्युक्ति : प्रस्तुत निर्युक्ति में बृहत्कल्प निर्युक्ति में कथित विषयों का ही अधिकतर विवेचन है। इसमें ध्यान संबधी भिक्षु पडिमा और अन्य पडिमाओं का व्याख्यात्मक वर्णन है।

अन्य निर्युक्तियाँ

उपरोक्त आठ निर्युक्तियों के अतिरिक्त पिण्डनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति, पचकल्पनिर्युक्ति, निशीथ निर्युक्ति और ससक्त निर्युक्ति भी मिलती हैं। अन्तिम निर्युक्ति तो बहुत बाद के आचार्य की रचना है। प्रथम की तीन निर्युक्तियाँ स्वतंत्र ग्रन्थ न होकर क्रमश· दशवैकालिक निर्युक्ति, आवश्यकनिर्युक्ति और बृहत्कल्पनिर्युक्ति के ही पूरक अग है। निशीथनिर्युक्ति भी आचारांग का ही पूरक है। फिर भी भद्रबाहु द्वारा रचित पिण्ड निर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति का कलेवर विशालकाय होने से उसपर भी अलग सा विचार किया जा रहा है।

पिण्डनिर्युक्ति : प्रस्तुत निर्युक्ति भद्रबाहु द्वारा रचित है। इसमें आठ अधिकार और ६७१ गाथाएँ हैं। दशवैकालिक का पंचम अध्याय पिंडेषणा का है। उस पर लिखित निर्युक्ति विस्तृत होने से इसका नाम अलग सा रखा गया है। इसके आठ अध्याय में ध्यान साधना में आनेवाले विघ्नों का वर्णन है। जैसे १) उद्गमदोष, २) उत्पादन-दोष, ३) एषणा दोष, ४) सयोजना, ५) प्रमाण, ६) अंगार, ७) धूम और (८) कारण

पिण्ड के नौ प्रकार बताये हैं - पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय। इन सबके सचित्त, अचित्त और मिश्र ऐसे तीन-तीन भेद है।

प्रस्तुत निर्युक्ति में श्रमण-श्रमणियों को ४२ दोषों (१६ उद्‌गम के, १६ उत्पादन के और १० एषणा के) को टालकर भिक्षा लेने का वर्णन किया है। शुद्ध आहार से ही ध्यान सिद्ध किया जा सकता है।

ओघनिर्युक्ति : यह भी आचार्य भद्रबाहु की ही कृति है। इसमें श्रमणाचार का विस्तृत वर्णन है और बीच-बीच में अनेक कथाएँ भी हैं। प्रस्तुतकृति में प्रतिलेखनद्वार, पिण्डद्वार, उपाधिनिरूपण, अनायतनवर्जन, प्रतिसेवनद्वार, आलोचनाद्वार और विशुद्धिद्वार आदि द्वारों का निरूपण किया गया है।

विशुद्धि द्वार के अन्तर्गत ही ध्यान का विश्लेषण (किया गया) है। जीवन से भ्रष्ट हो जाने पर तप के द्वारा आत्मशुद्धि की जाती है। परिणामों की शुद्धि ही मोक्ष का कारण है। सयम के लिए ही देह धारण किया जाता है। देह के अभाव में सयम की साधना कैसे हो सकती है? अत सयम साधनार्थ ही देह की रक्षा होनी चाहिये।

अयत्नाशील साधु की ईर्या पथ आदि क्रिया कर्म बध का कारण बनती है और यत्नाशील साधु के लिए निर्वाण का कारण होती है। अत योगी के लिए तीन प्रकार की एषणा का वर्णन है। गवैषणा, ग्रहणैषणा और ग्रासैषणा। ग्रहणैषणा में आत्मविराधना, सयम-विराधना और प्रवचन विराधना नामक दोषों का वर्णन है। ग्रासैषणा में साधु के आहार का विधान है। इसके अतिरिक्त जिनकल्पियों के बारह उपकरण और स्थविरकल्पियों के चौदह उपकरणों का वर्णन है और आर्यिकाओं के लिए पच्चीस उपकरणों का।

ध्यान संबंधी साहित्य

(२) भाष्य : आगमों की प्राचीनतम पद्‌मात्मक टीकाएँ निर्युक्तियों के रूप में प्रसिद्ध हैं। उनका उद्देश्य केवल पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करना था। इसके कारण निर्युक्तियों की व्याख्यान-शैली गूढ़ एव जटिल हो गई। अन्य व्याख्याओं की सहायता के बिना निर्युक्तियों की अनेक बातें समझ में नही आने लगी। इसीलिए निर्युक्तियों के गूढ़ार्थ को स्पष्ट करने के लिए ही आचार्यों ने उन पर विस्तृत व्याख्याएँ लिखी। निर्युक्ति के आधारपर अथवा स्वतत्र रूप से लिखी गई पद्‌मात्मक व्याख्याएँ भाष्य के रूप में प्रसिद्ध हुई हैं। निर्युक्तियों की भाँति ही भाष्य भी प्राकृत में ही है।

भाष्य एवं भाष्यकार : जैसे सभी आगम पर निर्युक्तियाँ नही लिखी गई वैसे ही

सभी निर्युक्तियों पर भाष्य भी नही लिखे गये। निम्नलिखित आगमनिर्युक्ति पर ही भाष्य लिखे गये हैं - (१) आवश्यक (२) दशवैकालिक (३) उत्तराध्ययन (४) वृहत्कल्प (५) पंचकल्प (६) व्यवहार (७) निशीथ (८) जीतकल्प (९) ओघनिर्युक्ति और (१०) पिण्डनिर्युक्ति।

आवश्यक सूत्र पर तीन भाष्य लिखे गये हैं (१) मूलभाष्य (२) भाष्य और (३) विशेषावश्यक भाष्य। प्रथम के दो भाष्य अति संक्षिप्त हैं। उन्हें विशेषावश्यक भाष्य में ही सम्मिलित कर लिया गया है। यह भाष्य पूरे आवश्यक पर न होकर केवल उसके अध्याय 'सामायिक' पर ही है। एक अध्ययन होते हुए भी इसमें ३६०३ गाथाएँ हैं। दशवैकालिक भाष्य में ६३ गाथाएँ हैं। उत्तराध्ययन बहुत ही छोटा है, उसके सिर्फ ४५ ही गाथाएँ हैं। बृहत्कल्प पर दो भाष्य हैं - बृहद् और लघु। बृहद् भाष्य पूरा उपलब्ध नही है। लघुभाष्य में ६४९० गाथाएँ हैं। पचकल्प महा भाष्य की गाथा संख्या २५७४ है। व्यवहार भाष्य में ४६२९ गाथाएँ हैं। निशीथ भाष्य में करीबन ६७०२ गाथाएँ हैं। जीतकल्प भाष्य की गाथा सख्या २६०६ है। ओघनिर्युक्ति पर दो भाष्य हैं जिनकी क्रमश गाथा सख्या ३२२ और २५१७ है। पिण्डनिर्युक्ति भाष्य में ४६ गाथाएँ हैं। इनमें कुछ भाष्य हमारे पास उपलब्ध है और कुछ अनुपलब्ध। अनुपलब्ध भाष्य की गाथा सख्या में कही-कही अन्तर भी हो सकता है।

उपलब्ध भाष्यों की प्रतियों के आधार पर सिर्फ दो ही भाष्यकारों के नाम मिलते हैं (१) आचार्य जिन भद्र और (२) सघदास-गणि। आचार्य जिनभद्र गणि के दो भाष्य हैं विशेषावश्यक भाष्य और जीतकल्प भाष्य। सघदास गणि के भी दो ही भाष्य हैं। बृहत्कल्प-लघुभाष्य और पचकल्प महाभाष्य।

इन दो भाष्यकारों के अतिरिक्त पुण्यविजयजी के कथनानुसार व्यवहार भाष्य और बृहत्कल्प-बृहद् भाष्य आदि के प्रणेता दूसरे हैं, इनके नाम ज्ञात नही हैं। यह भी अन्वेषण का ही विषय रहा है।

(१) विशेषावश्यक भाष्य : प्रस्तुत भाष्य जैनागमों में कथित सभी महत्त्वपूर्ण विषयों का विशालकाय ग्रन्थ है। इसको देखने के बाद अन्य ग्रन्थों को देखने की आवश्यकता ही नही होती। इसमें मुख्यत जैन धर्म में कथनानुसार ज्ञानवाद, प्रमाणशास्त्र, आचार-नीति, स्याद्वाद, नयवाद, कर्मसिद्धान्त, गणधरवाद, जमालि आदि आठ निह्नवों आदि विषयों का विस्तृत वर्णन है।

प्रस्तुत ग्रन्थ आवश्यक सूत्र की व्याख्या रूप है। इसमें प्रथम अध्ययन 'सामायिक' से सबधित निर्युक्ति गाथाओं का विवेचन है। उपोद्घात में आवश्यकादि अनुयोग के

विश्लेषण के साथ ही साथ फल, योग, मंगल, समुदायार्थ, दारोपन्यास, तद्भव, निरुक्त, क्रम प्रयोजन आदि दृष्टियों से विचार किया गया है। फलद्वार के अन्तर्गत ही ज्ञान और क्रिया के समन्वय से ही मोक्ष बताया है। उसके लिए सर्वप्रथम सामायिक आवश्यकता जरूरी है। सामायिक का लक्षण समभाव है। समभाव की साधना ही ध्यान है। ध्यान की योग्यता के लिए श्रुत का ज्ञान, श्रमणों की विशिष्ट साधना-क्रम का ज्ञान आवश्यक बताया है।

'आवश्यक' का नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव रूप चार प्रकार से निक्षेप किया गया है। प्रस्तुत भाष्य में द्रव्यावश्यक की आगम और नोआगम आगम रूप से व्याख्या की गई है। आगम, नो आगम के भेद से भावावश्यक की व्याख्या की गई है। नो आगम रूप भावावश्यक तीन प्रकार का है। लौकिक, लोकोत्तर और कुप्रावचनिक। इन तीनों में लोकोत्तर भावावश्यक ही प्रशस्त है। उसी का इसमें अधिकार है।

आवश्यक श्रुतस्कन्ध के छह अध्याय है-

१) सामायिकाधिकार - का अर्थाधिकार सावद्ययोगविरति है।

२) चतुर्विंशतिस्तव - का अर्थाधिकार गुणोत्कीर्तन है।

३) वन्दनाध्ययन - का अर्थाधिकार गुणी गुरु की प्रतिपत्ति है।

४) प्रतिक्रमणाध्ययन - का अर्थाधिकार श्रुतशील स्खलन की निंदा है।

५) कार्योत्सर्गाध्ययन - का अर्थाधिकार अपराध व्रण चिकित्सा है।

६) प्रत्याख्यानाधिकार - का अर्थाधिकार गुण धारणा है।

सामायिक दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप से तीन प्रकार की है। सामायिक के लाभ विवेचन में कर्मों की स्थिति का वर्णन है। आठों कर्म प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति के विद्यमान होने पर जीव को चार प्रकार की सामायिक (सम्यक्त्व, श्रुत, देश विरति और सर्वविरति) में से एक का भी लाभ नही हो सकता। सम्यक्त्व प्राप्ति के क्रम में तीन करणों पर प्रकाश डाला गया है और ग्रन्थिभेदन का विशेष वर्णन किया है।

उपरोक्त चार सामायिक की प्राप्ति भाष्यकार के कथनानुसार आयु कर्म को छोड़कर शेष कर्मों की स्थिति कुछ न्यून कोडाकोडी सागरोपम के रहते सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, उसमें से पल्योपम-पृथक्त्व का क्षय होने पर देशविरति श्रावक की, उसमें से भी सख्यात सागरोपम का क्षय होने पर चारित्र की, उसमें से सख्यात सागरोपम का क्षय होने पर उपशम श्रेणी की और उसमें भी सख्यात सागरोपम का क्षय होने पर क्षपक श्रेणी की प्राप्ति होती है। क्षपक श्रेणी के बाद ही जीव को शैलेशी अवस्था प्राप्त होती है। यही ध्यान की चरमसीमा है।

कषायादि के उदय से दर्शनादि सामायिक की प्राप्ति नहीं हो सकती अथवा होकर भी नष्ट हो जाती है। मुख्यत. कषाय चार ही है- क्रोध, मान, माया और लोभ। अनतानुबंधी चतुष्क, अप्रत्याख्यानी चतुष्क और प्रत्याख्यानी चतुष्क इन बारह प्रकार की कषायों का क्षय, उपशम और क्षयोपशम होने पर ही मनोवाक्‌काय रूप प्रशस्त हेतुओं से चारित्र लाभ होता है। चारित्र पाँच प्रकार का है - सामायिक चारित्र, छेदोपस्थापनीय चारित्र, परिहार विशुद्ध चारित्र, सूक्ष्म सपराय चारित्र और यथाख्यात चारित्र। इनमें परिहार विशुद्ध चारित्र पर विशेष वर्णन किया गया है जो कि श्रमणों की विशिष्ट साधना पद्धति है।

प्रस्तृत भाष्य में ध्यान से संबधित अनेक विषयों पर विचार किया गया है। कर्मक्षय का मुख्य साधन ध्यान ही है।

(२) जीतकल्प भाष्य : यह जिनभद्र की द्वितीय कृति है। इसमें १०३ प्राकृत गाथाएँ हैं। इसमें 'जीत व्यवहार' के आधार पर दिये जानेवाले प्रायश्चित्तों का वर्णन है। 'प्रायच्छित्त' और 'पच्छित्त' इन दो शब्दों की व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि जो पाप का छेद करता है वह "प्रायच्छित्त" है, तथा जिससे चित्त शुद्ध होता है वह 'पच्छित्त' है। यही ध्यान की प्रक्रिया है।

प्रस्तृत भाष्य में 'जीतव्यवहार' का व्याख्यान करने के हेतु भाष्यकार ने आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और व्यवहार रूप पचक व्यवहार का विवेचन किया है।

प्राचीनकाल में प्रायश्चित्तदाता केवली और चतुर्दशपूर्वधर माने जाते थे, किन्तु वर्तमान में वे नही हैं। तथापि प्रायश्चित्त-विधि का विधान प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय वस्तु के आधार से विद्यमान कल्प, प्रकल्प तथा व्यवहार ग्रन्थों का निर्माण हुआ है। वे ग्रन्थ आज भी विद्यमान हैं। अत इन्ही ग्रन्थों के आधार पर प्रायश्चित्त का विधान किया जा रहा है। प्रायश्चित्त से चारित्र की शुद्धि होती है। बिना प्रायश्चित्त के चारित्र स्थिर नही रह सकता, चारित्र के अभाव में तीर्थंकर नही बन सकता, तीर्थंकर के बिना निर्वाण नही, निर्वाण लाभ के अभाव में कोई दीक्षित नही हो सकता, दीक्षित साधु के अभाव में तीर्थ भी नही रहेगा। अत तीर्थ को टिकाये रखने के लिए प्रायश्चित्त का होना आवश्यक है। प्रायश्चित्त के दस भेदों का इसमें विस्तृत वर्णन है।

विशिष्ट श्रमणों की साधना छह कल्पस्थिति में विभाजित है- सामायिक, छेद निर्विशमान, निर्विष्ट, जिनकल्प, स्थविरकल्प, परिहार कल्प। इनमें से जिन कल्प और स्थविर कल्प का विस्तृत वर्णन है। ये सभी ध्यान साधना के पोषक हैं। इनके बिना ध्यान साधना विकसित नहीं हो सकती।

(३) वृहत्कल्प-लघु भाष्य : प्रस्तुत कृति संघदास गणि क्षमाश्रमण की है। यह

लघुभाष्य होते हुये भी इसमें ६४९० गाथाएँ हैं। छह उद्देश्यों में विभक्त हैं। भाष्य के प्रारभ में पीठिका है जिसकी गाथा सख्या ८०५ है।

पीठिका में मगलाचरण रूप में पाँच ज्ञान का वर्णन किया है। उनमें श्रुतज्ञान के वर्णन के अन्तर्भाव सम्यक्त्व प्राप्ति के क्रम में औपशमिक, सास्वादन, क्षायोपशमिक, वेदक एव क्षायिक सम्यक्त्व का स्वरूप स्पष्ट किया है। पीठिका के बाद भाष्यकार प्रत्येक मूल सूत्र का व्याख्यान प्रारंभ में करते हैं। प्रथम उद्देश्य में ताल, तल और प्रलम्ब शद्व का अर्थ स्पष्ट किया है। तलवृक्ष सबधी फल को ताल, तदाधार भूत वृक्ष का नाम तल और उसके मूल को प्रलम्ब कहा है। तत् सबधी लगनेवाले दोषों को दूर करने के लिए प्रायश्चित्त का विधान किया है। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक विषयों पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया गया है। विशेषत ध्यान सबधी श्रमणों की विशिष्ट साधना जिनकल्प, स्थविरकल्प, यथालन्द तथा परिहार विशुद्ध कल्प आदि पर अति विस्तार के साथ वर्णन किया है। इस वर्णन के साथ ही साथ प्राचीन भारत की सास्कृतिक सामग्री का भी वर्णन है। इन पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी अध्ययन हो सकता है। एव तत्कालीन भारतीय सामाजिक, सास्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि परिस्थितियों की विपुल सामग्री उपलब्ध होती है।

प्रस्तुत भाष्य में श्रमणाचार के अन्तर्गत ही ध्यान का वर्णन किया है। सभी साधना का मूल ध्यान ही है। यह इसमें स्पष्ट किया गया है।

यह मुनि चतुरविजय और पुण्यविजयजी द्वारा भावनगर से प्रकाशित है।[३७]

(४) व्यवहार भाष्य : प्रस्तुत कृति भी बृहत्कल्प-लघुभाष्य की भाँति ही श्रमणाचार से सबधित है। इसमें दस उद्देश हैं।

इसके प्रारभ में पीठिका है। जिसके अन्तर्गत सर्वप्रथम व्यवहार, व्यवहारी तथा व्यवहर्तव्य की निक्षेप-पद्धती से व्याख्या की है। उसके साथ ही साथ गीतार्थ और अगीतार्थ के स्वरूप का भी दिग्दर्शन किया है।

व्यवहार आदि में दोषों की सभावना होती है। इसलिए प्रायश्चित्त का विधान किया है। प्रायश्चित्त का अर्थ, निमित्त, अध्ययनविशेष, तदर्हपर्षद आदि दृष्टियों से विवेचन किया है। तथा प्रतिसेवना, सयोजना, आरोपण और परिकुंचना इन चारों के लिए चार प्रकार के प्रायश्चित्त का विस्तृत वर्णन है।

अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार इन चार प्रकार के आधाकर्मादि के लिए क्रमश मासगुरु, मासगुरु और कालगुरु, तपोगुरु और कालगुरु तथा चतुर्गुरु

प्रायश्चित्त बताया है। ये सब प्रायश्चित्त स्थविरकल्पियों की दृष्टि से हैं। जिनकल्पियों के लिए भी इनका वर्णन है किंतु वे इन अतिचारों का सेवन नही करते।

मूलगुण और उत्तर गुणों में लगनेवाले दोषों से मुक्ति पाने के लिए ही प्रायश्चित्त का विधान है। पिण्डविशुद्धि, समिति, भावना, तप, प्रतिमा और अभिग्रह - इन सबको भाष्यकार ने उत्तरगुणान्तर्गत लिया है। इनके क्रमश बयालीस, आठ, पच्चीस, बारह और चार भेद किये हैं। प्रायश्चित्त करनेवाले चार प्रकार के पुरुष बताये हैं - उभयतर, आत्मतर, परतर और अन्यतर। इस भाष्य में दस प्रकार के प्रायश्चित्त का विस्तृत वर्णन है।

परिहार तप में लगनेवाले दोषों का विस्तृत वर्णन है। गीतार्थ दो प्रकार के हैं- गच्छगत और गच्छनिर्गत। गच्छनिर्गत जिनकल्पिक गीतार्थ है। परिहार विशुद्धक, यथालन्दककल्पिकप्रतिमापन्न एव स्थविर कल्प गीतार्थ के लिए भी प्रायश्चित्त का विधान है। वैसे ही अगीतार्थ के लिए भी प्रायश्चित्त का वर्णन है।

नवम उद्देश में साधु की विविध प्रतिमाओं का विधान है। मोक प्रतिमा का शब्दार्थ, मोक का स्वरूप तथा महती, मोक का लक्षण आदि विविध प्रतिमा पर विस्तृत वर्णन है।

पाँच चरित्र के व्याख्यान में प्रथम सामायिक चारित्र सम्पन्न स्थविरकल्पिकों के लिए छेद और मूल को छोड़कर शेष आठ प्रायश्चित्तों का (आलोचना, प्रतिक्रमण, उभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, अनवस्थाप्य और पारंचित) विधान है। जिनकल्पिकों के लिए आलोचना, प्रतिक्रमण, उभय, विवेक, व्युत्सर्ग और तप इन छह प्रायश्चित्तों का वर्णन है। छेदोपस्थापनीय सयम में स्थित स्थविरों के लिए सभी प्रकार के प्रायश्चित्त हैं और जिनकल्पिकों के लिए आठ प्रकार के प्रायश्चित्त हैं। परिहारविशुद्धिक सयम में स्थित सयमी के लिए भी आठ ही प्रकार के प्रायश्चित्त हैं। जिनकल्पिकों के लिए मूल और छेद को छोड़कर छह प्रकार के प्रायश्चित्त हैं। सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात चारित्र में विद्यमान सयमी के लिए आलोचना और विवेक ये ही दो प्रायश्चित्त हैं।

प्रायश्चित्त, प्रतिमा और पंच चारित्र की साधना ही ध्यान की साधना है। धर्मध्यान और शुक्लध्यान का स्वरूप इन सब में से प्राप्त होता है।

यह मलयगिरिविवरण सहित अहमदाबाद से प्रकाशित है।

(५) ओघनिर्युक्ति - लघु भाष्य .- प्रस्तुत भाष्य में व्रत, श्रमण धर्म, सयम, वैयावृत्य, ब्रह्मचर्य-गुप्ति, ज्ञानावरणादि, तप, क्रोधनिग्रहादि, चरण, पिण्डविशुद्धि, समिति, भावना, प्रतिमा, इन्द्रियनिग्रह, प्रतिलेखना, गुप्ति, अभिग्रह, करण एव चार अनुयोग (चरणकरणानुयोग, धर्मकथानुयोग, गणितानुयोग व द्रव्यानुयोग), ग्लानादि साधु की चर्या, शकुनापशकुन का विचार एव कायोत्सर्ग विधि इत्यादि इन सब विषयों का

स्पष्टीकरण है। ये सभी विषय ध्यान से सबधित हैं। धर्मरुचि अनगार के दृष्टान्त द्वारा ध्यानयोगी साधक के लिए निर्दोष आहार विधि का वर्णन किया है।

प्रस्तुत भाष्य द्रोणाचार्य वृत्ति सहित सैलाना से प्रकाशित है।[३९]

(६) पच कल्प-महाभाष्य :- प्रस्तुत भाष्य ४० पचकल्प निर्युक्ति के विवेचन रूप में है। इसमें करीबन २६६५ गाथाएँ हैं जिनमें भाष्य की ही २५७४ गाथाएँ हैं।

कल्प व्याख्यान में दो प्रकार के कल्प का विधान किया है - जिन कल्प और स्थविरकल्प। इन दोनों कल्पों पर द्रव्य और भाव से विचार किया गया है। ज्ञान दर्शन-चारित्र-त्रिविध सपदा के वर्णन के साथ ही पाँच प्रकार के चारित्र का स्वरूप स्पष्ट किया है। चारित्र को क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक रूप तीन प्रकार का बताया है। ज्ञान भी क्षायिक और क्षायोपशमिक नामक दो प्रकार का है। केवलज्ञान क्षायिक ही और शेष चार ज्ञान क्षायोपशमिक हैं। दर्शन भी -क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक रूप से तीन प्रकार का है। ये सभी ध्यान के ही अग (साधना) हैं। सभी साधना पद्धति में ध्यान अनिवार्य ही है।

चूर्णियाँ

आगमों की प्राचीनतम पद्यात्मक व्याख्याएँ निर्युक्तियों एव भाष्यों के रूप में प्रसिद्ध हैं। वे सब प्राकृत में हैं। गद्यात्मक व्याख्याओं की आवश्यकता प्रतीत होने से उन पर (पद्यात्मक व्याख्याओं पर) सस्कृत-प्राकृत मिश्रित व्याख्याएँ लिखी गईं, जो चूर्णियों के नाम से प्रसिद्ध हुई हैं।

चूर्णियाँ और चूर्णिकार

आगम व्याख्या ग्रन्थों पर निम्नलिखित चूर्णियाँ लिखी गई है - १) आचाराग, २) सूत्रकृताग, ३) व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती), ४) जीवाभिगम, ५) निशीथ, ६) महानिशीथ, ७) व्यवहार, ८) दशाश्रुतस्कन्ध, ९) बृहत्कल्प, १०) पंचकल्प, ११) ओघनिर्युक्ति, १२) जीतकल्प, १३) उत्तराध्ययन, १४) आवश्यक, १५) दशवैकालिक, १६) नन्दी, १७) अनुयोगद्वार, १८) जम्बुद्वीपप्रज्ञप्ति । निशीथ और जीतकल्प पर दो-दो चूर्णियाँ लिखी गई हैं, किन्तु वर्तमान में एक-एक ही उपलब्ध हैं। अनुयोगद्वार, बृहत्कल्प एव दशवैकालिक पर भी दो-दो चूर्णियाँ हैं।

चूर्णिकारों में मुख्यत जिनदासगणि महत्तर नाम अधिक प्रसिद्ध है। उन्होंने कितनी चूर्णियाँ लिखी यह तो कह नही सकते, परन्तु निशीथविशेषचूर्णि, नन्दीचूर्णि, अनुयोगद्वार चूर्णि और सूत्रकृतागचूर्णि-इतनी चूर्णियाँ तो उन्ही की मानी जाती हैं। जीतकल्प चूर्णि

सिद्धसेनसूरि की मानी जाती है। बृहत्कल्पचूर्णि प्रलम्बसूरि की है। अनुयोगद्वार के 'अगुल' पद पर लिखी गई चूर्णि जिनभद्र की है और दशवैकालिक पर अगस्त्यसिंह की।

नन्दी चूर्णि :- प्रस्तुत चूर्णि मूल सुत्रानुसारी है तथा प्राकृत में है। कचित् ही यत्र-तत्र सस्कृत का प्रयोग मिलता है । इसमें सर्वप्रथम जिन और वीर स्तुति की गई है, तदनन्तर सघस्तुति। मूल गाथाओं का अनुसरण करके आचार्य ने तीर्थंकरों, गणधरों और स्थविरावली की नामावली दी है। इसके बाद तीन प्रकार की पर्षद का सकेत करके पच ज्ञान का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उसके सक्षिप्त दो भेद करते हैं - प्रत्यक्ष और परोक्ष। केवलज्ञान की चर्चा में चूर्णिकार ने पन्द्रह प्रकार के सिद्धों का वर्णन किया है - १) तीर्थसिद्ध, २) अतीर्थ सिद्ध, ३) तीर्थंकर सिद्ध, ४) अतीर्थंकर सिद्ध, ५) स्वयबुद्धसिद्ध, ६) प्रत्येकबुद्धसिद्ध, ७) बुद्धबोधितसिद्ध, ८) स्त्रीलिंगसिद्ध, ९) पुरुषलिंगसिद्ध, १०) नपुसक लिंग सिद्ध, ११) स्वलिंगसिद्ध, १२) अन्यलिंगसिद्ध, १३) गृहलिंगसिद्ध, १४) एक सिद्ध और १५) अनेक सिद्ध - ये सब अनन्तर केवलज्ञान के भेद हैं। परम्पर सिद्ध केवलज्ञान के अनेक भेद हैं। केवलज्ञान केवलदर्शन की प्राप्ति के क्रम में तीन मत हैं - १) केवलज्ञान व केवल दर्शनयुगपत् (यौगपद्य), २) दोनों का क्रमिकत्व और ३) दोनों का क्रमभावित्व।

श्रुतनिश्रित अश्रुतनिश्रित आदि के भेदों से आभिनिबोधिक ज्ञान का विस्तृत वर्णन है। वैसे ही श्रुतज्ञान का भी।

यह रतलाम और वाराणसी से प्रकाशित है।[४१]

अनुयोगद्वार चूर्णि :- नन्दीचूर्णि के समान ही इसमें भी प्रथम मगलरूप में पच ज्ञान का वर्णन है। प्रस्तुत चूर्णि में आवश्यक तदुल वैचारिक आदि का निर्देश करके दस आनुपूर्वी के विवेचन में कालानुपूर्वी के स्वरूप में पूर्वांगों का परिचय दिया है। सप्त स्वर और नौ रसों का भी सुन्दर वर्णन किया है। आत्मागुल, उत्सेधागुल, प्रमाणागुल, कालप्रमाण, औदारिकादि शरीर, मनुष्यादि प्राणियों का प्रमाण, गर्भज, आदि मनुष्यों की सख्या, ज्ञान, प्रमाण, सख्यात, असंख्यात और अनन्त आदि विभिन्न विषयों पर प्रकाश डाला गया है। ये सभी विषय ध्यान से सबधित हैं।

प्रस्तुत कृति वाराणसी से प्रकाशित है।[४२]

आवश्यक चूर्णि :- प्रस्तुत चूर्णि में निर्युक्ति का अनुकरण किया गया है। यह मुख्यत प्राकृत है किन्तु यत्र-तत्र सस्कृतमय गद्याश व पद्याश भी हैं। उपोद्घात में भाव मगल रूप में ज्ञान की विस्तृत चर्चा की गई है। श्रुतज्ञान के अधिकार में आवश्यक पर निक्षेप पद्धति से विचार करते हुये द्रव्य सामायिक और भाव सामायिक का वर्णन किया है।

इसके अतिरिक्त इसमें भगवान् महावीर के भावों का, ऋषभदेव का सम्पूर्ण जीवन चरित्र, वज्रस्वामी और आर्यरक्षित का चरित्र, आठ निह्नव आदि विभिन्न विषयों पर वर्णन मिलता है।

ध्यान साधना में बाधक राग, स्नेह, कषाय को क्रमश अरहन्नक, धर्मरुचि और जमदग्न्यादि के दृष्टात द्वारा स्पष्ट किया है। इन्हें कर्म क्षय की प्रक्रिया से ही दूर किया जा सकता है। उसके लिये समुद्घात, योगनिरोध, अयोगी केवली गुणस्थान एव तीर्थंकर आदि पदों का विधान है। ये सब ध्यान से सबधित हैं।

द्वितीय अध्याय चतुर्विंशतिस्तव में लोक, धर्म और तीर्थंकर आदि पदों का निक्षेप पद्धति से व्याख्यान किया है। तृतीय 'वन्दना' अध्याय में चितिकर्म, कृतिकर्म, पूजाकर्म, विनय कर्म आदि दृष्टान्त द्वारा विश्लेषण किया है। चतुर्थ प्रतिक्रमण अध्याय में प्रतिक्रमण का शब्दार्थ एव प्रतिक्रमक, प्रतिक्रमण और प्रतिक्रातव्य का व्याख्यान किया है, साथ ही साथ प्रतिचरणा, परिहरणा, वारणा, निवृत्ति, निंदा, गर्हा, शुद्धि और आलोचना आदि का वर्णन कथानक द्वारा किया है। प्रतिक्रमण में कायिक, वाचिक और मानसिक में लगनेवाले अतिचार, ईर्यापथिकी विराधना, भिक्षाचर्या, स्वाध्याय आदि में लगनेवाले दोषों का भी वर्णन है।

ध्यान के चार भेद, पाँच समिति, पच महाव्रत, उपासक ग्यारह पडिमा एव भिक्षु की बारह पडिमा के साथ पन्द्रह परमाधामी देव, बीस असमाधि दोष, इक्कीस शबल दोष, बाईस परीषह, तीस मोहनीय स्थान का विशेष रूप से वर्णन किया गया है। ये सभी ध्यान सबधित हैं।

पचम अध्याय कायोत्सर्ग में व्रण चिकित्सा के दो प्रकार किये हैं - द्रव्यव्रण और भाव व्रण। द्रव्यव्रण में औषधादि से चिकित्सा है और भावव्रण में प्राचश्चित्त से। कायोत्सर्ग भी प्रशस्त और अप्रशस्त रूप से दो प्रकार का है। उच्छितादि नौ प्रकार भी स्पष्ट किए हैं। अन्तिम प्रत्याख्यान अध्याय में प्रत्याख्यान के भेद तथा श्रावक धर्म का वर्णन है।

प्रस्तुत चूर्णि पूर्व भाग और उत्तर भाग रतलाम से प्रकाशित है।[४३]

दशवैकालिक चूर्णि :- प्रस्तुत चूर्णि में निर्युक्ति का ही अनुकरण किया गया है। द्रुमपुष्पिका आदि दस अध्याय और दो चूलिकायें - कुल बारह अध्याय में क्रमश द्रुम, धर्म, शीलाग सहस्र, आचार-पचाचार, जीव, अजीव, चारित्र धर्म, यतना, उपदेश, धर्मफल, साधु के उत्तर गुण-पिण्ड स्वरूप, भक्तपानैषणा, गमन विधि, गोचर विधि, पानक विधि, परिष्ठापनविधि, भोजन विधि, आलोचना विधि, धर्म, अर्थ, काम, व्रत-

षट्क, कायषट्क, वाक् शुद्धि, इन्द्रियादि प्रणिधियों का, लोकोपचार विनय, अर्थविनय, काम विनय, भयविनय, मोक्ष विनय आदि दस अध्यायों में इन विभिन्न विषयों पर एक-एक पद की व्याख्या निक्षेप पद्धति से की है। इन सभी विषयों का ध्यान से विशेष सबध रहा है। अतिम दो चूलिकाओं में क्रमश भिक्षु के गुण एव रति अरति आदि अठारह दोषों का विवरण है, जो ध्यान कालीन अवस्था में बाधक है।

प्रस्तुत चूर्णि रतलाम से प्रकाशित है।[४४]

उत्तराध्ययन चूर्णि :- प्रस्तुत चूर्णि निर्युक्त्यनुसारी एव सस्कृत मिश्रित प्राकृतमय है। इसमें सयोग, पुद्‌गलबध, सस्थान, विनय, अनुशासन, परीषह, समाधि, धर्मविघ्न, मरण, निर्ग्रन्थपचक, भय सप्तक, ज्ञानक्रियैकान्त आदि विभिन्न विषयों पर उदाहरणसहित विवेचन है। स्त्री परीषह पर विशेष वर्णन है। शेष सब दशवैकालिक चूर्णि के समान वर्णन है।

यह भी १९३३ में रतलाम से प्रकाशित है।[४५]

आचारागचूर्णि :- प्रस्तुत चूर्णि आचाराग निर्युक्ति का ही विवेचन है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में अग, आचार, ब्रह्म, वर्ण, आचरण, शस्त्र, परिज्ञा, सज्ञा, दिक्, सम्यक्त्व, योनि, कर्म, पृथ्व्यादि छकाय, लोक शब्द, विजय शब्द, गुणस्थान, परिताप, विहार, रति, अरति, लोभ, जुगुप्सा, जातिस्मरण ज्ञान, एषणा, देशना, बध-मोक्ष, अचेलत्व, मरण, सलेखना आदि विभिन्न विषयों का वर्णन है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध में श्रमणाचार से सबधित ईर्या, भाषा आदि एव भावना का वर्णन है। ये सब विषय ध्यान से सबधित ही हैं।

प्रस्तुत चूर्णि १९४१ में रतलाम से प्रकाशित है।[४६]

सूत्रकृताग चूर्णि :- इसमें ध्यान योग से सबधित आलोचना, परिग्रह, ममता, लोकविचार, वीर्य निरूपण, समाधि, आहारचर्या, वनस्पति के भेद, पृथ्वीकायादि के भेद आदि विषयों का वर्णन है।

१९४१ में यह चूर्णि रतलाम से प्रकाशित है।[४७]

जीतकल्प भाष्य-बृहचूर्णि :- प्रस्तुत चूर्णि सिद्धसेनसूरि की कृति है, जो कि अहमदाबाद से प्रकाशित है। और भी एक अन्य आचार्य की कृति मानी जाती है।[४८] यह सम्पूर्ण प्राकृत में है। इसमें आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीतव्यवहार का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। दस प्रकार के प्रायश्चित्त, नौ प्रकार के व्यवहार तथा मूलगुण और उत्तरगुण आदि विषयों का वर्णन है जिसका ध्यान से सीधा सबध है।

दशवैकालिक चूर्णि :- पहले बताई गई दशवैकालिक चूर्णि जिनदासगणि की है

और अगस्त्यसिंह की है। यह उनसे भिन्न है। इसमें आदि, मध्य और अन्त्य मंगल की उपयोगिता सिद्ध की है और दसकालिक, दशवैतालिक अथवा दशवैकालिक की व्युत्पत्ति भी दी है। इसमें मगल शद्व से ध्यान का संबध जोड़ा है।[४९] जो कि पदस्थ ध्यान से सबधित है।

निशीथ-विशेष चूर्णि :- जिनदासगणिकृत प्रस्तुत चूर्णि मूलसूत्र, निर्युक्ति, भाष्य गाथाओं के विवेचन रूप में है। प्रारभ में पीठिका के अन्तर्गत निशीथ की भूमिका के रूप में तत्सम्बद्ध आवश्यक विषयों का व्याख्यान किया गया है। निशीथ शब्द का अर्थ है - अप्रकाश। इसमें आचार, अग्र, प्रकल्प, चूलिका एव निशीथ का वर्णन है। विधि - निषेध, उत्सर्ग-अपवाद, दोष-प्रायश्चित्त आदि का विस्तृत वर्णन बीस उद्देश्यों के अन्तर्गत किया गया है। इन सब बातों का ज्ञान सयमी साधक को होना ही चाहिये, जिससे वह ध्यानावस्था में स्थिर रह सकता है। ध्यान जीवन विकास क्रम की श्रेष्ठ प्रक्रिया है।

चूर्णिकार ने इसमें सर्व प्रथम छह प्रकार की चूला का वर्णन किया है। [५०]

प्रस्तुत चूर्णि के सम्पादक उपाध्याय अमर मुनि और मुनि कन्हैयालालजी 'कमल' द्वारा सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा से प्रकाशित है।[५१]

दशाश्रुतस्कन्ध चूर्णि और बृहत्कल्पचूर्णि :- ये दोनों चूर्णियाँ मूलसूत्र, निर्युक्ति एव लघुभाष्य के आधार पर लिखी गई हैं। दोनों पाठों में समानता है। ज्ञानविषयक चर्चा के अन्तर्गत अवधिज्ञान की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन किया है। ज्ञान के अन्तर्गत ही ध्यानयोगी का स्वरूप वर्णित है। ध्यान साधक के जीवन में आने वाले विघ्नों का भी वर्णन है और साथ ही साथ ध्यान में स्थिरता लाने वाले सहायक तत्त्वों का भी उल्लेख है।

टीकाएँ

निर्युक्तियाँ, भाष्य एव चूर्णियों के बाद जैनाचार्यों ने विषयों को अधिक स्पष्ट करने के लिए करीबन सभी आगम ग्रन्थों पर एक-एक टीका लिखी। वे सभी सस्कृत में हैं। भाष्य आदि का विस्तृत विवेचन नये-नये हेतुओं के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

टीकाकारों में मुख्यत जिनभद्र गणि, हरिभद्र सूरि, शीलाकाचार्य, वादिवेताल-शान्तिसूरि, अभयदेव सूरि, मलयगिरि और मलधारी हेमचन्द्र आदि प्रमुख है। इन आचार्यों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक टीकाकारों के नाम मिलते हैं जिनमें से कुछ की टीकाएँ उपलब्ध हैं और कुछ की अनुपलब्ध हैं।

विशेषावश्यक भाष्य- स्वोपज्ञवृत्ति :-

प्रस्तुत स्वोपज्ञवृत्ति प्रारभ में जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण की है और अन्तिम भाग कोट्याचार्यगणि ने पूर्ण किया। षष्ठ गणधर वक्तव्य तक ही उनकी टीका है बाद में वे दिवगत हो गये।

प्रस्तुत कृति में जैनागमों के प्रसिद्ध सभी विषयों का विस्तृत वर्णन है। स्थविरकल्प, जिन कल्प, यथालन्द, पाँच चारित्र, उपशम श्रेणी, क्षपक श्रेणी आदि विषयों पर विस्तृत चर्चा है। स्वतत्र रूप में इसमें ध्यान का वर्णन नही है। इसके लिए स्वतत्र अलग ही 'ध्यान-शतक' लिखा गया है जिस पर आगे विचार करेंगे। यहाँ तो अप्रत्यक्ष रूप से उपरोक्त विषयों में ध्यान का स्वरूप स्पष्ट किया है।

हरिभद्रकृत वृत्तियाँ :- हरिभद्र सूरि प्राचीन टीकाकार माने जाते हैं। इनकी आवश्यक, दशवैकालिक, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, नन्दी, अनुयोगद्वार एव पिण्डनिर्युक्ति पर टीका है। पिण्डनिर्युक्ति की अपूर्ण टीका को वीराचार्य ने पूर्ण की है।

आवश्यकवृत्ति निर्युक्ति पर लिखी गई है। कही-कही भाष्य गाथा भी मिलती हैं। हरिभद्रसूरि ने इसमें स्वतंत्र रूप से निर्युक्ति गाथाओं का विवेचन किया। पच ज्ञान के विवरण में अभिनिबोधि -ज्ञान की छह दृष्टियों से व्याख्या की। वैसे ही अन्य श्रुत, अवधि, मन· पर्यव एवं केवलज्ञान का भेद-प्रभेद से व्याख्यान किया है। इसमें छह आवश्यक का वर्णन है। चतुर्थ आवश्यक 'प्रतिक्रमण' में ध्यान का विस्तृत वर्णन है और पचम 'कायोत्सर्ग' आवश्यक में ध्यान का संक्षिप्त विवेचन है। अन्तिम 'प्रत्याख्यान' आवश्यक में श्रावक धर्म पर विस्तार से विवेचन है। इस प्रकार इस वृत्ति में ध्यान विषयक अधिक सामग्री है।

दशवैकालिक पर शिष्यबोधिनी वृत्ति है। इसे बृहद् वृत्ति भी कहते हैं। इसमें ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार पर वर्णन है। उनमें से तपाचार के अन्तर्गत आभ्यन्तर तप में ध्यान का स्वरूप स्पष्ट किया है।

प्रज्ञापना पर प्रदेश व्याख्या के अन्तर्गत 'मगल' का विशेष विवेचन के साथ भव्य अभव्य जीव का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। विशेषत· जीव अजीव तत्त्व पर विस्तृत वर्णन है। ज्ञान-दर्शन के वर्णन में ओघ संज्ञा और लोकसज्ञा शब्द का प्रयोग किया गया है। ओघ सज्ञा को दर्शनोपयोग और लोकसंज्ञा को ज्ञानोपयोग कहा है। संज्ञा का अर्थ - आभोग (मनोविज्ञान) है। इसके अतिरिक्त योनियों, कषाय, इन्द्रिय, लेश्या, उपयोग, सयम, समुद्घात का भी विशेष वर्णन है। ये सब ध्यान से विशेष संबध रखते हैं।

नन्दीवृत्ति में नन्दीचूर्णि का ही सारा वर्णन है। ज्ञान के अन्तर्गत ही ध्यान का अप्रत्यक्ष रूप से वर्णन किया गया है।

अनुयोगद्वार वृत्ति :- इसमें अनुयोगद्वार चूर्णि का ही विशेष वर्णन है। 'आवश्यक' शद्व की व्याख्या नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव से की गई है। दस आनुपूर्वी का वर्णन करते हुए शरीर पचक एव विविध अगुलों के वर्णन के साथ भाव प्रमाण के अन्तर्गत प्रत्यक्ष, अनुमान, औपम्य, आगम, दर्शन, चारित्र, नय और सख्या आदि का वर्णन किया है। ज्ञान नय और क्रिया नय के स्वरूप द्वारा ज्ञान और क्रिया की उपयोगिता सिद्ध की है। इसी में ध्यान का स्वरूप अप्रत्यक्ष रूप से बताया गया है।

विशेषावश्यक भाष्य-विवरण :- प्रस्तुत टीका कोट्याचार्य की है। इसमें जिनभद्र-कृत विशेषावश्यक भाष्य का ही व्याख्यान किया गया है। इसकी विशेषता इतनी ही है कि कथानक के द्वारा ध्यान का सक्षिप्त वर्णन है।

शीलाकाचार्यकृत विवरण :- ये शीलाक, शीलाचार्य एव तत्वादित्य के नाम से प्रसिद्ध हैं।[५२] इन्होंने नौ अगों पर टीकाएँ लिखी थी, किन्तु वर्तमान में आचाराग और सूत्रकृताग ये दो ही टीकाएँ उपलब्ध हैं। इनका कालमान विक्रम की नौवी दशवी शताद्बी माना जाता है।

आचाराग विवरण मूल सूत्र और निर्युक्ति पर ही लिखी गई है। विवरणकार ने विषय को शद्बार्थ तक ही सीमित न रखकर प्रत्येक विषय पर विस्तार से वर्णन किया है। श्रमणाचार का विस्तृत वर्णन करके तपाचार के अन्तर्गत ध्यान की विधि स्पष्ट की है। इस विवरण की यह विशेषता रही है कि सर्वप्रथम सूत्रों का मूलच्छेद करते हुए पदों का अर्थ स्पष्ट किया है। भगवान महावीर की सम्पूर्ण साधना ध्यानमय ही थी। इसका वर्णन प्रथम श्रुतस्कन्ध के नौवें अध्याय में है। इस टीका का ग्रन्थमान १२००० श्लोकप्रमाण है।

इनकी दूसरी टीका सूत्रकृताग भी मूल और निर्युक्ति पर ही आधारित है। इसमें विभिन्न विषयों का प्रतिपादन किया गया है और ध्यान योग का विशेष स्वरूप स्पष्ट किया है।

उत्तराध्ययन टीका :- प्रस्तुत टीका वादिवेतालशान्तिसूरि की है। ये विक्रम की ग्यारहवी शताद्बी के हैं। इन्होंने 'तिलकमंजरी' पर भी टीका लिखी है जो पाटन के भंडारों में आज भी विद्यमान है। जीवविचार प्रकरण और चैत्यवन्दन-महाभाष्य भी इन्ही का ही है।

प्रस्तुत टीका का नाम शिष्यहितवृत्ति है। यह 'पाइअ-टीका' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें मूल सूत्र और निर्युक्ति दोनों का व्याख्यान है। प्रस्तुत टीका में तीर्थंकर के वचनों का

विचार द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय से किया गया है।[५३] प्रसंगानुसार स्थान-स्थान पर ध्यान का स्वरूप स्पष्ट किया है। प्रत्यक्षत ध्यान का वर्णन न होकर अप्रत्यक्ष रूप से ध्यान का स्वरूप वर्णित किया है।

ओघनिर्युक्ति-वृत्ति :- प्रस्तुत टीका द्रोणसूरि (वि ११-१२ शता) की है। यह वृत्ति ओघनिर्युक्ति और उसके लघुभाष्य पर है। मूल पदों के शब्दार्थ के साथ ही साथ तद् तद् विषय का भी 'शंका-समाधान' पूर्वक सक्षिप्त विवरण दिया है। सामायिक अध्ययन में उसके चार अनुयोगद्वार (उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय) बताये हैं। इनमें अनुगम के दो भेद किये गये हैं - निर्युक्त्यनुगम और सूत्रानुगम। निर्युक्त्यनुगम तीन प्रकार का है - निक्षेप, उपोद्घात और सूत्रस्पर्श। इनमें से उपोद्घात - निर्युक्त्यनुगम के उद्देश, निर्देश आदि २६ भेद हैं।उनमें से काल के नाम, स्थापना, द्रव्य, अद्धा, यथायुष्क, उपक्रम, देश, काल, प्रमाण, वर्ण, भाव आदि भेद हैं। इनमें से उपक्रम काल के दो प्रकार हैं - सामाचारी और यथायुष्क। सामाचारी उपक्रम काल तीन प्रकार का है - ओघ, दशधा और पदविभाग। इनमें ओघ सामाचारी वही है जो ओघ निर्युक्ति है। ध्यान कब करना? कैसे करना? आदि गूढ़ विषयों के वर्णन के साथ ही साथ ध्यान साधक जिनकल्पी और स्थविर कल्पी का भी वर्णन किया है।

अभयदेव विहित वृत्तियाँ :- (वि १२-१३ शताब्दी)

'स्थानाग वृत्ति' मूल सूत्रों पर है। यह वृत्ति शब्दार्थ तक ही सीमित नहीं, अपितु इसमें प्रत्येक विषय का विवेचन और विश्लेषण किया गया है। चतुर्थ स्थान में ध्यान के भेद, लक्षण, आलम्बन, अनुप्रेक्षा आदि का विशेष वर्णन है। इसके अतिरिक्त आत्मा, सयम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि ध्यान सबधी विषयों पर विवेचन किया गया है।

'समवायागवृत्ति' समवाय के मूल सूत्रों पर ही लिखी गई है। समवाय शब्द का विश्लेषणात्मक वर्णन करके जीवाजीवादि विविध विषयों पर वर्णन किया गया है। ध्यान की योग्यता किसमें हैं। (कौन ध्यान कर सकता है।) इसका विस्तृत वर्णन समवायांग वृत्ति में है। जीव ही ध्यान की योग्यता पा सकता है अजीव नही।

'व्याख्याप्रज्ञप्तिवृत्ति' में ३६ हजार प्रश्नों का सम्यक् प्रकार से वर्णन है। विषय भिन्न-भिन्न हैं। तप वर्णन के अन्तर्गत ही ध्यान का स्वरूप विस्तृत रूप से वर्णित किया है और ज्ञान प्रधान क्रिया ही मोक्ष प्रदाता है यह भी स्पष्ट किया है। प्रस्तुत वृत्ति का श्लोकप्रमाण १८६१६ हैं।

'ज्ञाताधर्मकथाविवरण' (वृत्ति) में शब्दार्थ की प्रधानता है। चारों प्रकार के ध्यानों का स्वरूप कथानक के माध्यम से स्पष्ट किया है। इस ग्रन्थ का श्लोक प्रमाण ३८०० है।

'उपासकदशांगवृत्ति' में सूत्रगत विशेष शब्दों के अर्थ का स्पष्टीकरण किया है। वैसे ही 'उपासक दशा' शब्द का भी शब्दार्थ स्पष्ट किया है। श्रावक की ग्यारह पडिमा के अन्तर्गत कायोत्सर्ग पडिमा में ध्यान का स्वरूप सक्षिप्त रूप से वर्णित किया है।

'अन्तकृत्दशावृत्ति' एव 'अनुत्तरौपातिकदशा वृत्ति'- ये दोनों वृत्तियाँ सूत्रस्पर्शिक और शब्दार्थ ग्राही हैं। दोनों में 'तप' को ही ध्यान कहा है। तपाराधना से ध्यान अलग नही है। तप का अग ध्यान है यह इन दोनों वृत्तियों से स्पष्ट किया है।

'प्रश्नव्याकरण वृत्ति' में आस्रवपचक और सवर पचक का वर्णन करके इनके अन्तर्गत ही क्रमश अशुभ और शुभ ध्यान का स्वरूप स्पष्ट किया है और शुभ ध्यान को प्रधानता दी है।

'विपाक वृत्ति' में विपाक शब्द का अर्थ पुण्यपाप रूप कर्म फल के रूप में बताया है। ध्यान योगी को पुण्य पाप का स्वरूप जानना आवश्यक है। दोनों ही त्याज्य हैं किन्तु पुण्य अन्त तक साथ रहता है।

'औपपातिक वृत्ति' में शब्दार्थ प्रधान है। इनमें तप वर्णन के अन्तर्गत ध्यान का स्वरूप विस्तृत रूप से वर्णित किया है। तपोधनी लब्धी धारी होता है किन्तु सच्चे साधक उसका उपयोग नही करते। अत में उन्हें भी छोडना ही होता है। सिर्फ ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप लब्धियाँ ही ग्राह्य है, शेष नही।

मलयगिरिविहित वृत्तियाँ : -

आचार्य मलयगिरि आगम -ग्रन्थों के प्रसिद्ध टीकाकार हैं। उन्होंने बहुत सी टीकाएँ लिखी हैं जिनमें से निम्नलिखित उपलब्ध हैं - १) भगवतीसूत्र - द्वितीय शतक वृत्ति, २) राजप्रश्नीयोपांग टीका, ३) जीवाभिगमोपाग टीका, ४) प्रज्ञापनोपाग टीका, ५) चन्द्रप्रज्ञप्त्युपाग टीका, ६) सूर्यप्रज्ञप्त्युपांग टीका, ७) नन्दीसूत्र टीका, ८) व्यवहारसूत्रवृत्ति, ९) बृहत्कल्पपीठिकावृत्ति (अपूर्ण), १०) आवश्यक वृत्ति (अपूर्ण), ११) पिण्डनिर्युक्ति टीका, १२) ज्योतिष्करण्डक टीका, १३) धर्म सग्रहणी वृत्ति, १४) कर्मप्रकृति वृत्ति, १५) पच सग्रह वृत्ति, १६) षडषशीति वृत्ति, १७) सप्ततिका वृत्ति, १८) बृहत्सग्रहणी वृत्ति, १९) बृहत्क्षेत्र समास वृत्ति और २०) मलयगिरि शब्दानुशासन। इनमें कुछ ही टीकाओं में ध्यान विषयक जानकारी मिलती है। उन्हें जहाँ, जहाँ विशेष आवश्यक लगा वहाँ वहाँ विषय का स्पष्टीकरण करते गये।

उन टीकाओ में से "नन्दीसूत्र वृत्ति" में यत्र-तत्र सस्कृत कथानक के द्वारा ज्ञानदर्शनादि का विश्लेषण करके ध्यान का स्वरूप स्पष्ट किया है। 'प्रज्ञापना वृत्ति' में जीवाजीवादि पदार्थों का स्पष्टीकरण करके यह सिद्ध किया कि जीवादि पदार्थों के ज्ञान

बिना साधक ध्यान नही कर सकता। ज्ञानी आत्मा ही ध्यान कर सकता है। 'जीवाभिगम विवरण' में मूलसूत्र के प्रत्येक पद की व्याख्या के साथ ही साथ अशुभ (अप्रशस्त) ध्यान का वर्णन करते हुए नरक वासों का विस्तार से वर्णन किया है। उसमें शीतोष्णवेदना के विवेचन में शरदादि ऋतुओं का भी वर्णन किया है। ऋतुएँ छह हैं - प्रावृट्, वर्षारात्र, शरद्, हेमन्त, वसन्त और ग्रीष्म। इन सभी ऋतुओं में ध्यान किया जा सकता है। 'व्यवहारविवरण' मूल सूत्र, निर्युक्ति और भाष्य पर आधारित है। इसमें कल्प, व्यवहार, दोष और प्रायश्चित्त आदि विषयों पर विवेचन किया गया है। ये सभी ध्यान से सबधित विषय हैं। प्राचश्चित्त के विशेष रूप से चार प्रकार बताये हैं - प्रतिसेवना, सयोजना, आरोपणा और परिकुचना। इन्ही चार का विस्तृत वर्णन है। प्रतिसेवना प्रायश्चित्त दो प्रकार का है - मूल प्रतिसेवना और उत्तर प्रतिसेवना। मूल प्रतिसेवना पाँच प्रकार की है और उत्तर प्रतिसेवना दस प्रकार की है। इन में से प्रत्येक के दो-दो भेद हैं - दर्पिका और कल्पिका। प्रतिसेवना प्रायश्चित्त से ही ध्यान का विशेष सबध है। 'राजप्रश्नीय विवरण' में राजा परदेशी और केशीकुमार श्रमण के प्रश्नोत्तर से जीव और अजीव का स्वरूप स्पष्ट किया गया है और ज्ञानी आत्मा ही ध्यान का अधिकारी है - यह स्पष्ट किया है।

मलधारि हेमचंद्रकृत टीकाएँ :- जैन साहित्य के ये प्रसिद्ध टीकाकार हैं। उन्होंने निम्नलिखित ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखी हैं - १) आवश्यक टिप्पण, २) शतक विवरण, ३) अनुयोगवृत्ति, ४) उपदेशमालासूत्र, ५) उपदेशमालावृत्ति, ६) जीवसमासविवरण, ७) भव भावना सूत्र, ८) भव भावना विवरण, ९) नन्दी टिप्पण, १०) विशेषावश्यक भाष्य - बृहद्वृत्ति। ये सभी ग्रन्थ विषयों की दृष्टि से प्राय स्वतत्र ही हैं। इनमें ध्यान सबधी निम्नलिखित ग्रन्थ हैं -

'आवश्यकवृत्तिप्रदेश व्याख्या' यह हरिभद्र कृत वृत्ति है। इसे हारिभद्रीयावश्यक वृत्तिटिप्पणक भी कहते हैं। इसी वृत्ति के कठिन स्थलों का हेमचन्द्र ने सरल भाषा में व्याख्यान करके आवश्यक क्रिया को ध्यानयोग में अनिवार्य बताया है। इस ग्रन्थ का परिमाण ४६०० श्लोक प्रमाण है। 'अनुयोग द्वारवृत्ति' में ध्यान को ज्ञानादि का आवश्यक अग माना है। विशेषत इस वृत्ति में ध्यान का वर्णन द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से वर्णित है। इसका ग्रन्थमान ५९०० श्लोक प्रमाण है। इनकी ध्यान सबधी तीसरी वृत्ति 'विशेषावश्यक भाष्य-बृहद्वृत्ति' है। इसे 'शिष्यहितवृत्ति' भी कहते हैं। मलधारि हेमचन्द्रसूरि की यह बृहत्तम कृति है। इसमें विशेषावश्यक भाष्य में कथित (प्रतिपादित) प्रत्येक विषय को सरल भाषा में समझाया गया है। दार्शनिक विषयों को भी शका समाधान के द्वारा प्रश्नोत्तर पद्धती से सरल करके समझाया है। यत्र-तत्र सस्कृत कथानक द्वारा स्थविर कल्प और जिनकल्प साधना का स्वरूप स्पष्ट किया है। इन्ही के अन्तर्गत तथा चारित्र के

अन्तर्गत ध्यान का स्वरूप स्पष्ट किया है। विशेषत आयोज्य करण, केवली समुद्घात और योगनिरोध प्रक्रिया में ध्यान का स्वरूप स्पष्ट किया है। इस प्रकार प्रस्तुत टीका में ध्यान सबधी वहुत सामग्री है।

आगमेतर - साहित्य

षट् खण्डागम :- यह आचार्य पुष्पदन्त और भूतवलि द्वारा विरचित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसका रचनाकाल विक्रम की प्रथम शताद्वी है। यह छह खण्डों में विभक्त है। इसलिए यह 'षट् खण्डागम' नाम से प्रसिद्ध है। वे छह खण्ड निम्नलिखित हैं - १) जीवस्थान २) क्षुद्रक बध, ३) बन्ध स्वामित्वविचय, ४) वेदना, ५) वर्गणा और ६) महाबन्ध।

१) जीवस्थान - यह षट्खण्डागम का प्रथम खड है। कर्म के उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षय के आश्रय से जीव की जो परिणति होती है उसका नाम गुणस्थान है। मिथ्यात्व आदि चौदह गुणस्थान हैं, और चौदह ही मार्गणा हैं। (गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, सयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहार)। जिन अवस्थाविशेषों के द्वारा जीवों का मार्गण (अन्वेषण) किया जाता है उन अवस्थाओं को मार्गणा कहा जाता है। गुणस्थान के द्वारा ही ध्यानावस्था का विकास होता है।

२) क्षुद्रक बध - इसमें बधक जीवों की ही चर्चा की गई है।

३) बन्ध स्वामित्वविचय -मिथ्यात्व, असयम और कषाय आदि के द्वारा जो जीव और कर्म पुद्गलों का एकता (अभेद) रूप परिणमन होता है, वह बन्ध कहलाता है। कर्म बन्ध का स्वामी कौन हो सकता है? इस पर गुणस्थान और मार्गणा द्वारा विवेचन किया गया है।

४) वेदना खण्ड - इस खण्ड का कृति और वेदना नामक दो अनुयोगद्वारों के द्वारा निरूपण किया गया है। प्रारम्भ में मगलाचरण रूप से ४४ सूत्रों द्वारा ध्यान का फल स्पष्ट किया है।

५) वर्गणा खण्ड - प्रस्तुत खण्ड में नाम स्थापनादि तेरह प्रकार से स्पर्श की प्ररूपणा एव स्पर्शनिक्षेप, स्पर्शनयविभाषणता आदि १६ प्रकार के अनुयोग द्वार एव नाम, स्थापना, द्रव्य, प्रयोग, समवदान, अधकर्म, ईर्यापथ कर्म, तप कर्म, क्रिया कर्म और भाव कर्म इन दस कर्मों का विवेचन है। इनमें से तप कर्म के अन्तर्गत शुभ ध्यान का विस्तृत वर्णन किया गया है। इसका वर्णन आगम शैली से है।

६) महाबध - यह षट् खण्डागम का अन्तिम खण्ड है। इसमें प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन चार बध के भेदों की विस्तृत चर्चा है।

षट्खण्डागम के प्रथम पाँच खण्ड पर धवला टीका वीरसेनाचार्य के द्वारा लिखी गई है और अन्तिम महाबंध पर जय धवला टीका लिखी गई है।

आचार्य कुंदकुंदविरचित ग्रन्थ :- ये दिगम्बर परम्परा के प्रसिद्ध आचार्य हैं। इनके सभी ग्रन्थ प्राकृत में हैं । इनका काल अनुमानत विक्रम की प्रथम शताब्दी माना जाता है। उनके ध्यान सबंधी निम्नलिखित ग्रन्थ माने जाते हैं - प्रवचनसार, पचास्तिकाय, नियमसार, समयसार, अष्टपाहुड और द्वादशानुप्रेक्षा।

'प्रवचनसार' में तीन श्रुतस्कन्ध हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का मोक्ष मार्ग के साधन रूप में उल्लेख किया है। ध्यान की यही मुख्य प्रक्रिया है। ध्यान में चारित्र की प्रधानता है। शुद्ध चारित्र का पालक ही ध्यान करने योग्य है। जीव के अशुभ, शुभ और शुद्ध ये तीन परिणाम हैं। शुभाशुभ परिणामों की परिणति से स्वर्ग और नर्क की प्राप्ति होती है और शुद्धोपयोग के परिणामों से निर्वाण की। शुद्धोपयोग का ही ध्यान करना है। यह साध्य है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध में द्रव्य, गुण, पर्याय का विश्लेषणात्मक वर्णन के साथ ही साथ पंचास्तिकाय और काल का स्वरूप स्पष्ट किया है। शुद्धात्मा का स्वरूप भी स्पष्ट किया है। ध्यान का लक्ष्य शुद्धात्मस्वरूप ही है। तृतीय श्रुतस्कन्ध में श्रमणाचार का वर्णन है। सम्पूर्ण ग्रन्थ ध्यान से ही संबंधित है। इसका ग्रन्थमान क्रमश ९२+१०८+७५ = २७५ है। इस पर आचार्य अमृतचन्द्र और जयसेन की पृथक् पृथक् टीका है।

'पंचास्तिकाय' ग्रन्थ दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त है। प्रथम स्कन्ध में षट् द्रव्य (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल) का विस्तृत वर्णन है। इससे धर्मध्यान के लोक सस्थान भेद का स्वरूप स्पष्ट होता है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध में जीवादि नौ तत्त्व और सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप मोक्ष मार्ग का स्वरूप स्पष्ट किया है। स्वसमय और परसमय के वर्णन से संसारी और मुक्त आत्मा का स्वरूप बताया है। इसमें ध्यान का स्वरूप निश्चय और व्यवहारी के रूप में स्पष्ट किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ पर अमृतचन्द्रसूरि की 'तत्त्वदीपिका' और जयसेनाचार्य की 'तात्पर्यवृत्ति' नामक दो टीकाएं प्रकाशित हैं। इसकी गाथा सख्या १०४+६९=१७३ है।

'नियमसार' ग्रन्थ में ज्ञान दर्शन चारित्र का स्वरूप स्पष्ट किया है। आत्मशोधन में उपयोगी साधन प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, प्रायश्चित्त, परमसमाधि, रत्नत्रय (सम्यग्दर्शनादि), पच समिति, तीन गुप्ति और आवश्यक आदि को माना है। ये ही सब ध्यान में सहाय्यक अग (तत्त्व) हैं। इसके अतिरिक्त बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा का भी निश्चय और व्यवहार नय से स्पष्टीकरण किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ पर पद्मप्रभमलधारिदेवविरचित सस्कृत टीका है।

अन्तर्गत ध्यान का स्वरूप स्पष्ट किया है। विशेषत आयोज्य करण, केवली समुद्घात और योगनिरोध प्रक्रिया में ध्यान का स्वरूप स्पष्ट किया है। इस प्रकार प्रस्तुत टीका में ध्यान सबधी बहुत सामग्री है।

आगमेतर - साहित्य

षट् खण्डागम :- यह आचार्य पुष्पदन्त और भूतवलि द्वारा विरचित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसका रचनाकाल विक्रम की प्रथम शताद्वी है। यह छह खण्डों में विभक्त है। इसलिए यह 'षट् खण्डागम' नाम से प्रसिद्ध है। वे छह खण्ड निम्नलिखित हैं - १) जीवस्थान २) क्षुद्रक बध, ३) बन्ध स्वामित्वविचय, ४) वेदना, ५) वर्गणा और ६) महाबन्ध।

१) जीवस्थान - यह षट्खण्डागम का प्रथम खड है। कर्म के उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षय के आश्रय से जीव की जो परिणति होती है उसका नाम गुणस्थान है। मिथ्यात्व आदि चौदह गुणस्थान हैं, और चौदह ही मार्गणा हैं। (गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, सयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, सज्ञी और आहार)। जिन अवस्थाविशेषों के द्वारा जीवों का मार्गण (अन्वेषण) किया जाता है उन अवस्थाओं को मार्गणा कहा जाता है। गुणस्थान के द्वारा ही ध्यानावस्था का विकास होता है।

२) क्षुद्रक बध - इसमें बधक जीवों की ही चर्चा की गई है।

३) बन्ध स्वामित्वविचय ·-मिथ्यात्व, असंयम और कषाय आदि के द्वारा जो जीव और कर्म पुद्गलों का एकता (अभेद) रूप परिणमन होता है, वह बन्ध कहलाता है। कर्म बन्ध का स्वामी कौन हो सकता है? इस पर गुणस्थान और मार्गणा द्वारा विवेचन किया गया है।

४) वेदना खण्ड ·- इस खण्ड का कृति और वेदना नामक दो अनुयोगद्वारों के द्वारा निरूपण किया गया है। प्रारभ में मंगलाचरण रूप से ४४ सूत्रों द्वारा ध्यान का फल स्पष्ट किया है।

५) वर्गणा खण्ड - प्रस्तुत खण्ड में नाम स्थापनादि तेरह प्रकार से स्पर्श की प्ररूपणा एव स्पर्शनिक्षेप, स्पर्शनयविभाषणता आदि १६ प्रकार के अनुयोग द्वार एव नाम, स्थापना, द्रव्य, प्रयोग, समवदान, अधकर्म, ईर्यापथ कर्म, तप कर्म, क्रिया कर्म और भाव कर्म इन दस कर्मों का विवेचन है। इनमें से तप कर्म के अन्तर्गत शुभ ध्यान का विस्तृत वर्णन किया गया है। इसका वर्णन आगम शैली से है।

६) महावध - यह षट् खण्डागम का अन्तिम खण्ड है। इसमें प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन चार बध के भेदों की विस्तृत चर्चा है।

षट्खण्डागम के प्रथम पाँच खण्ड पर धवला टीका वीरसेनाचार्य के द्वारा लिखी गई है और अन्तिम महाबध पर जय धवला टीका लिखी गई है।

आचार्य कुंदकुदविरचित ग्रन्थ :- ये दिगम्बर परम्परा के प्रसिद्ध आचार्य हैं। इनके सभी ग्रन्थ प्राकृत में हैं । इनका काल अनुमानत विक्रम की प्रथम शताद्बी माना जाता है। उनके ध्यान सबधी निम्नलिखित ग्रन्थ माने जाते हैं - प्रवचनसार, पचास्तिकाय, नियमसार, समयसार, अष्टपाहुड और द्वादशानुप्रेक्षा।

'प्रवचनसार' में तीन श्रुतस्कन्ध हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का मोक्ष मार्ग के साधन रूप में उल्लेख किया है। ध्यान की यही मुख्य प्रक्रिया है। ध्यान में चारित्र की प्रधानता है। शुद्ध चारित्र का पालक ही ध्यान करने योग्य है। जीव के अशुभ, शुभ और शुद्ध ये तीन परिणाम हैं। शुभाशुभ परिणामों की परिणति से स्वर्ग और नर्क की प्राप्ति होती है और शुद्धोपयोग के परिणामों से निर्वाण की। शुद्धोपयोग का ही ध्यान करना है। यह साध्य है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध में द्रव्य, गुण, पर्याय का विश्लेषणात्मक वर्णन के साथ ही साथ पचास्तिकाय और काल का स्वरूप स्पष्ट किया है। शुद्धात्मा का स्वरूप भी स्पष्ट किया है। ध्यान का लक्ष्य शुद्धात्मस्वरूप ही है। तृतीय श्रुतस्कन्ध में श्रमणाचार का वर्णन है। सम्पूर्ण ग्रन्थ ध्यान से ही सबंधित है। इसका ग्रन्थमान क्रमश ९२+१०८+७५ = २७५ है। इस पर आचार्य अमृतचन्द्र और जयसेन की पृथक् पृथक् टीका है।

'पचास्तिकाय' ग्रन्थ दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त है। प्रथम स्कन्ध में षट् द्रव्य (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल) का विस्तृत वर्णन है। इससे धर्मध्यान के लोक सस्थान भेद का स्वरूप स्पष्ट होता है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध में जीवादि नौ तत्त्व और सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप मोक्ष मार्ग का स्वरूप स्पष्ट किया है। स्वसमय और परसमय के वर्णन से ससारी और मुक्त आत्मा का स्वरूप बताया है। इसमें ध्यान का स्वरूप निश्चय और व्यवहारी के रूप में स्पष्ट किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ पर अमृतचन्द्रसूरि की 'तत्त्वदीपिका' और जयसेनाचार्य की 'तात्पर्यवृत्ति' नामक दो टीकाएं प्रकाशित हैं। इसकी गाथा संख्या १०४+६९=१७३ है।

'नियमसार' ग्रन्थ में ज्ञान दर्शन चारित्र का स्वरूप स्पष्ट किया है। आत्मशोधन में उपयोगी साधन प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, प्रायश्चित्त, परमसमाधि, रत्नत्रय (सम्यग्दर्शनादि), पच समिति, तीन गुप्ति और आवश्यक आदि को माना है। ये ही सब ध्यान में सहाय्यक अग (तत्त्व) हैं। इसके अतिरिक्त बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा का भी निश्चय और व्यवहार नय से स्पष्टीकरण किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ पर पद्मप्रममलधारिदेवविरचित सस्कृत टीका है।

'**समय सार**' ग्रन्थ में जीवादि नौ तत्त्वों पर शुद्ध निश्चय नय से विचार किया गया है। जीव के स्व समय और परसमय की विचारणा में भूतार्थ (शुद्धनय) और अभूतार्थ (अशुद्धनय) का निश्चय और व्यवहार नय के माध्यम से ध्यान के स्वरूप का वर्णन किया है। शुद्धात्मा का स्वरूप ही ध्यान का लक्ष्य है।

प्रस्तुत ग्रन्थपर 'आत्मख्याति', 'तात्पर्यवृत्ति', 'आत्मख्यातिभाषावचनिका' ये तीन टीकाएँ हैं।

'**अष्टपाहुड**' ग्रन्थ में दसण पाहुड चारित्तपाहुड, सुत्तपाहुड, बोध पाहुड, भाव पाहुड, मोक्ष पाहुड, लिंग पाहुड और सील पाहुड क्रमश. इनके नामानुसार ही विषयों का दिग्दर्शन किया गया है। चारित्रसम्पन्न आत्मा को ही ध्यान का अधिकारी माना गया है। कही-कही विद्वानों का कथन है कि कुद्कुदाचार्य ने ८४ पाहुड लिखे थे। परतु वर्तमान में उपरोक्त आठ ही पाहुड उपलब्ध हैं। इसमें आगमकालीन साधना पद्धति का मौलिक चिन्तन करके मनोवैज्ञानिक ढग से विचार किया है।

'**द्वादशानुप्रेक्षा**' ग्रन्थ में अनित्यादि बारह भावनाओं का विचार किया गया है। भावना ध्यानयोग की प्रथम सीढ़ी है। अन्तिम चार गाथाओं में अनुप्रेक्षाओं का माहात्म्य प्रकट किया गया है। इसमें ९१ गाथाएँ हैं। भावना के बिना ध्यानावस्था जीवन में आ नही सकती। अत कुंदकुदाचार्य ने ध्यान के स्वरूप को स्पष्ट करने में भावना पर अधिक जोर दिया है। अन्तिम दो ग्रन्थ कुदकुद भारती में मिलते हैं।

कुंदकुदाचार्य ने अपने मौलिक चिन्तन के रूप में ध्यानयोग की प्रक्रिया को शास्त्रीय और आध्यात्मिक पद्धती से प्रस्तुत की है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय के द्वारा शास्त्रीय पद्धति और निश्चय और व्यवहार के द्वारा आध्यात्मिक पद्धति को स्पष्ट किया है। यही ध्यान सबंधी इनका मौलिक चिन्तन है।

◆ ◆ ◆

भगवती आराधना :- प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता आचार्य शिवार्य हैं। इनका काल निश्चित नहीं है फिर भी ग्रन्थ का विषय और उसकी विवेचन पद्धती से प्रतीत होता है कि इसका रचनाकाल दूसरी-तीसरी शताद्वी होना चाहिए। इसके दो भाग हैं। इन दोनों भागों में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तप का विवेचन है। तप के अन्तर्गत ही आगम कथित ध्यान का स्वरूप स्पष्ट किया है। रत्नत्रय का आराधक ही ध्यान कर सकता है। इसीलिए चतुर्थ अग 'तप' में ध्यान का स्वरूप बताया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ पर अपराजितसूरि (अनुमानत वि ९ वीं शताद्वी के पूर्व) के द्वारा 'विजयोदया' नामक टीका और प आशाधर (वि १३ वी शताद्वी) द्वारा 'मूलारा-

घनादर्पण' नामक टीका रची गई है। इसके अतिरिक्त आचार्य अमितगति (वि ११ वीं शताब्दी) द्वारा पद्यानुवाद भी किया गया है। टीकाओं में ध्यान का स्वरूप आगम के अनुसार ही वर्णित है।

आचार्य उमास्वातिकृत ग्रन्थ :- उमास्वाति दोनों ही सम्प्रदाय (श्वेताम्बर व दिगम्बर) के प्रसिद्ध ग्रन्थकार हैं और सूत्रशैली के प्रथम प्रणेता हैं। इनका कालमान विक्रम की दुसरी-तीसरी या चौथी शताब्दी के बीच माना जाता है। इनके ध्यान संबधी निम्नलिखित ग्रन्थ हैं -

तत्त्वार्थ सूत्र :- प्रस्तुत ग्रन्थ दोनों सम्प्रदाय में माननीय है। श्वेताम्बर परम्परा में यह तत्त्वार्थधिगमसूत्र के नाम से प्रसिद्ध है। यह दश अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय भूमिका रूप है जिसमें ज्ञान का विस्तृत वर्णन है। साथ ही साथ सम्यग्दर्शन का भी स्वरूप स्प्ट कर दिया है। प्रथम अध्याय में तत्त्वों का दिग्दर्शन करके दूसरे से लेकर चौथे अध्याय तक जीव तत्त्व का विश्लेषणात्मक दृष्टि से सक्षिप्त वर्णन किया है। पाँचवें अध्याय में अजीव तत्त्व का वर्णन है। छठे अध्याय व सातवें अध्याय में आस्रव तत्त्व का, आठवें में बध तत्त्व का, नौवें में सवर तत्त्व का और दसवें में मोक्ष तत्त्व का वर्णन है। इन सभी अध्यायों में ध्यान को इस प्रकार जड़ दिया है कि उनसे पृथक् करके बताना कठिन है। नौवें अध्याय में ध्यान का विस्तृत वर्णन है। ध्यान का फल सवर और निर्जरा है और निर्जरा का फल मोक्ष है। जीव ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की साधना से मोक्ष प्राप्त करता है। ये ही तीनों मोक्ष मार्ग हैं। ध्यान संबधी यह उत्कृष्ट ग्रन्थ है।

प्रस्तुत ग्रन्थ पर सर्वार्थसिद्धि (आ पूज्यपाद) और तत्त्वार्थवार्तिक (आ अकलक देव) नामक दो टीकाएँ हैं। इनमें भी ध्यान का स्वरूप आगम शैली से ही विस्तृत रूप से स्पष्ट किया है।

तत्त्वार्थाधिगम- भाष्य :- प्रस्तुत स्वोपज्ञ भाष्य तत्त्वार्थ सूत्र पर ही रचा गया है। मोक्ष में साधनभूत ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र का (अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) विस्तृत वर्णन करके ध्यानयोग का सवर अध्याय में विस्तार से वर्णन किया है।

प्रशमरति -प्रकरण :- प्रस्तुत ग्रन्थ में ध्यानसंबधी कषाय, रागादि भाव, आठ कर्म, पचेन्द्रियविषय, आठ मद, आचार, भावना, नौ तत्त्व, उपयोग, पाँच भाव, छह द्रव्य, चारित्र, शीलाग, ध्यान, क्षपक श्रेणी, समुद्घात, योगनिरोध, मोक्षगमन क्रिया और फल आदि २२ अधिकारों से विभिन्न विषयों का वर्णन किया गया है।

इस पर हरिभद्रीय टीका है, जिसका श्लोकप्रमाण १८०० है।

प्रवचनसारोद्धार :- प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्ता नेमिचन्द्रसूरि हैं। उन्होंने इस ग्रन्थ में जैन

प्रवचन के सार भूत सारे पदार्थों का बोध कराया है। विभिन्न विषयों के उपर २७६ द्वार हैं, जिसमें ध्यानयोग सबधी विषयों का वर्णन निम्नलिखित द्वार के अन्दर हैं -

जिनकल्पी, स्थविरकल्पी एव साध्वी के उपकरणों का वर्णन (द्वार, ६०-६२) विनय के ५२ भेद (६५ द्वार में), जघावरण और विद्याचरण लब्धीधारी के गमन की शक्ति का प्रमाण (६८ द्वार में),परिहारविशुद्धि का स्वरूप, यथालन्दिक साधना का स्वरूप (६९ और ७०द्वार में), क्षपक श्रेणी और उपशम श्रेणी का विस्तृत वर्णन (८९,९० द्वार में), प्रायश्चित्त, ओघ सामाचारी, पदविभाग सामाचारी (क्रमश ९८, ९९, १०० द्वार में) सलेखना, सम्यक्त्व के सड़सठ और दस भेद, चौदह गुणस्थान, २८ लब्धियाँ तथा विविध तप का वर्णन (क्रमश १३४, १४८-९, २२४, २७०, २७१ द्वार में) इन सभी द्वारों में ध्यान विषयक वर्णन है। उसे उस विषय से अलग नही कर सकते। अत प्रस्तुत ग्रन्थ में ध्यान विषयक विभिन्न सामग्री उपलब्ध होती है। तप द्वार में तो ध्यान का आगमिक शैली द्वारा वर्णन है।

प्रस्तुत ग्रन्थ सिद्धसेन सूरिकृत 'तत्त्वप्रकाशिनी वृत्ति' दो भागों में विभाजित है। यह ग्रन्थ देवचद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार सख्या के अनुक्रम से सन् १९२२ और १९२६ में प्रकाशित किया गया है। प्रथम भाग में १०३ द्वार और ७७१ गाथाएँ हैं और दुसरे में १०४ से २७६ द्वार तक है तथा ७७२ से १५९९ तक गाथाएँ हैं। इस टीका का श्लोक प्रमाण १६५०० हैं।

समाधितन्त्र अथवा समाधिशतक :- प्रस्तुत ग्रन्थ आचार्य पूज्यपाद (वि ६ शती) द्वारा विरचित है। इसमें १०५ श्लोक हैं। सिद्धात्मा और सकलात्मा (अरिहत) को नमस्कार करने के बाद इसमें आगम, युक्ति और स्वानुभव के अनुसार शुद्ध आत्मस्वरूप का कथन किया है। बहिरात्मदशा को छोड़कर अन्तरात्म (उपाय) स्वरूप द्वारा परमात्मावस्था को प्राप्त करना ही ध्यान है। वास्तविक में ध्यान का यही केन्द्रबिन्दु है। अत प्रस्तुत ग्रन्थ में आत्मा की तीन अवस्था बताई हैं। सबसे श्रेष्ठ अवस्था परमात्मस्वरूप है और यही ध्यान है।

इस पर आचार्य प्रभाचन्द्र (वि, १३ वी शती) द्वारा सक्षिप्त सस्कृत टीका लिखी गयी है।

इष्टोपदेश :- इसके रचयिता भी पूज्यपाद ही हैं। यह भी आध्यात्मिक ही कृति है। इसमें ५१ श्लोक हैं। योग्य उपादान की प्राप्ती से पत्थर सोना बन सकता है, वैसे ही योग्य द्रव्य क्षेत्रादि उत्तम सामग्री के प्राप्त होने से जीव आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेता है। कुदकुदाचार्य के उपादान और निमित्तकारण इन दोनों का अनुकरण ही पूज्यपाद ने किया

है। पूज्यपादाचार्य के कथनानुसार दर्शनमोहनीय कर्म के प्रबल उदयावलि के कारण जीव को अपने यथार्थ स्वरूप का बोध नही होता। यथार्थ स्वरूप का बोध रागादि के दूर हटे बिना नहीं हो सकता। इसके लिए शुद्ध आत्मस्वरूप का चिन्तन ही श्रेष्ठ उपाय है और यही ध्यान का स्वरूप है।

इस पर पं आशाधर (वि १३ वी शती) की टीका है।

परमात्म प्रकाश :- प्रस्तुत ग्रन्थ योगीन्दु (जोइन्दु वि ६-७ वी शती) का है। इसमें ३४५ दोहे हैं। यह दो अधिकार में विभक्त है, जिनकी पद्य सख्या क्रमश १२३+२१४ = ३३७ है। इसमें शुद्ध आत्मस्वरूप का ही विश्लेषण है। कुदकुदाचार्य और आचार्य पूज्यपाद इन दोनों के विषयों को ही लेकर इसमें विशेष स्पष्टीकरण किया है। आत्मा के बहिरात्मा-अन्तरात्मा और परमात्मा ऐसे तीन भेद किये गये हैं। अन्तरात्मा दशा धर्मध्यान की अवस्था है। धर्मध्यान की साधना से ही शुक्लध्यान पर आरोहण किया जा सकता है तभी परमात्मदशा का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। यही ध्यान का सच्चा स्वरूप है।

इस पर प्रभाचन्द्र एव अन्य आचार्यों की टीकाएँ हैं किन्तु पहले आचार्य की टीका प्रकाशित है। पद्मनन्दी ने भी 'समान नामक कृति' इस ग्रन्थ पर संस्कृत में लिखी है जिसका श्लोकप्रमाण १३०० है।

योगसार :- यह भी योगीन्दु की कृति है। इसमें १०८ दोहे हैं, जो सभी अध्यात्मविषयक ही हैं। इसमें परमात्म प्रकाश के विषय का ही प्रतिपादन है। इसमें इतनी विशेषता है कि आत्मा के निज स्वरूप को प्राप्त करने का उपाय ध्यान ही बताया है। आत्मस्वरूप का सतत चिन्तन ही ध्यान है।

इस पर संस्कृत में दो टीकाएँ लिखी गई हैं। प्रथम टीका के कर्ता अमरकीर्ति के शिष्य इन्द्रनन्दी है और दूसरी टीका का कर्ता अज्ञात है।

झाणज्झयण (झाणसय) :- प्रस्तुत कृति जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण की है। इसका सस्कृत नाम ध्यानाध्ययन और ध्यानशत है। इस पर हरिभद्र की टीका है। उन्होंने इसे ध्यान शतक की सज्ञा दी है। इसमें आगमनकालीन ध्यान का ही स्वरूप विस्तार से स्पष्ट किया है। आर्तध्यान-रौद्रध्यान का स्वरूप, लक्षण, लेश्या, स्वामी, भेद, लिंग और गति आदि द्वारा विशेष रूप से इन दो अशुभ ध्यानों का वर्णन किया है। शुभध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान के बारह द्वार - (भावना, उचित देश या स्थान, उचित काल, उचित आसन, आलम्बन, ध्यान का क्रम, ध्यान का विषय, ध्याता अनुप्रेक्षा, लेश्या, लिंग और फल) बताये हैं। इन्ही के द्वारा ध्यान का सम्पूर्ण स्वरूप स्पष्ट किया है। यह ध्यानमूलक ही ग्रन्थ है।

इस पर हरिभद्रीय टीका के अतिरिक्त टिप्पण भी है। इस पर एक अज्ञाकर्तृक टीका भी है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में आगम में कथित ध्यान विषयक विभिन्न सामग्री को एक स्थान पर रखा है। यह ध्यान का श्रेष्ठ ग्रन्थ है।

ध्यान -विचार :- इस ग्रन्थ के कर्ता अज्ञात हैं। इसकी हस्तलिखित प्रति, पाटन के श्री हेमचन्द्राचार्य - ज्ञानमन्दिर के भडार में डा न. ५० प्र न ९९३ में 'ध्यान - विचार' नामक यह लघु ग्रन्थ प्राप्त होता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ 'नमस्कार स्वाध्याय' (प्राकृतविभाग) नामक ग्रन्थ में से लिया गया है। यह स्वतंत्र रूप से प्रकाशित नही है। इसमें ध्यान के ४, ४२, ३६८ भेद बताये गये हैं। यथा ध्यान मार्ग के चौबीस प्रकारों को दो भागों में विभाजित किया है -

१) ध्यान, २) शून्य, ३) कला, ४) ज्योति, ५) बिन्दु, ६) नाद, ७) तारा, ८) लय, ९) लव, १०) मात्रा, ११) पद और १२) सिद्धी । इन्हीं बारह नामों के पहले 'परम' शद्ब लगाने से दूसरे बारह भेद हो जाते हैं। दोनों नामों का जोड़ लगाने पर कुल ध्यान के २४ भेद होते हैं। इन चौबीस प्रकारों के स्वरूप को समझाते हुए शून्य के द्रव्य शून्य और भाव शून्य ऐसे दो भेद करके द्रव्य शून्य के बारह प्रभेद अवतरण द्वारा गिनाये हैं। यथा क्षिप्त, चित्त, दीप्त इत्यादि । शेष 'कला' से लेकर 'सिद्धी' तक - सभी के द्रव्य और भाव से दो-दो प्रकार किये हैं। भाव कला में पुष्पमित्र का दृष्टान्त दिया है। परम बिन्दु के स्पष्टीकरण में ११ गुणश्रेणी गिनाई है। द्रव्य लय अर्थात वज्रलेप इत्यादि द्रव्य वस्तुओं का सश्लेष होता है यह भी बताया है।

ध्यान के चौबीस प्रकारों को करण के ९६ प्रकारों से गुणन करने पर २३०४ होते हैं। इसे ९६ करण योग से गिनने पर २, २१, १८४ भेद होते हैं। इसी प्रकार उपर्युक्त २३०४ को भवनयोग के ९६ प्रकारों से गुणन करने पर २, २१, १८४ प्रकार होते हैं। करणयोग और भवनयोग इन दोनों की जोड़ करने से ध्यान के ४,४२,३६८ भेद होते हैं।

परम लव से याने उपशम श्रेणी और श्रेणी का बोध कराया है। परम मात्रा में चौबीस वलयों द्वारा वेष्टित आत्मा का ध्यान करने को कहा है। भवनयोगादि के योग, वीर्य, आदि आठ प्रकार, उन सबके तीन-तीन प्रकार और उनके प्रणिधान आदि चार-चार कुल ९६ भेद हुये। चार प्रणिधान को क्रमश प्रसन्नचंद्र, भरतेश्वर, दमदन्त और पुष्पभूति के दृष्टान्तों द्वारा भवन और करणयोग का स्पष्टीकरण किया है। इसके अतिरिक्त इसमें छद्मस्थ के ४, ४२, ३६८ प्रकार और २९० आलम्बनों का भी निर्देश किया है।

मरूदेवी की भाँति सहज भाव से होने वाला ध्यान भवनयोग है और उपयोगपूर्वक किया जाने वाला योग (ध्यान) करणयोग है।

प्रस्तुत कृति में सम्पूर्ण ध्यान का ही वर्णन है।

पद्म पुराण :- प्रस्तुत कृति के कर्ता रविषेण (वि. सं ७३३ शती) है। इसमें प्रमुखत. पुरुषोत्तम रामचन्द्र का वर्णन है। १२३ पर्वों में वर्णन करके ध्यान का भी स्वरूप स्पष्ट किया है। परन्तु वह संक्षिप्त है।

हरिवंश पुराण :- (यह हरिभद्र के बाद लिखना है किन्तु पहले लिखा गया)

इसके कर्ता जिनसेनाचार्य हैं, परन्तु महापुराण के कर्ता से भिन्न हैं। इसमें जैन वाङ्मय के विविध विषयों का षट्षष्टितम (६६) सर्गों में विभाजन किया है। बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ भगवान का चरित्र मुख्य रूप से स्पष्ट किया है और बीच में प्रसंगानुरूप अन्य कथानक भी दिये हैं। श्रीकृष्ण और राम के चरित्र के साथ पाण्डवों, कौरवों एव कृष्ण का पुत्र प्रद्युम्न का भी चरित्र वर्णित है।

भगवान महावीर के वर्णन के साथ तीनों लोक का वर्णन विस्तार के साथ वर्णित किया है। यह धर्मध्यान का अन्तिम भेद है। इसके अतिरिक्त अपध्यान, अपायविचय आदि शद्ब के प्रयोग से शुभाशुभ ध्यान का वर्णन किया है।

महापुराण :- प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्ता पुष्पदन्त माने जाते हैं। इसे दो भागों में (पूर्वार्ध और उत्तरार्ध) विभाजित किया गया है। यों तो यह तीन भागों में विभाजित है। तीसरे भाग में अजितनाथ आदि का वर्णन है। इसमें त्रेसठ शलाका महापुरुषों (२४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण, ९ बलदेव) का वर्णन है। इसे त्रेसठ-शलाका पुरुष पुराण भी कहते हैं। इसके प्रथम भाग में ऋषभदेव का चरित्र है, इसे आदि पुराण कहा जाता है और शेष भाग को उत्तर पुराण कहा जाता है। आदि पुराण में सैंतालीस पर्व हैं, जिनमें से आदि तैंतालीस पर्व जिनसेन रचित है और पुष्पदन्त के आदि पुराण में सैंतीस सन्धियाँ हैं। सभी सन्धियों में विभिन्न विषयों का प्रतिपादन है। उनमें से ध्यान सबधी निम्नलिखित सन्धियाँ हैं- द्वितीय सन्धि में काल द्रव्य का विस्तृत वर्णन है। सातवीं सन्धि में अनुप्रेक्षाओं का कथन है। आठवी सन्धि में ऋषभदेव का कथन है। नौंवी सन्धि में कायोत्सर्ग का उल्लेख है। अठारहवी सन्धि में बाहुबलि और भरत का कथन है। बाहुबलि के आत्म चिन्तन का स्वरूप स्पष्ट करते हुए ध्यान का उल्लेख किया है। स्पष्टत ध्यान का उल्लेख नही है फिर भी अप्रत्यक्षत ध्यान का ही स्वरूप स्पष्ट किया जा रहा है। पूर्वार्ध में १८ सन्धियाँ हैं। ऋषभदेव ने 'बाह्मण' वर्ण की स्थापना के अनुसार तीन वर्ण की स्थापना की - क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र।

१९ वी सन्धि से उत्तरार्ध प्रारभ होता है। २० वी सन्धि लोक का विस्तृत वर्णन है। २१वी सन्धि में चारणमुनियों के कथन से लब्धि का कथन किया है और २८वी सन्धि में भरत के आत्मचिन्तन का वर्णन है। इन सभी में ध्यान का स्वरूप स्पष्ट हो रहा है। लोक के स्वरूप में लोक सस्थान धर्मध्यान का स्वरूप निखर आता है।

महापुराण :- प्रस्तुत ग्रन्थ जिनसेनाचार्य द्वारा रचित है। इसमें २४ पर्व हैं। इसमें मराठी अनुवाद है। विशेषत. २१ वें पर्व में आगम शैली से ही ध्यान का विस्तृत वर्णन है। शुक्लध्यान के चारों भेदों का विस्तार से वर्णन है। शेष वर्णन पूर्ववत् ही है।

हारिभद्रीय कृतियाँ :- आचार्य हरिभद्र का कालमान विक्रम सवत् ७५७ से ८२७ माना जाता है। उन्होंने आगमकालीन ध्यानयोग पद्धती को ही द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को रखकर तत्कालीन परिस्थिति का निरीक्षण परीक्षण करके समस्त ध्यानयोग की प्रक्रिया को 'योग' शब्द के अन्तर्गत रख दिया। उन्होंने १४४४ ग्रन्थ लिखे परन्तु उनमें से ध्यान सबधी निम्नलिखित ही ग्रन्थ हैं -

१) योगबिन्दु, २) योगशतक, ३) योगदृष्टि समुच्चय, ४) योगविंशिका, ५) षोडषक प्रकरण, ६) ब्रह्मसिद्धी समुच्चय, ७) धर्म बिन्दु, ८)शास्त्रवार्ता समुचय और ९) पचसूत्र की वृत्ति।

'योगबिन्दु' ५२७ पद्यों में रचित यह अध्यात्मप्रधान कृति है। इसमें विविध विषयों के वर्णन के साथ, योग का माहात्म्य, योग की पूर्वभूमिका 'पूर्व सेवा' शब्द के रूप में पाँच अनुष्ठान (विष, गय, अनुष्ठान, तद्धेतु और अमृत) के वर्णन के साथ ही साथ सम्यक्त्व की प्राप्ति में साधनभूत यथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण का वर्णन किया है। जैन योग का विस्तृत वर्णन अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्ति सक्षेप इन पाँच आध्यात्मिक विकास की भूमिकाओं में किया है। पतजलि के द्वारा कथित सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि का स्वरूप हरिभद्रसूरि ने प्रथम के चार आध्यात्मिक योग को सम्प्रज्ञात और अतिम वृत्तिसक्षेप असम्प्रज्ञात समाधि के समान माना है।

योग के अधिकारी और अनाधिकारी के वर्णन में मोहान्धकार में विद्यमान ससारी जीवों के लिये अचरमावर्त शब्द का प्रयोग किया है। उन्हें ही 'भवाभिनन्दी' की भी सज्ञा दी है। ये जीव ध्यान के अधिकारी नही है। चरमावर्त में विद्यमान शुक्लपाक्षिक, भिन्न ग्रन्थि और चरित्री जीवों को ही ध्यान का अधिकारी माना है। इस अधिकार की प्राप्ति 'पूर्व सेवा' से ही हो सकती है।

प्रस्तुत ग्रन्थ पर 'सद्योगचिन्तामणि' नामक स्वोपज्ञवृत्ति है। इसका श्लोकप्रमाण ३६२० है।

'योगशतक' यह कृति प्राकृत में है। इसमें १०१ गाथाएँ हैं। इसमें भी विभिन्न विषयों का वर्णन है। प्रारभ में ही योग के दो भेद किये हैं - निश्चय और व्यवहार। इन दोनों का स्वरूप, निश्चल योग से फल सिद्धि, आत्मा और कर्म का सम्बन्ध, योग के अधिकारी- अपुनर्बन्धक, सम्यग्दृष्टि और चारित्री इन तीनों का स्वरूप, मैत्री आदि चार भावनाएँ, आहार विषयक स्पष्टीकरण में भिक्षा, योग जन्य लब्धियाँ, कायिक प्रवृत्ति की अपेक्षा मानसिक भावना की श्रेष्ठता में मण्डुकचूर्ण और उसकी भस्म का दृष्टान्त तथा मिट्टी का घड़ा और सुवर्ण कलश का भी उदाहरण देकर समझाया है। काल ज्ञान का उपाय भी वर्णित है। ये सभी विषय ध्यान से संबधित हैं। इनमें से ध्यान को अलग नही निकाल सकते। यहाँ ध्यान शद्ब के लिये 'योग' शद्ब का प्रयोग किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ पर स्वोपज्ञ व्याख्या है। जिसका परिमाण ७५० श्लोक हैं।

'योग दृष्टिसमुच्चय' यह २२६ पद्यों में रचित हैं। इसमें योग का विभिन्न दृीष्टियों से वर्गीकरण किया गया है।

प्रथम वर्गीकरण ओघदृष्टि और योग दृष्टि से किया गया है। द्वितीय इच्छायोग, शास्त्रयोग और सामर्थ्ययोग इन तीन भेदों से हैं। इनमें सामर्थ्ययोग के धर्म सन्यास और योगसन्यास ऐसे दो भेद किये हैं। इसके अनन्तर मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा इन आठ दृष्टियों को पतजलि के अष्टागयोग के साथ तुलना की है। इन आठ दृष्टियों को स्पष्ट करने के लिए तृणादि के उदाहरण दियें हैं। इसमें १४ गुणस्थानों का भी वर्णन है। अन्त में गोत्रयोगी, कुलयोगी, प्रवृत्तचक्रयोगी तथा निष्पन्न योगी के रूप में वर्गीकरण किया है।

ससारी जीव की अचरमावर्तमानकालीन अवस्था को 'ओघदृष्टि' और चरमवर्तमानकालीन अवस्था को 'योगदृष्टि' कहा है। आठ दृष्टियों में से प्रथम की चार दृष्टियों में मिथ्यात्व का अश होने से उसे अवेद्यसवेद्यपद वाली और अस्थिर एवं सदोष कहा है और शेष चार को वेद्यसवेद्यपदवाली कहा है। प्रथम चार दृष्टियों में प्रथम के चार गुणस्थान, पाचवी छठी दृष्टि में पाच से सात तक गुणस्थानत, सातवी दृष्टि में आठ और नौवा गुणस्थान तथा अन्तिम दृष्टि में शेष सभी गुणस्थान हैं।

इस पर भी हरिभद्र की स्वोपज्ञ वृत्ति है, जिसका श्लोक प्रमाण ११७५ है।

'योगविंशिका' ग्रन्थ में योग के ८०भेद बताए हैं। इसमें गाथा २० ही हैं किन्तु पूर्ण आध्यात्मिक ग्रन्थ है। प्रारंभ में ही योग शद्ब की व्याख्या की गई है। समस्त धर्म व्यापार, जो मोक्ष से जोड़ता है, उसे योग कहा है। इसमें स्थान, ऊर्ण, अर्थ, सालम्बन और निरालम्बन इन पाँच को कर्मयोग (स्थान व ऊर्ण) और ज्ञानयोग (अर्थ, सालम्बन,

निरालम्बन) में विभाजित किया है। इनमें स्थान शद्ब से अभिप्राय कायोत्सर्ग और पद्मासन आदि से है। २० गाथा में योग का विस्तृत वर्णन है।

इस पर यशोविजय उपाध्याय की विस्तृत टीका है, जो आत्मानद जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल, आगरा से प्रकाशित है।

'षोडशक प्रकरण' में ग्रन्थ के नामानुसार ही १६-१६ पद्यों के १६ प्रकरण हैं। प्रस्तुत कृति में बाल, मध्यम बुद्धि एव बुध आदि के वर्गीकरण द्वारा विविध विषयों का प्रतिपादन किया है। योग साधना में बाधक खेद, उद्वेग, क्षेप, उत्थान, भ्रान्ति, अन्यमुद्, रुग्र, और आसग इन आठ चित्त दोषों का १४ वे प्रकरण में वर्णन मिलता है। वैसे ही सोलहवें प्रकरण में इन दोषों के प्रतिपक्षी अद्वेश, जिज्ञासा, शुश्रुषा, श्रवण, बोध, मीमासा, प्रतिपत्ति और प्रवृत्ति का वर्णन है। पन्द्रहवें प्रकरण में जिनेन्द्रध्यान का वर्णन है। ध्यान दो ही प्रकार का है। सालबन और निरालबन। इन्ही दोनों ध्यानों का फल केवल ज्ञान की प्राप्ति होने से सिद्धि अवश्य प्राप्त होती है। इस प्रकार इसमें ध्यान का अर्थात् योग का विस्तृत वर्णन है।

इस पर यशोविजयसूरि विरचित न्यायाचार्यवृत्तिगतटिप्पन है। यह सूरत से प्रकाशित है।

'ब्रह्मसिद्धिसमुच्चय' प्रस्तुत कृति हरिभद्र की है ऐसा मुनि पुण्यविजयजी का मन्तव्य है। इसमें करीबन ४२३ पद्य हैं। महावीर को नमस्कार करके ब्रह्मादि की प्रक्रिया, सिद्धान्तानुसार आत्म तत्त्व का निरूपण, सम्यक्त्व का लक्षण, अद्वेषादि आठ अगों का विस्तार, इच्छायोग, शास्त्रयोग और सामर्थ्ययोग का विस्तृत वर्णन करके उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी का उल्लेख किया है। ये श्रेणियाँ ध्यान साधक ही चढ़ सकता है। ब्रह्मादि की प्राप्ति योग द्वारा ही हो सकती है ऐसा हरिभद्र का कथन है।

'धर्मबिन्दु' ग्रन्थ में गृहस्थ धर्म और यति धर्म का विस्तृत वर्णन है। इसके आठ अध्याय हैं। सातवें अध्याय में धर्मफल के अन्तर्गत ध्यान का विशेष वर्णन किया है।

'शास्त्रवार्ता समुच्चय' में आठ स्तव (प्रकरण) हैं। उनकी पद सख्या क्रमश ११२+८१+४४+१३७+३९+६३+६६+१५९ = ७०१ है। उनमें सभी दर्शनों का प्रतिपादन करके ज्ञानयोग का स्वरूप और फल बताकर ध्यानात्मक तप को ही परमयोग (मुक्ती का मार्ग) कहा है। इस पर यशोविजय उपाध्याय (वि, १७-१८ वी शती) की टीका है।

'पंच सूत्र' प्रस्तुत ग्रन्थ पर हरिभद्र की वृत्ति है। यह पाप-प्रतिघात-गुणबीजाधान, साधु धर्म की परिभावना, प्रव्रज्या ग्रहणविधि, प्रव्रज्या परिपालन और प्रव्रज्या - फल इन

पाँच सूत्रों में विभाजित किया गया। नामानुसार ही प्रत्येक सूत्र में वर्णन किया गया है। उसके अन्दर योग को ऐसा समाविष्ट कर दिया है कि उसे उन सूत्रों से अलग नहीं कर सकते।

शुद्ध धर्म की प्राप्ति पाप नाश से ही होती है। पाप कर्म का नाश तथा भव्यतादि भाव से है। उसके (तथा भव्यतादि) परिपाक के साधन १) चहु शरणा, २) दुष्कृतगर्हा और सुकृत का सेवन, (अनुमोदन) है। इन साधनों के द्वारा ही साधक आत्मशुद्धी करके धर्म का पालन करता है। धर्म के अन्तर्गत श्रावक और यति के मूलगुण और उत्तरगुणों का वर्णन करके सम्यग्दर्शनादि की आराधना द्वारा ध्यान का वर्णन पच सूत्रों में दुग्धजल की तरह समाविष्ट कर दिया है।

प्रस्तुत कृति चिरन्तनाचार्य की है।

इस प्रकार हरिभद्रसूरि ने अपने योगप्रधान ग्रन्थों द्वारा मौलिक चिन्तन से नये वर्गीकरण, अपूर्व पारिभाषिक शब्दावली (अचरमावर्त-चरमावर्त, भवानन्दी, आत्मानन्दी, कृष्णपाक्षिक-शुक्ल पाक्षिक, अपुनर्बन्धकादि) का तथा जैन परम्परागत योगात्मक विचारों का नये पद्धति से प्रतिपादन किया है। इनके ग्रन्थों में योग का विस्तृत स्वरूप सर्वांगों द्वारा स्पष्ट होता है।

◆ ◆ ◆

उपमितिभवप्रपंचा कथा :- प्रस्तुत ग्रन्थ सिद्धर्षिगणि (वि. स. ९६२) रचित आठ प्रस्तावों में (भागों में) विभाजित है। इसके पूर्वार्ध (प्रथम भाग) और उत्तरार्ध (दूसरा भाग) ऐसे दो विभाग हैं। इसमें द्रमक (भिखारी) के रूपक द्वारा समस्त ससारी जीवों का स्वरूप बताया है। दूसरे में कर्म के स्वरूप और उससे छूटने के लिये सदागमगुरु की शरण को श्रेष्ठ बताया है। निगोद से लेकर तिर्यंचपचेन्द्रिय तक के परिभ्रमण की कथा को रूपक द्वारा तीसरे प्रस्ताव में स्पष्ट किया है। और चतुर्थ प्रस्ताव में मोहराजा का अस्तित्व और ससार परिभ्रमणा का कारण मोह का रूपकों द्वारा वर्णन किया है। पाँचवें प्रस्ताव से उत्तरार्ध शुरू होता है। शेष प्रस्तावों में रूपकों द्वारा आध्यात्मिक विकास क्रम का वर्णन मिलता है। सद्गुरु वैद्य की शरण से ही कर्म रोग दूर हो सकता है। उसके लिये ध्यानयोग की औषधि महा रामबाण दवा है। समस्त द्वादशागी का सार ध्यानयोग को ही बताया है। संसार से मुक्ति ध्यान द्वारा ही हो सकती है। यह ग्रन्थ सम्पूर्ण रूपकों द्वारा ही निर्मित है। इसकी यही विशेषता है कि नानाविध रूपकों द्वारा ससार का स्वरूप समझाकर अन्त ध्यानयोग का ही द्वादशागी (आगम वाणी) का सार कहा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ शाह नगीनभाई छेलाभाई जव्हेरी ४२६ जव्हेरी बाजार तथा दूसरा मुनि चद्रशेखरविजय (सम्पादक) द्वारा 'कमल प्रकाशन' अहमदाबाद से प्रकाशित है।

आत्मानुशासन : प्रस्तुत ग्रन्थ गुणभद्राचार्य (वि ९-१० वीं शती) द्वारा रचित है। इसका श्लोक प्रमाण २६९ है। इसमें मुक्ति की साधना का विशेष वर्णन है। ध्यान का अति सक्षिप्त वर्णन है।

इस पर आचार्य प्रभाचन्द्र (वि १३ वी शती) द्वारा रचित सक्षिप्त सस्कृत टीका है, जो सोलापूर से प्रकाशित है।

तत्त्वसार : प्रस्तुत कृति देवसेनाचार्य (वि १० वी शती) द्वारा रचित है। तत्त्व का विविध प्रकार से वर्णन करके स्वगत और परगत रूप से क्रमश निजात्मा और पचपरमेष्ठी का स्वरूप स्पष्ट किया है। पदस्थ ध्यान का विस्तृत वर्णन करके पुण्यात्माओं को पुण्य का बन्धन बताया है। स्वगत दो प्रकार के हैं- सविकल्प और अविकल्प। सविकल्प स्वगत आस्रवयुक्त है जब कि अविकल्प स्वगत आस्रवरहित है। इन्द्रियविषयों से विमुख होने पर मन की चचलता का विच्छेद हो जाता है तब अपने स्वभाव में (स्वरूप में) निर्विकल्प अवस्था आती है। यह शुद्धावस्था ही ध्यान है। इसमें शुद्ध आत्म तत्त्व का ही ध्यान करने की प्रेरणा है। स्वद्रव्य और परद्रव्य के विवेचन में ज्ञानी अज्ञानी का स्वरूप स्पष्ट किया है।

भावसंग्रह : यह भी देवसेनाचार्य की कृति है। यह प्राकृत में है। इसमें ध्यान संबधी निम्नलिखित विषयों का वर्णन है। मुक्त और ससारी जीवों का स्वरूप, औदायिकादि पाँच भावों का स्वरूप, चौदह गुणस्थान एव जिनकल्पक और स्थविरकल्पक की साधना पद्धति। इन विषयों के अतर्गत ध्यान का स्वरूप स्पष्ट किया है।

गोम्मटसार : इसके रचयिता आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती (वि ११ वी शती) ये चामुण्डराय के समकालीन रहे हैं। इन्होंने षट्खंडागम का ही आधार लिया है। प्रस्तुत ग्रन्थ दो भागों में विभाजित है। जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड । इसका गाथा प्रमाण १७०५ हैं।

जीवकाण्ड : इसमें गुणस्थान, जीव समास, १४ मार्गणा, उपयोग आदि का विस्तृत वर्णन हैं। मार्गणा के अन्तर्गत लेश्या का स्वरूप स्पष्ट किया है। इस विभाग में ७३३ गाथाएँ है। ध्यान कौन कर सकता है? जीवों के भेद एव स्वरूप का विशेष वर्णन करके यही स्पष्ट किया है कि सम्यग्दृष्टि आत्मा ही ध्यान के अधिकारी हैं।

कर्मकाण्ड : इसमें कर्म का विस्तृत वर्णन है। नौ अधिकारों में ९७२ गाथाएँ हैं। ध्यान द्वारा ही कर्मक्षय किया जा सकता है। अत· इसमें कर्म का अति विस्तृत वर्णन है।

ज्ञानार्णव : प्रस्तुत कृति को योगार्णव अथवा योगप्रदीप भी कहते हैं। यह शुभचन्द्राचार्य की रचना है। इसमें ४२ वर्ग और २०७७ श्लोक हैं। हेमचन्द्राचार्यकृत

योगशास्त्र से यह कुछ भिन्नता रखता है। इनका कथन है कि गृहस्थ को योग का अधिकार नही है। संयमी साधु ही इसका अधिकारी है। इसलिए इसमें पाँच महाव्रत और उनकी २५ भावनाओं का विस्तृत वर्णन है। सर्ग २१ और २७ में आत्मा को ही ज्ञान-दर्शन चारित्र रूप माना है। कषायरहित आत्मा को ही मोक्ष है। इसका उपाय इन्द्रियविजेता बनना है। इस विजय प्राप्ति के लिए क्रमश चित्तशुद्धि, रागद्वेषविजेता, समत्व की प्राप्ति है। समत्व की प्राप्ति ही ध्यान की योग्यता है।

इसमें प्राणायाम का वर्णन करीबन १०० श्लोकों में हैं। हेमचद्र की तरह ये भी प्राणायाम को ध्यान साधना में निरुपयोगी और अनर्थकारी मानते हैं। अनुप्रेक्षाओं का वर्णन करीबन २०० श्लोकों में किया है। ध्यान का वर्णन भी आगम की दृष्टि से ही किया गया है, परतु धर्मध्यान के अन्तर्गत ध्येयरूप में पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यान का वर्णन किया है। इस ग्रन्थ में ध्यान का विस्तृत वर्णन हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ पर तीन टीकाएँ हैं - (१) तत्त्वत्रयप्रकाशिनी (२) नयविलास की टीका और (३) टीका - इसके कर्ता अज्ञात हैं।

योग शास्त्र (अध्यात्मोपनिषद्) यह कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य की कृति है। बारह प्रकाशनों में प्रकाशित है। इनकी पदसख्या क्रमश ५६+११५+१५६+१३६+२७३+८+२८+८१+१६+२४+६१+५५ = १०१९ श्लोक है।

प्रथम प्रकाश में चार पुरुषार्थ में से मोक्ष का कारण ज्ञान-दर्शन चारित्ररूप 'योग' माना है। योगशास्त्र का मुख्य विषय यही है। प्रकाश १ से ४ (चार) तक गृहस्थ धर्म का विस्तृत वर्णन है। प्रकाश ५ से १२ तक प्राणायाम, आसन, ध्यान पर विस्तृत वर्णन है। आठवें से ग्यारह प्रकाशों तक क्रमश पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यान का वर्णन है। रूपातीत ध्यान के अन्तर्गत ही शुक्लध्यान का स्वरूप स्पष्ट किया है। तथा योग के माहात्म्य को, अभयकुमार, आदिनाथ, ऋषभदेव, आनंद, कुचिकर्म, कौशिक, कामदेव, कालसौरिकपुत्र, चुलिनीपिता, तिलक, दृढ़प्रहारी चोर, परशुराम, ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती, भरत चक्रवर्ती, मरूदेवी माता, मण्डिक, महावीर स्वामी, रावण, रौहिण्येय, वसू (नृपति), सगर चक्रवर्ती, संगमक, सनत्कुमार चक्रवर्ती, सुदर्शन श्रेष्ठी, सुभूम चक्रवर्ती और स्थूलभद्र आदि के दृष्टान्तों द्वारा स्पष्ट किया है। ये सब योग के बल से सिद्धि (मोक्ष) प्राप्त करते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ पर स्वोपज्ञवृत्ति है। इसके अतिरिक्त इस पर 'योगिरमा' 'वृत्ति' 'टीका टिप्पण' 'अवचूरि', 'बालावबोध' 'वार्तिक' आदि अनेक टीकाएँ हैं।

धर्मामृत :- प्रस्तुत कृति प आशाधर (वि. १२-१३ वी शती) द्वारा दो भागों विभक्त हैं। इन दोनो भागों को क्रमश 'अनगार धर्मामृत' और 'सागार धर्मामृत' कहते पहले भाग में नौ अध्याय हैं जिनमें सम्पूर्ण श्रमणाचार का वर्णन है। दूसरे भाग में आ अध्याय हैं। उसमें सम्पूर्ण श्रावकाचार का वर्णन है। दोनों भाग में ध्यान का उल्लेख किर गया है क्षीर -नीर न्याय की तरह।

दोनों भागों पर प आशाधर ने 'ज्ञान दीपिका' नामक 'पजिका टीका' लिखी है इसके अतिरिक्त उनकी 'भव्यकुमुदचन्द्रिका' नामक दूसरी भी टीका है। अनगार धर्मामृ की स्वोपज्ञ टीका वि सं १३०० की रचना है और सागार धर्मामृत की स्वोपज्ञ टीका वि स १२९६में लिखी गई हैं।

गुणस्थान क्रमारोह :-यह कृति रत्नशेखरसूरि (वि सं १४४७) की है। इसमें आत्मा का आध्यात्मिक विकास क्रम चौदह गुणस्थान के द्वारा बताया है। साधक में ध्यान की योग्यता चतुर्थ गुणस्थान से प्रारम्भ होती है। आगे के गुणस्थानों में क्रमश ध्यान प्रक्रिया में विशेषत विकास होता जाता है। अन्तिम अयोगीकेवली गुणस्थान में सम्पूर्ण कर्मों को ध्यान द्वारा क्षय करके मोक्ष प्राप्त किया जाता है।

प्रस्तुत कृति पर भी 'स्वोपज्ञ वृत्ति' 'अवचूरि' एव 'बालावबोध' आदि टीकाएँ हैं। अवचूरि टीका का कर्ता अज्ञात है और बालावबोध का कर्ता श्रीसार है।

यह कृति शान्तिसूरिकृत 'धर्म रत्न प्रकरण' में से ली हैं।

अध्यात्मककल्पद्रुम :- इसके प्रणेता 'सहस्रावधानी' मुनिसुन्दरसूरि हैं। यह पद्यात्मक है। इसमें सोलह अधिकार हैं। उनमें से समता, स्त्रीममत्वमोचन, अपत्यममत्वमोचन, धन ममत्वमोचन, देहममत्वमोचन, विषयप्रमाद त्याग, कषाय त्याग, मनोनिग्रह, धर्मशुद्धि, गुरुशुद्धि, यतिशिक्षा, मिथ्यात्वादिनिरोध, शुभवृत्ति, साम्यस्वरूप आदि विषय ध्यान से सबधित हैं।

प्रस्तुत कृति पर तीन विवरण हैं - १) 'अधिरोहिणी' (धनविजयगणी), २) 'अध्यात्म कल्पकता' (रत्नसूरि) और ३) उपाध्याय विद्यासागर कृत टीका।

उपाध्याय यशोविजयगणीकृत ग्रन्थ :- न्यायाचार्य महामहोपाध्याय यशोविजय-गणी (वि सं.) १७-१८ शती) की अनेक कृतियाँ हैं। उनमें अध्यात्मसार, अध्यात्मो-पनिषद्, ज्ञानसार आदि ग्रन्थों में ध्यान सबंधी विशेष सामग्री है। ग्रन्थ के नाम से ही अध्यात्मिकता स्पष्ट होती है।

अध्यात्मसार सात अध्यायों में विभक्त है। इन सात प्रबंधों में क्रमश ४+३+४+३+३+२+२=२१ अधिकार हैं। इसका श्लोक प्रमाण १३०० है तथा पद्य ९४९ हैं। इन २१ अधिकारों में से अध्यात्ममहात्म्याधिकार, अध्यात्मस्वरूपाधिकार,

दम्भत्यागाधिकार, भवस्वरूपचिन्ताअधिकार, वैराग्यसमवाधिकार, ममतात्यागाधिकार, समताधिकार, सदनुष्ठानाधिकार, मन शुद्ध्यधिकार, सम्यक्त्वाधिकार, मिथ्यात्वत्यागाधिकार, योगाधिकार, ध्यानाधिकार, आत्मानुभवाधिकार ये अधिकार ध्यान से संबधित हैं। स्वतत्र ध्यानाधिकार वर्णन में आगम शैली के साथ ही साथ जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण और हरिभद्र के ग्रन्थों का आधार लिया है। इस छोटे से अधिकार में ध्यान की सम्पूर्ण प्रक्रिया स्पष्ट कर दी है।

गम्भीरविजयगणी ने (वि. स. १९५२) इस पर टीका लिखी है, जो प्रकाशित है। इस पर 'टब्बा' भी लिखा गया है। इसके कर्ता वीर विजय हैं।

'आध्यात्मोपनिषद्' चार अधिकारों में विभक्त हैं। उनकी पदसंख्या क्रमश ७७+६५+४४+२३ हैं। शास्त्रयोगशुद्धि, ज्ञानयोगशुद्धि, क्रियायोगशुद्धि साम्ययोग शुद्धि इन चार अधिकारों में ध्यान संबंधी विशेष वर्णन है। साम्ययोग ही श्रेष्ठ ध्यान है।

'ज्ञानसार' में विभिन्न विषयों को लेकर भिन्न-भिन्न रूप से २० अष्टकों में विचार किया है। उनमें से मोहाष्टक, शमाष्टक, इन्द्रियजयाष्टक, मौनाष्टक, विवेकाष्टक, कर्मविपाकाष्टक, भवोद्वेगाष्टक, परिग्रहाष्टक, योगाष्टक, ध्यानाष्टक, तपाष्टक आदि में ध्यान सबंधी विवेचन है। इनमें भी योगाष्टक और ध्यानाष्टक में क्रमश· कर्मयोग व ज्ञानयोग तथा ध्याता ध्येय ध्यान की एकता का विस्तृत विवरण है।

इस पर गभीरविजयजीगणीकृत 'विवरण' है।

◆ ◆ ◆

ध्यान दीपिका :- प्रस्तुत कृति देवचन्द्र (वि. सं. १७६६) की तत्कालीन गुजराती भाषा में है। इसमें छह खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में अनित्यादि १२ भावनाओं का विवरण है और दूसरे में सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय का, तीसरे में पाँच समिति, तीन गुप्ति का, चौथे में ध्यान और ध्येय का, पाँचवें में धर्मध्यान, शुक्लध्यान और पिण्डस्थादि चार ध्यानों एव यंत्रों का तथा छठे खण्ड में स्याद्वाद का विस्तृत वर्णन दिया है। यह सम्पूर्ण ग्रन्थ ध्यानमूलक ही है।

योगप्रदीप :- प्रस्तुत कृति १४३ पद्यों में रचित है। इसमें मुख्यत· आत्मतत्त्व का विस्तृत विवेचन है। पतजलि के अष्टांगयोगों का जैन दृष्टि से विवेचन किया है। इसके मूल ग्रन्थ कर्ता का नाम अज्ञात है। इस पर गुजराती में किसी की 'बालावबोध' टीका है।

स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा :- प्रस्तुत ग्रन्थ कार्तिककुमार का है। इसमें बारह भावनाओं का विस्तृत वर्णन है। लोकानुप्रेक्षा में धर्मध्यान के लोक संस्थान ध्यान का विस्तृत वर्णन किया गया है और धर्मानुप्रेक्ष में आगमकथित ध्यानयोग एवं पदस्थ पिण्डस्थादि चार ध्यान का विस्तृत वर्णन है। वर्तमान परिस्थिति को लक्षित करके नये ढग से ध्यानयोग की प्रक्रिया प्रस्तुत की है।

इस पर शुभचन्द्र की टीका है।

अध्यात्मतत्त्वावलोक :- प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्ता न्यायविजयजी (वि स १८ शती) हैं। इसमें आध्यात्मिक विषय वैराग्यप्रधान है। ससार की असारता, विषयों की निर्गुणता, भोगों की भयंकरता, काम की कुटिलता, शरीर की नश्वरता,इन्द्रियों की मादकता और चित्त की चपलता आदि विषयों को आठ प्रकरणों- आत्मजागृति, पूर्व सेवा, अष्टागयोग, कषायजय, ध्यान सामग्री, ध्यान सिद्धि, योग श्रेणी और अन्तिम उद्धार, को स्पष्ट किया है। त्याग ही आध्यात्मिक चिकित्सा है। त्यागी ही ध्यान साधना से आत्मिक शान्ति को प्राप्त कर सकता है। अत सब साधनाओं में ध्यान को ही श्रेष्ठ बताया है।

सिद्धांतसार संग्रह :- प्रस्तुत ग्रन्थ नरेन्द्रसेनाचार्य विरचित है। इसमें बारह अध्याय हैं। उनमें से प्रथम तीन अध्याय में सम्यग्दर्शनादि का, चौथे में माया, मिथ्यात्व और निदान का, पाँचवें में जीव, ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग का, छठे से आठवे तक क्रमश· अधोलोक, मध्यलोक, ऊर्ध्वलोक का, नौवें में आस्रव तथा बध तत्त्व का, दसवें में निर्जरा का, ग्यारहवें में आगम कथित चारों ध्यानों का और बारहवें में अनुप्रेक्षाओं का वर्णन है। सम्पूर्ण ग्रन्थ ध्यान की प्रधानता लिये हुये है।

श्रावकाचार संग्रह :- प्रस्तुत श्रावकाचार सग्रह पाँच भागों में विभाजित है। सभी का यही नाम है। विभिन्न लेखकों के नामानुसार श्रावकाचार बनाया गया है। उनमें मुख्यत श्रावक का आचार, आगम कथित ध्यान और पदस्थादि चार ध्यान का विशेष वर्णन है।

इन्ही आगम और आगमेतर ग्रन्थों के आधार पर ही आगे के सभी अध्यायों पर विचार किया जायेगा।

जैन परम्परा में २० वी शताब्दी में अनेक सन्त हुए। उनमें से पूज्यपाद श्री तिलोकऋषिजी महाराज एक हैं। उन्होंने नौ वर्ष की उम्र में ही ससार माया छोड़कर सयम अगीकार किया। प्रव्रजित होते ही आत्म साधना में जुड़ गये।

उस समय ध्यान परपरा प्राय लुप्त सी हो रही थी। आगमकालीन ध्यान परपरा को पुन· जागृत करने के लिए उन्होंने सरल मार्ग स्वीकारा। तत्कालीन सामाजिक और आध्यात्मिक परिस्थिति का ज्ञान करके ध्यान पद्धति को काव्यरचना, चित्रकला एव चरित्र के माध्यम से लोगों के सामने रखा। चित्र को सामने रखने से ध्यान सहज हो सकता है। अत· इसी पद्धती को अपनाकर उन्होंने हस्त और पाद से कुछ आध्यात्मिक चित्र निकाले। उनमें से कुछ की झाँकी नीचे दे रहे हैं -

'ज्ञानकुंजर' चित्र में हाथी के चित्र से जैन धर्म की मुख्य साधना पद्धति- सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक चारित्र और तप - इन चारों की साधना पद्धति को अंकित

किया है। मन की एकाग्रता में सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय सोपान रूप है। मन की तल्लीनता (एकाग्रता) ही ध्यान है। इसीलिए शास्त्र का चिन्तन मनन करने के बाद ही ध्यान हो सकता है। स्वाध्याय = स्व का चिन्तन करने वाला ही ध्यान का अधिकारी है। युद्ध में हाथी शौर्य और वीरत्व का प्रतीक माना जाता है। इसीलिए पूज्यपादजी ने आत्मयुद्ध में भी हाथी का चित्र लिया। इसमें श्रुतज्ञान की सम्पूर्ण निधि 'अ' कार से लेकर 'ह' कार तक भर दी है। चित्र को सामने रखकर ध्यान करने से आत्मबल बढ़ता है और आत्मबल बढ़ने से कषाय की मंदता होती है। जैसे जैसे कषाय मंद होती है वैसे-वैसे ध्यान में वृद्धि होती है। यही इस चित्र का रहस्य है।

'शीलरथ'[१] इस चित्र में १८००० शील का वर्णन है। साधु सयम रथ पर आरूढ़ होकर कर्मशत्रु को ध्यान से पराजित कर सकता है। धर्मध्यान में प्रगति करने पर ही साधक शुक्लध्यान की साधना कर सकता है। यही भाव इस चित्र में स्पष्ट किया है। मन वचन काय की शुभाशुभ प्रवृत्ति रोकना और शुद्ध परिणाम में आना ही ध्यान है। शुद्धात्मा का ध्यान ही वास्तविक ध्यान है।

'विचित्रालकार'[२] काव्य में चौवीस तीर्थंकरों की स्तुति के साथ नमस्कार मंत्र को छत्रबन्ध और दुर्गबन्ध छन्द में वर्णित किया है। इस चित्र में अरिहंत, सिद्ध और साधु का ध्यान ही श्रेष्ठ बताया है। इनका स्मरण करने से ध्यान की योग्यता आती है। अतः इन्हीं का ध्यान करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त पूज्यपाद तिलोकऋषिजी म. ने भारत के प्रसिद्ध शहरों के नामों पर, मनुष्यों पर एव दक्षिण देश के गावों पर आध्यात्मिक पदावली बनाकर जैन धर्म में प्रसिद्ध साधना पद्धति को स्पष्ट किया और उनमें ध्यान पद्धति को श्रेष्ठ बताया है।

इस प्रकार इन्होंने ध्यान के स्वरूप को सरल पद्धति द्वारा स्पष्ट किया है।

---

१ श्री सत्य बोध, पृ १४-१५

२ तिलोक काव्य सग्रह, पृ ६९-७०

संदर्भ सूची

१ से किं त सम्मसुय ? सम्मसुय जं इमं अरहंतेहिं भगवंतेहिं
उप्पण्णनाणदंसणधरेहिं तेलुक्कनिरिक्खियमहियपूइएहिं
तीयपडुप्पण्णमणायगय - जाणएहिं सव्वण्णूहिं सव्वदरिसीहिं पणीय
दुवालसंगं गणिपिडगं तं जहा आयारो, सूयगडो जाव

इस पर शुभचन्द्र की टीका है।

अध्यात्मतत्त्वावलोक :- प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्ता न्यायविजयजी (वि सं १८ शती) हैं। इसमें आध्यात्मिक विषय वैराग्यप्रधान है। संसार की असारता, विषयों की निर्गुणता, भोगों की भयंकरता, काम की कुटिलता, शरीर की नश्वरता,इन्द्रियों की मादकता और चित्त की चपलता आदि विषयों को आठ प्रकरणों- आत्मजागृति, पूर्व सेवा, अष्टागयोग, कषायजय, ध्यान सामग्री, ध्यान सिद्धि, योग श्रेणी और अन्तिम उद्धार, को स्पष्ट किया है। त्याग ही आध्यात्मिक चिकित्सा है। त्यागी ही ध्यान साधना से आत्मिक शान्ति को प्राप्त कर सकता है। अत सब साधनाओं में ध्यान को ही श्रेष्ठ बताया है।

सिद्धांतसार संग्रह :- प्रस्तुत ग्रन्थ नरेन्द्रसेनाचार्य विरचित है। इसमें बारह अध्याय हैं। उनमें से प्रथम तीन अध्याय में सम्यग्दर्शनादि का, चौथे में माया, मिथ्यात्व और निदान का, पाँचवें में जीव, ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग का, छठे से आठवे तक क्रमश अधोलोक, मध्यलोक, ऊर्ध्वलोक का, नौवें में आस्त्रव तथा बध तत्त्व का, दसवें में निर्जरा का, ग्यारहवें में आगम कथित चारों ध्यानों का और बारहवें में अनुप्रेक्षाओं का वर्णन है। सम्पूर्ण ग्रन्थ ध्यान की प्रधानता लिये हुये है।

श्रावकाचार संग्रह :- प्रस्तुत श्रावकाचार संग्रह पाँच भागों में विभाजित है। सभी का यही नाम है। विभिन्न लेखकों के नामानुसार श्रावकाचार बनाया गया है। उनमें मुख्यतः श्रावक का आचार, आगम कथित ध्यान और पदस्थादि चार ध्यान का विशेष वर्णन है।

इन्हीं आगम और आगमेतर ग्रन्थों के आधार पर ही आगे के सभी अध्यायों पर विचार किया जायेगा।

जैन परम्परा में २० वीं शताद्वी में अनेक सन्त हुए। उनमें से पूज्यपाद श्री तिलोकऋषिजी महाराज एक हैं। उन्होंने नौ वर्ष की उम्र में ही संसार माया छोड़कर सयम अगीकार किया। प्रव्रजित होते ही आत्म साधना में जुड़ गये।

उस समय ध्यान परपरा प्राय लुप्त सी हो रही थी। आगमकालीन ध्यान परपरा को पुन. जागृत करने के लिए उन्होंने सरल मार्ग स्वीकारा। तत्कालीन सामाजिक और आध्यात्मिक परिस्थिति का ज्ञान करके ध्यान पद्धति को काव्यरचना, चित्रकला एवं चरित्र के माध्यम से लोगों के सामने रखा। चित्र को सामने रखने से ध्यान सहज हो सकता है। अतः इसी पद्धती को अपनाकर उन्होंने हस्त और पाद से कुछ आध्यात्मिक चित्र निकाले। उनमें से कुछ की झाँकी नीचे दे रहे हैं -

'ज्ञानकुंजर' चित्र में हाथी के चित्र से जैन धर्म की मुख्य साधना पद्धति- सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक चारित्र और तप - इन चारों की साधना पद्धति को अंकित

किया है। मन की एकाग्रता में सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय सोपान रूप है। मन की तल्लीनता (एकाग्रता) ही ध्यान है। इसीलिए शास्त्र का चिन्तन मनन करने के बाद ही ध्यान हो सकता है। स्वाध्याय = स्व का चिन्तन करने वाला ही ध्यान का अधिकारी है। युद्ध में हाथी शौर्य और वीरत्व का प्रतीक माना जाता है। इसीलिए पूज्यपादजी ने आत्मयुद्ध में भी हाथी का चित्र लिया। इसमें श्रुतज्ञान की सम्पूर्ण निधि 'अ' कार से लेकर 'ह' कार तक भर दी है। चित्र को सामने रखकर ध्यान करने से आत्मबल बढ़ता है और आत्मबल बढ़ने से कषाय की मंदता होती है। जैसे जैसे कषाय मंद होती है वैसे-वैसे ध्यान में वृद्धि होती है। यही इस चित्र का रहस्य है।

'शीलरथ'[१] इस चित्र में १८००० शील का वर्णन है। साधु सयम रथ पर आरूढ़ होकर कर्मशत्रु को ध्यान से पराजित कर सकता है। धर्मध्यान में प्रगति करने पर ही साधक शुक्लध्यान की साधना कर सकता है। यही भाव इस चित्र में स्पष्ट किया है। मन वचन काय की शुभाशुभ प्रवृत्ति रोकना और शुद्ध परिणाम में आना ही ध्यान है। शुद्धात्मा का ध्यान ही वास्तविक ध्यान है।

'विचित्रालकार'[२] काव्य में चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति के साथ नवकार मंत्र को छत्रबन्ध और दुर्गबन्ध छन्द में वर्णित किया है। इस चित्र से अरिहत, सिद्ध और साधु का ध्यान ही श्रेष्ठ बताया है। इनका स्मरण करने से ध्यान की योग्यता आती है। अत· इन्ही का ध्यान करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त पूज्यपाद तिलोकऋषिजी म. ने भारत के प्रसिद्ध शहरों के नामों पर, मनुष्यों पर एव दक्षिण देश के गावों पर आध्यात्मिक पदावली बनाकर जैन धर्म में प्रसिद्ध साधना पद्धति को स्पष्ट किया और उनमें ध्यान पद्धति को श्रेष्ठ बताया है।

इस प्रकार इन्होंने ध्यान के स्वरूप को सरल पद्धति द्वारा स्पष्ट किया है।

---

१ श्री सत्य बोध, पृ १४-१५

२ तिलोक काव्य सग्रह, पृ ६९-७०

संदर्भ सूची

१. से किं तं सम्मसुयं ? सम्मसुयं जं इमं अरहंतेहिं भगवंतेहिं
उप्पण्णनाणदंसणधरेहिं तेलुक्कनिरिक्खियमहियपूइएहिं
तीयपडुप्पण्णमणागय - जाणएहिं सव्वण्णूहिं सव्वदरिसीहिं पणीयं
दुवालसगं गणिपिडगं तं जहा आयारो, सूयगडो जाव

दिट्ठिवाओ १२, इच्चेय दुवालसगं गणिपिडगं ।।

नन्दीसूत्र, ४१

२ अत्थ भासइ अरहा, सुत्त गंथति गणहरा निउण ।
सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्तं पवत्तइ ।।

आवश्यकनिर्युक्ति (भद्रवाहु स्वामि) गा ९२

३ दुवालसगे गणिपिडगे पण्णत्ते त जहा -
आयारे, सूयगडे, ठाणे, समवाए, विवाहपण्णत्ति, णायाधम्मकहाओ, उवासगदसाओ, अतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइयदसाओ, पण्हा-वागरणाइ विवागसुए, दिट्ठिवाए।

सुत्रागमे (समवाए, १२ वा समवाय, गा २११)

४ इह चार्यतोऽनुयोगो द्विधा - अपृथक्त्वानुयोग पृथक्त्वानुयोगश्च ------।

दशवैकालिक सूत्रम् (हरिभद्रीय वृत्ति) पृ ३

५ अपुहुत्ते अणुओगो चत्तारि दुवार भासई एगो।
पुहन्नाणुओगकरणे ते अत्था तओ उ वुच्छिन्ना।
देविंदवदिएहि महाणुभागेहि रक्खियअज्जेहिं।
जुगमासज्ज विभन्नो अणुओगो तो कओ चउहा ।।

आवश्यकनिर्युक्ति गा ७७३-७७४

६ श्रावकाचार भाग १ (रत्नकरण्ड श्रावकाचार गा ४३ से ४६) पृ ५

७ सुयमाणे दुविहे अगपविट्ठे चेव अगबाहिरे चेव।

सूत्रागमे (ठाणे २१७०३)

त समासाओ दुविहं पण्णत्त त जहा -
अगपविट्ठ, अगबाहिर च — नन्दी सूत्र (आत्मा म) ४ पृ २७९
अगपविट्ठ अणगविट्ठ। — नदीसूत्र, सूत्र ३८
एवमाइयाइं चउरासीइ पइन्नगसहस्साइं -------
तस्स तत्तिआइ पइण्णगसहस्साइ। -------- — नदीसूत्र, सू ४४

८ उवंगाणं पंच वग्गा पण्णत्ता ।।

सूत्रागमे भा २ (निरयावलियाओ) पृ ७५५

९ तद्विविविधमगबाह्यमङ्गप्रविष्टच।

सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्रम, १/२०

१० गणहर थेरकयं वा आएसा मुक्कवागरणओ वा।
धुव- चल विसेसओ वा अंगा-णगेसु नाणत्त ।।

विशेषावश्यकभाष्यम् (प्रथमो भाग· - अश - १)
जिणभद्रगणिक्षमाश्रमण एव हेमचंद्रबृहद्वृत्त्या) गा ५५०

११ आगम- युग का जैन दर्शन (पं दलसुख मालवणिया) पृ २२
(क) दशवैकालिक सूत्रम् (हरिभद्रवृत्ति) पृ १
(ममपि इमं कारणं समुप्पन्न, तो अहमवि णिज्जूहामि ।।)
(ख) एअ किर णिज्जूढं मणगस्स अणुग्गहट्ठाए।
दशवैकालिक (आ तुलसी) भूमिका, पृ १७
दृष्टव्य • जैनदर्शन मनन और मीमांसा (मुनि नथमल) पृ १०९

१२ (क) सुयणाणे दुविहे प अंगपविट्ठे चेव, अंग बाहिरे चेव,
अगबाहिरे दुविहे भावस्सए चेव आवस्सयवइस्से चेव,
आवस्सयवइस्से दुविहे, कालिए चेव, उक्कालिए चेव।
स्थानागसूत्र (आत्मा म) २/३१

(ख) नन्दीसूत्र (आत्मा. म) सू ४४

१३. अन्यथा हव्निबद्धमगोपागश समुद्रप्रतरण बद्दुरध्ययवसेय स्यात्।
सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्रम, १/२०

१४ दृष्टव्य जैन आगम साहित्य मनन और मीमासा (देवेंद्रमुनि) पृ १८
दृष्टव्य जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भा १
(प बेचरदासस दोशी) प्रस्तावना पृ ३९

दृष्टव्य · जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भा १ जैन श्रुत पृ ३०

१५ ज च महाकप्पसुय जाणि व सेसाणि छेयसुत्तणि।
आवश्यक निर्युक्ति गा ७७७
''सेसाणि छेअ सुत्ताणि'' विशेषावश्यक भाष्य (हेमचद्रवृत्ति) गा २२९५
छेदसुत्तणिसिहादी, अत्थो य गतो य छेदसुत्तादी।
सभाष्य निशीथसूत्रम् (जिनदासकृत विशेष चूर्ण्या)
भा ४, भाष्य गा ४१४७

१६ दृष्टव्य जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा
(देवेंद्रमुनि) पृ २५
कालिय अणेगविह पण्णत्त, तं जहा -
दसाओकप्पो, ववहारो, निसीह, महानिसीह।

नन्दीसूत्र (आत्मा म) सूत्र ४४

दिट्ठिवाओ १२, इच्चेय दुवालसंगं गणिपिडग ।।

नन्दीसूत्र, ४१

२ अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथति गणहरा निउण ।
सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्त पवत्तइ ।।

आवश्यकनिर्युक्ति (भद्रबाहु स्वामि) गा १२

३ दुवालसगे गणिपिडगे पण्णत्ते त जहा -
आयारे, सूयगडे, ठाणे, समवाए, विवाहपण्णत्ति, णायाधम्मकहाओ, उवासगदसाओ, अंतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइयदसाओ, पण्हा-वागरणाइ विवागसुए, दिट्ठिवाए।

सुत्रागमे (समवाए, १२ वा समवाय, गा २११)

४ इह चार्यतोऽनुयोगो द्विधा - अपृथक्त्वानुयोग पृथक्त्वानुयोगश्च -----।

दशवैकालिक सूत्रम् (हरिभद्रीय वृत्ति) पृ ३

५ अपुहुत्ते अणुओगो चत्तारि दुवार भासई एगो ।
पुहत्ताणुओगकरणे ते अत्था तओ उ वुच्छिन्ना ।
देविंदवदिएहि महाणुभागेहि रक्खियअज्जेहिं ।
जुगमासज्ज विभत्तो अणुओगो तो कओ चउहा ।।

आवश्यकनिर्युक्ति गा ७७३-७७४

६ श्रावकाचार भाग १ (रत्नकरण्ड श्रावकाचार गा ४३ से ४६) पृ ५

७ सुयमाणे दुविहे अगपविट्ठे चेव अगबाहिरे चेव ।

सूत्रागमे (ठाणे २१७०३)

त समासाओ दुविह पण्णत्त त जहा -
अगपविट्ठं, अगबाहिर च — नन्दी सूत्र (आत्मा म) ४ पृ २७९
अगपविट्ठ अणगविट्ठ । — नदीसूत्र, सूत्र ३८
एवमाइयाइं चउरासीइ पइन्नगसहस्साइं -------
तस्स तत्तिआइ पइण्णगसहस्साइं । -------- — नदीसूत्र, सू ४४

८ उवंगाणं पच वग्गा पण्णत्ता ।।

सूत्रागमे भा २ (निरयावलियाओ) पृ ७५५

९ तद्द्विविविधमंगबाह्यमङ्गप्रविष्टच ।

सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्रम, १/२०

१० गणहर थेरकय वा आएसा मुक्कवागरणओ वा ।
धुव- चल विसेसओ वा अगा-णंगेसु नाणत्त ।।

विशेषावश्यकभाष्यम् (प्रथमो भाग - अंश - १)
जिणभद्रगणिक्षमाश्रमण एव हेमचंद्रवृहद्वृत्या) गा ५५०

११. आगम- युग का जैन दर्शन (पं दलसुख मालवणिया) पृ २२
(क) दशवैकालिक सूत्रम् (हरिभद्रवृत्ति) पृ १
(ममपि इमं कारणं समुप्पन्न, तो अहमवि णिज्जूहामि ।।)
(ख) एअं किर णिज्जूढं मणगस्स अणुग्गहट्ठाए।
दशवैकालिक (आ तुलसी) भूमिका, पृ १७
दृष्टव्य जैनदर्शन मनन और मीमांसा (मुनि नथमल) पृ १०९

१२ (क) सुयणाणे दुविहे प अंगपविट्ठे चेव, अंग बाहिरे चेव,
अगबाहिरे दुविहे भावस्सए चेव आवस्सयवइस्से चेव,
आवस्सयवइस्से दुविहे, कालिए चेव, ढक्कालिए चेव।
स्थानांगसूत्र (आत्मा म) २/३१

(ख) नन्दीसूत्र (आत्मा म) सू ४४

१३ अन्यथा हवनिबद्धमंगोपागश समुद्रप्रतरण बहुरध्ययवसेयं स्यात्।
सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्रम, १/२०

१४ दृष्टव्य जैन आगम साहित्य मनन और मीमासा (देवेंद्रमुनि) पृ १८
दृष्टव्य . जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भा १
(प बेचरदासस दोशी) प्रस्तावना पृ ३१

दृष्टव्य जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भा १ जैन श्रुत पृ ३०

१५ जं च महाकप्पसुय जाणि व सेसाणि छेयसुत्तणि।
आवश्यक निर्युक्ति गा ७७७
''सेसाणि छेअ सुत्ताणि'' विशेषावश्यक भाष्य (हेमचद्रवृत्ति) गा २२९५
छेदसुत्तणिसिहादी, अत्थो य गतो य छेदसुत्तादी।
सभाष्य निशीथसूत्रम् (जिनदासकृत विशेष चूर्ण्या)
भा ४, भाष्य गा ४९४७

१६ दृष्टव्य जैन आगम साहित्य मनन और मीमासा
(देवेंद्रमुनि) पृ २५
कालियं अणेगविह पण्णत्तं, त जहा -
दसाओकप्पो, ववहारो, निसीह, महानिसीह।

नन्दीसूत्र (आत्मा म) सूत्र ४४

१७ छेयसुयमुत्तमं सुयं।

सभाष्य निशीथसूत्रम, गा ६१८४

छेयसूय कम्हा उत्तमसुत्तं ? भण्णति - जम्हा एत्थ सपायच्छित्तो विधी भण्णति, जम्हा य तेण चरणविसुद्धि करेति, तम्हा तं उत्तमसुत्त।

सभाष्य निशीथसूत्रम् गा ६१८४ की चूर्णि (भा ४)

१८ ततश्चतुर्विध कार्योऽनुयोगत पर मया।
ततो ऽङ्गोपागमूलाख्यग्रन्थच्छेद कृतागम ॥

दृष्टव्य :- जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा (देवेंद्रमुनि) पृ २०

१९ (क) तत्त्वार्थसूत्र १/२० श्रुतसागरीय वृत्ति
(ख) षट्खडागमम (धवला टी) पृ १, खड १, पृ ६ "बारह अगगिज्झा"

२० दृष्टव्य . जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा (देवेंद्रमुनि) पृ ३३

२१ दृष्टव्य . जैन आगम साहित्य मनन और मीमासा (देवेंद्रमुनि) पृ ३६
(क) नन्दी गा ३३, मलयगिरि वृत्ति, पृ ५१
(ख) नन्दी चूर्णि पृ ८

दृष्टव्य . जैन आगम साहित्य मनन और मीमासा (देवेंद्रमुनि) पृ ३७

आवश्यक चूर्णि

जिन वचन च दुष्षमाकालवशात् उच्छिन्नप्रायमिति मत्वा
भगवद्भिर्नागार्जुन स्कन्दिलाचार्यं प्रभृतिभि पुस्तकेषु न्यस्तम् ॥

योगशास्त्र(हेमचद्र स्वोपज्ञम्) ३१ पृ ४०९

वलहिपुरम्मि नयरे देवड्ढिपमुहेण समणसघेण।
पुत्थई आगमु लिहिओ नवसय असीआओ वीराओ।

दृष्टव्य जैन साहित्य का बृहत् इतिहास भा १, प्रकरण ३, पृ ८१

२२ समणस्स ण भगवओ महावीरस्स तित्थंसि सत्त पवयण णिण्हगा पण्णत्ता त जहा-बहुरया, जीवपएसिया, अवत्तिया, सामुच्छेइया, दोकिरिया, तेरासिया, अबद्धिया। एएसिं णं सत्तण्हं पवयण निण्हगाण सत्त धम्मायरिया हुत्था, तं जहा-जमालि, तीसगुत्ते, आसाढे, आसमित्ते, गंगे, छलुए, गोट्ठामाहिले। एएसिं णं पवयण-णिण्हगाण सत्तुप्पात्तिनगरा होत्था त जहा - सावत्थी, उसभपुर, सेयविया, मिहिल्लमुल्लूगातीरं, पुरमतरंजि दसपुर, णिण्हग - उप्पत्तिनयराई ॥

स्थानागसूत्र ७/४७

समणस्स णं भगवओ महावीरस्स णव गण हुत्था त जहा गोदासगणे, उत्तरबलिस्सहगणे, उद्दहगणे, चारणगणे, उद्दवाइयगणे, विस्सवाइयगणे, कामाड्ढिगणे, माणवगणे, कोड्यिगणे।

स्थानागसूत्र ९/२०

२३ नन्दी स्थविरावली

२४. जम्बू के बाद दस बोल बिच्छेद हुए (कल्पसूत्र स्थविरावली)

(जम्बुद्वीप प्रज्ञप्ति)

जम्बुस्वामी के बाद - १ परम अवधिज्ञान २ मन पर्यवज्ञान ३ केवलज्ञान ४ परिहार विशुद्ध चारित्र, ५, सुक्ष्म सपराय चारित्र, ६ यथाख्यात चारित्र, ७. पुलाकलब्धि, ८ क्षपक-उपशम श्रेणी ९ आहारक शरीर और १० जिनकल्पी साधु।

२५ (क) परिशिष्ट पर्व सर्ग ९ (आ. हेमचंद्र) (द्रष्टव्य पृ ३६)

२६ (१) महागिरि (२) सुहस्ती (३) गुणसुन्दर (४) कालकाचार्य (५) स्कंदिलाचार्य (६) रेवतिमित्र (७) मंगू (८) धर्म (९) चन्द्रगुप्त और (१०) आर्यवज्र

नन्दी स्थविरावली

२७ (क) आगम युग का जैन दर्शन (पं दलमुख मालवणिया) पृ १६

(ख) जैन दर्शन मनन और मीमांसा (मुनि नथमल) पृ १११

२८ भगवती सूत्र २०/७०

२९ (क) आगम युग का जैन दर्शन (पं दलमुख मालवणिया) से उद्धृत पृ २३

(ख) जैन साहित्य का बृहत् इतिहास भाग १ प्रस्तावना पृ ६३

३० (क) "सव्वेसिमग - पुव्वाणमेग देसो'

धवला टी पृ ६८भा. १

(ख) कमेण वि आइरिया आयारंग - धरा
सेसग - पुव्वाणमेग देस - धरा य ।।

धवला टी पृ ६८

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भा १ से उद्धृत "प्रस्तावना" पृ ६२

३१. (क) धवला टीका भाग १ भूमिका पृ १३

(ख) धवला टी भाग १ पृ ६८

३२ श्री देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमणेन श्री वीराद् अशीत्यधिकनवशत (९८०) वर्षे जातेन द्वादशवर्षीयदुर्भिक्षवशाद् वहुतरसाधुव्यापत्तौ बहुश्रुत - विच्छित्तौ च जाताया भव्यलोकोपकाराय श्रुतव्यक्तये च श्रीसंगाग्रहात् मृताविशिष्ट तदाकालीन सर्वसाधून् वल्लभ्यामाकार्य तन्मुखाद् विच्छिन्नावशिष्टान् न्यूनाधिकान् त्रुटिताऽत्रुटितान् आगमालापकान् अनुक्रमेण स्वमत्या सकलयूय पुस्तकारूढा कृता । ततो मुलतो गणधरभाषितानामपि तत्सकलनानन्तर सर्वेषामपि आगमानां कर्ता श्री देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण एव जात ।

समाचारी शतक

उद्धृत - जैन दर्शन मनन और मीमासा -(मुनि नथमल) पृ ११९

३ ३ निज्जुत्ता ते अत्था, जं बद्धा तेण होइ णिज्जुत्ती।
तहवि य इच्छावेइ, विभासिउ् सुत्तपरिवाडी ।।

आवश्यकनिर्युक्ति, गा ८८

३ ४ सूत्रार्थयो परस्पर निर्याजन - सम्बद्धन निर्युक्ति ।

आवश्यक निर्युक्ति, गा ८३

३ ५ निश्चयेन अर्थप्रतिपादिका युक्तिर्निर्युक्ति ।

आचारांगनिर्युक्ति १/२/१

(उद्धृत, जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा - देवेन्द्रमुनि, पृ ४३६)

३ ६ आ श्यक निर्युक्ति पर अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं। इनमें से निम्नलिखित टीकाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं -

(क) मलयगिरिकृत वृत्ति आगमोदय समिति बम्बई १९२८,१९३२, सूरत १९३६

(ख) हरिभद्रकृतवृत्ति आगमोदय समिती बम्बई १९१६-१७

(ग) मलधारी हेमचन्द्रकृत प्रदेश व्याख्या
(देवचन्द, लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई १९२०)

(ब) जिनभद्रकृत विशेषावश्यक भाष्य तथा उसकी मलधारी हेमचन्द्रकृत टीका
(यशोविजय जैन ग्रन्थमाला बनारस वी स २४२७-२४४१)

(ट) माणिक्यशेखर कृत आवश्यकनिर्युक्ति -दीपिका
(विजयदेवसूरीश्वर, सुरत, सन् १९३९-१९४९)

(ठ) कोट्याचार्यकृत विशेषावश्यक भाष्य - विवरण
(ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, स १९३६-३७)

(ड) जिनदासगणिमहत्तरकृत चूर्णि - (श्र के श्वे सस्था रतलाम १९२८)

(ढ) विशेषावश्यक भाष्य की जिनभद्रकृत स्वोपज्ञवृत्ति
(ला द विद्यामन्दिर, अहमदाबाद, १९६६)
जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भा ३ द्वितीय प्रकरण पृ ७१

३ ७ निर्युक्ति - लघुभाष्य - वृत्युपेत बृहत्कल्पसूत्र (६ भाग)
सम्पादक - मुनि चतुरविजय एव पुण्यविजय,
प्रकाशक - श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर,
सन् १९३३, १९३६, १९३८,१९३८, १९४२

३ ८ निर्युक्ति भाष्य - मलयगिरि विवरण सहित
सशोधक - मुनि माणेक, प्रकाशक - केशवलाल प्रेमचद मोदी व

त्रिकमलाल उगरचंद, अहमदाबाद, वि सं १९८२-५;

(उद्धृत - जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भा

३९ निर्युक्ति - भाष्य - द्रोणाचार्य सुत्रितवृत्तिभूषित
प्रकाशक - शाह वेणीचन्द्र सुरचन्द्र, आगमोदय समिति
सैलाना, सन् १९११

४० इस भाष्य की हस्तलिखित प्रति मुनि श्री पुण्यविजय से प्राप्त हुई। यह वि सं १९८३ में लिखकर तैयार की है।

(उद्धृत जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भा ३, पृ २७६)

४१ श्री विशेषावश्यकसत्का अमुद्रितगाथा : श्री नन्दीसूत्रस्य चूर्णि- हरिभद्रीया वृत्तिश्च - श्री वृषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर सस्था, रतलाम, सन १९२८
नन्दीसूत्रम् चूर्णिसहितम् - प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, वाराणसी, सन १९६६

४२ हरिभद्रकृत वृत्तिसहित, श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर सस्था, रतलाम सन् १९२८

४३ उपरोक्त सस्था, पूर्वभाग सन् १९२८, उत्तरभाग, सन १९२९

४४ उपरोक्त सस्था, रतलाम, सन् १९३३

४५ उपरोक्त सस्था, रतलाम, सन् १९३३

४६ उपरोक्त सस्था, रतलाम, सन् १९४१

४७ वही सस्था, रतलाम, सन १९४१

४८ विषमपद व्याख्यालंकृत सिद्धसेनगणि सन्दृब्ध बृहच्चूर्णि समन्वित जीतकल्पसूत्र,
सपादक - मुनि जिनविजय
प्रकाशक - जैन साहित्य सशोधक समिति, अहमदाबाद -२, सन् १९२६

४९ अहवा बितियचुन्निकाराभिपाएण चत्तारि - जीतकल्पचूर्णि पृ २३
उद्धृत जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भा ३, पृ ३१४

५० सा य छव्विहा - जहा दसवेयालिए भणिया तहा भणियव्वा।
प्रथम भा पृ २ (उद्धृत - जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भा ३) पृ ३२१

५१ सम्पादक - उपा अमरमुनिजी व मुनि कन्हैयालालजी
प्रकाशक - सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामंडी, आगरा,

५२ निर्वृतिकुलीन श्री शीलाचार्येण तत्त्वादित्यापरनाम्ना वाहरिसाधुसहायेन कृता टीका परिसमाप्तेति ।

आयारांग - टीका प्रथम श्रुतस्कन्ध का अन्त

(उद्धृत जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भा ३, पृ ३८२)

५३ तित्थयरवयण सगहविसेसपत्थारमूलवागरणी।

दव्वड्डिओ वि पज्ञवणओ व सेसा वियप्पा सिं ।

(उद्धृत - जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भा ३, पृ ३९०)

अध्याय ३

जैन साधना का स्वरूप और उसमें ध्यान का महत्त्व

भारतीय परपरा में जैन दर्शन को साधना प्रधान माना गया है। जैन दर्शन अथवा जैन साधना के स्वरूप को समझने की कुन्जी है - 'कर्म सिद्धात'। यह निश्चित है कि समग्र दर्शन एवं तत्त्वज्ञान का आधार है आत्मा। आत्मा सर्व-तत्र स्वतत्र शक्ति है। अपने सुख-दु ख का निर्माता भी वही है और उसका फल भोगनेवाला भी वही है। आत्मा स्वय में अमूर्त है, - परम विशुद्ध है। किन्तु वह शरीर के साथ मूर्तिमान बनकर अशुद्ध दशा में ससार में परिभ्रमण कर रहा है ।और स्वय ही उससे मुक्त होता है।[१] आत्मा को ससार में भटकाने वाला कौन है? जीवों की भिन्नता और ससार की विचित्रता किसके कारण है? आत्मा की विविध दशाओं एवं स्वरूपों का विवेचन एव उसके परिवर्तनों का रहस्य उद्घाटित करता है 'कर्म सिद्धात'। क्योंकि राग और द्वेष दोनों ही कर्म के बीज हैं। कर्म मोह से उत्पन्न होता है। कर्म जन्म-मरण का मूल है और जन्म मरण को ही दु ख कहते हैं।[२] अत भगवान महावीर का कथन अक्षरश सत्य एव तथ्य है कि कर्म के कारण ही यह विश्व विविध विचित्र घटनाचक्रों में प्रतिपल परिवर्तित हो रहा है। ईश्वरवादी दर्शनों ने इस विश्ववैचित्र्य एव सुख-दु ख का कारण ईश्वर को माना हैं, जब कि जैन दर्शन ने समस्त सुख-दु ख एव विश्ववैचित्र्य का कारण मूलत जीव एव उसके मुख्य सहायक कर्म को माना है। जैन दर्शन में सचेतन पदार्थों के लिए जीव, आत्मा या चेतन और अचेतन पदार्थों के लिए अजीव कहा है। वास्तव में कर्म स्वतन्त्र रूप से कोई शक्ति नही है, वह स्वय में पुद्गल है - जड़ है। किन्तु राग-द्वेष वशवर्ती आत्मा के द्वारा कर्म किए जाने पर वे इतने बलवान और शक्तिसपन्न बन जाते हैं कि कर्ता को भी अपने बंधन में बाध लेते हैं। मालिक को भी नौकर की तरह नचाते हैं। यह कर्म की बड़ी विचित्र शक्ति है। हमारे जीवन और जगत के समस्त परिवर्तनों का यह मुख्य बीज कर्म क्या है, इसका स्वरूप क्या है? इसके विविध परिणाम कैसे होते हैं? यह बड़ा ही गभीर विषय है। जैन दर्शन में कर्म का बहुत ही विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। इसलिए जैन दर्शन अथवा जैन साधना के स्वरूप को समझने के लिए 'कर्म सिद्धांद' को समझना अनिवार्य है।

कर्म की परिभाषा

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के माध्यम से जीव द्वारा जो कुछ किया जाता है, उसे कर्म कहते हैं, अर्थात आत्मा की रागद्वेषात्मक क्रिया से आकाश प्रदेशों में विद्यमान अनन्तानन्त कर्म के सूक्ष्म पुद्गल चुम्बक की तरह आकर्षित होकर आत्मप्रदेशों से सश्लिष्ट हो जाते हैं, उन्हें कर्म कहते हैं।[३]

कर्म पौद्‌गलिक है। जिसमें रूप, रस, गध और स्पर्श हो, उसे पुद्गल कहते हैं।[४] पृथ्वी, पानी, हवा आदि पुद्‌गल से बने हैं, जो पुद्‌गल कर्म बनते हैं। अर्थात् कर्म-रूप में परिणत होते हैं, वे एक प्रकार की अत्यन्त सूक्ष्म रज (धूलि) हैं, जिसको इन्द्रियाँ अथवा सूक्ष्मातिसूक्ष्म यत्र भी नही जान सकते हैं। किन्तु सर्वज्ञ केवलज्ञानी अथवा परम अवधिज्ञानी उसको अपने ज्ञान से जान सकते हैं। कर्म बनने योग्य पुद्‌गल जब जीव द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, तब उन्हें कर्म कहते हैं।

कर्म की विविध अवस्थाएँ

जैन कर्म शास्त्र में कर्म की विविध अवस्थाओं का वर्णन मिलता है। इनका सबंध कर्म के बंध, उदय, उदीरणा, परिवर्तन, सत्ता, क्षय आदि से हैं, जिनको मोटे तौर पर निम्नलिखित ग्यारह भेदों में वर्गीकृत कर सकते हैं -[५] १) बन्धन, २) सत्ता, ३) उदय, ४) उदीरणा, ५) उद्‌वर्तना (उत्कर्षण), ६) अपवर्तना (अपकर्षणा), ७) सक्रमण, ८) उपशमन , ९) निधत्ति, १०) निकाचन और ११) अबाधा (अबाधा काल)।

अन्य - अन्य दार्शनिक परम्पराओं में उदय के लिए प्रारब्ध, सत्ता के लिए सचित, बधन के लिए आगामी या क्रियमाण, निकाचन के लिए नियत विपाकी, सक्रमण के लिए आवागमन, उपशमन के लिए तनु आदि शद्बों का प्रयोग उपलब्ध होता है।

कर्म शद्ब के वाचक विभिन्न शद्ब

कर्म शद्ब लोक-व्यवहार और शास्त्र दोनों में व्यवहृत हुआ है। जन साधारण अपने लौकिक व्यवहार में काम (कार्य), व्यापार, क्रिया आदि के अर्थ में कर्म शद्ब का प्रयोग करते हैं। शास्त्रों में विभिन्न अर्थों में कर्म शद्ब का प्रयोग किया गया है। खाना, पीना, चलना, आदि किसी भी हल-चल के लिए, चाहे वह जीव की हो या अजीव की हो- कर्म शद्ब का प्रयोग किया जाता है। कर्मकाडी मीमासक यज्ञयागादिक क्रियाओं के अर्थ में स्मार्त, विद्वान् ब्राह्मण आदि चार वर्णों और ब्रह्मचर्य आदि चार आश्रमों के नियत कर्तव्य (कर्म) के रूप में, पौराणिक व्रत, नियम आदि धार्मिक क्रियाओं के अर्थ में, वैयाकरण कर्ता के व्यापार के फल अर्थ में, वैशेषिक उत्क्षेपण आदि पाच साकेतिक कर्मों के अर्थ में तथा गीता में क्रिया, कर्तव्य, पुनर्भव कारणरूप अर्थ में कर्म शद्ब का व्यवहार करते हैं।

जैन दर्शन में जिस अर्थ के लिए कर्म शब्द का प्रयोग किया जाता है, उस अर्थ के लिए अथवा उस अर्थ से मिलते-जुलते अर्थ के लिए जैनेतर दर्शनों में माया, अविद्या, प्रकृति, अपूर्व, वासना, आशय, धर्माधर्म, अदृष्ट, सस्कार, दैव, भाग्य आदि शब्द मिलते हैं।

कर्म-बन्ध के प्रकार

जैन दर्शन में कर्म बन्ध की प्रक्रिया का सुव्यवस्थित वर्णन किया गया है। उसकी मान्यतानुसार संसार में दो प्रकार के द्रव्य पाये जाते हैं - १) चेतन और २) अचेतन। अचेतन द्रव्य भी पाँच प्रकार के हैं - धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल। इनमें से प्रथम चार के द्रव्य अमूर्तिक एव अरूपी हैं। अत· वे इन्द्रियों के अगोचर हैं और इसी से अग्राह्य हैं। केवल एक पुद्गल द्रव्य ही ऐसा है जो मूर्तिक और रूपी है और इसीलिए वह इन्द्रियों द्वारा दिखाई देता है और पकड़ा तथा छोड़ा भी जाता है। 'पूरणाद् गलनाद् पुद्गल·' इस निरुक्ति के अनुसार मिलना और बिछुड़ना इसका स्वभाव ही है। इस पुद्गल द्रव्य की ग्राह्य-अग्राह्य रूप वर्गणाएँ होती हैं। इनमें से एक कर्म वर्गणा भी है। लोक में कोई भी स्थान नही है, जहाँ ये कर्मयोग्य पुद्गल वर्गणाएँ -पुद्गल परमाणू विद्यमान न हों। जब प्राणी अपने मन, वचन तथा काया से किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति करता है, तब चारों ओर से कर्म-योग्य पुद्गल-परमाणुओं का आकर्षण होता है और जितने क्षेत्र अर्थात प्रदेश में उसकी आत्मा विद्यमान होती है, उतने ही प्रदेश में विद्यमान वे पुद्गल-परमाणु उसके द्वारा उस समय ग्रहण किए जाते हैं। प्रवृत्ति की तरतमता के अनुसार परमाणुओं की संख्या में भी तारतम्य होता है। प्रवृत्ति की मात्रा में अधिकता होने पर परमाणुओं की सख्या में भी अधिकता होती है और प्रवृत्ति की मात्रा में न्यूनता होने पर परमाणुओं की सख्या में न्यूनता होती है और इन गृहीत पुद्गल परमाणुओं के समूह का कर्म-रूप से आत्मा के साथ बद्ध होना द्रव्य कर्म कहलाता है।

इन द्रव्यकर्मों का क्रमश प्रकृतिबंध, स्थितिबध, रसबंध और प्रदेशबध इन चारों भेदों में वर्गीकरण कर लिया जाता है। इनमें से रसबंध को अनुभाग बन्ध अथवा अनुभावबन्ध भी कहते हैं।६

उक्त चार प्रकार के कर्मबन्धों में से प्रकृतिबंध और प्रदेशबध का बंध योग से एव स्थितिबंध और अनुभागबध का बध कषाय से होता है।७

कर्म के भेद

यद्यपि सामान्य की अपेक्षा कर्म का एक प्रकार है, किन्तु विशेष की अपेक्षा द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार हैं। उनमें से ज्ञानावरण आदि रूप पौद्गलिक परमाणुओं के

पिण्ड को द्रव्य-कर्म और उनकी शक्ति से उत्पन्न हुए अज्ञानादि तथा रागादि भावों को भावकर्म कहते हैं।[८] पुन द्रव्यकर्म की मूल प्रकृतियाँ आठ और उत्तर प्रकृतियाँ एक सौ अट्ठावन अथवा एक सौ अड़तालीस हैं।[९]

कर्म की मूल प्रकृतियाँ

१) ज्ञानावरण, २) दर्शनावरण, ३) वेदनीय, ४) मोहनीय, ५) आयु, ६) नाम, ७) गोत्र, और ८) अतराय।[१०]

अष्ट कर्मों की उत्तर प्रकृतियाँ १५८

१) ज्ञानावरणकर्म की उत्तर प्रकृतियाँ - ५

१) मतिज्ञानावरण, २) श्रुतज्ञानावरण, ३) अवधिज्ञानावरण, ४) मन· पर्याय ज्ञानावरण, ५) केवल ज्ञानावरण।

२) दर्शनावरण की उत्तर प्रकृतियाँ - ९

१) चक्षुदर्शनावरण, २) अचक्षुदर्शनावरण, ३) अवधिदर्शनावरण, ४) केवल-दर्शनावरण, ५) निद्रा, ६) निद्रा-निद्रा, ७) प्रचला, ८) प्रचला-प्रचला, ९) स्त्यानर्द्धि।

३) वेदनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ - २

१) साता वेदनीय, २) असाता वेदनीय

४) मोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ - २८

मुख्य भेद - २ (१) दर्शन मोहनीय, (२) चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय के प्रभेद - ३

१) सम्यक्त्व मोहनीय, २) मिश्र मोहनीय तथा ३) मिथ्यात्व मोहनीय।

चारित्र मोहनीय के प्रभेद - २५ (कषाय १६, नो कषाय - ९)

कषाय ·- अनन्तानुबधी चतुष्क - क्रोध, मान, माया, लोभ।

अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क - क्रोध, मान, माया, लोभ।

प्रत्याख्यानावरण चतुष्क -क्रोध, मान, माया, लोभ।

सज्वलन चतुष्क -क्रोध, मान, माया, लोभ।

४ + ४ + ४ + ४ = १६

नो कषाय - १) हास्य, २) रति,) अरति, ४) शोक, ५) भय, ६) जुगुप्सा, ७) पुरुषवेद ८) स्त्रीवेद और ९) नपुसक वेद।

५) आयु कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ - ४

१) देवायु, २) मनुष्यायु, ३) तिर्यंच आयु, ४) नरकायु।

६) नाम कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ - १०३

गति ४ - १) नरक गति, २) तिर्यंच गति, ३) मनुष्यगति, ४) देव गति।

जाति ५-१) एकेन्द्रिय,२) द्वीन्द्रिय, ३) त्रीन्द्रिय, ४) चतुरिन्द्रिय, ५) पंचेन्द्रिय।

तनु शरीर ५ - १) औदारिक शरीर, २) वैक्रिय शरीर, ३) आहारक शरीर, ४) तैजस शरीर ५) कार्मण शरीर।

अंगोपाग ३ - १) औदारिक अंगोपांग, २) वैक्रिय अगोपांग, ३) आहारक अगोपांग।

बंधन १५ - १) औदारिक-औदारिक बधन, २) औदारिक-तैजस बंधन, ३) औदारिक-कार्मण बधन, ४) औदारिक-तैजस कार्मण बधन, ५) वैक्रिय-वैक्रिय बधन, ६) वैक्रिय तैजस बंधन, ७) वैक्रिय कार्मण बंधन, ८) वैक्रिय-तैजस कार्मण बधन, ९) आहारक-आहारक बंधन, १०) आहारक -तैजस बंधन, ११) आहारक-कार्मण बंधन, १२) आहारक-तैजस कार्मण बंधन, १३) तैजस-तैजस बंधन, १४) तैजस-कार्मण बधन, १५) कार्मण-कार्मण बंधन।

संघातन ५ - १) औदारिक संघातन, २) वैक्रिय संघातन ३) आहारक संघातन ४) तैजस सघातन ५) कार्मण सघातन।

सहनन ६ - १) वज्रऋषभनाराच सहनन, २) ऋषभनाराच सहनन, ३) नाराच संहनन, ४) अर्धनाराच सहनन, ५) कीलिका सहनन , ६) सेवार्त संहनन।

सस्थान ६ - १) समचतुरस्र सस्थान, २) न्यग्रोध सस्थान, ३) सादि सस्थान, ४) वामन सस्था, ५) कुब्ज संस्थान, ६) हुण्ड सस्थान

वर्ण ५ - १) कृष्णवर्ण, २) नील वर्ण, ३) लोहित वर्ण, ४) हारिद्रवर्ण, ५) श्वेत वर्ण।

गध -२ - १) सुरभि गंध, २) दुरभि गध।
रस ५ - १) तिक्त रस, २) कटु रस, ३) कषाय रस, ४) आम्लरस, ५) मधु रस।
स्पर्श ८ - १) कर्कश स्पर्श, २) मृदु स्पर्श, ३) गुरु स्पर्श, ४) लघु स्पर्श, ५) शीत स्पर्श, ६) उष्ण स्पर्श, ७) स्निग्ध स्पर्श, ८) रुक्ष स्पर्श।

आनुपूर्वी ४ - १) नरकानुपूर्वी, २) तिर्यंचानुपूर्वी, ३) मनुष्यानुपूर्वी, ४) देवानुपूर्वी।

विहायोगति २ - १) शुभ विहायोगति, २) अशुभ विहायोगति।

ये १४ पिण्ड प्रकृतियों के अवान्तर भेद हैं। अब प्रत्येक प्रकृतियों के भेद कहते हैं-

आठ प्रत्येक प्रकृतियाँ - १) पराघात, २) उच्छवास, ३) आतप, ४) उद्योत, ५) अगुरुलघु, ६) तीर्थंकर, ७) निर्माण, ८) उपघात।

जिन प्रकृतियों के अवान्तर भेद होते हैं - उन्हें पिण्ड प्रकृति और जिनके अवान्तर भेद नहीं होते हैं उन्हें प्रत्येक प्रकृति कहते हैं।

त्रस दशक प्रकृतियाँ १० - १) त्रस, २) बादर, ३) पर्याप्त, ४) प्रत्येक, ५) स्थिर, ६) शुभ, ७) सुभग, ८) सुस्वर, ९) आदेय, १०) यश कीर्ति।

स्थावरदशक प्रकृतियाँ १० - १) स्थावर, २) सूक्ष्म, ३) अपर्याप्त, ४) साधारण, ५) अस्थिर, ६) अशुभ, ७) दुर्भग, ८) दु स्वर, ९) अनादेय, १०) अयश कीर्ति।

४+५+५+३+१५+५+६+६+५ +२+५+८+४+२=७५ ८+१०+१० = १०३

७) गोत्र कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ २

१) उच्च गोत्र, २) नीच गोत्र

८) अन्तराय कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ ५

१) दानान्तराय, २) लाभान्तराय, ३) भोगान्तराय, ४) उपभोगान्तराय, ५) वीर्यान्तराय।

ज्ञानावरणादि आठ कर्मों की उत्तर प्रकृतियों की गणना में नाम कर्म छोड़कर जिनकी जितनी सख्या बतलाई गई है उतने ही उन-उन के उत्तर भेदों के नाम निर्दिष्ट हैं। लेकिन नाम कर्म के ४२, ६७, ९३ और १०३ उत्तर भेदों की सख्या ग्रथों में बताई गई है। इनमें अधिक मध्यम और अल्प दृष्टिकोण से यह सख्या भिन्न है। उनकी गणना में क्रम इस प्रकार समझना चाहिए।

४२ = १४ पिण्ड प्रकृतियाँ, ८ प्रत्येक प्रकृतियाँ , १० त्रसदशक और १० स्थावर दशक

६७ = १० त्रसदशक, १० स्थावर दशक, ८ प्रत्येक प्रकृतियाँ = २८

१४ पिण्ड प्रकृतियों में से बधन और सघातन नामकर्म के भेदों को शरीर नामकर्म के अन्तर्गत ग्रहण किया है। शेष रही १२ पिण्ड प्रकृतियों के ४ + ५ + ५ + ३ + ६ + ६ + १+१+१+१+२=३९ + २७=६७

९३ = १०३ नामकर्म की प्रकृतियों में से बधन की दस कम करने से ९३ नामकर्म की प्रकृतियाँ होती हैं।

इस प्रकार अष्ट कर्मों की १५८ प्रकृतियाँ हैं।[११]

इन आठ कर्मों के[१२] भी घाति और अघातिरूप में दो भेद हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय तथा अन्तराय - यह चार 'घाति' कर्म हैं। शेष अर्थात वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र ये चार कर्म 'अघाति' हैं।

आत्मा का स्वरूप

आत्मा का यथार्थ स्वरूप शुद्ध चेतना और पूर्ण आनंदमय है, लेकिन जब तक उस पर तीव्र कर्मावरण छाया हुआ हो, तब तक उसका असली स्वरूप दिखाई नही देता है। जैसे-जैसे आवरण शिथिल या नष्ट होते हैं वैसे-वैसे असली स्वरूप प्रगट होता जाता है। जब आवरणों की तीव्रतम स्थिति होती है तब आत्मा अविकसित दशा के निम्नतम स्तर पर होती है। आत्मतत्त्व के यथार्थ स्वरूप को न जानने वाले पुरुष के आत्मा में निश्चय ठहरना नही होता और अन्तरग में शरीर आत्मा को भिन्न-भिन्न करने या समझने में मोह को प्राप्त कर भूल जाता है कि इस देह में द्रव्य इन्द्रिय, भावइन्द्रिय, द्रव्यमन, भावमन, दर्शन, ज्ञान, सुख-दु ख, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, अज्ञान आदि, जो भाव हैं, इनमें से आत्मा कौनसा है? अत भ्रम का निवारण पहले होना चाहिए और आत्मा का निश्चय करना चाहिये। देह और आत्मा के भेदविज्ञान के बिना आत्मा का शुद्ध स्वरूप स्पष्ट नही हो सकता। इसलिए प्रथमत आत्मा का ही निश्चय करना चाहिए।[१३]

वह आत्मा समस्त देहधारियों में बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के रूप में परिणत होती है। अर्थात् तीन अवस्था रूप हैं। परमात्मा के दो भेद हैं -अरिहत और सिद्ध। बाह्य द्रव्य शरीर, धन, परिवार, स्त्री-पुत्रादि को आत्मबुद्धि। (ममता की बुद्धि) से ग्रहण करने वाला तथा मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय के कारण जिसकी चेतना मोहनिद्रा से अस्त हो गई है वह बहिरात्मा कहलाता है। तीव्र कषायोदय के कारण वह देह और आत्मा को एक मानता है, अत. वह बहिरात्मा है। जो जीव जिनवचन में कुशल है, जीव और देह के भेद को जानते हैं तथा जिन्होंने आठ मदों को जीत लिया है, वे अन्तरात्मा हैं अर्थात् पुद्गल-स्वरूप सुख -दु.ख के सयोग-वियोग में हर्ष-शोक करने वाला सिर्फ विभ्रमरूप अधकार को दूर करके सूर्य-समान आत्मा का ही चिन्तन करने वाला अन्तरात्मा कहलाता है। जो जीव सत्ता से चिदानन्दमय (केवलज्ञानस्वरूप आनन्दमय) समग्र बाह्य उपाधि से रहित स्फटिक-सदृश निर्मल, इन्द्रियादि से अगोचर और अनन्त गुणों से युक्त सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, जिन, विष्णु, ब्रह्मा, शिव आदि आत्माओं को ज्ञानियों ने परमात्मा कहा है। यह आत्मा की सर्वोत्कृष्ट अवस्था है। इन तीन भेदों में से अन्तरात्मा के तीन प्रकार किये

गये हैं, जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। अविरत (व्रतरहित) सम्यग्दृष्टि जीव जिनेन्द्रचरणों के भक्त होते हैं, अपनी निन्दा करते रहते हैं तथा गुणग्राही होते हैं वे जघन्य बहिरात्मा कहलाते हैं। श्रावक के व्रतों को (बारह व्रत, ग्यारह पडिमा) पालन करनेवाले गृहस्थ और प्रमत्त गुणस्थानवर्ती मुनि मध्यम अन्तरात्मा हैं। ये जिन वचन में अनुरक्त होते हैं और महापराक्रमी होते हैं। तथा पच महाव्रतों से युक्त, धर्मध्यान एव शुक्लध्यान में सदा स्थित तथा जिन्होंने समस्त प्रमाद को जीत लिया है वे अन्तरात्मा है। शुद्धात्मा को ही परमात्मा कहा गया है।[१४] किन्तु यह स्मरण रहे कि जब आवरण बिल्कुल नष्ट हो जाते हैं, तब आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप की पूर्णता में स्थिर हो जाती है। जो उसका पूर्ण स्वभाव है। उच्चतम सर्वोच्च अप्रतिपाती स्थिति है।

जैन दर्शन में आत्मा, जीव और चेतन ये तीनों ही एकार्थवाची शद्ब हैं। इसीलिए कही-कही जीव, आत्मा अथवा चेतना शद्ब का प्रयोग मिलता है। निम्चयनय की अपेक्षा आत्मा या जीव का शुद्ध स्वरूप ज्ञान-दर्शन-चारित्र-वीर्यादि गुण वाला है। शुद्ध जीव न दीर्घ है, न ऱ्हस्व है, न वर्ण है, न गन्ध है, न रस है, न स्पर्श है, न रूप है, न शरीर है, न सस्थान है, न सहनन है, न राग है, न द्वेष है, न मोह है, न प्रत्यय है, न कर्म है, न वर्गणा है, न स्पर्धक है, न कोई अध्यवसाय स्थान है, न कोई अनुराग स्थान है, न कोई योग स्थान है, न बध स्थान है, न उदय स्थान है, न मार्गणा स्थान है, न स्थिति बधस्थान है, न सक्लेशस्थान है, न सयमलब्धि है, न जीवसमास है और न गुणस्थान है। ये तो सब पुद्गल द्रव्य के परिणाम हैं।[१५] ये दीर्घादि से लेकर गुणस्थान पर्यन्त भाव व्यवहार नय से जीव में देखे जाते हैं, निम्चयनय से जीव के कोई भाव नहीं होते। अत जीव की व्याख्या विधिनिषेध से ही की जाती है। वह शद्ब रूपादि से परे है।

जीव का लक्षण

जैन दर्शन में जीव का लक्षण उपयोग है।[१६] इसे आत्मा और चेतन भी कहते हैं। वह अनादि सिद्ध स्वतत्र द्रव्य है। चेतना और उपयोग में क्या अन्तर है? चेतना गुण रूप है और उपयोग उस चेतना को जानने रूप पर्याय है अर्थात् बोधरूप व्यापार ही उपयोग है। जानने की शक्ति - चेतना समान होने पर भी जानने की क्रिया - बोध व्यापार (उपयोग) समस्त आत्माओं में समान नही हो सकता। वह ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्यरूप होता है।[१७] सुख-दु ख का सवेदन एवं चारित्र और तप का आचरण व्यवहार दृष्टि से जीव का लक्षण बताया गया है। सुख-दु ख का सवेदन वेदनीय कर्म जन्य साता असाता या शुभ-अशुभ संवेदन का प्रतीक होने से समस्त जीवों में सदाकाल पाया जाता है। यह सवेदना कर्म जन्य है। कर्म से आबद्ध संसारी जीवों में ही इसका अनुभव होता है और वह अनुभूति भी ससारावस्था तक ही रहती है। इसी तरह

चारित्र और तप भी सभी जीवों में सदा सर्वदा विद्यमान नही रहता। चारित्र का अर्थ है - आत्मा में प्रविष्ट कर्म समूह को निकालने वाला (आत्म भवन में निवसित कर्मसमूह को खाली करनेवाला)। अत. स्पष्ट है कि चारित्र तब तक ही है जब तक कर्मों का प्रवाह प्रवहमान है। कर्म का सर्वथा नाश होने पर चारित्र की आवश्यकता नही होती। चारित्र की आवश्यकता साधक अवस्था तक ही है न कि सिद्ध अवस्था में। इसीलिए सुख-दु.ख और चारित्र व्यवहार दृष्टि से जीव का लक्षण है। तप चारित्र का ही अग है। वह भी जीव में सदा काल पाया नही जाता। ज्ञान, दर्शन और वीर्य आत्मा में सदासर्वदा पाये जाते हैं। इसीलिए वीर्य और उपयोग को आत्मा का निश्चयनय से लक्षण कहा गया है। उपयोग दो प्रकार का है[१८] साकारोपयोग और निराकारोपयोग। साकारोपयोग के आठ भेद हैं। (पाँच ज्ञान और तीन अज्ञान) तथा निराकारोपयोग के चार भेद हैं। (चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल दर्शन)। जो बोध ग्राह्य वस्तु को विशेष रूप से जाननेवाला हो वह साकारोपयोग है और जो बोध ग्राह्य वस्तु को सामान्य रूप से जाननेवाला हो वह अनाकारोपयोग है। अनाकारोपयोग को दर्शन या निर्विकल्प बोध भी कहते हैं। यहाँ वस्तु में विद्यमान सामान्य धर्म के ग्रहण को दर्शन कहा गया है।

गौतम गणधर ने श्रमण भगवान से पूछा कि प्रभो। आत्मभाव से जीवभाव में जो उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पराक्रम दिखाई देता है वह किस कारण से है? तब उन्होंने कहा कि जीव के पाँच ज्ञान, तीन अज्ञान और चार दर्शन रूप उपयोग लक्षण होने से उत्थान आदि जीव में कहे गये हैं।[१९] और भी औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक ये पाँच भाव भी जीव के ही लक्षण कहे गये है।[२०] ससारी अथवा मुक्त कोई भी आत्मा हो उसके सभी पर्याय इन पाँचो भावों में से किसी न किसी भाववाले अवश्य होते हैं। अजीव में ये पाँचो भाव वाले संभव नही। इसीलिए ये अजीव के स्वरूप हो नही सकते। ये पाँचों भाव सभी जीवों में एक ही साथ पाये जाय यह भी कोई नियम नही है। समस्त मुक्त जीवों में दो ही भाव-क्षायिक और पारिणामिक होते हैं जब कि ससारी आत्मा में तीन,चार या पाँच भाव होते हैं। किन्तु दो कभी भी होते नही। इसीलिए व्यवहारिक और निश्चयनय से इन पाँचो भावों को जीव का लक्षण कहा है।

शुभाशुभ कर्म के उदय से होने वाले जीव के भाव को औदयिक भाव कहते हैं। जो भाव सर्व प्रकार के कर्म-क्षय से उत्पन्न होते हैं, वे क्षायिक भाव है। कर्मों के उदय-अनुदय अर्थात क्षयोपशम से प्रकट होने वाला भाव क्षायोपशमिक भाव है। मोहनीय कर्म के उपशम से होने वाला भाव औपशमिक भाव है। जिसके कारण मूल वस्तु में किसी प्रकार का परिवर्तन न हो किन्तु स्वभाव में ही परिणत होते रहना पारिणामिक भाव है। ये पाँचों भाव जीव के होते हैं।[२१] इनमें से चार भाव कर्मोपाधि के निमित्त से होते हैं। एक

पारिणामिक भाव ही कर्मोपाधिरहित स्वाभाविक भाव है। कर्मोपाधि के भेद से तथा स्वरूप के भेद से ही पाँचों भाव नाना प्रकार के हैं। औदयिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक भाव ये तीनों ही कर्मजनित हैं। ये तीनों कर्म के उदय, उपशम और क्षयोपशम से होते हैं। यद्यपि क्षायिक भाव शुद्ध है, अविनाशी है, तथापि कर्म क्षय होने से होते हैं इसलिये इसको भी कर्मजनित ही कहा है। सिर्फ पारिणामिक भाव ही कर्मजनित नही है। शुद्ध पारिणामिक भाव जीव के स्वभाव हैं। इसके भव्यत्व, अभव्यत्व ऐसे दो भाव हैं। ये भी कर्मजनित नही हैं। फिर भी कर्म की अपेक्षा से भव्य-अभव्य स्वभाव वाले जाने जाते हैं। भव्य-अभव्य स्वभाव भव स्थिति पर आधारित है, कर्मजनित नहीं है। अत जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीनों ही पारिणामिक भाव स्वभावजनित हैं। इसके अतिरिक्त अस्तित्व, अन्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, गुणवत्त्व, प्रदेशत्व, असंख्यातप्रदेशत्व, असर्वगतत्व, अरूपत्व आदि अनेक पारिणामिक भाव हैं।[२२] किंतु यहाँ पर जीव का लक्षण (स्वरूप) बतलाना है और वह उसके असाधारण भावों के द्वारा ही बताया जा सकता है। इसलिए औपशमिक आदि के साथ पारिणामिक भाव भी वे ही बतलाए हैं, जो सिर्फ जीव के असाधारण हैं। अस्तित्व आदि पारिणामिक हैं सही, पर वे जीव की तरह अजीव में भी हैं। इसलिए वे जीव के असाधारण भाव नही हैं।

यह उपयोग की विविधता बाह्य अभ्यन्तर कारण कलाप की विविधता पर अवलम्बित है। विषय भेद, इन्द्रियादि साधन भेद तथा देश कालादि भेद ही विविध बाह्य सामग्री है, एवं आवरण की तीव्रता-मन्दता का तारतम्य आन्तरिक सामग्री की विविधता है। जब तक मोह कर्म की दर्शन और चारित्र ये दोनों शक्तियाँ प्रबल रहती हैं तब तक कर्मों का आवरण सघन होता है। उस स्थिति में आत्मा का यथार्थ रूप प्रगट नही होता है, किन्तु आवरणों के क्षीण निर्जीर्ण या क्षय होने पर आत्मा का यथार्थ स्वरूप अभिव्यक्त होता है। जब कर्मावरण की तीव्रता या अत्यन्त सघनता हो तब आत्मा के अविकास की अतिम स्थिति रहती है और जैसे-जैसे आवरण क्रमश· क्षीण होते हुए पूर्ण रूप से नष्ट हो जाता है तब आत्मा अपने पूर्ण शुद्ध रूप में स्थित हो जाती है। इन दोनों स्थितियों के अन्तराल में आत्मा अनेक प्रकार की नीची, ऊँची, सघन-विरल अवस्थाओं का अनुभव करती है। ये मध्यवर्तिनी अवस्थाएँ अपेक्षा दृष्टि से ऊँच और नीच कहलाती हैं। अर्थात् उपर वाली स्थिति की अपेक्षा नीची और नीची अवस्था की अपेक्षा की दृष्टि से ऊँची कहलाती हैं। इन ऊँच और नीच अवस्थाओं के बनने और कहलाने का मुख्य कारण कर्मों की औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक स्थितियाँ हैं। इन बाह्य और आन्तरिक सामग्री वैचित्य की बदौलत एक ही आत्मा भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न प्रकार की बोध क्रिया करता है। यह बोध की विविधता अनुभव-गम्य है।

आत्मा में अनेक गुण होते हुए भी उपयोग को ही मुख्य लक्षण क्यों माना गया है? नि संदेह आत्मा में अनंतगुण-पर्याय हैं। किंतु उन सब में उपयोग ही मुख्य है। क्योंकि वह स्व-पर प्रकाशक है। जो स्व-पर प्रकाशक होता है वह अपना और पराया का ज्ञान कराता है। इसी प्रकार उपयोग भी अपना तथा इतर पर्यायों का ज्ञान करा सकता है। इसलिए उपयोग सब पर्यायों में प्रधान है। उपयोग जीव का लक्षण है फिर पाँचों भावों को भी जीव का लक्षण क्यों कहा? दोनों में से किसी एक को ही लक्षण बनाते दूसरा लक्षण देने की क्या आवश्यकता है? असाधारण धर्म सब एक से नही हो सकते। वे लक्ष्य कभी होते हैं कभी नही भी होते हैं। समग्र लक्ष्य में तीनों काल में पाया जाने वाला एकमात्र उपयोग ही है। औपशमिक आदि जीव के स्वरूप हैं तो सही पर वे न तो सब आत्माओं में पाये जाते हैं और न त्रिकालवर्ती ही हैं। त्रिकालवर्ती और सर्व आत्माओं में पाया जानेवाला एक जीवत्व रूप पारिणामिक भाव ही है जिसका फलित अर्थ उपयोग ही है। इसलिए जीव का लक्षण उपयोग है और औदयिक आदि भाव जीव के उपलक्षण हैं। जड़ और चेतन का विवेकपूर्वक निश्चय उपयोग द्वारा ही हो सकता है। उपयोग तरतम भाव से सभी जीवों में पाया जाता है। जिसमें उपयोग नहीं वह जड़ है। जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन पारिणामिक भाव अन्य द्रव्यों में नही होते इसलिए ये आत्मा के लक्षण जानने चाहिए। ये तीनों भाव कर्म के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम के बिना होते हैं, इसलिए पारिणामिक हैं। जीवत्व का अर्थ चैतन्य है। जिसके सम्यग्दर्शन आदि भाव प्रकट होने की योग्यता है वह भव्य कहलाता है। अभव्य इसका उलटा है। ये तीनों ही जीव के परिणामिक भाव हैं।[२३] यही पारिणामिक भाव (उपयोग) जीव का लक्षण है।

जीव शब्द का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ

जो जीता है, जीता था और जीवेगा, इस प्रकार के त्रैकालिक जीवन गुण वाले को जीव कहते हैं। जीव के जीवित रहने के आधार हैं - द्रव्यप्राण और भावप्राण। स्पर्शन, रसन आदि पाँच इन्द्रियाँ, मन, वचन और काय यह तीन बल, श्वासोच्छ्वास और आयु-द्रव्यप्राण के यह दस भेद हैं तथा ज्ञान-दर्शन-चैतन्य आदि भावप्राण कहलाते हैं। इसलिए जीव का लक्षण इस प्रकार किया जाता है कि जो द्रव्य और भाव प्राणों से जिवित है, जीवित था और जीवित रहेगा वह जीव है। अर्थात् जो प्राणों को धारण करता है, जिसके आयु का सद्भाव है, आयु का अभाव नही है, वह जीव है।[२४] जो विविध पर्यायों को प्राप्त करती है, वह आत्मा है।[२५] कर्मावरणों से आच्छादित जीव कहलाता है और कर्मों से मुक्त जीव को ही शुद्धात्मा कहते हैं। अत जैनदर्शन में जीव और आत्मा एक ही पर्यायवाची शब्द हैं।

जीव के भेद

जीवों के दो प्रकार हैं -[२६] ससारी और मुक्त। इन दोनों प्रकार के जीवों में चैतन्यरूप भावप्राण तो रहते ही हैं लेकिन संसारी जीव ज्ञान-दर्शन आदि भाव प्राणों के साथ यथायोग्य इन्द्रिय आदि द्रव्य प्राणों सहित है तथा मुक्त जीवों में सिर्फ ज्ञान-दर्शन आदि गुणात्मक भावप्राण होते हैं। इन्द्रिय आदि कर्मजन्य द्रव्यप्राण है और जब तक जीव कर्मबद्ध है तब तक वे यथायोग्य इन्द्रियों आदि से युक्त रहते हैं। लेकिन कर्ममुक्त हो जाने पर सिर्फ ज्ञान-दर्शन आदि रूप चैतन्य परिणाम रहते हैं।

जीव की उक्त व्याख्या व्यवहार और निम्चय नय की दृष्टि से की गई है। अर्थात् ससारी जीव की इन्द्रिय आदि द्रव्यप्राणों और ज्ञानादि भावप्राणों सहित जीवित रहने की व्याख्या व्यवहारनय सापेक्ष है तथा मुक्त जीवों के सिर्फ ज्ञान आदि भावप्राणों द्वारा जीवित रहने की व्याख्या निम्चयनय सापेक्ष है।[२७]

मुक्त और ससारी ये दोनों जीव हैं। लेकिन जीवस्थान में संसारी जीवों को ग्रहण किया गया है। इसका कारण यही है कि मुक्त जीवों में किसी प्रकार का भेद नही है। सभी चैतन्य गुण एक जैसा है। लेकिन संसारी जीवों में चैतन्य गुण के साथ-साथ शरीर आदि की अपेक्षा अनेक प्रकार की विभिन्नता पायी जाती है। जिनका बोध आगे कराया जायेगा। ससारी जीवों के विभिन्न भेद भी आगे बताये जायेंगे।

जीव और कर्म का संबंध

कर्मशास्त्रों में जीव और कर्म का संबध चार प्रकार से माना गया है -[२८] (१) अनादि-अनन्त, (२) अनादि-सान्त, (३)सादि-अनन्त और (४) सादि-सान्त। पच सग्रह में तीन ही प्रकार के बध बताये हैं-[२९] अनादि-अनत, अनादि-सान्त और सादि-सान्त। अभव्यों में अनादि-अनन्त, भव्यों में अनादि सान्त और उपशान्त मोह गुण-स्थान से च्युत हुए जीवों में सादि-सान्त बध होता है। सादि-अनंत बध जो बध या उदय आदि सहित होगा वह कभी भी अनन्त नहीं हो सकता। इसलिए इसे ग्राह्य नही माना गया है।

जीव और कर्म का सबध अनादिकाल से चला आ रहा है। जैसे कनकोपल (स्वर्ण-पाषाण) में सोने और पाषाण रूप मल का मिलाप अनादिकालिक है, वैसे ही जीव और कर्म का सबंध अनादिकालिक है। ससारी जीव का वैभाविक स्वभाव रागादि रूप से परिणत होने का है और बद्धकर्म का स्वभाव जीव को रागादिरूप से परिमाणित करना है। इस प्रकार जीव और कर्म का यह स्वभाव अनादिकाल से चला आ रहा है। अतएव जीव और कर्म का सबध अनादिकाल से समझना चाहिए।[३०]

कर्म-संतति (प्रवाह) की अपेक्षा जीव और कर्म का संबध अनादिकालीन है। किन्तु अनादिकालीन होने पर सान्त (अन्तसहित) भी है और अनन्त (अन्तरहित) भी है। जो जीव मोक्ष पा चुके हैं या पायेंगे, उनका कर्म के साथ अनादि-सान्त सबध है और जिनका कभी मोक्ष न होगा, उनका कर्म के साथ अनादि-अनन्त सबंध है।

प्रवाह सतति की अपेक्षा आत्मा के साथ कर्म का अनादि सबध और व्यक्ति की अपेक्षा सही सबंध है। जीव के साथ कर्म का सबंध अनादिकालीन है। ऐसा नही है कि जीव अनादिकाल से सर्वथा शुद्ध चैतन्यरूप था और बाद में किसी समय उस कर्म के साथ सबध हो गया हो। इसको इस उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है कि जिस प्रकार खान के भीतर स्वर्ण और पाषाण, दूध और घृत, अण्डा और मुर्गी, बीज और वृक्ष का अनादिकालीन सबंध चला आ रहा है, उसी प्रकार जीव और कर्म का भी प्रवाह सतति की अपेक्षा अनादिकालीन सबंध स्वय सिद्ध जानना चाहिये। अर्थात् ससारी जीवों के मन, वचन, काय में परिस्पन्दन होता है और उससे कर्मो का आस्रव होने से गतिजाति आदि होती है। गति होने पर देह और देह में इन्द्रियाँ बनती हैं। उनसे विषयों का ग्रहण होता है और विषयों के ग्रहण से राग, द्वेष, उत्पन्न होता है। फिर इन राग-द्वेष रूप भावों से संसार का चक्र चलता रहता है। परिणाम जीव के बंध का कारण है। क्योंकि जीव का कर्म के कारण (निमित्त से) ही परिभ्रमण है। ३१

अनादि होने पर भी कर्मों का अन्त संभव है।

कर्म और आत्मा का अनादि सबंध है और जो अनादि होता है, उसका कभी नाश नही हो सकता, ऐसा सामान्य नियम है। लेकिन कर्म के बारे में यह नियम सार्वकालिक नही है। स्वर्ण और मिट्टी का, दूध और घी का अनादि सबध है, तथापि वे प्रयत्न-विशेष से पृथक् -पृथक् होते देखे जाते हैं। वैसे ही आत्मा और कर्म के अनादि सबंध का भी भाव-विशेष अथवा अध्यवसाय-विशेष से अन्त होता है। यह स्मरणीय है कि व्यक्ति रूप से कोई भी कर्म अनादि नहीं है, किसी एक कर्म विशेष का आत्मा के साथ अनादि सबध नही है। पूर्वबद्ध कर्मस्थिति पूर्ण होने पर वह आत्मा से पृथक् हो जाता है और नवीन कर्म का बध होता रहता है। इस प्रकार से, प्रवाह रूप के कर्म के अनादि होने पर भी व्यक्तिश अनादि नही है और तप, सयम, ध्यान के अनुष्ठानद्वारा कर्मों का प्रवाह नष्ट होने से आत्मा मुक्त हो जाती है। इस प्रकार कर्मों की अनादि परम्परा प्रयत्न -विशेषों से नष्ट हो जाती है और पुन नवीन कर्मों का बध नही होता है।

आत्मा के प्रदेशों से कर्मपुद्‌गल कैसे चिपकते हैं?

जिस प्रकार किसी के शरीर पर तेल की मालिश की जाए, तो उसके शरीर पर धूलि के कण आकर चिपक जाते हैं, वैसे ही राग और द्वेष से भीगी हुई आत्मा से कर्म बन्ध होता है।३२

आत्मा और कर्म मे बलवान कौन?

कर्मों के अनादि होने पर भी आत्मा अपने प्रयत्नों से कर्मों को नष्ट कर देती है। अत कर्म की अपेक्षा आत्मा की शक्ति अनन्त है। वहिर्दृष्टि से कर्म शक्तिशाली प्रतीत होते हैं क्योंकि आत्मा के दो प्रकार के भाव हैं - विकारी और अविकारी। शास्त्रीय भाषा में इसे ही विभावदशा और स्वभावदशा कहा जाता है। विभावदशा के कारण अर्थात् कर्म के वशवर्ती होकर आत्मा नाना योनियों में जन्म-मरण के चक्कर भी काटती रहती है। परंतु अन्तर्दृष्टि से देखा जाय तो आत्मा की शक्ति असीम है। वह जैसे अपनी परिणती से कर्मो का आस्रव करती है और उनमें उलझी रहती है, वैसे ही कर्मों को क्षय करने की क्षमता रखती है। कर्म चाहे कितने ही शक्तीशाली प्रतीत हों, लेकिन आत्मा उससे भी अधिक शक्ती-सम्पन्न है। जैसे लौकिक दृष्टि से पत्थर कठोर और पानी मुलायम प्रतीत होता है। किन्तु वह पानी भी पत्थरों की बड़ी-बड़ी चट्टानों के टुकड़े-टुकड़े कर देता है। वैसे ही आत्मा की शक्ति अनन्त है। जब तक उसे अपनी विराट चेतना-शक्ति का भान नही होता, तब तक कर्मों को अपने से बलवान समझकर उनके अधीन -सी रहती है और ज्ञान होते ही उनसे मुक्त होने का प्रयत्न कर शुद्ध, बुद्ध और सिद्ध अवस्था प्राप्त कर लेती है। यही आध्यात्मिक सिद्धान्त है। इसके लिए साधक को विशेष साधना की आवश्यकता होती है और विशेष साधना के बिना साध्य की सिद्धी हो नही सकती।

आध्यात्मिक साधना का लक्ष्य

साधना के दो प्रकार हैं, आध्यात्मिक और भौतिक। भौतिक साधना के अनेक पहलू हैं, जिसके साध्य करने से अशाश्वत सुख की प्राप्ति हो सकती है, जिसके कारण भव भ्रमण बढता है अपितु घटता नही। आत्मा के शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति आध्यात्मिक साधना के द्वारा ही हो सकती है। अत साधनाशील जीवन में किसी भी एक ध्येय या लक्ष्य का होना बडा महत्त्व रखता है। ध्येय एव लक्ष्यहीन जीवन का कोई महत्त्व नही।

आध्यात्मिक धर्म साधना का केन्द्रस्थान आत्मा है। आत्मा को अनावृत करना या उसकी अनन्त ज्योति को प्रकट करना ही साधना का लक्ष्य है। जैन धर्म में साधना का लक्ष्य आत्मा के स्वरूप का बोध कराना है। आत्मा-स्वरूप बोध के होते ही साधक को 'मैं कौन हूँ', 'कहाँ से आया हूँ' और 'कहाँ जानेवाला हूँ' आदि का बोध हो जाता है।[३३] इसका बोध होते ही आत्मा अध्यात्म साधना द्वारा सर्वबन्धनों से मुक्त हो जाता है। इसके लिए सही पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है और वह है चार पुरुषार्थों में मोक्ष पुरुषार्थ। ज्ञानीजन मोक्षपुरुषार्थ में ही सतत प्रयत्नशील रहते हैं।[३४] सभी प्राणी बन्धन मुक्ति चाहते हैं। अत बद्धकर्म से आत्मा की मुक्ति कैसे हो? उसके लिए जैनागम में दो मुख्य तत्त्व बताये गये हैं -[३५] १) सवर और २) निर्जरा। मोक्ष के लिए ये ही दो मुख्य साधन हैं।

रत्नत्रयादि साधनों के साथ भी ये दो तो क्षीरनीरवत् होते ही हैं। इन दोनों के ऊपर ही आध्यात्मिक साधना की नीव खड़ी है। इसलिए ध्यानयोग का फल सवर और निर्जरा ही बतलाया है। सवर का अर्थ है - आत्मा में नवीन कर्मों के आगमन को रोकना और निर्जरा का अर्थ है - उदयावली में आए हुए पूर्व सचित कर्मों का नाश करना। इसके सविपाक और अविपाक ऐसे दो भेद हैं। आठ कर्मों में मोहनीय कर्म ही अधिक बलवान है। उस पर विजय प्राप्त करने के लिए सवर और निर्जरा की साधना ही श्रेयस्कर है। इन दोनों का विस्तृत वर्णन आगे करेंगे।

साधना मे विघ्न

साधनाशील जीवन में साधक को अनेक विघ्नों का सामना करना पडता है। जो साधक विघ्नों पर विजय प्राप्त करता है वह तो अपने ध्येय को सिद्ध कर लेता है और जो विघ्नों पर विजय नही कर पाता है, वह ध्येय से विचलित हो जाता है और पुन चतुर्गति में परिभ्रमण करने लगता है। साधना मार्ग में आने वाले विघ्न निम्नलिखित हैं -

साधना मार्ग में सबसे बड़ा शत्रु प्रमाद है। प्रमाद के कारण ही 'मोह' अपना वर्चस्व जमा लेता है। मोहनीय कर्म का आवरण जब तक दूर नही होता है, तब तक केवलज्ञान की प्राप्ति नही हो पाती है। प्रमाद के कारण ही मोह पर विजय नही पायी जाती हैं। मोहविजेता, मनोविजेता एव कषायविजेता बनने के लिए सबसे पहले प्रमाद का त्याग करना होगा। जो त्यागी बनकर भी निद्रा-तद्रा, आलस्य एव प्रमाद में सतत व्यस्त रहता है वह पाप श्रमण है।[३६] पाप श्रमण २० असमाधि दोष, २१ शबल दोष, आशातना के ३३ एव महामोहनीय कर्म उपार्जन के तीस स्थानों से बच नहीं सकता। ज्ञान-दर्शन-चारित्र से आत्मा का भ्रष्ट होना ही असमाधि दोष है। चारित्र की निर्मलता को भ्रष्ट करनेवाले शबल दोष हैं। ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि का ह्रास होना ही आशातना है। महामोहनीय कर्म के उपार्जन से ससारवृद्धि होती है। अत ये सभी साधना मार्ग में विघ्नरूप हैं।[३७] इन सब में 'मोह' सबसे बड़ा शत्रु है। इसके अहंकार और ममकार सैनिक हैं तथा रागादि भाव इसका परिवार है। इसीलिए मोह को राजा की उपमा दी गई है।[३८] मोह राजा के वशीभूत होते ही सात कर्मों का परिवार अपने आप वश में हो जाता है। इसलिए साधना मार्ग में आने वाले इन विघ्नों को जीतना आवश्यक ही है। उसके बिना साधना मार्ग प्रशस्त नही बन सकता। इनके अतिरिक्त परिग्रह कषाय प्रबलता, इन्द्रियासक्ति एव स्त्री ससर्ग भी साधना पथ में विघ्न रूप ही है।[३९] इन सभी विघ्नों के कारण साधना का शुद्ध स्वरूप निखर नही पाता। अत साधक प्रमाद का त्याग करके मोह पर विजय करते हुए इन सभी विघ्नों को दूर करने में सतत प्रयत्नशील रहता है।

आत्मा और कर्म मे बलवान कौन?

कर्मों के अनादि होने पर भी आत्मा अपने प्रयत्नों से कर्मों को नष्ट कर देती है। अत कर्म की अपेक्षा आत्मा की शक्ति अनन्त है। बहिर्दृष्टि से कर्म शक्तिशाली प्रतीत होते हैं क्योंकि आत्मा के दो प्रकार के भाव हैं - विकारी और अविकारी। शास्त्रीय भाषा में इसे ही विभावदशा और स्वभावदशा कहा जाता है। विभावदशा के कारण अर्थात् कर्म के वशवर्ती होकर आत्मा नाना योनियों में जन्म-मरण के चक्कर भी काटती रहती है। परतु अन्तर्दृष्टि से देखा जाय तो आत्मा की शक्ति असीम है। वह जैसे अपनी परिणती से कर्मो का आस्रव करती है और उनमें उलझी रहती है, वैसे ही कर्मों को क्षय करने की क्षमता रखती है। कर्म चाहे कितने ही शक्तीशाली प्रतीत हों, लेकिन आत्मा उससे भी अधिक शक्ती-सम्पन्न है। जैसे लौकिक दृष्टि से पत्थर कठोर और पानी मुलायम प्रतीत होता है। किन्तु वह पानी भी पत्थरों की बड़ी-बड़ी चट्टानों के टुकड़े-टुकड़े कर देता है। वैसे ही आत्मा की शक्ति अनन्त है। जब तक उसे अपनी विराट चेतना-शक्ति का भान नही होता, तब तक कर्मों को अपने से बलवान समझकर उनके अधीन -सी रहती है और ज्ञान होते ही उनसे मुक्त होने का प्रयत्न कर शुद्ध, बुद्ध और सिद्ध अवस्था प्राप्त कर लेती है। यही आध्यात्मिक सिद्धान्त है। इसके लिए साधक को विशेष साधना की आवश्यकता होती है और विशेष साधना के बिना साध्य की सिद्धी हो नही सकती।

आध्यात्मिक साधना का लक्ष्य

साधना के दो प्रकार हैं, आध्यात्मिक और भौतिक। भौतिक साधना के अनेक पहलू हैं, जिसके साध्य करने से अशाश्वत सुख की प्राप्ति हो सकती है, जिसके कारण भव भ्रमण बढता है अपितु घटता नही। आत्मा के शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति आध्यात्मिक साधना के द्वारा ही हो सकती है। अत साधनाशील जीवन में किसी भी एक ध्येय या लक्ष्य का होना बड़ा महत्त्व रखता है। ध्येय एव लक्ष्यहीन जीवन का कोई महत्त्व नही।

आध्यात्मिक धर्म साधना का केन्द्रस्थान आत्मा है। आत्मा को अनावृत करना या उसकी अनन्त ज्योति को प्रकट करना ही साधना का लक्ष्य है। जैन धर्म में साधना का लक्ष्य आत्मा के स्वरूप का बोध कराना है। आत्मा-स्वरूप बोध के होते ही साधक को 'मैं कौन हूँ', 'कहाँ से आया हूँ' और 'कहाँ जानेवाला हूँ' आदि का बोध हो जाता है।[३३] इसका बोध होते ही आत्मा अध्यात्म साधना द्वारा सर्वबन्धनों से मुक्त हो जाता है। इसके लिए सही पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है और वह है चार पुरुषार्थों में मोक्ष पुरुषार्थ। ज्ञानीजन मोक्षपुरुषार्थ में ही सतत प्रयत्नशील रहते हैं।[३४] सभी प्राणी बन्धन मुक्ति चाहते हैं। अत बद्धकर्म से आत्मा की मुक्ति कैसे हो? उसके लिए जैनागम में दो मुख्य तत्त्व बताये गये हैं -[३५] १) सवर और २) निर्जरा। मोक्ष के लिए ये ही दो मुख्य साधन हैं।

रत्नत्रयादि साधनों के साथ भी ये दो तो क्षीरनीरवत् होते ही हैं। इन दोनों के ऊपर ही आध्यात्मिक साधना की नीव खड़ी है। इसलिए ध्यानयोग का फल संवर और निर्जरा ही बतलाया है। संवर का अर्थ है - आत्मा में नवीन कर्मों के आगमन को रोकना और निर्जरा का अर्थ है - उदयावली में आए हुए पूर्व सचित कर्मों का नाश करना। इसके सविपाक और अविपाक ऐसे दो भेद हैं। आठ कर्मों में मोहनीय कर्म ही अधिक बलवान है। उस पर विजय प्राप्त करने के लिए सवर और निर्जरा की साधना ही श्रेयस्कर है। इन दोनों का विस्तृत वर्णन आगे करेंगे।

साधना मे विघ्न

साधनाशील जीवन में साधक को अनेक विघ्नों का सामना करना पड़ता है। जो साधक विघ्नों पर विजय प्राप्त करता है वह तो अपने ध्येय को सिद्ध कर लेता है और जो विघ्नों पर विजय नही कर पाता है, वह ध्येय से विचलित हो जाता है और पुन· चतुर्गति में परिभ्रमण करने लगता है। साधना मार्ग में आने वाले विघ्न निम्नलिखित हैं -

साधना मार्ग में सबसे बड़ा शत्रु प्रमाद है। प्रमाद के कारण ही 'मोह' अपना वर्चस्व जमा लेता है। मोहनीय कर्म का आवरण जब तक दूर नही होता है, तब तक केवलज्ञान की प्राप्ति नही हो पाती है। प्रमाद के कारण ही मोह पर विजय नही पायी जाती हैं। मोहविजेता, मनोविजेता एव कषायविजेता बनने के लिए सबसे पहले प्रमाद का त्याग करना होगा। जो त्यागी बनकर भी निद्रा-तद्रा, आलस्य एव प्रमाद में सतत व्यस्त रहता है वह पाप श्रमण है।[३६] पाप श्रमण २० असमाधि दोष, २१ शबल दोष, आशातना के ३३ एव महामोहनीय कर्म उपार्जन के तीस स्थानों से बच नही सकता। ज्ञान-दर्शन-चारित्र से आत्मा का भ्रष्ट होना ही असमाधि दोष है। चारित्र की निर्मलता को भ्रष्ट करनेवाले शबल दोष हैं। ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि का ह्रास होना ही आशातना है। महामोहनीय कर्म के उपार्जन से ससारवृद्धि होती है। अत ये सभी साधना मार्ग में विघ्नरूप हैं।[३७] इन सब में 'मोह' सबसे बड़ा शत्रु है। इसके अहकार और ममकार सैनिक हैं तथा रागादि भाव इसका परिवार है। इसीलिए मोह को राजा की उपमा दी गई है।[३८] मोह राजा के वशीभूत होते ही सात कर्मों का परिवार अपने आप वश में हो जाता है। इसलिए साधना मार्ग में आने वाले इन विघ्नों को जीतना आवश्यक ही है। उसके बिना साधना मार्ग प्रशस्त नही बन सकता। इनके अतिरिक्त परिग्रह कषाय प्रबलता, इन्द्रियासक्ति एव स्त्री ससर्ग भी साधना पथ में विघ्न रूप ही है।[३९] इन सभी विघ्नों के कारण साधना का शुद्ध स्वरूप निखर नही पाता। अत साधक प्रमाद का त्याग करके मोह पर विजय करते हुए इन सभी विघ्नों को दूर करने में सतत प्रयत्नशील रहता है।

साधना में सहायक तत्त्व

जैन सस्कृति का सार श्रमण धर्म है। श्रमण धर्म की सिद्धि के लिए आचार सहिता श्रेष्ठ मानी गई है। आचार सहिता का पालक साधक के जीवन में द्रव्य, क्षेत्र, काल एव भावानुसार विभिन्न अनुकूल-प्रतिकूल परीषह-उपसर्ग आते रहते हैं। ऐसी विषम परिस्थिती के समय 'गुरु' ही उसके लिए सम्बल रूप होते हैं। भूले भटके राही के लिए गुरु मार्गदर्शक हैं। साधना में सुदृढता लाने के लिए गुरु कृपा, दृढ़ श्रद्धा, आत्मविश्वास एव दृढमनोबल अत्यावश्यक हैं। 'गुरुपद' साधना मार्ग में सर्वोत्कृष्ट सहायक तत्त्व है।[४०] गुरु को जैनागम में छह पद से घोषित किया गया है।[४१] १) आचार्य, २) उपाध्याय, ३) प्रवर्तिनी (साध्वीप्रमुखा), ४) स्थविर, ५) गणी (सूत्रार्थदाता) और ६) गणावच्छेद। इनकी आज्ञानुसार साधना करने वाला साधक सिद्धी को प्राप्त कर सकता है। साधक के दो प्रकार माने गये हैं - विनीत और अविनीत। विनीत शिष्य ही साधना मार्ग से ध्येय सिद्ध कर सकता है, अविनीत नही। उसके पन्द्रह स्थान हैं -[४२] गुरुजनों के समीप बैठना, चचलता का त्याग करना, मायारहित होना, कुतूहलता का त्याग करना, किसी का भी तिरस्कार न करना, दीर्घकाल तक रोष न करना, मित्रों पर उपकार करना, विद्या का मद न करना, आचार्यादि के मर्म को प्रगट न करना, मित्रोंपर क्रोध न करना, अपराधी मित्रों के दोषों को न कहना एव अमित्र के भी परोक्ष में गुणों का वर्णन करना, कलह एव हिंसादि का त्याग करना, गुरुकुल में वास करना, लज्जाशील होना तथा जितेन्द्रिय होना। इसके विपरीत अविनीत के लक्षण हैं। उसके भी चौदह स्थान हैं। वह कभी भी निर्वाण प्राप्त नही कर सकता [४३]। सम्यग्ज्ञानादि रत्नत्रय से युक्त गुरु ही धर्मशास्त्रार्थ उपदेशक माना जाता है।[४४] इसीलिए भगवती सूत्र के प्रारभ में प्रथम गुरुपद को रखा है। तदनन्तर सिद्धपद को। गुरु ही साधक की योग्यता देखकर उसे मार्गदर्शन करते हैं। इसलिए साधना पथ में गुरु को मुख्य सहायक तत्त्व माना गया है। जब तक गुरु कृपा प्राप्त नही होती, तब तक देह और आत्मा का भेदज्ञान नही होता। सतत ससार में परिभ्रमण चालू रहता है।[४५] ससार परिभ्रमण घटाने में गुरुकृपा आधारस्तम्भ है। कर्मक्षय के बिना मुक्ति (मोक्ष) नही। उसके लिए सम्यक् साधना मोक्षमहल को पाने में सोपान रूप है। आगम में कर्मक्षय के साधन तीन अथवा चार बताएँ हैं। इन्हें ही मार्ग या सोपान कहते हैं।

कर्मक्षय करने के साधन

कर्म-आवृत जीव अपने परमात्म भाव को प्रगट करना चाहते हैं, उनके लिए किन साधनों की अपेक्षा है? जैन दर्शन में परम पुरुषार्थ - मोक्ष मार्ग को पाने के तीन साधन बतलाये हैं -[४६]

१) सम्यग्दर्शन, २) सम्यग्ज्ञान, और ३) सम्यक् चारित्र। कही-कही मोक्ष मार्ग के

चार साधन बतलाए हैं -[४७] - सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक् चारित्र और तप। जहाँ तीन साधन माने गये हैं वहाँ चारित्र के अन्तर्गत ही तप को समाहित कर लिया गया है। कही-कही तो ज्ञान और क्रिया दो को ही मोक्ष का साधन कहा गया है, तो ऐसे स्थलों पर दर्शन को ज्ञान स्वरूप ही समझा है। उससे भिन्न नही है। ज्ञानयोग और कर्मयोग की समन्वित साधना ही मोक्ष की सच्ची साधना है। अकेले ज्ञान या अकेले क्रिया के साधन से मोक्ष नही मिलता। अंधपंगुन्याय की तरह ज्ञान-क्रिया के समन्वित रूप से ही मोक्ष है।[४८]

त्रिविध साधना का स्वरूप

साधक विशिष्ट साधन द्वारा साधना करके इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करता है। इन्द्रियविजेता (जितेन्द्रिय) ही मन की शुद्धि करता है, मन शुद्धि से ही समता का आविर्भाव होता है, समता से ही निर्ममत्व की अवस्था प्राप्त होती है, निर्ममत्व अवस्था के शुभ परिणामों से ही साधक की चित्तवृत्ति अन्तर्मुखी होती है। जीव के शुभ-अशुभ-शुद्ध ऐसे तीन भाव हैं। धर्म से परिणत आत्मा शुद्धोपयोग के माध्यम से निर्वाण सुख को प्राप्त करता है और शुभाशुभ भावों में परिणत आत्मा स्वर्ग एवं नरक के सुख दु ख को प्राप्त करता है।[४९] अत अशुभ भावों पर विजय प्राप्त करने के लिए ही, सम्यक् साधना की जाती है। इसी दृष्टि से ज्ञानियों ने त्रिविध साधना को ही प्रधानता दी है। अन्य दर्शनों में भी त्रिविध साधना की ही प्रधानता है। आगमों का कथन है कि दर्शनरहित व्यक्ति को ज्ञान नही हो सकता और ज्ञान के बिना चारित्र की प्राप्ती नही हो सकती और चारित्र के बिना मोक्ष नही तथा मोक्ष के बिना निर्वाण नही।[५०] इसलिए साधना के तीन मार्ग बताये हैं। - चतुर्थ मार्ग को चारित्र के अतर्गत ही समाविष्ट किया गया है।

१) साधना क्रम

त्रिविध साधना क्रम में कही-कही पहले ज्ञान और बाद में दर्शन एवं चारित्र रखा है, और कही-कही दर्शन को पहले तदनन्तर ज्ञान और चारित्र का क्रम रखा है।[५१] इसका मौलिक अन्तर ज्ञानी और छद्मस्थ की दृष्टि से आगमों में स्पष्ट होता है। आगम में दो शब्द मिलते हैं [५२] 'सर्वज्ञ' और 'सर्वदर्शी'। वैसे ही 'जानना' और 'देखना' इन शब्दों का रहस्य यही है कि सर्वज्ञ (ज्ञानी) को प्रथम समय में ज्ञान होता है और द्वितीय समय में दर्शन, जब कि छध्मस्थ को प्रथम समय मे दर्शन होता है और तदनन्तर ज्ञान।[५३] मन में संदेह निर्माण होगा कि ज्ञान के बिना दर्शन कैसे होगा? दर्शन के पहले ज्ञान होना आवश्यक है और होता भी है, किन्तु यह सामान्य ज्ञान होता है, विशिष्ट नहीं। दर्शन के पहले का ज्ञान अज्ञान रूप होता है। सम्यग्दर्शन के होते ही अज्ञान सम्यग्ज्ञान में परिवर्तित हो जाता है। आत्मशुद्धि के लिए प्रथम दर्शन की आवश्यकता है। तदनन्तर ज्ञान और ज्ञान की प्राप्ति के बाद सम्यक् चारित्र की प्राप्ति होती है।[५४] यहाँ 'दर्शन शुद्धि' से तात्पर्य सम्यक्त्व की प्राप्ति है।

इसलिए साधनाक्रम में पहले 'दर्शन' शब्द को रखा गया है, बाद में ज्ञान और अन्त में चारित्र। मतिज्ञान पदार्थ को जानता है। किन्तु सम्यक्त्व के बिना ज्ञान का नाम कुमति और कुश्रुतज्ञान था। वही ज्ञान जिस समय में सम्यक्त्व में परिवर्तित हो जाता है, तो मतिज्ञान से श्रुतज्ञान की सज्ञा पा लेता है। वह भी ज्ञान तो था ही, किन्तु सम्यक्त्व के बिना कुज्ञान था। जैसे ही सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई कि वही ज्ञान सम्यग्ज्ञान में परिवर्तित हो गया। इन दोनों में कार्य-कारण का सबध है। सम्यक्त्व कारण है और ज्ञान कार्य है। इसलिए सम्यक्त्व के बाद ज्ञान का क्रम रखा। अज्ञान सहित चारित्र सम्यक् सज्ञा नही पा सकता। इसलिए ज्ञान के बाद चारित्र का क्रम रखा गया है।[५५] अत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र यही त्रिविध क्रम यथार्थ है।[५६]

सम्यग् दर्शन का स्वरूप

१) सम्यक्त्व प्राप्ति के पूर्व जीव का भ्रमण - जीव शुभाशुभ कर्म फलों के कारण अनादिकाल से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव के भेद से पच परावर्तनरूप ससार में परिभ्रमण कर रहा है। क्योंकि ससारी जीव के साथ अनादिकाल से कर्मों का सबंध रहा है। इन कर्मों का निमित्त पाकर जीव के विकाररूप परिणाम होते रहते हैं। ससारी जीवों का प्रथम निवास स्थान निगोद है। निगोद के दो भेद हैं [५७] सूक्ष्म निगोद और बादर निगोद। आगम एव अन्य ग्रथों में स्थूल और सूक्ष्म आदि भेद से जीवों के विभाग किये गये हैं। पर्याप्तक और अपर्याप्तक, दोनों ही प्रकार के बादर (स्थूल) जीव आधार के सहारे रहते हैं और छह प्रकार के सूक्ष्म जीव समस्त लोकाकाश में रहते हैं। बादर नाम कर्म के उदय से बादर पर्याय में उत्पन्न जीवों को बादर कहते हैं और सूक्ष्म नामकर्म के उदय से उत्पन्न जीवों को सूक्ष्म कहते हैं। सूक्ष्म जीवों के छह प्रकार - पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, नित्यनिगोद वनस्पतिकायिक और इतर निगोद वनस्पति-कायिक। ये सभी जीव कभी पर्याप्त तो कभी अपर्याप्त होते हैं। पृथ्वी कायिक से लेकर वायुकायिक तक के जीव बादर और सूक्ष्म दोनों ही प्रकार के होते हैं। किन्तु वनस्पतिकाय के जो दो भेद किये हैं - साधारण और प्रत्येक। उनमें भी साधारण वनस्पतिकाय के दो भेद हैं। अनादि साधारण वनस्पतिकाय और सादि साधारण वनस्पतिकाय। ये दोनों प्रकार के जीव भी बादर और सूक्ष्म होते हैं। शेष सब जीव बादर ही होते हैं। साधारण (समान) नाम कर्म के उदय से साधारण वनस्पतिकायिक जीव कहलाते हैं, जिन्हें निगोदिया जीव भी कहते हैं। अर्थात जिन अनन्तानन्त जीवों का आहार, श्वासोच्छ्वास, शरीर और आयु साधारण होती है उन जीवों को साधारणकायिक जीव कहते हैं। साधारणवनस्पति के जो ऊपर दो भेद किये गए हैं, उनमें से अनादिकालीन साधारण वनस्पतिकाय को ही नित्य निगोद कहते हैं और सादिकालीन (आदिकालीन) वनस्पतिकाय को चतुर्गति निगोद अथवा इतर निगोद कहते हैं। जो जीव अनादिकाल से निगोद में ही पड़े हुए हैं, जिन्होंने

कभी त्रस पर्याय पायी ही नही है, उन्हें नित्य निगोदिया कहते हैं। जो जीव त्रस पर्याय को धारण करके पुन निगोद पर्याय में चले जाते हैं, उन्हें चतुर्गति निगोदिया (इतर निगोदिया अथवा बादर निगोद) कहते हैं। जिन जीवों का पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु से प्रतिघात नही होता। उन्हें सूक्ष्मकायिक जीव माना जाता है और जिनका इनसे प्रतिघात होता है उन्हें स्थूल - (बादर) कायिक जीव कहा जाता है।

साधारण वनस्पति की भाति ही प्रत्येक वनस्पति के भी दो भेद हैं[५८] १) निगोद सहित और २) निगोद रहित। अथवा (१) सप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर और (२) अप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर। जिसके आश्रित अनेक निगोदिया जीव रहते हैं, ऐसे प्रत्येक वनस्पति को सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं। और जिन प्रत्येक वनस्पति के शरीरों में निगोदिया जीवों का आवास नहीं है उन्हें अप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर कहते हैं। अथवा (१) जिस प्रत्येक वनस्पति की धारियाँ, फांकें और गाठें दिखाई न देती हों, जिसे तोडने पर खट से दो टुकडे सम हो जाय, और बीच में कोई तार वगैरेह न लगा रहे तथा जो काट देने पर भी पुन उग आये, वह साधारण - सप्रतिष्ठित प्रत्येक है। यहाँ सप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर वनस्पति को साधारण जीवों का आश्रय होने से साधारण कहा गया है। तथा जिस वनस्पति में उक्त बातें न हों अर्थात जिसमें धारियाँ वगैरेह स्पष्ट दिखाई देते हों, तोड़ने पर समान टुकड़े न हों, टूटने पर तार लगा रह जाये आदि, उस वनस्पति को अप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर कहते हैं। (२) जिस वनस्पति की जड़, कन्द, छाल, कोंपल, टहनी, पत्ते, फूल, फल और बीज को तोड़ने पर खट् से बराबर-बराबर दो टुकड़े हो जायें, उसे सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं तथा जिसका समभग न हो उसे अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं। (३) जिस वनस्पति के कद की, जड़ की, टहनी की अथवा तने की छाल मोटी हो वह अनन्तकाय यानी सप्रतिष्ठित प्रत्येक है और जिस वनस्पति के कदादि की छाल पतली हो वह अप्रतिष्ठित प्रत्येक है। इन दोनों प्रकार की वनस्पति को गोम्मट - सार में सात प्रकार की बताई है।[५९] (१) मूलबीज (अदरक, हल्दी, आदि), (२) अग्रबीज (नेत्रबाला आदि), (३) पर्वबीज (ईख, बेंत आदि), (४) कदबीज (रतालु, सूरण आदि), (५) स्कन्धबीज (सलई, पलास आदि), (६) बीजरूह (धान, गेहूँ आदि) और (७) सम्मूर्छन (स्वय ही उगती है)। पृथ्वीकाय से लेकर वनस्पतिकाय तक के सभी जीव स्थावर कहलाते हैं (स्थिर रहे वे एकेन्द्रिय जीव)। जिसके त्रस नाम कर्म का उदय होता है, उसे त्रस (स्वेच्छा से हलन-चलन कर सके) जीव कहते हैं। उनके भी दो भेद होते हैं।[६०] १) विकलेन्द्रिय और २) सकलेन्द्रिय। द्वीन्द्रिय (शखादि, स्पर्शन रसनेन्द्रिय), त्रीन्द्रिय, (पिपीलिकादि, स्पर्शनरसनघ्राणेन्द्रिय), चतुरिन्द्रिय (भ्रमरादि, स्पर्शनरसनघ्राण-चक्षुरिन्द्रिय) जीवों को विकलेन्द्रिय कहते हैं और मनुष्य देव, नारकी, पशु (तिर्यंच) आदि

जीवों को सकलेन्द्रिय कहते हैं। क्योंकि उनके स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँचों ही इन्द्रियाँ होती हैं। आगम में त्रस के तीन भेद किये हैं[६१] तेउकाइया वाउकाइया औदारिक (ओराला) त्रस प्राणी। ओराला त्रस जीवों के चार भेद किये हैं[६२] बेइदिया, तेइदिया, चउरिंदिया, पचेंदिया। स्थावर और त्रस जीवों के भेदों का वर्णन आगे करेंगे।

चार गति के (नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव) जीवों का चौरासी लाख जीव योनि[६३] ७ लाख पृथ्वीकाय, ७ लाख अप्काय, ७ लाख तेउकाय, ७ लाख वाउकाय, १० लाख प्रत्येक वनस्पतिकाय, १४ लाख साधारण वनस्पतिकाय, २ लाख बेइन्द्रिय, २ लाख तेइदिय, २ लाख चउरिंदिय, ४ लाख देवता, ४ लाख नारकी, ४ लाख तीर्यंच पचिंदिय और १४ लाख मनुष्य, के जीव का अनन्तानन्त कालचक्र में तब तक ही परिभ्रमण है, जब तक जीवात्मा को कालादिलब्धि का निमित्त प्राप्त न हो। जीव स्वय ही शुभाशुभ कर्मों का कर्ता है इसीलिये वह स्वय ही ससार का कर्ता है और कालादिलब्धि के मिलने पर स्वय ही मोक्ष का कर्ता है।[६४] कर्मों से बद्ध जीव, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव के भेद से पच परावर्तन - ससार परिभ्रमण का काल अर्धपुद्गल परावर्तन प्रमाण शेष रह जाता है, तब प्रथमोपशम सम्यक्त्व को ग्रहण करने के योग्य होता है। अर्धपुद्गल परावर्तन काल का प्रमाण स्पष्ट करने के लिये प्रथमत पुद्गल परावर्तन का लक्षण जानना अत्यावश्यक है। पुद्गल परावर्तन रूप काल अनन्त है। यह अनन्त उत्सर्पिणी और अनन्त अवसर्पिणी के बराबर होता है।[६५]

पुद्गलपरावर्तन और काल चक्र

यह लोक अनेक प्रकार की पुद्गल वर्गणाओं (समान जातीय पुद्गलों के समूह) से भरा हुआ है। ये वर्गणाए ग्रहण योग्य भी हैं और अयोग्य (अग्रहण योग्य) भी हैं। अग्रहण योग्य वर्गणाए तो अपना अस्तित्व रखते हुए भी ग्रहण नही की जाती हैं। लेकिन ग्रहण योग्य वर्गणाओं में भी ग्रहण और अग्रहण रूप दोनों प्रकार की योग्यता होती है। ऐसी ग्रहण योग्य वर्गणाए आठ प्रकार की हैं[६६] (१) औदारिक शरीर वर्गणा, (२) वैक्रिय शरीर वर्गणा, (३) आहारक शरीर वर्गणा, (४) तेजस् शरीर वर्गणा, (५) भाषा वर्गणा, (६) श्वासोच्छ्वास वर्गणा, (७) मनो वर्गणा और (८) कार्मण वर्गणा।

ये वर्गणाए क्रम से उत्तरोत्तर सूक्ष्म होती है। और इनकी अवगाहना भी उत्तरोत्तर न्यून अगुल के असख्य भागों में प्रमाणित होती है।

उक्त ग्रहण योग्य वर्गणाओं में से आहारक शरीर वर्गणा को छोड़कर (आहार शरीर एक भव में अधिक से अधिक दो बार और भव चक्र में चार बार होता है, इसलिये सभी

आहारक वर्गणा नही ली जा सकती, शेष औदारिकादि प्रकार से रूपी द्रव्यों को ग्रहण करते हुए एक जीव द्वारा समस्त लोकाकाश के पुद्गलों का स्पर्श करना पुद्गल परावर्तन कहलाता है।

पुद्गल परावर्तन के मुख्य चार भेद हैं -

(१) द्रव्य पुद्गल परावर्तन, (२) क्षेत्र पुद्गल परावर्तन, (३) काल पुद्गल परावर्तन और (४) भाव पुद्गल परावर्तन। इन चारों के भी बादर और सूक्ष्म यह दो-दो प्रकार होते हैं। इस प्रकार से पुद्गल परावर्तन के निम्नलिखित आठ भेद हैं।

(१) बादर द्रव्य पुद्गल परावर्तन, (२) सूक्ष्म द्रव्य पुद्गल परावर्तन,
(३) बादर क्षेत्र पुद्गल परावर्तन , (४) सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गल परावर्तन,
(५) बादर काल पुद्गल परावर्तन, (६) सूक्ष्म काल पुद्गल परावर्तन,
(७) बादर भाव पुद्गल परावर्तन, (८) सूक्ष्म भाव पुद्गल परावर्तन।

इन आठों का स्वरूप

जितने काल में एक जीव समस्त लोक में रहने वाले समस्त परमाणुओं को औदारिक शरीर आदि सात वर्गणा रूप से ग्रहण करके छोड़ देता है, उतने काल को बादर द्रव्य पुद्गल परावर्तन कहते हैं और जितने काल में समस्त परमाणुओं को औदारिक शरीर आदि सात वर्गणाओं में से किसी एक वर्गणा रूप से ग्रहण करके छोड़ देता है, उतने काल को सूक्ष्म द्रव्य पुद्गल परावर्तन कहते हैं।

कोई एक जीव भ्रमण करता हुआ अपने मरण के द्वारा लोकाकाश के समस्त प्रदेशों को क्रम से या बिना क्रम से जैसे बने वैसे जितने समय में स्पर्श कर लेता है, उतने काल को बादर क्षेत्र पुद्गल परावर्तन कहते हैं। कोई जीव भ्रमण करता करता आकाश के किसी एक प्रदेश में मरण करके पुन उस प्रदेश के समीपवर्ती दूसरे प्रदेश में मरण करता है। पुन उसके निकटवर्ती तीसरे प्रदेश में मरण करता है। इस प्रकार अनन्तर - अनन्तर - प्रदेश में मरण करते हुए जब समस्त लोकाकाश के प्रदेशों में मरण कर लेता है, तब वह सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गल परावर्त कहलाता है। बादर और सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गल परावर्तन में इतना अन्तर है कि बादर में तो क्षेत्र के प्रदेशों में क्रम का विचार नही किया जाता है और सूक्ष्म में क्षेत्र-प्रदेश के क्रम का विचार होता है। सूक्ष्म में समस्त प्रदेशों में क्रम से ही मरण ग्रहण करना चाहिए। अक्रम से जिन प्रदेशों में मरण होता है उनकी गणना नहीं की जाती है।

जितने समय में एक जीव अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी रूप बीस कोटाकोटी सागरोपम के एक काल चक्र के प्रत्येक समय को क्रम या अक्रम से मरण द्वारा स्पर्श कर लेता है, उतने काल को बादर काल पुद्गल परावर्त कहते हैं और एक जीव किसी

जीवों को सकलेन्द्रिय कहते हैं। क्योंकि उनके स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँचों ही इन्द्रियाँ होती हैं। आगम में त्रस के तीन भेद किये हैं[६१] तेउकाइया वाउकाइया औदारिक (ओराला) त्रस प्राणी। ओराला त्रस जीवों के चार भेद किये हैं[६२] वेइंदिया, तेइंदिया, चउरिंदिया, पचेंदिया। स्थावर और त्रस जीवों के भेदों का वर्णन आगे करेंगे।

चार गति के (नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव) जीवों का चौरासी लाख जीव योनि[६३] ७ लाख पृथ्वीकाय, ७ लाख अप्काय, ७ लाख तेउकाय, ७ लाख वाउकाय, १० लाख प्रत्येक वनस्पतिकाय, १४ लाख साधारण वनस्पतिकाय, २ लाख बेइन्द्रिय, २ लाख तेइंदिय, २ लाख चउरिंदिय, ४ लाख देवता, ४ लाख नारकी, ४ लाख तीर्यंच पचिंदिय और १४ लाख मनुष्य, के जीव का अनन्तानन्त कालचक्र में तब तक ही परिभ्रमण है, जब तक जीवात्मा को कालादिलब्धि का निमित्त प्राप्त न हो। जीव स्वय ही शुभाशुभ कर्मों का कर्ता है इसीलिये वह स्वय ही ससार का कर्ता है और कालादिलब्धि के मिलने पर स्वय ही मोक्ष का कर्ता है।[६४] कर्मों से बद्ध जीव, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव के भेद से पच परावर्तन - ससार परिभ्रमण का काल अर्धपुद्‌गल परावर्तन प्रमाण शेष रह जाता है, तब प्रथमोपशम सम्यक्त्व को ग्रहण करने के योग्य होता है। अर्धपुद्‌गल परावर्तन काल का प्रमाण स्पष्ट करने के लिये प्रथमत पुद्‌गल परावर्तन का लक्षण जानना अत्यावश्यक है। पुद्‌गल परावर्तन रूप काल अनन्त है। यह अनन्त उत्सर्पिणी और अनन्त अवसर्पिणी के बराबर होता है।[६५]

पुद्‌गलपरावर्तन और काल चक्र

यह लोक अनेक प्रकार की पुद्‌गल वर्गणाओं (समान जातीय पुद्‌गलों के समूह) से भरा हुआ है। ये वर्गणाए ग्रहण योग्य भी हैं और अयोग्य (अग्रहण योग्य) भी हैं। अग्रहण योग्य वर्गणाए् तो अपना अस्तित्व रखते हुए् भी ग्रहण नही की जाती हैं। लेकिन ग्रहण योग्य वर्गणाओं में भी ग्रहण और अग्रहण रूप दोनों प्रकार की योग्यता होती है। ऐसी ग्रहण योग्य वर्गणाए आठ प्रकार की हैं[६६] (१) औदारिक शरीर वर्गणा, (२) वैक्रिय शरीर वर्गणा, (३) आहारक शरीर वर्गणा, (४) तेजस् शरीर वर्गणा, (५) भाषा वर्गणा, (६) श्वासोच्छ्‌वास वर्गणा, (७) मनो वर्गणा और (८) कार्मण वर्गणा।

ये वर्गणाए क्रम से उत्तरोत्तर सूक्ष्म होती हैं। और इनकी अवगाहना भी उत्तरोत्तर न्यून अगुल के असख्य भागों में प्रमाणित होती है।

उक्त ग्रहण योग्य वर्गणाओं में से आहारक शरीर वर्गणा को छोड़कर (आहार शरीर एक भव में अधिक से अधिक दो बार और भव चक्र में चार बार होता है, इसलिये सभी

निश्वास, स्तोक, (सात श्वासोच्छवास,) लव (सात स्तोक,) नाली या घटिका (३७[१]/२ लव), दो घटिका का एक मुहूर्त होता है।[६९] उसके बाद ३० मुहूर्त का एक दिन-रात, पन्द्रह दिन का एक पक्ष, दो पक्ष का एक मास, दो मास की एक ऋतु, तीन ऋतु का एक अयन, दो अयन का एक वर्ष और वर्षों की अमुक अमुक सख्या को लेकर युग, शताब्दि आदि संज्ञायें प्रसिद्ध हैं। प्राचीन कालीन सज्ञायें अनुयोग द्वार के अनुसार निम्नलिखित हैं। ८४ लाख वर्ष का एक पूर्वांग, ८४ लाख पूर्वांग का एक पूर्व, ८४ लाख पूर्व का त्रुटिताग, ८४ लाख त्रुटिताग का एक त्रुटित, ८४ लाख त्रुटित का एक अडडाग, ८४ लाख अडडाग का एक अडड। इसी प्रकार क्रमश अववाग, अवव, हुहुअग, हुहु, उत्पलाग, उत्पल, पद्माग, पद्म, नलिनाग, नलिन, अर्धनिपूराग, अर्धनिपूर, अयुताग, अयुत, प्रयुताग, प्रयुत, नयुताग, नयुत, चूलिकाग, चूलिका, शीर्षप्रहेलिकांग, शीर्षप्रहेलिका, ये उत्तरोत्तर ८४ लाख गुणे होते हैं।[७०] शीर्षप्रहेलिका तक गुणा करने से १९४ अक प्रमाण जो राशि उत्पन्न होती है, गणित की अवधि वही तक है। ज्योतिष्यकरण्ड के[७१] अनुसार उनका क्रम इस प्रकार है - ८४ लाख पूर्व का एक लताग, ८४ लाख लतांग का एक लता, ८४ लता का एक महालताग, ८४ लाख महालताग का एक महालता, इसी प्रकार आगे नलिनाग, नलिन, महानलिनाग, महानलिन, पद्माग, पद्म, महापद्माग, महापद्म, कमलाग, कमल, महाकमलाग, महाकमल, कुमुदांग, कुमुद, महाकुमुदाग, महा कुमुद, त्रुटिताग, त्रुटित, महात्रुटिताग, महात्रुटित, अडडांग, अडड, महाअडडाग, महाअडड, ऊहाग, ऊह, महाऊहाग, महाऊह, शीर्षप्रहेलिकाग और शीर्षप्रहेलिका। इतनी ही राशि गणित का विषय है। उसके आगे उपमा प्रमाण की प्रवृत्ति होती है।

अनुयोग सूत्र और ज्योतिष्करण्ड में आगत नामों की भिन्नता का कारण काललोकप्रमाण में इस प्रकार स्पष्ट किया है - "अनुयोग द्वार, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि माथुर वाचना के अनुगत हैं और ज्योतिष्करड आदि वल्लभी वाचना के अनुगत, इसी से दोनों में अतर है।

गणित सख्यात की सीमा समाप्त हो जाने पर उसके आगे का काल पल्योपम, सागरोपम आदि[७२] उपमाओं के द्वारा समझाया जाता हैं। उपमा प्रमाण का स्पष्टीकरण करने के लिये बालाग्रों के उद्धरण को आधार बनाया है। अत उपमप्रमाण के दो भेद हैं - पल्योपम और सागरोपम।

समय की जिस लम्बी अवधि को पल्य (अनाज वगैरह भरने के गोलाकार स्थान को पल्य कहते हैं) की उपमा दी जाती है, उसे पल्योपम काल कहते हैं। पल्योपम के तीन भेद हैं - उद्धारपल्योपम, अद्धापल्योपम और क्षेत्रपल्योपम्। इसी प्रकार सागरोपम काल के

विवक्षित अवसर्पिणी काल के पहले समय में मरा, पुन उसके निकटवर्ती दूसरे समय में मरा, पुन तीसरे समय में मरा, इस प्रकार क्रमवार अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल के सव समय में जब मरण कर चुकता है तो उसे सूक्ष्म काल पुद्गल परावर्त कहते हैं। क्षेत्र की तरह यहाँ भी समयों की गणना क्रमवार करनी चाहिये।

अनुभागबधस्थान - कषायस्थान तरतम भेद के लिये असख्यात लोकाकाश के प्रदेशों की सख्या के समान हैं। उन अनुभागबधस्थानों में से एक-एक अनुभाग - बध स्थान में क्रम या अक्रम से मरण करते करते जीव जितने समय में समस्त अनुभाग बध स्थानों में मरण कर लेता है, उतने समय को बादर भावपुद्गल परावर्त कहते हैं। सबसे जघन्य अनुभाग बध स्थान में वर्तमान कोई जीव मरा, उसके बाद उस स्थान के अनन्तरवर्ती दूसरे अनुभाग बंध स्थान में भी मरा, उसके बाद उसके अनन्तरवर्ती तीसरे आदि अनुभाग बध स्थानों में मरा इसी क्रम में । इस प्रकार क्रम से जब समस्त अनुभागवध - स्थानों में मरण कर लेता है तो वह सूक्ष्म भाव पुद्गल परावर्त कहलाता है।

इस प्रकार बादर और सूक्ष्म पुद्गल परावर्तों का स्वरूप है। यद्यपि द्रव्य पुद्गल परावर्त के सिवाय अन्य किसी भी परावर्त में पुद्गल का परावर्तन नही होता है। क्योंकि क्षेत्र पुद्गल परावर्त में क्षेत्र का, काल पुद्गल परावर्त में काल का और भाव पुद्गल परावर्त में भाव का परावर्तन होता है, किन्तु पुद्गल परावर्त का काल अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के बराबर बतलाया है और क्षेत्र, काल और भाव परावर्त का काल भी अनन्त उत्सर्पिणी अनन्त अवसर्पिणी होता है। अत॰ इन परावर्तों की संज्ञा पुद्गल परावर्त रखी गई है।[६८]

जब जीव - मरण कर - करके पुद्गल के एक - एक परमाणु के द्वारा समस्त परमाणुओं को भोग लेता है, तो वह द्रव्य पुद्गल परावर्त और आकाश के एक-एक प्रदेश में मरण करके समस्त लोकाकाश के प्रदेशों को स्पर्श कर चुकता है, तब वह क्षेत्र पुद्गल परावर्त कहलाता है। इसी तरह काल और भाव के विषय में भी जानना चाहिये। इसी को दृष्टि में रखकर द्रव्य पुद्गल परावर्त आदि नामों से काल का विभाग कर दिया है और जो पुद्गल परावर्त जितने काल में होता है, उतने काल के प्रमाण को उस पुद्गल परावर्त के नाम से कहा जाता है। इस प्रकार अनन्त उत्सर्पिणी और अनन्त अवसर्पिणी काल का एक पुद्गल परावर्त होता है।

काल चक्र का स्वरूप : व्यवहार काल का सबसे सूक्ष्मतम अंश है समय, जिसका खण्ड नही किया जा सकता। वह अविभाज्य अश है। 'इस' 'समय' के पश्चात् ही अन्य उत्तरवर्ती काल की गणना होती है। प्राचीन काल गणना का संक्षेप में निर्देश करते हुए समय, आवलिका (असख्यात समय की एक आवली), उच्छ्वास (सख्यात आवली),

निश्वास, स्तोक, (सात श्वासोच्छवास,) लव (सात स्तोक,) नाली या घटिका (३७^१/२ लव), दो घटिका का एक मुहूर्त होता है।[६९] उसके बाद ३० मुहूर्त का एक दिन-रात, पन्द्रह दिन का एक पक्ष, दो पक्ष का एक मास, दो मास की एक ऋतु, तीन ऋतु का एक अयन, दो अयन का एक वर्ष और वर्षों की अमुक अमुक सख्या को लेकर युग, शताब्दि आदि सज्ञायें प्रसिद्ध हैं। प्राचीन कालीन सज्ञायें अनुयोग द्वार के अनुसार निम्नलिखित हैं। ८४ लाख वर्ष का एक पूर्वांग, ८४ लाख पूर्वांग का एक पूर्व, ८४ लाख पूर्व का त्रुटिताग, ८४ लाख त्रुटिताग का एक त्रुटित, ८४ लाख त्रुटित का एक अडडाग, ८४ लाख अडडाग का एक अडड। इसी प्रकार क्रमश अववाग, अवव, हुहुअग, हुहु, उत्पलाग, उत्पल, पद्मांग, पद्म, नलिनाग, नलिन, अर्धनिपूराग, अर्धनिपूर, अयुताग, अयुत, प्रयुताग, प्रयुत, नयुताग, नयुत, चूलिकाग, चूलिका, शीर्षप्रहेलिकाग, शीर्षप्रहेलिका, ये उत्तरोत्तर ८४ लाख गुणे होते हैं।[७०] शीर्षप्रहेलिका तक गुणा करने से १९४ अक प्रमाण जो राशि उत्पन्न होती है, गणित की अवधि वही तक है। ज्योतिष्यकरण्ड के[७१] अनुसार उनका क्रम इस प्रकार है - ८४ लाख पूर्व का एक लताग, ८४ लाख लतांग का एक लता, ८४ लता का एक महालतांग, ८४ लाख महालतांग का एक महालता, इसी प्रकार आगे नलिनांग, नलिन, महानलिनाग, महानलिन, पद्माग, पद्म, महापद्माग, महापद्म, कमलाग, कमल, महाकमलाग, महाकमल, कुमुदाग, कुमुद, महाकुमुदाग, महा कुमुद, त्रुटिताग, त्रुटित, महात्रुटिताग, महात्रुटित, अडडांग, अडड, महाअडडाग, महाअडड, ऊहाग, ऊह, महाऊहाग, महाऊह, शीर्षप्रहेलिकांग और शीर्षप्रहेलिका। इतनी ही राशि गणित का विषय है। उसके आगे उपमा प्रमाण की प्रवृत्ति होती है।

अनुयोग सूत्र और ज्योतिष्करण्ड में आगत नामों की भिन्नता का कारण काललोकप्रमाण में इस प्रकार स्पष्ट किया है - "अनुयोग द्वार, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि माथुर वाचना के अनुगत हैं और ज्योतिष्करड आदि वल्लभी वाचना के अनुगत, इसी से दोनों में अतर है।

गणित सख्यात की सीमा समाप्त हो जाने पर उसके आगे का काल पल्योपम, सागरोपम आदि[७२] उपमाओं के द्वारा समझाया जाता हैं। उपमा प्रमाण का स्पष्टीकरण करने के लिये बालाग्रों के उद्धरण को आधार बनाया है। अत. उपमप्रमाण के दो भेद हैं - पल्योपम और सागरोपम।

समय की जिस लम्बी अवधि को पल्य (अनाज वगैरह भरने के गोलाकार स्थान को पल्य कहते हैं) की उपमा दी जाती है, उसे पल्योपम काल कहते हैं। पल्योपम के तीन भेद है - उद्धारपल्योपम, अद्धापल्योपम और क्षेत्रपल्योपम्। इसी प्रकार सागरोपम काल के

भी तीन भेद हैं - उद्धार सागरोपम, अद्धा सागरोपम और क्षेत्र सागरोपम। इनमें से प्रत्येक पल्योपम और सागरोपम दो-दो प्रकार का होता है - १) बादर और २) सूक्ष्म। अनुयोग द्वार सूत्र में सूक्ष्म और व्यावहारिक भेद किये हैं। पल्योपम और सागरोपम के तीन -तीन भेद द्वारा क्रमश दीप समुद्रों, आयु और त्रसादि जीवों की गणना की जाती है।

पल्योपम सागरोपम का काल प्रमाण .[७३] उत्सेधागुल के द्वारा निष्पन्न एक योजन (चार कोस) प्रमाण लबा, एक योजन प्रमाण चौड़ा और एक योजन प्रमाण गहरा एक गोल पल्य (गढ़ा, कुँआ) बनाना चाहिये, जिसकी परिधि कुछ कम ३ १/६ योजन होती है। एक दो-तीन यावत् सात दिन वाले देवकुरू उत्तरकुरू युगलिकों के बालों के असंख्य खण्ड करके उन्हें उस पल्य में इतना ठसाठस भर देना चाहिये कि न उन्हें आग जला सके, न वायु उड़ा सके और न जल का ही उसमें प्रवेश हो सके। उद्धार पल्य से प्रति सौ-सौ वर्ष के बाद एक - एक खण्ड निकाला जाये, निकालते-निकालते जब वह कुँआ खाली हो जाय, तब वह एक बादर अद्धापल्योपम काल होता है (इसमें असख्य वर्ष लग जाते हैं) बालाग्रों के अग्र भागों से पूर्व की तरह कुआँ ठसाठस भर दो। वे अग्र भाग आकाश के जिन प्रदेशों को स्पर्श करें उनमें से प्रति समय एक-एक प्रदेश का अपहरण करते - करते जितने समय में समस्त प्रदेशों का अपहरण किया जा सके, उतने समय को बादर क्षेत्रपल्योपम काल कहते हैं। तथा दस कोड़ा - कोड़ (१० करोड़ को एक करोड़ से गुणा करना) पल्योपम का एक सागरोपम होता है। दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम का एक अवसर्पिणी काल और दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम का एक उत्सर्पिणी काल होता है। अवसर्पिणी काल में छह आरे होते हैं - सुषम-सुषम, सुषम, सुषम-दु षम, दु षम-सुषम, दु षम और दु षम-दु षम। इनमें क्रमश पसलियाँ, आयु बल, शरीर - प्रमाण, आहार आदि में न्हास होता रहता है जब कि उत्सर्पिणी काल में इन सभी में क्रमश वृद्धि होती रहती है। उत्सर्पिणी काल के भी छ ही आरे हैं। दु षम- दु षम, दु षम, दु षम-सुषम, सुषम - दु षम, सुषम और सुषम - सुषम । अवसर्पिणी का कालमान दस कोड़ा कोड़ी सागरोपम और उत्सर्पिणी का भी कालमान दस कोड़ा कोड़ी सागरोपम ही है। दोनों को मिलाकर बीस कोड़ाकोड़ी सागरेपम का एक कालचक्र कहलाता है।[७४] जो भरत और ऐरावत क्षेत्रों में ही होता है । ऐसे अनन्त कालचक्रों का एक पुद्गल परावर्तन होता है। दूसरे शब्दों में इसे अनन्तकाल कह सकते हैं।

इस जीवात्मा ने अनन्त पुद्गल - परावर्त काल-मान सूक्ष्म निगोद में
किया। उसमें से निकलने के बाद भी बादर निगोद में अनन्त पुद्गल परावर्त -
परिभ्रमण में व्यतीत किया। एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक सतत चारों गति में
करता ही रहा। अकाम निर्जरा करते - करते द्रव्य साधु बनकर नवग्रैवेयक तक भी

गया। किन्तु कषाय की मन्दता के बिना पुन॰ पुन संसार में भटकता ही रहा। परन्तु जब एक पुद्‌गल परावर्त काल जीव का संसार में भ्रमण शेष रहता है, तब उसमें भव्यत्व का प्रकाश प्राप्त होता है। बीज रूप अपुनर्बन्धक अवस्था को प्राप्त करने पर जीव प्रगति पथ पर चढ़ सकता है। इसका वर्णन आगे करेंगे।

कालादिलब्धि

काललब्धि : कर्मयुक्त कोई भी भव्य आत्मा के ससार परिभ्रमण का काल अधिक से अधिक अर्ध पुद्‌गल परावर्तन (परिवर्तन) प्रमाण शेष रहने पर प्रथम सम्यक्त्व के ग्रहण करने के योग्य होता है। इनसे अधिक काल के शेष रहने पर नही होता - यही एक काललब्धि है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियाँ एवं कालादिलब्धियाँ भव्यात्माओं को सहायक होती हैं। इन दोनों के अभाव में भव्यत्व होने पर भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नही हो सकती। दूसरी काललब्धि का सबंध कर्म स्थिति से है। उत्कृष्ट स्थिति वाले कर्मों के शेष रहने पर या जघन्य स्थिति वाले कर्मों के शेष रहने पर प्रथम सम्यक्त्व का लाभ नही होता। सम्यक्त्व का लाभ तो, जिस जीव में बध्यमान कर्म समूह विशुद्ध परिणामों से अत कोटिकोटिसागरोपमप्रमाणवाला होता है। पूर्व बद्ध कर्म जिसमें से संख्यात हजार कम अन्त कोटाकोटी की स्थिति में आता है, उसको उपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त होने की योग्यता प्राप्त होती है। इस सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए पाँच लब्धियों का होना आवश्यक होता है। पाँच लब्धियाँ इस प्रकार है · १) क्षयोपशमलब्धि २) विशुद्धि लब्धि ३) देशनालब्धि, ४) प्रायोग्यलब्धि और ५) करणलब्धि। इनमें से प्रथम की चार लब्धियाँ ससारी जीवों को अनेक बार होती हैं और यह भव्य और अभव्य दोनों को भी होती हैं। किन्तु अतिम करणलब्धि भव्य को ही होती है। प्रथम की चार लब्धियों मे सम्यक्त्व की प्राप्ति नियम से ही होती हो, ऐसा कोई नियम नही है। किन्तु करणलब्धि के प्राप्त होने पर ही भव्य जीव सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। अध॰ प्रवृत्तिकरण (यथाप्रवृत्तिकरण), अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण को जो भव्य जीवक्रम से करता है, उस प्रक्रिया का नाम करणलब्धि है। करणलब्धि के प्राप्त होने पर सम्यक्त्व प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त होती ही है। जो भव्य है, सज्ञी है, पर्याप्तक है और सर्व विशुद्ध है। वह प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करता ही है। यह तीसरी काललब्धि है।[७५] करणलब्धि का विशेष वर्णन आगे करेंगे।

भव्य संज्ञी पर्याप्तकादि का स्वरूप :- जो मोक्ष को प्राप्त करते हैं या पाने की योग्यता रखते हैं अथवा जिनमें सम्यग्दर्शनादि भाव प्रगट होने की योग्यता हैं - वे भव्य हैं। भव्य जीवों में से कुछ ऐसे होते हैं, जो निकट काल में अति शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करने वाले है। कुछ बहुत काल के बाद मोक्ष प्राप्त करने वाले हैं। कुछ ऐसे भी होते हैं, जो मोक्ष की

योग्यता रखते हुए भी उसको प्राप्त नही कर पाते हैं। उन्हें ऐसी अनुकूल सामग्री नही मिल पाती है, जिससे वे मोक्ष प्राप्त कर सकें। जैसे कि किसी मिट्टी में सोने का अश तो है, परन्तु अनुकूल साधन मिलने का अभाव होने पर सोने का अश प्रगट नही हो पाता है। भव्यों के उक्त तीनों प्रकारों को क्रमश आसन्न भव्य, दूर भव्य और जाति भव्य कहते हैं। जो अनादि तथाविध पारिणामिक भाव के कारण किसी भी समय मोक्ष पाने की योग्यता ही नही रखते, उन्हें अभव्य कहते हैं। ससार में खान से दो प्रकार के पाषाण निकलते हैं - कनक पाषाण और अधपाषाण। विशिष्ट प्रक्रिया से पाषाण से सोना अलग किया जाता है, उसे कनक पाषाण कहते हैं और जिस पाषाण में सोना अलग करने की योग्यता नही वह अधपाषाण कहलाता है। वैसे ही खेत में उत्पन्न हुए उड़द-मूँग में पाक्यशक्ति और अपाक्यशक्ति दोनों विद्यमान हैं। किन्तु किसी में पाचन शक्ति की योग्यता साधन सामग्री से आ जाती है और किसी में सामग्री की उपलब्धि होने पर भी नही आती। भव्याभव्य का यही स्वरूप है।[७६]

जो भी पचेंद्रिय जीव हैं, वे सभी सज्ञी और असज्ञी ऐसे दो प्रकार के होते हैं। उनके पर्याप्ता अपर्याप्ता ऐसे दो-दो भेद होते हैं। जो जीव शिक्षा, उपदेश और आलाप के द्वारा कार्य के हिताहित, योग्यायोग्य का निर्णय करके कार्य में प्रवृत्ति करते हैं, वे संज्ञी हैं और उसके विपरीत को असज्ञी कहते हैं। अर्थात् विशिष्ट मन शक्ति, दीर्घकालिक सज्ञा का होना सज्ञित्व है और उक्त का न होना असज्ञित्व है। इसलिये सज्ञायुक्त जीव सज्ञी और सज्ञित्व विहीन जीव असज्ञी कहलाते हैं।[७७]

पर्याप्त नामकर्म के उदयवाले जीवों को पर्याप्त और अपर्याप्त नाम कर्म के उदयवाले जीवो का अपर्याप्त कहते हैं। पर्याप्त नामकर्म के उदय से आहारादि पर्याप्तियों की रचना होती है और अपर्याप्त नाम कर्म का उदय होने पर उनकी रचना नही होती है। पर्याप्ति वह शक्ति है, जिसके द्वारा जीव आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा, मन के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है और गृहित पुद्गलों को आहारादि के रूप में परिणत करता है। ऐसी शक्ति जीव में पुद्गलों के उपचय से बनती है। इन गृहीत पुद्गलों का कार्य भिन्न-भिन्न होता है। अत इस कार्य भेद से पर्याप्ति के निम्नलिखित छह भेद हो जाते हैं - १) आहारपर्याप्ति, २) शरीरपर्याप्ति, ३) इन्द्रियपर्याप्ति, ४) श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति, ५) भाषा पर्याप्ति और ६) मन पर्याप्ति। इन छह पर्याप्तियों का प्रारम्भ युगपत् होता है, क्योंकि जन्म समय से लेकर ही इनका अस्तित्व पाया जाता है किन्तु पूर्णता क्रम से होती है। उक्त छह पर्याप्तियों में से एकेन्द्रिय जीवों के आदि की चार और विकलेन्द्रिय- द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा असज्ञी पचेन्द्रिय जीवों के मन पर्याप्ति के सिवाय शेष पाँच तथा सज्ञी पचेन्द्रिय जीवों के सभी छहो पर्याप्तियाँ होती हैं।

पर्याप्त जीवों में गृहीत पुद्गलों को आहारादि रूप में परिणत करने की शक्ति है और अपर्याप्त जीवों में इस प्रकार की शक्ति नहीं होती हैं।[७८]

सम्यक्त्व प्राप्ति में आतरिक व बाह्य कारण

सम्यक्त्व परिणाम सहेतुक है। क्योंकि निर्हेतुक वस्तु या तो सदैव एक जैसी रहती है या उसका अभाव होता है। किन्तु सम्यक्त्व परिणाम न तो सब में समान है और न उसका अभाव ही है। इसीलिए सम्यक्त्व परिणाम को सहेतुक माना जाता है। उसके नियत हेतु निमित्त कारण दो प्रकार के हैं -बाह्य और अतरग। इनमें से सम्यक्त्व परिणाम का नियत हेतु (आन्तरिक कारण) जीव का भव्यत्व नामक अनादि पारिणामिक स्वभाव विशेष है। जब इस अनादि पारिणामिक भावभव्यत्व का परिपाक होता है, तभी सम्यक्त्व का लाभ हो जाता है और उस समय प्रवचन-श्रवण आदि बाह्य हेतु भी उसके निमित्त कारण बन जाते हैं। इनसे भव्यत्व भाव के परिपाक में सहायता मिलती है। लेकिन सिर्फ प्रवचन-श्रवण, अध्ययन आदि बाह्य निमित्त सम्यक्त्व के नियत हेतु नही हो सकते हैं। क्योंकि बाह्य निमित्तों के रहने पर भी अनेक भव्यों को अभव्यों की तरह सम्यक्त्व की प्राप्ती नही होती है। अत. भव्यत्व भाव का विपाक ही सम्यक्त्व प्राप्ति का अव्यभिचारी निश्चित कारण है और प्रवचन-श्रवण, अध्ययनादि बाह्य कारण सहकारी मात्र होते हैं।

सम्यक्त्व प्राप्ति का आंतरिक कारण :- भव्यत्व भाव होने पर भी अभिव्यक्ति के आभ्यन्तर कारणों की विविधता में सम्त्यक्त्व के औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक आदि भेद बनते हैं।

औपशमिक सम्यक्त्व :- अनन्तानुबधी कषाय- चतुष्क और दर्शनमोहनीयत्रिक- कुल सात प्रकृतियों के उपशम से प्राप्त होने वाले तत्त्वरुचिरूप आत्म परिणाम को औप- शमिक सम्यक्त्व कहते हैं।[७९] इसके दो भेद हैं - १) ग्रथिभेदजन्य और उपशमश्रेणिभावी (श्रेणिभावी)। ग्रथिभेद जन्य औपशमिक सम्यक्त्व अनादिमिथ्यात्वी भव्य जीवों को होता है और उपशमश्रेणि भावी औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति चौथे, पाँचवें, छठे या सातवें इन चार गुण स्थानों में से किसी भी गुणस्थान में हो सकती है। परन्तु आठवें गुणस्थान में तो अवश्य ही उसकी प्राप्ति हो जाती है।[८०] ग्रन्थिभेदजन्य उपशम सम्यक्त्व को प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहते हैं।[८१] उपशम सम्यक्त्व दो प्रकार का है - करणोपशम और अकरणो-पशम। कर्मों का अन्तरकरण होकर जो उपशम होता है, वह करणोपशम कहला- ता है। ऐसा उपशम दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय इन दो का ही होता है। इसलिए उपशम भाव के दो ही भेद बतलाये हैं। किन्तु इतनी विशेषता है कि अनन्तानुबधी कषाय- चतुष्क का अन्तरकरण उपशम नही होता, इसलिए जहाँ भी इसके उपशम का विधान किया गया है, वहाँ इसका अकरणोपशम ही लेना चाहिए। और भी औपशमिक सम्यक्त्व

योग्यता रखते हुए भी उसको प्राप्त नहीं कर पाते हैं। उन्हें ऐसी अनुकूल सामग्री नही मिल पाती है, जिससे वे मोक्ष प्राप्त कर सकें। जैसे कि किसी मिट्टी में सोने का अश तो है, परन्तू अनुकूल साधन मिलने का अभाव होने पर सोने का अश प्रगट नही हो पाता है। भव्यों के उक्त तीनों प्रकारों को क्रमश आसन्न भव्य, दूर भव्य और जाति भव्य कहते हैं। जो अनादि तथाविध पारिणामिक भाव के कारण किसी भी समय मोक्ष पाने की योग्यता ही नही रखते, उन्हें अभव्य कहते हैं। ससार में खान से दो प्रकार के पाषाण निकलते हैं - कनक पाषाण और अधपाषाण। विशिष्ट प्रक्रिया से पाषाण से सोना अलग किया जाता है, उसे कनक पाषाण कहते हैं और जिस पाषाण में सोना अलग करने की योग्यता नही वह अंधपाषाण कहलाता है। वैसे ही खेत में उत्पन्न हुए उड़द-मूँग में पाक्यशक्ति और अपाक्यशक्ति दोनों विद्यमान हैं। किन्तु किसी में पाचन शक्ति की योग्यता साधन सामग्री से आ जाती है और किसी में सामग्री की उपलब्धि होने पर भी नही आती। भव्याभव्य का यही स्वरूप है।[७६]

जो भी पचेंद्रिय जीव हैं, वे सभी संज्ञी और असज्ञी ऐसे दो प्रकार के होते हैं। उनके पर्याप्ता अपर्याप्ता ऐसे दो-दो भेद होते हैं। जो जीव शिक्षा, उपदेश और आलाप के द्वारा कार्य के हिताहित, योग्यायोग्य का निर्णय करके कार्य में प्रवृत्ति करते हैं, वे सज्ञी हैं और उसके विपरीत को असज्ञी कहते हैं। अर्थात् विशिष्ट मन शक्ति, दीर्घकालिक सज्ञा का होना सज्ञित्व है और उक्त का न होना असज्ञित्व है। इसलिये सज्ञायुक्त जीव सज्ञी और सज्ञित्व विहीन जीव असंज्ञी कहलाते हैं।[७७]

पर्याप्त नामकर्म के उदयवाले जीवों को पर्याप्त और अपर्याप्त नाम कर्म के उदयवाले जीवो का अपर्याप्त कहते हैं। पर्याप्त नामकर्म के उदय से आहारादि पर्याप्तियों की रचना होती है और अपर्याप्त नाम कर्म का उदय होने पर उनकी रचना नही होती है। पर्याप्ति वह शक्ति है, जिसके द्वारा जीव आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा, मन के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है और गृहित पुद्गलों को आहारादि के रूप में परिणत करता है। ऐसी शक्ति जीव में पुद्गलों के उपचय से बनती है। इन गृहीत पुद्गलों का कार्य भिन्न-भिन्न होता है। अत इस कार्य भेद से पर्याप्ति के निम्नलिखित छह भेद हो जाते हैं - १) आहारपर्याप्ति, २) शरीरपर्याप्ति, ३) इन्द्रियपर्याप्ति, ४) श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति, ५) भाषा पर्याप्ति और ६) मन पर्याप्ति। इन छह पर्याप्तियों का प्रारभ युगपत् होता है, क्योंकि जन्म समय से लेकर ही इनका अस्तित्व पाया जाता है किन्तु पूर्णता क्रम से होती है। उक्त छह पर्याप्तियों में से एकेन्द्रिय जीवों के आदि की चार और विकलेन्द्रिय- द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा असज्ञी पचेन्द्रिय जीवों के मन पर्याप्ति के सिवाय शेष पाँच तथा सज्ञी पचेन्द्रिय जीवों के सभी छहो पर्याप्तियाँ होती हैं।

पर्याप्त जीवों में गृहीत पुद्गलों को आहारादि रूप में परिणत करने की शक्ति है और अपर्याप्त जीवों में इस प्रकार की शक्ति नही होती है।[७८]

सम्यक्त्व प्राप्ति में आतरिक व बाह्य कारण

सम्यक्त्व परिणाम सहेतुक है। क्योंकि निर्हेतुक वस्तु या तो सदैव एक जैसी रहती है या उसका अभाव होता है। किन्तु सम्यक्त्व परिणाम न तो सब में समान है और न उसका अभाव ही है। इसीलिए सम्यक्त्व परिणाम को सहेतुक माना जाता है। उसके नियत हेतु निमित्त कारण दो प्रकार के हैं -बाह्य और अंतरग। इनमें से सम्यक्त्व परिणाम का नियत हेतु (आन्तरिक कारण) जीव का भव्यत्व नामक अनादि पारिणामिक स्वभाव विशेष है। जब इस अनादि पारिणामिक भावभव्यत्व का परिपाक होता है, तभी सम्यक्त्व का लाभ हो जाता है और उस समय प्रवचन-श्रवण आदि बाह्य हेतु भी उसके निमित्त कारण बन जाते हैं। इनसे भव्यत्व भाव के परिपाक में सहायता मिलती है। लेकिन सिर्फ प्रवचन-श्रवण, अध्ययन आदि बाह्य निमित्त सम्यक्त्व के नियत हेतु नही हो सकते हैं। क्योंकि बाह्य निमित्तों के रहने पर भी अनेक भव्यों को अभव्यों की तरह सम्यक्त्व की प्राप्ती नही होती है। अत भव्यत्व भाव का विपाक ही सम्यक्त्व प्राप्ति का अव्यभिचारी निश्चित कारण है और प्रवचन-श्रवण, अध्ययनादि बाह्य कारण सहकारी मात्र होते हैं।

सम्यक्त्व प्राप्ति का आंतरिक कारण :- भव्यत्व भाव होने पर भी अभिव्यक्ति के आभ्यन्तर कारणों की विविधता में सम्त्यक्त्व के औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक आदि भेद बनते हैं।

औपशमिक सम्यक्त्व :- अनन्तानुबंधी कषाय- चतुष्क और दर्शनमोहनीयत्रिक- कुल सात प्रकृतियों के उपशम से प्राप्त होने वाले तत्त्वरुचिरूप आत्म परिणाम को औप- शमिक सम्यक्त्व कहते हैं।[७९] इसके दो भेद हैं - १) ग्रथिभेदजन्य और उपशमश्रेणिभावी (श्रेणिभावी)। ग्रथिभेद जन्य औपशमिक सम्यक्त्व अनादिमिथ्यात्वी भव्य जीवों को होता है और उपशमश्रेणि भावी औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति चौथे, पाँचवें, छठे या सातवें इन चार गुण स्थानों में से किसी भी गुणस्थान में हो सकती है। परन्तु आठवें गुणस्थान में तो अवश्य ही उसकी प्राप्ति हो जाती है।[८०] ग्रन्थिभेदजन्य उपशम सम्यक्त्व को प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहते हैं।[८१] उपशम सम्यक्त्व दो प्रकार का है - करणोपशम और अकरणो-पशम। कर्मों का अन्तरकरण होकर जो उपशम होता है, वह करणोपशम कहला- ता है। ऐसा उपशम दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय इन दो का ही होता है। इसलिए उपशम भाव के दो ही भेद बतलाये हैं। किन्तु इतनी विशेषता है कि अनन्तानुबधी कषाय- चतुष्क का अन्तरकरण उपशम नही होता, इसलिए जहाँ भी इसके उपशम का विधान किया गया है, वहाँ इसका अकरणोपशम ही लेना चाहिए। और भी औपशमिक सम्यक्त्व

के समय आयुबध, मरण, अनतानुबधी कषाय का बध व उदय ये चार बातें नही होती हैं। किन्तु उससे च्युत होने के बाद सासादन भाव के समय ये चार बातें हो सकती हैं। औपशमिक सम्यक्त्व की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त है। यदि गिर गया तो अर्धपुद्गल परावर्त काल में सिद्धि कर लेता है।

अनिवृत्तिकरण काल के बीत जाने पर औपशमिक सम्यक्त्व होता है। औपशमिक सम्यक्त्व के प्राप्त होते ही जीव को स्पष्ट एव असदिग्ध प्रतीति होने लगती है। क्योंकि उस समय मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का विपाक और प्रदेश दोनों प्रकार से उदय नही होता। इसलिए जीव का स्वाभाविक सम्यक्त्व गुण व्यक्त होता है। मिथ्यात्व रूप महान् रोग हट जाने से जीव को ऐसा आनन्द आता है, जैसे किसी पुराने एव भयकर रोगी को स्वस्थ हो जाने पर। उस समय तत्त्वों पर दृढ श्रद्ध हो जाती है। औपशमिक सम्यक्त्व की स्थिति अन्तर्मुहूर्त होती है, क्योंकि इसके बाद मिथ्यात्व मोहनीय के पुद्गल, जिन्हें अन्तरकरण के समय अन्तर्मुहूर्त के बाद उदय आने वाला बताया है, वे उदय में आ जाते हैं या क्षयोपशम रूप में परिणत कर दिये जाते हैं।

औपशमिक सम्यक्त्व के काल को उपशान्ताद्धा कहते हैं। अन्तर्मुहूर्त प्रमाण उपशान्ताद्धा में जीव शान्त, प्रशान्त, स्थिर और पूर्णानन्द वाला होता है। उपशान्ताद्धा के पूर्व अर्थात् अन्तरकरण के समय में जीव विशुद्ध परिणाम से द्वितीय स्थितिगत (औपशमिक सम्यक्त्व के बाद उदय में आनेवाले) मिथ्यात्व के तीन पुज करता है। जिस प्रकार कोद्रवधान्य (कोदों नामक धान्य) का एक भाग औषधियों से साफ करने पर इतना शुद्ध हो जाता है कि खाने वाले को बिल्कुल नशा नही आता। दूसरा भाग अर्द्ध शुद्ध और तीसरा भाग अशुद्ध रह जाता है। उसी प्रकार द्वितीय स्थितिगत मिथ्यात्व मोहनीय के तीन पुजों में से एक पुंज इतना शुद्ध हो जाता है कि उसमें सम्यक्त्व घातक रस (सम्यक्त्व को नाश करने की शक्ती) नही रहता। दूसरा पूज आधा शुद्ध और तीसरा पुज अशुद्ध ही रह जाता है।[८२]

औपशमिक सम्यक्त्व का समय पूर्ण होने पर जीव के परिणामानुसार उक्त तीन पुजों में से कोई एक अवश्य उदय में आता है। परिणामों के शुद्ध रहने पर शुद्ध पुज उदय में आता है। उससे सम्यक्त्व का घात नही होता । उस समय प्रगट होते वाले सम्यक्त्व को क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। जीव के परिणाम अर्ध विशुद्ध रहने पर दूसरे पुज का उदय होता है और जीव मिश्रदृष्टि कहलाता है। परिणामों के अशुद्ध पुंज का उदय होता है और उस समय जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है। इस सम्यक्त्व में चौथे से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक कुल आठ गुणस्थान कहे गये हैं।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व :- अनन्तानुबंधी कषाय-चतुष्क मिथ्यात्व और सम्यग्-मिथ्यात्व इन छह प्रकृतियों के उदयभावी क्षय और इन्ही सदवस्थारूप उपशम से तथा देशघाती स्पर्धकवाली सम्यक्त्व प्रकृति के उदय में जो तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप परिणाम होता है वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है।[८३] इसको वेदक सम्यक्त्व भी कहते हैं। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में मिथ्यात्व मोहनीय के पुद्गल होते हैं। इसीलिए उसे वेदक कहा जाता है। वेदक सम्यक्त्व (क्षायोपशिमक सम्यक्त्व) चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान तक चार गुणस्थानों में होता है। इसके बाद श्रेणि प्रारभ हो जाती है और श्रेणि दो प्रकार की है - उपशम श्रेणि और क्षपक श्रेणि। अत क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान तक चार गुणस्थान होते हैं। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व श्रेणि आरोहण के पूर्व तक ही रहता है और तभी होता है जब सम्यक्त्व मोहनीय का उदय हो। सम्यक्त्व मोहनीय का उदय सातवें गुणस्थान तकही रहता है। इसीलिए इस सम्यक्त्व में चौथे से सातवें तक चार गुणस्थान ही समझना चाहिये। इसकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति छियासठ सागर है।[८४]

औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में अंतर

उपशमजन्य पर्याय को औपशमिक और क्षायोपशमजन्य पर्याय को क्षायोपशमिक कहते हैं।

क्षयोपशम शद्ब में दो पद हैं - क्षय और उपशम। क्षयोपशम शद्ब का मतलब कर्म के क्षय और उपशम दोनों से है। क्षय यानी आत्मा से कर्म का संबध टूट जाना और उपशम यानी कर्म अपने स्वरूप में आत्मा के साथ सलग्न रहकर भी उस पर असर न डालना। इस शाद्बिक अर्थ की अपेक्षा क्षयोपशम के पारिभाषिक अर्थ में यह विशेषता है कि बधावलि के पूर्ण हो जाने पर जब किसी विविक्षित कर्म का क्षयोपशम प्रारंभ होता है तब विविक्षित वर्तमान समय से आवलिका पर्यंत के कर्मदलिकों (उदयावलिका प्राप्त या उदीर्णदलिक) का तो प्रदेशोदय व विपाकोदय द्वारा क्षय होता रहता है, जो दलिक विवक्षित वर्तमान समय से आवलिका पर्यंत में उदय आने योग्य नही है। उदयावलिका वहिर्भूत या अनुदीर्ण दलिक (उनका उपशम) (विपाकोदय की योग्यता का अभाव या तीव्र रस से मद रस में परिणमन) हो जाता है, जिससे वे दलिक अपनी उदयावलि को प्राप्त होने पर प्रदेशोदय या मद विपाकोदय क्षीण हो जाते हैं यानी आत्मा पर अपना फल प्रगट नहीं कर सकते या कम प्रगट करते हैं।

इस प्रकार आवलिका पर्यंत के उदयप्राप्त कर्म दलिकों का प्रदेशोदय व विपाकोदय द्वारा क्षय और आवलिका के बाद उदय पाने योग्य कर्मदलिकों की विपाकोदय सम्बन्धिनी योग्यता का अभाव या रस का मद रस परिणमन होते रहने से कर्म का क्षयोपशम कहते हैं।

लेकिन औपशामिक के उपशम शद्ब का अर्थ क्षयोपशम के उपशम शद्ब की व्याख्या से कुछ भिन्न है। अर्थात क्षयोपशम के उपशम शद्ब का अर्थ सिर्फ विपाकोदय सबधी योग्यता का अभाव या तीव्र रस का मद में परिणमन होना है। किन्तु औपशमिक के उपशम शद्ब का अर्थ प्रदेशोदय और विपाकोदय दोनों का अभाव है। क्षयोपशम में कर्म का क्षय भी चालू रहता है। यह क्षय प्रदेशोदय रूप होता है किन्तु उपशम में यह बात नही है, क्योंकि जब कर्म का उपशम होता है तभी से उसका क्षय रुक जाता है, अतएव इसके प्रदेशोदय होने की आवश्यकता नही रहती है। इसीलिए उपशम अवस्था तभी मानी जाती है जब कि अतरकरण (अन्तरकरण के अतर्मुहूर्त में उदय पानेवाले योग्य दलिकों में से कुछ तो पहले ही भोग लिये जाते हैं। कुछ दलिक बाद में उदय पाने योग्य बना दिये जाते हैं) होता है और अन्तरकरण में वेद्य दलिकों का अभाव होता है। साराश यह है कि औपशमिक सम्यक्त्व में दलिकों का विपाक और प्रदेश से भी वेदन नही होता है, किन्तु क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में प्रदेश की अपेक्षा वेदन होता है।

क्षयोपशम के समय प्रदेशोदय या मद विपाकोदय होता है किन्तु उपशम के समय वह भी नही होता है। औपशमिक सम्यक्त्व के समय दर्शन-मोहनीय के किसी प्रकार का उदय नही होता किन्तु क्षयोपशपम सम्यक्त्व के समय सम्यक्त्व मोहनीय का विपाकोदय और मिथ्यात्व मोहनीय का प्रदेशोदय होता है। इसीलिए औपशमिक सम्यक्त्व को भाव सम्यक्त्व और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को द्रव्य सम्यक्त्व भी कहते हैं।

औपशमिक और क्षायोशमिक सम्यक्त्व की उक्त व्याख्यागत विशेषता के अतिरिक्त दोनों में यह विशेषता है कि उपशम और क्षयोपशम होने योग्य घाति -कर्म (१-४ मति, श्रुत, अवधि, मन पर्याय ज्ञानावरण, ५-७ चक्षु, अचक्षु, अवधिदर्शना-वरण, ८-११ सज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ, १२-२० हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुसकवेद, २१-२५ दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य अन्तराय। यह २५ प्रकृतियाँ देशघाती हैं) हैं, लेकिन औपशमिक सम्यक्त्व में तो घाति कर्मों में से सिर्फ मोहनीय कर्म का उपशम होता है। लेकिन क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में क्षायोपशम सभी घातकर्मों का होता है। घाति कर्म के देशघाति (जो ऊपर २५ प्रकृतियों के नाम बतायें हैं) और सर्व घाति (१) केवलज्ञानावरण, २) केवलदर्शणावरण, ३-७) निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि, ८-१९) अनन्तानुबधी कषाय चतुष्क (क्रोध-मान-माया-लोभ), अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क, प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क, २० मिथ्यात्व। यह २० प्रकृतियाँ सर्वघाती हैं) यह दो भेद हैं। सिद्धातानुसार विपाकोदयवृत्ति प्रकृतियों का क्षयोपशम यदि होता है तो देशघातिनी का ही, सर्वघातिनी का नही।

क्षायिक सम्यक्त्व :- अनन्तानुबंधी कषायचतुष्क और दर्शनमोहनीयत्रिक इन सात प्रकृतियों के क्षय से आत्मा में जो तत्त्वरुचि रूप परिणाम प्रगट होता है, वह क्षायिक सम्यक्त्व है।[८५] क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव कभी मिथ्यात्व को प्राप्त नही करता है तथा मिथ्यात्वजन्य अतिशयों को देखकर विस्मित या शकित नही होता है। आयुबध करने के बाद क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त करने वाले जीव तो तीन-चार भव में मोक्ष जाते हैं और अवद्धायुष्क (अगले भव की आयु बध से पहले क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करने वाले) वर्तमान भव में मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं। क्षायिक सम्यक्त्व आने पर कभी जाता नही। अत. यह सादि अनन्त है।[८६]

उपशम सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व में कोई अंतर नही है। क्योंकि प्रतिपक्षी कर्मों का उदय दोनों में नही है फिर भी विशेषता यह है कि क्षायिक सम्यक्त्व में प्रतिपक्षी कर्मों का सर्वथा अभाव हो जाता है। उपशम सम्यक्त्व में प्रतिपक्षी कर्मों की सत्ता रहती है।

सासादन :- औपशमिक सम्यक्त्व का त्याग कर मिथ्यात्व के अभिमुख होने के समय जीव का जो परिणाम होता है उसे सासादन सम्यक्त्व कहते हैं। इसकी स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह आवलिका प्रमाण है। इसके समय में अनन्तानुबधी कषायों का उदय होने से जीव के परिणाम निर्मल नही होते हैं, जिससे सम्यक्त्व की विराधना होती है।

आन्तरिक कारण मुख्यत· सासादन को छोड़कर उपरोक्त तीन ही हैं।

सम्यग्दर्शन का लक्षण

जीवादि पदार्थों में परमार्थ से, न कि दूसरों के आग्रह से, सत्यता की जो प्रतीति होती है, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। अथवा देव गुरु आदि विषय में तीन मूढ़ताएँ, आठ मद, आठ मल तथा छह अनायतन - इन पच्चीस दोषों से रहित तत्त्वार्थ श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं।[८७] वास्तव में सम्यग्दर्शन एक प्रकार का अनुभव या सवेदन है जिसे केवलज्ञानी ही प्रत्यक्ष कर सकते हैं। फिर भी सराग सम्यक्त्व और वीतराग सम्यक्त्व के लक्षणानुसार हम उनके स्वरूप को जान सकते हैं। शम, सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य अथवा प्रशम, सवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य आदि की अभिव्यक्ति करनेवाला सरागसम्यग्दर्शन और आत्मा की विशुद्धि मात्र वीतराग सम्यग्दर्शन है।[८८] पदार्थों के निम्चय करने की रुचि से मतलब है कि उपादेय से पदार्थों को यथार्थ देखकर जानकर असत्यदार्थों का त्याग करना और सत्पदार्थों का ग्रहण करना ही (जानना ही) सम्यग्दर्शन है।[८९] उस सम्यग्दर्शन के दो हेतु हैं-[९०] १) निसर्ग और २) अधिगम। निसर्ग स्वभाव को कहते हैं। शुभ परिणामों के द्वारा मिथ्यात्व ग्रन्थि का भेदन करके अनिवृत्ति-करण नामक परिणामों को प्राप्त करता है। तब उसके स्वभाव से ही तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप

उत्पन्न होता है। प्रतिमा के दर्शन अथवा साधुओं के दर्शन से पूर्वोक्त रीति से जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है वह निसर्ग सम्यग्दर्शन है और ग्रन्थि भेदन एव गुरुपदेश के सुनने से उत्पन्न होने वाला सम्यक्त्व अधिगम सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन के भेद

आगम एव अन्य ग्रन्थों में सम्यग्दर्शन के स्वरूप, उत्पत्ति, पात्र की अपेक्षा, श्रेणि, रुचि एव विशुद्धि की दृष्टि से विभिन्न भेद किये गये हैं।[११] जैसे कि बाह्य-आभ्यतर, व्यवहार-निश्चय, साध्य-साधना, निसर्गज-अभिगमज, द्रव्य-भाव, पौद्गलिक-अपौद्गलिक , सराग-वीतराग सम्यक्त्व, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, सासादान सम्यक्त्व, कारक सम्यक्त्व, रोचक सम्यक्त्व, दीपक सम्यक्त्व, निसर्गरुचि, उपदेशरुचि, आज्ञारुचि, सूत्ररुचि, बीज रुचि, अभिगम रुचि, विस्तार रुचि, क्रिया रुचि, सक्षेप रुचि, धर्म रुचि, दिगम्बरपरम्परानुसार - आज्ञा सम्यक्त्व, मार्ग सम्यक्त्व, उपदेश सम्यक्त्व, सूत्र सम्यक्त्व, बीज सम्यक्त्व, सक्षेप सम्यक्त्व, विस्तार सम्यक्त्व, अर्थ सम्यक्त्व, अगाढ-सम्यक्त्व एव अवगाढ या परमावगाढ-सम्यक्त्व, तथा विशुद्ध सम्यक्त्व के ६७ भेद - चार प्रकार की श्रद्धा (परमार्थ सस्तव, परमार्थ-दर्शन, कुदर्शज का परिहार और सम्यक्त्व श्रद्धा), तीन प्रकार के लिंग (शुश्रूषा, धर्मराग एव वैयावृत्य - पचाचार पालक गुरु सेवा), दस प्रकार का विनय (अरिहन्त, सिद्ध, चेइय,(चैत्य, ज्ञान), श्रुत, धर्म, साधुवर्ग, आचार्य, उपाध्याय, प्रवचन, गण, सघ आदि), तीन प्रकार की शुद्धि (मन-वचन-कायशुद्धि), पाँच प्रकार के दूषण का त्याग (शका, काक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टि प्रशसा, मिथ्यादृष्टि सस्तव), आठ प्रकार की सम्यक्त्व प्रभावना (प्रावचनी, धर्मकथी, वादी, नैमित्तिक, तपस्वी, विद्यासपन्न (विद्यावान्), सिद्ध व कवि), पाँच प्रकार के सम्यक्त्व भूषण (जिनशासनकुशलता, प्रभावना, तीर्थसेवणा, स्थिरता और भक्ति), पाँच लक्षण (शम, सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा व आस्तिक्य), छह प्रकार की यतना (देव-गुरु धर्म को वन्दन, नमस्कार, दान, अनुप्रदान, आलाप तथा सलाप करते हुए विवेक-यतना रखना), छह प्रकार के आगार (राजाभियोग, गणाभियोग, बलाभियोग, देवाभियोग, गुरुनिग्रह एव वृत्तिकान्तार), छह प्रकार की भावना (मूल, द्वार, नीव, अधार, एव पात्र), छह प्रकार के स्थानक (आत्मा है, वह नित्य है, वह स्वकर्म का कर्ता है, वह कृतकर्मो का भोक्ता है, वह मोक्षगामी है, एव मुक्ति का उपाय है), इस प्रकार विशुद्धि सम्यक्त्व के ४+३+१०+३+५+८+५+५+६+६+६+६=६७ भेद हैं।

सम्यग्दर्शन में ध्यान

आध्यात्मिक साधना में दर्शन विशुद्धि अत्यावश्यक है। दर्शन विशुद्धि के विना ज्ञान, चारित्र, तप, जपादि की समस्त साधनायें निरर्थक हैं। क्योंकि दर्शन शुद्धि के अभाव

में ज्ञान मिथ्याज्ञान, चारित्र कुचारित्र एवं ध्यान कुध्यान में परिणत हो जाता है। जिसके फलस्वरूप अनन्त ससार बढ़ता है। सम्यग्दर्शन से विकारों का शोधन होता है। चतुर्विंशतिस्तव का ध्यान करना ही दर्शन विशुद्धि है। सम्यग्दर्शन ध्यान के लिए मूल, द्वार, आधार एव दीपस्तम्भ के समान है। सम्यग्दृष्टि साधक ध्यान के बल से नारक, तिर्यंच गति, नपुसक-वेद, स्त्रीपर्याय, विकल अंगोपाग, अल्पायु एवं दरिद्रता को प्राप्त नही कर सकता। ध्यान में सम्यग्दर्शन सूदृढ़ नीव का कार्य करता है। जितनी सुदृढ़ नीव उतना महल मजबूत बनता है। सम्यग्दर्शन सम्पन्न जीव यदि मनुष्य भव में जन्म लेता है तो ज्ञानसम्पन्न, गुणसम्पन्न, चारित्रसम्पन्न दृढ़धर्मी, ओजस्वी, तेजस्वी, प्रतापी बनता है। सम्यग्दृष्टि जीव यदि स्वर्ग में उत्पन्न होता है, तो अणिमा-महिमा आदि अष्ट ऋद्धियों को प्राप्त करके सबका स्वामी बनता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन गुण से सम्पन्न ध्यानी साधक अजर अमर अविनाशी अव्याबाध अक्षय सुख को प्राप्त करता है।[१२]

२) सम्यग्ज्ञान का स्वरूप

ज्ञान आत्मा का निज गुण है तथा स्व पर प्रकाशक है। व्यवहारनय से आत्मा समस्त द्रव्यों को जानता है और निश्चयनय की दृष्टि से 'स्व'को ही जानता है। ज्ञान ही आत्मा है। ज्ञान के अभाव में जड़त्व की सज्ञा प्राप्त हो जाती है। लब्ध अपर्याप्त, सूक्ष्म निगोद तथा असंज्ञी जीवों में भी ज्ञान की अल्प मात्रा विद्यमान है ही। किन्तु उनका ज्ञान ज्ञानावरणादि कर्मों के गाढ़ आवरणों से आच्छादित होने के कारण, निजस्वरूप को नही जान पाते हैं। सवर्ण पाषाण एव बादलों के हटते ही सोना एव सूर्य का तेज निखर आता है। वैसे ही कर्मों के आवरण उपशम, क्षय, क्षयोपशम एव बाह्य कारण धर्म श्रवण, एकाग्रता, शुद्ध आहार, शुद्धि एव धर्म जागरण से मिथ्याज्ञान सम्यग्ज्ञान में परिणत हो जाता है। मिथ्याज्ञान के कारण ही अनादि काल से ससार परिभ्रमण हो रहा है। उससे मुक्ति पाने के लिए सम्यग्दर्शन से प्राप्त सम्यग्ज्ञान ही मुख्य साधन है। इन दोनों के बीच में कार्य-कारण का सबध है।

सम्यग्ज्ञान का लक्षण

जो ज्ञान सशय, विपर्यय और अनध्यवसाय भावों से रहित यथार्थ पदार्थ का ज्ञाता एवं स्व पर प्रकाशक है, वही सम्यग्ज्ञान है।[१३] यथार्थ ज्ञान ही बोधिज्ञान का जनक है। बोधिज्ञान से ही बधन कटते हैं। जिससे संसारवृद्धि और आध्यात्मिक पतन हो वह मिथ्याज्ञान है।

मतिज्ञान आदि का लक्षण :-

मतिज्ञान :- मन और इन्द्रिय की सहायता द्वारा होनेवाले पदार्थ के ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं।[१४] अधिकतर यह वर्तमान कालिक विषयों को जानता है।

श्रुतज्ञान :- जो ज्ञान श्रुतानुसारी है, जिसमें शद्व और अर्थ का सबध भासित होता है, जो मतिज्ञान के बाद होता है तथा शद्व व अर्थ की पर्यालोचना के अनुसरणपूर्वक इन्द्रिय व मन के निमित्त से होने वाला है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं।[९५] यह ज्ञान त्रैकालिक (अतीत, वर्तमान, भावी) विषयों में प्रवृत्त होता है।

अवधिज्ञान - मन और इन्द्रियों की अपेक्षा न रखते हुए साक्षात् आत्मा के द्वारा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को मर्यादापूर्वक पदार्थ ग्रहण करना अवधिज्ञान कहलाता है। अथवा रुपी पदार्थों को विषय करने वाले ज्ञान को अवधिज्ञान कहते हैं।[९६] अवधि, मर्यादा, सीमा ये सभी एकार्थवाची शद्व हैं।[९७]

मन.पर्यायज्ञान ·- सज्ञी जीवों के मनोगत भावों को (मन के पर्यायों को) जानने वाले ज्ञान को मन पर्यायज्ञान कहते हैं।[९८] इस ज्ञान के होने में इन्द्रिय और मन की सहायता की नही किन्तु आत्मा के विशिष्ट क्षयोपशम की अपेक्षा होती है।

केवलज्ञान :- ज्ञानावरण कर्म का नि.शेष रूप से क्षय हो जाने पर जिसके द्वारा भूत, वर्तमान और भावी त्रैकालिक सब वस्तुएँ (समस्त पर्यायों सहित) युगपत् (एक साथ) जानी जाती हैं उसे केवलज्ञान कहते हैं।[९९] यह ज्ञान परिपूर्ण अव्याघाती, असाधारण, अनन्त, स्वतत्र और अनन्तकाल तक रहने वाला होता है। केवलज्ञान की उत्पत्ति क्षयोपशमजन्य मति, श्रुत, अवधि, मन पर्याय छाद्मस्थिक ज्ञानों के क्षय होने पर होती है। प्रथम के चार ज्ञान क्षायोपशमिक और अतिम केवलज्ञान क्षायिक कहलाता है। इसलिए इस ज्ञान को केवल, एक, असहायी ज्ञान कहते हैं।[१००]

मति अज्ञान ·- मिथ्यादर्शन के उदय होने से होने वाले विपरीत मति उपयोग को मति अज्ञान कहते हैं।

श्रुत अज्ञान :- मिथ्यात्व के उदय से सहचरित श्रुतज्ञान को श्रुत -अज्ञान कहते हैं। चौर शास्त्र, हिंसाशास्त्र आदि हिंसादी पाप कर्मों के विधायक तथा असमीचीन तत्त्व के प्रतिपादक ग्रथ कुश्रुत और उनका ज्ञान श्रुत अज्ञान कहलाता है।

अवधि-अज्ञान :- इसको विभग ज्ञान भी कहते हैं। मिथ्यात्व के उदय से रूपी पदार्थों के विपरीत अवधिज्ञान को अवधि अज्ञान (विभग ज्ञान) कहते हैं। [१०१]

मति, श्रुत और अवधि इन तीन के मिथ्यारूप होने का कारण यह है कि जब मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का उदय होता है तब पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का बोध नही हो पाता है। तथा वस्तु स्वरूप का विपरीत या निरपेक्ष ज्ञान होता है और अवस्तु में वस्तु तथा वस्तु में अवस्तु रूप वुद्धि होती है।

सम्यग्दृष्टि के ज्ञान को ज्ञान कहते हैं। क्योंकि वह प्रत्येक वस्तु को अनेकान्त दृष्टि से देखता है और उसका ज्ञान-हेय-उपादेय की बुद्धि से युक्त होता है। लेकिन मिथ्या-दृष्टि का ज्ञान व्यवहार में समीचीन होने पर भी प्रत्येक वस्तु को एकात दृष्टि से जानने वाला होता है। उसके ज्ञान में हेय-उपादेय का विवेक नहीं होता है।

मन पर्याय और केवल यह दो ज्ञान सम्यक्त्व के सद्भाव में ही होते हैं। इसलिए यह दोनों अज्ञान रूप नहीं है।

मतिज्ञान आदि आठ प्रकार के ज्ञान साकार इसलिए कहलाते हैं कि ये वस्तु के प्रति नियत आकार को ग्रहण करने वाले हैं। यानी ज्ञेय पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक उभय रूप हैं। उनमें ज्ञान के द्वारा विशेष रूप (विशेष आकार) जाना जाता है।

मतिज्ञान आदि का क्रम :- प्रथम के दो ज्ञान मति और श्रुत समस्त ससारी जीवों को होते हैं। अविकास की चरमसीमा में विद्यमान सूक्ष्म निगोद आदि एकेन्द्रिय जीवों में भी इन दोनों की सत्ता विद्यमान है। इसलिए इन दोनों को प्रथम रखा है। इन दोनों में भी प्रथम मति और बाद में श्रुतज्ञान है। अवग्रहादि मतिज्ञान के बिना श्रुतज्ञान की प्रवृत्ति नही हो सकती। श्रुतज्ञान इन्द्रिय अनिन्द्रिय रूप होने के कारण मतिज्ञान का विशिष्ट भेद है। इसलिए मतिज्ञान के बाद श्रुतज्ञान का क्रम आया। इन दोनों ज्ञानों में, स्वामी-काल-कारण एव परोक्ष इन सबकी समानता है।[१०२] काल-विपर्यय-स्वामी-लाभ इन चारों[१०३] की समानता होने के कारण इन दो ज्ञान के बाद अवधिज्ञान का क्रम रखा। छद्मस्थ-विषय-भाव इन तीनों की[१०४] साम्यता के कारण अवधिज्ञान के बाद मन पर्याय ज्ञान का क्रम आया। मन पर्याय के बाद केवलज्ञान रखने का कारण यही है कि मन पर्ययज्ञान अप्रमत्त संयमी को ही होता है और केवलज्ञान भी उन्हीं को ही होता है।[१०५]

ज्ञान के भेद

सामान्यत. स्व पर प्रकाशक की दृष्टि से ज्ञान एक ही प्रकार का है। ज्ञान का कार्य पदार्थों को जानना है। क्षयोपशम की तरतमता से ज्ञान कभी एक प्रकार के पदार्थों को तो कभी अनेक प्रकार के पदार्थों को जानता है। कभी पदार्थ का शीघ्र ज्ञान करता है तो कभी विलम्ब से। कभी पदार्थ को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से देखता है। क्षयोपशम की तारतम्यता के कारण ही ज्ञान के पाँच भेद किए गये हैं - मति, श्रुत, अवधि, मन.पर्यय व केवलज्ञान। इन्ही पांच को संक्षेप में दो प्रकार का कहा है - प्रत्यक्ष और परोक्ष। पाँच ज्ञानों में से आदि के ज्ञान-मतिज्ञान और श्रुत निश्चयनय की अपेक्षा परोक्ष हैं। किन्तु व्यवहारनय की अपेक्षा प्रत्यक्षज्ञान भी कहे जाते हैं। इसलिए इन दोनो ज्ञानों को व्यावहारिक प्रत्यक्ष और शेष रहे अवधिज्ञान आदि तीनों ज्ञानों को पारमार्थिक प्रत्यक्ष भी कहते हैं।[१०६] मतिज्ञान को अभिनिबोधक ज्ञान भी कहते हैं।

केवलज्ञान का अन्य कोई अवान्तर भेद नही होता है। किन्तु मतिज्ञानादि शेष रहे चारों ज्ञानों के क्षायोपशमिक होने से अवान्तर भेद होते हैं।

मतिज्ञान के चार भेद हैं और क्रमश अट्ठाईस, तीन सौ छत्तीस अथवा तीनसौ चालीस भेद होते हैं, जैसे कि[१०७] अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये मतिज्ञान के चार भेद हैं। इनमें से ईहा, अवाय और धारणा के प्रभेद नही होते हैं। किन्तु अवग्रह के दो भेद हैं - व्यजनावग्रह और अर्थावग्रह। व्यजनावग्रह मन और चक्षुरिन्द्रिय के सिवाय शेष स्पर्शनेन्द्रिय आदि चार इन्द्रियों से होता है। मन और चक्षुरिन्द्रिय ये दोनों प्राप्यकारी नही हैं, अपितु अप्राप्यकारी हैं। इसी कारण व्यजनावग्रह के १) स्पर्शनेन्द्रिय-व्यजनावग्रह, २) रसनेन्द्रिय-व्यजनावग्रह, ३) घ्राणेन्द्रिय-व्यजनावग्रह और ४) श्रोत्रेन्द्रिय-व्यजनावग्रह - ये चार भेद होते हैं। व्यजनावग्रह का जघन्य काल आवलिका के असख्यातवें भाग प्रमाण होता है और उत्कृष्ट श्वासोछ्वास-पृथक्त्व, अर्थात् दो श्वासोछ्वास से लेकर नौ श्वासोछ्वास जितना है। अर्थावग्रह आदि चारों मतिज्ञान रूप होने के कारण पाँच इन्द्रियों और मन के द्वारा पदार्थ का ज्ञान करते हैं। इसलिए उनका पाँच इन्द्रियों और मन के साथ गुणा करने से छह-छह भेद हो जाते हैं। इन चारों के (अर्थावग्रह, ईहा, अवाय, धारणा) छह-छह भेदों को मिलाने से कुल २४ भेद होते हैं तथा इन भेदों में व्यजनावग्रह के चार भेदों को और मिलाने से मतिज्ञान के कुल २८ हो जाते हैं। वे क्षयोपशम और विषय की विविधता से बारह-बारह (बहु, अल्प, बहुविध, एकविध, क्षिप्र, अक्षिप्र (चर), अनिश्रित, निश्रित, असदिग्ध, सदिग्ध, ध्रुव, अध्रुव) प्रकार के होते हैं। उपरोक्त २८ भेदों को बहु आदि बारह भेदों से गुणा करने पर मतिज्ञान के ३३६ भेद हो जाते हैं। इन ३३६ भेदों में अश्रुतनिश्रित मतिज्ञान के औत्पात्तिकी बुद्धि, वैनयिकी बुद्धि, कर्मजाबुद्धि और पारिणामिकी बुद्धि - इन चार भेदों को मिलाने से मतिज्ञान के कुल ३४० भेद होते हैं। इसकी कालमर्यादा अन्तर्मुहूर्त की है।

मतिज्ञान के अनन्तर क्रमप्राप्त श्रुतज्ञान के दो भेद हैं - अक्षरात्मक और अन-क्षरात्मक। श्रोत्रेन्द्रिय के सिवाय शेष चार इन्द्रियजन्य मतिज्ञानपूर्वक जो ज्ञान होता है, उसे अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहते हैं। श्रोत्रेन्द्रिय जन्य मतिज्ञानपूर्वक जो ज्ञान होता है, - उसे अक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहते हैं। क्षयोपशम की अपेक्षा उनके चौदह और बीस भेद हैं -

श्रुतज्ञान के चौदह भेद :- अक्षर श्रुत, अनक्षर श्रुत, सज्ञीश्रुत, असज्ञीश्रुत, सम्यक् श्रुत, मिथ्या श्रुत, सादि श्रुत, अनादि श्रुत, सपर्यवसित श्रुत, अपर्यवसित श्रुत, गमिक श्रुत, अगमिक श्रुत, अगप्रविष्ट श्रुत, अगबाह्य श्रुत।

श्रुतज्ञान के बीस भेद :- पर्यायश्रुत, पर्यायसमासश्रुत, अक्षरश्रुत, अक्षरसमास-श्रुत, पदश्रुत, पदसमासश्रुत, सघातश्रुत, सघातसमासश्रुत, प्रतिपत्तिश्रुत, प्रतिपत्तिसमास

श्रुत, अनुयोग श्रुत, अनुयोग समास श्रुत, प्राभृत-प्राभृत श्रुत, प्राभृत-प्राभृतसमास श्रुत,प्राभृत श्रुत, प्राभृत समास श्रुत, वस्तु श्रुत, वस्तुसमास श्रुत,पूर्व श्रुत, पूर्व समास श्रुत।

ग्रन्थ की अपेक्षा श्रुतज्ञान के दो भेद हैं - अगप्रविष्ट और अगबाह्य। अगबाह्य के चौदह भेद हैं -सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कप्प, व्यवहार, कप्पियाकप्पिय, महाकप्प, पुडरीक, महा-पुंडरीक और निषिद्धिका। और भी इसके अनेक प्रकार हैं। अगप्रविष्ट श्रुतज्ञान के बारह भेद हैं- आचार (आयार), सूयगड़ (सूत्रकृत), ठाण, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, भगवती, नायाधम्मकहा, उपासकदशाग, अन्तकृत्‌दशा, अनुत्तरोपपातिक, प्रश्नव्याकरण, विवागसूत्र और दृष्टिवाद। वर्तमान में अंतिम अंग विद्यमान नही है। इस प्रकार श्रुतज्ञान के अनेक दृष्टि से भेद किए गये है।[१०८]

अवधिज्ञान के दो भेद हैं - भवप्रत्यय तथा गुणप्रत्यय। दोनों ही अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम होने पर होते हैं। भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव और नारक जीवों को होता है। गुण प्रत्यय मनुष्य और तिर्यंच जीवों को होता है। गुणप्रत्यय अवधिज्ञान में वृद्धि - ऱ्हासजन्य तरतमता होने से अल्पाधिकता होती है। इसके निम्नलिखित छह भेद हैं- अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, प्रतिपाती और अप्रतिपाती। कही-कही प्रतिपाती और अप्रतिपाती के स्थान पर अनवस्थित और अवस्थित नाम मिलते हैं। विषयादि की दृष्टि से अवधिज्ञान के तीन भेद मिलते हैं - देशावधि, परमावधि, और सर्वावधि।[१०९]

मन पर्ययज्ञान के दो भेद हैं - ऋजुमति और विपुलमति। इन दोनों के ऋजुमनोगत, ऋजुवचनगत, ऋजुकायगत तथा विपुलमनोगत, विपुलवचनगत और विपुलकायगत ऐसे तीन -तीन भेद हैं। ऋजुमति ज्ञान प्रतिपाती (नष्ट होना) है और विपुलमति ज्ञान अप्रतिपाती है। अप्रतिपाती विपुलमति ज्ञान के बाद अवश्य ही केवल ज्ञान होता ही है।[११०]

अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञान विकलप्रत्यक्ष हैं और केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष है।[१११] ज्ञान के आठ अग हैं।[११२] (व्यजनाचार, अर्थाचार, उभयाचार, कालाचार, विनयाचार, उपधानाचार, बहुमानाचार, अनिन्हवाचार) जिसके द्वारा सम्यग्ज्ञान उपलब्ध होता है।

ध्यान

मिथ्याज्ञान संसारवर्द्धक है और सम्यग्ज्ञान विकारों का विनाशक है। मिथ्याज्ञान का तिमिर अधकार ध्यान के द्वारा ही नष्ट होता है। ध्यानयोग की प्राप्ति सम्यग्ज्ञान के बाद

होती है। क्योंकि मिथ्याज्ञानांधकार को दूर करने में सूर्य चन्द्र का प्रकाश समर्थ नही है। एकमात्र सम्यग्ज्ञान ही तीक्ष्ण खड्ग और तीसरा नेत्र है। मोक्ष की प्राप्ति कर्मों के क्षय से होती है। कर्मों का क्षय सम्यग्ज्ञान से होता है और वह सम्यग्ज्ञान ध्यान से सिद्ध होता है। ध्यान से ही ज्ञान की एकाग्रता होती है। इसी कारण ध्यान में ही आत्मा का हित है।[११३]

सम्यक् चारित्र का स्वरूप

अध्यात्म साधना पद्धती में त्रिविध साधना को अधिक महत्त्व दिया गया है। तीनों का समन्वय रूप ही मोक्ष है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों भी मोक्ष के कारण हैं फिर भी चारित्र साक्षात् कारण है। मोक्ष का सर्व श्रेष्ठ अंग चारित्र है। चारित्र जैन साधना का प्राण है। जैन पारिभाषिक शद्वावलि में चारित्र शद्व का अर्थ आचरण किया है।पहले देखना फिर जानना तदनन्तर इन्द्रियों के विषय तथा कषायों पर विजय प्राप्त करना ही चारित्र है।

चारित्र का लक्षण

चारित्र का मूल समता है। समता के बिना सम्यक् आचरण नहीं हो सकता। ज्ञानियों का कथन है कि 'समस्त पापकारी (सावद्यक्रिया) क्रिया से निवृत्त होना (विरत होना), कषायों से विरत होना, निर्मलता, उदासीनता (परपदार्थों से विरक्त) एव आत्म भावों में लीन होना ही चारित्र है।[११४]

चारित्र के भेद

आगम ग्रंथों में चारित्र के पाँच एव सात प्रकार बताये हैं -[११५] १) सामायिक, २) छेदोपस्थापनीय, ३) परिहार-विशुद्धि, ४) सूक्ष्म-सपराय, ५) यथाख्यात, ६) देशविरति, ७) सर्वविरति।

१) सामायिक चारित्र

रागद्वेष के अभाव को समभाव कहते हैं और जिस संयम से समभाव की प्राप्ति हो वह सामायिक संयम कहलाता है। अथवा ज्ञान, दर्शन, चारित्र को सम कहते हैं और उनकी आय-लाभ-प्राप्ति होने को समाय तथा समाय के भाव को सामायिक कहते हैं।[११६] सामायिक को चौदह पूर्व का सार तथा समस्त द्वादशागी का रहस्य कहा है।[११७] प्राणी मात्र पर समभाव रखना, पाँचों इन्द्रियों पर सयम रखना, हृदय में शुभ भावना, आर्त-रौद्र ध्यान का त्याग एवं धर्म-शुक्ल ध्यान का सतत चिंतन करना ही सामायिक है।[११८] तृण, सोना, मिट्टी, शत्रु, मित्र आदि में रागद्वेषरहित समभाव की साधना में निरतर रत रहना - आत्मा की स्वभाव परिणति ही सामायिक है।[११९] सामायिक के छह प्रकार हैं -[१२०] नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। इन सब में भाव सामायिक को ही अधिक महत्त्व दिया गया है। स्व स्वरूप में रमण करना ही भाव सामायिक है।[१२१]

सामायिक के दो भेद हैं - इत्वर और यावत्कथित। इत्वर सामायिक अभ्यासार्थी शिष्यों को स्थिरता प्राप्त करने के लिए पहले पहल दिया जाता है और जिसकी काल-मर्यादा उपस्थापन पर्यन्त बड़ी दीक्षा लेने तक-मानी जाती है। यह संयम भरत और ऐरावत क्षेत्र में प्रथम और अंतिम तीर्थंकर के शासन के समय ग्रहण किया जाता है। इसके धारण करनेवालों को प्रतिक्रमण सहित अहिंसा, सत्य आदि पाँच महाव्रत अगीकार करने पड़ते हैं तथा इसके स्वामी स्थिरकल्पी होते हैं।

यावत्कथित सामायिक संयम ग्रहण करने के समय से जीवनपर्यन्त पाला जाता है। यह संयम भरत तथा ऐरावत क्षेत्र में मध्यवर्ती दो से लेकर तेईस तीर्थंकर पर्यन्त - बाईस तीर्थंकरों के शासन में ग्रहण किया जाता हैं। इस सयम को धारण करनेवालों के महाव्रत चार और कल्प स्थितास्थित होता है।[१२२]

२) छेदोपस्थापनीय चारित्र

पूर्व सयम पर्याय को छेदकर फिर से उपस्थापन (व्रतारोपण) करना छेदोपस्थापनीय संयम कहलाता है।[१२३] इसके सातिचार और निरतिचार नामक दो भेद होते हैं। जो किसी कारण से मूलगुणों-महाव्रतों का भंग हो जाने पर फिर से ग्रहण किये जाते हैं, उसे सातिचार छेदोपस्थापनीय चारित्र कहते हैं और छेदोपस्थापनीय चारित्र-इत्वर सामायिक सयम वाले बड़ी दीक्षा के रूप में ग्रहण करते हैं, उसे निरतिचार कहते हैं। यह चारित्र (संयम) भरत, ऐरावत क्षेत्र में प्रथम और चरम तीर्थंकर के साधुओं को होता है। और एक तीर्थ के साधु जब दूसरे तीर्थ में सम्मिलित होते है तब ग्रहण करते हैं।

३) परिहारविशुद्ध चारित्र

इसका वर्णन आगे करेंगे।

४) सूक्ष्मसंपराय चारित्र

जिन क्रोधादि कषायों द्वारा ससार में परिभ्रमण होता है, उनको संपराय कहते हैं। जिस चारित्र में सपराय (कषाय) का उदय सूक्ष्म (अति स्वल्प) रहता है, वह सूक्ष्म सपराय चारित्र है।[१२४] इसमें लोभ कषाय का उदयमात्र होता है और यह सूक्ष्मसंपराय नामक दसवें गुणस्थान में होता है। सूक्ष्मसंपराय के दो भेद होते हैं-[१२५] संक्लिश्यमानक और विशुद्ध्यमानक। उपशम श्रेणि से गिरने वालों को दसवें गुणस्थान की प्राप्ति के समय होते वाला चारित्र 'सक्लिश्यमानक सूक्ष्मसंपराय चारित्र' है। क्योंकि पतन होने के कारण उस समय परिणाम सक्लेश प्रधान ही होते जाते हैं। लेकिन 'विशुद्ध्यमानक सूक्ष्मसंपराय चारित्र' उपशम श्रेणी या क्षपक श्रेणी का आरोहण करने वालों को दसवें गुणस्थान में होता है। क्योंकि श्रेणी आरोहण के समय परिणाम विशुद्धि प्रधान ही होते हैं।

५) यथाख्यात चारित्र

जिस चारित्र में कषाय का उदय लेशमात्र भी नहीं है। समस्त मोहनीय कर्म के उपशम से वीतराग चारित्र होता है, उसे यथाख्यात चारित्र कहते हैं।[१२६] इसके छाद्मस्थिक और अछाद्मस्थिक (केवली) यह दो भेद हैं।[१२७] यथाख्यात चारित्र के इन दोनों भेदों का कारण मोहनीय कर्म का उपशम या क्षय तथा चारों घाति कर्मों का क्षय होकर आत्मा के स्वरूप में अवस्थित होने रूप दशा की प्राप्ति होना है। छाद्मस्थिक यथाख्यात चारित्र ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान वालों को होता है। ग्यारहवें गुणस्थानों में तो मोहनीय कर्म (कषायों) का उपशम हो जाने से उदय नहीं रहता है। उसकी सत्ता मात्र रहती है। किन्तु बारहवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म का क्षय हो जाने से कषायों की सत्ता भी नहीं रहती है। ग्यारहवें गुणस्थान में यद्यपि मोहनीय कर्म नही है। किन्तु अन्य छद्मों (घाति कर्मों) के रहने से इन दोनों गुणस्थानवर्ती जीवों के चारित्र को छाद्मस्थिक यथाख्यात चारित्र कहते हैं।

अछाद्मस्थिक यथाख्यात चारित्र केवलियों को होता है। क्योंकि केवली को छद्मों (चार घातिकर्मों) का सर्वथा क्षय हो जाने से अछाद्मस्थिक दशा की प्राप्ति हो जाती है। केवली के दो भेद हैं - सयोगिकेवली और अयोगिकेवली। अत इस अछाद्मस्थिक यथाख्यात चारित्र के भी सयोगिकेवली यथाख्यात और अयोगिकेवली यथाख्यात यह दो भेद हो जाते हैं। सयोगिकेवली के चारित्र को सयोगि-केवली यथाख्यात और अयोगि-केवली के संयम को अयोगि केवली यथाख्यात कहते हैं।

६) देशविरति चारित्र (श्रावक धर्म)

कर्मबंधजनक आरभ-समारंभ से आंशिक निवृत्त होना, निरापराध त्रस जीवों की सकल्पपूर्वक हिंसा न करना देशविरति चारित्र कहलाता है।[१२८] इसका अधिकारी सम्यग्दृष्टि श्रावक (गृहस्थ) है, जो मूल गुण और उत्तरगुण में निष्ठा रखता है, अर्हन्तादि पच परमेष्टि (पच गुरुओं को) को ही अपना शरण मानता है, दानादि जिसके प्रधान कार्य हैं तथा सतत ज्ञानामृत का इच्छुक होता है। वही श्रावक कहलाता है।[१२९] पूर्वाचार्यों ने उन्हें तीन श्रेणियों में विभाजित किया है - जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। कालान्तर में इन्हें ही पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक इन तीन वर्गों में विभाजित कर दिया गया। जैन धर्म को स्वीकार करने वाला पाक्षिक श्रावक, १२ व्रतधारी नैष्ठिक श्रावक और ग्यारह पडिमा धारक समाधिपूर्वक मरण करने वाला साधक श्रावक कहलाता है।[१३०] पुन श्रावक धर्म को दो भागों में विभाजित कर दिया जाता है -[१३१] सामान्य और विशेष। सामान्य श्रावक धर्म में मार्गानुसारी के पैंतीस गुण-[१३२] १) न्यायार्जित वैभव, २) शिष्टाचार प्रशंसक, ३) समान कुल एवं शील गुण सम्पन्न अन्यगोत्रिय के साथ विवाह संबंध, ४) पाप भीरू,

५) प्रसिद्ध देशाचार-पालक, ६) अवर्णवादी न हो, (निन्दक न हो), ७)यथार्थ स्थान हो, ८) सत्संगति, ९) मातृ-पितृ भक्त, १०) उपद्रव स्थान त्यागी, ११) निन्दक कार्य त्यागी, १२) आयानुसार व्यय करने वाला, १३) वैभव के अनुसार वेषभूषा, १४) बुद्धि के आठ गुणों (शुश्रुषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, ऊह, अपोह, अर्थविज्ञान, तत्त्वज्ञान), का धनी, १५) प्रतिदिन धर्म-श्रवण-कर्ता, १६) अजीर्ण होने पर भोजन का त्यागी, १७) समयानुसार पथ्य भोजन कर्ता, १८) त्रिवर्गों (धर्म, अर्थ, काम) का परस्पर, अबाधक रूप से साधक, १९) शक्ति अनुसार अतिथि सेवा, २०) अभिनिवेश (मिथ्या -आग्रह) से दूर, २१) गुणों का पक्षपाती, २२) निषिद्ध देश-काल-चर्या का त्याग, २३) बलाबल-सम्यक् ज्ञाता, २४) व्रत नियम में स्थिर ज्ञानवृद्धों का पूजक, २५) आश्रितों का पोषक, २६) दीर्घदर्शी, २७) विशेषज्ञ, २८) कृतज्ञ, (दुसरे का उपकारक), २९) लोकप्रिय, ३०) लज्जावान, ३१) दयालु (दयावान), ३२) सौम्य स्वभावी, ३३) परोपकारी कर्मठ, ३४) षट् अतरग शत्रुओं (काम, क्रोध, लोभ, मान, मद, मत्सर) के त्याग में उद्यत और ३५) इन्द्रियों का विजेता, हैं। इन पैंतीस गुणों से सम्पन्न सामान्य श्रावक भी सद् गृहस्थ ही है। विशेष वर्ग के अन्तर्गत बारह व्रतधारी श्रावक का वर्णन है।

पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत (कहीं-कहीं शिक्षाव्रत के अन्तर्गत ही गुणव्रत का समावेश कर लिया गया है) ये बारह व्रत हैं।[१३३] इनमें पाँच अणुव्रत को मूलगुण और गुणव्रत-शिक्षाव्रत को उत्तरगुण माना गया है। दिगम्बर परम्परा में मूलगुण और उत्तरगुण तो ये ही माने है, परन्तु मूलगुण में अंतर हैं-[१३४] मद्य, मास, मधु और पाँच उदुम्बर फल (पीपल, उदुम्बर, पिलखन, बड, कदुमर) इन आठ को मूलगुण माना है। कही-कही पाँच अणुव्रत और तीन मकार को अष्टमूल माना गया है। इस प्रकार द्वादशव्रत - श्रावक धर्म सम्यक्त्वमूलक होता है।

द्वादशव्रतों का स्वरूप

सावद्य योगों से पूर्णतया निवृत्त होना अथवा पापरूप व्यापार-आरंभ-समारंभ से आत्मा को नियन्त्रित करना पच महाव्रतों का पालन करना चारित्र कहलाता है। मुनि तो सावद्य योगों से पूर्णतया निवृत्त और अहिंसादि पाँच महाव्रतों का पालन करने वाले होने से सब प्रकार की हिंसा आदि से मुक्त हैं। किंतु श्रावक मर्यादा सहित चारित्र (संयम) का पालन करने वाले, अहिंसा, अणुव्रत आदि श्रावक के बारह व्रतों के धारक होने से आंशिक त्यागी, देशविरति सयमी क॰ ते हैं।

पाँच अणुव्रत

स्थूल हिंसा-झूठ-चोरी-मैथुन और परिग्रह का त्याग अणुव्रत कहा जाता है। ये

पाँच अणुव्रत द्विविध (करूँ नहीं, कराऊँ नही-करण), त्रिविध (मन, वचन, काय-योग) रूप में पाला जाता है।[१३५] क्योंकि श्रावक को अनुमोदना का दोष लगता ही है। इसलिए वह दो करण और तीन योग से हिंसादि सबकी सावद्य क्रिया करता है। उन सावद्य क्रिया से बचने के लिए सर्वप्रथम जीवन में मूलगुण को स्वीकार करता है। मूलगुण (अणुव्रत) पाँच हैं -[१३६] १) स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत, २) स्थूल मृषावाद विरमण व्रत, ३) स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत, ४) स्वदार सतोष-परदार विवर्जन व्रत और ५) स्थूल परिग्रह-परिणाम व्रत (इच्छा परिमाण व्रत)। श्रावक स्थूल हिंसा का त्याग तो करता है, किन्तु पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय इन पाँच स्थावरों के सूक्ष्म जीवों की रक्षा नही कर सकता। इसलिए श्रावक की हिंसा दो प्रकार की मानी जाती है-[१३७] १) सकल्पी और २) आरभी। श्रावक सकल्पी हिंसा का त्याग कर सकता है। किन्तु आरभी हिंसा का नही। क्योंकि आरभ किये बिना जीवन में कोई भी कार्य श्रावक कर नही सकता। हिंसा अणुव्रत के ऊपर ही शेष चार अणुव्रत आधारित है। स्थूल झूठ का त्याग ही दूसरा अणुव्रत है। श्रावक कन्यासबधी, गो आदि पशु सबधी, भूमि संबधी, जमा, रकम, धरोहर आदि के हड़प जाने सबधी एवं झूठी साक्षी लेखनादि सबधी इन पाँच प्रकार के बड़े झूठ नही बोलते।[१३८] सत्य जीवन का अमृत है। आशिक सत्य का पालक ही चोरी की वस्तू का स्थूल रूप से त्याग करता है।[१३९] चौथे व्रत में दो प्रकार के व्रती माने जाते हैं - १) स्वदार सतोष और २) परदार निवृत्ति। स्वदारसतोषव्रती परस्त्रीसेवन और वेश्यागमन का स्थूल त्याग करता है। परंतु परदारनिवृत्ति-पालक, परस्त्रीसेवन का तो त्याग करता है, परतु वेश्यागमन का त्याग नहीं करता, क्योंकि वेश्या किसी की परिगृहीत स्त्री नही है। इस व्रत की आराधना एक करण और तीन योग से की जाती है।[१४०] पाँचवें अणुव्रत में स्थूल परिग्रह का त्याग किया जाता है। इस व्रत को इच्छा परिमाण व्रत भी कहा है। इच्छा का निरोध नौ प्रकार से बताया है - क्षेत्र (श्वेत), वस्तू, हिरण्य, सुवर्ण, द्विपद, चतुष्पद, धन, धान्य और कुप्य या गोप्य (ताबा, पीतलादि)। इसके अतिरिक्त मकानादि का परिमाण करना भी इच्छा परिमाण व्रत है। यह व्रत एक करण (करू नहीं) और तीन योग (मन, वचन, काय) से स्वीकार किया जाता है।[१४१]

तीन गुणव्रत

अणुव्रतों के पालन में उपकारक एव सहायक होने के कारण दिशा-परिमाण व्रत, उपभोग परिभोग परिमाण व्रत और अनर्थदण्ड- परिमाण-व्रत इन तीन को गुणव्रत कहते हैं।[१४२] दिशा-परिणाम व्रत में दिशा (पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर), विदिशा (ईशान्य, आग्नेय, नैऋत्य और वायव्य कोन), ऊपर एवं नीचे इन दशों दिशाओं की मर्यादा की जाती है। इन दिशाओं में गमनागमन करने की सीमा का निश्चित करना ही पहला गुणव्रत है।[१४३] यह उत्तरगुण होने के कारण इसे गुणव्रत की संज्ञा दी गयी है। इस व्रत का पालन

एक करण तीन योग अथवा दो करण और तीन योग से किया जाता है। जिस व्रत में अपनी शारीरिक और मानसिक शक्ति के अनुसार भोग्य (एक बार उपभोग करना) और उपभोग्य (परिभोग = बार -बार वस्तु का उपयोग करना) वस्तुओं की २६ संख्याओं के रूप में तथा १५ कर्मादान के रूप में सीमा निर्धारित करने को भोगोपभोग परिमाण व्रत नामक दूसरा गुणव्रत कहलाता है।[१४४] यह व्रत दो प्रकार का है -[१४५] भोग और कर्म। भोग में छब्बीस वस्तुओं की मर्यादा की जाती है और कर्म में १५ प्रकार के वस्तुओं की मर्यादा की जाती है। इस व्रत की आराधना दो करण और तीन योग से की जाती है। तीसरे गुणव्रत में आर्त, रौद्र ध्यान-अपध्यान करना, पापजनक कार्य का उपदेश या प्रेरणा देना, हिंसक साधन दूसरों को देना, प्रमाद करना इन चार की बिना प्रयोजन मन वचन काय से समस्त पापपूर्ण प्रवृत्तियों से निवृत्त होने को अनर्थदण्ड कहते हैं। शरीर आदि के लिए जो कुछ भी आरभजनक या सावद्य-प्रवृत्ति की जाती है, वह तो अर्थदण्ड है किन्तु अपने या पराये किसी का भी स्वार्थवश या अकारण ही आत्मा को दण्डित करना अनर्थदण्ड है। अनर्थ-दण्ड का त्याग करना ही तीसरा गुणव्रत है।[१४६] श्रावक चारों प्रकार के अनर्थदण्ड में आठ आगार (आत्म रक्षा हेतु, राजाज्ञा, जाति, परिवार के लिए, नाग, भूत, यक्ष, देव आदि) रखकर दो करण और तीन योग से जीवनभर के लिए अनर्थदण्डित वस्तुओं का त्याग करता है।

चार शिक्षा व्रत

शिक्षाव्रत में आन्तरिक अनुशासन की विधि स्पष्ट की जाती है। शिक्षाव्रत चार हैं - सामायिकव्रत, देशावकाशिकव्रत, पौषधोपवास और अतिथि- सविभाग व्रत। आर्त-रौद्र ध्यान एव सर्व पाप-व्यापारों का (सावद्य-व्यापार) त्याग करके एक मुहूर्त तक समभाव की साधना को महापुरुषों ने सामायिक व्रत कहा है।[१४७] इसमें सिर्फ निरवद्य व्यापार की क्रिया होती है। प्रथम दिग्व्रत नामक गुणव्रत में दशों दिशाओं के गमन की मर्यादा निश्चित की गई, उनमें भी पूरे दिन या प्रहर आदि के लिए विशेष रूप से क्षेत्र मर्यादा की कुछ सीमा निर्धारित करना ही देशावकाशिक व्रत कहलाता है।[१४८] देश का अर्थ स्थान है और अवकाश का अर्थ काल या समय है। श्रावक निश्चित काल के लिए देश या क्षेत्र की मर्यादा करता है। प्रतिदिन के चौदह नियमों का विधान भी इसी व्रत के अतर्गत आता है। अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्या इन चतुर्पर्व दिनों में सावद्य व्यापारों का त्याग करके आत्मा को पोषण देनेवाली प्रवृत्ति को अगीकार करके स्वाध्याय ध्यानादि में रमण करना ही पौषधोपवास व्रत हैं। इसमें चारों आहार (असण, पाण, खाइम, साइम) का त्याग किया जाता है।[१४९] अतिथी-सविभाग शिक्षाव्रत में वस्त्र, पात्र, मकान आदि कल्पनीय वस्तुएँ साधु-साध्वियों को दान में दी जाती हैं।[१५०] सुपात्रदान और अनुकम्पादान का जैनागम में विशेष महत्त्व है।

प्रत्येक व्रत के पाँच पाँच अतिचार कहे गये हैं। अतिचार का अर्थ है व्रत में आने वाले विकार। अत उन सबका त्याग करना अत्यावश्यक है। बारह व्रत के ६० अतिचार हैं-[१५१] इन सभी का उल्लेख करना समीचीन नही हैं।

बारह व्रत के समस्त अतिचारों का श्रावक त्याग करता है। श्रावक की ग्यारह पडिमा, षडावश्यक एवं सलेखना का वर्णन आगे करेंगे।

७) सर्व विरति चारित्र-श्रमण धर्म

श्रमण, समन और शमन इन तीन शब्दों का प्रयोग मुनि के लिए होता है।

श्रमण शब्द 'श्रम' धातु से बना है जिसका अर्थ है श्रम करना। समण शब्द का अर्थ है समभाव रखना तथा शमन का अर्थ है अपनी वृत्तियों को शात करना।[१५२] इन तीनों शब्दों का सार एक ही है कि समभाव की साधना करना। श्रमण शिरोमणी महावीर का कथन है कि 'ममता-रहित, निरहकार, नि सग, प्राणीमात्र पर समभाव रखने वाला, लाभ-हानि, सुख-दु ख, जन्म मरण, निन्दा-प्रशसा, मान-अपमान आदि में समभाव रखने वाला ही साधु है।' उन्हें भगवान ने धर्म देव कहा है।[१५३] अथवा 'जो साधक शरीरादि में आसक्ति नही रखता, किसी प्रकार की सासारिक कामना नही करता, किसी भी प्राणी की हिंसा नही करता, झूठ नही बोलता तथा मैथुन और परिग्रह के विकार से रहित, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, भय, मत्सर आदि कर्मादान एव आत्मा के पतन हेतुओं से निवृत्त, इन्द्रियविजेता, मोक्षमार्ग का योग्य साधक ही श्रमण कहलाता है।[१५४]

पाँच महाव्रत

श्रमण की साधना आशिक नहीं पूर्ण होती है। श्रावक अशत हिंसादि का त्याग करता है और श्रमण पूर्णत हिंसादि का त्याग करता है। इसलिए श्रमण के अहिंसादि व्रत महाव्रत कहलाते हें। जिन व्रतों की आराधना महान् है, जिसके अपनाने से आत्मा महान् बनती है उसे महाव्रत कहते हैं।[१५५] इस आराधना से साधक अनुत्तरविमानवासी देव, अरिहन्त और सिद्ध बन सकता है। इसीलिए इसे 'चारित्र धर्म' अथवा 'यतना' के नाम से सबोधित करते हैं।[१५६] इसके दो भेद हैं -[१५७] मूलगुण और उत्तरगुण। मूलगुण में पाँच महाव्रत और उत्तरगुण में पाँच समिति और तीन गुप्ति का विभाजन किया गया है। महाव्रत पाँच हैं -[१५८] अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

मूलगुण १) सर्व प्राणातिपात विरमण व्रत

श्रमण अहिंसा का सर्वश्रेष्ठ साधक है। वह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप अहिंसा का त्रिकरण त्रियोग से पालक है। हिंसा और अहिंसा की आधार भूमि भावना है। भावना पर ही जैन धर्म आधारित है। अत मन, वाणी और शरीर से काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा

मयादि दूषित मनोवृत्तियों के वशीभूत होकर किसी भी प्राणी को शारीरिक एव मानसिक पीड़ा पहुँचाना अथवा अनुमति देना हिंसा है। हिंसा के दो प्रकार हैं -[१५९] द्रव्यहिंसा और भावहिंसा। इन दोनों से बचना ही अहिंसा है।

प्रमादवश त्रस या स्थावर जीवों के प्राणों का हनन त्रिकरण (न स्वय करना, न दूसरों से करवाना और न ही हिंसा करने वाले को अनुमोदना देना), त्रियोग (मन, वचन, काय) से न करना ही प्रथम अहिंसा महाव्रत है।[१६०] अहिंसा को प्रश्न व्याकरण सूत्र में साठ नामों से घोषित किया है। इसे भगवती अहिंसा कहते हैं। यह शरणागतरक्षक, प्रतिष्ठा, निर्वाण, निवृत्ति, समाधि, शाति, कान्ति, दया, क्षमा, करुणा, सम्यक्त्वाराधिका, रिद्धि-सिद्धि समुद्धिप्रदायिका, केवलीस्थान, शिवसुखप्रदाता आदि साठ नामों से युक्त है।[१६१] इसलिए श्रमण ही सूक्ष्म, स्थूल, त्रस, स्थावर आदि छकायिक जीवों की रक्षा करता हुआ अष्टादश दोषों से रहित होकर प्रथम अहिंसा महाव्रत की साधना करता है। क्योंकि वही तप, जप, श्रुत, यम, ज्ञान, स्वाध्याय, ध्यान एवं दानादि तथा अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह की जननी है।[१६२]

२) सर्व मृषावाद विरमण व्रत

मृषावाद से सर्वथा निवृत्ति पाना ही सत्य है। सत्य ही अहिंसा का विराट् रूपान्तर है। सत्य ही साधना का प्राण है। सत्य का त्रिकरण और त्रियोग से पालन करना ही सत्य महाव्रत है।[१६३] सत्य को ही भगवान् कहा है। वही लोक में सार भूत है। महासमुद्र के समान गभीर, मेरू के समान स्थिर, चन्द्र के समान सौम्य और सूर्य के समान तेजस्वी-सत्य महाव्रत है।[१६४] इसलिए श्रमण द्वितीय महाव्रत की आराधना करते हुए हित, मित, पथ्य, तथ्य एवं सत्य भाषा का ही प्रयोग करता है।[१६५] कभी सावद्य वचन नही बोलता। मिथ्यावचन स्व पर अहितकर्ता है। अत सत्यव्रत की सर्वथा आराधना करना ही 'मृषावाद विरमण' नामक दूसरा महाव्रत है।

३) अदत्तादान विरमण व्रत

चोरी नरक का प्रवेशद्वार है। उससे बचने के लिए श्रमण त्रिकरण और त्रियोग से वस्त्र, पात्र, मकान एव अन्य वस्तुओं को मालिक की आज्ञा बिना स्वीकार नही करता, अपितु अचौर्य व्रत का सर्वथा पालन करता है, यही अदत्तादान महाव्रत है।[१६६] चोरी के चार प्रकार बताये हैं -[१६७] द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव चोरी। साधक सूक्ष्म, स्थूल, द्रव्य और भाव रूप से त्रिकरण त्रियोग से 'अदत्तादान विरमण व्रत' की प्रतिज्ञा करते हुए विचरण करता है।

४) सर्व मैथुन विरमण व्रत-ब्रह्मचर्य महाव्रत

देव, मनुष्य, तिर्यंच सबधी कामभोगों से निवृत्त होना, कामोत्तेजक साधनों से निवृत्त, वासनोत्तेजक दृश्यों से मुक्त साधक त्रिकरण और त्रियोग से मैथुन सेवन का त्याग करता है और वही ब्रह्मचर्य महाव्रत है।[१६८] ब्रह्मचारी साधक के चरणों में देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नर आदि दैवी शक्तियाँ भी नतमस्तक हो जाती हैं।[१६९] काम भोग तो किंपाक फल की तरह विनाशक है।[१७०] इसलिए ब्रह्मचारी साधक औदारिक सबधी काम भोगों का त्रिविध-त्रिविध (मन, वचन, काया एव कृत, कारित, अनुमोदन) ३×३=९ प्रकार से त्याग करता है ऐसे ही देवता सबंधी ३×३=९ कुल १८ प्रकार का त्याग करते हैं।[१७१]

५) परिग्रिहविरमण व्रत-अपरिग्रह महाव्रत

समस्त पापों का मूल परिग्रह है। परिग्रह के कारण ही हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापाचरण किये जाते हैं। आशा, तृष्णा, ममत्व, आसक्ति और परिग्रह ये सब एक ही पर्यायवाची शद्व हैं। यह बाह्य और आभ्यतर भेद से दो प्रकार का है।[१७२] बाह्य परिग्रह दस प्रकार का है - वास्तु (घर), क्षेत्र, धन, धान्य, द्विपद (मानव), चतुष्पद (पशु आदि), शयनासन, यान, कुप्य और भाड। इसके अतिरिक्त स्वजन, परिजन, परिवार, नौकरादि, आभूषणादि भी बाह्य परिग्रह ही हैं, और आभ्यन्तर परिग्रह चौदह प्रकार का है- मिथ्यात्व, वेदराग, हास्यादि (हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा) षष्ठक, कषायचतुष्क (क्रोध, मान, माया, लोभ)। द्रव्य और भाव से वस्तुओं का ममत्वमूलक सग्रह करना परिग्रह है। इन परिग्रह का त्रिकरण त्रियोग से सर्वथा त्याग करना ही अपरिग्रह महाव्रत है। समस्त मूर्च्छाभाव का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से त्याग करना ही परिग्रह विरमण व्रत है।[१७३]

पाँच महाव्रत की २५ भावना

भावना भवनाशिनी एव व्रतों की रक्षक है। भावना भी दो प्रकार की होती है।[१७४] - प्रशस्त (शुभ) और अप्रशस्त (अशुभ)। अप्रशस्त भावना के प्राणातिपात आदि १८ प्रकार हैं और प्रशस्त भावना के ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वैराग्य नामक चार प्रकार हैं। महाव्रतों की पचीस भावना इस प्रकार हैं -[१७५]

प्रथम महाव्रत की पाँच भावना :- ईर्यासमिति, मन समिति, वय (वचन) समिति, आयाण (आदान) भडपत्तनिक्षेपणा समिति, आलोइ-इय पाण भोयण समिति। कही- कही नामों में भिन्नता मिलती है -यथा मनोगुप्ति, एषणा समिति, आदान भाडनिक्षपण समिति, ईर्यासमिति, प्रेक्षित।

द्वितीय महाव्रत की पांच भावना : वाणी विवेक, क्रोध त्याग, लोभ त्याग, भय और हास्य त्याग।

तृतीय महाव्रत की पांच भावना : अवग्रह (स्थान) की मर्यादित याचना करना, गुरु आज्ञा से जल ग्रहण करना, क्षेत्र कालादि के अनुसार अवग्रह की याचना करना, बार-बार मर्यादित पदार्थों की याचना करना, साधर्मिक से परिमित वस्तुओं को लेना अथवा अवग्रह की याचना करना।

चौथे महाव्रत की पाच भावना : स्त्री कथा का त्याग, स्त्रियों के मनोहर अंगोपाग का त्याग, पूर्व काम भोगों के चिन्तन का त्याग, स्निग्ध भोजनादि का त्याग, विविक्त शयनासन (स्त्री, नपुसक, पशु के स्थानादि) का त्याग। कही-कही इन भावना क्रम में एवं नामकरण में भी भिन्नता दिखाई देती है।

पाचवें महाव्रत की पांच भावना : श्रोतेन्द्रिय - चक्षुरिन्द्रिय - घ्राणेन्द्रिय - रसेन्द्रिय - स्पर्शेन्द्रिय सयम। इन पाचों इन्द्रियों का सयम ही पाच भावना है।

रात्रि भोजन विरमण व्रत

रात्रि भोजन करने से छ जीवनिकाय जीवों का वध होता है। रात्रि में भोजन बनाने से छ जीवनिकाय जीव का वध होता है। भोजन में अगर चीटी खाई जाय तो वह बुद्धि का नाश करती है। जू खाने में आ जाय तो जलोदर रोग हो जाता है। मक्खी भोजन में गिर जाय तो वमन हो जाता है। कनखजुरा खाने से कुष्ट रोग हो जाता है। काटा या तिनका गले मे फस जाय तो पीड़ा उत्पन्न होती है। साग में बिच्छु गिर जाय तो वह तालु को फाड़ देता है, गले में बाल चिपक जाय तो आवाज खराब हो जाती है। रात्रि भोजन करने में तो ये प्रत्यक्ष दोष हैं। रात्रि में सूक्ष्म जीवों की फोज सी निकलती हैं। वे भौतिक साधनों के प्रकाश में नजर नही आते। सूर्य तेज में सूक्ष्म जीव भोजन में नही पडते। परम ज्ञानियों की दृष्टि से अहिंसा व्रत के भग होने की संभावना होने के कारण उसे स्वीकार नही किया है। रात्रि में आखों से दिखाई न देनेवाले सूक्ष्म जन्तु भोजन में अधिक होते हैं इसलिये चारों प्रकार से रात्रि भोजन का त्याग करना रात्रि भोजन विरमण व्रत है। [१७६]

उत्तरगुण चारित्र-पाँच समिति तीन गुप्ति

पाच समिति और तीन गुप्ति रत्नत्रय की संरक्षक और पोषक हैं। इन्हें "अष्ट प्रवचन माता" भी कहते हैं।[१७७] अष्ट प्रवचन माता साधक जीवन में आने वाले परीषह उपसर्गों में धैर्य बधाकर रक्षा करती हैं।

समिति-गुप्ति का अर्थ

समिति शब्द "सम्" और "इति" के मेल से बनता है। "सम्" = सम्यक्,

"इति" = गति या प्रवृत्ति को समिति कहते हैं। आगम में कहे अनुसार गमन करने की सम्यक् प्रवृत्ति समिति कहलाती है।[१७८]

गुप्ति शब्द "गोपृ" धातु से बना है जिसका अर्थ रक्षण है। आत्मा का सरक्षण या रक्षा जिन कारणों से होती है। उसे गुप्ति कहते हैं। सम्यक प्रकार से मन-वचन-काय का निग्रह करना ही गुप्ति है।[१७९]

दोनो में अन्तर

गुप्ति की आराधना करनेवाले को समिति का पालन करना ही चाहिये। क्योंकि समिति गुप्ति की सखी है। अत समिति गुप्ति के स्वभाव का अनुसरण करती है। अत समितियों में गुप्तियाँ पायी जाती हैं। किन्तु गुप्तियों में समितियाँ नहीं पायी जाती। गुप्तियाँ निवृत्तिप्रधान होती हैं और समितियाँ प्रवृत्तिप्रधान। इसलिए समितियों को गुप्तियों की सखी कहा है तथा गुप्तियों को मोक्षमार्ग की देवी बताया है।[१८०]

कर्मों के आने के द्वार को बन्द करने में लीन साधु के तीन गुप्तियाँ कही गई हैं और शारीरिक चेष्टा करनेवाले मुनि के पाँच समितियाँ बताई गई हैं। तीर्थंकरोंने इसे ही सम्यग् चारित्र कहा है।[१८१]

तीन गुप्ति का स्वरूप

लोकैषणा से रहित साधु के लिए सम्यग्दर्शनादि आत्मा को मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र से रक्षा हेतु पापयोगों का निग्रह करना चाहिये।[१८२] आगम में तीन प्रकार की गुप्ति हैं[१८३]- मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति।

मनोगुप्ति

आर्त-रौद्र ध्यान विषयक मन से सरभ, समारभ, आरभ, सबधी सकल्प-विकल्प से रहित, इहलोक परलोक हितकारी धर्म और शुक्लध्यान का चिंतन, मध्यस्थ भावना एव समभाव में स्थिरता तथा आत्मस्वरूप रमणता में रक्षा करनेवाले को ज्ञानियों ने मनोगुप्ति कहा है। मन से रागादि का न होना ही मनोगुप्ति है।[१८४]

वचन गुप्ति

वचन के सरभ-समारभ-आरभ-सबधी व्यापार को रोकना, विकथा न करना, झूठ न बोलना, निन्दा चुगली आदि का न करना, मौन रखना वचनगुप्ति है।

कायगुप्ति

शारीरिक क्रिया सबधी संरभ-समारंभ-आरंभ में प्रवृत्ति न करना, चलने, फिरने, उठने, बैठने आदि क्रिया में सयम रखना, अशुभ प्रवृत्तियों का त्याग करके यतनापूर्वक

सत्प्रवृत्ति करना एव मनुष्य, देव, तीर्यंचों द्वारा दिए गए उपसर्ग परीषहों में स्थिर रहना कायगुप्ति है।

तीनों गुप्ति के अतिचार

मनोगुप्ति के अतिचार[१८७] :- आत्मा की राग-द्वेष-मोहरूप परिणति शब्द-विपरीतता, अर्थ विपरीतता, ज्ञान विपरीतता तथा दुष्प्रणिधान-आर्त रौद्र ध्यान में मन न लगाना।

वचनगुप्ति के अतिचार[१८८] - कर्कशकारी, छेदकारी, भेदकारी, मर्मकारी, क्रोध-मान-माया-लोभकारी आदि सतापजनक भाषा बोलना, विकथाओं में आदर भाव, हुकारादि क्रिया, खेकारना, हाथ-पैर भौयें आदि से इशारा करना आदि।

कायगुप्ति के अतिचार[१८९] :- कायोत्सर्ग संबधी बत्तीस दोष, जीवजन्तु, काष्ठ, पाषाण आदि से निर्मित स्त्री प्रतिमाएँ, पर धन की प्रचुर मात्रा, हिंसक देश में अयत्नाचारपूर्वक निवास, अपध्यान सहित शरीर के व्यापार की निवृत्ति अचेष्टारूप कायगुप्ति के अतिचार हैं।

पाँच समितियों का स्वरूप

ईर्यासमिति :- युग-परिमाण भूमि को एकाग्र चित्त से देखते हुए, जीवों की रक्षा हेतु यत्नपूर्वक सूर्यालोक में गमनागमन करने की सत्प्रवृत्ति को ईर्यासमिति कहते हैं।[१९०] ईर्या का अर्थ गमन है। मार्गशुद्धि, उद्योतशुद्धि, उपयोगशुद्धि और आलम्बन इन चार शुद्धियों के साथ गमन करनेवाले मुनि की सम्यक् क्रिया को ईर्या समिति कहते हैं।[१९१] यत्नपूर्वक चलनेवाले मुनि के जीव विराधना होनेपर भी पाप बध नही होता। क्योंकि उनके मन में जीवों के प्रति करुणा भाव है। इससे विपरीत अयतना या अवद्यपूर्वक प्रवृत्ति करनेवाले साधक को जीवों की विराधना (मृत्यु) न होनेपर भी हिंसा का पाप लगता ही है।[१९२]

भाषा समिति :- आवश्यकता होनेपर भाषा के सोलह दोषों को त्याग कर यत्नपूर्वक भाषण में प्रवृत्ति करना तथा हित, मित, सत्य, तथ्यकारी वचन बोलना ही भाषा समिति कहलाती है।[१९३]

एषणा समिति :- गवैषणा (गोचरी) के बयालीस दोषों से रहित शुद्ध अन्नजल, वस्त्र, पात्र आदि उपधि का सम्यक् प्रकार से ग्रहण करना एषणा समिति है।[१९४] भिक्षा में लगनेवाले बयालीस दोषों को तीन भागोंमें विभाजित किया गया है।[१९५] १. उद्गम के १६ दोष - आधाकर्म, उद्देशिक, पुइकम्म, मीसजात,ठवणा, पाहुडिया, पाओयर (प्रादुष्करण), कीय, पामिच्च (प्रामित्य), परियट्टिअ (परिवर्तित), अभिहड, उब्भिन्न

(उद्भिन्न), मालोहड, अच्छिन्न (आच्छेद्य), आणिसिट्ठ (अनि सृत) और अज्झोयरय (अध्यवपूरक) ये उद्गम के १६ दोष श्रावक की और से लगते हैं।

२) १६ उत्पादन के दोष :- धात्री (धात्रीपिण्ड), दूती (दूतिपिण्ड), निमित्त, आजीव, वनीपक, चिकित्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ, पूर्व-पश्चात् सस्तव, विद्या, मत्र, चूर्ण, योग, मूलकर्म। ये उत्पादन के सोलह दोष साधु की ओर से लगते हैं।

३) एषणा के १० दोष :- शक्ति, भ्रक्षित, निक्षिप्त, पिहित, सवृत, दायक, उन्मिश्रित, अपरिणत, लिप्त छर्दित।

इस प्रकार १६ +१६+१० = ४२ दोष भिक्षा के हैं। इन दोषों से अदूषित, अशन, पान (पानी), रजोहरण, मुखवस्त्रिका, चोलपट्ट आदि स्थविरकल्पियों के चौदह प्रकार की औधिक उपधि (उपकरण) तथा जिनकल्पियों के बारह प्रकार की उपधि तथा साध्वियों की पच्चीस प्रकार की उपधि और औपग्रहिक संथारा (आसन) पाट, पाटला, बाजोट, चर्मदण्ड, दण्डासन आदि दोषों से अदूषित हों, उन्हें ग्रहण करना एषणा समिति है।

गवैषणा और ग्रासैषणा की दृष्टि से एषणा के दो प्रकार हैं। ग्रासैषणा (मडली में बैठकर ग्रास लेते समय लगने) के पाँच दोष हैं-[१९६] सयोजना, अप्रमाण, अंगार, धूम्र, कारणाभाव। इन पाँच दोषों को टालकर आहार करना चाहिये। श्रमण छह कारण से आहार ग्रहण करें। वे कारण इस प्रकार हैं। १) क्षुधानिवृत्ति, २) वैयावृत्य, ३) ईर्यार्थ, ४) सयमार्थ, ५) प्राण धारणार्थ (सयम जीवन रक्षा हेतु) और ६) धर्म चिन्तनार्थ।

इस प्रकार ''उद्गम, उत्पादन, एषणा, सयोजन, अप्रमाण, अगार, धूम्र और कारणाभाव आदि दोषों को टालकर पिण्ड (आहार) का शोधन, अन्वेषण, विश्लेषण करके आहारादि में प्रवृत्ति करने हेतु मुनियों के लिए एषणा समिति कही है।[१९८]

आदान-भाण्डपात्र निक्षेपणा समिति

आदान = वस्त्र, पात्र, पुस्तक आदि भाण्डमात्र उपकरणों को ग्रहण करना एव जीवरहित भूमि का प्रमार्जन करके भाण्ड मात्रादि को रखना ही आदान भाण्डमात्र निक्षेपणा समिति है। सम्यक् प्रकार से पहले देखी हुई जगह पर रजोहरण से प्रमार्जित करके यतना से वस्तु लें और रखें उसे आदानभाण्डमात्र -निक्षेपणा समिति कहते हैं।

उच्चार-पासवण-खेल-जल्ल-सिंघाण-परिठावणिया समिति (उत्सर्ग समिति)

ऊसर भूमि में मल, मूत्र, कफ, नाक का मैल, बाल, वमन एव भग्नपात्रादि त्याज्य वस्तु को जीवरहित एकात (स्थण्डिल भूमि में) में फैंकना, जीवादि की उत्पत्ति न हो

एतदर्थ उचित यत्न करना तथा त्रस स्थावर जन्तु से रहित अचित्त पृथ्वीतल धूल या रेत में यत्नपूर्वक उत्सर्ग (त्यागने को) करने को उच्चार-पासवण-खेल-जल्ल-सिंघाण-परिठावणिया समिति कहते हैं।[२००]

पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति यह श्रमणों की साधना पद्धति है। प्राचीन काल से आज तक यह पद्धति चल रही है। किन्तु देश काल के अनुसार इन साधना पद्धति में वर्तमान काल में कुछ अतर दिखाई देता है।

चारित्र के विभिन्न आयाम अथवा पोषक अग

सामान्यत आध्यात्मिक साधना के चार अग माने जाते हैं, परतु चतुर्थ अग 'तप' को चारित्र के अतर्गत ही मान लिया गया है। इसलिए मुख्यत त्रिविध साधना पद्धतियाँ ही हैं। अन्य पद्धतियाँ तो चारित्र के पोषक अग हैं। चारित्र के पोषक अग निम्न प्रकार के हैं - तप, उत्सर्ग-अपवाद मार्ग, समाचारी एवं षडावश्यक।

तप : भारतीय त्रिविध साधना पद्धति में तप को साधना का प्राण माना है। सुषुप्त शक्तियों को जागृत करने के लिए जीवन में तप आवश्यक है। क्योंकि आत्मदशा से परमात्मदशा तक पहुँचानेवाला सशक्त माध्यम तप ही है। इसलिए श्रमण सस्कृति में तप का विशेष विधान है। तप को ही ध्यान कहा है। तप से आत्मा की शुद्धि होती है। पर याद रखना है कि अविवेकमय तप की प्रधानता नही है। विवेकहीन तप से आत्मशोधन नही होता। भगवान महावीर ने इसे बाल तप की सज्ञा दी है। तामली तापस ६० हजार वर्ष तक तप करता रहा, पर उसका तप ज्ञानयुक्त नही था। आत्मदर्शन तथा आत्मशोधन की दृष्टि से वह तप नही कर रहा था। इसलिए उसे "बाल तपस्वी" कहते हैं।[२०१] बाल तप से शरीर को तपाया जाता है, कर्मो को नही। वास्तव में कर्मक्षयार्थ तप ही सच्चा तप है। जो आठ प्रकार के कर्मों को तपाता है, वही तप है। अथवा जिसके द्वारा शरीर के रस, रुधिर, मास, मेद, हड्डियों, मज्जा एव शुक्र आदि तपे जाते हैं, अशुभ कर्म जल जाते हैं वह तप है। आगम में ज्ञानपूर्वक तप को ही प्रधानता दी है- अज्ञान तप को नही।[२०२] सम्यग्ज्ञान के अभाव में किया गया तप आत्मशोधन का साधन नही बनता। औपपातिक सूत्र में नाना प्रकार के वानप्रस्थ तापसों का वर्णन है कि उन्होंने विविध प्रकार के तप किये, कडकडाती धूप में आतापना ली, वृक्ष-शाखा से औंधे लटके, छाती तक भूमि में गढे रहे, काइ एव अन्न कण खाकर रहे, नासाग्र तक जल में खड़े रहे, वायु भक्षण से जीते रहे आदि आदि।

तप का मुख्य ध्येय जीवन शोधन है। वह तप अहिंसा सयममय होना चाहिये। बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी, अन्तरात्मावस्था से परमात्मावस्था तक, तथा जन से शिव बनने के लिए ही साधक घोर तपस्या करता है। भगवान महावीर के चौदह हजार श्रमण वर्गों में

धन्ना अणगार को उग्र तपस्वियों में महादुष्करकारक तथा महा।नजराक। .क उत्कृष्ट तप . । बताया।[२०४] उस काल में आत्मलक्ष्यी साधक को उग्रतपस्वी, घोर तपस्वी और महातपस्वी कहते थे और आज भी कहते हैं।[२०५] प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव भगवान ने छद्मस्थावस्था में १००० वर्ष तक तप किया बीचके २२ तिर्थंकरोंने भी छद्मस्थावस्था में तप किया और अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर के जीव ने नन्दराजा के भव में एक लाख वर्ष तक तप किया, तथा महावीर के भव में दीक्षा लेने के बाद साढ़े बारह वर्ष की साधना काल में बारह वर्ष, तेरह पक्ष तक तप की उत्कृष्ट साधना करते रहे। इस दीर्घ अवधिकाल में उन्होंने सिर्फ तीन सौ उनपचास दिन तक ही अन्न ग्रहण किया।[२०६] महावीर के शिष्य संपदाओं ने भी विभिन्न प्रकार के उग्र तप किये[२०७], जैसे कि गुणरत्न संवत्सर तप, रयनावली तप, कनकावली तप, महासिंह निष्क्रीडित, लघुसिंह (खुड्डाग-सिंह) तप, बारह भिक्खु पडिमा को एक से लेकर बारह तक आगम कथनानुसार तप किया, सत्तसत्त भिक्खुपडिमा, अट्ठ-अट्ठ भिक्खुपडिमा, नवनवभिक्खुपडिमा, दस दस भिक्खुपडिमा, भद्दत्तरापडिमा, खुड्डया सव्वतोभद्दपडिमा, महालिया, सव्वतो भद्द पडिमा, मुक्तावली तप, एकावली तप, यवमध्य चन्द्रपडिमा, वज्र मध्य चन्द्र पडिमा, एकलविहार पडिमा, वस्त्र पडिमा, पात्र पडिमा, क्षुद्रिका प्रस्रवण पडिमा, महतीप्रस्रवण (मोय) पडिमा, अहोरात्रि पडिमा, एक रात्रि पडिमा एवं आयंबिल वर्धमान तप।

तप आध्यात्मिक साधना में आलंबन रूप है। जब मनोयोग के परमाणु, वचनयोग के परमाणु, काययोग के परमाणु तथा तैजस और कार्मण के अति सूक्ष्म परमाणु उत्तप्त होते हैं, तब तप के द्वारा उन्हें (अशुभ परमाणुओं) निर्मल बनाया जाता है। निर्मल परमाणुओं के स्कन्धों से ही साधना में स्थिरता आती है। विषय कषाय, रागद्वेषादि का शमन होता है। संवर निर्जरा की सिद्धि होती है। संवर निर्जरा का फल ही मोक्ष है। अतः तप आत्मशोधन का मुख्य साधन है।

तप के भेद प्रभेद

आगम एवं अन्य ग्रथों में तप के दो प्रकार बताये हैं - बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य तप के छह प्रकार हैं- १) अणशण, २) ऊणोदरी (ओमोयरिया), ३) भिक्षाचरी, ४) रस परित्याग, ५) कायक्लेश और, ६) पडिसंलीनता। वैसे ही आभ्यन्तर तप के भी छह प्रकार हैं - १) प्रायश्चित्त, २) विनय, ३) वैयावृत्य, ४) स्वाध्याय, ५) ध्यान और, ६) व्युत्सर्ग।[२०८]

बारह प्रकार के तप का स्वरूप

१) अनशन : इसके दो भेद हैं - इत्वरिक (निश्चित समय तक ही आहारादि का ग्रहण करना) और यावत्काथित (जीवनपर्यंत) इत्वरिक तप के अनेक भेद हैं - नवकारसी

से लेकर सभी प्रकार की तपावली इसके अन्तर्गत आ जाती है। इत्वरिक तप की उत्कृष्ट कायमर्यादा छह मास तक की मानी गई है। प्रथम, मध्यम व चरम तीर्थंकर के शासनकाल में तप की उत्कृष्ट कालमर्यादा क्रमश बारह मास, आठ मास और छह मास की रही है। इस अन्तर का मुख्य कारण उन-उन समय की स्थिति और शरीर की अनुकूलता है। शरीर बल, मनोबल (मन की दृढता), श्रद्धा, आरोग्य, क्षेत्र, कालादि का विचार करके इत्वरिक तप करें, ताकि मन में समाधि भाव रह सके। समाधिभाव ही तप है। यावत्कथित तप के यों तो तीन भेद हैं- इगितमरण, भक्त प्रत्याख्यान और पादोपगमन, किन्तु कही कही इगितमरण को भक्त प्रत्याख्यान तप के अतर्गत ही मान लिया है। इसलिए यावत्कथित तप के दो भेद मानते हैं। भक्त प्रत्याख्यान और पादोपगमन। इन्हें निर्हारिम, अनिर्हारिम, वाघाइम, निर्वाघाइम तथा सविचार अविचार ऐसे दो-दो भेदों में विभाजित किया गया है। यावत्कथित तप को सलेखना-सथारा अथवा समाधि मरण कहते हैं। [२०९] इसका वर्णन आगे करेंगे।

२) ऊणोदरी : आगम में इसके भिन्न-भिन्न नाम मिलते हैं, जैसे कि 'ऊनोदरी' 'अवमौदर्य' और 'अवमोदरिका'। इन सबका एक ही अर्थ है (ऊन + कम, उदरी-पेट, अवम=कम, ओदरिका या ओदर्य=पेट) भूख से कम खाना, परिमित आहार करना। इसे द्रव्य ऊनोदरी और भाव ऊणोदरी कहते हैं। कही-कही तो ऊणोदरी के पाँच भेद भी मिलते हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और पर्याय। द्रव्य ऊणोदरी दो प्रकार की है - उपकरण ऊनोदरी और भक्तपान ऊनोदरी। उपकरण ऊनोदरी में शीत, ताप, भूख, प्यास, दो वस्त्र, पात्र, कम्बलादि एव अन्न जल मर्यादित हों। भक्त ऊनोदरी में भोजन की मात्रा का वर्णन है। साधारण स्वस्थ मनुष्य का आहार बत्तीस कवल होता है। कवल शब्द के दो अर्थ हैं- १) मुर्गी के अडे के बराबर आहार का एक ग्रास (एक कवल) और २) जिसका जितना आहार हो उसके बत्तीस भाग करें, उसका बत्तीसवाँ भाग एक कवल हैं। सुखपूर्वक मुह में जितना ग्रास आ सके उतना एक कवल है। स्वस्थ मनुष्य का बत्तीस कवल का आहार, स्त्री का अठाइस कवल का आहार तथा नपुसक का चौबीस कवल का आहार सम्पूर्ण माना गया है। किन्तु इनमें चौथाई (आठ कवल) भाग आहार करनेवाला अल्पाहारी, नौ से बारह कवल भोजन करनेवाला अपार्द्ध, तेरह से सोलह कवल तक का आहार लेनेवाला दो भाग ऊनोदर, चौबीस कवल का भोगी पादोन ऊनोदर तथा इक्कीस कवल का ग्रहण करनेवाला किंचित ऊनोदर तप करनेवाला है। क्षेत्र ऊनोदरी में ग्राम, नगर आदि से भिक्षा चरण का विधान है। काल ऊनोदरी में चारों प्रहर में भिन्न-भिन्न अभिग्रह करके भिक्षार्थ का विधान है। भाव ऊनोदरी में दाता के भाव एव क्रोधादि भाव का विधान है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अभिग्रहों के साथ भिक्षा ग्रहण करने को पर्यवचर (पर्याय) ऊनोदरी कहते हैं।[२१०]

३) **भिक्षाचरी :** विविध प्रकार के अभिग्रह से आहार की गवेषणा करने को भिक्षाचरी कहते हैं। इसका दूसरा नाम "वृत्ति सक्षेप" भी है। श्रमण की भिक्षाचरी के लिए आगम में "गोचरी" "गोयरग्ग" "मधुकरीवृत्ति" एव "सक्षेपवृत्ति" इन शब्दों का प्रयोग मिलता है। हरिभद्र ने तीन प्रकार की भिक्षा बताई है- १) दीनवृत्ति, २) पौरुषघ्नी और ३) सर्वसम्पत्करी । मधुकरीवृत्ति ही आदर्शवृत्ति मानी गई है। क्योंकि श्रमण परपरा में श्रमण के लिए नवकोटिशुद्ध आहार (भिक्षु स्वय भोजनार्थ हिंसा करे नही, कराये नही, करनेवाले को अनुमोदन न दे, न स्वय अन्न पकाये, न पकवाये और न पकाने वाले का अनुमोदन करे, न स्वय मोल ले, न दूसरों को लिवाए तथा न लेनेवाले का अनुमोदन करे) और बयालीस दोषवर्जित भिक्षा ग्रहण करने का विधान है। एषणा, गवैषणा, ग्रहणैषणा, परिभोगैषणा इन सबमें एषणा (दोषरहित आहार) की शुद्धि का विवेक रखकर आहार ग्रहण करना ही भिक्षाचरी तप है।

४) **रसपरित्याग :** आगम में पाँच रसों का वर्णन आता है- मधुर, आम्ल (खट्टा), तित्त (तीखा), काषाय (कसैला) और लवण (नमकीन)। इन रसों के कारण आहार विकारोत्तेजक बनता है। रस प्रीति को उत्पन्न करनेवाला है, जिससे रसों में विकृति आ जाती है। विकृति आते ही भक्ष्याभक्ष्यविगय का सेवन किया जाता है। भक्ष्य-विगय- दूध, दही, घी, तेल, गुड़ और अवगाहिम (पकवान) तथा अभक्ष्यविगय-मद्य, मास, मधु और नवनीत हैं। पूर्व दो त्याज्य ही हैं। किन्तु अतिम दो विशेष स्थिति में ग्राह्य हैं। जिनके सेवन करने से विकार उत्पन्न होता है। विकार से कामासक्ति जागृत होती है, इन्द्रियाँ उत्तेजित होती हैं और साधक को पतन के रास्ते ले जाती हैं। इसलिए प्रणीत रस भोजन आत्मशोधक के लिए विषतुल्य है। इनका त्याग करना ही रसत्याग तप है। स्वादविजेता बनना ही रसत्याग है। स्वादविजेता के लिए आगम में नौ क्रम बताये हैं। १) निर्वितिक (विगय त्याग), २) प्रणीत आहार का त्याग (बलवर्धक भोजन का त्याग), ३) आयबिल (सब विगय त्याग), ४) आयामसित्थभोई (धान्यादि धोने पर उन में से कुछ अश लेना), ५) अरसाहार, ६) विरसाहार (स्वादरहित भोजन), ७) अताहार, ८) पंताहार (सबके खानेपर शेष रहा हुआ लेना) और ९) रुक्षाहार (लूखा सूखा आहार लेना)। इन्द्रियों के दर्प का निग्रह करने के लिए , निद्रा पर विजय पाने के लिए, स्वाध्यायादि में सिद्धि पाने के लिए गरिष्ट घृतादि भोजन का त्याग करना ही रसपरित्याग तप है।[२१२]

५) **कायक्लेश :** बाह्य तप के प्रथम चार भेद आहार से सबधित हैं और पाँचवा भेद शरीर से। कायक्लेश शब्द का अर्थ है शरीर को कष्ट देना। कष्ट दो प्रकार के हैं - प्राकृतिक (देव, मनुष्य, तिर्यंच आदि द्वारा प्राप्त) और २) आमन्त्रित (तप, जप, ध्यानादि द्वारा सत्ता में स्थित कर्मों की उदीरणा करके भोगना)। आगम में कष्ट के लिए परीषह-

उपसर्ग और कायक्लेश आदि शब्द प्रचलित हैं। कायक्लेश तप में दोनों प्रकार के कष्ट आते हैं। कायक्लेश तम के अनेक रूप हैं। आगम में कही सात या चौदह रूप में कायक्लेश तप का विवेचन किया है। इनमें साम्यता है, जैसे कि कार्योत्सर्ग करना, उत्कटुकासन, प्रतिमा धारण, वीरासन, निषद्या (स्वाध्यायार्थ पालथी माडकर बैठना), दडासन, लगडासन ये सात प्रकार हैं। कार्योत्सर्ग करना, एक स्थान पर खड़े रहे, उत्कटुकासन, प्रतिमा, वीरासन, सुखासन, सुप्तदडासन, स्थिर दडासन, सप्त लगडासन, आतापना, वस्त्रत्याग (दिगम्बरावस्था), खुजली न करे, थूक भी न थूके और विभूषा भी न करे ये चौदह प्रकार हैं। काय को कष्ट देना ही कायक्लेश तप है।[२१३]

६) प्रतिसंलीनता (पडिसंलीनता) : परभाव में लीन आत्मा को स्व स्वरूप का भान कराना ही प्रतिसलीनता तप है। शास्त्र में इसके लिए "सयम" और "गुप्ति" शब्द का प्रयोग मिलता है। कछुवे का उदाहरण देकर समझाया गया है कि साधक पाँच इन्द्रिय, चार कषाय, तीन योग और विविक्त शयनासनों का कछुवे की तरह गोपन करे। ये ही चार भेद प्रतिसलीनता के हैं।[२१४]

अब आभ्यन्तर तप के छह प्रकारों का विवेचन करते हैं-

१) प्रायश्चित्त : साधनाकालीन जीवन में लगे हुए दोषों से मुक्ति पाने के लिए प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। आगमिक भाषा में दोष सेवन को प्रतिसेवना कहते हैं। दस प्रकार की प्रतिसेवना १) दर्प, २) प्रमाद, ३) अनाभोग, ४) आतुर, ५) आपत्ति (द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव से), ६) शकित, ७) सहसाकार, ८) भय, ९) प्रदेष और १०) विमर्श, से साधक अपनी साधना को दूषित करता है। आगम में कथित निषिद्ध क्रियाओं के करने से ही व्रत दूषित हो जाते हैं, जिससे साधक आत्मोन्नति नही कर सकता। आत्मोन्नति के लिए दोषों की शुद्धि आवश्यक है। दस प्रकार के दोषों को आचार्यों ने दर्पिका, प्रतिसेवना (प्रमाद प्रतिसेवना) और कल्पिका प्रतिसेवना (अप्रमाद प्रतिसेवना) के अंतर्गत ही समाविष्ट कर लिया है। प्रमाद के कारण ही अनाभोग (अत्यत विस्मृति) और सहसाकार प्रतिसेवना का दोष लगता है। भाष्यकार ने दर्प का अर्थ प्रमाद किया है। दर्प से होनेवाली प्रतिसेवना दर्पिका प्रतिसेवना है। इससे मूलगुण और उत्तरगुण दोनों में दोष लगते हैं। दर्पिका प्रतिसेवना निष्कारण की जाने वाली प्रतिसेवना है। जब कि कल्पिका प्रतिसेवना किसी विशेष कारण के उपस्थित होने पर की जाती है। भाष्यकार की दृष्टि से आतुर प्रतिसेवना तीन प्रकार की है- क्षुधातुर, पिपासातुर, रोगातुर। इन सभी दोषों के लगने के कारण मन, वचन और काय ही हैं। इनके कारण ही पुण्य और पापास्रव का बध होता है। दोनों प्रकार के आस्रव व नाश सवर प्रक्रिया से ही हो सकता है। दोषों की शुद्धि चारित्र की निर्मलता पर आधारित है। चारित्र के बिना कर्मों का नाश नही और कर्मों

के नाश के बिना मोक्ष नही, मोक्ष की प्राप्ती व्रतों की शुद्धि से है। इसलिये असावधानी से लगने वाले दोषों का प्रमार्जन प्रायश्चित्त से ही सभव है। आभ्यन्तर शुद्धि के बिना बाह्य क्रियाकाड व्यर्थ है। इसीलिये आभ्यतर तप में प्रायश्चित्त का विधान है। प्राचश्चित्त आत्मशोधन एव आध्यात्मिक चिकित्सा है। राग, द्वेष, मोहादि भाव शुद्धात्मा के दूषण हैं। इन दूषणों को प्रायश्चित्त से ही दूर किया जा सकता है। व्रत, समिति, शील, सयम एव इन्द्रियनिग्रह का भाव ही प्रायश्चित्त है, जो जीवन में करणीय है। 'प्रायश्चित्त' शद्ब 'प्राय.' और 'चित्त' के योग से बना है। जिसका अर्थ है लोगों का चित्त (मन)। लोगों के मन में लगने वाले दोषों को दूर करने की प्रक्रिया ही प्रायश्चित्त है। अथवा पापजन्य सभी दोषों का परिहार करना ही प्रायश्चित्त है। प्रायश्चित्त का ज्ञाता पंच व्यवहारज्ञ (आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा, जित व्यवहार) होता है। बहुश्रुत ज्ञानी ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, करण, परिणाम, उत्साह, शरीरबल, प्रवज्याकाल, आगमानुसार कथित प्रायश्चित्त इन सब बातों को ध्यान में रखकर व्रतों से दूषित साधक को प्रायश्चित्त देता है।[२१५]

आगम ग्रथों में प्रायश्चित्त के दस भेद बताये हैं- १)[२१६] आलोचनार्ह, २) प्रति-क्रमणार्ह, ३) तदुभयार्ह, ४) विवेकार्ह, ५) व्युत्सर्गार्ह, ६) तपार्ह, ७) छेदार्ह, ८) मूलार्ह, ९) अनवस्याप्यार्ह और १०) पाराचिकार्ह। दिगम्बर परपरा में मूलार्ह के स्थान पर 'उपस्थापना' शद्ब मिलता है। शेष सब प्रायश्चित्त के भेद श्वेताम्बर परम्परानुसार ही हैं। सरल स्वभावी साधक माया से लगने वाले दोषों की आलोचना गुरु समक्ष अति धीमे स्वर में करता है, जिसे वह स्वय ही सुन सके। आलोचना स्व की निंदा है। आलोचना के दस दोषों को आकपइत्ता, अणुमाणइत्ता, जदिट्ठ, बायर (स्थूल), सूक्ष्म, छन्न (गुप्त), सद्दाडलग (शद्बाकुल),बहुजण, अव्यक्त और तद्सेवी, टालकर दस गुणों से सपन्न, (जाति सपन्न, कुल सपन्न, विनयसपन्न, ज्ञानसपन्न, दर्शन सपन्न, चारित्र सपन्न, शात, दात, अमायावी, पश्चात्तापी) व्यक्ति ही आलोचना कर सकता है। आलोचना प्रदाता भी दस गुणों से (आचारवान्, अवधारणावान्, व्यवहारवान्, अपव्रीडक (साहसी), प्रकुर्वक-विशुद्धि कर्ता, अपरिस्रावी- (आलोचक के दोष न कहने वाला), निर्यापक, अपायदर्शी, प्रियधर्मी, दृढ़धर्मी) सपन्न होता है। प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त में साधक आत्मनिरीक्षण-परीक्षण से पापों का (दोषों का) प्रक्षालन करता है। एकेन्द्रिय आदि जीवों की विराधना होने से तदुभय (आलोचना, प्रतिक्रमण) प्रायश्चित्त करते हैं। आधाकर्मी भोजन में लगने वाले दोषों का परिमार्जन विवेकार्ह से करते हैं। नदी, सरोवर, नाला आदि के पार करने से एव असावधानी से लगने वाले दोषों का व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग) प्रायश्चित्त से मुक्ति पाते हैं। तप प्रायश्चित्त में आगमोक्त कथनानुसार आयबिल आदि षण्मासिक तप का विधान है। छेद प्रायश्चित्त में दीक्षा पर्याय का दोषों की लघुता एव गुरुता के अनुसार 'मासिक', 'चतुर्मासिक', 'षण्मासिक' का छेद (काटना)

दिया जाता है। मूल प्रायश्चित्त में छद्मावस्था के कारण गुरुतर दोष लगने पर पुन दीक्षा दी जाती है। अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त में तप की कुछ कालमर्यादा होती है, वह पूर्ण न हो तब तक पुन दीक्षा नही देते। किन्तु तप पूर्ण होते ही दोषी साधु को पुन गृहस्थ का वेश पहनाकर, बाद में पुन दीक्षा देते हैं। अंतिम पारांचिक प्रायश्चित्त का विधान उसके लिये लागू होता है, जिसे गच्छ से बाहर किया हो, जिसने साध्वी या अन्य प्रतिष्ठित स्त्री का शील भग किया हो, सघ में फूट डाली हो या प्रयत्न किया हो। इसमें साधुवेश एव स्वक्षेत्र का त्याग करके जिनकल्पी साधक की तरह बारह वर्ष तक गच्छ छोड़कर तप कराया जाता है। दसवा प्रायश्चित्त सामर्थ्यवान् आचार्य ही कर सकते हैं। उपाध्याय के लिये नौ प्रायश्चित्त का विधान है और शेष सामान्य साधु के लिए आठ प्रायश्चित्तों का विधान है। चौदह पूर्वधारी और वज्रऋषभनाराचसहनन वाले दस प्रकार के प्रायश्चित्त करते हैं। इन दोनों का विच्छेद होने से वर्तमान काल में प्रथम आठ प्रकार के प्रायश्चित्त का ही विधान है। प्रायश्चित्त करने से प्रमादजनित दोषों का नाश, भावों की प्रसन्नता, जीवन की शुद्धि, शल्यरहित, मर्यादापालन, सयम में दृढ़ता एव सिद्धि-मोक्ष की प्राप्ति होती है।[२१७]

२) विनय : साधना का मूल विनय है। जैन धर्म साधना प्रधान होने से आध्यात्मिक साधना का स्रोत आभ्यन्तर तप ही है। आत्मसयम, अनुशासन और सद् व्यवहार विनय द्वारा ही विकसित होता है। आत्मसयम - सदाचारी जीवन के द्वारा ही आत्मनियंत्रण किया जाय वरना दूसरे लोगों के द्वारा वध-बन्धनादि में आना पड़ेगा। इसलिए आभ्यन्तर तप में विनय को रखा गया है। तप में तन और मन को तपाया जाता है। उसके लिये भगवती आदि सूत्रों में विनय के प्रमुख सात भेद और प्रभेदों का उल्लेख किया है - ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय, मन विनय, वचन विनय, काय विनय, और लोकोपचार विनय।[२१८]

३) वैयावृत्य (सेवा) · रोगी, वृद्ध, ग्लान आदि की नि स्वार्थ भाव से सेवा करने वाले को परम पद की प्राप्ति होती है तथा तीर्थंकर गोत्र की प्राप्ति भी। महामुनि नदिसेन ने अग्लान की सेवा करके परम पद पाया। ऋषभ देव भगवान् के दो पुत्रों ने सेवा के फलस्वरूप अपार रिद्धि सम्पदा प्राप्त की थी। भौतिक रिद्धि चक्रवर्ती की और आध्यात्मिक सम्पदा तीर्थंकर पद की वैयावृत्य तप द्वारा ही प्राप्त होती है। इसीलिए वैयावृत्य को आभ्यन्तर तप में रखा है। शास्त्र में सेवा के दस प्रकार बताये हैं - आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, रोगी, नवदीक्षित, कुल (शिष्य समुदाय), गण, सघ और साधर्मिक। इन सबकी सेवा करने से मोक्ष लक्ष्मी प्राप्त होती है।[२१९]

४) स्वाध्याय : स्वाध्याय से मन को शुद्ध किया जाता है और ध्यान से मन को स्थिर किया जाता है। 'स्व' का अध्ययन किये बिना ध्यान हो नही सकता। इसलिए

आभ्यन्तर तप क्रमाक में ध्यान के पहले स्वाध्याय को लिया है। आत्मा का चिंतन मनन और निदिध्यासन ही स्वाध्याय है। स्वाध्याय से चिरसचित कर्मों का क्षय किया जाता है और ज्ञानावरणीय कर्म का गाढा आवरण नष्ट किया जाता है। स्वाध्याय में प्रमाद को स्थान ही नही है। इसमें तो सतत मन को माजने की प्रक्रिया की जाती है। शास्त्र में स्वाध्याय के पाच प्रकार बताये हैं - वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा। इन पाच प्रक्रियाओं को सतत करने से मन शुद्ध बनता है और यही प्रक्रिया स्वाध्याय है।[२२०]

५) ध्यान : शोध प्रबध का शीर्षक ही ध्यानयोग है। इसलिए यहा ध्यान के विषय में विस्तृत वर्णन न करके आगे करेंगे। चित्त को किसी एक विषय पर स्थिर करना ही ध्यान है। आगम में ध्यान के चार भेद हैं - आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान। इनमें प्रथम के दो ध्यान वर्ज्य हैं और अतिम दो ध्यान के प्रकार उपादेय हैं।

६) व्युत्सर्ग : इसका दूसरा नाम कायोत्सर्ग है। विशिष्ट प्रकार के त्याग को व्युत्सर्ग कहते हैं। उठना, बैठना, सोना आदि कायिक क्रियाओं का त्याग करके शरीर को स्थिर करना ही कायोत्सर्ग तप है। कायोत्सर्ग का ही पर्यायवाची शब्द व्युत्सर्ग है। इसके दो भेद हैं- द्रव्य व्युत्सर्ग और भाव व्युत्सर्ग। द्रव्य व्युत्सर्ग के चार प्रकार हैं- गणव्युत्सर्ग, शरीर व्युत्सर्ग, उपधि व्युत्सर्ग और भक्तपान व्युत्सर्ग तथा भाव व्युत्सर्ग के तीन भेद हैं- कषाय व्युत्सर्ग, ससार व्युत्सर्ग और कर्म व्युत्सर्ग। इन सब प्रकारों में शरीर व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग) तप को ही आभ्यन्तर तप में प्रधानता दी है।[२२१]

वासनाओं को क्षीण करने के लिये शरीर, इन्द्रिय और मन को जिन उपायों से एकाग्र किया जाता है उन्हें तप कहते हैं। तप से आत्मा निर्मल बनती है। इसीलिए तप के बारह भेदों में 'ध्यान' को अधिक महत्त्व दिया गया है। ध्यान ही चित्तशुद्धि की विशिष्ट प्रक्रिया है और आराधना का प्रवेश द्वार है कायोत्सर्ग। इस पर आगे विचार करेंगे।

२) जैन सस्कृति की मूलभूत साधना उत्सर्ग-अपवाद मार्ग

साधना पद्धति में विधि-निषेध को परमावश्यक माना जाता है, क्योंकि उसके बिना साधना का कोई मूल्य नही। फिर भी गौण है। मुख्यत समाधिभाव, समभाव, कषायशमन, इन्द्रियदमन एव आत्मशुद्धि के द्वारा साधक विधि-निषेध अथवा उत्सर्ग-अपवाद मार्ग की साधना से रागादि भावों को नष्ट करके मोक्ष-सिद्धि को प्राप्त करता है। इसलिये साधना के क्षेत्र में प्रवेश पाने वाला साधक 'उत्सर्ग और अपवाद' इन दो अगों पर अपना लक्ष्य केन्द्रित करता है। ये दोनों अग साधना के प्राण हैं। इनमें से एक का भी अभाव हो जाय तो साधना अधूरी रह जाती है। एकागी साधना विकासगामी न होकर पत-नगामी बनती है।

विभिन्न आचार्यों के कथनानुसार उत्सर्ग और अपवाद की परिभाषा इस प्रकार है[२२२]- 'जो उद्यत विहार चर्या है, वह उत्सर्ग है। उत्सर्ग का प्रतिपक्ष अपवाद है। अपवाद का सेवन तो उस समय किया जाता है जब कि उत्सर्ग में रहे हुए साधक यदि ज्ञानादि गुणों का सरक्षण नही कर पाता हो। तब अपवाद सेवन के द्वारा उनका सरक्षण कर सकते हैं।' द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादि की अनुकूलतानुसार साधक द्वारा किया जाने वाला कल्पनीय (शुद्ध) अन्नपान गवेषणादि उचित अनुष्ठान है और द्रव्यादि की अनुकूलता से रहित का यतनापूर्वक तथाविध अकल्प्यसेवन का उचित अनुष्ठान अपवाद है। सामान्यत प्रतिपादित विधि उत्सर्ग और विशेषत प्रतिपादित विधि अपवाद है।' मुनिचन्द्रसूरि का कथन है कि समर्थ साधक के द्वारा सरक्षणार्थ जो अनुष्ठान किया जाता है वह उत्सर्ग मार्ग है और असमर्थ साधक द्वारा किया जानेवाला सयम रक्षार्थ उत्सर्ग से विपरीत अनुष्ठान अपवाद है। दोनों पक्षों के विपर्यासरूप अनुष्ठान करना, न तो उत्सर्ग है और न अपवाद है, अपितु ससाराभिनंदी प्राणियों की कुचेष्टामात्र है। सामान्यत संयम विशुद्धि के लिये नवकोटी शुद्ध आहार ग्रहण करना उत्सर्ग है। किन्तु यदि कोई मुनि तथाविध द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादि विषयक आपत्तियों से ग्रसित होकर अथवा उस समय अन्य कुछ भी गत्यन्तर न हो तो उसे उचित यतना के साथ अनेषणीय आहारादि ग्रहण करना ही अपवाद है। पर स्मरण रहे कि अपवाद भी उत्सर्ग के समान संयम रक्षा के हेतु होता है। समर्थ साधक के लिये उत्सर्ग स्थिति में जो द्रव्य निषेध किये जाते हैं वे ही द्रव्य असमर्थ साधक के लिये अपवाद मार्ग में ग्राह्य बन जाते हैं। किन्तु दोष नही हैं। देश, काल और रोगादि के कारण मानव जीवन में कभी-कभी ऐसी अवस्था आ जाती है कि जिसमें अकार्य कार्य बन जाता है और कार्य अकार्य बन जाता है। उत्सर्ग और अपवाद इन दोनों का एक ही लक्ष्य है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। दोनों के सुमेल से ही साधना प्रशस्त होती है।

'उत्सर्ग' साधना पथ की सामान्य विधि है। इसे छोड़ा भी जा सकता है। किन्तु अकारण और सदा के लिये नही। अकारण में उत्सर्ग मार्ग का त्याग करने वाला भगवदाज्ञा का विराधक होता है आराधक नही। यों ही अपवाद मार्ग का सेवन करनेवाला स्वय तो पथ भ्रष्ट होता ही है, किन्तु समाज को भी गलत रास्ते लगाता हैं। उत्सर्ग और अपवाद दोनों ही सयम मार्ग हैं। अपवाद का सेवन मनमाना नही किया जा सकता। इसके सेवन करते समय बहुत सजग रहना पड़ता है। आवश्यकतानुसार ही अपवाद मार्ग का सेवन किया जाता है। इसमें क्षण भर का भी विलब आत्मघातक बनता है। जब कभी भी साधक के सामने ऐसी कोई विकट परिस्थिति खड़ी हो जाय, अन्य कोई सुभग मार्ग न हो, फलस्वरूप अपवाद अपरिहार्य स्थिति में उपस्थित हो गया हो उस समय यतनापूर्वक अपवाद मार्ग का सेवन करें, अपवाद मार्ग की कालमर्यादा पूर्ण होते ही उसी क्षण उत्सर्ग मार्ग अपना लें ताकि आत्मविराधना (आत्मघात) न हो। अपवाद मार्ग का अधिकारी

एकमात्र गीतार्थ मुनि ही हो सकता है। गीतार्थ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का ज्ञाता होता है। उत्सर्ग मार्ग की अपेक्षा अपवाद मार्ग अधिक सजग रहता है। इसलिये अपवाद सेवन का निर्णय गीतार्थमुनि पर रहता है। 'जो आयव्यय, कारण-अकारण, अगाढ़ (ग्लान) - अनागाढ़, वस्तु-अवस्तु, योग्य-अयोग्य, युक्त-अयुक्त, समर्थ-असमर्थ, यतना-अयतना का सम्यग्ज्ञान रखता है तथा साथ ही साथ कर्तव्य कर्म का फल भी जानता है, वही गीतार्थ कहलाता है।[२२३] यदि गीतार्थ न हो तो गुरु, मूल आगम, भाष्य, चूर्णि, टीका एव अन्य निर्देशक बनते हैं। परतु ये भी न हो तो स्वयं ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावानुसार अपवाद मार्ग का निर्णय ले सकता है। सही निर्णय होना चाहिये, गलत नही। इस दशा में साधक पतित नही माना जाता है। क्योंकि अपवाद कालीन समय में यदि बाह्य दृष्टि से स्वीकृत पाच महाव्रत आदि व्रतों में यत्किंचित् दोष लग जाय तो वह मूल व्रतों की रक्षा के लिये ही है। साधक को सयम की रक्षा करनी है। अपवाद सेवन करने वाले के परिणाम विशुद्ध होने चाहिए। शुद्ध परिणाम ही मोक्ष का कारण है, ससार का नही। साधक का देह संयम हेतु होता है। इसलिये सयम हेतु देह का परिपालन हो।[२२४] जैन धर्म अन्तरग शुद्धि पर अधिक बल देता है।

अहिंसा का उत्सर्ग और अपवाद मार्ग : भिक्षु के लिये हरी वनस्पति, का परिभोग और स्पर्श त्याज्य है तथा सचित्त वस्तु एव जलादि का सेवन तथा स्पर्श वर्जित है। मन, वचन, काय से स्थूल या सूक्ष्म जीवों की किसी भी प्रकार से हिंसा नहीं करना ही प्रथम महाव्रत का (अहिंसाव्रत) उत्सर्ग मार्ग है, परतु कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में इसका भी अपवाद मार्ग है। एक भिक्षु, अन्य कोई सरल मार्ग न होने पर किसी विषम पर्वतादि विकट मार्ग से जाता है। यदि उस मार्ग से पैर फिसल जाय उस समय तरु, गुच्छ, गुल्म, लता, वल्ली, तृणादि का सहारा लेना अपवाद मार्ग है। सूक्ष्म दृष्टि से सोचने पर यह हिंसा, हिंसा के लिये नही है, अपितु अहिंसा के लिये है। गिरने से आर्तध्यान रौद्रध्यान में वृद्धि होती है। ये दोनों ध्यान ससारवर्धक हैं। समाधिभाव को टिकाये रखने के लिए अपवाद मार्ग का सेवन किया जाता है। ऐसे ही वर्षाकाल में भिक्षु अपने निजस्थान से बाहर किसी भी काम के लिए नही जाता, यह उत्सर्ग मार्ग है, किन्तु इसका भी अपवाद है - भिक्षु उच्चार (शौच) और प्रस्रवण (मूत्र) के लिए वर्षा में बाहर जा सकता है। इसके अतिरिक्त बाल, वृद्ध एव ग्लानादि के लिए भिक्षा के हेतु जाना अत्यावश्यक हो तो उचित यतना के साथ वर्षा में गमन कर सकता है। मार्ग में गमन करते समय किसी विशिष्ट कारणवश नदी-सतरण, दुर्भिक्षादि में प्रलम्ब ग्रहण का अपवाद मार्ग है। ये सब अपवाद अहिंसा महाव्रत के हैं।[२२५] उत्सर्ग और अपवाद मार्ग में समाधिभाव की प्रधानता है।

सत्यव्रत का उत्सर्ग और अपवाद मार्ग : भिक्षु को किसी प्रसग पर झूठ नही

बोलना उत्सर्ग मार्ग है। परंतु इसका भी अपवाद मार्ग है। रास्ते में चलते किसी व्याधादि के पूछने पर मौन रहे। यदि मौन भी स्वीकृति में परिणत होता दिखाई दे तो 'जानता हुआ भी नही जानता हूँ, किसी भी पशु आदि को देखा नही' ऐसा कहना अपवाद मार्ग है। सयम रक्षा हेतु असत्यवचन पापरूप नहीं होता। यह द्वितीय महाव्रत का अपवादमार्ग है।[२२६]

अस्तेयव्रत का उत्सर्ग-अपवाद मार्ग : बिना मालिक की आज्ञा से मुनि घास का तिनका भी नही उठा सकता। यह उत्सर्ग मार्ग है। पर इसका भी अपवाद मार्ग है। परिस्थिति विकट हो, लबा सफर हो, अज्ञात गाव में पहुँच गया हो, शीत अधिक हो जिससे वृक्ष के नीचे ठहर नही सकता, उचित स्थान न हो, पशुओं का उपद्रव हो, ऐसी स्थिति में बिना आज्ञा लिये ही योग्य स्थान पर ठहर सकता है। बाद में स्थान की आज्ञा ले। यह तृतीयव्रत का अपवाद मार्ग है।[२२७]

ब्रह्मचर्यव्रत का उत्सर्ग-अपवाद मार्ग : एक दिन के नवजात शिशु का स्पर्श न करना यह उत्सर्ग मार्ग है। किंतु इसका भी अपवाद मार्ग है कि नदी में डूबती हुई अथवा क्षिप्तचित्त भिक्षुणी को श्रमण बचा सकता है। वैसे ही रात्रि में सर्प दश हुआ हो तो श्रमण श्रमणी से और श्रमणी श्रमण से चिकित्सा करा सकती है (अन्य कोई चिकित्सक न हो तो)। पैर में कांटा गया हो तो भी उनके लिये भी यही अपवाद मार्ग है।[२२८] जितना उत्सर्ग का महत्त्व है उतना ही अपवाद मार्ग का भी। पर स्मरण रहे कि अपवाद मार्ग का सेवन सयम रक्षार्थ ही हो, मनचाहे ढग से न हो, वरना आत्मघातक बन जायेगा।

अपरिग्रहव्रत का उत्सर्ग-अपवाद मार्ग : शास्त्र में बताये हुए साधु साध्वी के लिये पात्रादि धर्मोपकरण की १४ सख्यानुसार उपयोग में लाना ही उत्सर्ग मार्ग है। इसके लिये भी अपवाद मार्ग है। स्थविर के लिये छत्रक, चर्मछेदनक आदि का आवश्यकतानुसार उपधि रखने का अपवाद मार्ग है। ग्लानादि के कारण ऋतुबद्ध और वर्षाकाल के बाद एक स्थान पर रहना भी परिग्रह का कालकृत अपवाद ही है। दूसरों की सेवा हेतु पात्र रखना अपवाद है। विषग्रस्त मुनि को विष निवारणार्थ सुवर्ण घिस कर देना भी अपरिग्रह का अपवाद ही है। ये सब अपरिग्रहव्रत के अपवाद हैं।[२२९]

गृह निषद्या का उत्सर्ग-अपवाद मार्ग : बिना प्रयोजन के गृहस्थ के घर बैठना नही यह उत्सर्ग मार्ग है। पर इसका भी अपवाद है। वृद्ध, रोगी, तपस्वी किसी विशिष्ट कारणवश गृहस्थ के घर बैठ सकता है। यह अपवाद मार्ग है।[२३०]

आधा कर्म आहार का उत्सर्ग-अपवाद मार्ग : उत्सर्ग मार्ग में आधाकर्मी आहार दोष युक्त बताया है। परतु इसका भी अपवाद है कि दुर्भिक्षादि काल में विशिष्ट कारणवश आधाकर्मी आहार ग्राह्य बताया है।[२३१] जैन धर्म में अनेकान्त का महत्त्व है।

सथारे में आहार का अपवाद : 'समाधि मरण में यदि तीव्र क्षुधा-वेदनीय कर्म का उदय हो जाय, समाधिभाव न रहे, उस समय प्राण की रक्षा हेतु आहार कवच रूप है। इसलिये अपवाद रूप में आहार-कवच का सेवन कराना चाहिये'। ऐसे साधक की निंदा करने वाले को चातुर्मास गुरु प्रायश्चित्त आता है।[२३२] यतनापूर्वक गीतार्थ मुनि ही अपवाद मार्ग का सेवन करा सकता है अन्य नही। इसमें सावधानी अत्यावश्यक है।

पशुओं का बंधन-मोचन का उत्सर्ग-अपवाद मार्ग : सामान्यत भिक्षु आत्म चिंतन में सलग्न रहता है। यदि विहार करते गृहस्थ के घर रुकने का मौका आये तो मुनि कमलवत् निर्लिप्त रहते हैं। बछड़े गाय आदि को बाधने अथवा खोलने का काम वह गृहस्थ के घर नहीं करे - यह उत्सर्ग मार्ग है। किंतु 'आग लगने पर, बाढ़ आने पर, वृकादि हिंसक पशु के आक्रमण होने पर अथवा अन्य किसी विषम स्थिति में पशुओं को बचा सकता है। यह अपवाद मार्ग है।[२३३] जो अनुकम्पाभाव से विशिष्ट परिस्थिति में अपनाया जाता है।

अतिचार और अपवाद में अन्तर

बाह्य व्यवहार में अपवाद को अतिचार मानते हैं। पर यह गलत है। दोनों की कार्यप्रवृत्ति भिन्न-भिन्न है। अतिचार का मार्ग कुमार्ग है, वह अधर्म है तथा ससारवर्धक है जब कि अपवाद का मार्ग सुमार्ग है, वह धर्म है और मोक्षप्रदाता है। अतिचार में दर्प एव मोहोदय का भाव है। जीवन में विपरीत आचरण को अतिचार कहते हैं। अत यह त्याज्य है और अपवाद मार्ग ग्राह्य है, क्योंकि वह कर्मक्षय का कारण है।[२३४]

साधु जीवन में उत्सर्ग और अपवाद मार्ग की साधना संयमरक्षार्थ है।

३) श्रमण समाचारी

साधनाकालीन जीवनचर्या में साधक जीवन की आचार सहिता को मर्यादित करने के लिये आगम ग्रन्थों एव अन्य ग्रथों में समाचारी (सामाचारी) का विधान है। सम्यक् आचार ही समाचार या समाचारी है। समाचारी शब्द का प्रयोग चार अर्थों में मिलता है- १) समता का आचार, २) सम्यक् आचार, ३) सम आचार, ४) समान (परिमाणयुक्त) आचार। मुनि जीवन का आचार, व्यवहार एव कर्तव्यता ही समाचारी है। श्रमण जीवन की सारी प्रवृत्तियों का इसमें समावेश है, जो वह अहर्निश करता है।[२३५]

चौदह पूर्वधारी भद्रबाहु ने समाचारी तीन प्रकार की बताई है[२३६]- १) ओघ समाचारी, २) दसविध समाचारी और ३) विभाग समाचारी। इनमें ओघ समाचारी का विश्लेषण सात द्वार द्वारा किया गया है[२३७]- १) प्रतिलेखन, २) पिण्ड, ३) उपधि-प्रमाण, ४) अनायतन (अस्थान) वर्जन, ५) प्रति सेवणा-दोषाचरण, ६) आलोचना

और ७) विशोधि। इन सभी द्वारों का स्पष्टीकरण उत्तराध्ययन सूत्र के २६ वें अध्ययन में मिलता है। दसविध समाचारी के नामों में भिन्नता मिलती है। दसविध समाचारी इस प्रकार है -[२३८] १) आवश्यकी (किसी प्रयोजन से बाहर जाते समय 'आवस्सही' शब्द कहे), २) नैषेधिकी (प्रयोजन पूर्ण करके पुन. अपने स्थान पर लौटता है तब 'निसही' शब्द कहे), ३) आपृच्छना (आहार-विहारादि क्रिया गुरु को पूछकर करें), ४) प्रतिपृच्छना (पुन पूछते समय ऐसा पूछे कि यदि आपकी आज्ञा हो तो यह काम करूँ क्या?), ५) छन्दना (गवेषित अपने हिस्से में आये आहारादि के लिए दूसरों को निमत्रित करे 'यदि आपके उपयोग में आये तो लीजिये'), ६) इच्छाकार (दुसरों से कोई काम करवाना हो तब विनम्रता से ऐसा कहे कि 'कृपया आपकी इच्छा हो तो यह कार्य करिये'), ७) मिथ्याकार (सयमाराधना में दोष लगने पर दूषित आत्मा की निंदा करे), ८) तथाकार (दोषों की आलोचना करने पर गुरु प्रायश्चित दे तो उसे प्रसन्नतापूर्वक 'तहत्ति' कहकर ग्रहण करे), ९) अभ्युत्थान (गुरु आने पर खड़ा रहे), १०) उपसपदा (अपने गण में श्रुतज्ञान सम्पन्न न हो तो आचार्य की आज्ञा से दूसरे गण के बहुश्रुत आचार्य के सानिध्य में विनयपूर्वक श्रुत साहित्य का अध्ययन करना) इस प्रकार इस दस प्रकार की समाचारी द्वारा श्रमण आचार साधना पद्धति का विकास करता है। अन्तिम पदविभाग समाचारी का स्पष्टीकरण छेदसूत्र और कल्पसूत्र में उपलब्ध होता है।

४) षडावश्यक

(भारतीय विभिन्न दर्शनों में दोषों की शुद्धि तथा गुणों की अभिवृद्धि हेतू 'सध्या' (हिन्दु), 'उपासना' (बौद्ध), 'खोरदेह अवस्ता' (पारसी), 'प्रार्थना' (यहुदी-ईसाई), 'नमाज' (इस्लाम) आदि को जीवन का आवश्यक अग माना गया है वैसे ही जैन धर्म में 'षडावश्यक' को माना है।)

आवश्यक शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ

श्रमण और श्रावक के लिए नित्यप्रति सबेरे और श्याम को जो अवश्य किया जाता है उसे आवश्यक कहते हैं। प्राकृत भाषा में आपाश्रय शब्द को आवश्यक कहा गया है, क्योंकि जो गुणों की आधारभूमि है वह आवस्सय या आपाश्रय है। इन्द्रिय और कषाय आदि शत्रुओं को ज्ञानादि साधना द्वारा वश किया जाता है वह आवश्यक है। आवश्यक शब्द का अर्थ अनुरजन भी है। । जो आत्मा को ज्ञानादि गुणों से आच्छादित (अनुरजित) करे, वह आवश्यक है।[२३९]

आवश्यक के अनेक पर्यायवाची शब्द

आगम एव भाष्य में इसके लिये 'आवश्यक, अवश्य करणीय, ध्रुव, निग्रह, विशोधि, अध्ययनषट्क वर्ग, न्याय, आराधना और मार्ग ऐसे पर्यायवाची नाम मिलते हैं।[२४०]

आवश्यक क्रिया प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के श्रमणों के लिये नियमत सवेरे और सन्ध्याकाल में करने के लिये अवश्य ही कहा है। क्योंकि इन दोनों तिर्थंकर के शासन में प्रतिक्रमण सहित धर्म की प्ररूपणा की गई है।[२४१] आवश्यक क्रिया आत्मा को कर्मबधन से मुक्त करती है।

आवश्यक के भेद

आगम में मुख्यत आवश्यक के दो भेद हैं-[२४२]- द्रव्यावश्यक और भावावश्यक। द्रव्यावश्यक में बाह्य क्रिया पर ही बल दिया जाता है, जिसके फलस्वरूप साधना में तेज प्रगट नही हो सकता। भावावश्यक से ही साधना चमकती है। चित्तशुद्धि साधना में आवश्यक है। अन्तदर्शन से ही चित्तशुद्धि होती है। इसलिये निजात्मा को कर्म मल से शुद्ध बनाने के लिये सामायिक चतुर्विंशतिस्तव, वदन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान आदि छह आवश्यक का विधान किया गया है।[२४३] प्रकारान्तर से इसके छह भेद मिलते हैं-[२४४] सावद्ययोगविरति, उत्कीर्तन, गुणवत्प्रतिपत्ति, स्थलित निन्दना, व्रणचिकित्सा और गुणधारणा।

१) सामायिक आवश्यक :- बारह व्रतों में सामायिक मोक्ष का प्रधान अंग माना गया है। आत्मभाव में समता भाव से रमण करना ही सामायिक आवश्यक है। षडावश्यक में यह मगलरूप है। इसलिए प्रथम सामायिक को रखा है। इस पर विस्तृत रूप से पीछे लिखा गया है, वहाँ देखें।

२) चतुर्विंशतिस्तव-आवश्यक :- सावद्ययोग से निवृत्ति पाने के लिये निरवद्य-योगी की शरण ली जाती है। वे निरवद्ययोगी जैनागम के अनुसार ऋषभ, अजित, संभव, अभिनदन, सुमति, पद्म, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, सुविधि, शीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शाति, कुथु, अर, मल्लि, मुनिसुव्रत, नमि, अरिष्टनेमि, पार्श्व और महावीर ऐसे चौबीस तीर्थंकर हैं। वर्तमानकालीन ये चौबीस तीर्थंकर हैं। इनकी स्तुति से प्रशस्त भाव एव शुद्ध परिणामों की प्राप्ति होती है। शुद्ध परिणाम चिरसचित कर्मों को तृणाग्नि की तरह भस्म कर देती है। चतुर्विंशति के छ· भेद हैं- नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। इन छह भेदों से चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति करना द्वितीय आवश्यक है।[२४५]

३. वन्दना-आवश्यक :- तीर्थंकर देव रूप होते हैं। देव की स्तुति करने के बाद गुरु को वंदन किया जाता है। गुरु जीवन के घडवैया होते हैं। दर्जी, सुतार, सुनार, कुभार, किसान, माता, पिता आदि सभी का कार्य गुरु करता है। अरिहंत और सिद्ध का दर्शन कराने वाला गुरु है। वेदना से मुक्ति पाने का राजमार्ग है-वन्दना। वन्दना के अनेक पर्यायवाची शद्ब हैं - चितिकर्म, कृतिकर्म, पूजा कर्म आदि। योग्य वन्दनीय को वन्दन

करने से आत्मशुद्धि होती है और अवन्दनीय को वन्दन करने से कर्मों की निर्जरा नही होती। वन्दन के दो प्रकार हैं - द्रव्य वन्दन और भाव वन्दन। द्रव्य वन्दन कर्ता मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि हो सकता है। किन्तु भाववन्दन कर्ता सम्यग्दृष्टि ही होता है। आवश्यक-चूर्णि में श्रीकृष्ण और वीरक कौलिक तथा कृष्ण के पुत्र शाम्ब और पालक के उदाहरण से द्रव्य और भाव वन्दन का स्वरूप स्पष्ट किया है। भाव वन्दन ही आत्मशुद्धि का प्रशस्त मार्ग है। द्रव्य वन्दन तो अभव्य भी कर सकता है। द्रव्य की अपेक्षा भाव का अधिक महत्त्व होता है। अह का नाश होने पर अर्ह को वन्दन होता है। वन्दना से नम्रता और नम्रता से नीच गोत्र का बध नही होता है। इस 'वन्दना' आवश्यक पर नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से विचार किया जाता है।[२४६]

४) प्रतिक्रमण आवश्यक :- त्रिकरण और त्रिविधयोग से किये गये पापों की आलोचना एव निंदा करना प्रतिक्रमण है। शुभयोगों से अशुभयोगों में गये हुये अपने आपको पुन शुभयोग में प्रवृत्त करना प्रतिक्रमण है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय इन दोषों से हटकर सम्यक्त्व, विरति, प्रमाद, क्षमादि गुण एव शुभ भावों में रमण करना ही प्रतिक्रमण है। साधक प्रमाद के कारण ही अशुभ योग में रमण (फँस) करता है, उनसे अपने आपको हटाकर स्वभाव में रमण करना ही प्रतिक्रमण है।औदयिक भाव ससार का कारण और क्षायोपशमिक भाव मोक्ष का कारण है। इसलिए क्षायोपशमिक भाव से औदयिक भाव में परिणत हुआ मुनि (साधक) को पुन क्षायोपशमिक भाव में लौटाना प्रतिक्रमण है। संसारवर्धक नरक तिर्यंच गति के कारणों की निंदा-गर्हा करना प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण का अर्थ है पापों से डरना। पापप्रवृत्तियों से पीछे हटना ही प्रतिक्रमण है।[२४७]

प्रतिक्रमण के भेद

आवश्यक निर्युक्ति में काल के निमित्त से तीन प्रकार का प्रतिक्रमण बताया है[२४८]- भूतकालिक प्रतिक्रमण, वर्तमानकालिक (संवर, साधना) प्रतिक्रमण और भविष्यकालिक (प्रत्याख्यान द्वारा दोषों से बचना) प्रतिक्रमण। विशेष काल की अपेक्षा से पाँच प्रकार का प्रतिक्रमण है-[२४९] १) दैवसिक, २) रात्रिक, ३) पाक्षिक, ४) चातुर्मासिक और ५) सावत्सरिक।

आवश्यक निर्युक्ति में चार प्रकार के प्रतिक्रमण का विवेचन है-[२५०] १) हिंसक प्रवृत्ति से लगे दोषों का प्रतिक्रमण, २) शास्त्रकथनानुसार पालन न करने से लगने वाले दोषों का प्रतिक्रमण, ३) जिनवचन में अश्रद्धा उत्पन्न होने से दूषित दोषों का प्रतिक्रमण, ४) आगम विरुद्ध वचन प्रतिपादन करने से प्रतिक्रमण करना। स्थानागसूत्र में छह प्रकार का प्रतिक्रमण वर्णित है -[२५१] १) उच्चार (बड़ीनीत, मल विसर्जन) प्रतिक्रमण, २) प्रस्रवण (लघुनीत, मूत्र विसर्जन) प्रतिक्रमण, ३) इत्वर (दैवसिक, पाक्षिक)

प्रतिक्रमण, ४) यावत्कथित (महाव्रतादि रूप में) प्रतिक्रमण, ५) यत्किंचिन्मिथ्या (प्रमादवश लगे पापों का 'मिच्छामि दुक्कड') प्रतिक्रमण और ६) स्वप्नान्तिक प्रतिक्रमण।

सामान्यत प्रतिक्रमण दो प्रकार का ही है।[२५२] द्रव्य प्रतिक्रमण और भाव प्रतिक्रमण। मुमुक्षु साधक के लिये भाव प्रतिक्रमण ही उपादेय है, द्रव्य प्रतिक्रमण नही। उपयोग शून्य एव कीर्ति आदि के लिये किया गया प्रतिक्रमण द्रव्य प्रतिक्रमण है और सम्यग्दर्शन गुणों से सपन्न किया हुआ प्रतिक्रमण ही भाव प्रतिक्रमण है। भावप्रतिक्रमण से ही आत्मशुद्धि होती है। भद्रबाहु ने आवश्यक निर्युक्ति में प्रतिक्रमण के अनेक पर्यायवाची नाम दिये हैं-[२५३] प्रतिक्रमण, प्रतिचरणा, प्रतिहरणा, वारणा, निवृत्ति, निंदा, गर्हा और शुद्धी। भाव की दृष्टि से सभी का एक ही अर्थ है।

प्रथम और अंतिम तीर्थंकर कालीन साधक के लिए उभयकालीन (दैवसिक, रात्रिक-रायसी) प्रतिक्रमण का विधान नियमत है जब कि शेष मध्य २२ तीर्थंकरों के साधकों को पाप लगने पर प्रतिक्रमण करने का विधान है।[२५४]

५) कायोत्सर्ग-आवश्यक : कायोत्सर्ग को अनुयोगद्वार सूत्र में व्रणचिकित्सा कहा है।[२५५] व्रण का अर्थ घाव है। कायोत्सर्ग ध्यान का अग है तथा तप का भेद है। इस पर आगे वर्णन करेंगे।

६) प्रत्याख्यान आवश्यक : जीवन में त्याग आवश्यक है। त्याग से ही जीवन चमकता है और स्फटिक सा निर्मल होता है। इसके लिए आगम प्रत्याख्यान शब्द का प्रयोग किया है। अशुभ योग से निवृत्ति पाकर शुभ प्रवृत्ति करने की क्रिया ही प्रत्याख्यान है। "प्रत्याख्यान करने से संयम की आराधना होती है। सयम से सवर की साधना होती है, सवर से तृष्णा का नाश होता है और तृष्णा के नाश से अनुपम उपशम भाव (माध्यस्थ परिणाम) की प्राप्ति होती है और अनुपम उपशम भाव से प्रत्याख्यान शुद्ध होता है तथा चारित्र धर्म प्रगट होता है। चारित्र धर्म की आराधना से कर्मों की निर्जरा होती है, निर्जरा से अपूर्व करण की प्राप्ति होती है और उस अपूर्वकरण से केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति होकर शाश्वतसुखरूप सिद्धि मिलती है।"[२५६] प्रत्याखान को *'गुणधारण'* भी कहा गया है।

प्रत्याख्यान के भेद

मुलत· प्रत्याख्यान के दो भेद हैं -[२५७] मूलगुण प्रत्याख्यान और उत्तरगुण प्रत्याख्यान। इसमें मूल गुण प्रत्याख्यान के भी दो भेद हैं-सर्वगुण प्रत्याख्यान (साधु के पाँच महाव्रत) और देशगुण प्रत्याख्यान (श्रावक के पाँच अणुव्रत)। उत्तरगुण प्रत्याख्यान के भी दो भेद हैं-देश उत्तरगुण प्रत्याख्यान (श्रावक के तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत)

और सर्वउत्तरगुण प्रत्याख्यान (साधु के पाँच समिति और तीन गुप्ति)। और भी प्रत्याख्यान के दस भेद हैं -[२५८] १) अनागत (पर्युषणादि में किया जानेवाला विशिष्ट तप), २) अतिक्रान्त (वैयावृत्य में लगे दोषों का प्रायश्चित, उपवास को अपर्व दिन में करना), ३) कोटिसहित (उपवासादि जिस दिन पूर्ण हो उस दिन पारणा न करके दूसरे दिन करना), ४) नियन्त्रित (प्राय. चौदहपूर्वधर, दस पूर्वधर एवं जिनकल्पी मुनि ही करता है, आज यह परपरा नही है), ५) साकार (अपवाद की छूट), ६) निराकार, ७) परिमाणकृत (दत्ति, ग्रास, भोज्य, द्रव्य एव गृहादि सख्या का परिमाण), ८) निरवशेष (चारों आहार का त्याग, ९) साकेतिक और, १०) अद्धा प्रत्याख्यान (समय विशेष की मर्यादा)। इन दस प्रत्याख्यानों में अद्धा प्रत्याख्यान के नवकारसी, पौरुषी, पुरिमड्ढ (पूर्वार्ध), एकासन, एक स्थान, आयबिल, उपवास, दिवसचरिय, अभिग्रह और निर्विकृतक (नीवी) ऐसे दस प्रत्याख्यान हैं।[२५९] 'अद्धा' काल को कहते हैं। इन दस अद्धा प्रत्याख्यान के क्रमशः दो, छह, सात, आठ, पाँच, चार, पाँच अथवा चार, नौ ऐसे आगार रखे गये हैं।[२६०]

प्रत्याख्यान से अन्तर्शुद्धि होती है। शास्त्र में पाँच अथवा छह प्रकार की शुद्धियाँ बताई हैं-[२६१] १) श्रद्धान शुद्धि, २) ज्ञान शुद्धि, ३) विनय शुद्धि, ४) अनुभाषणाशुद्धि, ५) अनुपालनाशुद्धी और ६) भाव शुद्धि।

षडावश्यक की साधना श्रमण श्रमणी श्रावक श्राविका सबके लिए समान बताई गई है। किन्तु श्रमण श्रमणी के लिए अनिवार्य ही है।

चारित्र एवं उसके पोषक अगों में ध्यान का महत्त्व

श्रावक के बारह व्रत और पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति साधना मार्ग में चन्द्रमा के समान निर्मल हैं। इन सबके मूल में अहिंसा और समता को प्रधानता दी गई है। साम्यभाव पर आरूढ हुआ मुनि निर्निमेष मात्र (पलभर) में कर्मों को जीतता है किन्तु समभावरहित मुनि कोटि भव तक तप करने पर भी उतने कर्मों को क्षय नही करता जितना समभावी मुनि कर्मो को क्षय करता है।[२६२] वह साधना काल में अपनी चर्या सर्वज्ञकथित आज्ञानुसार प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे प्रहर में ध्यान, तीसरे प्रहर में भिक्षार्थगमन और चौथे प्रहर में पुन स्वाध्याय करता है। स्व का अध्ययन करने पर ही ध्यानावस्था आती है। ध्यान से सवर निर्जरा की स्थिति प्राप्त होती है क्योंकि मोक्ष का मार्ग सवर निर्जरा है। इन दोनों का उपाय तप है। तप का प्रधान अंग ध्यान है। इसलिए ध्यान मोक्ष का हेतु है, सकल गुणों का स्थान है, समस्त साधनाओं का साधन है, दृष्ट अदृष्ट सुखों का कारण है, अत्यत प्रशस्त है। अत वह चारित्र साधना एव उसके सहाय्यक अंगों में सर्वकाल में श्रद्धेय है, ज्ञातव्य है और ध्यातव्य है।[२६३]

विशिष्ट साधना पद्धतियाँ

अब तक सामान्य जैन साधना पद्धति पर विचार किया, अब विशिष्ट श्रमणों की साधना पद्धति पर विचार कर रहे हैं।

सामान्य साधना पद्धतियाँ श्रमण के लिए मूल भूमिका रूप हैं। विशिष्ट आगमकालीन साधना पद्धतियाँ अनेक प्रकार की हैं, किन्तु विशेषत श्रमणों के लिए मुख्य दो ही प्रकार बताये हैं - जिनकल्प और स्थविरकल्प।

पूर्ण समाधि एव शाति का इच्छुक साधक ही सयम का परिपालन कर सकता है। राग-द्वेष, कषाय, इन्द्रिय, परीषह, उपसर्ग एव आठ कर्मों को जीतने वाला मुनि जिनकल्प कहलाता है। जिनकल्प स्थविर कल्प से ही निकला हुआ है। अत पहले स्थविरकल्पी साधना पद्धती पर विचार करेंगे।

स्थविरकल्प साधना पद्धति

जो संघ में रहकर साधना करता है। उसकी आचार सहिता को स्थविर कल्प स्थिति कहते हैं।[२६४] वे सर्व प्रथम अपने आपको तप, सत्त्व, सूत्र, एकत्व और बल इन पाँच तुलाओं से तोलते हैं।[२६५] स्थविर कल्प मुनि के आचार सहिता का क्रम निम्नलिखित है।[२६६] १) प्रवज्या, २) शिक्षापद, ३) अर्थग्रहण, ४) अनियतवास, ५) निष्पत्ति, ६) विहार और, ७) समाचारी।

आचार गुणसम्पन्न गीतार्थ गुरु सर्वप्रथम शिष्य को विधिपूर्वक आलोचना कर के तदनन्तर द्रव्य, क्षेत्र, काल, एव भावानुसार प्रव्रज्या (दीक्षा) मत्र देते हैं। दीक्षा मत्र देने के बाद शिक्षा का दान देते हैं। शिक्षा के दो प्रकार होते हैं- १)ग्रहण शिक्षा और २) आसेवन शिक्षा। ग्रहण शिक्षा में शास्त्राध्ययन कराया जाता है और आसेवन शिक्षा पद्धति में पडिलेखना आदि क्रिया का बोध कराया जाता है। सूत्रार्थ का ज्ञाता हो जाने पर ही मुनि को योग्यतानुसार आचार्य पद दिया जाता है। आचार्य पद देने के पहले बारह वर्ष तक अनियतवास-ग्रामानुग्राम विचरण कराया जाता है। अयोग्य शिष्य के लिए यह नियम नही है। देशाटन से तीर्थंकरों की जन्मभूमि, दीक्षाभूमि एव निर्वाणभूमि को देखने से साधना में स्थिरता आती है। विभिन्न भाषा एव आचार का ज्ञान होता है। देशाटन से वह आचार्य पदयोग्य शिष्य सपदा से सपन्न होता है तथा विभिन्न श्रुतज्ञानी आचार्यों के दर्शन से सूत्रार्थ विषयक एव समाचारी का विशेष ज्ञाता होता है। इस प्रकार बारह वर्ष तक देशदर्शन 'अनियतवास' कराया जाता है। बहुशिष्य सपदा प्राप्त होनेपर आचार्य पद दिया जाता है। तदनन्तर वह स्व पर कल्याणार्थ प्रवचनप्रभावना करता है।

स्थविरकल्पिक मुनियों की चर्या आदि का ज्ञान "क्षेत्र, काल, चारित्र, तीर्थ, पर्याय, आगम, वेद, कल्प, लिंग, लेश्या, ध्यान, गणना, अभिग्रह, प्रव्रज्या, मुण्डपना,

प्रायश्चित्त, कारण प्रतिकर्मणि और भक्तपन्थाश्च भजनया'' इन १९ दृष्टिकोण से कराया जाता है[२६७]''- स्थविरकल्पिक मुनि का जन्म एव कल्प ग्रहण कर्मभूमि में होता है। पर देवादि द्वारा संहरण करने पर वे अकर्मभूमि में भी प्राप्त हो सकते हैं। अवसर्पिणी काल में उत्पन्न होनेवाले का तीसरे, चौथे और पाँचवें आरे में जन्म होता है और स्थविरकल्प इन्ही आरों में स्वीकार किया जाता है। यदि उत्सर्पिणी काल में उत्पन्न हुए हों तो दूसरे, तीसरे तथा चौथे आरे में जन्म लेते हैं और स्थविरकल्प तीसरे चौथे आरे में स्वीकार करते हैं। सामायिक और छेदोपस्थापनीय इन दो चारित्र में ही वर्तमान मुनि स्थविरकल्प स्वीकार करते हैं, यथाख्यात चारित्र (संयम) तक भी जा सकते हैं। वे नियमत तीर्थ में ही रहते हैं। जघन्य आठ वर्ष की अवस्था में और उत्कृष्ट गृहस्थ अथवा साधु पर्याय की कुछ न्यून करोडपूर्व में इस कल्प को ग्रहण करते हैं। प्रवज्या पर्याय जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है। परन्तु मरण पर्यंत की उत्कृष्ट पर्याय देशो न्यून पूर्व कोटि भी है। अपूर्व श्रुताध्ययन स्थविरकल्प स्वीकारने पर मरते भी हैं और नही भी मरते हैं। तीनों वेदों में (स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुसक वेद) इसे स्वीकार किया जाता है। बाद में अवेदी भी हो सकते हैं। ये स्थितास्थितकल्प वाले होते हैं। कल्प स्वीकारते समय द्रव्य और भाव लिंग दोनों ही होते हैं। आगे भावलिंग निश्चय ही होता है। कल्प स्वीकारते समय प्रशस्त तीन लेश्याएँ (तेज, पद्म, शुक्ल) होती हैं। बाद में छहों लेश्याएँ होती हैं। किन्तु अप्रशस्त लेश्या में अधिक समय तक नही रहते तथा वे लेश्याएँ अति सक्लिष्ट भी नही होती। धर्मध्यान में ही कल्प स्वीकार किया जाता है। बाद में आर्त-रौद्रध्यान भी हो सकता है किन्तु वे निरनुबधक तथा कुशल परिणामों की प्रधानता वाले होते हैं, लेश्यानुसार ध्यान में तरतमभाव पैदा होता है। भाव लेश्यानुसार ही प्रशस्ताप्रशस्त ध्यान की उपलब्धि होती है। स्थविरकल्पकों की जघन्य सख्या एक, दो या तीन और उत्कृष्ट सहस्रपृथक्त्व (९०००) होती है तथा पूर्व स्वीकृत के अनुसार यह सख्या जघन्य और उत्कृष्ट कोटिसहस्रपृथक्त्व भी होती है। पन्द्रह कर्मभूमि में उत्कृष्ट इतने ही स्थविर कल्पी प्राप्त हो सकते हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल भावानुसार अभिग्रह धारण करते हैं। द्रव्य से भिक्षादि के लिए गमन का अभिग्रह करना, क्षेत्र से आठ (ऋज्वी, गत्वाप्रत्यागतिका, गोमूत्रिका, पतगवीथिका, पेडा, अर्द्धपेडा, अभ्यन्तर शम्बूका, बहि शम्बूका) प्रकार के गोचर भूमि का अभिग्रह करना, काल से सबेरे, दोपहर एव शाम को जाने का अभिग्रह करना। भाव से गोभिक्षा लेने का (निक्षिप्तचरका, सख्यादत्तिका, दृष्टलाभिका, पृष्टलाभिका आदि का) अभिग्रह करना है। प्रव्रज्या अथवा मुण्डपना स्वीकार करनेवाले स्थविरकल्पी को छह प्रकार के सचित्त द्रव्य कल्पनीय हैं। यथा शिष्यों को दीक्षा देना, उपदेश देना, अन्य स्थान पर गये को पुन दीक्षा देना या अन्य संप्रदाय के गीतार्थ आचार्य से दीक्षा देने की प्रार्थना करना। स्थविरकल्पियों को प्रमाद के कारण लगनेवाले पापों का प्रायश्चित्त 'आलोचना और प्रतिक्रमण' दिया जाता है। स्थविरकल्पी किसी विशिष्ट कारण में अपवाद मार्ग का सेवन करते हैं। ग्लान, रोगी, आचार्यादि की सेवा के लिए अथवा धर्म की कथा के लिए जाने पर पादधावन-

मुखमार्जन-शरीरसम्बाधनादि कारणों से सप्रतिकर्मणि का स्वीकार करते हैं। स्थविरकल्पी उत्सर्ग मार्ग से तीसरे प्रहर में गोचरी जाते हैं। किन्तु अपवाद मार्ग में अकाल में जा सकते है।

दुषम काल में सहनन एव गुणों की क्षीणता के कारण मुनि नगर और ग्राम में रहने लगे हैं। वे समुदाय में रहकर विचरण करते है। शक्ति के अनुसार धर्मप्रभावना करते हैं। भव्यात्माओं को दीक्षा देते हैं। स्थविरकल्प स्वीकार करने के पहले जिन कर्मों को हजार वर्षों में क्षीण किया जाता या उन्हें कल्प स्वीकार करने पर एक वर्ष में क्षीण कर सकते हैं। वे सत्रह प्रकार के सयम पालक होते हैं। ज्ञान-दर्शन-चारित्र परपरा का विच्छेद नही होने देते। वृद्धावस्था में स्थिरवास करते हैं। इस प्रकार स्थविरकल्पक मुनि ज्ञान, ध्यान और तप की प्रभावना करते हैं।[२६८]

श्वेताबरानुसार स्थविरकल्पकों को दो भागों में विभाजित किया गया है-[२६९] सूत्रकालीन और भाष्यकालीन। सूत्रकालीन स्थविरकल्पी दो प्रकार के हैं-[२७०] सचेल और अचेल। जो वस्त्रधारी श्रमण होता है उन्हें 'सचेल' कहते हैं। सचेल परपरानुसार श्रमण के लिए बहत्तर हाथ वस्त्र एव श्रमणियों के लिये छियानवे हाथ वस्त्र का विधान है। आचारागसूत्र में एक वस्त्रधारी, द्विवस्त्रधारी, त्रिवस्त्रधारी, चार वस्त्रधारी श्रमणों का वर्णन है। तीन वस्त्रधारी के लिए तीन सघाटिका, चोलपट्टक, आसन, झोली, जल छानने का वस्त्र, मुखवस्त्रिका, रजोहरण के दण्डी पर लगने वाला वस्त्र, माडलिक वस्त्र, स्थडिल भूमि की झोली, इन सब के लिए श्रमण को बहत्तर हाथ वस्त्र का विधान है। भिक्षुणी के लिये चार सघाटिका का विधान इस प्रकार है - एक सघाटिका दो हाथ की, जो उपाश्रय में ही पहनी जाती है, दो सघाटिकाएँ तीन-तीन हाथ की, उनमें से एक भिक्षा के लिए जाते समय और एक शौच को जाते समय पहनी जाती है। चार हाथ की सघाटिका धर्म सभा में जाते समय धारण की जाती है। 'संघाटिका' या 'सघाटी' का अर्थ साड़ी और श्रमण-श्रमणी की भाषा में 'चद्दर' कहते हैं। टीकाकारों ने शरीर पर धारण करनेवाले वस्त्र को सघाटिका कहा है। इन वस्त्रों का उपयोग विभिन्न प्रकार से किया जाता है। आचाराग में वस्त्रों की सूची हैं - जगिय या जाधिक (सन से निर्मित कम्बलादि), भगिय (वृक्ष के ततु से निर्मित), साणिय (सन से बने), पोत्तग (ताडादि वृक्षों के पत्तों से बने), खोमिय (कपाल से निर्मित), तूलकड़ (आकादि की रुई से निर्मित)। स्थानाग और बृहकल्प सूत्र में तूलकड़ के स्थान पर 'तिरीडपट्ट' नाम मिलता है। बृहत्कल्प भाष्य में 'कचुक' (अढ़ाई हाथ लबा व एक हाथ चौड़ा), उकच्छिय (डेढ़ हाथ का वस्त्र जिससे छाती, दक्षिण पार्श्व व कमर ढँकी जाती है, वाम पार्श्व की ओर इसकी गाठ लगती है), खण्डकर्णी (चार हाथ लबा और चौकोर वस्त्र होता है) तथा दीक्षित साधक के लिए रजोहरण, गोच्छक और परिग्रह (पात्र) एव तीन वस्त्र का विधान है। रजोहरण के लिए पाच प्रकार के धागों का

विधान है। जैसे कि औरणिक (ऊन), औण्ट्रिक (ऊंट के), सानक (सन के) वच्चक-चिप्पक (तृण विशेष) और मुंजचिप्पक (मुज की कुट्टी से)। सादा और निर्दोष वस्त्र ही ग्रहण किया जाता है।

'अचेल' शब्द में रहे हुए 'अ' का अर्थ है अभाव और अल्प। अचेलक मुनि सर्व वस्त्रादि का त्यागी एव अल्प मूल्य वाले वस्त्र धारक होता है। वह द्रव्य और भाव परिग्रह का त्यागी होता है। अनुकूल प्रतिकूल परिषहों को समभाव से सहन करने वाला होता है। यदि अचेलक को लज्जा का अनुभव हो तो वह कटिबधन धारण कर सकता है।

इस प्रकार सूत्रकालीन स्थविरकल्पकों के सचेल अचेल साधकों के (मुनियों के) वर्णन के बाद भाष्यकालीन स्थविरों के उपकरणों का वर्णन करते हैं। उनके उपकरणों में कुछ वृद्धि पायी जाती है, जिसका मुख्य कारण देशकाल की परिस्थिति है। पहले तीन या चार वस्त्र, कटिबध तथा एक पात्र रखने की परपरा थी। कटिबध नामक छोटा कपड़ा कमर पर लपेटा जाता था। उसे 'अग्रावतार' भी कहते थे। वर्तमानकाल में 'चोलपट्टा' के नाम से प्रसिद्ध है। आर्यरक्षित आचार्य ने देश कालादि परिस्थिति को लक्ष्य में रखकर वर्षाकाल में और एक 'पात्रक' रखने की आज्ञा प्रदान की। झोली में भिक्षा लाने की पद्धति उसी समय से प्रारभ हुई। इसलिए भाष्यकालीन स्थविरों के उपकरणों की सख्या चौदह बताई गई है-जो निम्नलिखित हैं-[२७१] १) पात्र, २) पात्रबध, ३) पात्र स्थापन, ४) पात्र केसरिका (पात्रप्रमार्जनिका), ५) पटल, ६) रजस्त्राण, ७) गोच्छक, (गुच्छक) ये सात प्रकार 'पात्रनिर्योग' पात्रपरिकरभूतपात्ररक्षक उपकरण हैं। ८-९) प्रच्छादक = दो सोत्रवस्त्र (चद्दरें), १०) ऊनीवस्त्र (कम्बल), ११) रजोहरण, १२) मुखवस्त्रिका, १३) मात्रक और १४) चोलपट्टक। यह उपधि जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट रूप से तीन प्रकार की है। आगे चलकर जो कुछ उपकरण बढ़ाये गये वे 'औपग्रहिक' कहलाये। औपग्रहिक उपधि में सस्तारक, उत्तरपट्टक, दडासन और दडक ये खास उल्लेखनीय हैं। ये उपकरण श्वेताबर मुर्तिपूजक मुनियों के पास ही होते हैं।

दिगम्बर परम्परानुसार स्थविरकल्पी मुनि के लिए पचवस्त्र त्याग, अकिंचनता, प्रतिलेखन क्रिया, पच महाव्रतधारी, खड़े-खड़े भोजन लेना, एकाशन करना, हाथ में ही खाना (कर पात्र) , भिक्षा की याचना नही करना, बाह्य अभ्यतर दोनों प्रकार के तप करना, षडावश्यक, भूमिशयन, केशलुंचन आदि बातों का विधान है।

स्थविरकल्प स्थिति की सम्यक आराधना करने पर साधक अतिम समय समीप आया जानकर योग्य शिष्य को अपना पद प्रदान करके भगवान महावीर के द्वारा कथित विशिष्ट मार्ग का अनुष्ठान करने के लिये तत्पर होते हैं। वह अनुष्ठान दो प्रकार का है -

१) सलेखना (भक्त परिज्ञा, इगिणी और पादोपगमन) और २) जिनकल्प साधना, परिहार विशुद्ध कल्प साधना अथवा यथालन्दिक कल्प साधना। इन दोनों प्रकार की विशिष्ट साधनाओं से कर्मदलिकों को क्षय करने का प्रयत्न किया जाता है।

सलेखना साधना पद्धति

यह जैन साधना विधि की एक प्रक्रिया है। 'संलेखना' जैन धर्म का पारिभाषिक शब्द है। ससारी जीव में ही जन्म-मरण का चक्रव्यूह सतत चलता है। उससे मुक्ति पाने के लिये मुमुक्षु साधक अतिम समय निकट आया जानकर सलेखना करता है। 'सत्' का अर्थ -सम्यक् और लेखना का अर्थ कृश करना है। जो शरीर (तनु) और कषाय को पतला करता है, वह सलेखना है-[२७२] काय को कृश करने का अर्थ है शरीर का ममत्व भाव कम करना। ममकार और अहकार अन्तर्निरीक्षण में बाधक है। सलेखना दो प्रकार की है- आभ्यन्तर और बाह्य। आभ्यन्तर सलेखना का सबध क्रोधादि कषायों से और बाह्य सल नना का सबध शरीर से है। इन दोनों प्रकार में वृद्धि करने वाले कारणों को कृश करना ही सलेखना है।[२७३] कषाय के कृश हुए बिना परिणाम शुद्ध नही हो सकते और परिणाम शुद्ध हुए बिना ध्यान नही हो सकता। ध्यानावस्था में कषाय और शरीर के ममत्व का अभाव होना चाहिये। इसे समाधिमरण, पण्डितमरण, सथारा और सस्तार भी कहते हैं। इहलौकिक पारलौकिक समस्त कामनाओं (इच्छाओं) का त्याग करके प्रशात चित्त से आत्मचिंतन करते हुए समभावपूर्वक प्राणोत्सर्ग करना ही संलेखना या समाधिमरण है।[२७४] मरण का बोध कराने के लिए 'मारणातिक' शब्द का प्रयोग किया गया है। जिसका अत क्षण समाधि भाव में व्यतीत होता है वह 'मारणातिक' कहलाता है।[२७५] सलेखना सभी व्रतों और चारित्र की सरक्षिका होने के कारण 'व्रतराज' के नाम से प्रसिद्ध है।[२७६]

मरण के भेद प्रभेद

आगम एवं अन्य ग्रन्थों के अनुसार मरण के दो, पाँच, बारह, सत्तरह भेद बताये हैं। उनके भेद प्रभेद भी अनेक किये गये हैं। किन्तु सत्तरह प्रकार के मरण में अन्य सभी भेद समाविष्ट हो जाते हैं। संसार में मरण मुख्यत दो ही प्रकार का होता है - अज्ञान मरण (बाल मरण), और ज्ञान मरण (पडित मरण)। इन्हें ही आगम भाषा में अकाम (बालमृत्यू) और सकाम (ज्ञानर्भितमृत्यु, पडितमृत्यु) मरण कहते हैं। मृत्यू, मरण, विगम, विनाश, विपरिणाम ये सभी एकार्थवाची शब्द हैं। भगवती सूत्र में बाल मरण के बारह प्रकार बताये हैं-१) बलन्मरण, २) वसट्टमरण-वसार्तमरण, ३) अन्तशल्यमरण, ४) तद्भव मरण, ५) गिरी-पतन मरण, ६) तरु-पतन-मरण, ७) जल-प्रवेश मरण, ८) ज्वलन प्रवेश मरण, ९) विष भक्षण मरण, १०) सत्थोवाडण (शस्त्रोद्पाटन) मरण, ११) वेहानस मरण और १२) गिद्धपिट्ठ मरण (गृध्रपृष्ठ) मरण। इन बारह प्रकार के

मरण से जीव चारों गति के अनन्त भव बढ़ाता है। इसके अतिरिक्त भगवती सूत्र में और भी पाँच प्रकार के मरण बताये हैं - १) आवीचिमरण (द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भाव से ५ प्रकार हैं) २) अवधिमरण (देश और सर्व से दो भेद हैं), ३) आत्यन्तिक मरण, ४) बाल मरण और ५) पडित मरण। पंडित मरण तीन प्रकार का माना गया है - भक्त प्रत्याख्यान मरण, इंगित मरण और पादोपगमन मरण। ये तीनों ही प्रकार के मरण 'निर्हारिम' और 'अनिर्हारिम' से दो-दो प्रकार के हैं। पंडित मरण का स्वरूप आगे स्पष्ट करेंगे। इन सभी प्रकार के भेदों को एकत्रित करके प्रवचनसारोद्धार में सत्तरह प्रकार के मरण बताये हैं। कहीं कही नामों में थोड़ी सी भिन्नता नजर आती है। भगवती आराधना में १) पडित-पडित मरण, २) पडित मरण, ३) बाल पडित मरण, ४) बाल मरण और ५) बाल-बाल मरण ऐसे पाँच भेद मिलते हैं। इस प्रकार आगम एव अन्य ग्रथों में मरण के अनेक प्रकार बताये हैं।[२७७] इन सभी मरण के भेदों में पडित मरण ही श्रेष्ठ माना गया है।

पंडित मरण का क्रम

क्रमपूर्वक की गई साधना ही जीवन विकासगामी बनाती है। क्रमविहीन साधना असफल बनती है जब कि क्रमसहित साधना चिरस्थायी और सफल बनती है। साधना का क्रम है प्रथम प्रव्रज्या ग्रहण करना, शिक्षा ग्रहण करना, सूत्रार्थ करना, विविध तप एव प्रतिमाओं को ग्रहण करना, तदनन्तर शरीर की क्षीणता को देखकर गुरु समीप क्रमश भक्त प्रतिज्ञा, इगित एव पादोगमन मरण को स्वीकार करें। इन तीनों का स्वरूप इस प्रकार है-

१) भक्त परिज्ञा - (भक्त प्रत्याख्यान) मरण का[२७८] स्वरूप साधक आत्मा शरीर की ममता और कषाय की क्षीणता होने पर अतिम समय समीप आया जानकर गुरु आज्ञा से सर्वप्रथम निर्दोष भूमि का निरीक्षण-परीक्षण करता है। चाहे वह भूमि वन में हो, बस्ती में हो या अन्य कही भी हो। भूमि परीक्षण के बाद उस स्थान पर शय्या बिछाये। समस्त जीवों एवं अपने साथियों से क्षमापना करे। तदनन्तर गुरु साक्षी अथवा वे न हों तो अर्हन्त भगवन्त की साक्षी से पूर्व दिशा की ओर मुँह करके पूर्व कृत, कारित, अनुमोदित सर्व पापों की निश्चल भावों से आलोचना करे। बाद में मरणपर्यंत स्थिर रहनेवाले व्रत की आराधना करे। इस व्रत में तीन या चार प्रकार के आहार का यावज्जीवन तक त्याग किया जाता है। इसे ही 'भक्त प्रत्याख्यान' मरण कहते हैं। इस अवस्था में साधक 'मध्यस्थ भावना', 'केवल निर्जरा की भावना', 'समाधि भावना', 'बाह्य-आभ्यन्तर उपाधि का त्याग', 'अत करण विशुद्धि' इन गुणों से शोभित होता है और अतिम श्वासोच्छ्वास तक आत्मध्यान में लीन रहता है। कर्म क्षय करके सिद्ध गति प्राप्त करता है और यदि कर्म शेष रह जाये तो स्वर्ग में जाता है। इस मरण को सप्रतिकर्म कहते हैं।

२) इंगित मरण का स्वरूप : [२७९] इसकी विधि भी भक्त परिज्ञा मरण के समान ही है। इस मरण को विशिष्ट सहनन वाला एव गीतार्थ मुनि (साधक) ही ग्रहण कर सकता है।पहले मरण की अपेक्षा इसमें यह विशेषता है कि नियमत चारों आहार का त्याग करना होता है और नियमित प्रदेश में सस्तारक पर हलन-चलन की छूट रखकर, भूमि को देखकर आलोचना प्रतिक्रमण करके महाव्रतों को पुन स्वीकार करके शयन करना होता है। यह साधक त्रिकरण और त्रियोग से स्वावलबी होता है। दूसरों की सेवा नही लेता है। सब क्रिया अपने आप ही करता है जैसे कि करवट बदलना, नीहार भूमि जाना आदि। सस्तारक पर सोया हुआ मुनि मेरू के समान निश्चल और दृढपरिणामी होने के कारण आत्मचिन्तन में लीन रहता है। यदि पूर्व कर्मों के फलस्वरूप शरीर में वेदना अथवा परीषह उपसर्ग आने पर स्वकृत कर्मों का फल समझकर सतत स्वचिन्तन (आत्मस्वरूप) में लीन रहने के कारण शीघ्र सिद्ध गति को प्राप्त कर लेता है।

३) पादपोपगमन मरण का स्वरूप : [२८०] दोनों प्रकार के पडित मरण की अपेक्षा यह मरण विशेष प्रयत्न साध्य है। इसमें प्रबलतर पुरुषार्थ की अपेक्षा होती है। इस मरण को अगीकार करने वाला साधक अपने आप को देखे हुए अचित्त भूमि या अचित्त काष्ठ पर स्थापित करता है। चारों प्रकार के आहार का त्याग करके पाँच महाव्रतों का पुन आरोपन करके आलोचना, प्रतिक्रमण, क्षमापना आदि करने के बाद गुरु समक्ष जिस स्थिति में है उसी स्थिति में निश्चल मेरु की भाँति स्थिर रहने की प्रतिज्ञा करता है। इस मरण की यह विशेषता है कि इसमें हलन-चलन क्रिया का भी निषेध है। वृक्ष की भाँति स्थिर रहना ही इस मरण की विशेषता है। इस मरण का नाम ही पादपोपगमन मरण है।

पडित मरण की साधना करने वाले साधक इहलोक, परलोक, जीवन, मरण अथवा कामभोगों की इच्छा न करें। यदि देवता या देवागना दिव्य रूप बनाकर क्रमश परीक्षा अथवा कामभोग की याचना करें तो विचलित न हों, बल्कि अपनी अतिम साधना में स्थिर रहें। पडित मरण उपसर्गों और कर्मशत्रुओं को नाश करने का साधन है।[२८१] इसलिए तो इसे 'अपश्चिममारणान्तिकी सल्लेखना' के नाम से घोषित किया जाता है। मरणान्त के समय अपने भूतकालीन समस्त कृत्यों की सम्यक् आलोचना करके शरीर और कषाय को क्षीण करने के निमित्त की जानेवाली सबसे अतिम तपस्या है।[२८२]

पडित मरण के तीनों प्रकारों में अंतर

भक्त परिज्ञा मरण में तीन या चार प्रकार का आहार का त्याग कहा है। यह सप्रतिकर्म है - दूसरे का सहारा लिया जाता है।

इगित मरण में चारों ही प्रकार के आहार का त्याग कहा है। नियमित प्रदेश में ही हलन-चलन की क्रिया की जाती है। दूसरों की सेवा नही ली जाती।

पादपोपगमन मरण में हलन-चलन की भी छूट नही हैं। वृक्ष की भाँति आसन में स्थिर रहा जाता है।

संलेखना के प्रकार

आगम एव ग्रन्थों में सलेखना के तीन प्रकार बताये हैं-[२८३] जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। जघन्य सलेखना षट् मासिक होती है। मध्यम सलेखना वार्षिक और उत्कृष्ट सलेखना द्वादश वार्षिक होती है। जघन्य और मध्यम सलेखना में विगय का त्याग, आयबिल और बीच-बीच में एकान्तर तप का विधान है। उत्कृष्ट सलेखना करने वाला तपाराधक साधक प्रथम के चार वर्षों में विविध प्रकार (उपवास, छट्ठ, अट्ठम, चार-पाँच आदि) की तपस्यायें करता है। पारणे में शुद्ध आहार लेता है। दूसरे चार वर्षों में विविध प्रकार की खुली-खुली तपस्यायें करता है और पारने में विगय का त्याग करता है। नौवें और दशवें वर्ष में एकान्तरित तप करता है और पारने में आयबिल करता है। ग्यारहवें वर्ष के प्रथम छह मास में बेले-बेले की तपस्या करता है और दूसरे छह मास में तेला (तीन), चोला (चार), पचोला (पाँच) की तपस्या करता है। पारने में आयबिल करता है। अतिम वर्ष में कोटिसहित निरतर आयबिल करके शरीर और आयु बल दोनों को क्षीण करता है।

भक्त प्रत्याख्यान सलेखना का उत्कृष्ट कालमान बारह वर्ष का है।[२८४]

संलेखना में पच शुद्धियाँ

समाधि मरण करनेवाले साधक के लिये पाँच शुद्धियाँ आवश्यक होती हैं। वे इस प्रकार हैं-[२८५] १) आलोचना शुद्धि, २) शय्या शुद्धि, ३) सस्तारक शुद्धि, ४) उपधि शुद्धि और ५) भक्तपान शुद्धि।

सलेखना के पाँच अतिचार

सलेखना विधि में पाँच दोष पाये जाते हैं-[२८६] इहलोकाशसा-प्रयोग (इहलोक की इच्छा), परलोकाशसा प्रयोग (परलोक की इच्छा), जीविताशसा प्रयोग (जीने की इच्छा), मरणाशसा प्रयोग (मरने की इच्छा) और कामभोगाशसा प्रयोग (विगत सौख्य स्मृति और भावी सुख की कामना) इन पाँच दोषों (अतिचारों) से रहित मृत्यु ही सलेखना की आराधना है।

संलेखना स्वतंत्र साधना है - आत्महत्या नहीं

सलेखना अतिम समय की सर्वोत्कृष्ट स्वतत्र साधना है। कतिपय विद्वान श्रमण एव श्रावक की इस साधना पद्धति को आत्महत्या मानते हैं। आत्महत्या क्रोधवश की जाती

है, अथवा राग-द्वेष, मोहादि कषायों की प्रवलता और विषादि का प्रयोग होने पर होती है। जैन धर्मानुसार कथित सलेखना व्रत में समाधिमरण से मरनेवाले साधक में रागादि परिणाम और मोहादि भाव होते ही नही, वे तो मृत्यु का महोत्सव करते हैं। फिर बताइए, आत्महत्या कैसे हो सकती है? समाधिमरण में सारी चिंताएँ नष्ट हो जाती हैं, विभावदशा से हटकर स्वभावदशा में रमण करते हुए स्वेच्छा से मरण को स्वीकार करते हैं, मोक्ष की भी अभिलाषा इसमें नही की जाती है। ऐसी यह सलेखना स्वतत्र साधना है, आत्महत्या नही।[२८७]

जिनकल्प साधना पद्धति

विशेष साधना के लिए जो सघ से अलग होकर रहते हैं, उसकी आचार सहिता को जिनकल्प स्थिति कहते हैं।[२८८] आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर तथा गणावच्छेदक इन पाँचों में से कोई भी जिनकल्प साधना स्वीकार करते हैं। साधना स्वीकार करने के बाद वे अपने आपको पाँच तुलाओं में तोलते हैं और भावनायोग का आलम्बन लेकर आगे बढ़ते हैं। कन्दर्पा, दैवकिल्विषी, अभियोगी, आसुरी और आभियोगिक इन पाँच प्रकार की अप्रशस्त भावना का त्याग करके शुभ (प्रशस्त) भावनाओं में रमण करते हुए सर्व प्रथम तप तुला से स्व का निरीक्षण करते हैं। छह मास तक देवादि के उपसर्ग से आहारादि के न मिलने पर भी पीड़ा का अनुभव नही करते। सत्त्व तुला से भय निवारण करते हैं। रात्रि में कायोत्सर्ग करना, उपाश्रय के बाहर कायोत्सर्ग करना, चौक में कायोत्सर्ग करना, शून्य गृह में कायोत्सर्ग करना और श्मशान में कायोत्सर्ग करना। इन पाँच स्थान पर कायोत्सर्ग करके सत्त्व भावना से स्व की परीक्षा करते हैं। सूत्रतुला (भावना) से रात्रि अथवा दिन के उच्छ्वास, प्राण, स्तोक, लव, मुहूर्त आदि को अच्छी तरह जानते हैं। एकत्व तुला (एकत्व भावना) से अभेदज्ञान द्वारा शरीर और आत्मा को भिन्न मानते हैं। अत में बल भावना से शारीरिक, मानसिक बल की जानकारी लेकर जिनकल्प साधना में आगे बढ़ते हैं। इसमें शारीरिक बल की प्रबलता होती है, जिसके कारण उपसर्गों को जीत सकते हैं। इस प्रकार जिनकल्पी मुनि पंचतुलाओं (पच भावनाओं) से अपने आपको तोलते हैं।[२८९]

जिनकल्प विधि : इस कल्प को स्वीकार करने वाले के लिए पाँच तुलायें अनिवार्य नही हैं। जिनकल्प स्वीकार करने के पहले सघ को एकत्रित करते हैं। यदि सघ न हो तो अपने गण को एकत्रित करके गणधर को स्थापित करने पर क्षमापना आदि करते हैं।

बाद में क्रमशः तीर्थंकर, गणधर, चतुर्दशपूर्वधर, दसपूर्वधर के पास जिनकल्प स्वीकार करते हैं। यदि इन में से कोई भी न हो तो वट, अश्वत्थ, अशोकवृक्ष इन वृक्षों के समीप जाकर स्वय ही जिनकल्प स्वीकार करते हैं। जिनकल्प स्वीकार करने के पहले वे अपने उत्तराधिकारी को हितशिक्षा देते हैं कि "गण में बाल वृद्ध आदि सबकी अच्छी सेवा करना, समय आने पर तुम भी कल्प स्वीकार करना, ज्येष्ठ मुनि से विनयादि करना, स्वाध्याय, ध्यान, अध्ययन आदि में लीन रहना, अल्प श्रुत और बहुश्रुत मुनि का तिरस्कार नही करना, गण के अधिकारी की आज्ञानुसार चलना।" मुनिगण को हितशिक्षा एव क्षमापना आदि करने के बाद जिनकल्प स्वीकार करके वे अकेले ही आगे बढ़ जाते हैं।[२९०]

क्षेत्र काल आदि द्वारों का विचार : स्थविरकल्पिकों की भाँति ही जिनकल्प मुनियों के भी क्षेत्रादि द्वारों द्वारा उनके चर्यादि का विचार किया जाता है, जैसे कि[२९१] क्षेत्र, काल, चारित्र, तीर्थ, पर्याय, आगम, वेद, कल्प, लिंग, लेश्या, ध्यान, गणना, अभिग्रह, प्रव्रज्या, मुडापन, कारण, निष्प्रतिकर्म, भक्त, पथ, स्थिति, सामाचारी एव श्रुत, सहनन, उपसर्ग, आतक, वेदना, कतिजन, स्थडिल, वसति, कियच्चिर, उच्चारच्चैव, प्रश्रवण, अवकाश, तृणफलक, सरक्षणता, सस्थापनता, प्राभृतिका, अग्नि, दीप, अवधान, वस्त्ययकतिजना, भिक्षाचर्या, पानक, लेपालेप, अलेप, आचाम्ल (आयबिल), प्रतिमा और जिनकल्प। इनमें से कई द्वारों का स्थविरकल्प साधना पद्धति में वर्णन कर चुके हैं। जहाँ कही नवीनता महसूस होगी तो उल्लेख करेंगे, वरना नही।

काल द्वार के अनुसार अवसर्पिणी काल में उत्पन्न हो तो उनका जन्म तीसरे चौथे आरे में होता है और जिनकल्प का स्वीकार तीसरे चौथे और पाँचवें आरे में हो सकता है।यदि उत्सर्पिणी काल में उत्पन्न हुए हों तो उनका जन्म दूसरे, तीसरे और चौथे आरे में होता है ओर जिनकल्प का स्वीकार तीसरे चौथे आरे में किया जाता है। सहरण करने पर देवकुरु आदि सभी क्षेत्रों में पाये जाते हैं। चारित्र द्वारानुसार सामायिक और छेदोपस्थापनीय चारित्र (सयम) में ही वर्तमान मुनि जिनकल्प स्वीकार कर सकते हैं। तदनन्तर वे सूक्ष्मसंपरायादि चारित्र में भी जा सकते हैं। पर्यायद्वार के अनुसार जघन्यत उनतीस वर्ष की अवस्था में (९ वर्ष गृहस्थावास के और २० वर्ष सयम पर्याय के) और उत्कृष्टत गृहस्थ व साधुपर्याय की कुछ न्यून करोड पूर्व में इसे स्वीकार कर सकते हैं। जिनकल्प स्वीकार करने पर वे नये श्रुत का अध्ययन नहीं करते किन्तु पहले पढ़े हुए श्रुत का स्वाध्याय करते हैं। वेद द्वारानुसार स्त्रीवेद को छोड़कर पुरुषवेद और असक्लिष्ट नपुसक वेद वाले व्यक्ति ही इस कल्प को स्वीकार करते हैं। स्वीकार की प्रक्रिया होने के बाद वे सवेद ओर अवेद भी हो सकते हैं। यहाँ अवेद का अर्थ उपशान्त वेद से है। गणनाद्वार के

अनुसार एक समय में कल्प स्वीकार करने वालों की उत्कृष्ट सख्या शतपृथक्त्व (९००) और पूर्व स्वीकृत के अनुसार यह सख्या सहस्रपृथक्त्व (९०००) ही होती है। पन्द्रह कर्मभूमियों में उत्कृष्टत इतने ही, जिनकल्पी प्राप्त हो सकते हैं। अभिग्रह द्वार के अनुसार वे अल्पकालिक कोई भी अभिग्रह स्वीकार नही कर सकते। उनके जिनकल्प अभिग्रह ही जीवनपर्यन्त रहता है। उसमें गोचर आदि प्रतिनियत और निरपवाद होते हैं। उनके लिये जिनकल्प का पालन ही परम विशुद्धि का स्थान है। प्रव्रज्या और मुडापना द्वार के अनुसार वे किसी को दीक्षित नही कर सकते, मुडित नही कर सकते। यदि कोई दीक्षा लेना चाहे तो उपदेश दे सकते हैं और बाद में उसे सविग्न गीतार्थ साधु के पास भेज देते हैं। प्रायश्चित्त द्वारानुसार जिनकल्पिक मुनि को मानसिक सूक्ष्म अतिचार के लिए भी जघन्यत चतुर्गुरुक मासिक प्रायश्चित्त दिया जाता है। कारण द्वार के अनुसार वे किसी भी प्रकार का अपवाद सेवन नही करते। निष्प्रतिकर्म द्वार के अनुसार शरीर पर किसी भी प्रकार का प्रतिकर्म नही करते। आँख कानादि का मैल भी नही निकालते, न ही पैर का काटा निकालते हैं। वे किसी भी प्रकार की चिकित्सा भी नही करते। भक्त और पथद्वार के अनुसार वे तीसरे प्रहर में ही गोचरी और विहार करते हैं। स्थितिद्वार के अनुसार जघाबल के क्षीण होने पर वे एक ही स्थान पर रहते हैं, किन्तु किसी प्रकार का दोष सेवन नहीं करते। सामाचारीद्वार के अनुसार दस समाचारी में से आवश्यिकी, नैषेधिकी, मिथ्याकार, आपृच्छा और उपसपद् इन पाँच का ही सेवन करते हैं।[२१२]

श्रुतादि द्वार के अनुसार जिनकल्पी जघन्यत प्रत्याख्यान नामक नौवे पूर्व की तीसरी आचार वस्तु के ज्ञाता तथा उत्कृष्टत अपूर्ण दशपूर्वघर हैं। सपूर्ण दशपूर्वधर जिनकल्प अवस्था प्राप्त नहीं कर सकते। दिगम्बर परम्परा में कुछ भिन्नता है। उनके कथनानुसार वे ग्यारह अगों के धारक होते हैं। जिनकल्पी मुनि वज्रऋषभनाराच सहनन वाले ही होते हैं। उन्हें उपसर्ग हो ही ऐसा कोई नियम नही। यदि उपसर्ग आये तो समभाव से सहन करते हैं। रोगादि के उत्पन्न होने पर समभाव से सहन करते हैं। उन्हें दो प्रकार की वेदनाएँ होती हैं-१) आभ्युपगमिकी (लूचन आतापनादि से उत्पन्न) और २) औपक्रमिकी (अवस्था एव कर्मोदय से उत्पन्न)। वे अकेले ही होते हैं। उनके लिये स्थडिल भूमि की विशेष विधि होती है। वे उच्चार पासवण (प्रश्रवण) का उत्सर्ग विजन अथवा शून्य स्थान में करते हैं। जैसा स्थान मिले उसी में वे रहते हैं। साधु निमित्त लीपी पुती वसति में नही रहते। बिलों को धूलादि से नही ढकते, पशुओं के द्वारा तोड़े मोड़े जाने पर भी वसति की रक्षा नही करते, द्वार बद नही करते, अर्गला नही लगाते। वसति की यातना करने पर गृहस्वामी के अनेक प्रश्न पूछे जाने पर वहाँ न रहें (निमन्त्रित प्रश्न) जिस वसति में बलि दी जाती हो, किसी भी प्रकार की अग्नि जलती हो, मकान की रक्षा करने के

लिये कहें, ऐसे स्थानों में न रहें। भिक्षा के लिये तीसरे प्रहर में जाते हैं। भिक्षा चर्या जाने वाले मुनि सात पिण्डैषणाओं में से प्रथम दो को छोड़कर शेष पाँच एषणाओं से तीसरे प्रहर में अलेप कृत भक्त-पान लेते हैं। मलादि के दोष उत्पन्न होने की सभावना से आचाम्ल नहीं करते। वे मासिकी आदि भिक्षु पडिमा तथा भद्रा, महाभद्रा, सर्वतोभद्रा पडिमा स्वीकार नही करते। मास कल्प की साधना में जहाँ रहते है, वहाँ उस गांव या नगर को छह भागों में विभक्त करके प्रतिदिन एक-एक विभाग में भिक्षार्थ जाते हैं। वे एक ही वसति में सात (जिनकल्पिक) से अधिक नही रहते। वे एक साथ रहने पर परस्पर सभाषण नहीं करते तथा भिक्षा के लिये एक वीथि में भी नही जाते।[२१३]

जिनकल्पिक मुनि के दो प्रकार की उपधि होती है। जो उपकरण को साधारणतया सब ऋतुओं में उपयोग में लेते हैं उन्हें ओघ उपधि कहते हैं और जो कभी-कभी विशेष रूप से उपयोग में लेते हैं उन्हें उपग्रह उपधि कहते हैं। रजोहरण और मुखवस्त्रिका सहित स्थविरकल्पी मुनि की भाँति जिनकल्पिक मुनि के द्वादशविध उपधि होती है। उपधि के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट रूप से तीन प्रकार होते हैं।[२१४]

दिगम्बर देवसेनाचार्य के[२१५] कथनानुसार "जिन कल्प में स्थित श्रमण बाह्य आभ्यन्तर ग्रन्थियों से रहित, निस्पृह और वाग्गुप्त होते हैं। वे जिन भगवान की तरह घूमते रहते हैं। आँख या पैरों में गये हुए कांटे को स्वय नही निकालते, दूसरा निकालता है, तो मौन रहते हैं। ग्यारह अग के ज्ञाता होते हैं। अकेले घूमते हैं। सदा धर्म ध्यान शुक्लध्यान में लीन रहते हैं। कषायों के त्यागी, मौनी और कन्दरा में रहते हैं। वामदेव के कथनानुसार[२१६] जिनकल्पी शुद्ध सम्यक्त्वयुक्त इन्द्रिय विजेता, कषायविजेता, एकादश श्रुत को एक अक्षर की तरह जानने वाले पर्वत, गुफा, जंगल, नदी के तट आदि स्थानों में रहने वाले होते हैं। वर्षाकाल में जीवाकुल होने के कारण छ. मास तक निस्पृह और निराहार कायोत्सर्ग ध्यान में खड़े रहते हैं। सतत धर्मध्यान में लीन रहते हैं। निरन्तर अनियतवास करते हैं। तप के कारण उन्हें विक्रिया, आहारक, चारण, क्षीरास्रव आदि लब्धियाँ प्राप्त होती हैं। किन्तु विरागी होने के कारण उनका सेवन नही करते।

जिन कल्पी श्रमण की साधना पद्धति अत्यन्त कठोर है। वे अपनी साधना के बल से सूक्ष्म सपराय और यथाख्यात चारित्र प्राप्त कर लेते हैं। किन्तु यह सारी भूमिका उपशम श्रेणी द्वारा प्राप्त करते हैं। क्षपक श्रेणी वे करते ही नही, जिसके कारण उन्हें केवल ज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति नहीं होती। उन्हें क्षपक श्रेणी क्यों नही होती यह चिन्तनीय प्रश्न है।

परिहार विशुद्ध साधना पद्धति

परिहार विशुद्ध साधना और सयम (चारित्र) दोनों भी हैं। परिहार शब्द का अर्थ 'तप' है। परिहार विशुद्धिक संयम तपस्या की विशेष साधना पद्धति है। तप के द्वारा जिस चारित्र में विशेष शुद्धि होती है, उसे परिहार विशुद्धि कहते हैं।[२९७] इस साधना का प्रारंभ भी 'प्रव्रज्या सिक्खावय' आदि स्थविरकल्पिक साधना पद्धति के अनुसार ही होता है। इसके तीन अग होते हैं।[२९८] - परिहारक, अनुपरिहारक और कल्पस्थित। इस साधना पद्धति में विशिष्ट प्रकार के तप करने वाले को परिहारक कहा जाता है। परिहारक की सेवा करने वाले को अनुपरिहारक कहते हैं और वाचनाचार्य की जिम्मेदारी निभाने वाले को कल्पस्थित कहते हैं। आगम में परिहारक को निर्विष्ट मानक और अनुपरिहारक को निर्विष्टकायिक (निर्विशमानक) कहते हैं।

परिहार विशुद्धक साधना का स्वरूप

इस साधना पद्धति में नौ जनों का समूह होता है। उनमें से सर्वप्रथम चार जन विशिष्ट प्रकार की तपस्या करते हैं। ग्रीष्म, शीत और वर्षा ऋतु में वे क्रमश जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट रूप से तपस्या करते हैं। विधि क्रमांक इस प्रकार है। ग्रीष्मऋतु में जघन्य एक उपवास (चतुर्थ भक्त), मध्यम दो उपवास और उत्कृष्ट तीन उपवास की आराधना करते हैं। शीतऋतु में जघन्य दो उपवास, मध्यम तीन उपवास और उत्कृष्ट चार उपवास की साधना करते हैं। अंतिम वर्षाऋतु में जघन्य तीन उपवास, मध्यम चार उपवास और उत्कृष्ट पाँच उपवास की आराधना करते हैं। इस क्रम से साधना करने वाले को अर्घ अपक्रान्ति साधना पद्धति का आराधक माना जाता है।[२९९] परिहारक के बाद अनुपरिहारक भी इसी क्रम से तपाराधना करता है। तदनन्तर कल्पस्थित का नबर आता है। इन सबके तपाराधना का कालमान छ -छ मास का है। कल्पस्थित मुनि अकेले ही परिहार विशुद्ध साधना स्वीकार करते हैं। परिहारक और अनुपरिहारक इन दोनों की आठ सख्या में से किसी एक को वाचनाचार्य बनाते हैं और शेष सात अनुपरिहारकत्व स्वीकार करते हैं। परिहारक की अनुपरिहारिक सेवा करते हैं। जब अनुपरिहारिक परिहार विशुद्ध साधना स्वीकार करते हैं तब परिहारक उनकी सेवा करते हैं। इन सब साधक के लिये यह छ -छ मास की साधना पद्धति है। कुल अठारह मास में यह साधना पूर्ण होती है। ये तीनों प्रकार के साधक पारणे में आयंबिल ही करते हैं। जब विशिष्ट साधना की जाती है तब ऊपर बताये हुए क्रम से साधना करते हैं और जो अनुपरिहारिक तथा कल्पस्थित होते हैं, वे नित्य भोजी होते हैं। नित्य भोजन में एव पारणे में आयबिल की ही आराधना करते हैं। इस प्रकार परिहार विशुद्ध साधना का स्वरूप है।[३००]

अठारह मास की साधना पूर्ण हो जाने पर वे पुन परिहारक साधना प्रारंभ करते हैं,

नही तो जिनकल्प अथवा स्थविरकल्प साधना पद्धति स्वीकार करते हैं। जो जिनकल्प साधना को स्वीकार करता है उसे यावत्कथित परिहारविशुद्ध साधना कहते हैं। जो स्थविरकल्प साधना की आराधना करता है वह इत्वर परिहारविशुद्ध साधक कहलाता है।[३०१]

परिहारविशुद्धक मुनियों के चर्यादि का वर्णन "क्षेत्र, काल, चारित्र, तीर्थ, पर्याय, आगम, वेद, कल्प, लिंग, लेश्या, ध्यान, गणना, अभिग्रह, प्रव्रज्या, मुडावण" आदि द्वारों के द्वार जिनकल्पिक साधकों के क्षेत्रादि के समान ही हैं।[३०२] जहाँ-जहाँ विशेष महसूस हुआ है उसे नीचे दिया जा रहा है-[३०२] क्षेत्र की दृष्टि से परिहार विशुद्धक मुनि का जन्म कल्प ग्रहण कर्मभूमि के भरत और ऐरावत क्षेत्र में ही होता है, अन्यत्र विदेहक्षेत्र में नही। देवादि द्वारा सहरण को छोड़कर वे अन्यत्र कही भी प्राप्त नही होते। काल द्वार की दृष्टि से उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल में ही होते हैं, नो अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी सुषम-सुषमादि में नही होते। कल्प द्वार के अनुसार वे स्थितकल्प में ही होते हैं। प्रथम अथवा अतिम तीर्थंकर के तीर्थ में ही होते हैं। लिंग द्वार की दृष्टि से वे द्रव्य और भाव दोनों ही लिंगों से स्वीकार करते हैं। चारित्र द्वार की दृष्टि से सामायिक और छेदोपस्थापनीय अवस्था में स्वीकार करते हैं। प्रायश्चित्त की दृष्टि से परिहारविशुद्धक एक क्षण के लिये भी मानसिक व्यग्रता का सेवन करता है तो उसे चातुर्मासिक प्रायश्चित्त दिया जाता है। गणना की दृष्टि से दो प्रकार से वर्णन किया जाता है - गणप्रमाणत और पुरुष प्रमाणत। गणप्रमाण के जघन्य और उत्कृष्ट ऐसे दो भेद किये गये हैं। जघन्य में तीन गण, विशेषत भाष्यकार की दृष्टि से जघन्य सत्तावीस माने गये हैं और उत्कृष्ट शतपृथक्त्व तथा भाष्यकार के अनुसार सहस्रपृथक्त्व है। श्रुतानुसार वे नौ पूर्व एव उत्कृष्ट दस पूर्व के पाठी होते हैं। व्यवहारानुसार आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत-व्यवहारज्ञ होते हैं।

यथालन्द साधना पद्धति

यह भी श्रमणों की विशिष्ट प्रकार की साधना है। यथालन्द शब्द दो शब्दों के योग से बना है। यथा का अर्थ है - यथा विधि अथवा सूत्रोक्त विधि के अनुसार, और लन्द का अर्थ है - काल। जल से भीगी हुई हस्तरेखा के सूखने में जितना समय लगता है उतने समय से लेकर पाँच रात्रिदिन के काल को सिद्धान्त की परिभाषा में लन्द कहते हैं।[३०४] यथालन्दक मुनि साधना काल में इतना अल्प भी प्रमाद नहीं करते सतत अप्रमत्तावस्था में जागृत रहते हैं। लन्द शब्द के तीन भेद हैं-[३०५] जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। गीली हस्तरेखा के सूखने में जितना समय लगता है वह जघन्य काल है। उत्कृष्ट पाँच अहोरात्र। शेष मध्यम काल है।

यथालन्दक मुनि भी जिनकल्पक मुनि की तरह "तप, सत्त्व, सूत्र, एकत्व और बल" इन पाँच तुलाओं से सम्पन्न होते हैं। यह साधना गच्छ में रहकर या गच्छ के बाहर की जाती है। इसीलिये इनके दो प्रकार हैं-गच्छप्रतिबद्ध और गच्छ अप्रतिबद्ध। पुनश्च इनके दो भेद हैं। जिनकल्पिक यथालन्दिक और स्थविरकल्पिक यथालन्दिक। ये पाँच-पाँच के समूह में होते हैं। जिनकल्पिक की भाँति ही इनकी सारी क्रियायें होती हैं। किन्तु ये उत्कृष्टत एकेक गलियों में पाँच-पाँच दिन तक पर्यटन करते हैं। इनकी सख्या कम से कम पन्द्रह और अधिक दो हजार से नौ हजार तक होती है। पूर्व जिन्होंने इस कल्प को स्वीकार किया है उनकी भी कम से कम और अधिक से अधिक दो क्रोड से नौ करोड़ की सख्या होती है। पाँच साधु के समूह से इस कल्प को स्वीकार किया जाता हैं।[३०६]

यथालन्द विधि : परिणाम, सामर्थ्य, प्रमाण, स्थापना, आचार, मार्गणा एव यथालन्दक मासकल्प - इन्हें पाँच के समूह में स्वीकार करते हुए शरीर के लिये आहार और वसति का स्वीकार करते हैं। किसी भी प्रकार का परिग्रह नही रखते, शरीर का सस्कार नही करते, उपसर्ग परीषहों को समभाव से सहन करते एव धैर्यबल से हीन नही होते, रोगादि से उत्पन्न वेदनाओं का प्रतिकार नही करते। तपाराधना से थकने पर दूसरों का सहारा लेते, किन्तु वाचनादि नही देते। आठों प्रहर निद्रा नही लेते, एकाग्र चित्त से ध्यान मग्न रहते, श्मशान में ध्यान करते, आवश्यकादि क्रिया में सतत प्रयत्नशील रहते, दोनों समय उपकरणों की प्रतिलेखना करते, स्थानादि की आज्ञा लेकर निवास करते, दस प्रकार की समाचारी का पालन करते, अतिचार लगते ही 'मेरे दुष्कृत मिथ्या' हों, ऐसा बोल कर निवृत्त होते, सघ के साथ किसी भी प्रकार का लेन, देन, अनुपालना, विनयादि सह भोजन एव वार्तालाप नही करते, सतत मौन की आराधना करते, आवश्यकता लगने पर एक व्यक्ति से बात करते। गोचरी के लिये दो गव्यूति से अधिक नही जाते, व्याघादि, सर्प, मृग आदि के सामने आने पर उन्हें दूर नही करते, आँख एव पैर का काटा नही निकालते, इस प्रकार दोनों प्रकार के यथालन्दक मुनि अपनी अपनी चर्या के अनुसार आचार सहिता का पालन करते हुए वस्त्रादिरहित एव वस्त्रादिसहित होकर यथालन्दक साधना का पालन करते हैं।[३०७]

यथालन्दक मुनियों का क्षेत्रादि के अनुसार वर्णन करते हैं।[३०४] क्षेत्र की अपेक्षा एक सौ सत्तर कर्मभूमि में यथालन्दक मुनि होते हैं। काल की अपेक्षा सर्वत्र होते हैं। चारित्र की दृष्टि से प्रथम दो प्रकार के चारित्र के धारक होते हैं। तीर्थ की दृष्टि से सभी तीर्थंकरों के तीर्थ में होते हैं। तीस वर्ष गृहस्थावास और उन्नीस वर्ष का मुनि धर्म का पालन करते हैं। श्रुत से नौ या दस पूर्व के धारी होते हैं। शुभ लेश्या वाले होते हैं। कुछ कम सात हाथ से लेकर पाँच सौ धनुष ऊचे होते हैं। काल की दृष्टि से एक अन्तर्मुहूर्त से लेकर कुछ कम पूर्व

कोटि की स्थिति वाले होते हैं। यथालन्दक साधना स्वीकार करने के काल से लेकर जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट आयु बीते वर्षों से हीन पूर्व कोटि प्रमाण होती है। वे विक्रिया, चारण और क्षीरास्त्रवित्व आदि लब्धियों के धारक होते हैं। किन्तु रागाभाव के कारण उनका सेवन नहीं करते हैं। गच्छ प्रतिबद्ध यथालन्दक मुनि एक योजन में विहार करते हैं। पराक्रमी आचार्य क्षेत्र से बाहर जाकर उपदेश भी देते हैं। परिज्ञान या धारणा गुणसंपन्न एक, दो या तीन यथालन्दक मुनि गच्छ बाहर जाकर प्रश्नादि भी करते हैं और पुन अपने क्षेत्र में आकर भिक्षा ग्रहण करते हैं। शक्तिहीन आचार्य उपाश्रय में ही सूत्रार्थ पौरुषी करके भिक्षा ग्रहण करते हैं। शेष सब क्रियायें जिनकल्पिक मुनियों की तरह हैं।

पडिमा साधना पद्धति

आगम युग की यह भी एक विशिष्ट साधना पद्धति है। श्रमण और उपासक (श्रावक) के लिये आगम में भिक्खु पडिमा और उपासक पडिमा का उल्लेख है। पडिमा शब्द अनेक अर्थों में प्रतिपादित किया गया है-[३०९] १) तपस्या का विशेष मापदड, २) साधना का विशेष नियम, ३) कायोत्सर्ग, ४) मूर्ति और ५) प्रतिबिम्ब। वृत्तिकार ने पडिमा का अर्थ प्रतिपत्ति, प्रतिज्ञा ओर अभिग्रह किया है। यहाँ पडिमा शब्द का अर्थ साधना का मापदड और अभिग्रह ही लिया गया है। साधना की भिन्न-भिन्न पद्धतियों को स्पष्ट करने के लिये अनेक रूप में पडिमाओं का उल्लेख किया जा रहा है-समवायांगसूत्र में वैयावृत्यकर्म की ९१ या ९२ पडिमायें वर्णित हैं। स्थानांगसूत्र में दो-दो के रूप में अनेक पडिमाओं का उल्लेख है। समवायाग एवं अन्य आगम में श्रमण की बारह पडिमा और उपासक की ग्यारह पडिमा का वर्णन है। इन सब पडिमाओं का स्वरूप निम्नलिखित है।

बारह भिक्खु पडिमा :[३१०] **मासिया भिक्खु पडिमा :** प्रथम पडिमाधारी भिक्खु एक दत्ति अन्न की और एक दत्ति पानी की लेता है। साधु के पात्र में दाता द्वारा दिए जाने वाले अन्न जल की धारा जब तक अखड बनी रहे, उसका नाम दत्ति है। धारा खण्डित होते ही दत्ति की समाप्ति हो जाती है, इसका कालमान एक मास का होता है।

दोमासिया जाव सत्तमासिया भिक्खु पडिमा : दो से लेकर सातवीं पडिमा तक का वर्णन किया जा रहा है। इनमें क्रमश एकेक दत्ति अन्न की और एकेक दत्ति पानी की वृद्धि होती जाती है। इन सब भिक्षु पडिमा का कालमान एक-एक मास का है। दत्तियों की वृद्धि के कारण द्विमासिकी त्रिमासिकी यावत् सप्तमासिकी भिक्खु पडिमा कहते हैं।

प्रथम सत्तरात्रिन्दियाभिक्खुपडिमा : यह आठवी भिक्खु पडिमा है। यह सात दिन की होती है। इसमें एकान्तर चौविहार उपवास किया जाता है अथवा सात दिन

चौविहार उपवास करते हैं। दिन में सूर्य की आतापना लेते और रात्रि में नग्नावस्था में एक ही करवट पर सोते अथवा सामर्थ्य होने पर कायोत्सर्ग करते। गाव के बाहर उत्तानासन, पार्श्वासन और निषद्यासन (पैरों को बराबर करके) में ध्यान करते हैं। उपसर्ग आने पर समभाव से सहन करते।

द्वितीय सत्तरात्रिन्दिया भिक्खु पडिमा : यह नौवीं भिक्खु पडिमा सप्तरात्रि की होती है। इसमें चौविहार बेले-बेले (दो-दो उपवास) से पारणा किया जाता है। शेष सब आठवी भिक्खुपडिमा के समान ही है किन्तु विशेषता इतनी है कि इसमें रात्रि को शयन नही किया जाता किन्तु ग्राम के बाहर दण्डासन, लगुडासन एव उत्कटुकासन से रात्रि में ध्यान किया जाता है।

तृतीय सत्तरात्रिन्दिया भिक्खु पडिमा : यह दसवी भिक्खु पडिमा भी सप्तरात्रि की होती है। इसमें चौविहार तेले-तेले (तीन-तीन उपवास) से पारणा किया जाता है। विशेष पूरी रात गोदोहनासन, वीरासन, अथवा आम्रकुब्जासन से ध्यान करते हैं।

अहोरात्रि भिक्खु पडिमा : इस ग्यारहवी पडिमा में एक रात और एक दिन तक (अहोरात्र) साधना की जाती है। चौविहार बेले के द्वारा इसकी आराधना की जाती है और नगर के बाहर दोनों हाथों को घुटनों की ओर लम्बा करके दण्डासन में खड़े होकर कायोत्सर्ग किया जाता है।

एकरात्रिभिक्खुपडिमा : यह बारहवी भिक्खु पडिमा एक रात्रि की होती है। इसकी आराधना चौविहार तेले से की जाती है। गांव के बाहर निर्निमेष नेत्र से किसी एक पुद्गल पर दृष्टि स्थिर करके कायोत्सर्ग किया जाता है। मारणातिक उपसर्ग आने पर भी समभाव से सहन किया जाता है।

इन बारह भिक्खु पडिमाओं के विषय में कुछ मान्यताएँ भिन्न-भिन्न हैं। प्रथम से लेकर सातवीं पडिमा तक का कालमान क्रमश एक-एक मास बढ़ाते हुए सात मास तक जाते हैं। उनकी मान्यता आगम के आधार पर ही है। आठवी, नौवीं, दसवीं पडिमा में कुछ आचार्य के कथनानुसार चौविहार उपवास एकान्तर रूप से माना जाता है। किन्तु दशाश्रुतस्कन्धसूत्र, अभयदेवकृत समवायाग टीका, हरिभद्रकृत आवश्यक टीका में आठवी से दसवी पडिमा तक चौविहार उपवास का ही उल्लेख है। और भी कुछ अतर है किन्तु यह शोधप्रबन्ध का विषय नहीं है।

बारह भिक्खु पडिमाओं का यथाशक्ति पालन न करना, उन पर श्रद्धा न रखना एव विपरीत प्ररूपणा करना, अतिचार है। वर्तमान में भिक्खु पडिमा का विच्छेद हो गया है।

ग्यारह उपासक पडिमा

श्रावक की साधना को तीन रूप में प्रतिपादित किया जाता है। - दर्शन श्रावक की साधना, व्रती श्रावक की साधना और पडिमाधारी श्रावक की साधना। अतिम साधना श्रावक के लिये उत्कृष्ट मानी जाती है। श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परानुसार ग्यारह उपासक पडिमा के नामों में कहीं-कही अंतर दृष्टिगोचर होता है। उपासकों की ग्यारह पडिमा इस प्रकार हैं-[३११]

दर्शन पडिमा : देव गुरु धर्म का सम्यक् चिन्तन करना, शंकादि दोषों से रहित होकर क्रियावादी अक्रियावादी आदि ३६३ पाखण्डियों के मतों की सम्यक् जानकारी एव विधिपूर्वक सम्यग्दर्शन का पालन ही दर्शन पडिमा है। इसका कालमान आचार्यादि के कथनानुसार एक मास का माना जाता है।

व्रत पडिमा : सम्यक्त्व की प्राप्ति के बाद पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इन बारह व्रतों की सम्यक् आराधना ही व्रत पडिमा है। इसका कालमान दो मास का है।

सामायिक पडिमा : सम्यग्दर्शन ओर अणुव्रत को स्वीकार करने के बाद ही गुणव्रत में सामायिक-समभाव की साधना की जाती है। इसका कालमान तीन मास का है।

पौषध पडिमा : अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा, अमावास्या इन चतुर्पर्वी में आहार का त्याग, शरीर के ममता का त्याग, अब्रह्मचर्य अथवा व्यापार का त्याग करके पूर्ण पौषध व्रत का पालन करना ही पौषध पडिमा है। इसकी कालमर्यादा चार मास की है।

नियम पडिमा (कायोत्सर्ग पडिमा) : इस पडिमा में साधक पाँच नियमों का पालन करता है। १) स्नान नही करना। २) रात्रि भोजन नही करना, ३) धोती की लाग नही लगाना, ४) रात्रि में मैथुन की मर्यादा करना, दिन में पूर्ण ब्रह्मचर्य पालना और ५) दिन में ही भोजन करना। इसका कालमान पाँच मास का है। दिगम्बर परम्परा में इस पडिमा को 'सचित्तत्यागपडिमा' कहते हैं।

ब्रह्मचर्य पडिमा : इसमें पूर्ण ब्रह्मचर्य का विधान है। इसकी कालमर्यादा दो प्रकार की है-जघन्य एक रात्रि की और उत्कृष्ट छह मास। दिगम्बर परम्परा में इसे ''रात्रि भोजन त्याग पडिमा अथवा दिवामैथुन त्याग पडिमा'' कहते हैं।

सचित्त त्याग पडिमा : इसमें सचित्त का सर्वथा त्याग किया जाता है किंतु आरंभ का त्याग नहीं किया जाता। इसका जघन्य काल एक रात्रि और उत्कृष्ट काल सात मास का है। दिगम्बर परम्परा में इसे 'ब्रह्मचर्य पडिमा' कहते हैं।

आरभ त्याग पडिमा : आगम कथित सभी नियमों का पालन करते हुए स्वय आरभ क्रिया न करें, किन्तु छहजीवनिकाय की दया पाले। इसका जघन्य काल एक, दो या तीन दिन का है और उत्कृष्ट आठ मास का है।

प्रेष्य त्याग पडिमा : इसमें सभी नियमों के पालन के आरंभ का त्याग किया जाता है किन्तु उद्दिष्ट भक्त का त्याग नही किया जाता। वह स्वयं को बनाये हुए भोजन का सेवन करता है। वह अनुमोदना का भी त्याग नही कर सकता। इसमें आरभ कार्य के लिये किसी को भेजना अथवा भिजवाने का काम नही किया जाता है। आरभवर्धक परिग्रह का त्याग होने के कारण इसे 'परिग्रहत्यागपडिमा' भी कहते हैं। इसका जघन्य कालमान एक, दो अथवा तीन दिन का होता है और उत्कृष्ट नौ मास का है।

उद्दिष्ट भक्त त्याग पडिमा : इसमें अपने निमित्त बनाये हुए भोजन का त्याग किया जाता है। सासारिक प्रश्नों के पूछने पर जवाब नही देते किन्तु इतना ही कहते हैं "जानता हूँ या नही जानता हूँ।" कोई कोई पूरा सिर मुडन करते हैं तो कोई-कोई शिखा रखते हैं। इसकी जघन्य कालमर्यादा एक, दो या तीन दिन की है और उत्कृष्ट दस मास की है।

श्रमण भूत पडिमा : इस पडिमा का धारक श्रमण तो नही होता किन्तु श्रमण सदृश रहता है। साधु-सा वेश और भण्डोपकरण धारण करता है। शक्ति हो तो केशलुचन भी करता है। साधु सी भिक्षाचर्या से जीवनयापन करता है। इसका काल जघन्य इक दिन का और उत्कृष्ट ग्यारह मास का है।

वर्तमान में श्रावक पडिमा का पालन किया जाता है।

इसके अतिरिक्त अन्य पडिमाओं का स्वरूप .[११२]

समाधिपडिमा : इस पडिमा के दो प्रकार हैं - श्रुतसमाधि पडिमा और चरित्र समाधि पडिमा।

उपधान पडिमा : उपधान शब्द का अर्थ तपस्या किया जाता है। इसलिये भिक्षु की बारह पडिमा और श्रावक की ग्यारह पडिमा उपधान पडिमा कही जाती है।

विवेक पडिमा : इस पडिमा में भेदविज्ञान की प्रक्रिया स्पष्ट की जाती है। आत्मा अनात्मा का भेदविज्ञान करते हुए कषायों की भिन्नता का अनुचिन्तन (ध्यान) करता है। बाह्य और आभ्यन्तर सयोगों की भिन्नता का प्रेक्षण करता है। बाह्य सयोग के तीन अंग होते हैं - गण (सगठन), शरीर और भक्तपान। इनका भेदज्ञान होते ही साधक व्युत्सर्ग पडिमा में चला जाता है।

व्युत्सर्ग पडिमा : विवेक पडिमा द्वारा हेय वस्तुओं का भेदज्ञान स्पष्ट होते ही उनका विसर्जन किया जाता है। औपपातिक सूत्र में सात प्रकार के व्युत्सर्ग बताये हैं - शरीर व्युत्सर्ग, गण व्युत्सर्ग, उपाधि व्युत्सर्ग, भक्तपान व्युत्सर्ग, कषाय व्युत्सर्ग, ससारव्युत्सर्ग और कर्म व्युत्सर्ग। इस पडिमा में विसर्जन की क्रिया ही मुख्य है।

भद्रा पडिमा : इस पडिमा में पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर इन चार दिशाओं में चार-चार प्रहर तक कायोत्सर्ग किया जाता है। षष्ठ भक्त (दो उपवास) तपाराधना से दो दिन तक निरन्तर कायोत्सर्ग से भद्रा पडिमा सम्पन्न की जाती है।

सुभद्रा पडिमा : इस पडिमा की साधना पद्धति वृत्तिकार के पहले ही विच्छिन्न हो गई थी।

महाभद्रा पडिमा : इस पडिमा में पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर इन चारों दिशाओं में क्रमश एक-एक अहोरात्र तक कायोत्सर्ग किया जाता है। इसकी कालमर्यादा चार अहोरात्र (दिन-रात) की होती है ओर दशम भक्त (चार उपवास) से पडिमा पूर्ण की जाती है।

सर्वतोभद्रा पडिमा : पूर्व, दक्षिण,पश्चिम और उत्तर ये चार दिशायें आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य और ईशान कोण ये चार विदिशायें तथा ऊर्ध्व और अहो (अध) इन दसों दिशाओं में क्रमश एक-एक अहोरात्र तक कायोत्सर्ग किया जाता है। ऊर्ध्व दिशा के काल में ऊर्ध्वलोक में अवस्थित द्रव्यों का ध्यान किया जाता है और अधोदिशा के कायोत्सर्ग काल में अधोलोक में स्थित द्रव्य का ध्यान किया जाता है। इसका कालमान दस-दिन रात का है। यह पडिमा बावीस भक्त (दस दिन के उपवास) से पूर्ण होती है। भद्रा पडिमा से लेकर सर्वतोभद्रपडिमा तक की आराधना स्वय भगवान महावीर ने भी की थी।

शूद्रिका सर्वतोभद्र पडिमा : इस पडिमा की पद्धति भिन्न है। इसमें एक उपवास से लेकर पाँच उपवास तक चढ़ा जाता है। इसकी प्रक्रिया पूर्ण होने में ७५ दिन तपस्या के और २५ दिन पारणा के कुल १०० दिन लगते हैं। इसकी विधि आदि में एक अंक और अत में पाँच अक स्थापित किये जाते हैं। शेष सख्या बीच में भर दी जाती है। दूसरी पक्ति में प्रथम पक्ति के मध्य अक को आदि में रखकर आगे क्रमश भरते रहते हैं। इसी क्रम से पाँच पंक्तियाँ भरी जाती हैं।

महतीसर्वतोभद्रा पडिमा : इसकी प्रक्रिया में एक अक से लेकर सात अंक होते हैं। इसे पूर्ण होने में १९६ दिन तप के और ४९ दिन पारणे के, कुल २४५ दिन लगते हैं। इसकी विधि क्षुद्रिकाभद्र पडिमा के समान ही है।

आरंभ त्याग पडिमा : आगम कथित सभी नियमों का पालन करते हुए स्वय आरभ क्रिया न करें, किन्तु छहजीवनिकाय की दया पाले। इसका जघन्य काल एक, दो या तीन दिन का है और उत्कृष्ट आठ मास का है।

प्रेष्य त्याग पडिमा : इसमें सभी नियमों के पालन के आरंभ का त्याग किया जाता है किन्तु उद्दिष्ट भक्त का त्याग नहीं किया जाता। वह स्वय को बनाये हुए भोजन का सेवन करता है। वह अनुमोदना का भी त्याग नही कर सकता। इसमें आरभ कार्य के लिये किसी को भेजना अथवा भिजवाने का काम नही किया जाता है। आरभवर्धक परिग्रह का त्याग होने के कारण इसे 'परिग्रहत्यागपडिमा' भी कहते हैं। इसका जघन्य कालमान एक, दो अथवा तीन दिन का होता है और उत्कृष्ट नौ मास का है।

उद्दिष्ट भक्त त्याग पडिमा : इसमें अपने निमित्त बनाये हुए भोजन का त्याग किया जाता है। सासारिक प्रश्नों के पूछने पर जवाब नही देते किन्तु इतना ही कहते हैं "जानता हूँ या नही जानता हूँ।" कोई कोई पूरा सिर मुंडन करते हैं तो कोई-कोई शिखा रखते हैं। इसकी जघन्य कालमर्यादा एक, दो या तीन दिन की है और उत्कृष्ट दस मास की है।

श्रमण भूत पडिमा : इस पडिमा का धारक श्रमण तो नही होता किन्तु श्रमण सदृश रहता है। साधु-सा वेश और भण्डोपकरण धारण करता है। शक्ति हो तो केशलुचन भी करता है। साधु सी भिक्षाचर्या से जीवनयापन करता है। इसका काल जघन्य इक दिन का और उत्कृष्ट ग्यारह मास का है।

वर्तमान में श्रावक पडिमा का पालन किया जाता है।

इसके अतिरिक्त अन्य पडिमाओं का स्वरूप [३१२]

समाधिपडिमा : इस पडिमा के दो प्रकार हैं - श्रुतसमाधि पडिमा और चरित्र समाधि पडिमा।

उपधान पडिमा : उपधान शब्द का अर्थ तपस्या किया जाता है। इसलिये भिक्षु की बारह पडिमा और श्रावक की ग्यारह पडिमा उपधान पडिमा कही जाती है।

विवेक पडिमा : इस पडिमा में भेदविज्ञान की प्रक्रिया स्पष्ट की जाती है। आत्मा अनात्मा का भेदविज्ञान करते हुए कषायों की भिन्नता का अनुचिन्तन (ध्यान) करता है। बाह्य ओर आभ्यन्तर सयोगों की भिन्नता का प्रेक्षण करता है। बाह्य सयोग के तीन अग होते हैं - गण (सगठन), शरीर और भक्तपान। इनका भेदज्ञान होते ही साधक व्युत्सर्ग पडिमा में चला जाता है।

व्युत्सर्ग पडिमा : विवेक पडिमा द्वारा हेय वस्तुओं का भेदज्ञान स्पष्ट होते ही उनका विसर्जन किया जाता है। औपपातिक सूत्र में सात प्रकार के व्युत्सर्ग बताये हैं - शरीर व्युत्सर्ग, गण व्युत्सर्ग, उपाधि व्युत्सर्ग, भक्तपान व्युत्सर्ग, कषाय व्युत्सर्ग, ससारव्युत्सर्ग और कर्म व्युत्सर्ग। इस पडिमा में विसर्जन की क्रिया ही मुख्य है।

भद्रा पडिमा : इस पडिमा में पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर इन चार दिशाओं में चार-चार प्रहर तक कायोत्सर्ग किया जाता है। षष्ठ भक्त (दो उपवास) तपाराधना से दो दिन तक निरन्तर कायोत्सर्ग से भद्रा पडिमा सम्पन्न की जाती है।

सुभद्रा पडिमा : इस पडिमा की साधना पद्धति वृत्तिकार के पहले ही विच्छिन्न हो गई थी।

महाभद्रा पडिमा : इस पडिमा में पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर इन चारों दिशाओं में क्रमश एक-एक अहोरात्र तक कायोत्सर्ग किया जाता है। इसकी कालमर्यादा चार अहोरात्र (दिन-रात) की होती है ओर दशम भक्त (चार उपवास) से पडिमा पूर्ण की जाती है।

सर्वतोभद्रा पडिमा : पूर्व, दक्षिण,पश्चिम और उत्तर ये चार दिशायें आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य और ईशान कोण ये चार विदिशायें तथा ऊर्ध्व और अहो (अघ) इन दसों दिशाओं में क्रमश एक-एक अहोरात्र तक कायोत्सर्ग किया जाता है। ऊर्ध्व दिशा के काल में ऊर्ध्वलोक में अवस्थित द्रव्यों का ध्यान किया जाता है और अघोदिशा के कायोत्सर्ग काल में अधोलोक में स्थित द्रव्य का ध्यान किया जाता है। इसका कालमान दस-दिन रात का है। यह पडिमा बावीस भक्त (दस दिन के उपवास) से पूर्ण होती है। भद्रा पडिमा से लेकर सर्वतोभद्रपडिमा तक की आराधना स्वय भगवान महावीर ने भी की थी।

शूद्रिका सर्वतोभद्र पडिमा : इस पडिमा की पद्धति भिन्न है। इसमें एक उपवास से लेकर पाँच उपवास तक चढ़ा जाता है। इसकी प्रक्रिया पूर्ण होने में ७५ दिन तपस्या के और २५ दिन पारणा के कुल १०० दिन लगते हैं। इसकी विधि आदि में एक अक और अंत में पाँच अक स्थापित किये जाते हैं। शेष सख्या बीच में भर दी जाती है। दूसरी पक्ति में प्रथम पक्ति के मध्य अक को आदि में रखकर आगे क्रमश भरते रहते हैं। इसी क्रम से पाँच पंक्तियाँ भरी जाती हैं।

महतीसर्वतोभद्रा पडिमा : इसकी प्रक्रिया में एक अक से लेकर सात अंक होते हैं। इसे पूर्ण होने में १९६ दिन तप के और ४९ दिन पारणे के, कुल २४५ दिन लगते हैं। इसकी विधि क्षुद्रिकाभद्र पडिमा के समान ही है।

क्षुद्रिकाप्रस्रवन पडिमा और महती प्रस्रवन पडिमा : इन दोनों पडिमाओं का स्थानाग सूत्र में उल्लेख मात्र मिलता है। व्यवहार सूत्र के नौवें उद्देशक में इनकी पद्धति निर्दिष्ट की गई है। किन्तु व्यवहार भाष्य में तो इनका विस्तृत विवेचन है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से विचार किया है कि द्रव्य से पीना, क्षेत्र से गाँव के बाहर रहना, काल से दिन में अथवा रात्रि में, प्रथम निदाघ काल में अथवा अतिम निदाघ काल में। स्थानाग वृत्तिकार के कथनानुसार शरद और निदाघ दोनों समयों का उल्लेख है। जब कि व्यवहार भाष्य में शरद का उल्लेख मिलता है। भावत स्वाभाविक और इतर प्रस्रवण। पडिमाप्रतिपन्न मुनि स्वाभाविक को पीता है और इतर को त्यागता है (छोड़ता है)। कृमि तथा शुक्रयुक्त प्रस्रवण इतर प्रस्रवण है। स्थानाग वृत्तिकार के कथनानुसार भाव की व्याख्या में देवादि का उपसर्ग सहन किया जाता है। यदि यह पडिमा खाकर की जाती है तो छह दिन के उपवास से की जाती है और यदि खाकर नही की जाती है तो सात दिन के उपवास से पूर्ण की जाती है।

इस पडिमा के सेवन करने से तीन लाभ होते हैं - १) सिद्ध होना, २) महर्द्धिक देव होना और ३) रोगमुक्त होना।

पडिमा पालन करने के बाद आहार प्रक्रिया - प्रथम सप्ताह में उष्णजल के साथ चावल लेना। दूसरे सप्ताह में यूष-माड (मूँगादि का जूस)। (भात पकाने पर निकलने वाला पानी)। तीसरे सप्ताह में त्रिभाग उष्णोदक और थोड़े से मधुर दधि के साथ चावल ग्रहण। चतुर्थ सप्ताह में दो भाग उष्णोदक और तीन भाग मधुर दधि के साथ चावल। पाँचवें सप्ताह में अर्द्ध उष्णोदक और अर्द्ध मधुर दधि के साथ चावल। छट्ठे सप्ताह में त्रिभाग उष्णोदक और दो भाग मधुर दधि के साथ चावल। सातवें सप्ताह में मधुरदधि में थोड़ा सा उष्णोदक मिलाकर उसके साथ चावल। आठवें सप्ताह में मधुरदधि अन्य रसों के साथ चावल। सात सप्ताह तक रोग के प्रतिकूल न हो वैसा भोजन दधि के साथ किया जाता है। बाद में भोजन का प्रतिबध समाप्त हो जाता है। महती प्रस्रवण पडिमा की विधि भी क्षुद्रिकाप्रस्रवणपडिमा के समान ही है। किन्तु केवल इतना ही अतर है कि जब वह खा पीकर की जाती है तब सात दिन के उपवास से पूर्ण होती है और बिना खाये आठ दिन के उपवास से।

यवमध्यचन्द्रपडिमा : चन्द्र पडिमा में मध्य भाग यव की तरह स्थूल होता है। इसलिए इसे यवमध्यचन्द्रपडिमा कहते हैं। जिसका आदि और अंत कृश और मध्य स्थूल होता है। इस पडिमा में स्थित मुनि शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को एक कवल आहार ग्रहण करता हुआ क्रमश एक-एक बढ़ाता हुआ शुक्लपक्ष की पूर्णिमा को पन्द्रह कवल आहार लेता है। पुन कृष्णपक्ष की प्रतिपदा से चौदह कवल आहार ग्रहण करके क्रमश एकेक

कवल कम करते हुए अमावास्या को उपवास करता है। इस पडिमा की प्रक्रिया का स्वरूप व्यवहार भाष्य में ही मिलता है; स्थानाग सूत्र में तो इस पडिमा का सिर्फ उल्लेख ही है।

वज्रमध्यचन्द्रपडिमा : इस पडिमा में मध्य भाग वज्र की तरह कृश होता है। इसलिए इसे वज्रमध्यचन्द्रपडिमा कहते हैं। इसका आदि-अंत स्थूल और मध्य कृश होता है। इसका स्वरूप व्यवहार भाष्य के अनुसार इस प्रकार है - इस पडिमा में स्थित मुनि कृष्णपक्ष की प्रतिपदा को चौदह कवल आहार ग्रहण करके क्रमश. एक-एक कवल कम करते हुए अमावस्या के दिन उपवास करता है। पुन शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से एक कवल ग्रहण करके क्रमश. एक-एक कवल बढ़ाते हुए पूर्णिमा के दिन १५ कवल आहार ग्रहण करता है।

इन पडिमाओं को ग्रहण करने वाला मुनि व्युत्सृष्टकाय (रोगांतक उत्पन्न होने पर शरीर का प्रतिकर्म नहीं करता) और त्यक्तदेह (बंधन, रोधन, हनन, मारन का निवारण नहीं करता) होता है। परीषह उपसर्ग को समभाव से सहन करते हुए इस पडिमा की आराधना करते हैं।

भद्रोत्तर पडिमा : इस पडिमा के दो प्रकार हैं- १) क्षुद्रिकाभद्रोत्तर पडिमा और २) महतीभद्रोत्तर पडिमा। क्षुद्रिकाभद्रोत्तर द्वादश भक्त (पाच दिन के उपवास) से प्रारभ की जाती है और अधिकतम विंशतिभक्त (नौ दिन के उपवास) का होता है। इस पडिमा को पूर्ण होने में दो सौ दिन लगते हैं। जिनमें १७५ दिन तप के और २५ दिन पारणा के होते हैं। इसकी स्थापना विधि प्रथम पक्ति के आदि में ५ अक और अत में नौ का अक होता है। कुल पाँच पंक्तियाँ होती हैं। शेष विधि क्षुद्रिकाभद्रोत्तर पडिमा के समान जानना। महती भद्रोत्तर पडिमा का प्रारंभ भी द्वादश भक्त से ही होता है। किन्तु अधिकतम तप चतुर्विंशतिभक्त (११ दिन के उपवास) तक होता है। इसकी स्थापना विधि प्रथम पक्ति के आदि में पाँच का अंक और अत में ग्यारह का अक होता है। बीच की सख्या क्रमश. भर दी जाती है। शेष विधि क्षुद्रिकाभद्रोत्तर पडिमा के समान ही है। इसमें सात पक्तियाँ होती हैं।

शय्या, वस्त्र और पात्र पडिमा : इन तीनों पड़िमा में एक सी प्रतिज्ञा की जाती है। सिर्फ पड़िमा के अनुसार नामों का उल्लेख होता है। इन पड़िमाओं का धारक चार प्रकार की प्रतिज्ञा (अभिग्रह) करता है- १) मैं उद्दिष्ट (नामोल्लेखपूर्वक संकल्पित) संस्तारक वस्त्र-पात्र मिला तो ग्रहण करूगा, दूसरा नही। २) मैं उद्दिष्ट सस्तारक वस्त्र-पात्र में दृष्ट को ग्रहण करूगा, अदृष्ट को नही। ३) मैं उद्दिष्ट संस्तारक वस्त्र-पात्र शय्यातर के घर में हो तो ग्रहण करूंगा दूसरे का नही। ४) मैं उद्दिष्ट सस्तारक वस्त्र-पात्र यथासंसृत (सहज बिछा हो, ...हो तो ग्रहण करूंगा, दूसरा नहीं।

एकलविहारपड़िमा : अकेले रहकर साधना करने का सकल्प करना। तीन स्थितियों में अकेले रह सकते हैं- १) एकलविहारपड़िमा धारक, २) जिनकल्प पड़िमा धारक और ३) मासिक आदि बारह भिक्खु पड़िमाधारक। आठ गुण सम्पन्न साधक ही एकाकी विहार पड़िमा स्वीकार कर सकते हैं। वे आठ गुण इस प्रकार हैं- १) श्रद्धावान, २) सत्य पुरुष, ३) मेधावी, ४) बहुश्रुत, ५) शक्तिमान, ६) अल्पाधिकरण, ७) धृतिमान और ८) वीर्यसम्पन्न।

आगमकालीन विशिष्ट साधना पद्धतियों में स्थित साधक की साधना ध्यानयोग से सम्पन्न होती है। प्रत्येक साधना पद्धति में ध्यान को स्वतत्र स्थान दिया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि समस्त साधना के मूल में ध्यानावस्था है। ध्यान के बिना साधना सिद्ध हो ही नही सकती। जिससे साधा जाता है उसे साधना कहते हैं। साधक विभिन्न साधनों द्वारा साध्य को सिद्ध करता है। विशिष्ट साधना पद्धति साध्य को सिद्ध करने के लिए ही की जाती है। साध्य मोक्ष है और मोक्ष का श्रेष्ठ कारण ध्यान है। इसलिए समस्त साधना पद्धतियों में ध्यान को द्वादशागी का सार माना गया है।

साधनाओं में ध्यान का महत्त्व

द्वादशांगी का सार ध्यान योग

चार पुरुषार्थ में मोक्ष पुरुषार्थ को मुख्य माना गया है। द्वादशाग श्रुत महासागर का सार तत्त्व ध्यानयोग है, क्योंकि मोक्ष का साधन ध्यान है और वह ध्यान सम्यग्ज्ञान दर्शन चारित्र गर्भित है। सर्वज्ञ कथित तत्त्वों को यथार्थ जानना, बाद में उसमें यथार्थ श्रद्धा होना, श्रद्धाशील साधक ही समस्त योगों (सावद्यक्रिया-पापों) का नाश करने में समर्थ बनता है। यही चारित्र है। जैन धर्म की समस्त साधनायें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और तप के अतर्गत ही निहित हैं। उनमें अहिंसा आदि अनुष्ठानों का प्रतिपादन मूलगुण और उत्तरगुण की रक्षार्थ किया गया है। श्रमण और श्रावक की समस्त क्रियाएँ ध्यानयोग से सबधित हैं। साधना का सार कर्मक्षय है। कर्मक्षय की प्रक्रिया ध्यान से ही शीघ्र क्षय होती है। इसलिए ज्ञानियों का कथन है कि शान्तिप्रदाता ससार दु ख विनाशक ज्ञानसुधारस का पान करके ससार तारक ध्यान जहाज का अवलम्बन लेने से मन की प्रसन्नता बढ़ती है। मन को खुश करने की दवा ध्यान को बताया है। एकता का होना ही ध्यान है। पहले ज्ञान प्राप्त करेगा तब ही एकाग्रता में वृद्धि होगी, एकाग्रता की वृद्धि होने से कर्मों का क्षय होगा और कर्मों का क्षय होते ही मोक्ष प्राप्त हो जाता है। परंतु कर्मों का क्षय सम्यग्ज्ञान से होता है और सम्यग्ज्ञान ध्यान से सिद्ध होता है। ध्यान से ज्ञान की एकाग्रता बढ़ती है इसलिए श्रमण और श्रावक के मूलगुण उत्तरगुण पोषक सभी साधनायें ध्यान जन्य ही हैं। अत ध्यानयोग द्वादशागी का सार है।[११३]

कपड़े के मैल को शोधन करने के लिए जलादि आवश्यक है, खान से निकले हुए मिश्रित वस्तुओं को लोहे से अलग करने के लिए अग्नि जरूरी है, पृथ्वीतल पर जमे हुये कीचड़ को सूखाने के लिये सूर्यताप आवश्यक है, वैसे ही ध्यानरूप जल, अग्नि और सूर्य कर्ममल का नाश करने के लिए आवश्यक है। जिस प्रकार ध्यान से मन, वचन, काय के योगों का अवश्य तपन, शोधन और भेदन होता है, उसी तरह ध्यानी भी कर्म का अवश्यमेव तपन, शोधन और भेदन करता है।[३१४]

रोग के असल कारण का निवारण लघन, विरेचन और औषधी सेवन से होता है, वैसे ही कर्मरोग का शमन ध्यानादि से होता है। ध्यान कर्म बादलों को उड़ाने में हवा का कार्य करता है तथा कर्मेन्धन दाहक दावानल है। दावानल चिरसंचित काष्ठ घासादि को शीघ्र जला देती है वैसे ही ध्यानाग्नि कर्मेन्धन को जलाकर भस्म कर देती है।[३१५] क्योंकि ध्यान आध्यात्मिक, भौतिक, दैविक, सर्व-विपत्तीरूपी लतासमूह का छेदन करने के लिए तीक्ष्ण परशु के समान है। जगत् में कार्मण (जादू) करने के लिए जड़ी-बूटी, मंत्र-तत्रादि की विधि करनी पड़ती है, परतु ध्यान जड़ी-बूटी, मत्र और तत्र के बिना ही मोक्ष लक्ष्मी को वश कराने में अमोघ कारण है।[३१६] इसीलिए ध्यान का सभी साधना पद्धतियों में महत्त्व बताया गया है और उसे द्वादशागी का सार कहा है।

सभी साधना के मूल में चित्तशुद्धि को प्रधानता दी गई है। मन शुद्धि के विना साधना हो ही नही सकती। साधना के लिए मनशुद्धि और मन शुद्धि ध्यान से प्राप्त होती है। शुभ विचारों के अनुष्ठानों से अशुभ विचार (आर्त रौद्र ध्यान) जैसे-जैसे कम होते जाते हैं वैसे-वैसे साधना का बल बढ़ता जाता है। समभाव की साधना ही ध्यान की साधना है। समभाव का आधार ध्यान और ध्यान का आधार समभाव ही है। प्रशस्त ध्यान से केवल साम्यभाव ही स्थिर नही होता किंतु कर्म निर्जरा भी होती है। कर्म निर्जरा के कारण नरक और तिर्यंच गति के परिभ्रमण से मुक्त बनकर साधक स्वर्ग अथवा मोक्ष को प्राप्त करता है। अत॰ मोक्ष साधक के लिए ध्यान योग ही श्रेष्ठ है, क्योंकि जीव के द्वारा ही सर्व उपाधियों को साधा जाता है।[३१७]

ध्यान का महत्त्व अपरंपार है। ध्यानयोगी अपने ध्यान बल से तीनों लोक की समस्त वस्तुओं को हिला सकता है। देवताओं के आसन को चलायमान कर सकता है और अगोचर वस्तुओं का दर्शन भी करा सकता है। किन्तु ध्यानविहीन व्यक्ति अपनी देह में स्थित सच्चिदानंद स्वरूप आत्मतत्त्व का दर्शन नहीं कर सकता है, जैसे अन्धे को सूर्य दर्शन नही होता। आत्मा से परमात्मा वनने के लिए ध्यानयोग ही श्रेष्ठ है। ध्यान बल के विना आत्मदर्शन हो नही सकता। इसके लिए द्वादशागी का सार ध्यानयोग ही पर्याप्त है। वह परमात्म तत्त्व का शीघ्र दर्शन करा के क्षणमात्र में मोक्ष पहुँचा देता है।[३१८] इस आत्मा

के गुणों का समस्त समूह ध्यान से ही प्रगट होता है।[३१९] इसीलिए ध्यान का महत्त्व समस्त साधना पद्धतियों में प्रधान माना गया है।

आगम युग, मध्य युग तथा वर्तमान युग में बताई गई विभिन्न साधना पद्धतियों में ध्यान को श्रेष्ठ माना गया है क्योंकि सभी साधनाओं का अग ध्यान ही है। साधना पद्धतियों में से यदि ध्यान शब्द को निकाल दिया जाय तो वह मोक्षपथगामिनी साधना नहीं बन सकती किन्तु नरकगामी बन जायेगी। इसीलिए लौकिक व आध्यात्मिक तीर्थों में ध्यान तीर्थ को ही श्रेष्ठ माना है। तीर्थ के दो प्रकार हैं- द्रव्य और भाव। द्रव्य तीर्थ का अर्थ = वह पवित्र या पुण्य स्थान जहाँ धर्मभाव से श्रद्धासहित लोग, यात्रा, पूजा या स्नान के लिये जाते हैं जैसे कि गिरनार, पालीताना, हस्तिनापुर, सम्मेतशिखर, द्वारिका, प्रयाग, काशी, मथुरा, पढरपुर, हरिद्वार, तिरुपति, बद्रीनाथ, अवरनाथ आदि। शास्त्र में तीन प्रकार के तीर्थ माने गये हैं - १) जगम = साधु, श्रमण, ब्राह्मणादि। २) मानस = सत्य, क्षमा, दया, दान, सतोष, ब्रह्मचर्य, ज्ञान, धैर्य, मधुर-भाषण, जप, तप, संयम, ध्यान आदि। ३) स्थावर = ऊपर बताये गये तीर्थ स्थान के नाम।

जिस स्थान से पापादि क्रिया का नाश होता है वह तीर्थ कहलाता है। रत्नत्रयादि वर्णित सभी साधना पद्धतियाँ आध्यात्मिक तीर्थ हैं। इस तीर्थ से पापादि सभी शुभाशुभ क्रियाओं का नाश हो करके परमात्म स्वरूप स्व आत्मा का दर्शन होता है। इसलिए द्वादशागी का सार ध्यानयोग को आध्यात्मिक सभी तीर्थों में श्रेष्ठ तीर्थ माना है।[३२०]

संदर्भ सूचि

१ (क) स्वय कर्म करोत्यात्मा, स्वय तत्फलमश्नुते।
स्वयं भ्रमति संसारे, स्वय तस्माद् विमुच्यते।

कर्मग्रंथ भा ४

(ख) अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।

उत्तराध्ययन सूत्र २०/३७

२ रागो य दोसो वि य कम्मबीय कम्मं च मोहप्पभवं वयंति।
कम्मं च जाइ-मरणस्स मूलं, दुक्ख च जाइ-मरणं वयन्ति।

उत्तराध्ययन सूत्र, ३२/७

३. (क) कीरइ जिएण हेउहिं, जेणं तो मण्णए कम्मं। कर्मग्रथ, १/१

(ख) विसय कसार्यहिं रंगियहं, जे अणुया लग्गति।
जीव-पएसहं मोहियह ते जिण कम्म भणति।

परमात्म प्रकाश, १/६२

४ (क) स्पर्श रस गध वर्णवन्त पुद्गला । तत्त्वार्थ सूत्र, ५/२३

(ख) पोग्गले पंच वण्णे पचरसे दुग्गछे अट्ठफासे पण्णत्ते।

व्याख्याप्रज्ञप्ति, १२/५/४५०

५ कर्म ग्रथ भा १ व्याख्याकार मुनि श्री मिश्रीमलजी, प्रस्तावना पृ ६२

६ (क) पगइ ठिइ रस पएसा। कर्मग्रथ (देवेन्द्रसूरि) १/२

(ख) चउव्विहे बन्धे पण्णत्ते, तं जहा-पगइबंधे,
ठिइ बंधे, अणुभाव बन्धे, पएस बन्धे।

समवायाग, समवाय ४

(ग) प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशास्तद्विधय ।

तत्वार्थ सूत्र (उमास्वाति) ८/४

७ (क) जोगा पयडिपएसं ठिइअणुभाग कसायाउ।

कर्मग्रथ ५/९६

८ (क) कम्मत्तणेण एक्कं दव्वं भावोत्ति होदि दुविहं तु।
पोग्गल पिंडो दव्व तस्सत्ती भावकम्मं तु।

गोम्मटसार (जीव काण्ड) - गा ६

(ख) गोम्मटसार - जीव काण्ड गा ६ की टीका

९ (क) मूल पगइ ऽ ट्ठ उत्तर पगइ अडवन्नसय भेय। कर्मग्रथ १/२

(ख) तं पुण अट्ठविह वा अडदालसयं असखलोग वा।

गोम्मटसार - जीव काण्ड - गा ७

१०. (क) इह नाणदंसणावरणवेयमोहाउनामगोयाणि। विग्घं च .

कर्मग्रंथ १/३

(ख) णाणस्स दसणस्स य आवरणं वेयणीय मोहणीयं।
आउग णामं गोदंतरायमिदि अट्ठ पयडीओ।

गोम्मटसार, जीव काण्ड गा ८

(ग) उत्तराध्ययन सूत्र ३३/२-३

(घ) प्रज्ञापना २१/१/२२८

(ङ) तत्वार्थ सूत्र ८/५

११ (क) पण नव दु अट्ठवीस चउ तिसय दुपणविह।

कर्मग्रथ १/३

(ख) कर्मग्रथ १/४ - ४३ तक

(ग) गोम्मटसार - कर्मकाण्ड - गा २२

(घ) उत्तराध्ययन सूत्र ३३/४ - १५

१२ ताण पुड घादिति अघादितिय होति सण्णाओ।

।

गोम्मटसार (कर्म का) गा ७

आवरण मोहविग्घ घादी जीवगुणवादणत्तादो।
आऊणणामगोद वेयणिय तह अघादित्ति।।

गोम्मटसार (कर्म-काण्ड) गा ९

१३ आत्मतत्त्वानभिज्ञस्य य स्यादात्मन्यवस्थिति ।
मुह्यत्यन्त पृथक् कर्तुं स्वरूप देहदेहिनो ।
तयोर्भेदापरिज्ञानान्नात्मलाभ प्रजायते।
तदभावात्स्वविज्ञानसूति स्वप्नेऽपि दुर्घटा।।

ज्ञानार्णव (शुभाचन्द्राचार्य) ३२/२-३

१४ (क) जीवा हवति तिविहा बहिरप्पा तह य अतरप्पा य।
परमप्पा वि य दुविहा अरहता तह य सिद्धा य।।
मिच्छत्त-परिणदप्पा तिव्व-कसाएण सुट्ठु आविट्ठो।
जीव देह एक्क मण्णतो होदि बहिरप्पा।।
जे जिण-वयणे कुसला भेय जाणति-जीव-देहाण।
णिज्जिय-दुट्ठट्ठ-मया अतरप्पा य ते तिविहा।।
पंच-महव्वय-जुत्ता धम्मे सुक्के वि सठिदा णिच्चं।
णिज्जिय-सयल-पमाया उक्किट्ठा अतरा होंति।।
सावय-गुणेहि जुत्ता पमत्त-विरदा य मज्झिमा होंति।
जिण-वयणे अणुरत्ता उवसम-सीला-महासत्ता।।
अविरय-सम्मादिट्ठी होंति जहण्णा जिणिंद पय-भत्ता।
अप्पाण णिंदता गुण-गहणे सुट्ठु अणुरत्ता।।
स-सरीरा अरहता केवल-णाणेण मुणिय-सयलत्था।
णाण-सरीरा सिद्धा सव्वुत्तम - सुक्ख - सपत्ता।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, १०/१९२-१९८

(ख) योगसार (योगीन्दु) गा ५-९

(ग) ज्ञानार्णव, ३२/५-८
(घ) योग शास्त्र, १२/७-८

१५. (क) आचारांगसूत्र (सुत्तागमे) ५/६/३३१ - ३३३
(ख) समयसार १/४९ - ५५

१६ (क) उपयोगो लक्षणम्। तत्वार्थ सूत्र २/८
(ख) उपयोगो विनिर्दिष्टस्तत्र लक्षणमात्मन् ।

योगसार प्राभृत (अमितगति) १/६

१७. (क) . .जीवो उवओग-लक्खण।
नाणेणं च दसणेणं च, सुहेण य दुहेण य।।
नाणं च दंसण चेव, चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य, एय जीवस्स लक्खणं।।

उत्तराध्ययन सूत्र, १८/१० - ११

१८. (क) स द्विविधोऽष्टचतुर्भेद । तत्त्वार्थ सूत्र, (उमास्वाति) २/९
(ख) द्वि-विधो दर्शन-ज्ञान-प्रमेदेन जिनाधिपै ।।
चतुर्धा दर्शन तत्र चक्षुषो ऽ चक्षुषो ऽ वधे ।
केवलस्य च विज्ञेय - वस्तु-सामान्य - वेदकम्।।
मति· श्रुतावधी ज्ञाने मन पर्यय - केवले।
सज्ज्ञान पचधावाचि विशेषाकारवेदनम्।।
मत्याज्ञान-श्रुताज्ञान - विभगज्ञान - भेदत ।
मिथ्याज्ञानं त्रिधेत्येवमष्टधा ज्ञान मुच्यते।।

योगसार प्राभृत, १/६ - ९

१९ भगवती सूत्र २/१० (सैलाना, भा १, पृ. ५२१)

२० (क) उदयेण उवसमेण य खयेण दुहिं मिस्सिदेहिं परिणामे।
जुत्ता ते जीव गुणा बहुसु य अत्थेसु विच्छिण्णा।।

पचास्तिकाय, गा ५६

(ख) औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्व-
मौदयिकपारिणामिकौ च। तत्वार्थ सूत्र, २/१

२१ तत्रोदयेन युक्त औदयिक.। उपशमेन युक्त औपशमिक.।
क्षयोपशमेन युक्त क्षायोपशमिक· क्षयेण युक्त क्षायिक ।
परिणामेन युक्त पारिणामिक. सएते पंच जीवगुणा ।

पचास्तिकाय गा ५६ की टीका, पृ १०६

२२ (क) जीव भव्याभव्यत्वादीनि च। तत्वार्थ सूत्र, २/७

(ख) स्वोपज्ञ तत्वार्थ भाष्य २/७

२३ जीवत्वं भव्यत्वाभव्यत्वमिति त्रयो भावा पारिणामिका अन्यद्रव्या साधारणा आत्मनो वेदितव्या । कर्मोदयोपशम-क्षय-क्षयोपशममानयेक्षित्वात्। जीवत्व चैतन्यमित्यर्थ । सम्यग्दर्शनादिभावेन भविष्यतीति भव्य । तद्विपरीतोऽभव्य । त एते त्रयो भावा जीवस्य पारिणामिका ।

सर्वार्थ सिद्धि २/७ की टीका

२४. (क) पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीवस्सदि जो हु जीविदो पुव्वं।
सो जीवो पाणा पुण बलमिंदियमाउ उस्सासो।

पंचास्तिकाय १/३०

(ख) जीवनाज्जीव प्राणधारणादायु संबन्धान्नायुर्विरहादिति।

सर्वार्थ सिद्धि ८/२

(ग) यद्यपि जीवति तथाप्यशुद्धनयेनानादि कर्म बन्धवशादशुद्धद्रव्यभाव-प्राणैर्जीवति इति जीव ।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, १०/१८८ की टीका पृ १२५

२५. अतति विविध पर्यायान् गच्छति इति आत्मा।

स्याद्वाद मजरी

२६ (क) ससारसमावन्नगा चेव असंसारसमावन्नगा चेव।

स्थानाग सूत्र २/८० (सुत्तागमे)

(ख) संसारिणो मुक्ताश्च। तत्वार्थ सूत्र, २/१०

२७. (क) तिक्काले चदु पाणा इदिय बल माउआणपाणो य।
ववहारो सो जीवो णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स।।

द्रव्य सग्रह गा ३

(ख) शुद्धनिश्चयनयेनादिमध्यान्तवर्जित स्व पर प्रकाशकाविनश्वर निरुपाधि शुद्ध चैतन्य लक्षणनिश्चयप्राणेन यद्यपि जीवति, तथाप्यशुद्धनयेनानादि-कर्मबन्धवशादशुद्ध द्रव्य भावप्राणैर्जीवतीति जीव ।

द्रव्य सग्रह टीका २/७

उद्धृत, कर्म ग्रंथ भा ४ (मिश्री म) पृ १०

२८ कर्म ग्रंथ भा ५ (देवेन्द्र सूरि) व्याख्या मिश्रीम पृ २१

२९. होई अणाइ अणंतो अणाइ-संतो य साइसंतो य।
बंधो अभव्वभव्वोवसंतजीवेसु इह तिविहो। पंचसग्रह

उद्धृत, कर्म ग्रथ भा ५ (मिश्री म) पृ ११

३० (क) पयडी सील सहाओ जीवांगाणं अणाइसंवंधो।
कणयोवले मलं वा ताणत्थित्तं सय सिद्धं।
गोम्मटसार - कर्मकाण्ड - गा २

(ख) गोम्मटसार - कर्मकाण्ड - गा २ की टीका

३१ (क) जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदि सुगदी।।
गदिमधिगदस्स देहो - देहादो इन्द्रियाणि जायन्ते।
तेहि दुवि रायग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा।।
जायदि जीवस्सेव भावो संसार चक्कवालम्मि।
इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा।
पंचास्तिकाय (कुन्दकुन्दाचार्य) गा १२८-१३०

(ख) परिणामे बंधु जि कहिउ मोक्ख वि तह जि वियाणि।
इउ जाणेविणु जीव तुहु तह भाव हु परियाणि।।
योगसार (योगीन्दु) गा १४

३२ (क) स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य रेणुना श्लिष्यते यथा गात्रम्।
रागद्वेषाक्लिन्नस्य कर्मबन्धो भवत्येवं।
प्रशमरतिप्रकरणम् (उमास्वाति) गा ५५

(ख) तैलादिना स्नेहेनाभ्यक्तवपुषो यथा रज-कणाः श्लिष्यन्ति
नास्तिसूक्ष्मस्थूला , तथा रागद्वेषपरिणामस्नेहार्द्रस्य ज्ञानावरणादि
वर्गणायोग्या कर्म पुद्गला- प्रदेशेषु आत्मनो लगन्तीत्यर्थ ।।
प्रशमरतिप्रकरणम् (उमास्वाति) गा ५५ की टीका
सं पं राजकुमारजी साहित्याचार्य

३३ के अहं आसि ? के वा इओ चुओ इह पेच्चा भविस्सामि।
आचारांग सूत्र, १/१/२ (सुत्तागमे)

३४ ज्ञानार्णव ३/४-५

३५ (क) स्थानांगसूत्र १/८० (सुत्तागमे)
(ख) सवरनिर्जरातत्त्वे मोक्षकारणरूपके।
योगप्रदीप (उपा मंगलविजयजी म) फलनिरुपण-परिशिष्ट गा. १९

३६ (क) उत्तराध्ययन सूत्र ३२/२

३७ (ख) जे केइ पव्वइए निद्दासीले पगामसो।
भोच्चो पेच्चा सुहं सुवइ, पाव-समणेत्ति वुच्चइ।।
उत्तराध्ययन सूत्र, १७/३

३८ (क) तत्त्वानुशासन (नागसेनाचार्य) १/१२ - १३

(ख) रागद्वेष विषोद्यानं मोहबीजं जिनैर्मतम्।
अत स एव नि शेष दोष सेनानरेश्वर ।।

ज्ञानार्णव २३/३०

३९ (क) मुच्छा परिग्गहो वुत्तो। दशवैकालिक सूत्र ६/२१

(ख) दशवैकालिक ८/३७ - ३८

(ग) हत्थ-पाय-पडिच्छिन्नं, कण्ण-नास-विगप्पियं।
अवि वाससय नारिं, बंभयारि विवज्जए।

दशवैकालिक सूत्र ८/५६

(घ) तम्हा उ वज्जए इत्थी, विसलित्तं व कंटगं नच्चा।

सूयगडांगसूत्र, शीलांक वृत्ति १/४/१/११

जे एय . सह ण नित्थीसु। १/४/१/१२

४० (क) तत्त्वेषु सर्वेषु गुरु- प्रधानम्। अध्यात्मकल्पद्रुम १२/१

(ख) कल्लाणमित्त गुरु भगवंतवयणाओ।

पंचसूत्र (चिरन्तनाचार्य) हरिभद्रा टीका पृ ५

(ग) अओ परमगुरु संजोगो। तओ सिद्धि असंसयं। पंचसूत्र पृ २१

(घ) अरहताणं भगवंताणं गुरूणं कल्लाणमित्ताणति।। पचसूत्र पृ ६

(ङ) भगवती सूत्र १/१

४१ (क) ठाणं (सुत्तागमे) ७/६६१-

(ख) १) आयरियं वा, २) उवज्झायं वा, ३) थेरं वा, ४) पवत्तय वा,
५) गणिं वा, ६) गणहरं वा, ७) गणावच्छेअयं वा।

आयारदशा (मुनि कनैयालालजी म) गा ५९

४२ उत्तराध्ययन सूत्र ११/१० - १३, १/२

४३ उत्तराध्ययन सूत्र ११/६ - ९, १/३

४४ अभिधान राजेन्द्रकोश भा ३ पृ ९३४

४५ योगसार (योगीन्दुदेव) गा ४१

४६ (क) सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग । तत्त्वार्थ सूत्र १/१

(ख) एवं सम्यग्दर्शनबोधचरित्र त्रयात्मको नित्यम्।
तस्यापि मोक्षमार्गो भवति निषेव्यो यथाशक्ति।।

पुरुषार्थसिद्धि-उपाय (कुन्दकुन्दाचार्य-टी शुभाचन्द्राचार्य) गा २०

४७. नाणं च दंसण चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गुत्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं।।
नाणं च दसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एयं मग्गमणुप्पत्ता, जीवा गच्छन्ति सोग्गइं।।

उत्तराध्ययन सूत्र, २८/२ - ३

४८ (क) योगविंशिका (हरिभद्र) गा. २

(ख) अध्यात्मसार. . . प्रकरणरत्नत्रयी (उपा यशोवि)

योगाधिकार, गा ८३

(ग) विशेषावश्यक भाष्य, गा. ३

(घ) आवश्यक निर्युक्ति (हरिभद्रीय टीका) गा १०१-१०२

४९ जीवो परिणमदि जहा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणाम सब्भावो।।
धम्मेण परिणदप्पा-अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो।
पावदि णिव्वाण सुहं सुहावजुत्तो व सग्गसुहं।।

प्रवचनसार (कुन्दकुन्दाचार्य) 'ज्ञानाधिकार' १/९, ११

५०. नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं।।

उत्तराध्ययन सूत्र २८/३०

५१ (क) सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र सम्पद· साधनानि मोक्षस्य।
तास्वेकतरा ऽ भावे ऽ पि मोक्षमार्गोऽप्यसिद्धिकर·।।

प्रशमरतिप्रकरणम् गा २३०

(ख) तत्वार्थ सूत्र, १/१

(ग) आहंसु विज्जा चरणं पमोक्खं। सूत्रकृतांगसूत्र १/१२/११

(घ) सद्दृष्ट ज्ञान चारित्रत्रयं यः सेवते कृती।
रसायणमिवातकर्यं सोऽमृतं पदमश्नुते।। महापुराण, ११/५९

(च) सम्मदंसणं पढमं सम्मं नाणं बिइज्जियं।
तइयं च सम्मचारित्तं एगभूयमिमं तिगं।। महानिशीथ

५२. (क) सव्वण्णूहिं सव्वदरिसीहिं। नन्दीसूत्र गा ४१ (सुत्तागमे)

(ख) जाणइ पासइ। नन्दीसूत्र गा १० (सुत्तागमे)

(ग) सव्वन्नू सव्वभावदरिसी। आचारांग सूत्र २/१५

५३ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, वृत्ति, द्वितीय वक्षस्कार

५४. तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन।
तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च।।

पुरुषार्थसिद्धि उपाय (कुन्दकुन्दाचार्य, टी टोडरमल) गा २१

५५ सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति जिना।
ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात्।।
कारणकार्य विधानं सम कालं जायमानयोरपि हि।
दीपप्रकाशयोरिव सम्यक्त्वज्ञानयो सुघटम्।।

पुरुषार्थसिद्धि - उपाय गा. ३३ - ३४

५६. विगलितदर्शनमोहै समञ्जसज्ञानविदिततत्त्वार्थे।
नित्यमपि नि:प्रकम्पै. सम्यक् चारित्रमालम्ब्यम्।।
न हि सम्यग्व्यपदेशं चरित्रमज्ञानपूर्वकं लभते।
ज्ञानानन्तरमुक्तं चारित्राराधनं तस्मात्।।

पुरुषार्थसिद्धि - उपाय गा ३७ - ३८

५७ (क) णिओया णं भंते। कइविहा पण्णत्ता?
गोयमा। दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-सुहुमणिओया य
बायरणिओया य। भगवती सूत्र २५/५

(ख) पुण्णा वि अपुण्णा वि य थूला जीवा हवंति साहारा।
छव्विह-सुहुमा जीवा लोयाकासे वि सव्वत्था।।
पुढवी-जलग्गि-वाऊ चत्तारि वि होंति बायरा सुहुमा।
साहारण-पत्तेया वणप्फदी पंचमा दुविहा।।
साधारणा वि दुविहा अणाइ-काला य साइ-काला य।
ते वि य बादर-सुहुमा सेसा पुण बायरा सव्वे।।
साहारणाणि जेसिं आहारुस्सास-काय-आऊणि।
ते साहारण-जीवा णंताणंत - प्पमाणाणं।।
ण य जेसिं पडिलक्खणं पुढवी-तोएहिं अग्गि-वाएहिं।
ते जाण सुहुम काया इयरा पुण थूल-काया य।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, १०/१२३ - १२७

(ग) अत्थि अणंता जीवा जेहिं ण पत्तो तसाण परिणामो।
भाव कलंक सुपउरा णिगोदवास ण मुंचति।

गोम्मटसार - जीवकाण्ड - गा १९७

(घ) गोम्मटसार - जीवकाण्ड, गा १९७ की टीका पृ ३३०

(ङ) जीवाजीवाभिगम (सुत्तागमे) पृ २४६

५८. (क) पत्तेया वि य दुविहा णिगोद-सहिदा तहेव रहिया य।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, १०/१२८

(ख) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, १०/१२८ की टीका पृ ६५-६६

५९. (क) मुलग्ग पोरबीजा कंदा तह खंदबीजबीजरुहा।
संमुच्छिमा य भणिया पत्तेयाणंतकाया य।।

गोम्मटसार (जी का.) गा

(ख) मूलं बीजं येषां ते मूल बीजा', आर्द्रकहरिद्रादय' ।।१।।
अग्रं बीजं येषां ते अग्र बीजा., आर्यकोदीच्यादय ।।२।।
पर्व बीजा इक्षुवेत्रादय. ।।३।।
कन्दबीजा' पिण्डालुसूरणादय ।।४।।
स्कन्धबीजा. सल्लकीकण्टकीपलाशादय ।।५।।
बीजा रोहन्तीति बीजरुहा. शालिगोधूमादय ।।६।।
(संमूर्छे समन्तात् प्रसृतपुद्गल स्कन्धे भवा) संमूर्छिमा' ।।७।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, टीका पृ ६६

६० (क) दुविहा होंति तसा वि य।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, १०/१२८

(ख) अपि च त्रसा. त्रसनामकर्मोदयात्। त्रसजीवा द्विविधा. द्वि प्रकारा ,
विकलेन्द्रिया., सकलेन्द्रियाश्चेति। तत्र विकलेन्द्रिया
बितिचउरक्खा द्वित्रिचतुरिन्द्रिया जीवा ।
शंखादयो द्वीन्द्रिया स्पर्शनरसनेन्द्रिययुक्ता.।
पिपीलिकामत्कुणादयस्त्रीन्द्रिया स्पर्शनरसनघ्राणेन्द्रिययुक्ता'।
भ्रमरमक्षिकादंशमशकादयश्चतुरिन्द्रिया स्पर्शनरसनघ्राणलोचने-
न्द्रिययुक्ता । तथैव, पचेन्द्रिया सकलेन्द्रिया मनुष्यदेवनारक-
पश्वादय स्पर्शनरसनघ्राणचक्षु श्रोत्रेन्द्रिययुक्ता. सकलेन्द्रिया
कथ्यन्ते।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, १०/१२८ की टीका पृ ६७

६१. से किं तं तसा? तिविहा पण्णत्ता, तंजहा-तेउक्काइया वाउकाइया ओराला
तसा पाणा।

जीवाजीवाभिगम सूत्र गा २२ (सुत्तागमे)

६२. से किं तं ओराला तसा पाणा? चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहावेइंदिया तेइंदिया
चउरिंदिया, पंचेंदिया। जीवाजीवाभिगम सूत्र गा २७ (सुत्तागमे)

६३ ते चामी चतुरशीतिर्लक्षा - 'पुढवी जल जलण मारुय एक्केक्के सत्त सत्त

लक्खाओ। वण पत्तेय अणंते दस चउद्दस जोणिलक्खाओ। विगलिंदिएसु दो दो चउरो चउरो य णारयसुरेसु। तिरिएसु हुति चउरो चोद्दस लक्खा य मणएसु।।

आचारांग सूत्र सूत्रकृतागसूत्र च (मुनि जम्बूविजय)

आचारांगवृत्ति (शीलाकाचार्य) पृ १६

६४ जीवो हवेइ कत्ता सव्व कम्माणि कुव्वदे जम्हा।
कालाइ-लद्धि-जुत्तो ससारं कुणइ मोक्खं च।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, १०/१८८

६५. होइ अणंतुस्सप्पिणिपरिमाणो पुग्गल परट्टो।

कर्मग्रन्थ ५/८६

६६. (क) ओराल विउव्वाहारतेअ भासाण पाणमणकम्मे।
अह दव्ववग्गणाणं कमो विवज्ञासओ खित्ते।।

आवश्यक निर्युक्ति (भद्रबाहु) गा ३९

(ख) औदारिक ग्रहणादौदारिकशरीर ग्रहणप्रायोग्या वर्गणा परिगृहीता.। इह वर्गणा सामान्यतश्चतुर्धा द्रव्यादिभेदात्, तत्र द्रव्यत एकपर-माण्वादीनां यावदनन्तपरमाणूना क्षेत्रत एक प्रदेशावगाढानां यावदसंख्यप्रदेशानां। कालत एक समयस्थितीनां सर्वेषां परमाणूना स्कन्धाना चैका वर्गणा द्विसमयस्थितीनां सर्वेषां द्वितीया वर्गणा त्रिसमय स्थितीनां तृतीया एवमेकैक समयवृद्ध्या संखेयसमय स्थितीनां परमाण्वादीनां संखेया वर्गणा असख्येयसमय स्थिती-नामसंख्येयवर्गणा , भावत एक गुणकृष्णवर्णानां परमाणूनां स्कन्धानां च सर्वेषां एका वर्गणा द्विगुणकृष्णानां द्वितीया एकमे-कैकगुणवृद्ध्या संख्येया असंखेयगुणकृष्णवर्णानामसंख्येया अनन्तगुण कृष्णानामनन्ता वर्गणा , एवं नीललोहितहारिद्रशुक्लवर्णेषु सुरभीतरयोर्गन्धयो· तिक्त कटुकषायाम्ल मधुरेषु रसेषु कर्कश-मृदुगुरुलघुशीतोष्ण स्निग्धरुक्षेषु स्पर्शेष्वष्टेसु सर्वसंख्येया २० स्थानेषु प्रत्येक-मेकादिसंख्येयगुणानां संख्येया असंख्येयगुणानां असंख्येया अनन्तगुणानामनन्ता वर्गणा वाच्या·, तथा लघु गुरु-पर्यायाणां बादर परिणामान्वितवस्तूनामेका वर्गणा, अगुरुलघु-पर्यायाणां तु सूक्ष्मपरिणामपरिणतवस्तूनामेकावर्गणा, एते द्वे भवत ।

आवश्यक निर्युक्ति (हरिभद्र टीका) गा ३९ की टीका

(ग) कइविहे णं भंते। पोग्गलपरियट्टे पण्णत्ते?
गोयमा। सत्तविहे पोग्गलपरियट्टे पण्णत्ते, तं जहा-

१) ओरालिय पोग्गलपरियट्टे, २) वेउव्विय पोग्गलपरियट्टे,
३) तेयोपोग्गलपरियट्टे, ४) कम्मापोग्गलपरियट्टे,
५) मणपोग्गलपरियट्टे, ६) वइपोग्गलपरियट्टे, ७) आणापाणु
पोग्गलपरियट्टे।

भगवती सूत्र १२/४ (सैलाना पृ २०३१)

६७ (क) दव्वे खित्ते काले भावे चउह दुह बायरो सुहुमो।
होइ अणंतुस्सप्पिणिपरिमाणो पोग्गलपरट्टो।।
उरलाइसत्तगेण एगजिउ मुयइ फुसिय सव्व अणू।
जत्तियकालि स थूलो दव्वे सुहुमो सगन्नयरा।।
लोगपएसोसप्पिणिसमयाअनुभागबंधठाणा य।
जह तह कम मरणेण पुट्ठा खित्ताइ थुलियरा।।

कर्मग्रन्थ (देवेन्द्रसूरि) ५/८६-८८

(ख) पोग्गल परियट्टो इह दव्वाइ चउव्विहो मुणेयव्वो।
एक्केक्को पुण दुविहो बायरसुहुमत्त भेएण।।
संसारंमि अडंतो जाव य कालेण फुसिय सव्वाणू।
इगु जीवु मुयइ बायर अन्नयरतणुट्ठिओ सुहुमो।।
लोगस्स पएसेसु अणतरपरंपराविभत्तीहिं।
खेत्तंमि बायरो सो सुहुमो उ अणतरमयस्स।।
उस्सप्पिणिसमएसु अणतरपरंपराविभत्तीहिं।
कालम्मि बायरो सो सुहुमो उ अणंतरमयस्स।।
अणुभागट्ठाणेसुं अणतरपरंपराविभत्तीहिं।
भावंमि बायरो सो सुहुमो सव्वेसुऽणुकमसो।।

पच संग्रह २/३७-४१

(ग) प्रवचनसारोद्धार, द्वार १६२, गा ५३-६६

६८. पुद्गलानाम् - परमाणूनाम् औदारिकादिरूपतया विवक्षितैक शरीररूपतया वा सामस्त्येन परावर्त = परिणमनं यावति काले स तावान् काल पुद्गलपरावर्त.। इदं च शब्दस्य व्युत्पत्तिनिमित्तं, अनेन च व्युत्पत्तिनिमित्तेन स्वैकार्य समवायिप्रवृत्तिनिमित्तमनन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीमानस्वरूपं लक्ष्यते। तेन क्षेत्र पुद्गलपरावर्तादौ पुद्गलपरावर्तना भावेऽपि प्रवृत्तिनिमित्त - स्यानन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीमानस्वरूपस्य विद्यमानत्वात् पुद्गलपरावर्तशब्द. प्रवर्तमानो न विरुद्ध्यते।।

प्रवचन टी पृ ३०८
उद्धृत कर्म ग्रन्थ भा ५ (मिश्रीमलजी म) पृ. ३२७

६९ कालो परमनिरुद्धो अविभज्ञो तं तु जाण समय तु।
समया य असखेज्ञा हवइ हु उस्सासिनिस्सासो।।
उस्सासो निस्सासो यदोऽवि पाणुत्ति भन्नए एक्को।
पाणा य सत्त थोवा थोवा वि य सत्त लवमाहु।।
अट्ठतीस तु लवा अद्धलवो चेव नालिया होइ।

ज्योतिष्करण्डक ८/९/१०

उद्धृत कर्म ग्रन्थ भा ५ हिन्दी टी (मिश्री म) पृ १५८

७० से किं तं पुव्वाणुपुव्वी? पुव्वाणुपुव्वी समए १. आवलिया, २. आणापाणू, ३ थोवे, ४ लवे, ५. मुहुत्ते, ६ अहोरत्ते, ७ पक्खे, ८ मासे, ९. उऊ, १० अयणे, ११ सवच्छरे, १२ जुगे, १३ वाससए, १४ वास सहस्से, १५ वाससय सहस्से, १६ पुव्वंगे, १७ पुव्वे, १८ तुडियगे, १९. तुडिए, २० अड्डगे, २१ अड्डे, २२ अववंगे, २३ अववे, २४. हुहुयगे, २५ हुहुए, २६ उप्पलंगे, २७ उप्पले, २८. पउमगे, २९. पउमे, ३०. णलिणगे, ३१ णलिणे, ३२. अत्थनिउरगे, ३३. अत्थनिउरे, ३४ अउयगे, ३५ अउए, ३६ नउयंगे, ३७ नउए, ३८ पउयगे, ३९ पउए, ४०. चूलियगे, ४१. चूलिया, ४२. सीसपहेलियगे, ४३ सीसपहेलिया ..

अणुओगदारसुत्त (सुत्तागमे) गा. ११५

७१ ज्योतिष्करण्डक गा ६४-७१ उद्धृत, कर्मग्रन्थ भा ५ पृ. ३१४ (मिश्री म)

७२. (क) पलिओवमे ४५। सागरओवमे ४६। ओसप्पिणी ४७।
उस्सप्पिणी ४८। पोग्गलपरियट्टे ४९।

अणुओगदार (सुत्तागमे) गा ११५

(ख) जम्बूदीपपण्णत्ती (सुत्तागमे) पृ ५४३

७३ (क) भगवती सूत्र, १/१, ६/७

(ख) उद्धार अद्ध खित्तं पलिय तिहा समयवाससयसमए।
केसवहारो दीवो दहि आउ तसाइ परिमाण।

कर्मगन्थ ५/८५

(ग) सर्वार्थ सिद्धि ३/३९ की टीका

७४ (क) दो समाओ पण्णत्ताओ, तं जहा-
उस्सप्पिणिसमा चेव ओसप्पिणिसमा चेव।।

ठाण (सुत्तागमे) २/९९

(ख) दस सागरोवमकोडाकोडीओ कालो पुस्सप्पिणीए
दस सागरोवमकोडाकोडीओ कालो ओसप्पिणीए।

(ग) कइविहे काले पण्णत्ते? गोयमा, दुविहे काले पण्णत्ते। तं जहा-

ओसप्पिणिकाले य उस्सप्पिणिकाले य। ओसप्पिणिकाले णं भंते, कइविहे पण्णते? गोयमा, छव्विहे पण्णते, तं जहा-सुसम सुसमकाले १. सुसमकाले २. सुसमदुस्समकाले ३. दुस्समसुसमकाले ४. दुस्समकाले ५. दुस्समदुस्समकाले ६। उस्सप्पिणीकाले णं भंते, कइविहे पण्णत्ते? गोयमा, छव्विहे पण्णत्ते, तं जहा - दुस्समदुस्सम-काले जाव सुसमसुसमकाले ६।. . तेण परं ओवमिए

जंबुद्दीवपण्णत्ती (सुत्तागमे) पृ ५४२ (गा १८)

७५. (क) काललब्ध्यादिनिमित्तत्वात्। तत्र काललब्धिस्तावत् - कर्माविष्ट आत्मा भव्य कालेऽर्द्धपुद्गल परिवर्तनाख्येऽवशिष्टे प्रथम सम्यक्त्वग्रहणस्य योग्यो भवति नाधिके इति। इयमेका काललब्धि·। अपरा कर्मस्थितिका काललब्धि· उत्कृष्टस्थितिकेषु कर्मसु जघन्यस्थितिकेषु च प्रथमसम्यक्त्वलाभो न भवति। क्व तर्हि भवति? अन्त कोटाकोटीसागरोपमस्थितिकेषु कर्मसु बन्धमापद्यमानेषु विशुद्धपरिणामवशात्सत्कर्मसु च तत· संख्येय सागरोपमसहस्रोनायामन्त कोटाकोटीसागरोपमस्थितौ स्थापितेषु प्रथमसम्यक्त्वयोग्यो भवति। अपरा काललब्धिर्भवापेक्षया। भव्य पचेन्द्रिय सञ्ज्ञी पर्याप्तक· सर्वविशुद्ध प्रथम सम्यक्त्व-मुत्पादयति। 'आदि' शब्देन जातिस्मरणादिः परिगृह्यते।

सर्वार्थ सिद्धि २/३ की टीका पृ १०७-८

(ख) लब्धपचेन्द्रियो जीवस्तया कालादिलब्धिक·।
भव्यश्च लभते साक्षाद्दर्शनं न तथा परः।।

सिद्धांतसार संग्रह १/५७

(ग) काललब्ध्यादिकारणादिति ब्रूम । कासौ काललब्धि । कर्मवेष्टितो भव्यजीव अर्धपुद्गलपरवर्तनकाले उद्धरिते सति औपशमिक सम्यक्त्वग्रहणयोग्यो भवति। अर्धपुद्गलपरिवर्तनादधिके काले सति प्रथमसम्यक्त्वस्वीकारयोग्यो न स्यादित्यर्थ । एका काललब्धिरियमुच्यते। द्वितियाकाललब्धि यदा कर्मणामुत्कृष्टा स्थितिरात्मनि भवति, जघन्या वा कर्मणां स्थितिरात्मनि भवति। तदा औपशमिकसम्यक्त्वं नोत्पद्यते। तर्हि औपशमिक कदा उत्पद्यते। यदा अन्त कोटाकोटीसागरोपमस्थितिकानि कर्मणि बन्ध प्राप्नुवन्ति, भवन्ति निर्मलपरिणामकारणात् सत्कर्माणि, तेभ्य कर्मभ्य संख्येयसागरोपमसहस्रहीनानि अन्त· कोटाकोटी सागरोपमस्थितिकानि भवन्ति। तदा औपशमिक सम्यक्त्वग्रहणयोग्य आत्मा भवति। इय द्वितीयकाललब्धि । अध करणम् अपूर्वकरणं

च विधाय अनिवृत्तिकरणस्य चरणसमये भव्यश्चातुर्गतिको मिथ्यादृष्टि सञ्ज्ञीपचेन्द्रियपर्याप्तो गर्भजो विशुद्धिवर्धमान॰ शुभलेश्यो जाग्रदवस्थित ज्ञानोपयोगवान् जीव॰ अनन्तानुबन्धि क्रोधमानमाया-लोभान् मिथ्यात्वसम्यक्त्वप्रकृतीश्चोपशमस्य प्रथमोपशमसम्यक्त्व गृह्णातीत्यर्थ ।

स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा ३०८ की टीका पृ २१७-२१८

(घ) भाव विशुद्धिपरिणाम लब्धय क्षायोपशमिक विशुद्धि देशनाप्रायोग्याध करणापूर्वकरणानिवृत्तकरणलक्षणा॰--।

स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा १८९ की टीका पृ १२६

(ङ) खय उवसमिय विसोही देसणा पाओग्ग करण लद्धी-य।
चत्तारि वि सामण्णाकरण पुण होदि सम्पत्ते।।
क्षायोपशमिक विशुद्धि देशना प्रायोग्यताकरणानाम्न्य॰ पंचलब्धय उपशम सम्यक्त्वे भवति। तत्र आद्या चतस्त्रोऽपि सामान्या भव्याभव्ययोः सभवात्।

गोम्मटसार (जीवकाण्ड) गा २ एव उसकी वृत्ति

७६ (क) संखेज्ज असखेज्जा अणंत कालेण चावि ते णियमा।
सिज्झंति भव्व जीवा अभव्व जीवा न सिज्झति।।
भविया सिद्धी जेसिं जीवाण ते भवति भवसिद्धा।
तव्विवरीयाभव्वा संसाराओ ण सिज्झति।।

पच सग्रह गा १५५-१५६ (जी. समास)

(ख) भव्य मुक्तिगमनार्ह अभव्य॰ कदाचनापि सिद्धिगमनानर्ह ।

चतुर्थ कर्मग्रन्थ, स्वोपज्ञ टीका, पृ. १३८

(ग) भव्याभव्य विभेदेन जीवराशिर्द्विधा भवेत्।
पारिणामिक भावौ हि तावेतावस्य सम्मतौ।।

सिद्धांतसार सग्रह ५/९९

(घ) बहुशोऽप्युपदेश॰ स्यान्न मन्दस्यार्थसंविदे।
भवति ह्यन्ध पाषाण केयोपायेन कांचनम्।।
अन्धपाषाणकल्प स्यादभव्यत्वं शरीरिणाम्।
यस्माज्जन्मशतेनापि नात्मतत्त्व पृथग् भवेत्।।

धर्मामृत (अणगार) पं आशाधर, १/१३

७७. (क) विशिष्ट स्मरणादिरूप मनोविज्ञान भाक् संज्ञी,
इतरोऽसंज्ञी सर्वोऽप्येकेन्द्रियादि॰।।

चतुर्थ कर्मग्रन्थ, स्वोपज्ञ टीका, पृ १४२

(ख) येऽपि पंचेन्द्रिया जीवास्तेऽपि द्वेधा भवत्यमी।
संज्ञ्यसंज्ञिविभेदेन पूर्णापूर्णतयाथवा।।

सिद्धांतसार संग्रह ५/९३

७८ विति चउ पणिंदिय तसा बायरओ बायरा जिया थूला।
नियनियपज्ञत्तिजुया पज्ञत्ता लद्धिकरणेहिं।।

कर्मग्रन्थ १/४९

७९ (क) दंसणमोहस्सुदए उवसते सच्च भाव सद्दहण।
उवसमसम्मत्तमिण पसण्णकलुसं जहा तोयं।।

पच संग्रह १६५

(ख) शमान्मिथ्यात्व सम्यक्त्व मिश्रानन्ताबन्धिनाम्।
शुद्धेऽम्भसीव पकस्य पुंस्यौपशमिकं भवेत्।।

धर्मामृत (अनगार) २/५४

(ग) स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा, पृ २१८

८० कर्मग्रन्थ भा २ (मिश्रीमलजी म) हिंदी टीका, पृ १६

८१ सर्वार्थ सिद्धि (सम्पा फुलचंद्र सिद्धान्तशास्त्री) पृ १०८

८२ दसणमोह तिविहं सम्मं मीसं तहेव मिच्छत्तं।
सुद्ध अद्धविसुद्धं अविसुद्धं त हवह कमसो।।

कर्मग्रन्थ १/१४

८३ (क) अनन्तानुबंधिकषायचतुष्टयस्य मिथ्यात्वसम्यङ् मिथ्यात्वयोश्चो-
दयक्षयात्सदुपशमाच्च सम्यक्त्वस्य देशघातिस्पर्धकस्योदये तत्त्वार्थ-
श्रद्धानं क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वम्।।

सर्वार्थसिद्धि २/५

(ख) मिच्छत्तं जमुइन्नं तं खीणं अणुदियं च उवसंतं।
मीसी भाव परिणयं वेइज्जंतं खओवसमं।।

विशेषावश्यक भाष्य, ५३२

(ग) तत्रोदीर्णस्य मिथ्यात्वस्य क्षयेण अणुदीर्णस्य चोपशमेन
विष्कम्भितोदयस्वरूपेण यद् निर्वृत्तं तत् क्षायोपशमिकम्।।

चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ १३८

(घ) पाकाद्देशघ्न सम्यक्त्व प्रकृतेरुदयक्षये।
शमे च वेदक षण्णाममगाढं मलिनं चलम्।।

धर्मामृत (अनगार) २/५६

(ङ) अण उदयादो छण्हं सजाइ-रूवेण उदयमाणाणं।
सम्मत्त-कम्म-उदये, खयउवसमियं हवे सम्म।।

स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा. ३०९

"दंसणमोहुदयादो उप्पज्जइ ज पयत्थसद्दहणं।
चल मलिणमगाढं तं वेदक सम्मत्तमिदि जाणे।।"

स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा, टीका पृ २२०

८४ तस्य जघन्योत्कृष्टस्थिति कियतीति चेत्, उक्तं च अन्तर्मुहूर्तकालं जघन्यत-स्तत्प्रायोग्यगुणयुक्त षट्षष्टिसागरोपमकाल चोत्कर्षतो विधिना। उक्तं च-
"लांतवकप्पे तेरस अच्चुदकप्पे य होंति बावीसा।
उवरिम एक्कतीसं एवं सव्वाणि छासट्ठी।।"

स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा ३०९ की टीका पृ २२०

८५ तत्कर्मसप्तके क्षिप्ते पंकवत्स्फटिकेऽम्बुवत्।
शुद्धेऽतिशुद्धं क्षेत्रज्ञे भाति क्षायिकमक्षयम्।।

धर्मामृत (अनगार) २/५५

८६ स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा ३०८ की टीका पृ २१८-२१९

८७ (क) तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। तत्त्वार्थसूत्र १/२

(ख) एतेष्वध्यवसायायो योऽर्थेषु, विनिश्चयेन तत्त्वमिति।
सम्यग्दर्शनमेतच्च तन्निसर्गादधिगमाद्वा।

प्रशमरतिप्रकरणम् गा २२२

(ग) श्रद्धानं शुद्धवृत्तीनां देवतागमलिंगनाम्।
मौढ्यादिदोष निर्मुक्तं दृष्टि दृष्टिविदो विदु ।।

सिद्धातसार संग्रह १/३४

(घ) षोढानायतनं मूढत्रयं शंकादिकाष्टकम्।
मदाष्टकममी दुष्टा दोषा सद्दर्शनोज्झिता ।।
मिथ्यात्वदर्शनविज्ञान चारित्रतयं तथा।
तद्वन्त- पुरुषा- प्राज्ञैरनायतनमीरितम्।।
कामक्रोध महालोभमान मायाविनोदनान्।
देवान्दैत्यादिदुर्वृत्तान्मन्यतेमूढदृष्टिक-।।
वीतरागं सरागं च निर्ग्रन्थ ग्रन्थसंयुक्तम्।
सगुणं निर्गुणं चापि समं पश्यन्ति दुर्धिय ।।
मूढात्मानो न जानन्ति को वन्द्यो वन्दकश्च क ।
गुथथूथाशनां नो चेद्वन्दन्ते गां कथं नरा ।।

पृथिवीं ज्वलनं तोयं देहलीं पिप्पलादिकम्।
देवतात्वेन मन्यन्ते ये ते चिन्त्या विपश्चिता ।।
पाखण्डिन प्रपंचाढ्यान्मिथ्याचार विहारिण ।
रण्डाश्चण्डाश्च मन्यन्ते गुरुश्च गुरुमोहिन.।।
हिंसाद्यारम्भकत्वेन सर्वसत्त्वदयामयावहान्।
समयान्मन्यते मूढ सत्यं स समयेष्विह।।
यं य दृष्टमदृष्ट वा पुरं पश्यति मानवम्।
तं तं नमति मूढात्मा मद्यपायीव निस्त्रप ।।
एकेनैव हि मौढ्येन जीवोऽनन्तभवी भवेत्।
अपरस्य द्वयस्येह फलं किमिति सशय ।।
ज्ञानं कुल बल पूजां जातिमैश्वर्यमेव च।
तपो वपु समाश्रित्याहंकारो मद इष्यते।।
शंकाकांक्षान्य दृष्टीना प्रशंसा संस्तवस्तथा।
विचिकित्सेति ये दोषास्तेऽपि वर्ज्या सुदृष्टिभि ।।
एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तं श्रद्धान तत्त्वगोचरम्।
दर्शनं दार्शनीयाश्च कथयन्ति यतीश्वरा ।।

सिद्धान्तसार संग्रह १/३८-५०

८८ (क) तद् द्विविधं सरागवीतराग विषयभेदात्-प्रशमसवेगानुकम्पा-स्तिकयाद्यभिव्यक्तिलक्षणं प्रथमम् आत्मविशुद्धिमात्रमितरत्।।

सर्वार्थसिद्धि १/२

(ख) शम - सवेग - निर्वेदाऽनुकम्पाऽऽ स्तिक्यलक्षणै.।
लक्षणै. पंचभि सम्यक् सम्यक्त्वमुपलक्ष्यते।।

योगशास्त्र २/१५

(ग) रागादीनामनुद्रेक' प्रशम । संसाराद्भीरुता सवेग । सर्वप्राणिषु मैत्री अनुकम्पा। जीवादयोऽर्या यथास्वं भावै सन्तीतिमतिरास्तिक्यम्। एतैरभिव्यक्तलक्षणं प्रथमं सरागसम्यक्त्वमित्युच्यते। सप्ताना कर्मप्रकृतीनां आत्यन्तिकेऽपगमे सत्यात्मविशुद्धिमात्रमितरद् वीतरागसम्यक्त्वमित्युच्यते।।

राजवार्तिक (भट्टाकलंकदेव) १/२

(घ) अमितगति श्रावकाचार २/६६ (श्रावकाचार सग्रह)

८९. पश्यति दृश्यते नेन दृष्टिमात्रं वा दर्शनम्।

सर्वार्थ सिद्धि १/२

९० तन्निसर्गादधिगमाद्वा।।

तत्त्वार्थसूत्र १/३

११ (क) साध्य-साधन भेदेन द्विधा सम्यक्त्वमिष्यते।
कथ्यते क्षायिक साध्यं, साधन द्वितयं परम्।।

श्रावकाचार संग्रह भाग १

(ख) सराग - वीतरागात्मविषयत्वाद् द्विधा स्मृतम्।।

श्रावकाचार सग्रह भा २ (अमितगति) गा ६५

(ग) कारग-रोयग-दीवगमहवा।

विशेषावश्यक भाष्य गा २६७५

(घ) दसविहे सरागसम्मद्दंसणे पण्णत्ते, तं जहा-
निसग्गुवएसरुई आणारुई सुत्तवीयरुइमेव।
अभिगम-वित्थाररुई किरिया सखेव धम्मरुइ।।

स्थानांग सूत्र १०/३/७५१
उत्तराध्ययन सूत्र २८/१६

(घ) प्रवचन सारोद्धार, द्वार १४९
(ङ) योगसार प्राभृत १/१६-१८

१२ (क) दर्शनविशुद्धि तीर्थकृत्वस्य।।

तत्वार्थसूत्र ६/२३

(ख) दर्शनमूलमित्याहुर्जिना सर्वव्रतात्मनाम्।
अधिष्ठान यथा धाम्नस्तन्नूनं मूलमेव च।।

प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, २/२

(ग) न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोखि।

रत्नकरकण्ड श्रावकाचार, गा ३२

(घ) श्रावकाचार संग्रह भा १ गा ३४-४०
(ङ) दर्शन परमो धर्मो दर्शन शर्म निर्मलम्।
दर्शन भव्यजीवानां निर्वृते कारण परम्।

सिद्धांतसार सग्रह १/६७

१३ प्रमाणनयतत्त्वालोक (वादिदेव) १/२

१४ मन्यते-इन्द्रियमनोद्वारेण नियतं वस्तु परिच्छद्यतेऽनयेति मति
योग्यदेशावस्थित वस्तुविषय इन्द्रियमनोनिमित्तोऽवगमविशेष ।

चतुर्थ कर्मग्रन्थ - स्वोपज्ञ टीका, पृ १२९

१५ श्रवण श्रुतम्-शद्वार्थपर्यालोचनानुसारी इन्द्रियमनोनिमित्तोऽवगमविशेष ।

चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ १२९

१६ (क) अवधानमवधि - इन्द्रियाद्यनपेक्षमात्मन साक्षादर्थग्रहणम् यद्वा

अवधि· - मर्यादा रूपिष्वेव द्रव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृत्तिरूपा
तदुपलक्षितं ज्ञानमप्यवधि , अवधिश्च तद् ज्ञानम् च अवधिज्ञानम्।
चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ. १२९

(ख) तेणाव हीयए तम्मि वा वहाणं तओवही सो य मज्जाया।
ज तीए दव्वाए परोप्परं मुणइ तओवहित्ति।।
विशेषावश्यक भाष्य गा. ८२

(ग) विशेषावश्यक भाष्य, हेमचंद्र टीका, पृ ४६-४७

९७ अवधिर्मर्यादा सीमेत्यर्थ.।
कषायपाहुड भा १, जयधवला टीका (वीरसेनाचार्य) पृ १४

९८. (क) परि-सर्वतोभावे अवनमव., अवनं गमनं वेदनमिति पर्याया ।
मनसि मनसो वा पर्यवो मन-पर्यव. सर्वतस्तत्परिच्छेद इत्यर्थः,
मन पर्यवश्च तद् ज्ञानं च मन.पर्यवज्ञानम्।
यद्वा मन पर्याज्ञानम् . .. . तेषां (संज्ञी जीवानाम्)
मनसा पर्यायाः - चिन्तनानुता. परिणामा - मन.पर्यायाः तेषु तेषां च
संबन्धि ज्ञान मन पर्यायज्ञानम्।
चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ १२९

(ख) पज्जवणं पज्जयणं पज्जाओ वा मणम्मि मणसो वा।
तस्स व पज्जायवादिन्नाणं मणपज्जव नाणं।।
विशेषावश्यक भाष्य (जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण) ८३

(ग) विशेषावश्यक भाष्य, बृहद्वृत्या (हेमचद्र) पृ ४७

९९. केवलं - एक मत्यादिरहितत्वात् 'नट्ठम्मि उ छाउमत्थिए नाणे'
आवश्यक निर्युक्ति, गा ५३९

१०० (क) शुद्धं वा केवलं तदावरणमलकलंक पंकापगमात् .....
यथावस्थित समस्त भूतभवद्भावि भावावभासि ज्ञानमिति।
चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ भाष्य, टीका, पृ. १२९

(ख) प्रमाणनय तत्त्वालोक २/२२

(ग) प्रमाणतनयतत्त्वालोक २/२३

१०१. वि-विशिष्टस्य अवधिज्ञानस्य भंग. विपर्यय इति विभंग ।
कर्मग्रन्थ चतुर्थ (मरुधर मिश्रीमलजी म) पृ १११

११ (क) साध्य-साधन भेदेन द्विधा सम्यक्त्वमिष्यते।
कथ्यते क्षायिक साध्य, साधन द्वितयं परम्।।

श्रावकाचार संग्रह भाग १

(ख) सराग - वीतरागात्मविषयत्वाद् द्विधा स्मृतम्।।

श्रावकाचार सग्रह भा २ (अमितगति) गा ६५

(ग) कारग-रोयग-दीवगमहवा।

विशेषावश्यक भाष्य गा. २६७५

(घ) दसविहे सरागसम्मद्दंसणे पण्णत्ते, तं जहा-
निसग्गुवएसरुई आणारुई सुत्तवीयरुइमेव।
अभिगम-वित्थाररुई किरिया संखेव धम्मरुइ।।

स्थानाग सूत्र १०/३/७५१
उत्तराध्ययन सूत्र २८/१६

(घ) प्रवचन सारोद्धार, द्वार १४९
(ङ) योगसार प्राभृत १/१६-१८

१२ (क) दर्शनविशुद्धि . . .. तीर्थकृत्वस्य।।

तत्वार्थसूत्र ६/२३

(ख) दर्शनमूलमित्याहुर्जिना सर्वव्रतात्मनाम्।
अधिष्ठानं यथा धाम्नस्तव्रूनं मूलमेव च।।

प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, २/२

(ग) न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव।

रत्नकरकण्ड श्रावकाचार, गा ३२

(घ) श्रावकाचार सग्रह भा १ गा ३४-४०
(ङ) दर्शन परमो धर्मो दर्शनं शर्म निर्मलम्।
दर्शनं भव्यजीवानां निर्वृति कारण परम्।

सिद्धांतसार सग्रह १/६७

१३ प्रमाणनयतत्त्वालोक (वादिदेव) १/२

१४. मन्यते-इन्द्रियमनोद्वारेण नियतं वस्तु परिच्छिद्यतेऽनयेति मति
योग्यदेशावस्थित वस्तुविषय इन्द्रियमनोनिमित्तोऽवगमविशेष ।

चतुर्थ कर्मग्रन्थ - स्वोपज्ञ टीका, पृ १२९

१५. श्रवणं श्रुतम्-शद्वार्थपर्यालोचनानुसारी इन्द्रियमनोनिमित्तोऽवगमविशेष ।

चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ १२९

१६ (क) अवधानमवधि - इन्द्रियाद्यनपेक्षमात्मन साक्षादर्थग्रहणम् यद्वा

अवधि: - मर्यादा रूपिष्वेव द्रव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृत्तिरूपा
तदुपलक्षितं ज्ञानमप्यवधि , अवधिश्च तद् ज्ञानम् च अवधिज्ञानम्।

चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ १२९

(ख) तेणाव हीयए तम्मि वा वहाणं तओवही सो य मज्जाया।
जं तीए दव्वाए परोप्परं मुणइ तओवहित्ति।।

विशेषावश्यक भाष्य गा. ८२

(ग) विशेषावश्यक भाष्य, हेमचंद्र टीका, पृ ४६-४७

९७. अवधिर्मर्यादा सीमेत्यर्थः।
कषायपाहुड भा. १, जयधवला टीका (वीरसेनाचार्य) पृ १४

९८. (क) परि-सर्वतोभावे अवनमवः, अवनं गमनं वेदनमिति पर्याया।
मनसि मनसो वा पर्यवो मन पर्यव: सर्वतस्तत्परिच्छेद इत्यर्थ,
मन पर्यवश्च तद् ज्ञानं च मन पर्यवज्ञानम्।
यद्वा मन: पर्याज्ञानम् ...... तेषां (संज्ञी जीवानाम्)
मनसा पर्याया - चिन्तनानुता परिणामा - मन:पर्याया तेषु तेषां च
संवन्धि ज्ञानं मन पर्यायज्ञानम्।

चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ १२९

(ख) पज्जवणं पज्जयणं पज्जाओ वा मणम्मि मणसो वा।
तस्स व पज्जाययादिन्नाणं मणपज्जवं नाणं।।

विशेषावश्यक भाष्य (जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण) ८३

(ग) विशेषावश्यक भाष्य, बृहद्वृत्त्या (हेमचंद्र) पृ. ४७

९९. केवलं - एकं मत्यादिरहितत्वात् 'नट्ठम्मि उ छाउमत्थिए नाणे'

आवश्यक निर्युक्ति, गा. ५३९

१०० (क) शुद्धं वा केवलं तदावरणमलकलंक पंकापगमात् ....
यथावस्थित समस्त भूतभवद्भावि भावावभासि ज्ञानमिति।

चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ भाष्य, टीका, पृ. १२९

(ख) प्रमाणनय तत्त्वालोक २/२२

(ग) प्रमाणतनयतत्त्वालोक २/२३

१०१. वि-विशिष्टस्य अवधिज्ञानस्य भंग विपर्यय इति विभंग।

कर्मग्रन्थ चतुर्थ (मरुधर मिश्रीमलजी म) पृ ११९

१०२. जं सामि-काल-कारण-विसय-परोक्खत्तणेहिं तुल्लाइं।

तब्भावे सेसाणि य तेणाईए मइ सुयाइं।।
मइपुव्वं जेण सुयं तेणाईए मइ, विसिट्ठो वा।
मइ भेओ चेव सुय तो मइसमणंतर भणिय।

विशेषावश्यक भाष्य, ८५-८६

१०३ काल-विवज्जय-सामित्ति-लाभसाहम्मओ।

विशेषावश्यक भाष्य, गा ८७

१०४ माणसमित्तो छउमत्थ-विसय-भावादिसामण्णा।

विशेषावश्यक भाष्य, गा. ८७

१०५ अन्ते केवलमुत्तम- जइसामित्तावसाणलाभाओ।

विशेषावश्यक भाष्य, गा ८८

१०६ (क) आद्ये परोक्षम्। प्रत्यक्षमन्यत्।

तत्त्वार्थ सूत्र १/११-१२

(ख) पारमार्थिकं पुनरुत्पत्तावात्ममात्रापेक्षाम्।

प्रमाणनय तत्त्वालोक (वादिदेवसूरि) २/१८

(ग) दुविहे नाणे पण्णत्ते, तं जहा-पच्चक्खे चेव परोक्खे चेव। पच्चक्खे नाणे दुविहे पण्णत्ते, त जहा- केवलनाणे णोकेवलणाणे चेव। णोकेवलणाणे दुविहे पण्णत्ते त जहा- ओहिणाणे चेव मणपज्जवणाणे चेव। परोक्खे णाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा- अभिणिबोहियणाणे चेव सुयणाणे चेव।

स्थानागसूत्र २/१/१०३ (सुत्तागमे)

(घ) पंचविहे णाणे पण्णत्ते, तं जहा-अभिणिबोहियणाणे, सुयणाणे, ओहिणाणे, मणपज्जवणाणे, केवलणाणे।

स्थानागसूत्र ५/३/५४१

(ङ) स्पष्टं प्रत्यक्षम्। तद् द्विप्रकारं, साव्यवहारिकं पारमार्थिकं च।

प्रमाणनय तत्त्वालोक २/३-४

१०७ (क) कसाय पाहुड (गुणधराचार्य, वीरसेनाचार्य) धवला टीका

भा १, पृ १२-१३

(ख) स्थानांगसूत्र, ४/४/३६४
(ग) नन्दीसूत्र, २८-४०, ६१
(घ) बहुबहुविधक्षिप्रानि सृतानुक्तध्रुवानां सेतराणाम्।

तत्त्वार्थसूत्र, १/१६

(ङ) अवग्रहेहावायधारणा। तत्त्वार्थ सूत्र, १/१५

(च) चउव्विहा मइ पण्णत्ता, त जहा-उग्गहमई, ईहामई, अवायमई,
धारणामई। स्थानाग सूत्र ४/४१

(छ) स्थानांग सूत्र ६/

(क) कसायपाहुड, जयधवला टीका, पृ २२-२३, भा. १

(ख) नन्दीसूत्र गा. ४४

(ग) अक्खर सन्नी सम्मं साइयं खलु सपज्जवसियं च।
गमियं अंगपविट्ठं च सत्त वि एए सपडिवक्खा।
पज्जय अक्खर पयरा संघाण पडिवत्ति तह य अणुओगो।
पाहुडपाहुड पाहुड वत्थू पुव्वा य स-समासा।। कर्मग्रन्थ १/६-७

(घ) नन्दीसूत्र, ३७

,०९ (क) द्विविधोऽवधिः। तत्र भवप्रत्ययो नारकदेवानाम्।
यथोक्तनिमित्त षड् विकल्प शेषाणाम्।
तत्त्वार्थ सूत्रम् १/२१-२३

(ख) ओहिनाण-पच्चख दुविहं पण्णत्त, त जहा-भवपच्चइय च,
खाओवसमियं च। नन्दीसूत्र ६

(ग) छव्विहे ओहिनाणे पण्णत्ते, त जहा-अणुगामिए, अणाणुगामिते,
वड्ढमाणते हीयमाणते, पडिवाती, अपडिवाती।
स्थानाग सूत्र ६/

(घ) तमोहिणाणं तिविहं-दंसोही-परमोही सव्वोही चेदि।
कसायपाहुड, जयधवला टीका (वीर सेनाचार्य) पृ १५ भा १

(ङ) नन्दीसूत्र १०

११० ऋजुविपुलमति मन पर्याय । तत्त्वार्थ सूत्र १/२४

१११ तद् विकलं सकल च। तत्र विकलमवधिमन पर्यायज्ञानरूप-
तया द्वेधा। प्रमाणनय तत्त्वालोक २/१९-२०

११२. (क)

(ख) ग्रन्थार्थोभय पूर्ण काले विनयेन सोपधानं च।
बहुमानेन समन्वितमनिह्नवं ज्ञानाराध्यम्।।
पुरुषार्थ सिद्धि-उपाय गा ३६

११३ दु ख ज्वलनतप्तानां संसारोग्रमरुस्थले।
विज्ञानमेव जन्तूना सुधाम्बुप्रीणनक्षम ।।

तृतियमथवा नेत्रं विश्व तत्त्व प्रकाशने।।
ज्ञानार्णव ७/१२-१५

मोक्ष कर्मक्षयादेव स सम्यग्ज्ञानतः स्मृत ।
ध्यान साध्यं मतं तद्धि तस्मात्तद्धितमात्मन·।।

ज्ञानार्णव ३/१३

११४ चारित्रं भवति यत समस्त सावद्ययोग परिहरणात्।
सकल कषाय विमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत्।।

पुरुषार्थ सिद्धि उपाय, गा. ३९

११५. (क) पच विहे संजमे पण्णत्ते, तं जहा-सामाइयसंजमे छेदोयट्ठावणियसजमे परिहारविसुद्धि संजमे सुहुमसंपरायसजमे अहक्खायचरित्त संजमे।

ठाणे (सुत्तागमे) ५/२/५२४

(ख) विशेषावश्यक भाष्य गा १२६०-१२६१

(ग) हिंसातोऽनृतवचनात्स्तेयादब्रह्मत· परिग्रहत ।
कात्स्न्यैकदेशविरतेश्चारित्रं जायते द्विविधम्।।
निरत कात्स्न्यनिवृत्तौ भवति यति समयसारभूतोऽयम्।
या त्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति।।

पुरुषार्थ-सिद्धि-उपाय, गा ४०-४१

(घ) अनुयोगदार सुत्त (चरित्तगुणप्पमाण भेया) पृ ११४९ (सुत्तागमे)

११६. (क) सम रागद्वेषविप्रमुक्तो य सर्वभूतान्यात्मवत् पश्यति,
आयो लाभ प्राप्तिरिति पर्याया , समस्य आय
समाय समाय एव सामायिक।
समाना-ज्ञानदर्शनचारित्राणामाय लाभ· समाय
समाय एव सामायिकं।

चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ १३०

(ख) सर्वार्थ सिद्धि ७/२१ की वृत्ति,

(ग) आवश्यक मलयगिरि वृत्ति गा ८५४

(घ) विशेषावश्यक भाष्य, गा ३४७७, ३४७९, ३४८०-३४८२

(ङ) सामायिक सूत्र (उपा अमरमुनि) पृ २७

११७ (क) सामाइयं संखेवो चौद्दसपुव्वत्थपिंडो त्ति।

विशेषावश्यक भाष्य, गा. २७९६

(ख) सकलद्वादशांगोपनिषद्भूत सामायिक सूत्रवत्।

तत्त्वार्थ टीका, उद्धृत, सामाइक सूत्र (अमरमुनि) पृ २६

११८. (क) जस्य सामाणिओ अप्पा, संजमे णियमे तवे।
तस्स सामाइयं होइ, इह केवलिभासियं।।
जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामाइयं होइ, इह केवलि भासियं।।
अनुयोगदारसुत्तं (सुत्तागमे) पृ. ११६१

(ख) समता सर्वभूतेषु, संयम· शुभ भावना।
आर्त-रौद्र परित्यागस्तद्धि सामायिक वृत्तम।
सामायिक सूत्र (अमरमुनि) पृ. २९

(ग) आवश्यक निर्युक्ति चूर्णि (हरिभद्र कृत) गा. ७९७-७९८

(घ) नियमसार गा. १२६-१२७

११९. (क) सामाइय भाव परिणइ भावाओ जीव एव सामाइयं।
आवश्यक निर्युक्ति २३३६

(ख) समभावो सामाइयं तण-कचण-सड-मित्र विसओ पि।
पंचाशक (हरिभद्र कृत) ११/५, उद्धृत सामाइक सूत्र ३२

१२०. (क) विशेषावश्यक भाष्य गा. ९६२

(ख) षट् प्रकार · नाम १, स्थापना २, द्रव्य ३, क्षेत्र ४, काल ५, भाव ६.
आवश्यक निर्युक्ति भा १ पृ. १०६

१२१.(क) आया सामाइए आया सामाइयस्स अट्ठे।
भगवइ सुत्त १/९

(ख) सावज्ज जोग विरओ.........आया सामाइय होइ।
आवश्यक निर्युक्ति गा. १४९

(ग) विशेषावश्यक भाष्य, गा. ९५५

(घ) गोम्मटसार (जी.का.) गा. ३६८

१२२. (क) एतच्च द्विधा-इत्वरम्, यावत्कथिकं च। तत्र स्वकल्पकालभावीत्वरम्।
इदं च भरतैरावतक्षेत्रेषु प्रथम-पश्चिम-तीर्थंकरतीर्थेऽनारोपित
महाव्रतस्य शिक्षकस्य विज्ञेयम्।
अत्र जन्मनि यावज्जीवितकथाऽस्त्यात्मन·, तावत्काल भावि
यावत्कथं तदेव यावत्कथिकम्। एतच्च भरतैरावतमध्यद्वाविंशति-
तीर्थंकर साधूनां, महाविदेहार्हत्सयतानां चावसेयम्।।

(ख) सामाइयचरित्तगुणप्पमाणे दुविहे पण्णत्ते, तंजहा-इत्तरिए य
आवकहिए य।। अनुयोगदार सुत्त, १४५ (पृ ११५०)

१२३. (क) तत्र पूर्व पर्यायस्य छेदोपस्थापना महाव्रतेष्वारोपण यत्र चारित्रे तत्

मोक्ष कर्मक्षयादेव स सम्यग्ज्ञानत स्मृत ।
ध्यान साध्यं मतं तद्धि तस्मात्तद्धितमात्मन ।।

ज्ञानार्णव ३/१३

११४. चारित्रं भवति यत समस्त सावद्ययोग परिहरणात्।
सकल कषाय विमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत्।।

पुरुषार्थ सिद्धि उपाय, गा ३९

११५ (क) पंच विहे संजमे पण्णत्ते, तं जहा-सामाइयसंजमे छेदोयट्ठावणियसजमे
परिहारविसुद्धि सजमे सुहुमसंपरायसंजमे अहक्खायचरित्त संजमे।

ठाणे (सुत्तागमे) ५/२/५२४

(ख) विशेषावश्यक भाष्य गा १२६०-१२६१

(ग) हिंसातोऽनृतवचनात्स्तेयादब्रह्मत• परिग्रहत ।
कात्स्न्यैकदेशविरतेश्चारित्रं जायते द्विविधम्।।
निरत कात्स्न्यनिवृत्तौ भवति यति समयसारभूतोऽयम्।
या त्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति।।
पुरुषार्थ-सिद्धि-उपाय, गा ४०-४१

(घ) अनुयोगदार सुत्त (चरित्तगुणप्पमाण भेया) पृ ११४९ (सुत्तागमे)

११६ (क) सम रागद्वेषविप्रमुक्तो य सर्वभूतान्यात्मवत् पश्यति,
आयो लाभ प्राप्तिरिति पर्याया•, समस्य आय
समाय समाय एव सामायिक।
समाना-ज्ञानदर्शनचारित्राणामाय• लाभ॰ समायः
समाय एव सामायिकं।

चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ १३०

(ख) सर्वार्थ सिद्धि ७/२१ की वृत्ति,
(ग) आवश्यक मलयगिरि वृत्ति गा ८५४
(घ) विशेषावश्यक भाष्य, गा ३४७७, ३४७९, ३४८०-३४८२
(ङ) सामायिक सूत्र (उपा अमरमुनि) पृ २७

११७. (क) सामाइयं संखेवो चौद्दसपुव्वत्थपिंडो त्ति।

विशेषावश्यक भाष्य, गा २७९६

(ख) सकलद्वादशागोपनिषद्भूत सामायिक सूत्रवत्।

तत्त्वार्थ टीका, उद्धृत, सामाइक सूत्र (अमरमुनि) पृ २६

११८. (क) जस्य सामाणिओ अप्पा, संजमे णियमे तवे।
तस्स सामाइयं होइ, इह केवलिभासियं।।
जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामाइय होइ, इह केवलि भासियं।।
अनुयोगदारसुत्तं (सुत्तागमे) पृ. ११६१

(ख) समता सर्वभूतेषु, संयम· शुभ भावना।
आर्त-रौद्र परित्यागस्तद्धि सामायिक वृत्तम।
सामायिक सूत्र (अमरमुनि) पृ. २९

(ग) आवश्यक निर्युक्ति चूर्णि (हरिभद्र कृत) गा. ७९७-७९८

(घ) नियमसार गा. १२६-१२७

११९. (क) सामाइय भाव परिणइ भावाओ जीव एव सामाइयं।
आवश्यक निर्युक्ति २३३६

(ख) समभावो सामाइयं तण-कचण-सड-मित्र विसओ पि।
पंचाशक (हरिभद्र कृत) ११/५, उद्धृत सामाइक सूत्र ३२

१२०. (क) विशेषावश्यक भाष्य गा. ९६२

(ख) षट् प्रकार : नाम १, स्थापना २, द्रव्य ३, क्षेत्र ४, काल ५, भाव ६.
आवश्यक निर्युक्ति भा. १ पृ. १०६

१२१.(क) आया सामाइए आया सामाइयस्स अट्ठे।
भगवइ सुत्त १/९

(ख) सावज्ज जोग विरओ.........आया सामाइयं होइ।
आवश्यक निर्युक्ति गा. १४९

(ग) विशेषावश्यक भाष्य, गा ९५५

(घ) गोम्मटसार (जी.का.) गा. ३६८

१२२. (क) एतच्च द्विधा-इत्वरम्, यावत्कथिकं च। तत्र स्वकल्पकालभावीत्वरम्।
इद च भरतैरावतक्षेत्रेषु प्रथम-पश्चिम-तीर्थंकरतीर्थेऽनारोपित महाव्रतस्य शिक्षकस्य विज्ञेयम्।
अत्र जन्मनि यावज्जीवितकथाऽस्त्यात्मन·, तावत्काल भावि यावत्कथं तदेव यावत्कथिकम्। एतच्च भरतैरावतमध्यद्वाविंशति-तीर्थंकर साधूनां, महाविदेहार्हत्संयतानां चावसेयम्।।

(ख) सामाइयचरित्तगुणप्पमाणे दुविहे पण्णत्ते, तंजहा-इत्तरिए य आवकहिए य।। अनुयोगदार सुत्त, १४५ (पृ ११५०)

१२३. (क) तत्र पूर्व पर्यायस्य छेदोपस्थापना महाव्रतेष्वारोपणं यत्र चारित्रे तत्

छेदोपस्थापनम्।   चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ १ ३ ०

(ख) छेओवट्ठावणचरित्तगुणप्पमाणे दुविहे पण्णत्ते, त जहा-साइयारे य, निरइयारे य।

अनुयोगदारसुत्तं (सुत्तागमे) पृ. ११५०

(ग) विशेषावश्यक भाष्य, वृत्ति गा. १२६० की

१२४ सपरैति-पर्यटति संसारमनेनेति सपराय क्रोधादि कषाय , सूक्ष्मो लोभाशमात्रावशेषतया सम्परायो यत्र तत् सूक्ष्मसंपरायम्।।

चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ. १३७

१२५. (क) सुहुम सपराय चरित्तगुप्पमाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा सकिलिस्समाणए य विसुज्झमाणए य २। अहवा सुहुमसपरायचरित्तगुणप्पमाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-पडिवाई य १ अपडिवाई य २।   अनुयोगदारसुत्त (सुत्तागमे) १४५

(ख) इदमपि सक्लिश्यमानक विशुद्ध्यमानक भेद द्विधा। तत्र श्रेणिप्रच्यवमानस्य सक्लिश्यमानकम् श्रेणिमारोहतो विशुद्ध्यमानकमिति।   चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ. १३७

(ग) विशेषावश्यक भाष्य, गा. १२६० की वृत्ति.

१२६ उवसते खीणे वा असुहे कम्मम्हि मोहणीयम्हि।
छद्मस्थो व जिणो वा अहक्खाओ संजओ साहू।।

पंचसंग्रह १/१३३

१२७. अहक्खायचरित्तगुणप्पमाणे दुविहे पण्णत्ते, त जहा-पडिवाई य १ अपडिवाई य २। अहवा अहक्खायचरित्तगुणप्पमाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-छउमत्थिए य १ केवलिए य २।

अणुयोगदारसुत्त, १४५

१२८. देशे-संकल्प निरपराध त्रसवधविषये यत-यमनं संयमो यस्य स देशयत , सम्यग्दर्शनयुत एकाणुव्रतधारी अनुमतिमात्र श्रावक इत्यर्थ ।

चतुर्थ कर्मग्रन्थ ग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ. १३७

१२९. मूलोत्तरगुण निष्ठामधितिष्ठन् पंचगुरुपदशरण्यः।
दानयजनप्रधानो ज्ञानसुधा श्रावक- पिपासु स्यात्।

धर्मामृत (सागार) १/१५

१३०. पाक्षिकादिभिदा त्रेधा श्रावकस्तत्र पाक्षिक-।

तद्धर्मगृह्यस्तन्निष्ठो नैष्ठिक साधक. स्त्वयुक्।।

धर्मामृत (सागार) १/२०

१३१. तत्र गुहस्थधर्मोऽपि द्विविध. - सामान्यतो विशेषश्चेति।

धर्मबिन्दु (हरिभद्रसूरि) गा २

१३२. (क) धर्म बिन्दु श्लोक ३-३३

(ख) योगशास्त्र स्वोपज्ञ भाष्य (हेमचन्द्राचार्य) १/४७-५६

१३३. (क) पंचाणुव्वइय सत्तसिक्खावइय दुवालसविह गिहिधम्मं पडिवज्जिस्सामि। उवासगदसाओ गा. ४ (सुत्तागमे)

(ख) पंचधाऽणुव्रतं त्रेधा गुणव्रतमगारिणाम्।
शिक्षाव्रतं चतुर्धेति गुणा. स्युर्द्वादशोत्तरे। धर्मामृत (आगार) ४/४

१३४. मद्यमासमधुन्युज्झेत्पचक्षीरिफलानि च। धर्मामृत (आगार) २/२
पिप्पलोदुम्बर प्लक्ष-वट-फल्गु-फलान्यदन्।
हन्त्यार्द्राणि त्रसान् शुष्काण्यपि स्व रागयोगतः।।

धर्मामृत (आगार) २/१३

१३५. विरति· स्थूल हिंसादेर्द्विविध-त्रिविधादिना।
अहिंसादीनि गचाणुव्रतानि जगदुर्जिनाः।।

योगशास्त्र २/१८

१३६. पचाणुव्वया पण्णत्तं तं जहा - थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमण, थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं, थूलाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं, थूलाओ मेहुणाओ वेरमण (सदारसतोसे), इच्छापरिमाणे।

ठाणे (सुत्तागमे) ५/१/४८४

१३७ संकल्पजः स्थूलस्तस्माद्विरति । संकल्पं हृदि व्यवस्थाप्य व्यापादयामीति स्थूलप्राणातिपातस्माद्विरति. प्रथममणुव्रतम्। न पुनरारं भजाद्विरतिरिति।..... ।

प्रशमरतिप्रकरण (उमास्वाति) ३०३ की वृत्ति

१३८. (क) योगशास्त्र २/५३-५४

(ख) धर्मामृत (आगार) पं आशाधर ४/३९

१३९. (क) योग शास्त्र २/६५

(ख) धर्मामृत (आगार) ४/४६

१४०. (क) सदासंतोसिए परिमाणं करेइ।

उपासकदशांगसूत्र (आत्मा म.) १/१६

(ख) योग शास्त्र २/७६

१४१ (क) योग शास्त्र २/१०६

(ख) धर्मामृत (आगार) ४/५९

१४२. दिग्व्रतमनर्थदण्डव्रतं च भोगोपभोगपरिमाणम्।
अनुबृंहणाद् गुणानामाख्यान्ति गुणव्रतान्यार्याः।।

श्रावकाचार सग्रह (रत्नकरण्ड श्रावकाचार) गा. ६७

१४३. दशस्वपि कृता दिक्षु यत्र सीमा न लङ्घ्यते।
ख्यातं दिग्विरतिरिति प्रथमं तद् गुणव्रतम्।।

योगशास्त्र ३/१

१४४ भोगोपभोगयो संख्या शक्त्या यत्र विधीयते।
भोगोपभोगमानं तद् द्वैतीयीकगुणव्रतम्।।

योगशास्त्र ३/४

१४५. (क) उवभोगपभोगे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा - भोयणओ य, कम्मओ य।

उपासकदशांग सूत्र (आत्मारामजी म.) १/४७

(ख) उल्लणियाविहि, दंतवणविहि, फलविहि, अब्भंगणविहि, उव्वट्टणविहि, मज्जणविहि, वत्थविहि, विलेवणविहि, पुप्फविहि, आभरणविहि, धुवणविहि, भोयणविहि, भक्खविहि, ओयणविहि, सूवविहि, घयविहि, सागविहि, माहूरयविहि, जेमणविहि, पाणियविहि, मुहवासविहि, वाहणविहि, उवाणहविहि, सयणविहि, सचित्तविहि, दव्वविहि।

उपासकदशांगसूत्र (आ म.) १/२२-३८

(ग) कम्मओ णं समणोवासएणं पण्णरस कम्मादाणाइं जाणियव्वाइं, न समायरियव्वाइ। तं जहा-इंगालकम्मे, वणकम्मे, साडीकम्मे, भाडीकम्मे, फोडीकम्मे, दतवाणिज्जे, लक्खा-वाणिज्जे, रसवाणिज्जे, विस-वाणिज्जे, केस-वाणिज्जे, जंत पीलण कम्मे, निल्लछन-कम्मे, दवग्गि-दावणया, सर-दह-तलायसोसणया, असइ-जण पोसणया। उपयासकदशांगसूत्र (आ. म.) १/४७

१४६. आर्तरौद्रमयध्यानं पापकर्मोपदेशिता।
हिंसोपकारि दानं च, प्रमादाचरणं तथा।।

शरीराद्यर्थदण्डस्य प्रतिपक्षतया स्थित ।
योऽनर्थदण्डस्तत्त्यागस्तृतीयं तु गुणव्रतम्।।

योगशास्त्र ३/७३-७४

१४७. त्यक्तार्त्तरौद्रध्यानस्त्यक्त-सावद्यकर्मण ।
मुहूर्त समता या तां विदु सामायिक-व्रतम्।। योगशास्त्र ३/८२

१४८. दिग्व्रते परिमाण यत्, तस्य सक्षेपण पुन.।
दिने रात्रौ च देशावकाशिकव्रतमुच्यते।। योगशास्त्र ३/८५

१४९ (क) चउव्विहे आहारे पण्णत्ते तजहा - असणे पाणे खाइमे साइमे।

ठाणे (सुत्तागमे) ४/२/३७०

(ख) चतुष्पर्व्यां चतुर्थादि कुव्यापार निषेधनम्।
ब्रह्मचर्यक्रिया स्नानादि त्याग पौषधव्रतम्।।

योग शास्त्र ३/८५

१५० दान चतुर्विधाऽऽहार पात्राऽच्छादनसद्मनाम्।
अतिथिभ्योऽतिथि सविभाग व्रत मुदीरितम्।। योगशास्त्र ३/८७

१५१ उवासगदसाओ (सुत्तागमे) १/६

१५२ (क) श्राम्यन्तीति श्रमणास्तपस्यन्तीत्यर्थ ।

दशवैकालिकसूत्र (हरिभद्र टीका) १/३

(ख) जह मम न पियं दु क्ख, जाणिय एमेव सव्व जीवाणं।
न हणइ न हणावेइ य, सममणइ तेण सो समणो।।
णत्थि य रे कोइ वेसो, पिओ य सव्वेसु चेव जीवेसु।
एएण होइ समणो, एसो अन्नोऽवि पज्जाओ।।

अनुयोगदारसुत्तं (सुत्तागमे) पृ. ११६१

१५३. (क) "गोयमा। जे इमे अणगारा भगवंतो इरियासमिया .. . ..
जाव गुत्तबभयारी, से तेणट्ठेणं एत वुच्चइ धम्म देवा।।"

भगवतीसूत्र १२/९

(ख) उत्तराध्ययनसूत्र १९/९०-९२

१५४. एत्थ वि समणे अणिस्सिए, अणियाणे, आदाण च, अतिवायं च
मुसावाय च बहिद्ध च कोह च माय च माणं च लोह च, पिज्ज च, दोस च, इच्चेव
जओ जओ आदाण अप्पणो पदोसहेऊ तओ तओ आदाणातो पुव्व

पडिविरते पाणाइवाया सिया दते दविए वोसट्ठकाए 'समणे' ति वच्चे।

सूत्रकृताग १/१६/१

१५५ (क) महत्त्वहेतोर्गुणिभि श्रितानि महान्तिमत्वा त्रिदशैर्नुतानि।
महासुखज्ञाननिबन्धनानि महाव्रतानिति सता मतानि।

ज्ञानार्णव (शुभचन्द्राचार्य) १८/१

(ख) साधेति ज महत्थ आयरिइदा च ज महल्लेहिं।
ज च महल्लाइ सय महव्वदाइ हवे ताइ।

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश भा ३ पृ ६३६

(ग) महान्ति-बृहन्ति च तानि व्रतानि च नियमा महाव्रतानि।

स्थानागसूत्र (आत्मा म) भा २, ५/१

१५६ दशवैकालिक सूत्र (मच्छय्याम्भवसूरि)

हारिभद्रीय वृत्ति पृ १२०

१५७ पचमहाव्रत मूल समितिप्रसर नितान्तमनवद्यम्।
गुप्ति फल भार नम्र सन्मतिना कीर्त्तित वृत्तम्।।

ज्ञानार्णव ८/३

१५८ (क) पचमहव्वया पण्णत त जहा-सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमण,
सव्वाओ मुसवायाओ वेरमण, सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं,
सव्वाओ मेहुणाओ वेरमण, सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमण।

ठाणे (सुत्तागमे) ५/१/१

१५९ (क) हिंसाए पडिवक्खो, होइ अहिंसा चउव्विहा सा उ।
दव्वे भावे य तहा अहिंसाऽजीमाइवाउ त्ति।।
अभिदान राजेन्द्र कोश भाग १, पृ ८७२

(ख) पुरुषार्थ सिद्धि उपाय (अमृतचन्द्राचार्य) गा ४३

१६० (क) न यत् प्रमादयोगेन जीवितव्यपरोणम्।
त्रसाना स्थावराणा च तदहिंसाव्रत मतम्।।

योगशास्त्र १/२०

(ख) दशवैकालिक सूत्र ४/५

१६१. पण्हावागरणं (प्रश्नव्याकरण) सुत्तागमे, पृ १२२४

१६२ तप श्रुतयमज्ञानध्यान दानादिकर्मणाम्।

सत्यशीलव्रतादीनामहिंसा जननी मता।। ज्ञानार्णव ८/४२

१६३. (क) प्रिय पथ्य वचस्तथ्यं सुनृतव्रतमुच्यते।
तत् तथ्यमपि नो तथ्यम्, अप्रियं चाहित च यत्।।

योगशास्त्र १/२०

(ख) दशवैकालिक ४/६

(ग) दशवैकालिक ६/१३

१६४. लोकम्मि सारभूय गभीरतरं महासमुद्दाओ थिरतरग मेरुपव्वयाओ सोमतरगं चदमंडलाओ दित्ततर सूरमडलाओ विमलयरं सरयनहलयलाओ ......

पण्हावागरण (सुत्तागमे) पृ १२२७

१६५ पण्हावागरण (सुत्तागमे) पृ १२२८

१६६. (क) योगशास्त्र १/२२

(ख) ज्ञानार्णव १०/१५

(ग) आचारागसूत्र (शीलांकायार्च टीका) २/३/१५

(घ) दशवैकालिक ४/७

१६७. द्रव्यादि चार प्रकार की चोरी

१६८ (क) आचारागसूत्र (शीलाकाचार्य टीका) २/३/१५

(ख) स्थानाग सूत्र (आत्मा म.) ४/१०

(ग) दशवैकालिक ४/८

१६९ देव दानव गन्धव्वा जक्ख-रक्खस किन्नरा।
बम्भयारिं नमंसन्ति दुक्करं जे करन्ति तं।।

उत्तराध्ययनसूत्र १६/१६

१७० जहा किम्पाग फलाण, परिणामो न सुन्दरो।
एवं भुत्ताण भोगाणं, परिणामो न सुन्दरो।।

उत्तराध्ययनसूत्र १९/१७

१७१. दिव्योदारिक कामानां कृतानुमतिकारितै ।
मनो वाक् कायतस्त्यागो ब्रह्माष्टादशधा मतम्।

योगशास्त्र १/२३

१७२. (क) ज्ञानार्णव १६/४-६, १३ एवं पृ. १६५

१७३. (क) उत्तराध्ययनसूत्र
(ख) योगशास्त्र १/२४
(ग) दशवैकालिक सूत्र ४/९

१७४. प्रशस्ताऽप्रशस्तभेदेन द्विरूपा भावनेति। अप्रशस्त भावनापरित्यागेन प्रशस्ता भावना भवितव्या। भावमि होइ दुविहा पसत्था तह अपसत्था य। पाणिवहमुसावाए अद्त्तमेहुणपरिग्गहचेव। कोहे माणे माया लोहे य हवंति अपसत्था। दंसण नाण चरित्ते तववेरग्गे य होइ उ पसत्था।
आचारांग सूत्र (शीलांकाचार्य टीका) पृ. २७९

१७५. (क) आचारागसूत्र २/१५/१०२७-१०७४
(ख) योगशास्त्र १/२६-३३
(ग) सर्वार्थ सिद्धि ७/३-८

१७६. (क) अहावरे छट्ठे भते। वए राइभोयणाओ वेरमणं सव्वं भंते। राइभोयणं पच्चक्खामि। ....।
दशवैकालिक (सुत्तागमे) ४/१०
(ख) योगशास्त्र (हेमचद्र) ३/५०-५३

१७७. (क) पच समिइओ पण्णत्तं तं जहा – इरियासमिइ भासा जाव पारिठावणियासमिइ। ठाणे (सुत्तागमे) ५/३/५३६

१७८. (ख) ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गा समितय·।
तत्त्वार्थ सूत्र ९/५
(ग) तओ गुत्तीओ पण्णत्ताओ तं जहा-मणगुत्ती, वयगुत्ती, कायगुत्ती,
ठाणे (सुत्तागमे) ३/१/१७१
अट्ठ पवयणमायाओ समिइ गुत्ती तहेव।
पचेव य समिइओ, तओ गुत्तीउ आहि आ।
उत्तराध्ययनसूत्र २४/१

१७८. (क) समितय· – सम्यक्श्रुतनिरूपितक्रमेणेतिर्गतिवृत्ति समिति
धर्मामृत (अनगार) पं. आशाधर ४/१६३ क्रमेणेतिर्गतिवृत्ति
(ख) सम् = एकी भावेन इति = प्रवृत्ति समिति·।

शोभनैकाग्रपरिणामचेष्टेत्यर्थ.।

उद्धृत, श्रमण सूत्र (अमरमुनि) पृ. २६६

१७९. (क) गोप्तुं - रक्षितुम्। प्रतिपक्षित. - मिथ्यादर्शनादित्तयात्कर्मवन्धाद्वा। पाप योगान् - व्यवहारेण पापाः पापार्या निम्चयेन च शुभाशुभ कर्मकारणत्वान्निन्दिता योगा मनोवाक्काय व्यापारास्तान्।

धर्मामृत (अणगार) पं. आशाधर सं. टीका पृ. ३४४

(ख) गोपनं गुप्ति। उद्धृत, श्रमण सूत्र, (अमरमुनि) पृ २४०

१८०. (क) समिओ नियमा गुत्तो, गुत्तो समियत्तणम्मि भइयव्वो।
कुसल-वइमुदीरिंतो जं य गुत्तो वि समिओ वि।

आवश्यक सूत्र की टीका (हरिभद्र) उद्धृत, श्रमणसूत्र, पृ २४१

(ख) .. ..तथा मुमुक्षोर्गुप्त्याराधनपस्य समितीनां सखीत्वं, चासा नायिकाया इव गुप्ते स्वभावाश्रयणात्। समितिषु हि गुप्तयो लभ्यन्ते न तु गुप्तिषु समितय ।

धर्मामृत (अणगार) ४/१६२ की टीका

(ग) गुप्ते शिवपथदेव्या बहिष्कृतो व्यवहृतिप्रतीहार्या।
भूयस्तद्भक्त्यवसरपर. श्रयेत्तत्सखीः शमी समिति ।

धर्मामृत (अणगार) ४/१६२

१८१. सर्वात्मन। यतीन्द्राणामेतच्चारित्रमीरितम्
यतिधर्मानुरक्तानां देशत स्यादगारिणाम्।।
एताश्चरित्रस्य जननात् परिपालनात्।
संशोधनाच्च साधूनां मातरोष्टौ प्रकीर्तिता·।।

योगशास्त्र (हेमचद्राचार्य) १/४५-४६

१८२ गोप्तुरत्नत्रयात्मानं स्वात्मानं प्रतिपक्षतः।
पापयोगान्निगृह्णीयाल्लोकपङ्क्त्यादिनिस्पृह ।

धर्मामृत (अणगार) ४/१५४

१८३ तओगुत्ती पण्णत्ताओ तं जहा - मणगुत्ती, वयगुत्ती, कायगुत्ती।

समवाय ३/९ (सुत्तागमे)

१८४. (क) योग शास्त्र १/४१
(ख) ज्ञानार्णव १८/१५-१६

१८५ (क) योग शास्त्र १/४२

(ख) ज्ञानार्णव १८/१७

१८६ (क) योग शास्त्र १/४३-४४
(ख) ज्ञानार्णव १८/१८
(ग) प्राणव्यपरोपणादिषु प्रमादवत प्रयत्नावेश· सरंभ·
साधनसमभ्यासीकरणं समारम्भ।
प्रक्रम आरम्भ। सर्वार्थ सिद्धि ६/८ की वृत्ति

१८७. रागाद्यनुवृत्तिर्वा शब्दार्थज्ञान वैपरीत्य वा।
दुष्प्रणिधानं वा स्यान्मलो यथास्वं मनोगुप्ते।।
धर्मामृत (अणगार) ४/१५९

१८८ कार्कश्यादिगरोद्गारो गिर· सविकथादर·।
हुकारादिक्रिया वा स्याद्वाग्गुप्ते स्तद्रदत्यय·।।
धर्मामृत (अणगार) ४/१६०

१८९. कायोत्सर्गमला शरीरममतावृत्ति· शिवादिव्यथा
भक्तुं तत्प्रतिमोन्मुख स्थितिरथाकीर्णेङ्घ्रिणैकेन सा।
जन्तुस्त्रीप्रतिमापरस्व बहुले देशे प्रमादेन वा,
सापध्यानमुतागवृत्युपरति स्यु कायगुप्तेर्मला·।।
धर्मामृत (अनगार) ४/१६१

१९०.(क) योग शास्त्र १/३६
(ख) ज्ञानार्णव १८/५-६
(ग) धर्मामृत (अनगार) ४/१६४

१९१. (क) ईर्यायां समिति· इर्या-समितिस्तया। इर्याविषये एकी भावेन
चेष्टनमित्यर्थ·।
श्रमणसूत्र (हरिभद्र) उद्धृत, श्रमणसूत्र (अमरमुनि) पृ २४१
(ख) भगवती आराधना (शीवार्य) गा ११९१

१९२. (क) लोकातिवाहिते मार्गे चुम्बिनेभास्वदंशुभि·।
जन्तुरक्षणार्थमालोक्य गतिरीर्या मता सताम्।।
योगशास्त्र (हेमचंद्राचार्य) १/३६
(ख) उच्चालियम्मि पाए इरियासमितस्स संकमट्ठाए।
वावज्जेज्ज कुलिंगी मरेज्ज वा तं जोगमासज्ज।।

न य तस्स तन्निमित्तो बंधो सुहुमो वि देसिओ समये।
अणवज्जो उवओगेण सव्वभावेण सो जम्हा।।

उद्धृत, योगशास्त्र (हरिभद्र) पृ. ६९-७०

(ग) ज्ञानार्णव १८/५, ६

१९३. (क) योग शास्त्र १/३७
(ख) ज्ञानार्णव पृ. १७७
(ग) धर्मामृत (अनगार) ४/१६५-१६६

१९४. विघ्नांगारादिशंकाप्रमुखपरिकैरुद्गमोत्पाददोषै.,
प्रस्मार्य वीरचर्यार्जितममल मध. कर्मभुग् भावशुद्धम्।
स्वान्यानुग्राहि देहस्थितिपटु विधिवद्दत्तमन्यैश्च भक्त्या
कालेन्न मात्रयाऽश्नन् समिति मनुषजत्येषणास्तपोभूत्।।

धर्मामृत (अणगार) ४/१६७

१९५ (क) आहाकम्मुदेसिय पूइकम्मे य मीसजाए य।
ठवणा पाहुडियाए पाओयर कीय पामिच्चे।।
परियट्टिए अब्भिहडे उब्भिन्न मालोहडे इय।
अच्छिज्जे अणिसिट्ठे अज्झोयरए य सोलसमे।

पिण्डनिर्युक्ति (भद्रबाहुस्वामी) ९२-९३

(ख) धाई दुई निमित्ते आजीव वणीमगे तिगिच्छा य।
कोहे माणे माया लोभे य हवति दस एए।
पुव्विं पच्छा सथविज्जा भते य चुण्ण जोगे य।
उप्पायणाइ दोसा सोलसमे मूलकम्मे य।।

पिण्ड निर्युक्ति, ४०८-९

(ग) सकिय मक्खिय निक्खित्त पिहिय साहरिय दायगुम्मीसे।
अपरिणय लित्त छिड्डय (छिद्दय) एषण दोसा दस हवति।।

पिण्ड निर्युक्ति ५२०

(घ) ओघनिर्युक्ति गा ४०११

१९६ भगवती सूत्र १/१

१९७. छण्हमण्णयरे ठाणे कारणमि उ आगए।
आहारेज्जा (उ) मेहावी सजए सुसमाहिए।।
वेयणवेयावच्चे, इरियट्ठाए य संजमट्ठाए।

तह पाणवत्तियाए, छट्ठ पुण धम्मचिंताए।।

ओघनिर्युक्ति (भद्रबाहु, टीका ज्ञानसागरसूरि) गा. ८८०-८८२

१९८. पाए उग्गम उप्पायणेसणा संयोयणा पमाणे य।
इंगाल धूम कारण अट्ठविहा पातणिज्जुत्ति।।

पचकल्पभासं (संघदासगणि) ७८९

१९९. (क) आसनादीनि सवीक्ष्य प्रतिलिख्य च यत्नतः।
ग्रहणीयान् निक्षिपेद्वा यत् साऽदानसमिति स्मृता।। योगशास्त्र-१/३९

(ख) सुदुष्टमुष्टं स्थिरमाददीत स्थाने त्यजेत्तादृशि पुस्तकादि।
कालेन भूय. कियतापि पश्येदादाननिक्षेपसमित्यपेक्ष ।।

धर्मामृत (अनगार) ४/१६८

२००. (क) कफ-मूत्र-मल प्रायं निर्जन्तु - जगतीतले।
यत्नाद् उत्सृजेत् साधु. सोत्सर्गसमिति र्भवेत्।। योगशास्त्र १/४०

(ख) ज्ञानार्णव १८/१४

२०१ (क) बाल तवो कम्मेण। भगवइ (सुत्तागमे) ३/१/१३४

(ख) बालजणो पगब्मति। सूयगडांगसूत्र (पुण्यविजयजी) २/२/१३०

(ग) बाले पावेहि मिज्जति। सूयगडागसूत्र (पुण्यविजयजी) २/२/१३०

(घ) तामलिस्स बाल तवस्सिस्स। भगवई (सुत्तागमे) ३/१/१३४

(ङ) तएणं से तामली बालतवस्सी बहुपडिपुन्नाइं।
सट्ठिं वाससहस्साइं परियागं पाउणित्ता।। भगवइ ३/१/१३५

२०२. (क) तप्यते अणेण पावं कम्ममिति तपो। निशीथ चूर्णि भा १ गा ४६

(ख) तापयति अष्ट प्रकार कर्म इति तप.।

आवश्यक सूत्र (मलयगिरि) २/१

(ग) रसरुधिर मांस मेदाऽस्थि मज्जा शुक्राण्यनेन तप्यन्ते।
कर्माणि वाऽऽशुभानीत्यतस्तपो नाम निरुक्त ।

स्थानांग वृत्ति ५/१ पत्र २८३

२०३ (क) ओववाइयसुत्तं। सुत्तागमे, पृ २६-२७

(ख) व्यवहार भाष्य। तृतीय भाग, पृ. ९८

२०४ इमासि चउदसण्हं (समण) साहस्सीण धण्णे अणगारे
महादुक्करकारए महानिनिज्झरयराए चेव..... .. ...

अणुत्तरोववाइयदसाओ, सुत्तागमे, पृ ११९७

२०५. (क) उग्गतवे दित्ततवे तत्ततवे घोर तवे महा तवे...।

उवासगदसाओ, १३ सुत्तागमे

(ख) चउव्विहे तवे पण्णत्तं तं जहा-उग्गतवे घोरतवे.. ।

ठाणे, सुत्तागमे, ४/३/३८४

(ग) उग्गतवे घोरतवे तत्ततवे महातवे। भगवइ सूत्र ३/१

२०६. (क) वाससहस्सं। आवश्यक निर्युक्ति गा २३८

अथछदमुस्थतप.कर्मद्वारमाह ऋषभस्य

च्छद्मस्य कालो वर्ष सहस्त्रम्।

आवश्यक निर्युक्ति (भा १) पृ. २०५

(ख) पवज्ञ पुदिंटले सयसहस्स। आवश्यक निर्युक्ति गा ४५०

(ग) जो य तवो अणुचिण्णो वीरवरेणं महानुभावेणं।

छउमत्थकालिकाए अहकम्म कित्तइस्सामि।।

.... ..वीरवरस्स भगवओ एसो छउमत्थपरियाओ।।

आवश्यक निर्युक्ति (भद्रबाहु) गा ५२७-५३७

२०७ (क) भगवती सूत्र २/१

(ख) अन्तकृतदशागसूत्र अध्याय ८

(ग) ओववाइयसुत्त (सुत्तागमे) पृ ७

२०८ दुविहे तवे पण्णते त जहा-बाहि(रि)रए य अब्भितरए
य, से किं त बाहिरए तवे? बाहिरए तवे छव्विहे पण्णत्ते,
त जहा-अणसण, ऊणोयरिया भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ।
कायकिलेसो पडिसंलीणया (बज्झो तवो होइ)। से किं तं
अब्भितरए तवे? अब्भितरए तवे छव्विहे पण्णत्ते तं जहा-
पायच्छित्त विणओ वेयावच्च तहेव सज्झाओ। झाणं विउसग्गो।

भगवइ २५/७/८०१

(ख) छव्विहे बाहिरए तवे पण्णत्तं त जहा-अणसण ओमेयरिया
भिक्खायरिया रसपरिच्चाए कायकिलेसो पडिसलीणया।।५९५।
छव्विहे अब्मंतरिए तवे पण्णत्ते तं जहा-पायच्छित्तं
जाव विउस्सग्गो।

ठाणे (सुत्तागमे) ६/५९५-५९६

२०९ (क) भगवइ (सुत्तागमे) २५/७/८०१

(ख) ओववाइयसुत्त (सुत्तागमे) १८

(ग) जा सा अणसणा मरणे दुविहा सा वियाहिया।
सवियारमवियारा कायचिट्ठ पइ भवे।

उत्तराध्ययन सूत्र ३०/१२

२१०. (क) भगवइ (सुत्तागमे) २५/७/८०१

(ख) ओववाइयसुत्त (सुत्तागमे) १८

(ग) उत्तराध्ययन सूत्र ३०/८, १४, १५, १६, १९, २०, २१, २२, २३, २४

(घ) स्थानागसूत्र (सुत्तागमे) ३/३/२३८

(ङ) तत्त्वार्थसूत्र (प सुखलालजी) (सुत्तागमे) ९/१९

(च) कुत्सिता कुटी कुक्कुटी शरीरमित्यर्थ.। तस्या शरीर-
रूपाया कुक्कुटया अण्डकमिवाण्डक मुख।

अभिधान राजेन्द्र कोश भा. २ पृ. ११८२

(छ) जत्तिओ जस्स पुरिसस्स आहारो तस्साहारस्स बत्तीसइमो भागो
तप्पुरिस वेक्खाए कवले — भगवइ सूत्र ७११ वृत्ति

२११ (क) भगवइ (सुत्तागमे) २५/७/८०१

(ख) ओववाइयसुत्त (सुत्तागमे) १८

(ग) दशवैकालिक १/५, ५/१/२

(घ) दशवैकालिक (हरिभद्रीयवृत्ति पत्र) १६३

(ङ) णव कोडिपडिसुद्धे भिक्खे पण्णत्ते। — ठाणे ९१

(च) णवकोडिपडिसुद्धे — भगवइ ७/१

(छ) दशवैकालिक ५/१/१००

(ज) णव कोडिपडिसुद्धे भिक्खे पण्णत्ते ....। — स्थानागसूत्र ९३

२१२. (क) भगवइ (सुत्तागमे) २५/७/८०१

(ख) ओववाइयसुत्त गा १८

(ग) ठाणे ५/१/४८५

(घ) उत्तराध्ययनसूत्र ३०/१०

(ङ) मनसो विकृति हेतुत्वाद् विकृतय

योगशास्त्र स्वोपज्ञ भाष्य ३ की वृत्ति

(च) अणेगविहे पण्णत्ते तं जहा-णिव्वियतिए पणीयरसपरिचाए

आयबिलए आयाम सित्थभोइ अरसाहारे विरसाहारे
अताहारे पताहारे लूहाहारे से तं रसपरिच्चाए।

ओववाइयसुत्त गा १८

(छ) सर्वार्थ सिद्धि (पूज्यपाद) ९/१९ की वृत्ति

२१३. (क) भगवइ (सुत्तागमे) २५/७/८०१
(ख) ओववाइयसुत्त (सुत्तागमे) १८
(ग) स्थानागसूत्र ७/१४
(घ) ओववाइय (सुत्तागमे) पृ ९

२१४. (क) भगवइ (सुत्तागमे) २५/७/८०१
(ख) ओववाइयसुत्तं (सुत्तागमे) १८

२१५ (क) दसविहा पडिसेवणा पण्णत्ता, तं जहा-
दप्प पमायऽणाभोगे आउरे आवइसु य।
संकिए सहसक्कारे, भयप्पओसा य विमसा।।

स्थानागसूत्र (आत्मारामजी म) १०/३१

(ख) दप्पे सकारणमि य, दुविधा पडिसेवणा समासेण।
एक्केक्का वि य दुविधा मूलगुणे उत्तरगुणे य।।
सकारणमि य त्ति णाणदंसणाणि अहिकिच्च
सजमादिजोगेसु य, असरमाणेसु पडिसेव त्ति, सा कप्पे।

निशीथ सूत्रे, भाग-१, भाष्य गा ८८ एवं चूर्णि

(ग) दप्पो तु जो पमादो। निशीथसूत्रे, भाष्य गाथा ९१

(घ) दप्पे कप्प पमत्ताणभोग आहच्चतो य चरिमा तु।
पडिलोम-परूवणता, अत्थेण होंति अणुलोमा।।

निशीथ सूत्र, भाष्य गा १०

जा सा अपमत्त-पडिसेवा सा दुविहा अणाभोगा आहच्चओ य।

निशीथ सूत्रे, भाष्य गाथा १० एवं चूर्णि

अणाभोगो णाम अत्यतविस्मृति ।

निशीथ सूत्र, भाष्य गा. ९५ की चूर्णि

(ङ) प्राय प्राणी करोत्येव यत्र चित्तं सुनिर्मलम्
तदाहु शब्द सूत्रज्ञा प्रायश्चित्त यतीश्वरा ।।

- सिद्धातसार १०/१९

(च) वदसामिदिसील सजम परिणामो करणणिग्गहो भावो।
सो हवदि पायच्छित्तं अणवरय चेव कायव्वो।।

नियमसार (कुंदकुदाचार्य) ८/११३

(छ) मनोनियमनार्यत्वात्। सर्वार्थ सिद्धि ९/२२ की वृत्ति

(ज) धर्मामृत (अनगार) ७/३४-३५

(झ) प्रायोलोको जिनैरुक्तश्चित्तं तस्स मनो मतम्।
तच्चित्तग्राहकं कर्म प्रायश्चित्त निगद्यते।

धर्मरत्नाकर (जयसेन) १२/१७

(ञ) प्राय उत्युच्यते लोकस्तस्य चित्त मनो भवेत्।
एतच्छुद्धिकरं कर्म प्रायश्चित्त प्रचक्षते।।

उपासकाध्ययन (पं. आशाधर) गा ३५०

(ट) अपराधो वा प्राय चित्त शुद्धि· प्रायस्य चित्त-
प्रायश्चित्त, अपराध विशुद्धिरित्यर्थ ।

राजवार्तिक (भटाकलंकदेव) ९/२२

(ठ) पचविहे ववहारे पण्णत्ते तं जहा - १ आगमे २ सुए
३ आणा ४ धारणा ५ जीए।

व्यवहारसूत्र (कनैयालालजी म) १०/५

(ड) दव्व खेत्तं कालं भावं करण परिणाम मुच्छाइ।
सधदणं परिमाण आगमपुरिस च विण्णायम्।।

भगवती आराधना भा -१, गा ४५२

(ढ) तदेतन्नवविधं प्रायश्चित्तं देशकाल शक्ति संयमाद्यविरोधे-
नापराधानुरूप दोष प्रशमन चिकित्सितवद्विधेयम्।

तत्त्वार्थ वार्तिक ९/२२

२१६ (क) दसविहे पायच्छित्ते पण्णत्ते त जहा-आलोयणारिहे
पडिक्कमणारिहे तदुभयारिहे विवेगारिहे विउसग्गारिहे
तवारिहे छेयारिहे मुलारिहे अणवट्टप्पारिहे पारचियारिहे।

स्थानांगसूत्र (आत्म म) १०/३१

(ख) भगवतीसूत्र २५/७

(ग) दस आलोयणा दोसा पण्णत्ता, त जहा-
आकपइत्ता अणुमाणइत्ता जदिट्ठे बायरं च सुहुमं च
छण्णं सद्दाउभग वहुजण अव्वत्त तत्सेवी।।

स्थानागसूत्र १०/३१

(घ) प्रच्छन्नमालोचयति यथात्मनेव श्रृणोति नाचार्यः।

स्थानांगवृत्ति पत्र ४६०, उद्धृत, ठाण - मुनि नथमल पृ ९७७

(ङ) 'छण्णं' ति-तहा अवराहे अप्पसद्देण उच्चरइ
जहा अप्पणा चेव सुणेति, णो गुरु।

निशीथसूत्रे, भाष्य, भा ४ पृ ३६३

(च) दसहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे अरिहइ अत्तदोससमालोएत्तए त
जहा- जाइ संपण्णे कुलसंपण्णे विनयसपण्णे णाणसपण्णे
दसणसंपण्णे चरित्त संपण्णे, खंते दंते अमायी अपच्छाणुतावी।

स्थानागसूत्र १०/३१

(छ) दसहिं ठाणेहिं अणगारे अरिहइ आलोयण पडिच्छित्तए, त
जहा- आयारव अवहारव ववहारव ओवीलए पकुव्वए
अपरिस्साइ णिज्झावए अवायदंसी पियधम्मे दढधम्मे।

स्थानागसूत्र १०/३१

२१७. प्रमाद दोषव्युदासः भावप्रसादो नै.शल्यम् अनवस्थावृत्ति मर्यादा त्याग संयमादादर्यमाराधनमित्येवमादीनां सिद्ध्यर्थं प्रायश्चित्तं नवविधं विधीयते।

तत्त्वार्थवार्तिक ९/२२

२१८. (क) धम्मस्स विणओ मूलं। दशवैकालिक सूत्र ९/२२

(ख) विणओ जिणसासणे मूलं विणीओ संजओ भवे।
विणयाओ विप्पमुक्कस्स कओ धम्मो कओ तवो।।

आवश्यक। हरिभद्रीय। १२/१६

(ग) अप्पा चेव दमेयव्वो अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दन्तो सुही होइ अस्सि लोए परत्थ य।
वरं मे अप्पा दतो संजमेण तवेण य।
माहं परेहि दम्मतो, बधणेहि वहेहि य।

उत्तराध्ययन सूत्र १/१५-१६

(घ) सत्तविहे विणए पण्णत्ते तं जहा-णाणविणए दसणविणए
चरित्तविणए मणविणए वइविणए कायविणए लोगोवयार-विणए।

भगवतीसूत्र २५/७

(ङ) औपपातिक सूत्र पृ. १८

२१९ (क) असंगिहीय परिजणस्स संगिण्हणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ।
गिलाणस्स अगिलाए वेयावच्चकरणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ।
स्थानांग सूत्र ८/६०

(ख) दसविहे वेयावच्चे पण्णत्ते तं जहा- आयरिय वेयावच्चे
उवज्झाय वेयावच्चे थेरवेयावच्चे तवस्सि वेयावच्चे
गिलाणवेयावच्चे सेह वेयावच्चे कुल वेयावच्चे गणवेयावच्चे
सघवेयावच्चे साहम्मिय वेयावच्चे।
स्थानांगसूत्र (आ म.) १०/९

(ग) वेयावच्चेण तित्थयर नाम गोयं कम्म निबधेइ।
उत्तराध्ययन सूत्र २९/३

(घ) पंचहिं ठाणेहिं समणे णिग्गये महानिज्जरे महापज्जवसाणे
भवइ त जहा-अगिलाए आयरियवेयावच्चं करेमाणे एवं
उवज्झाय वेयावच्च. .अगिलाए साहम्मिय वेयावच्चं करेमाणे।
स्थानांग सूत्र (सुत्तागमे) ५/१/४९६

२२०. (क) सुष्ठु आमर्यादया अधीयते इति स्वाध्याय ।
स्थानाग टीका (आ. अभयदेव) ५/३/४६५

(ख) स्व स्व स्वस्मिन् अध्याय· - अध्ययनं - स्वाध्याय ।
जैन धर्म में तप (मिश्रीमलजी म) पृ ४५६

(ग) सज्झाए वा निउत्तेण सव्वदुक्खविमोक्खणो।
सज्झाएण नाणावरणिज्ज कम्म खवेइ।
उत्तराध्ययन सूत्र २९/१८

(घ) बहुभवे संचिय खलु सज्झाएण खणे खवइ।
चन्द्रप्रज्ञप्ति, ९१

(ङ) न वि अत्थि न वि अ होही सज्झाय सम तवोकम्मं।
बृहत्कल्प भाष्य गा ११६९
चन्द्रप्रज्ञप्ति, ८९

२२१. (क) सयणासणठाणे वा, जे उ भिक्खू न वावरे।
कायस्स विउस्सगो, छट्ठो सो परिकित्तिओ।।
उत्तराध्ययन सूत्र ३०/३६

(ख) विउसग्गे दुविहे पण्णत्ते त जहा - दव्वविउसग्गे य भाव
विउसग्गे य। दव्वविउसग्गे चउव्विहे पण्णत्ते त जहा-
गणविउसग्गे सरीरविउसग्गे उवहिविउसग्गे भत्तपाण-
विउसग्गे, से त दव्वविउसग्गे। भावविउसग्गे तिविहे
पण्णत्ते तं जहा - कसायविउसग्गे ससारविउसग्गे कम्मविउसग्गे।

भगवती सूत्र २५/७

(ग) उवसमेण हणे कोह, माण मद्दवया जिणे।
मायमज्जवभावेण, लोभ सतोसओ जिणे।।

दशवैकालिक ८,'३९

(घ) चउव्विहे ससारे पण्णत्ते, तं जहा - दव्व ससारे खेत्त
ससारे काल संसारे भाव ससारे। स्थानाग सूत्र ४/१/२६१

(ङ) आद्य ज्ञानदर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीयायुष्कनाम-गोत्रान्तराया

तत्त्वार्थ सूत्र ८/५

२२२ (क) उज्जय सग्गुस्सग्गो, अववाओ तस्स चेव पडिवक्खो।
उस्सग्गा विनिवत्तिय, धरेइ सालबमववाओ।।

बृहत्कल्प भाष्य पीठिका १/३१९

(ख) उद्यत· सर्ग· - विहार उत्सर्ग । तस्य च उत्सर्गस्य
प्रतिपक्षोऽपवादः। कथम् ? इति चेद् अत आह-उत्सर्गाद्
अध्वाऽवमौदर्यादिषु 'विनिपतितं' प्रच्युत ज्ञानादि-
सालम्बमपवाद धारयति।

आचार्य मलयगिरि बृहत्भाष्य वृत्ति पृ १७

(ग) दव्वादिएहिं जुत्तस्सुस्सग्गो जदुचियं अणुट्ठाणं।
रहियस्स तमववाओ, उचिय चियरस्स न उ तस्स।

उपदेश पद गा. ७८४, उद्धृत, सभाष्य निशीथ सूत्रे
भूमिका पृ. ३ (भा. ३)

(घ) सामान्योक्तो विधिरुत्सर्ग । विशेषोक्तस्त्वपवाद·।
द्रव्यादियुक्तस्य यत्तदौचित्येन अनुष्ठानं स उत्सर्ग
तदरहितस्य पुनस्तदौचित्येनैव च यदनुष्ठानं सोऽपवाद ।
यच्चैतयो पक्षयोर्विपयासेन अनुष्ठान प्रवर्तते न स
उत्सर्गोऽपवादो वा, किन्तु संसाराभिनन्दिसत्त्वचेष्टितमिति।

उपदेश पद, सुख सम्बोधिनी गा ७८१-७८४,
उद्धृत निशीथ सूत्रे, पृ ३ (भा ३)

(ङ) यथा जैनानां संयमपरिपालनार्थ नवकोटिविशुद्धाहार-
ग्रहणमुत्सर्ग । तथाविध द्रव्य क्षेत्र काल भावापत्सु च
निपतितस्य गत्यन्तराभावे पचकादियतनया
अनेषणीयादिग्रहणमपवाद । सोऽपि च सयमपरिपालनार्थमेव।
स्याद्वाद मजरी, कारिका।। टीका पृ. १ ३ ८ (मल्लिसेनाचार्य)

(च) उवसग्गेण णिसिद्धाणि, जाणि दव्वाणि सथरे मुणिणो।
कारणजाए जाते, सव्वाणि वि ताणि कप्पति।
जाणि उस्सग्गो पडिसिद्धाणि उप्पण्णे कारणे
सव्वाणि वि ताणि कप्पति ण दोसो।
सभाष्य निशीथसूत्रे (भा. ४) गा. ५२४५ एवं उसी की चूर्णि

(छ) उत्पद्यते ही साऽवस्था, देशकालमयान् प्रति।
यस्यामकार्यं कार्यं स्यात् कर्म कार्यं च वर्जयेत्।
अष्टम प्रकरण - २७-५ टीका, उद्धृत
सभाष्यनिशीथसूत्रे पृ. ७

(ज) यमेवार्थमाश्रित्य शास्त्रेषूत्सर्गः प्रवर्तते, तमेवार्थ-
माश्रित्यापवादोऽपि प्रवर्तते, तयोर्निम्नोन्नतादिव्यवहारवत्
परस्परसापेक्षत्वेनैकार्थसाधनविषयत्वात्।
स्याद्वादमंजरी कारिका।. टीका पृ १ ३ ८

२ २ ३ (क) सुंकादीपरिसुद्धे सइ लाभे कुणइ वाणिओ चिट्ठ।
एमेव य गीयत्थो, आयं दट्ठु समायरइ।।
एकमेव गीतार्थोऽपि ज्ञानादिकम् 'आयं लाभ
दृष्ट्वा प्रलम्बाद्य कल्प्यप्रतिसेवा समाचरति नान्यथा।
बृहत्कल्प भाष्य गा. १५२ एवं उसकी वृत्ति

(ख) आय कारणं गाढं, वत्थु जुत्त ससत्ति जयण च।
सव्वं च सपडिवक्खं, फल च विधिवं वियाणाइ।।
बृहत्कल्पनिर्युक्ति भाष्य (भा. २) गा १५१

(ग) जयणा उ धम्म जणणी, जयणा धम्मस्स पालिणी चेव।
तव्वुड्ढिकरी जयणा, एगंतसुहावहा जयणा।।
जयणाए वट्टमाणो, जीवो सम्मत्त-णाण-चरणाण।
सद्धा-बोहाऽऽ सेवण भावेणाऽऽ राहओ भणिओ।।
उपदेश पद, गा ७६९-७७०, उद्धृत निशीथ सूत्रे पृ १२

२२४ (क) किं वा रोगिणिस्तीक्ष्णा क्रियामसहमानस्य मृद्धी
क्रिया न क्रियते। क्रियत एवेत्यर्थ ।

बृहत्कल्प भाष्य पीठिका गा ३२० का भाष्यनिर्युक्ति

(ख) सव्वत्थ सयम सजमाउ अप्पाणमेव रक्खिज्जा।
मुच्चइ अइवायाओ, पुणो विसोहि ण याविरइ।।

ओघनिर्युक्ति (सूर्योदय सागर) गा ८१

(ग) न या विरइ किं कारणं ? तस्याशय शुद्धतया, विशुद्ध
परिमानस्य च मोक्षहेतुत्वात्।

ओघनिर्युक्ति (टीका द्रोणाचार्य गा ४६)

(घ) कज्जं णाणादीय, उस्सग्गवायओ भवे सच्च।
तं तह समायरंतो, त सफलं होइ सव्व पि।।

निशीथभाष्य गा ५२४९

२२५ (क) से त्तथ पयलमाणे वा २ रुक्खाणि वा
गुच्छाणि वा गुम्माणि वा लयाओ वा वल्लीओ वा तणाणि वा
गहणाणि वा अवलबिय २ उत्तरिज्जा. . .।

आचारागसूत्र (शीलांकाचार्य टीका - जम्बू-
विजय) २/३/२/१२५

(ख) इतरस्तु सति कारणे यदि गच्छेत्।

सूयगडांगसूत्र (शीलाकाचार्य) २/१/१/३/३०

(ग) उच्चार प्रस्रवणादिपीडिताना कम्बलावृत्तदेहाना
गच्छतामपि न तथाविधा विराधना।

योगशास्त्र स्वोपज्ञवृत्ति ३/८७२

(घ) बाल-वृद्ध-ग्लाननिमित्तं वर्षत्यपि जल धरे भिक्षायै नि सरता।
कम्बलावृत्तदेहानां न तथाविधापकाय विराधना।

योगशास्त्र स्वोपज्ञवृत्ति ३/८७

(ङ) तओ संजयामेव उदगंसि पविज्जा।

आचारांगसूत्र सूत्रकृताग च
(मुनि जम्बूविजय) २/१/३/१/१२२

(च) एवं अद्धाणादिसु पलंबगहण कयावि होज्जाहि।।

निशीथ भाष्य गा ४८७९ (भा ३)

२२६ (क) मुसायाओ उ लोगम्मि सव्वं साहूहिं गरिहिओ।
अविस्सासो अ भूयाणं, तम्हा मोस विवज्जए।।

दशवैकालिक सूत्र ६/१३

(ख) 'तुसिणीए उवेहेज्जा, जाण वा नो जाणंति वएज्जा।
भिक्षार्थंगच्छत प्रातिपथिक· .. नाह जानामीत्येव वदेत्'

आचारागसूत्र (शीलांकाचार्य) २/१/३/३/१२९ एवं वृत्ति.

(ग) 'सजमहेउ त्ति' . . . .ण वि 'पासे' त्ति दिट्ठ त्ति
वृत्त भवति। निशीथ चूर्णि भाष्यगाथा ३२२

(घ) यो हि पखयनार्थं समायो मृषावाद· स परिहियते।
यस्तु सयमगुप्त्यर्थं न मया मृगा उपलब्धा इत्यादिक
स न दोषायेति। सूत्रकृतांग, शीलाकवृत्ति १/८/१९

२२७ (क) दशवैकाकिक सूत्र ६/१४-१५

(ख) व्यवहारसूत्र (कनैयालालजी म) ८/११-१२

२२८ (क) बृहत्कल्प सूत्र (विभाग ६) सूत्र १ से १२ तक

पृ १६३३-१६५१

(ख) व्यवहार सूत्र (कनैयालालजी म.) ५/२१

(ग) बृहत्कल्प सूत्र (विभाग ६) गा. ३

२२९ (क) व्यवहारसूत्र (कनैयालालजी म) ८/५

(ख) प्रश्न व्याकरणसूत्र सवर द्वार (सैलाना) पृ ३९२

(ग) गिलाणो सो विहरिउमसमत्थो, उउबद्ध वासिय वा
अइरित्त वसेज्जा। गिलाणपडियरगा वा ग्लानप्रति-
बद्धत्वात् अतिरिक्त वसेज्जा। निशीथ चूर्णि भाष्य गाथा ४०४

(घ) विषग्रस्तस्य सुवर्ण कनक त घेत्तु घसिऊण विषणिग्घायणट्ठा
तस्स पाण दिज्जति, अतो गिलाणट्ठा ओरालिय ग्रहण भवेज्ज।

निशीथ चूर्णि भाष्यगाथा ३९४

(ङ) कप्पइ निग्गथाण वा निग्गथीण वा अइरेगपडिग्गह
अन्नमन्नस्स अट्ठाए धारेत्तए, परिग्गहित्तए वा।

ववहार सुत्तं (सुत्तागमे) ८/२१९

२३० दसवैकालिक सूत्र ६/६०

२३१ आधा कर्माऽपि श्रुतोपदेशेन शुद्धमिति कृत्वा भुजान
कर्मणा नोपलिप्यते। तदाधाकर्मोपभोगेनावश्यकर्मबन्धो
भवति, इत्येव नो वदेत्।

निशीथसूत्रे (भा ३) भूमिका पृ २५

२३२ (क) अशने पानके च याचिते, तस्य भक्तपानात्मक
कवचभूत आहारो दातव्य । हदि परीसहचमु, जोहेयव्वा
मणेण काएण तो मरण देसकाले कवयभूओ उ आहारो।

व्यवहार भाष्य १०/५३३-५३४

(ख) परीषह सेना मनसा कायेण योधेन जेतव्या। तस्या
पराजयनिमित्तं मरणदेशकाले योधस्य कवचभूत आहारो
दीयते। व्यवहार भाष्य १०/५३४ की वृत्ति

(ग) यस्तु तं भक्तपरिज्ञा व्याघातवन्त खिसति (भक्त प्रत्याख्यान प्रति
भग्न एष इति) तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो मासा अनुद्घाता गुरुका ।

व्यवहार भाष्य १०/५५१ (मलयगिरि वृत्ति)

२३३ बिइयपदमणप्पज्झे, बधे अविकोविते व अप्पज्झे।
विसमऽगड अगणि आऊ, सणप्फगादीसु जाणमवि।
बितियपयमणप्पज्झे मुचे अविकोविते वि अप्पज्झे।
जाणते वा वि पुणो, बलिपासग अगणिमादीसु।

बलिपासगो त्ति बंधणो। तेण अईव गाढ बद्धो
मूढो वा तडप्फडेइ मरइ वा जया, तया मुचइ। अगणि
त्ति पलीवणगे बद्धं मुचेइ, मा डज्झिहिति।

निशीथ भाष्य सूत्रे १२/३९८३-३९८४ एवं चूर्णि

२३४ अन्ना वि हु पडिसेवा, सा उ न कम्मोदएण जा जयतो।
सा कम्मक्खयकरणी, दप्पाऽजय कम्मजनणी उ।।

व्यवहार भाष्य (मलयगिरि वृत्ति) १/४२

२३५ समदा समाचारो सम्माचारो समो व आचारो।
सव्वेसिं सम्माणं समाचारो हु आचारो।।

मूलाचार ( ) गा १२३

२३६ सामाचारी तिविहा ओहे दसहा पयविभागे।

आवश्यकनिर्युक्ति (भद्रबाहु) गा ६६५

२३७ पडिलेहणं च पिण्डं, उवहिपमाणं अणाययण वज्जं।
पडिसेवनमालोअण, जह य विसोही सुविहियाणं।
ओघनिर्युक्ति (भद्रबाहु) २

२३८ (क) स्थानांगसूत्र १०/४७

(ख) दसविहा सामाचारी पण्णत्ता तं जहा-इच्छा, मिच्छा,
तहक्कारे, आवस्सिया, य णिसीहिया, आपुच्छणा य
पडिपुच्छा, छंदणा य णिमंतणा, उवसंपया य काले
सामाचारी भवे दसहा। भगवतीसूत्र २५/७/१०१

(ग) उत्तराध्ययनसूत्र २६/२-४,

(घ) आवश्यकी, नैषेधिकी, आपृच्छा, प्रतिपृच्छा, छन्दना,
इच्छाकार, मिच्छाकार, तथाकार, अभ्युत्थान, उपसंपदा
आवश्यक निर्युक्ति गा. ६६६

२३९ (क) अवश्यं करणाद् आवश्यकम्।
उद्धृत, श्रमण सूत्र (उपा. अमर मुनि) पृ. ६१

(ख) समणेण सावएण य, अवस्स कायव्वय हवइ जम्हा।
अन्ता अहो-निसस्स य, तम्हा आवस्सय नाम।।
अनुयोगदार सुत्त (सुत्तागमे) पृ. १०८८

(ग) विशेषावश्यक भाष्य (हेमचन्द्र) गा ८७५

(घ) अवश्यं कर्तव्यमावश्यकम्। श्रमणादिभिरवश्यम् उभय -
काल क्रियत इति भाव·।
अनुयोगद्वार (आ मलयगिरि टीका)
उद्धृत, श्रमणसूत्र (अमर मुनि) पृ ६१

(ङ) आपाश्रयो वा इदं गुणानाम् प्राकृतशैल्या आवस्सय
उद्धृत, श्रमणसूत्र, पृ ६१

(च) ज्ञानादिगुणानाम् आसमन्ताद् वश्या इन्द्रिय-कषा-
यादिर्भाव शत्रवो यस्माद् तद् आवश्यकम्।. ज्ञानादि-
गुण कदम्बकं मोक्षो वा आसमन्ताद् वश्यं क्रियतेऽनेन
इत्यावश्यकम्। आवश्यक सूत्र मलयगिरि वृत्ति उद्धृत,
श्रमण सूत्र, पृ. ६२

(छ) यथा वस्त्र वास-धूपादिभि , तथा गुणैरासमन्तादात्मानं वासयति भावयति रजयतीत्यावासकम्।।

विशेषावश्यक भाष्य (मलयगिरि टीका) गा ८७४-८७५

२४०. (क) आवस्सयं अवस्स-करणिज्ज धुवनिग्गहो विसोही य।
अज्झयण-छक्कवग्गो नाओ आराहणा मग्गो।।

अनुयोगदार सूत्र (सुत्तागमे) पृ १०८८, गाथा १

(ख) विशेषावश्यक गा. ८७२

२४१ सपडिक्कमणो धम्मो,पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
मज्झिमयाण जिणाणं कारणजाए पडिक्कमणं।

आवश्यक निर्युक्ति गा १२५८ (भा २)

२४२. जै इमे समणगुण मुक्कजोगी, छक्कायनिरणुकपा, हया इव उद्दामा, गया इव निरंकुसा, घट्ठा, मट्ठा, तुप्पोट्ठा, पंडुरपडपाउरणा, जिणाणमणाणाए सच्छंदं विहरिऊण उभयो काल आवस्सयस्स उवट्ठति। से तं लोगुत्तरियं दव्वावस्सयं।. . .जे ण इमे समणे वा, समणी वा, सावओवा, साविया वा, तच्चित्ते, तम्मणे, तल्लेसे, तदज्झवसिए, तत्तिव्वज्झवसाणे, तदट्ठोवउत्ते, तदप्पियकरणे, तब्भावणाभाविए, अण्णत्थ कत्थइ मण अकरेमाणे उभओ-कालं आवस्सयं करे (न्ति) इ। से तं लोगुत्तरियं भावावस्सयं।

अनुयोगदारसुत्त (सुत्तागमे) पृ. १०८७-१०८८

२४३- से किं तं आवस्सय ? आवस्सयं छव्विहे पण्णत्ते तं जहा- सामाइय, १ चउवीसत्थओ २ वदणय ३ पडिक्कमणं ४ काउस्सग्गो ५ पच्चक्खाण ६।

अनुयोगदारसुत्तं (सुत्तागमे) पृ १०९१

२४४- सावज्ज जोगविरइ, उक्कित्तण, गुणवओ, य पडिवत्ती।
सलियस्स निंदणा वणतिगिच्छ गुणधारणा चेव।।

अनुयोगदार सुत्तं (सुत्तागमे) पृ. १०९०-१०९१

२४५- (क) चउव्वीस देवाहिदेवा पण्णत्तं तं जहा – उसभ अजित

सभव अभिनदन सुमइ पउमप्पह सुपास चदप्पह
सुविधि सीअल सिज्जस वासुपुज्ज विमल अणंत धम्म
सति कुथु अर मल्ली मुणिसुव्वय नमि नेमी पास वद्धमाणा।

समवाए, २४ वा समवाय

(ख) चउव्विसव्वएण दसण विसोही जणयइ।

उत्तराध्ययन सूत्र २९/९

(ग) आवश्यक निर्युक्ति गा. १०८१

(घ) नाम ठवणा दविए खित्ते काले तहेव भावे य।
चउवीसइस्स एसो निक्खेवो छव्विहो होइ।।

आवश्यक निर्युक्ति गा १९०

२४६ - (क) वदण चिश्किश्कम्म पुयाकम्म च विणयकम्म च।

आवश्यक निर्युक्ति गा. १११६

(ख) सामाइय सुत्त (प्रका पाथर्डी) पृ ९४

(ग) भगवइ सुत्त २/५/११२

(घ) आवश्यक वृत्ति (मलयगिरि)

उद्धृत, श्रावक सूत्र पृ. ८४

(ड) आवश्यक निर्युक्ति गा. १२३४

२४७ - (क) प्रतीप क्रमणं प्रतिक्रमणम् अयमर्थ - शुभयोगेभ्योऽशुभयोगान्तर
क्रान्तस्सस्य शुभेष्वेव क्रमणात्प्रतीप क्रमणम्।

योगशास्त्र स्वोपज्ञ टीका ३/११ की वृत्ति

(ख) स्वस्थानाद यत्परस्थान प्रमादस्य वशाद् गत ।
तत्रैव क्रमणं शुभ प्रतिक्रमणमुच्यते।।

योगशास्त्र स्वोपज्ञ (हेमचन्द्र) भाष्य पृ ४८९

(ग) क्षायोपशमिकाद् भावादौदयिकस्यवशं गत ।

योगशास्त्र स्वोपज्ञ भाष्य पृ ४८९

(घ) मिच्छत्त - पडिक्कमण तहेव असजमे य पडिक्कमण
कसायाण पडिक्कमणं जोगाण य अप्पसत्थाण।।
ससारपडिक्कमण . .. ...

आवश्यक निर्युक्ति गा १२६४-१२६५

२४८ - पडिक्कमण पडिकमओ पडिकमियव्व च आणुपुव्वीए।
तीए पच्चुप्पन्ने अणागए चेव कालम्मि।।

आवश्यक निर्युक्ति गा. १२४५

२४९ - आवश्यक चूर्णि गा १२६१ की

२५० - पडिसिद्धाण करणे किच्चाणमकरणे पडिक्कमणं।
असद्दहणे य तहा विवरीयपरूवणाए य।।

आवश्यक निर्युक्ति गा १२८५

२५१ - छव्विहे पडिक्कमणे पण्णत्ते तं जहा - उच्चारपडिक्कमणे,
पासवणपडिक्कमणे, इत्तरिए, आवकहिए, जंकिंचिमिच्छा,
सोमणंत्तिए (स्वप्न)।

स्थानागसूत्र (आत्मा म.) ६/१-६

२५२) (क) भावपडिक्कमणं पुण तिविहं तिविहेण नेयव्व।

आवश्यक निर्युक्ति गा १२६५

(ख) भावपडिक्कमणं जं सम्मदंसणाइगुणजुत्तस्स पडिक्कमणं ति।

उद्धृत, श्रमण सूत्र (अमर मुनि) पृ. ८९

२५३ - पडिक्कमणं पडियरणा परिहरणा वारणा निमत्ती य।
निन्दा गरिहा सोही पडिक्कमणं अट्ठहा होइ।।

आवश्यक निर्युक्ति गा १२३३

२५४ - (क) सपडिक्कमणो धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
मज्झिमयाण जिणाणं कारणजाए पडिक्कमणं।।

आवश्यक निर्युक्ति गा १२५८

(ख) देवसिय राइय पक्खिय चउमासिय वच्छरिय नामाओ।
दुण्ह पुण पडिक्कमणा मज्झिमगाण तु पढमा।

उद्धृत, मरुधर केसरी मिश्रीमलजी म अभिनदन
ग्रन्थ, खण्ड २, पृ २७९

२५५ - वण-तिगिच्छ। अनुयोगदार सुत्त (सुत्तागमे) पृ ११५६

२५६ - (क) आवश्यक निर्युक्ति गा १५९४-१५९६

(ख) गुण धारणा चेव। अनुयोगदार सुत्तं (सुत्ता) पृ ११५६

२५७ - आवश्यक निर्युक्ति गा. १६२८

२५८- उद्धृत, श्रमण सूत्र (अमर मुनि) पृ. १०६

२५९ - (क) भगवती सूत्र ७/२

(ख) दशवैकालिक उत्तरज्झयणाइ आवस्सयसुत्तं

(पुण्य विजयजी) पृ २५८

(ग) प्रवचनसारोद्धार द्वार ४ गा २०१-२०६

(घ) आवश्यक निर्युक्ति गा १६१३-१६१५

२६०- दो छच्च सत्त अट्ठ सत्तट्ठ य पच छच्च पाणमि।
चउ पच अट्ठ नव य पत्तेय पिंडए नवए।।

आवश्यक निर्युक्ति गा १६१२

२६१- उद्धृत, श्रमण सूत्र (उपा अमर मुनि) पृ. १०७

२६२ - (क) पच व्रत समित्पच गुप्तित्रयपवित्रितम्।
श्रीवीरवदनोद्गीर्णं चरणं चन्द्रनिर्मलम्।।
अहिंसैव जगन्माताऽहिंसैवानन्दपद्धति ।
अहिंसैव गति साध्वी श्रीरहिंसैव शाश्वती।।
अहिंसैव शिव सूते दत्ते च त्रिदिवश्रिय ।
अहिंसैव हित कुर्याद् वसनानि निरस्यति।।
तप श्रुत यम ज्ञान ध्यानदानादिकर्मणाम्।
सत्यशीलव्रतादीनामहिंसा जननी मता।।

ज्ञानार्णव, ८/५,३२-३३,४२

(ख) साम्यमेव पर ध्यानं प्रणीतं विश्वदर्शिभि ।
तस्यैव व्यक्तये नून मन्येऽय शास्त्रविस्तर ।

ज्ञानार्णव २४/१३

साम्यकोटिं समारूढो यमी जयति कर्म यत्।
निमिषान्तेन तज्जन्मकोटिभिस्तपसेतर ।

ज्ञानार्णव २४/१२

२६३ - (क) पढम पोरिसि सज्झायं, बीय झाण झियायइ।
तइयाए भिक्खायरिय, पुणो चउत्थीइ सज्झाय।।

उत्तराध्ययनसूत्र २६/१२

(ख) सवर-विणिज्जराओ मोक्खस्स पहो, तवो पहो तासिं।
झाण च पहाणंगं तवस्स, तो मोक्खहेउय।।
इयसव्वगुणाधाण दिट्ठादिट्ठसुहसाहणं झाणं।
सुपसत्थ सद्धेय नेय ज्ञेय च निच्चपि।।

ध्यान शतक गा ९६,१०५

२६४- स्थविराणां गच्छवासिना साधूनां योऽसौ 'कल्प.'।।

विशेषावश्यक भाष्य गा ६ की वृत्ति पृ ८

२६५- तवेण सत्तेण सुतेण एगत्तण बलेण य।
तुलणा पचहा वुत्ता स्थविरकप्प पडिवज्जओ।।

(जिणकप्प) विशेषावश्यक भाष्य गा ७ (भा १)

२६६ - (क) पव्वज्जा सिक्खावयमत्थगहण च अनियओ वासो।
निप्फत्ती य विहारो सामायारी ठिइ चेव।।

विशेषावश्यक भाष्य (जिनभद्रगणि...) गा. ७

(ख) विशेषावश्यक भाष्य (हेमचन्द्र वृत्ति) पृ. ८-९

२६७ - (क) खित्ते काल चरित्ते, तित्थे परियाय आगमे वेए।
कप्पे लिंगे लेसा, झाणे गणणा अभिगहा य।।
पव्वावण मुंडावण, मणसाऽऽवन्ने उ नत्थि पच्छित्तं।
कारण पडिक्कम्मिउ, भत्त पथो य भयणाए।।

बृहत्कल्पसूत्र (भा २) गा १६३४-१६३५

(ख) बृहत्कल्पसूत्र, भाष्य वृत्ति पृ ४७९-४-८७

(संघदासगणि श्रमाश्रमण)

२६८ - (क) संहणणस्स य, दुस्समकालस्स तवपहावेण।
पुरनयरगामवासी, थविरे कप्पे ठिया जाया।
समुदायेण विहारो, धम्मस्स पहावण ससत्तीए।
भवियाण धम्म सवण्ण, सिस्साण च पालणं गहण।।
वरिससहस्सेण पुरा ज कम्म हणइ तेण काएण।
तं सपइ वरिसइ हु णिज्जरयइ हीणसहणणे।।

भाव सग्रह गा १२७, १२९, १३१
उद्धृत, ठाणं (मुनि नथमल) पृ. ७०६-७०७

२६९ - उद्धृत श्रमण भगवान महावीर (गणिकल्याणविजयजी)

पृ. २८५ (परिच्छेद षष्ठ)

२७० - (क) जे भिक्खू एगेण वत्थेण परिवुसिए....... ..
तस्स णं नो एव भवइ विइय. वत्थं जाइस्सामि।।

आचारागसूत्र (आत्मा म.) १/८/६/२१५

(ख) जे भिक्खू दोहिं वत्थेहिं .. .तइय वत्थं जाइस्सामि।।

आचारागसूत्र १/८/५/२१३

(ग) जे भिक्णू तिहिं वत्थेहिं परिवुसिए पाय चउत्थेहिं
तस्स ण नो एव भवइ चउत्थ वत्थं जाइस्सामि।

आचारांगसूत्र १/८/४/२०८

(घ) जैन साहित्य का बृहद इतिहास (भा १) पृ ६६

(ड) जे अचेले परिवुसिए। आचारागसूत्र ६/२/१८०

(च) "अचेल" अल्पचेलो जिनकल्पिको वा। १/८/७/२२०
आचारागसूत्र (आ.म. हिंन्दी) पृ ५०३

(छ) एयं खु मुणी आयाण सया - विरुवरुवे फासे।
अहियासेइ अचेले लाघव आगममाणे।

आचाराग सूत्र १/६/३/१८२

कप्पेइ कडिबधण धारित्तए।

आचाराग सूत्र १/८/७/२२०

(ज) उत्तराध्ययनसूत्र - २३/२९

२७१- (क) पत्त पत्ता बधो पायट्ठवणं च पायकेसरिया।
पडलाइं रयत्ताणं च गुच्छओ पाय निज्जोगो।।
तिन्नेय य पच्छागा रयहरण चेव होइ मुहपत्ती।
एसो दुवालसविहो उवही जिणकप्पियाण तु।।
एए चेव दुवालस मत्तग अइरेग चोलपट्टो य।
एसो चउद्दसविहो उवही पुण थेरकप्पम्मि।।

ओघनिर्युक्ति (भद्रबाहु स्वामी, द्रोणाचार्य वृत्ति) गा ६६८-६७०

(ख) एसो चउदसरूवो उवही पुण थेरकप्पमि।

प्रवचनसारोद्धार द्वार, ६१ गा ५००

(ग) पच कप्प भासं (खमासमणसिरिसघदासगणि) गा ८१७-७२३

२७२ - (क) सम्यक्काय कषायलेखना सल्लेखना।

सर्वार्थ सिद्धि ७/२२

(ख) सत् सम्यग्लेखना कायस्य कषायाणां च कृशीकरण तनूकरणं तुच्छ करणं सल्लेखना। स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, टीका पृ. २७०

(ग) लिखेर्ण्यन्तस्य लेखना तनुकरणमिति यावत्।।

तत्त्वार्थ वार्तिक ७/२२

(घ) कसाए पयणू किच्चा, अप्पाहारे तितिक्खए।

आचारांगसूत्र (आत्मा म) १/८/८/३

२७३ - (क) कायस्य बाह्यस्याभ्यन्तराणां च कषायाणां तत्कारण-हापनयाक्रमेण सम्यग्लेखना सल्लेखना। तत्त्वार्थ वार्तिक ७/२२

(ख) कायस्य सल्लेखना बाह्यसल्लेखना, कषायाणा सल्लेखना आभ्यन्तरा सल्लेखना क्रमेण कायकारणा-न्नपानत्यजनं कषायाणां च त्यजनम्

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका पृ २७०

(ग) भगवती आराधना (शिवार्य) भा १ गा २०८, २१८-२१९

२७४ - (क) अज्झवसाणविसुद्धी कसायकलुसीकदस्स णत्थित्ति। अज्झवसाणविसुद्धी कसायसल्लेहना भणिदा।।

भगवती आराधना भा १ गा. २६१

(ख) स्मृति समाधिबहुलो ... ।

सभाष्यतत्त्वार्थाधिगम (उमास्वाति) ७/१७ भाष्य पृ ३३८

(ग) कुर्यात्सल्लेखनामन्ते समाधिमरणेच्छया।

श्रावकाचार सग्रह भा ३ पृ. ५३१

(घ) तस्माद्यावद्विभव समाधिमरण प्रयतिव्यम्।

श्रावकाचार सग्रह भा १ (रत्नकरण्डक श्रा गा. १२३)

२७५ - (क) मारणान्तिकी सल्लेखना जोषिता। तत्त्वार्थ वार्तिक ७/२२

(ख) स्वपरिणामोपात्तस्यायुष इन्द्रियाना बलाना च कारणवशात्संक्षयोमरणम्। 'अन्त' ग्रहण तद् भवमरणप्रतिप्रत्यर्थम्। मरणमन्तो मरणान्त । स प्रयोजन-स्येति मारणान्तिकी। सर्वार्थ सिद्धि ७/२२

२७६ - मुनि हजारीमल स्मृति ग्रन्थ पृ ४५५

२७७- (क) सन्ति मे य दुवे ठाणा अक्खाया मरणन्तिया।
अकाम-मरणं चेव, सकाम-मरण तहा।

उत्तराध्ययनसूत्र ५/२

(ख) बाल मरणे दुवालसविहे पण्णत्ते, त जहा -
बलयमरणे जाव गिद्धपट्ठे।

भगवतीसूत्र २/१ 'स्कन्दक वर्णन'

पचविहे मरणे पण्णत्ते तं जहा - आवीचियमरणे, ओहि मरणे
आईतियमरणे, बालमरणे, पडियमरणे। णवर णियम सपडिक्कम्मे।

भगवतीसूत्र १३/७ (भा ५ सैलाना)

(ग) आ वीइ, ओही, अतिय। बलायमरण वसट्ठमरण च।
अंतोसल्ल, तब्भव। बाल तह पडिय मीस।।
छउमत्थमरण, केवलि। वेहायस गिद्धपिट्ठमरण च।
मरण भत्तपरिण्णा, इगिणि, पाओवगमन च।।

प्रवचनसारोद्धार, द्वार १५७ वचनसारोद्धार
द्वार १५७ की वृत्ति पृ ४४०-४४४

(घ) पडिदपडिदमरण पडिदय बाल पडिद चेव।
बालमरण चउत्थ पचमय बालबाल च।।

भगवती आराधना भा १ गा २६
भगवती आराधना भा १ टीका पृ ४९-५९

(ङ) भत्तपच्चक्खाणे दुविहे पण्णत्ते त जहा - निराहारिमे य
अनिहारिमे य। पाओवगमणे दुविहे पण्णत्ते, त जहा-
णीहारिमे य अणीहारिमे चेव।

भगवइसुत्त २/१, ठानागसूत्र २/४/६९

(च) पुणो एक्केक्कं 'दुविह' सपरिक्कम अपरिक्कम च।
सपरिक्कमो जो भिक्खू वियार अण्णगाम वा गतु
समत्थो, इतरो अपरिक्कमो। पुणो एक्केक्क दुविह -
णिव्वाघाइम वाघाइम च। णिरुअस्स अक्खयदेहस्स
णिव्वाघाइम, इतरस्स वाघाइमं। वाघाओ दुविहो -
चिरघाइ आसुघाइ य।

सभाष्य चूर्णि निशीथसूत्रे भाष्य चूर्णि
(भा ३) गा ३८११ चूर्णि पृ २९३

२७८ - (क) मज्झत्थो निज्जरापेही समाहिमणुपालए।
अन्तो बहिं विउस्सिज्ज, अज्झत्थं सुद्धमेसए।।

(ख) भगवती सूत्र (प्र सैलाना) २५/७

(ग) प्रवचनसारोद्धार द्वार १५७

२७९ - (क) आचारांगसूत्र १/८/८/१७-१८ (आत्मा म)

(ख) प्रवचनसारोद्धार द्वार १५७, पृ. ५४४

(ग) भगवती आराधना (भा. २) पृ २०२५-२०३०

२८० - (क) अय चाययतरे सिया, जो एवमणुपालए:
सव्वगाय निरोहेवि ठाणाओ न विउब्भमे।।
अयं से उत्तमे धम्मे, पुव्वट्ठाणस्स पग्गहे।
अचिरं पडिलेहित्ता, विहरे चिट्ठे माहणे।।

आचारांगसूत्र १/८/८/२०-२२

(ख) प्रवचनसारोद्धार द्वार १५७ पृ ५४४

२८१ - (क) जीवियं नाभिकंखिज्जा मरणं नो वि पत्थए।
दुहओ वि न सज्जिज्जा, जीविए मरणे तहा।

आचारांगसूत्र १/८/८/४

(ख) भेउरेसु न रज्जिज्जा, कामेसु बहुतरेसु वि।
इच्छालोभं न सेविज्जा, धुववन्नं सपेहिया।।
सासएहिं निमन्तिज्जा, दिव्वमाय न सद्दहे।
त परिबुज्झ माहणे, सव्व नूम विहूणिया।।

आचारागसूत्र १/८/८/२३-२४

२८२ - (क) अपच्छिम मारणतिय सलेहना......।

उपासकदशागसूत्र (आत्मा म) १/७०

(ख) तथाऽपश्चिमा मारणान्तिकी सलेखना-तपोविशेषण-
लक्षणा तस्या जोषण सेवनं तस्याराधना -
अखण्ड कालस्य करणम्।।

आवश्यकनिर्युक्ति (भा. २) पृ. २६५

२८३- चत्तारि विचित्ताइं ४। विगई निज्जूहियाइं चत्तारि ४।
सवच्छरे य दोन्नि। एगंतरियं च आयाम।

नाइविगिट्ठो य तवो। छम्मासे परिमियं च आयामं।
अवरेवि य छम्मासे। होइ विगिट्ठ तवो कम्म।।
वास कोटिसहिय आयामं कट्टु आणुपुव्वीए।
गिरिकंदरं व गतु। पाओवगम पवज्जेइ।।

प्रवचनसारोद्धार, द्वार १३४, पृ ३७८

२८४- भगवती आराधना भा १ गा. २५५-२५६

२८५ - मूलाराधना। उद्धृत, प्राचीन जैन साधना पद्धति (साध्वी राजेमती) पृ १२८

२८६ - (क) अपच्छिममारणतिय सलेहणाझूसणाराहणाए पच
अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा त जहा -
इहलोगाससप्पओगे, परलोगाससप्पओगे, जीविया-
ससप्पओगे, मरणाससप्पओगे, कामभोगाससप्पओगे।

उपासकदशांग सूत्र १/५४

(ख) धर्मामृत (आगार - प. आशाधर) ८/४६

(ग) श्रावकाचार संग्रह (भा १) पृ १५

२८७ - (क) रागद्वेषमोहाविष्टस्य हि विषशस्त्राद्युप करणप्रयोगवशा-
दात्मान घ्वत. स्वघातो भवति, न सल्लेखना प्रति-
पन्नस्य रागादय सति ततो नात्मवधदोष ।

सर्वार्थ सिद्धि ९/२२

(ख) मोक्खु य चिंतहि जोइया, मोक्खु ण चिंतिउ होइ।
जेण णिबद्धउ जीवउ मोक्खु करेसइ सोइ।।

परमात्म प्रकाश (योगेन्दुदेव) गा ३१९

२८८- गच्छम्मि म णिम्माया, धीरा जाहे य मुणियपरमत्था।
अग्गह जोग अभिग्गहे, उ बिंति जिणकप्पियचरित्त।

बृहत्कल्प भाष्य (भा ६) भाष्य गा ६४८३

२८९- (क) बृहत्कल्प भाष्य (भा २) भाष्य गा १२९१-१२९३

(ख) विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति पृ. १०-११

(ग) प्रवचनसारोद्धार द्वार ६०, गा. ४९९ (सिद्धसेन)

२९० - (क) बृहत्कल्प भाष्य (भा. २) गा १३६६-१३७३

(ख) बृहत्कल्प भाष्य वृत्ति (भा २) गा १३६६-१३७३ की।

२९१- खेत्ते काल चरित्ते, तित्थे परियाय आगमे वेए।
कप्पे लिंगे लेसा, झाणे गणणा अभिगहा य।।
पव्वायण मुंडावण, मणसाऽऽवन्ने वि से अणुग्घाया।
कारण निप्पडिकम्मे, भत्त पथो य तइयाए।।

बृहत्कल्प भाष्य गा. १४१३-१४१४

सुय संघयणुवसग्गे आतके वेदणा कइ जणा य।
थंडिल्ल वसहि केच्चिर, उच्चारे चेव पासवणे।।
ओवासे तणफलए सारक्खणया य संठवणया य।
पाहुडि अग्गी दीवे, ओहाण वसे कइ जणा य।।
भिक्खायरिया पाणग, लेवालेवे तहा अलेवे य।
आयंबिल पडिमाओ, जिणकप्पे मासकप्पो य।।

बृहत्कल्पसूत्र - भाष्य चूर्णि
(भा. २) गा १३८२-१३८४

२९२ - बृहत्कल्प भाष्य गा. १४१६-१४३७ एव उनकी वृत्ति

२९३ - (क) बृहत्कल्पभाष्य गाथा १३८५-१४२४, १३७८-१९७९

(ख) बृहत्कल्पभाष्य वृत्ति पृ ४१८-४२७

२९४ - (क) पत्तं पत्ता बंधो पायट्ठवणं च पायकेसरिया।
पडलाइं रइत्ताण, च गोच्छओ पायनिज्जोगो।।
तिन्नेव य पच्छागा, रयहरण चेव होइ मुहपत्ती।
एसो दुवालसविहो, उवही जिणकप्पियाणं तु।।

बृहत्कल्पभाष्य (भा ४) गा. ३९६२-३९६३

(ख) उत्कर्षतो द्वादशविध उपधिर्जिनकल्पिकानाम्।

प्रवचनसारोद्धार द्वार ६० गा. ४९९

(ग) ओघनिर्युक्ति (भद्रबाहु, टीका ज्ञानसागर) गा. ९९७

२९५- बहिरं तरंगथचुवा णिण्णेहा णिप्पिहा य जइवइणो।
जिण इव विहरंति सदा ते जिणकप्पे ठिया सवणा।।
जत्थ य कंटयभग्गो पाए णयणम्मि रयपविट्ठम्मि।
फेडंति सय मुणिणा परावहारे य तुण्हिक्का।।

एगारसगधारी एआई धम्मसुक्कझाणी य।
चत्ता सेसकषाया मोणवइ कदरावासी।।

भावसंग्रह (देवसेन) गा १२३, १२०, १२२
उद्धृत, ठाण (मुनि नथमल) पृ. ७०६

२९६ - भावसग्रह (नामदेव)

उद्धृत, श्रमण भगवान महावीर
(गणी कल्याण-विनयजी) पृ. २८५ 'षष्ठ परिच्छेद'

२९७ - (क) परिहारेण विसुद्धं सुद्धो वा तओ जहिं विसेसेण।
तं परिहार विसुद्धं परिहार विसुद्धिय नाम।।

विशेषावश्यक भाष्य गा १२७०

(ख) परिहारस्तपोविशेष , तेन विशुद्ध परिहारविशुद्धम्।
विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति (हेमचन्द्र) पृ ४७८

(ग) परिहरण 'परिहार' स्तपोविशेष 'स्तेन विशुद्धम्'
विसुद्धो वा सो तवो विसेसेण जत्थ तप्परिहारविसुद्ध,
तदेव परिहारविशुद्धिकम्।।

विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति (कोट्याचार्य) पृ ३१७

२९८ - त दुविगप्प निव्विस्समाण - निव्विट्ठकाइयवसेण।
परिहारिया-णुपरिहारियस्स कप्पट्ठियस्स वि य।।

विशेषावश्यक भाष्य गा १२७१

२९९ - (क) परिहारो पुण परिहारियाण सो गिम्ह-सिसिर वासासु।
पत्तेयं तिविगप्पो चउत्थयाई तवो नेओ।।
गिम्ह-सिसिर-वासासु चउत्थयाईणि वारसताइ।
अड्ढोपक्कतीए जहण्ण-मज्झिमु-क्कोसयतवाण।।

विशेषावश्यक भाष्य गा १२७२-१२७३

(ख) परिहारकाश्चत्वार ४ अनुपरिहारिकाश्चत्वार ४
कल्पस्थितश्चैक , इति नवधा गण ।

३०० - (क) करति आयबिलेण परिकम्म।

बृहत्कल्प भाष्य (पुण्यविजयजी) गा १४२६

(ख) परिहारियाऽणुपरिहारियाण कप्पट्ठियस्स वि य भत्त।
छ छम्मासा उ तवो अट्ठारसमासिओ कप्पो।।

विशेषावश्यक भाष्य गा १२७५

३०१ - इत्तिरिय थेयकप्पे, जिणकप्पे आवकहियाओ।

बृहत्कल्पभाष्य भा. १४२६

३०२ खेत्ते काल चरित्ते, तित्थे परियाय आगमे वेए।
कप्पे लिंगे लेस्सा, झाणे गणणा अभिग्गहा य।।
पव्वावण मुडावण मणसाऽऽवन्ने वि से अणुग्घाया।
कारण निप्पडिकम्मा, भत्त पंथो य तइयाए।।

बृहत्कल्प भाष्य गा. १४२९-१४३०

३०३ - विशेषावश्यक भाष्य गा. १४३१-१४३८,
६४५४-५, १२७६, ६४६१

३०४ - (क) यस्तु विशेष स लेशत प्रोच्यते-तत्रोदकार्द्र करो
यावता शुष्यति, तत आरभ्योत्कृष्टत• पच रात्रिन्दिवानि
यावत्कालोऽत्र समय परिभाषया लन्दमित्युच्यते।

विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति पृ १३

(ख) अत्र समयपरिभाषया लन्दमित्युच्यते।

विशेषावश्यक भाष्य गा ७ की वृत्ति

(ग) "लदो उ होइ कालो"

बृहत्कल्प भाष्य १४३८

(घ) लन्दस्तु भवति काल , लन्दशब्देन काल उच्यते इत्यर्थ ।

बृहत्कल्पभाष्य वृत्ति पृ ४२९

३०५ - (क) विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति पृ. १३

(ख) स पुनस्त्रिधा - जघन्य उत्कृष्टो मध्यमश्च। यावता
कालेनोदकार्द्र कर• शुष्यति तावान् जघन्य•, उत्कृष्ट
पंचरात्रिन्दिवानि, जघन्यादूर्ध्वमुत्कृष्टादर्वाक् सर्वोऽपि मध्यम ।

बृहत्कल्प भाष्य गा १४३८ एव उसकी वृत्ति

३०६ - (क) 'उत्कृष्ट लन्दचारिण ' उत्कृष्ट लन्दं पंचरात्ररूप-
मेकस्यां वीथ्यां चरणशीला यस्मात्।।

(ख) यथा लन्दिकानां तु 'तवेण सत्तेण सुत्तेण' इत्यादिका भावनादि वक्तव्यता यथा जिनकल्पिकानाम्।.... । पचको हि गणोऽमुं कल्प प्रतिपद्यते, ग्राम च गृहपंक्ति-रुपाभि षड्भिर्वीथीभिर्जिनकल्पिकवत् परिकल्पयन्ति, किन्त्वेकैकस्या वीथ्या पच पच दिनानि पर्यटन्तीत्युत्कृष्टलन्दचारिणो यथालन्दिका उच्यते। एते च प्रतिपद्यमानका जघन्यत पचदश भवन्ति, उत्कृष्टतस्तु सहस्रपृथक्त्वम्, पूर्वप्रतिपन्नास्तु जघन्यत कोटिपृथक्त्वम्, उत्कृष्टतोऽपि कोटिपृथक्त्व भवन्ति। एते च यथालन्दिका द्विविधा भवन्ति – गच्छे प्रतिबद्धा· अप्रतिबद्धाश्च, गच्छे च प्रतिबन्धोऽमीषा कारणत किश्चिचदश्रृतस्याऽर्थस्य श्रवणार्थमिति मन्तव्यमिति। पुनरेकैकशो द्विविधा· – जिनकल्पिका स्थविरकल्पिकाश्च।

विशेषावश्यक भाष्य (हेमचन्द्र) वृत्ति पृ. १३

(ग) बृहत्कल्प भाष्य गा १४४०, १४४३ – १४४५

३०७- (क) बृहत्कल्प भाष्य गा १४४१-१४४२

(ख) विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति पृ १४

(ग) भगवती आराधना भा १ (शिवार्य) टीका पृ १९७

३०८- भगवती आराधना भा १ टीका पृ २००-२०१

३०९- (क) प्रतिमा प्रतिपत्ति प्रतिज्ञेतियावत्। स्थानागवृत्ति, पत्र ६१

(ख) प्रतिमा प्रतिज्ञा अभिग्रह। स्थानागवृत्ति, पत्र १८४

उद्धृत, ठाणं (मुनि नथमल) पृ. १३१

३१०- (क) बारस भिक्खुपडिमाओ पण्णत्ताओ, त जहा-मासिया भिक्खुपडिमा, दोमासिया भिक्खु पडिमा, तिमासिया भिक्खुपडिमा, चउमासिया भिक्खुपडिमा, पंचमासिया भिक्खुपडिमा, छमासिया भिक्खुपडिमा, सत्तमासिया भिक्खुपडिमा, पढमा सत्तराइदिया भिक्खुपडिमा, दोच्चा सत्तराइदिया भिक्खुपडिमा, तच्चा सत्त राइंदिया भिक्खुपडिमा, अहोराइया भिक्खुपडिमा, एगराइआ भिक्खुपडिमा। समवाय सूत्र (सुत्तागमे) १२/४२

(ख) ओववाइय (सुत्तागमे) पृ ७

(ग) दसासुयक्खंघो (सुत्तागमे) ७/१५४-१८६

३११ - (क) एक्कारस उवासगपडिमाओ पण्णत्ताओ, तं जहा-
दसणसावए,कयव्वयकम्मे, सामाइअकडे, पोसहोववास-
निरए, दिया बंभयारी रत्ति परिमाणकडे, दिआ वि राओ
वि बभयारी असिणाई विअडभोई मोलिकडे, सचित्त-
परिण्णाए, आरभपरिण्णाए, पेसपरिण्णाए, उदि्दट्ठ
भत्तपरिण्णाए, समणभूए, आवि भवइ समणाउसो।।

समवाय (सुत्तागमे) ११/३९

(ख) दसासुयक्खंघो (सुत्तागमे) ६/१२६-१४०-१५०

(ग) श्रावकाचार संग्रह, भा १ पृ २३५-२३६

३१२ (क) दो पडिमाओ पण्णत्ताओ त जहा -
समाहिपडिमा चेव उवहाणपडिमा चेव।
दो पडिमाओ पण्णत्ताओ त जहा-विवेगपडिमा चेव
विउस्सग पडिमा चेव।
दो पडिमाओ पण्णत्ताओ तं जहा-
भद्दा चेव सुभद्दा चेव।
दो पडिमाओ पण्णत्ताओ तं जहा-महाभद्दा चेव,
सव्वतो भद्दा चेव।
दो पडिमाओ पण्णत्ताओ, तं जहा-खुड्डिया चेव मोय
(मूत्र) पडिमा। महल्लिया चेव मोय पडिमा।
दो पडिमाओ पण्णत्ताओ, तं जहा -जवमज्झे चेव
चंदपडिमा वइरमज्झे चेव चंदपडिमा।

ठाणं (सुत्तागमे) २/१२१

(ख) समाधान समाधि प्रशस्त भाव लक्षण. तस्य प्रतिमा
समाधि प्रतिमा। दशाश्रुतस्कन्धोक्त द्विभेदा - श्रुत-
समाधिप्रतिमा सामायिकादिचारित्र समाधि प्रतिमा च।

स्थानांग वृत्ति, पत्र ६१
उद्धृत, ठाणं (मुनि नथमल) पृ. १३२

(ग) दो पडिमाओ पण्णत्ताओ त जहा खुड्डिया वा (चेव)
मोयपडिम महल्लिया वा मोयपडिमा, खुड्डियण्णं
मोयपडिमं पडिवण्णस्स अणगारस्स कप्पइ पढ (मे

सरद) म णिदाहकाल समयंसि वा
चरिमणिदाहकालसमयसि वा बहिया गामस्स वा जाव
रायहाणीए (सणिवेससि) वा वणसि वा, वणदुग्गसि वा
पव्वयसि वा पव्वयदुग्गसि वा, भोच्चा आरुभइ
चौद्दसमेण पारेइ अभोच्चा आरुभइ सोलसमेण पारेइ,
एव खलु एसा खुड्डिया मोयपडिमा अहासुत्त जाव
अणुपालिता भवइ। महल्लियण मोयपडिम
पडिवण्णस्स अणगारस्स कप्पइ से पढम
णिदाहकालसमयसि वा चरिमणिदाह काल समयंसि वा
बहिया गामस्स वा जाव रायहाणीए वा वणसि वा
वणदुग्गसि वा पव्वयसि वा पव्वयदुग्गसि वा, भोच्चा
आरुभइ सोलसमेण पारेइ, अभोच्चा आरुभइ,
अट्ठारसमेण पारेइ एवं खलु एसा महल्लिया
मोयपडिमा अहासुत्तं जाव अणुपालिता भवइ।
ववहारो (सुत्तागमे) ९/२६५-२६६

(घ) अर्घ मागधी कोष (भा ४) (रत्नचदजी म) पृ. २०६

(ङ) सखा दत्तियस्स ण (भिक्खुस्स पडिग्गह धारिस्स
गाहावइकुल पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठस्स)
जावइय केइ अतो पडिग्गहसि उ (वित्ता) वइत्तु
दलएज्जा तावइयाओ (ताओ) दत्तीओ वत्तव्व सिया।
ववहारो (सुत्तागमे) ९/२६७

(च) बृहत्कल्पसूत्र भाष्य गा ५९५३-५९५६ एव वृत्ति सहित

(छ) विवेक - त्याग स चान्तराणा कषायादीना बाह्याना
गणशरीरभक्तपानादीनामनुचिताना तत्प्रतिपत्तिविवेकप्रतिमा।
स्थानाग वृत्ति, पत्र ६१, उद्धृत ठाण -
मुनि नथमल पृ १३२

(ज) से किं त विउस्सग्गे पण्णत्ते? दुविहे पण्णत्ते त जहा
(१) दव्वविउस्सग्गे (२) भावविउस्सग्गे य। से किं त
दव्वविउस्सग्गे? चउव्विहे पण्णत्ते (१) सरीर विउस्सग्गे
(२) गणविउस्सग्गे (३) उवहिविउस्सग्गे
(४) भत्तपाण विउस्सग्गे से त दव्वविउस्सग्गे। से किं त भाव
विउस्सग्गे ? तिविहे पण्णत्ते, त जहा-कसाय-

विउस्सग्गे, संसार विउस्सग्गे, कम्मविउस्सग्गे। कसाय-
विउस्सग्गे चउव्विहे पण्णत्ते तंजहा-कोह कसाय जाव
लोहकसायविउस्सग्गे। संसार विउस्सग्गे चउव्विहे
पण्णत्ते, त जहा - णेरइयससार विउस्सग्गे जाव
देवसंसार-विउस्सग्गे। कम्म विउस्सग्गे अट्ठविहे
पण्णत्ते, तं जहा - णाणावरणिज्ज कम्म विउस्सग्गे जाव
अतरायकम्म विउस्सग्गे।

ओववाइयसुत्त (सुत्तागमे) पृ १२

(झ) सावत्थी वासं चित्त तवो साणुलट्ठि बहिं।
पडिमा भद्द महाभद्द सव्वओभद्द पढमिआ चउरो।।

आवश्यक निर्युक्ति गा ४९५

(ञ) तत्र प्रथमायां भद्राख्याया चत्वार श्चतुष्कका यामाना
स्यु चतुर्दिक्षु प्रत्येक चतुर्यामकायोत्सर्ग करणात्।
महाभद्राया पूर्वदिश्येकमहोरात्र, एवं शेषदिशिस्वपि, एषा
दशमेन पूर्यते। आवश्यक निर्युक्ति चूर्णि पृ २८६

सर्वतो भद्राया दशस्वपि दिक्ष्वेकैकमहोरात्र, तत्रोर्द्धदिश-
मधिकृत्य यदा कायोत्सर्गं कुरुते तदोर्द्धलोक व्यस्थिता-
न्येव कानिचिद्द्रव्याणि ध्यायति अधोदिशि त्वधो-
व्यवस्थितानि, एवमेषा द्वाविंशतिभक्तेन समाप्यते।

आवश्यक निर्युक्ति चूर्णि पृ. २८४, गा ४२६

(ट) सर्वतो भद्रा तु प्रकारान्तरेणाप्युच्यते, द्विधेय-क्षुद्रिका
महती च, तत्राद्या चतुर्थादिना द्वादशावसानेन पच-
सप्ततिदिन प्रमाणेन तपसा भवति।

एगाई पचते ठविउ, मज्झ तु आइमणुपंति।
उचियकमेण य, सेसे, जाण लहु सव्वओभद्द।।

महती तु चतुर्थादिना षोडषावसानेन षण्णवत्यधिकदिन-
शतमानेन भवति।

एगाई सत्तते, ठविउ मज्झ च आदि मणुपतिं।
उचियकमेण य, सेसे जाण मह सव्वओ भद्दं।।

स्थानाग वृत्ति, पत्र, २७८-२७९
उद्धृत, ठाण (मुनि नथमल) पृ १३३-१३४

(ठ) भावतस्तु दिव्याद्युपसर्गसहनमिति।

स्थानांग वृत्ति पत्र ६१

उद्धृत, ठाण (मुनि नथमल) पृ १३५, २३९

(ड) वातिय पित्तिय सिंभिय रोगायंके हि तत्थ पुट्ठोवि।
न कुणइ परिकम्मंसो किंचिवि वोसट्ठदेहो उ।
बधेज्ज व रुभेज्ज व, कोइ व हणेज्ज अहव मारेज्ज।
वारेइ न सो भयवं, चियत्तदेहो अपडिबुद्धो।

व्यवहार भाष्य १०/९/१०/३.

उद्धृत ठाण पृ २७९

(ढ) भद्रोत्तरप्रतिमा द्विधा-क्षुल्लिका महती च।
तत्र आद्या द्वादशादिना विंशान्तेन पचसप्तत्यधिक-
दिनशतप्रमाणेन तपसा भवति। .. .पारणक दिनानि
पचविंशतिरिति।
पचाई य नवते, ठविउ मज्झ तु आदिमणुपर्ति।
उचियकमेण य, सेसे जाणह भद्दोत्तर खुड्डु।।
महती तु द्वादशादिना चतुर्विंशतितमान्तेन द्विनवत्य-
धिकदिनशतत्रयमानेन तपसा भवति।. . . पारणक-
दिनान्येकोनपचाशदिति।
पचादिगार सते, ठविउ मज्झं तु आइमणुपर्ति।
उचिय कमेण य, सेसे महइ भद्रोत्तर जाण।

स्थानाग वृत्ति, पत्र २७९, उद्धृत, ठाण

(मुनि नथमल) पृ १३७

(ण) एकाकिनी विहारो-ग्रामादिचर्या स एव प्रतिमाभिग्रह
एकाकि विहार प्रतिमा जिनकल्पप्रतिमा मासिक्यादिका
वा भिक्षुप्रतिमा।

स्थानाग वृत्ति, पत्र ३९५, उद्धृत, 'ठाण' पृ ८२३

अट्ठहिं ठाणेहिं संपण्णे अणगारे अरहति एगल्लविहार
पडिम उवसपिज्जित्ता ण विहरित्तए, तं जहा सड्ढी
पुरिसजाते सच्चेपुरिसजाते मेहावी पुरिसजाते,
बहुस्सुते पुरिसजाते, सत्तिमं, अप्पाधिगरणे, धितिम,
वीरियसपण्णे। स्थानाग सूत्र (आत्मा म) ८/१

३१३ - (क) चतुर्वर्गेऽग्रणीर्मोक्षो, योगस्तस्य च कारणम्।
ज्ञान-श्रद्धान-चारित्ररूप रत्नत्रय च स॰।।
यथावस्थितत्त्वानां . . .. सर्व सावद्ययोगानां
त्यागश्चारित्रमिष्यते।।

योगशास्त्र १/१५-१८

(ख) सम्यग्ज्ञानादिक प्राहुर्जिना मुक्तेर्निबन्धनम्।
तेनैव साध्यते सिद्धिर्यस्मात्तदर्थिभि स्फुटम्।।
भवक्लेशविनाशाय पिब ज्ञानसुधारसम्।
कुरु जन्माब्धिमत्येतु ध्यानपोतावलम्बनम्।।
मोक्ष कर्मक्षयादेव स सम्यग्ज्ञानत॰ स्मृत ।
ध्यानसाध्य मतं तद्धि तस्मात्तद्धितमात्मन ।।
अपास्य कल्पनाजालं मुनिभिर्मोक्तुमिच्छुभि॰।
प्रशमैकपरैर्नित्य ध्यानमेवावलम्बितम्।।

ज्ञानार्णव ३/११-१४

(ग) मूलोत्तरगुणा सर्वे, सर्वा चेव बहिष्क्रियाः।
मुनीनां श्रावकाना च, ध्यानयोगार्थमीरिता ।।
तथाहि -मन प्रसाद साध्योऽत्र मुक्त्यर्थं ज्ञानसिद्धये।
अहिंसाविशुद्धेन, सोऽनुष्ठानेन साध्यते।
अत सर्वमनुष्ठान चेत शुद्ध्यर्थमिष्यते।
विशुद्धं च यदेकाग्र, चित्त तद् ध्यानमुत्तमम्।।
तस्मात् सर्वस्य सारोऽस्य, द्वादशागस्य सुन्दर ।
ध्यानयोग॰ परं शुद्ध , स हि साध्यो मुमुक्षुणा।।
शेषानुष्ठानमप्येव, यत्तदंगतया स्थितम्।
मूलोत्तरगुणाढ्यं तत्, सर्व सारमुदाहृतम्।।

उपमिति भवप्रपच कथा (सिद्धर्षिगणि,
उत्तरार्द्ध) ८/७२४-७३०

३१४ - अंबर-लोह-महीणं कमसो जह मल-कलक-पकाण।
तह ताप सोसभेया कम्मस्स बि झाइणो नियमा।

ध्यान शतक गा ९७-९९

३१५- जह रोगासयसमणं विसोसण विरेयणो सह विहीहिं।
तह कम्मामयसमण झाणाणसणाइ जोगेहिं।।

जह चिरसंचियनिधणमनलो पवन सहिओ दुय दहइ।
तह कम्मेंधणमियं खणेण झाणाणलो डहइ।।
जह वा घणसघाया खणेण पवणाहया विलिज्जंति।
झाणपवणावहूया तह कम्मघणा विलिज्जंति।।

ध्यान शतक गा १००-१०२

३१६ - योग· सर्व विपद्वल्ली- विताने परशु शित ।
अमूलमन्त्रतन्त्रं च, कार्म्मण निर्वृतिप्रिय·।।

योगशास्त्र १/५

३१७ - (क) कर्मक्लेशविनिर्मुक्ता ध्यानयोगेऽपि मानवा ।
धर्मध्यानेन तिर्यश्चः स्वर्गं गच्छन्ति नान्यथा।

श्रावकाचार सग्रह भा. ३ पृ ३१३

(ख) न निश्चित किंचन कर्मकाण्ड, न निश्चित कचन सम्प्रदाय ।
मोक्षस्य लाभाय वदन्ति सन्तस्तत्प्राप्तिमूल तु समत्व एव।

अध्यात्म तत्त्वालोक (न्याय विजयजी) ८/२१

(ग) सर्वोपाधिविशुद्धेन ततो जीवेन साध्यते।
ध्यान योग पर श्रेष्ठो, य स्यान्मोक्षस्य साधक ।।

उपमिति भवप्रपचभव कथा ८/८१२

(घ) ध्यान शुद्धिं मन शुद्धि करोत्येव न केवलम्।
विच्छिनत्यपि नि शक कर्मजालानि देहिनाम्।।

ज्ञानार्णव २२/१५

३१८- (क) अहो अनन्तवीर्योऽयमात्मा विश्वप्रकाशक ।
त्रैलोक्य चालयत्येव ध्यानशक्तिप्रभावत ।।
अस्य वीर्यमह मन्ये योगिनामप्यगोचरम्।
यत्समाधिप्रयोगेन स्फुरत्यव्याहत क्षणे।।
जयमात्मा स्वय साक्षात्परमात्मेति निश्चय ।
विशुद्ध ध्याननिर्धूत -कर्मेन्धनमुत्कर ।।

ज्ञानार्णव २१/५-७

(ख) परमानन्दसयुक्त निर्विकार निरामयम्।
ध्यान हीना न पश्यन्ति, निजदेहे व्यवस्थितम्।।
आनद ब्रह्मणो रूप, निजदेहे व्यवस्थितम्।

ध्यान हीना न पश्यन्ति, जात्यन्धा इव भास्करम्।।
सम्प्राप्य शीघ्रं परमात्मतत्त्व,
व्रजन्ति मोक्षं क्षणमेकमेव।।

उद्धृत, तीर्थंकर विचार मासिक पृ. ३३,३४,३६

३१९ - ध्यानादेव गुणग्राममस्याशेष स्फुटीभवेत्।

ज्ञानार्णव २१/८

३२० - (क) तरति पापादिक यस्मात्।

सस्कृत-शब्दार्थ कौस्तुभ पृ. ५००

(ख) नालन्दा विशाल शब्द सागर, पृ ४२५

(ग) यथानाथैर्ममाख्यातो द्वादशागस्य सारक ।।
ध्यानयोगस्तया तीर्थ्यै , स एव प्रतिपातित ।।
तत्कि सर्वेऽपि ते तीर्थ्या, भवेयुर्मोक्षसाधिका ।
ध्यानयोगेन बलेनैव, सारो यद्येष वर्तते।।

उपमिति भवप्रपचकथा (उत्तरार्द्ध) ८/७५७-७५८

अध्याय ४

जैन धर्म में ध्यान का स्वरूप

(१) ध्यान का सामान्य और विशिष्ट अर्थ

तीसरे और चौथे अध्याय का एक दूसरे के साथ परस्पर अन्योन्याश्रित सबध है। साधना ध्यान के बिना पगु है और ध्यान साधना के बिना अधा है। अंधपगुन्याय की तरह इन दोनों अध्यायों का एक दूसरे से सबंध है। साधना में ध्यान का महत्त्व जानने के बाद उसके स्वरूप को जानना अत्यावश्यक है। इसीलिये इस अध्याय में ध्यान का स्वरूप स्पष्ट किया जा रहा है।

ध्यान का सामान्य अर्थ

सामान्यत ध्यान सबधी अनेक पर्यायवाची शब्द मिलते हैं। ध्यान का व्यवहार में सामान्य अर्थ निम्न प्रकार से है[१] सोचना। विचारना। ध्यान रखना। किसी बात या कार्य में मन के लीन होने की क्रिया, दशा या भाव। चित्त की ग्रहण या विचार करने की वृत्ति या शक्ति का ख्याल। समझ। बुद्धि। स्मृति। याद। ध्यान आना-विचार पैदा होना। ध्यान छूटना-एकाग्रता नष्ट होना। ध्यान जमना।

ध्यान का विशिष्ट अर्थ

ध्यान का विशिष्ट अर्थ है[२] - मानसिक प्रत्यक्ष। मन। बाह्य इन्द्रियों के प्रयोग के बिना केवल मन में लाने की क्रिया या भाव। अन्त करण में उपस्थित करने की क्रिया या भाव। केवल ध्यान द्वारा प्राप्तव्य। ध्यान में मग्न। चेतना की वृत्ति चेत। बोध या ज्ञान कराने वाली वृत्ति या शक्ति।चित्त एकाग्र होना। विचार स्थिर होना। प्रशस्त ध्यान।

(२) ध्यान + योग इन दोनों शब्दों का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ

अनादि काल से मिथ्यादृष्टि जीव चार गति चौबीस दण्डक चौरासी लाख जीवायोनि में परिभ्रमण कर रहा है। परिभ्रमण का मूल कारण मिथ्यात्व ही है। गाढ़ मिथ्यात्व के अधकार को ध्यान योग की साधना से मंद किया जाता है। ध्यान योग शब्द का विशिष्ट अर्थ आगे स्पष्ट करेंगे।

ध्यान शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ

ध्यान शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ इस प्रकार है[३] - जिसके द्वारा किसी के स्वरूप

का चिन्तन, अन्तर्मुहूर्त मात्र स्थिरतापूर्वक एक वस्तु के विषय में चिन्तन; अथवा ध्येय पदार्थ के विषय में अक्षुण्ण रूप से तैलधारा की भाँति चित्तवृत्ति के प्रवाह का चिन्तन करना ध्यान कहा जाता है।

योग शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ

'योग' धातु की व्युत्पत्ति 'युज्' धातु से मानी गई है। 'युज्' धातु के अनेक अर्थ हैं, उनमें से 'जोड़ना' या 'समाधि' मुख्य हैं[४]। बौद्ध परम्परा में युज् धातु का प्रयोग 'समाधि' अर्थ में लिया है और वैदिक परम्परा में दोनों ही अर्थ प्रचलित हैं, जैसे कि 'चित्तवृत्ति निरोध ही योग है' अथवा समत्व और उदासीन भाव से कर्म करने में कुशलता को योग कहा है या जीवात्मा परमात्मा का सुमेल ही योग है।[५] जैन धर्म में योग शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में किया गया है[६] - १. आस्रव (क्रिया) २ जोड़ना, ३. ध्यान। मन, वचन, काय की प्रवृत्ति से कर्मों का आस्रव होता है। इन त्रिविध क्रिया द्वारा आत्मा के प्रदेशों का परिस्पंद हलन चलन की क्रिया (व्यापार) ही योग है। जिसके द्वारा कर्मों का आगमन होता है उसे आगम भाषा में 'आस्रव' कहते हैं। इसलिये युज् धातु का अर्थ 'आस्रव' या 'क्रिया' किया है[७]। जैन साहित्य ग्रन्थों में 'युज्' धातु का 'जोड़ना' अर्थ भी उपलब्ध होता है। कुंदकुदाचार्य के कथनानुसार आत्मा को तीन विषयों के साथ जोड़ने को कहा है[८]।

(१) रागादि के परिहार में आत्मा को लगाना - आत्मा को आत्मा से जोड़कर रागादि भाव का त्याग करना।

(२) सम्पूर्ण सकल्प -विकल्पों के अभाव में आत्मा को जोड़ना।

(३) विपरीत अभिनिवेश का त्याग करके जैनागमों में कथित तत्त्वों में आत्मा को जोड़ना। हरिभद्र सूरि ने[९] मोक्ष से जोड़ने वाले समस्त विशुद्ध धर्म व्यापार (धार्मिक क्रिया) को योग कहा है। यहाँ पर स्थान, ऊर्ण, अर्थ, आलबन और अनालम्बन से सबद्ध धर्म व्यापार को योग कहा है। उपाध्याय यशोविजयजी ने[१०] समस्त धर्म व्यापार से पाँच समिति और तीन गुप्ति -अष्ट प्रवचन माता की प्रवृत्ति को योग कहा है। 'युज्' - 'योग' शब्द का तीसरा अर्थ है[११] - 'ध्यान'। जिस योगबल से आत्मा को अपने स्वभावस्थित असली स्वरूप में जाना जाता है उसे योग कहते हैं[१२]। यहाँ 'योग' शब्द ध्यान का पर्यायवाची है। 'ध्यान' शब्द के लिये तप, समाधि, निरोध, स्वान्तनिग्रह, अन्तःसलीनता, साम्यभाव, समरसीभाव, योग, सवीर्यध्यान आदि शब्दों का प्रयोग होता है।[१३] प्रकारान्तर में इनमें से 'ध्यान' 'समाधि' और 'योग' शब्द का प्रचलन अधिक हुआ है।

ध्यानयोग शब्द का अर्थ एवं परिभाषा

आत्मा का शुद्ध स्वरूप ध्यान के बिना प्राप्त हो नही सकता। समस्त विकल्पों से रहित आत्मस्वरूप में मन को एकाग्र करना ही उत्तम ध्यान या शुभ ध्यान है[१४]। ध्यान के साथ योग शब्द को जोड़कर यह स्पष्ट किया जाता है कि प्रशस्त ध्यान का चिन्तन करो। जिस स्वरूप या वस्तु का चिन्तन किया जाता है, वैसा ही स्वरूप मन प्रदेश में प्रत्यक्ष होता है। इसीलिये ज्ञानियों का कथन है कि मानसिक ज्ञान का किसी एक द्रव्य में अथवा पर्याय में स्थिर हो जाना ही ध्यान है। वेह ध्यान दो प्रकार का है[१५] - शुभ (प्रशस्त) और अशुभ (अप्रशस्त)। ध्यानयोग शब्द का अर्थ प्रशस्त ध्यान है। मन वचन काय की विशिष्ट प्रवृत्ति (व्यापार) ही ध्यानयोग है। उस प्रवृत्ति का निरोध चाहे 'समाधि', 'भावना' या 'संवर' अथवा अन्य किसी भी मार्ग से हो। इन तीनों शब्दों के साथ 'योग' को जोड़ने से 'समाधियोग' 'भावना योग' 'सवरयोग' जिनका अर्थ है प्रशस्त ध्यान अथवा शुभध्यान। शुभ ध्यान से ही मन को एकाग्र किया जा सकता है। अशुभ ध्यान से नही। अशुभ ध्यान (आर्त रौद्र) से तीर्यंच और नरक गति की प्राप्ति होती है। शुभ ध्यान आत्म स्वरूप का भान कराता है। आत्म स्वरूप का भान होना ही सवर है। सवर की क्रिया प्रारभ होने पर ही धर्मध्यान की प्रक्रिया शुरू होती है। धर्मध्यान से आत्मध्यान होता है। आत्मध्यान ही श्रेष्ठ ध्यान है। इसलिये ध्यानयोग शब्द का अर्थ है[१६] प्रशस्त ध्यान। टीका में 'समाधि' शब्द का अर्थ धर्मध्यान किया गया है। धर्मध्यान का प्रवेशद्वार भावना है। भावना नाव की तरह है। नाव किनारे ले जाती है वैसे भावनायोग से शुद्ध बनी आत्मा समाधियोग से मन को एकाग्र करके शुद्धात्मा या परमात्मा का ध्यान करना ही ध्यानयोग है।[१७] ध्यान योग के बल से काय के समस्त व्यापार को रोक कर, उपसर्ग और परीषहों को समता भाव से सहन कर मोक्ष हेतु सयम का अनुष्ठान करना मन वचन काय के विशिष्ट व्यापार को ध्यानयोग कहते हैं।[१८]

ध्यानयोग में भगवान का या उनके गुणों का चिन्तन किया जाता है। इसके अतिरिक्त षट् द्रव्य, उनके गुण, पर्याय, नौ तत्त्व, पचास्तिकाय का स्वरूप, कर्म का स्वरूप तथा अन्य विषयों का भी चिन्तन किया जाता है। किन्तु यह चिन्तन की धारा प्रारम्भिक है। सर्व श्रेष्ठ चिन्तन आत्म स्वरूप का ही है ओर वह संवर और निर्जरा से ही प्राप्त हो सकता है।[१९] ये दो ही मोक्ष के मुख्य साधन हैं। इन दोनों पर आगे विचार करेंगे।

(३) ध्यान का मनोवैज्ञानिक स्वरूप

मानव का विकास भौतिक या शारीरिक क्षेत्र में ही न होकर मानसिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में भी हो रहा है। जिनका मानसिक तनाव अधिक बढ़ जाता है तो उस पर नियत्रण करने के लिये ध्यान की प्रक्रिया की जाती है। ध्यान प्रक्रिया में शरीर और मन का

अग्रगण्य स्थान है। शरीर के विषय में आगे विचार करेंगे। आधुनिक मनोविज्ञान शरीर और मन के अनुसधान में लगा हुआ है। मनोवैज्ञानिक केरिंग्टन का कथन है[20] कि ध्यान साधना एक मानसिक साधना है। मानसिक प्रक्रियाओं के कुछ महत्त्वपूर्ण रहस्य योगियों को ही ज्ञात हैं, जिसे हम अभी तक भी जान नही पाये हैं। मानसिक क्षेत्र का स्वरूप केवल मात्र 'मन' तक ही सीमित नहीं है, अपितु मन से भी अधिक सूक्ष्म 'प्रत्ययों' का आविष्कार भारतीय मनोविज्ञान की देन है, जो आधुनिक परा-मनोविज्ञान का ही एक क्षेत्र है। इसीलिये योगी अरविन्द ने अपनी ध्यान प्रक्रिया में 'अति मानस' की कल्पना की है जो मन की अतिसूक्ष्म स्थिति है अथवा 'वह' मानसिक आरोहण का महत्त्वपूर्ण कदम है।[21] मानसिक चेतना के विकास क्रम में 'मन' का प्रथम चरण है। उसके माध्यम से चेतना का ऊर्ध्वारोहण सम्भव है।

हिन्दू आधुनिक मनोविज्ञान में मन से भी अतिसूक्ष्म 'प्रत्ययों' की अवधारणा प्रस्तुत की गई है। इन प्रत्ययों का स्वरूप सापेक्ष है, निरपेक्ष नही। आधुनिक विज्ञान में सापेक्षवाद ही सत्य है, क्योंकि मन के आगे का आरोहन निरपेक्ष न होकर सापेक्ष है। इन्द्रियाँ सबसे अधिक स्थूल हैं और इनका सयोजन अनुशासन 'मन' के द्वारा होता है। अत इन्द्रियों से 'मन' सूक्ष्म है। मन से सूक्ष्म 'प्राण' है, प्राण से सूक्ष्म 'बुद्धि' है और बुद्धि से सूक्ष्म 'आत्मा' है।[22] मन को केन्द्रित करने के लिये सर्वप्रथम इन्द्रियों पर संयम आवश्यक है। इसे ही इन्द्रिय निग्रह की सज्ञा दी जाती है। मनोविज्ञान की शब्दावली में इसे प्रवृत्तियाँ, उन्नयन अथवा उदात्तीकरण कहते हैं। यह उन्नयन की प्रक्रिया कल्पना, चिचार, धारणा, चिन्तन आदि के क्षेत्रों में क्रियाशील होती है। जब 'मन' किसी भी एक 'वस्तु' के प्रति केन्द्रित होने की अवस्था में आता है, तब मन का केन्द्रीकरण ही वह आरभबिंदु हैं, जहाँ से 'ध्यान' के स्वरूप पर विचार किया जाता है।

मानसिक प्रक्रिया में 'ध्यान' की स्थिति तक पहुचने के लिये तीन मानसिक स्तरों या प्रक्रियाओं से गुजरना होता है। वे मानसिक स्तर इस प्रकार हैं[23] - १. चेतन मन, २. चेतनोन्मुख मन और ३ अचेतन मन। इन मन के तीन स्तरों को फ्रायड ने नाट्यशाला के समान बताया है। नाट्याशाला की रगभूमि के समान 'चेतन मन' है। नाट्यशाला की सजावट के समान अचेतन मन है और रग शाला में प्रवेश करने की भाँति चेतनोन्मुख है। इस मन को बर्फ के समान भी बताया गया है।

मनोवैज्ञानिकों ने मन की वृत्ति तीन प्रकार बताई है[24] - १ ज्ञानात्मक, २ वेदनात्मक और ३ क्रियात्मक। ध्यान मन की क्रियात्मक वृत्ति है एव वह चेतना की सबसे अधिक व्यापक क्रिया का नाम है। ध्यान मन की वह क्रिया है - जिसका परिणाम ज्ञान है। प्रत्येक प्रकार के ज्ञान के लिये ध्यान की आवश्यकता है। जागृत अवस्था में हर

किसी न किसी वस्तु पर ध्यान दिया जाता है। जागृत अवस्था विभिन्न प्रकार के ज्ञान को कराती है। सुप्त अवस्था में हम ध्यान विहीन रहते हैं।

मनोविज्ञान की दृष्टि से जिस वस्तु पर चेतना का प्रकाश सबसे अधिक केन्द्रित होता है, वह ध्यान का विषय कहा जाता है। चेतना के प्रकाश का किसी वस्तु विशेष पर केन्द्रीभूत होना ध्यान कहा जाता है।[२५] ध्यान का विषय क्षण-क्षण में बदलता रहता है। जब हमारी चेतना एक पदार्थ पर केन्द्रीभूत होती है तो उससे सम्बन्धित दूसरे पदार्थों का भी सामान्य ज्ञान हमें होता रहता है। किन्तु इन पदार्थों का ज्ञान अत्यधिक फीका होता है। इसीलिये मनोवृत्ति को तीन भागों में विभाजित किया गया है।

जैन, हिन्दू एवं मनोविज्ञान ने ध्यानावस्था में मन को विचारशून्य निष्क्रिय स्थिति वाला न मानकर शुभ वृत्ति वाला माना है। शुभ वृत्ति की एकाग्रता को ही ध्यान में स्थान है। जैनागमानुसार मन के विकारों पर विजय पाना है। इन्द्रिय और मन को नाश नही करना है। मन और इन्द्रियाँ तो जड़ हैं। आत्मा के शुभाशुभ भावों को क्रियात्मक रूप देने में ये माध्यम हैं। ध्यान साधना का मार्ग विकारों को दूर करने का राजमार्ग है। इसलिये इन्द्रियाँ और मन ध्यान प्रक्रिया में सहायक और बाधक दोनों भी है। विशेषत ध्यान साधना में मन का केन्द्रीकरण अत्यावश्यक है। इसीलिये मनोविज्ञान में 'मन' की तीन दशाए वर्णित हैं[२६] - १ अवधान, २. सकेंद्रीकरण और ३ ध्यान। अवधान की प्रक्रिया में 'मन' को किसी वस्तु की ओर चेतनायुक्त किया जाता है। 'अवधान' और 'चेतनायुक्त' इन दोनों शब्दों को एकार्थ माना गया है। पिल्सबरी और मैकडोनल आदि मनोवैज्ञानिकों ने 'अवधान' को एक प्रक्रिया के रूप में स्वीकार किया है, जो मन की ऐंद्रिय अभिज्ञान प्रक्रिया से सीधे सम्बन्धित है। 'अवधान' में मन अपने अभिज्ञानात्मक पदार्थ से पूर्णत सतुष्ट रहता है, जिसकी वजह से 'अवधान' में 'मन' बाह्य अनुभवों के प्रति अधिक क्रियाशील रहता है और इस प्रक्रिया में मानसिक -ऊर्जा 'वस्तु' के प्रति गतिशील रहती है। बाह्य वस्तुओं के प्रति 'मन' की यह गतिशीलता 'मन' का केवल एक मात्र क्षेत्र है। इसके अतिरिक्त 'मन' का दूसरा भी क्षेत्र है - स्वरूप में मन को केन्द्रित करना। इस स्थिति में 'प्रज्ञा' का उद्‌गम होता है, जो ऐन्द्रिय जगत्त से सापेक्ष होते हुए भी निरपेक्ष प्रतीत होती है। यह मानसिक प्रक्रिया एकात्म अवस्था का प्रथम चरण है। इस अवस्था में ही ज्ञानात्मक इन्द्रियाँ अतिरिक्त रूप से 'एकता' की दशा तक पहुँचाती हैं। इसीलिये ज्ञान प्रक्रिया के अन्तर्गत फ्रायड ने मन को तीन भागों में बाँटा है - ईड, ईगो और सुपरईगो । भारतीय विचार धारा में ये ही मनस्, अहकार और बुद्धि के रूप में मिलते हैं। मन से बुद्धि तक का विस्तार ही मानसिक क्रिया का विकासशील स्वरूप है। यही मन का जो सूक्ष्म स्तर सुपरईगो द्वारा ग्रहण किया जाता है।

वस्तुत. जब मन क्रमश. संकेंद्रण की ओर अग्रसर होता है तब ही 'वस्तु' के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होता है। इस दशा में विचार सीमित क्षेत्र में केन्द्रित नही होते, किन्तु अधिक गहराई में जाकर 'तल्लीनता' का अनुभव करते हैं। किसी कार्य या अध्ययन में एकाग्रता आना ही 'सर्केद्रण' अवस्था है।[२७]

विचारणा और सर्केद्रण के क्षेत्र में 'मन' अनेक प्रकार के विचारों से अनुप्रेरित होता है। इसे ही 'धारणा' कहते हैं जो पतंजलि के योगाष्ट में पारिभाषिक शब्द है। इस अवस्था में 'मन' की दशा मानसिक प्रक्रिया से भिन्न होती है। क्योंकि उसमें विचारों का समूह अनियत्रित होता है और 'ध्यान' की अवस्था में आते ही विचारों का समूह सीमित हो जाता है। इसीलिये विचार प्रक्रिया में विचारों का क्रम ज्ञानेन्द्रियों के साथ चलता है[२८] और सकेन्द्रित मानसिक क्रिया (ध्यान) में ज्ञानेन्द्रियों का अस्तित्व पृष्ट भूमि में चला जाता है। इसीलिये 'ध्यान' यह एक मानसिक प्रक्रिया का विशिष्टीकृत एवं केन्द्रित रूप है। साधारण विचार-प्रक्रिया में अनुभव अनेक मुखी होता है जब कि 'ध्यान' में इसका स्वरूप अधिक तीव्र और केन्द्रित होता है। जहाँ अन्य अनुभव या विचार व्यवधान नही डाल सकते हैं। सामान्य विचार -प्रणाली में मानसिक क्रिया के भिन्न-भिन्न क्षण होते हैं जो अनुभव और प्रतीति के रूप में समानान्तर रूप से चलते हैं। किन्तु 'ध्यान' में ये दोनों प्रक्रियाएँ केवल मात्र एक 'पदार्थ' या 'पक्ष' पर केन्द्रित होती हैं। इसलिये 'ध्यान' यह मन की एक विशिष्टकृत केन्द्रित क्रिया है।

ध्यान चित्त शुद्धि का एक मनोवैज्ञानिक क्रियात्मक रूप है। चित्त शुद्धि के लिए मनोविज्ञान में विविध प्रणालियों (विधिया) का प्रयोग किया गया है, जैसे कि[२९] १ अन्तर्दर्शन, २ निरीक्षण, ३. प्रयोग, ४ तुलना और ५. मनोविश्लेषण। इसे आज कलकी भाषा में चित्त-विश्लेषण की विधि भी कहते हैं[३०] इन विधियों के अतिरिक्त अन्य भी प्रणालियाँ मिलती हैं। - १. विश्लेषात्मक प्रणाली, २. विकलनात्मक प्रणाली, ३. उदात्तीकरण और ४ निर्देशनात्मक प्रणाली।

'ध्यान' चित्त शुद्धि की वह प्रक्रिया है, जिससे चित्त में स्थित वासना, कामना, सशय, अन्तर्द्वन्द्व, तनाव, क्षोभ, उद्विग्नता, अशाति आदि विकार दूर होकर मन की स्वस्थता प्राप्त होती है। ध्यान साधना जीवन में आनन्दपूर्वक जीने की कला सीखाता है। जीवन जीने की कला हस्तगत होते ही ध्यान बल से मन के असीम शक्ति का आविर्भाव होता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक ध्यान का स्वरूप यही है कि मन की असीम शक्ति को ध्यान द्वारा विकसित करें।

(४) ध्यान योग का जैन दृष्टि से स्वरूप - लक्षण

ध्यान का स्वरूप

काकतालीय न्याय की भाँति मनुष्यत्व को प्राप्त मनुष्य ही अपने कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञाता हो सकता है। इसीलिये ज्ञानियों का कथन है कि मनुष्य ही अपने स्वरूप का निश्चय मनुष्य भव में कर सकता है अन्य भव में नही।[३१] स्व स्वरूप का बोध ध्यान के आलबन से ही हो सकता है। क्योंकि मन अनेक पदार्थों में परिभ्रमण करता रहता है और उसका बोध आत्मा को होता है, उस बोध को ज्ञान कहते हैं। परतु वह ज्ञान जब अग्नि की स्थिर ज्वाला के समान एक ही विषय पर स्थिर होता है तब उसे ध्यान कहते हैं।[३२] मन की दो अवस्थाएँ हैं - ध्यान और चित्त। एक ही शुभाध्यवसाय में मन को दीपशिखा की तरह स्थिर करना ध्यान कहलाता है - जो स्थिर मन है वह ध्यान है और जो चचल मन है वह चित्त है। मन का स्वभाव चचल है। चचल चित्त की तीन अवस्थाएँ होती हैं - भावना, अनुप्रेक्षा और चिन्ता। भावना का अर्थ - ध्यान के लिये अभ्यास की क्रिया, जिससे मन भावित हो। अनुप्रेक्षा का अर्थ = पीछे की ओर दृष्टि करना, जिन तत्त्वों के अध्ययन का पुन पुन चिंतन मनन करना। चिन्ता का अर्थ = मन की अस्थिर अवस्था है। ऐसे तीन प्रकार के चित्त से भिन्न मन की स्थिर अवस्था 'ध्यान' कहलाती है।[३३]

किसी वस्तु में उत्तम सहननवाले को अन्तर्मुहूर्त के लिये चित्त वृत्ति का रोकना - मानस ज्ञान में लीन होने को ध्यान कहा गया है। मानसिक ज्ञान का किसी एक द्रव्य में अथवा पर्याय में स्थिर होना - चिंता का निरोध होना ही ध्यान कहलाता है। वह सवर और निर्जरा का कारण होता है। नाना अर्थों = पदार्थों का अवलम्बन लेने से चिंता परिस्पन्दवती होती है, स्थिर नही हो पाती है, उसे अन्य समस्त अग्रों-मुखों से हटाकर एक मुखी करने वाले का नाम ही एकाग्र चिन्तानिरोध है। यही ध्यान है। ज्ञान का उपयोग एक वस्तु में अन्तर्मुहूर्त काल तक ही एकाग्र रह सकता है। इसीलिये ध्यान का कालमान अन्तर्मुहूर्त बताया है।[३४]

एकाग्र चिन्ता निरोध शब्द का अर्थ

एक का अर्थ = प्रधान, श्रेष्ठ, अग्र का अर्थ = आलबन, मुख, चिंता का अर्थ स्मृति और निरोध का अर्थ - अभाव स्वरूप, उस चिंता का उसी एकाग्र विषय में वर्तन का नाम है। द्रव्य और पर्याय के मध्य में प्रधानता से जिसे विवक्षित किया जाय उसमें चिन्ता का निरोध ही सर्वज्ञ भगवन्तों की दृष्टि से ध्यान है।[३५] यह तो ध्यान का सामान्य लक्षण है।

इस ध्यान लक्षण में 'एकाग्र' का जो अर्थ ग्रहण किया गया है, वह व्यग्रता की विनिवृत्ति के लिए है। ज्ञान ही वस्तुत व्यग्र होता है, ध्यान नहीं। ध्यान को तो एकाग्र कहा जाता है।[३६] यहाँ स्थूल रूप से ज्ञान और ध्यान के अतर को व्यक्त किया गया है। ज्ञान

व्यग्र इसलिये है कि वह विविध अग्रों-मुखों अथवा आलबनों को लिये हुए है, जब कि ध्यान व्यग्र नहीं होने का कारण वह एकमुख तथा आलम्बन को लिये हुए एकाग्र ही होता है। यों तो ज्ञान से भिन्न ध्यान कोई अलग वस्तु नहीं है। वस्तुत निश्चल अग्निशिखा के समान अवभासमान ज्ञान ही ध्यान कहलाता है। इससे फलित होता है कि ज्ञान की उस अवस्था विशेष का नाम ध्यान है, जिसमें वह व्यग्र न रहकर एकाग्र हो जाता है। योगी के 'चिन्ता-एकाग्र-निरोधन' नामक योग के लिये 'प्रसख्यान' 'समाधि' ओर 'ध्यान' भी कहते हैं और वह अपने इष्ट फल को प्रदान करनेवाला होता है।[३७]

प्रस्तुत वाच्यार्थ में 'निरोध' शब्द का प्रयोग भाव साधन में न कर कर्म साधन में किया गया है- जो रोका जाता है वह निरोध है ओर चिन्ता का जो निरोध करता है वह चिन्तानिरोधक है। इसमें जो 'एकाग्र' पद दिया गया है, उसमें किसी प्रकार का दोष नही है क्योंकि द्रव्य से पर्याय और पर्याय से द्रव्य में सक्रम का विधान है। ध्यान अनेक मुखी न होकर एक मुखी होता है और उस मुख में ही सक्रम होता रहता है। 'अग्र' आत्मा को भी कहते हैं। इसलिये ध्यान लक्षण में प्रधान आत्मा को लक्ष्य बनाकर चिन्ता का निरोध करना अथवा द्रव्य रूप से एक ही आत्मा को लक्ष्य बनाना स्वीकृत है। ध्यान स्ववृत्ति होता है। इसलिये इसमें बाह्य चिन्ताओं से निवृत्ति होती है। इसीलिये ध्यान शब्द की व्याख्या में 'एकाग्रचिंतानिरोध' ही यथार्थ है।[३८]

श्रुतज्ञान और नय की दृष्टि से ध्यान संज्ञा का विशेष लक्षण

स्थिर मन का नाम ध्यान और स्थिर तात्त्विक (यथार्थ) श्रुतज्ञान का नाम भी ध्यान है।[३९] ज्ञान और आत्मा ये एक ही पदार्थ के दो नाम हैं। इसलिये इनमें से जो जब विवक्षित होता है उसका परिचय तब दूसरे नाम के द्वारा कराया जाता है। जब आत्मा का नाम विवक्षित होता है तब उसके परिचय के लिये कहा जाता है कि वह ज्ञान स्वरूप है, और जब ज्ञान नाम विवक्षित होता है तब उसके परिचय के लिये कहा जाता है कि वह आत्मस्वरूप है।[४०] इसलिये आत्मज्ञान और ज्ञान आत्मा ही ध्यान है। रागद्वेषरहित तात्त्विक श्रुतध्यान (ध्यान) अन्तर्मुहूर्त में स्वर्ग या मोक्ष प्रदाता है। यह ध्यान छद्मस्थों को होता है। वीतराग सर्वज्ञ के लिये 'योग निरोध' ही ध्यान है। जिस श्रुतज्ञान को ध्यान कहा गया है उसके तीन महत्त्वपूर्ण विशेषण है - उदासीन, यथार्थ और अति निश्चल। इन विशेषणों से रहित श्रुतज्ञान ध्यान की कोटि में नहीं आता, वह व्यग्र होता है और ध्यान व्यग्र नही होता। 'अन्तर्मुहूर्त' पद द्वारा एक विषय में ध्यान के उत्कृष्ट काल का निर्देश किया गया है और यह काल मर्यादा भी उत्तम सहननवालों की दृष्टि से है। हीन सहननवालों का एक ही विषय में लगातार ध्यान इतने समय तक न रहने के कारण इससे भी कम काल की मर्यादा को लिये हुए होता है। और भी अन्तर्मुहूर्त काल की मर्यादा का

विधान एक वस्तु में छद्मस्थों के चित्त के अवस्थान - काल की दृष्टि है, न कि केवलज्ञानियों की दृष्टि से है। अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् चिन्ता दूसरी वस्तु का अवलम्बन लेकर ध्यानान्तर के रूप में बदल जाती है। इन बहुत वस्तुओं का संक्रमण होने पर ध्यान की सतान (ध्यानों का सतान काल) चिर काल तक भी चलती रहती है। यह छद्मस्थ ध्यान का लक्षण है। छद्मस्थ का श्रुतज्ञान (ध्यान) ही स्वर्ग और मोक्ष प्रदाता है।[४१] करण साधन-निरुक्ति की दृष्टि से [४२] स्थिर मन और स्थिर तात्त्विक श्रुतज्ञान को ध्यान कहा है। यह कथन निश्चयनय की दृष्टि से है।

द्रव्यार्थिक और निश्चयनय द्वारा ध्यान का लक्षण बताया जा रहा है - द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा 'एक' शब्द केवल अथवा तथोदित (शुद्ध) का वाचक है। 'चिन्ता' अन्त करण की वृत्ति का और 'रोध' अथवा 'निरोध' नियत्रण का वाचक है। निश्चयनय की दृष्टि से 'एक' शब्द का अर्थ 'शुद्धात्मा' उसमें चित्तवृत्ति के नियत्रण का नाम ध्यान होता है। अथवा अभाव का नाम 'निरोध' है और वह दूसरी चिन्ता के विनाशरूप एक चिन्तात्मक है - चिन्ता से रहित स्वसवित्तिरूप है।[४३] 'रोध' और 'निरोध' एक ही अर्थ के वाचक हैं। शुद्धात्मा के विषय में स्वसवेदन ही ध्यान है।[४४] निश्चयनय की दृष्टि से ध्याता को ध्यान कहा गया है, क्योंकि ध्यान ध्याता से अलग नही रह सकता। ध्यान, ध्याता, ध्येय के साधनों में कोई विकल्प नही हो सकता। इन तीनों का एकीकरण ही ध्यान है। ध्येय को ध्याता में ध्याया जाता है इसलिये वह कर्म और अधिकरण दोनों ही रूप में ध्यान ही है। कर्म साधन और अधिकरण साधन निरुक्ति की दृष्टि से ध्येय और ध्येय के आधार को भी ध्यान ही कहा गया है। क्योंकि निश्चयनय की दृष्टि से ये दोनों ध्यान से भिन्न नही हैं।[४५] अपने इष्ट ध्येय में स्थिर हुई बुद्धि दूसरे ज्ञान का स्पर्श नही करती इसलिये 'ध्याति' को भी ध्यान कहा है। भाव साधन की दृष्टि से 'ध्याति' को ध्यान कहा गया है और निश्चयनय की दृष्टि से शुद्धात्मा ही ध्येय है।[४६] जिसके द्वारा ध्यान किया जाता है वह ध्यान है, जो ध्यान करता है वह ध्यान है, जिसमें ध्यान किया जाता है वह ध्यान है और ध्येय वस्तु में परम स्थिर - बुद्धि का नाम भी ध्यान ही है। आत्मा अपने आत्मा को अपने आत्मा में, अपने आत्मा के द्वारा अपने आत्मा के लिये अपने आत्महेतु से ध्याता है। इसलिये निश्चयनय की दृष्टि से यह कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण ऐसे षट् कारक में परिणत आत्मा ही ध्यान स्वरूप है।[४७] षट् कारक रूप आत्मा कैसे ध्यान स्वरूप हो सकती है? जो ध्याता है वह आत्मा (कर्ता), जिसको ध्याता है वह शुद्ध स्वरूप आत्मा (कर्म), जिसके द्वारा ध्याता है वह ध्यानपरिणत आत्मा (करण), जिसके लिये ध्याता है वह शुद्ध स्वरूप के विकास - प्रयोजनरूप आत्मा (सम्प्रदान), जिस हेतु से ध्याता है, वह सम्यग्दर्शनादिहेतु आत्मा (अपादान) और जिसमें

स्थित होकर अपने अविकसित शुद्धस्वरूप को ध्याता है, वह आधारभूत अन्तरात्मा (अधिकरण) है। इस तरह शुद्ध नय की दृष्टि, जिसमें कर्ताकर्मादि भिन्न नहीं होते, सिर्फ अपना एक आत्मा ही ध्यान के समय षट्कारकमय परिणत होता है[४८] वही ध्यान का विशिष्ट लक्षण है।

(५) जैन धर्म में ध्यान योग की व्यापक रूप रेखा

(१) ध्यान योग को जानने के द्वार एवं अंग

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण और रामसेनाचार्य ने आगम का सिंहावलोकन करके ध्यानयोग (धर्मध्यान और शुक्लध्यान) को यथार्थ रूप से जानने के लिये क्रमश बारह द्वार और आठ अगों का प्रतिपादन किया है। बारह द्वार इस प्रकार हैं-[४९] १ ध्यान की भावना, २. ध्यान के लिये उचित देश या स्थान, ३ ध्यान के लिये उचित काल, ४. ध्यान के लिये उचित आसन, ५ ध्यान के लिये आलम्बन, ६. ध्यान का क्रम (मनोनिरोध आदि), ७. ध्यान का विषय-ध्येय, ८ ध्याता कौन ? ९ अनुप्रेक्षा, १०. शुद्ध लेश्या, ११. लिंग और १२ ध्यान का फल। आठ अंगों के नाम बारह द्वारों से कुछ मिलते जुलते हैं[५०]। १ ध्याता, २ ध्येय, ३. ध्यान, ४. ध्यान फल, ५. ध्यान स्वामी, ६. ध्यान क्षेत्र, ७ ध्यान काल और ८. ध्यानावस्था।

इसमें 'भावना' और अनुप्रेक्षा ऐसे दो शब्द आये हैं। इन दोनों में खास कोई अन्तर नही है, सिर्फ अभ्यास की भिन्नता है। ज्ञान दर्शनादि भावना ध्यान की योग्यता प्राप्त करने के लिये है और अनित्यादि अनुप्रेक्षा वीतराग भाव की पुष्टि के लिये है। यह ध्यान के मध्यवर्ती काल में की जाती है। ध्यान निरन्तर नहीं कर सकते। एक विषय पर मन सतत प्रवाहित नही हो सकता। मन चंचल है। भटकना उसका स्वभाव है। ध्यानावस्था में बीच-बीच में ध्यानान्तर हो जाता है। उस समय अनित्यादि भावना-अनुप्रेक्षा का प्रयोग किया जाता है। यह मध्यकालीन भावना है और ज्ञानादि प्रारंभिक भावना है।

अज्ञानी मनुष्य ध्यान नही कर सकता। शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक ये सम्यग्दर्शन के लक्षण होने पर ही जीव में ध्यान के प्रति आकर्षण बढ़ता है। चारित्र और वैराग्यहीन व्यक्ति ध्यान नहीं कर सकता, क्योंकि उसका मन स्थिर नहीं रहता।

जिस विषय या प्रवृत्ति का वार वार अनुचिंतन किया जाता है उसे भावना कहते हैं। ध्यान की योग्यता के लिये [५१] ज्ञान भावना, दर्शन भावना, चारित्र भावना, और वैराग्य भावना और भी मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावना का सतत अभ्यास करना चाहिये।

ज्ञानादि भावनाओं का स्वरूप

ज्ञान भावना : राग-द्वेष-मोह से रहित होकर तटस्थ भाव से जानने की क्रिया (अभ्यास) का नाम ज्ञान भावना है। इस भावना में पाँच कार्य किये जाते हैं - १ श्रुतज्ञान में सतत प्रवृत्ति करना, २ मन को अशुभ भाव से रोकना, ३ सूत्रार्थ की विशुद्धि, ४ भवनिर्वेद और ५ परमार्थ की समझ।[५२]

दर्शन भावना : रागादि भावों से रहित होकर तटस्थ भाव से पदार्थ को देखना दर्शन भावना है। इसके शम, सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक ये पाँच गुण हैं और शका, काक्षा, विचिकित्सा, प्रशसा और प्रस्तव ये पाँच दोष हैं।[५३]

चारित्र भावना : रागादि भावों से रहित होकर समभाव की आराधना-अभ्यास का नाम चारित्र भावना है। इस भावना में चार कार्य होते हैं। १ आस्रवों का रोकना, २. पूर्वसचित कर्मों की निर्जरा, ३ समिति गुप्ति में शुभ प्रवृत्ति और ४ ध्यान की सहजता से प्राप्ति।[५४]

वैराग्य भावना : अनासक्ति, अनाकांक्षा और अभय प्रवृत्ति का सतत अभ्यास करना वैराग्य भावना है। इस भावना के पाँच कार्य है - १ सुविदित जगत् स्वभाव, २ निस्सगता, ३ निर्भयता, ४ निराशसता और ५ तथाविध क्रोधादिरहितता।[५५]

मैत्री भावना : ससार के समस्त जीव सुखी रहें, उन्हें दु खों की अनुभूति न हो, वे किसी भी पाप प्रवृत्ति में प्रवृत्त न हो, जगत के सभी प्राणी समान हैं, उनमें ऊच नीच की भावना न हो, मेरे समान ही सबकी आत्मा है। इस प्रकार का सतत चिन्तन करना मैत्री भावना है।[५६]

प्रमोद भावना : दोषों के त्यागी, गुणों के ग्राही, सज्जन पुरुषों के गुणों का सतत आदर करना, गुणग्राही बनना, अच्छे गुणों को ग्रहण करने में सतत प्रसन्न रहना प्रमोद भावना है।[५७]

कारुण्य भावना : दीन, दु खी, पीड़ित, कष्टित, भयभीत एव प्राणों की भिक्षा मागने वाले जीवों के प्रति सतत करुणा भाव रखना, उनके दु खों को दूर करने की बुद्धि रखना, कारुण्य भावना है।[५८]

माध्यस्थ भावना : नि शकता से क्रूर कर्म करने वाले, देव, गुरु, धर्म की निन्दा करने वाले, आत्म प्रशसालीन व्यक्ति, नीच प्रवृत्ति करने वाले जीवों के प्रति समभाव (उपेक्षा) रखना, 'माध्यस्थ' भावना है।[५९]

ज्ञानादि और मैत्र्यादि भावनाओं से अपनी आत्मा को भावित करने वाला आत्मलक्ष्यी साधक बिखरी हुई, विशुद्ध ध्यान -श्रेणी को पुन जोड़ देता है।[६०]

उचित देश या स्थान का स्वरूप

ध्यान साधक के लिये स्त्री, पशु, नपुंसक, एव कुशील व्यक्ति से रहित एकान्त स्थान, कोलाहलरहित, विघ्नरहित, बाधारहित निर्जन वन, गुफा, निर्जीव प्रदेश, भूमि, शिला, तीर्थंकर की जन्मभूमि, निर्वाण भूमि, केवलज्ञान प्राप्य भूमि आदि पवित्र स्थानों में कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थिर रहकर ध्यान करने के लिये उचित बताया है।[६१] किन्तु किसी का कहना है कि निश्चल स्थिर मन वाले साधक के लिये ग्राम, नगर, स्मशान, वन, गुफा, शून्य महल सब समान है।[६२]

उचित काल का स्वरूप

स्थिर मन वाले साधक के लिये दिन या रात्रि के नियत समय की आवश्यकता नही है। जिस समय मन वचन काय का व्यापार स्थिर (स्वस्थ) हो उस समय ध्यान करना चाहिये। ध्यान करने वाले के लिये दिन, रात्रि या अन्य किसी समय का निश्चित निर्णय करने का कोई नियम नही है। जब मन स्वस्थ हो, उसी समय ध्यान करें।[६३] मन की स्वस्थता यही काल की उचित मर्यादा है।

आसनों का स्वरूप

जैनागम और अन्य ग्रन्थों में ध्यान के लिये कुछ आसन निहित किये गये हैं। किन्तु कोई निश्चित आसन नही कि इसी में ध्यान करना चाहिये। देह को पीड़ा एव कष्ट न हो ऐसे सहज साध्य आसन में ध्यान करने का जिनेश्वर का फरमान है। बैठे-बैठे, सोये-सोये या खड़े-खड़े किसी भी स्थिति में कायोत्सर्ग मुद्रा में या वीरासनादि आसनों में ध्यान करने का कोई नियम नही है। मुनियों ने किसी भी देश-काल-आसन में कर्म क्षय करके केवलज्ञान को प्राप्त किया। किन्तु भगवान महावीर के विषय में मिलता है कि उन्होंने गोदुहिका आसन में केवलज्ञान प्राप्त किया था। पर ऐसा कोई नियम नही है कि अमुक ही आसन में कर्म क्षय होना चाहिये। जिस योग से स्वस्थता रहे उस स्थिति या मुद्रा अथवा आसन से ध्यान करना चाहिये।[६४]

आलम्बनों का स्वरूप

एक पुद्‌गल पर स्थित मन के विचलित हो जाने पर धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान का साधक क्रमश वाचना, पृच्छना, परियट्टना, धर्म कहा (अनुप्रेक्षा) और क्षमा, मुक्ति, आर्जव, मार्दव का सहारा लेकर पुन मन को स्थिर करता है। इन दोनों ध्यान के चार -चार आलवन हैं। इन आलबनों के स्वरूप का स्पष्टीकरण आगे करेंगे।

ध्यान के क्रम का स्वरूप

ध्यान प्राप्ति का क्रम दो प्रकार का बताया गया है-[६५] १. केवलज्ञानी आत्मा जब

मोक्ष पाने के अति निकट काल में-अतिम शैलेशी अवस्था के समय योगनिरोध (मनोयोग का निग्रह - वचनयोगनिग्रह - काय योगनिग्रह) करता है और २ अन्यों को स्वस्थानुसार होता है - अन्य सब महात्माओं को धर्मध्यान की प्राप्ति का क्रम योग और काल के आश्रय से उनकी समाधि के अनुसार होता है। इनका स्वरूप आगे बतायेंगे।

ध्यान का विषय ध्येय

ध्यान करने योग्य वस्तु को ध्येय कहते हैं। ध्येय वस्तु चेतन अचेतन दोनों प्रकार की होती है। चेतन जीव द्रव्य है और अचेतन धर्म, अधर्म, आकाश, काल, ओर पुद्गल आदि पाँच द्रव्य हैं। अरिहत और सिद्ध भी ध्येय वस्तु ही हैं। बारह गुण सम्पन्न अरिहत और सिद्ध का ही ध्यान करना चाहिये। इसके अतिरिक्त बारह अनुप्रेक्षाएँ, उपशम और क्षपक श्रेणी की आरोहण विधि, सभी प्रकार की वर्गणाएँ, पाँच प्रकार का ससार, प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश, ये सब ध्यान करने योग्य (ध्येय) होते हैं।[६६]

ध्याता का स्वरूप

ध्याता - मुमुक्षु हो (मोक्ष का इच्छुक हो), ससार से विरक्त हो, क्षोभरहित शात चित्त हो, वशी हो, (मन वश में हो), स्थिर हो, जिताक्ष (जितेन्द्रिय) हो, सवृत (सवरयुक्त) हो धीर, गभीर हो, गुणग्राही हो, आसन्न भव्य हो, कामभोग एव विषय विकारों से विरक्त हो, समस्त द्रव्य एव भाव परिग्रह का त्यागी हो, जीवादि पदार्थों का ज्ञाता हो, प्रवज्या धारी हो, तप सयम से सम्पन्न हो, प्रमादरहित हो, आर्तरौद्रध्यान का त्यागी हो, इहलोक परलोक दोनों की अपेक्षा से रहित हो, आनदी हो, परीषह विजेता हो, क्रियायोग सम्पन्न हो, ध्यानयोग में सतत उद्यमी हो, अशुभ लेश्या एव अशुभ भावनाओं से रहित हो, उत्तम सहननवाला हो, धैर्य एव बलशाली हो, चौदह, दस और नौ पूर्व का ज्ञाता हो, सम्यग्दृष्टि हो, इन सभी गुणों से सम्पन्न ध्याता ही ध्यान करने योग्य होता है।[६७]

अनुप्रेक्षा का स्वरूप

ध्यान योग में स्थिर रहने के लिये साधक को ध्यानान्तरावस्था में धर्मध्यान और शुक्लध्यान की चार-चार अनुप्रेक्षाओं का आधार लिया जाता है। वे अनुप्रेक्षाएँ क्रमश इस प्रकार हैं - धर्मध्यान की अनुप्रेक्षाएँ - अनित्यानुप्रेक्षा, अशरणानुप्रेक्षा, ससारानुप्रेक्षा ओर एकत्वानुप्रेक्षा। इन चारों के क्रम में कही - कही भिन्नता नजर आती है। शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षायें - अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा, विपरिणामानुप्रेक्षा, अशुभानुप्रेक्षा और अपायानुप्रेक्षा। इन अनुप्रेक्षाओं का स्वरूप आगे बताया जायेगा।

शुद्ध लेश्या का स्वरूप

ध्यान योग में प्रशस्त तीन लेश्याएँ होती हैं - तेजो, पद्म ओर शुक्ल लेश्या। यों

तो आगम मे छह लेश्याएं हैं। उन्हें दो भागों में विभाजित किया गया है। - प्रशस्त और अप्रशस्त। प्रथम की तीन लेश्याएँ अप्रशस्त हैं। ध्यानावस्था में उनका स्थान नहीं है। शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकार की लेश्याओं का स्वरूप आगे बतायेंगे।

ध्यान के लिंग का स्वरूप

आगम में लिंग के लिये लक्षण शब्द का प्रयोग किया गया है। धर्मध्यान और शुक्लध्यान के लिये चार-चार लक्षण दिये गये हैं। उनके नाम क्रमश निम्नलिखित हैं - धर्मध्यान के चार लक्षण (लिंग) - आज्ञारुचि, निसर्गरुचि, सूत्ररुचि और अवगाढ रुचि। शुक्लध्यान के चार लक्षण (लिंग) - अव्यथा, असमोह, विवेक और व्युत्सर्ग। इन सभी लिंगों का स्वरूप आगे बतायेंगे।

ध्यान का फल

धर्मध्यान का फल विपुल शुभ आस्रव, सवर, निर्जरा और दिव्य सुख है। [६८] यह शुभानुबन्धी होने के कारण शुभ परम्परा तक पहुँचाने वाले पुण्य बन्ध आदि फल को उत्पन्न करते हैं। अपाय विचय धर्म ध्यान का फल रागादि दोषों से उत्पन्न होने वाले चार गति के बधन से मुक्ति एव समस्त कर्मों से निवृत्ति है।[६९] सस्थान विचय धर्मध्यान के चिन्तन से रागादि भाव नष्ट होते हैं और शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है।[७०] शुक्लध्यान के प्रथम दो भेद - 'पृथक्त्व वितर्क सविचार' 'एकत्व वितर्क अविचार' से शुभास्रव, सवर, निर्जरा एव देवलोक के दिव्य सुख का फल है परन्तु वे विशिष्ट स्वरूप से उत्पन्न होते हैं। अद्‌भुत उच्च कोटि के पुण्य बन्ध, कर्म -निर्जरा आदि होते हैं। सबसे ऊचे अनुत्तर विमानवासी देवलोक के सुख प्राप्त होते हैं। उपशम श्रेणी में चढ़े हुए मुनि शुक्लध्यान से ऐसी फलोत्पत्ति के अनुसार, श्रेणी से गिरते हुए आयुष्य पूर्ण होने पर, अनुत्तर विमान में जन्म लेते हैं। प्रथम शुक्लध्यान में साधक, अतीक्ष्ण कुल्हाडी वृक्ष को शनै शनै काटती रहती है वैसे मोहनीय कर्म की प्रकृतियों को काटता रहता है। तीन घातिकर्मों को निर्मूल विनाश करना शुक्लध्यान का फल है और मोहनीय का विनाश करना धर्मध्यान का फल है। दूसरे शुक्लध्यान में भी मोह का नाश होता है। जब योगी श्रुतज्ञानोपयोग से ज्ञानावरण कर्म को रोकता है तब उसमें अर्थ सक्रान्ति, व्यजनसंक्रान्ति और योगसक्रान्ति का अभाव होता है। द्वितीय शुक्लध्यान का फल केवलज्ञान की प्राप्ति है। प्रथम शुक्लध्यान में उपशम और क्षपक दोनों ही श्रेणियाँ होती हैं। परन्तु द्वितीय शुक्लध्यान में केवल क्षपक श्रेणी ही होती है।[७१] इसमें आये हुए अर्थ व्यंजन और योगसक्रान्ति का अर्थ क्रमश. इस प्रकार है - अर्थ = ध्येय वस्तु, व्यजन = वचन, शब्द, वाक्य आदि, योग = मन वचन काय और सक्रान्ति = परिवर्तन। इस ध्यान के फलस्वरूप सवर, निर्जरा और अमर सुख की प्राप्ति होती है।[७२]

संवर निर्जरा का स्वरूप : सवर का अर्थ है आत्मा में आने वाले आस्रव द्वार को रोकना, वह सवर है।[७३] वह द्रव्य और भाव से दो प्रकार का है।[७४] नये कर्मों को आते हुए रोकना द्रव्य सवर है और मन वचन काय की चेष्टाओं से आत्मा में आने वाले कर्मों को, गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और उत्कृष्ट चारित्रसम्पन्न ध्यानयोगी आदि इन कारणों के द्वारा निवारण करने पर आत्मा का निर्मल परिणाम ही भाव सवर है। भाव सवर के अनेक नाम हैं[७५] - सम्यक्त्व, देशव्रत, सर्वव्रत, कषायविजेता एवं केवली भगवान-योगनिरोधक।

आत्मा से कर्मों के एक देश से झरने को निर्जरा कहते हैं। सब कर्मों की शक्ति के उदय होने को अनुभाग कहते हैं। परतु उसके पश्चात् पूर्व सचित कर्मों को बारह प्रकार के तप से क्षीण एव नीरस कर दिये जाते हैं, उसे निर्जरा कहते हैं।[७६] निर्जरा के दो भेद हैं[७७] १ सविपाक निर्जरा (साधारण निर्जरा, पाकजानिर्जरा, स्वकालप्राप्त निर्जरा, अकाम निर्जरा) और २ अविपाक निर्जरा (औपक्रमिकी निर्जरा, अपाकजानिर्जरा, सकाम निर्जरा)। इन दोनों प्रकार की निर्जरा को अनेक नामों से सबोधित किया जाता है। इनमें सविपाक निर्जरा चारों गति के जीव सतत करते रहते हैं। जीव जिन कर्मों को भोगता है, किन्तु उससे कई गुणा अधिक नवीन कर्मों को बाधता है। इसमें कर्मों का अत होता ही नही है। क्योंकि कर्मबध के हेतुओं की प्रबलता रहती है। सामान्यत सविपाक निर्जरा प्रत्येक जीव के प्रति समय होती रहती है, इसीलिये इसे साधारण, अकाम, स्वकालप्राप्त, पाकजा निर्जरा कहते हैं। बधे हुए कर्म अपने आबाधाकाल तक सत्ता में रहकर उदय प्राप्त काल के आने पर अपना फल देकर झरते रहते हैं। इसलिये उसे स्वप्राप्त काल निर्जरा कहते हैं। यह निर्जरा कर्मबध का कारण है। एक मात्र अविपाक निर्जरा ही मोक्ष का कारण है क्योंकि वह बिना भोगे ही कर्म समाप्त कर देती है। अविपाक निर्जरा बारह प्रकार के तप द्वारा प्राप्त होती है। साधुओं के जैसे-जैसे उपशम भाव और तपाराधना में वृद्धि होती है वैसे वैसे अविपाक निर्जरा की वृद्धि होती है। ज्ञानी पुरुष का तप ही निर्जरा का कारण बनता है। अज्ञानी का तप कर्मबधन का कारण है। इसलिये अविपाक निर्जरा ही मोक्ष का अचूक साधन है और धर्मध्यान शुक्लध्यान ही विशेष रूप से निर्जरा का कारण हैं। क्योंकि ग्यारह स्थानों में ऊपर ऊपर असख्यात गुणी असंख्यात गुणी निर्जरा होती है जैसे कि[७८] मिथ्यादृष्टि से सम्यग्दृष्टि के असख्यात गुणी कर्म निर्जरा होती है। सम्यग्दृष्टि से अणुव्रतधारी की असख्यात गुणी कर्म निर्जरा होती है। अणुव्रतधारी से सर्व व्रती ज्ञानी की असख्यात गुणी कर्म निर्जरा होती है। महाव्रती से अनन्तानुबन्धी कषाय का विसयोजन करनेवाले की असख्यात गुणी निर्जरा होती है। उससे दर्शनमोहनीय का क्षण -विनाश करने वाले की असख्यात गुणी कर्म निर्जरा होती है। उससे उपशमश्रेणि के आठवें, नौवें

तथा दसवें गुणस्थान में चारित्रमोहनीय का उपशम करनेवाले की असंख्यात गुणी कर्मनिर्जरा होती है। उससे ग्यारहवें गुणस्थान वाले उपशम के असख्यात गुणी कर्मनिर्जरा होती है। उससे क्षपक श्रेणि के आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थान में चरित्रमोहनीय का क्षय करने वाले की असख्यात गुणी कर्मनिर्जरा होती है। उससे बारहवें क्षीण मोह गुणस्थान वाले की असंख्यात गुणी कर्मनिर्जरा होती है। उससे सयोगी केवली भगवान की असख्यात गुणी कर्म निर्जरा होती है। उससे अयोगी केवली भगवान की असंख्यात गुणी कर्मनिर्जरा होती है। इस प्रकार ग्यारह स्थानों में उत्तरोत्तर निर्जरा असख्यात गुणी असख्यात गुणी अधिक होती जाती है।

शुभलेश्या वाला, निसर्ग से बलशाली, निसर्ग से शूर, वज्रऋषभ संहननवाला, किसी एक सस्थानवाला, चौदह पूर्वधारी, दस पूर्वधारी, नौ पूर्वधारी, क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव, नौ पदार्थों में से किसी एक पदार्थ का द्रव्य गुण और पर्याय के भेद से ध्यान करता है। इसी प्रकार किसी एक शब्द या योग के आलम्बन से द्रव्य गुण पर्याय में मेरू पर्वत के समान निश्चल चित्तवाला जीव असख्यात गुण श्रेणी क्रम से कर्मस्कन्धों को गलाते हुए, अनन्त गुणहीनश्रेणिक्रम से कर्मों के अनुभाग को शोषित करते हुए तथा कर्मों की स्थितियों का घात करते हुए अन्तर्मुहूर्त काल व्यतीत करते हैं। यह द्वितीय शुक्लध्यान की अवस्था है। इस अन्तर्मुहूर्त काल के बाद शेष रहे क्षीण कषाय के काल प्रमाण स्थितियों को छोड़कर उपरिम सब स्थितियों की उदयादि गुणश्रेणिरूप से रचना करके, पुन. स्थितिकाण्डक घात के बिना अध स्थिति गलना द्वारा ही असख्यात गुणा श्रेणिक्रम से अविपाक निर्जरा द्वारा कर्मस्कन्धों का घात करता हुआ क्षीण कषाय के अतिम समय में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनों कर्मों का युगपत् नाश करता है। केवलज्ञान को प्राप्त करना द्वितीय शुक्लध्यान का फल है।[७९]

तीसरे शुक्लध्यान का फल योग का निरोध और यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति है। कर्मबन्ध के आस्रव का निरोध हो जाने से शेष समस्त कर्मों का निर्जरा के कारण क्षय हो जाता है। क्योंकि तीसरे शुक्लध्यान में योगों का निरोध होकर मोक्ष का साक्षात्कारण यथाख्यात चारित्र को प्राप्त करके चतुर्थ शुक्लध्यान (समुच्छिन्न-क्रिया - अप्रतिपाती) का प्रारंभ हो जाता है। ये दोनों ही ध्यान मोक्ष प्रदाता हैं। क्योंकि इन दोनों का फल मोक्षगमन है। अयोगिकेवली भगवान जब ध्यानातिशयाग्नि द्वारा समस्त मलकलंक बंधन को जलाकर, किट्ट धातु एव पाषाण का नाश कर शुद्धात्मा के स्वरूप को प्राप्त करते हैं। तब शैलेशी अवस्था प्राप्त करते हैं। कुछ ह्रस्व पाँच लघु अक्षरों के - 'अ, इ, उ, ऋ, लृ, के उच्चारण करने में जितना समय लगता है उतना ही काल शैलेशी अवस्था का है। शैलेशी अवस्था पूर्ण होने पर आत्मा में अपूर्व स्थिरता आ जाती है और सिद्धि को प्राप्त कर लेती है।[८०] शैलेशी अवस्था प्राप्त करना चौथे शुक्लध्यान का फल है। इस अवस्था के प्राप्त होते ही मोक्ष निश्चित है। अत अतिम दोनों ध्यान मोक्ष के मुख्य कारण हैं।

ध्यान का प्रत्यक्ष फल : ध्यान में स्थित आत्मा को कषायों से उत्पन्न होने वाले मानसिक दु खों, ईर्ष्या, खेद, शोक आदि पीड़ित नही करते तथा ध्यान से भावित आत्मा को शीत, ताप आदि अनेकानेक शारीरिक दु ख भी चलित नही करते, क्योंकि वह कर्मनिर्जरा की अपेक्षा वाला है।[८१]

आगम कथित चारों ही ध्यान का फल निम्नलिखित है-[८२] आर्तध्यान से तिर्यंचगति, रौद्रध्यान से नरक गति, धर्मध्यान से स्वर्ग एव मोक्ष तथा शुक्लध्यान से मोक्ष (सिद्धगति) मिलता है।

ध्यान के स्वामी

आगमकथित चारों ध्यान के स्वामी गुणस्थानवर्ती जीव हैं। इनका वर्णन आगे करेंगे।

(२) ध्यान का लक्ष्य 'मन की एकाग्रता'

आत्मा के अस्तित्व की अभिव्यक्ति का प्रधान कारण, आत्म व्यापारों का समर्थ वाहन और जगत् के साथ आत्मा का अनुसन्धानक मन ही है। सोचना, समझना, चिन्तन करना, तर्कना करना ये सब क्रियायें मन की शक्ति द्वारा ही की जाती है। जिसके द्वारा विचार किया जाता है ऐसी आत्मिक शक्ति मन है तथा इस शक्ति के विचार करने में सहायक होने वाले एक प्रकार के सूक्ष्म परमाणु भी मन ही कहलाते हैं। पहले को भाव मन और दूसरे को द्रव्यमन से अभिहित करते हैं।

मन का स्वरूप :

मन का स्वभाव चचल है। विविध प्रकार के पुद्गल वर्गणाओं के स्कन्धों का अनुभव करके रागद्वेष मोहादि भावों में सतत रमण करना ही मन का स्वभाव है। तरगित जल में स्थित वस्तु का यथार्थ प्रतिभास नही हो सकता वैसे ही रागद्वेषादि कल्लोलों से आकुलित हुए मन द्वारा आत्मदर्शन नही हो सकता। आत्म दर्शन कराने में मन अधिक सहयोगी है। मन के दो प्रकार हैं - सविकल्प और निर्विकल्प। वस्तुत निर्विकल्प मन ही आत्म तत्त्व है, सविकल्प मन तो 'आत्मभ्रान्ति' रूप है। मन की अस्थिरता ही रागादि परिणति का कारण है और मन की स्थिरता ही आत्मा का वास्तविक रूप है। मन ही कर्म बन्धन और मुक्ति का कारण है। ध्यानस्थयोगी प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को ध्यान से विचलित करने वाला और पुन ध्यान में स्थिर करनेवाला मन ही है। निश्चयनय की दृष्टि से सिद्धात्मा की तरह सबकी आत्मा है। आत्मस्वरूप का भान स्थिर मन ही करा सकता है, चचल मन नहीं। क्योंकि रागद्वेषात्मक जीवों के अनुकूल प्रतिकूल परिस्थिति का कारण मन है और रागद्वेषात्मक वृत्ति के निरोध होते ही मोक्ष का कारण भी मन ही है। अत स्थिर मन 'आत्म तत्त्व' है और अस्थिर मन 'आत्मभ्रान्ति' है।[८३] मन मर्कट चारित्र घडे में भरे

हुए समतारस को धरती पर रसलोलुप वणिक की तरह उडेल देता है। वेगवान घोड़े की भाँति मन घोड़े पर चढ़ा हुआ साधक गुणों की लगाम को वश नही कर सकता है। मन पवन अति बलवान है जो सुमतिवृक्षों को तोड़ फोड़ कर छिन्नभिन्न कर देता है। मनोनिग्रह न करने के कारण भव भ्रमण बढ़ाने में तन्दुलमत्स्य की तरह कारण बनता है। वचन और काया की अपेक्षा चंचल मन से ही अधिक कर्म बध होता है।[८४] मोक्षाभिलाषी साधक के लिये मनबदर को वश करना ही चाहिये। आत्मा असंख्यातप्रदेशी है। उसके एक-एक प्रदेश पर अनन्त ज्ञानदर्शनचारित्रादि गुण विद्यमान है। उन गुणों को विकसित करने के लिये मन की स्थिरता आवश्यक है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप में रमण करने से मन स्थिर होता है जिससे समभाव की दशा प्रगट होती है। इसके लिये चित्तशोधन की क्रिया आवश्यक है। मलशुद्धि के बिना रोगी को रसायन हितकारी बन सकेगा क्या? आध्यात्मिक रोगी के लिये, मन शोधन शिवरमणी को पाने के लिये बिना औषधि का वशीकरण मत्र है। जैसे अधे के लिये दर्पण व्यर्थ है, वैसे ही मनशोधन (मनशुद्धि) के बिना तप, जप, ज्ञान, ध्यान, स्वाध्याय व्रतादि सब व्यर्थ हैं।[८५] इसलिये मन शुद्धि के उपायों का सतत चिन्तन करते रहना चाहिये।

मनोनिग्रह के उपाय

मन को वश में करने के लिये आगम एव ग्रन्थों में विभिन्न प्रकार बताये गये हैं। उनमें से मुख्य-मुख्य उपायों का यहाँ दिग्दर्शन किया जा रहा है -

इन्द्रियविजय : आगम में पाँच प्रकार के इन्द्रियों का वर्णन है[८६]-श्रोतेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय। इन पाँच इन्द्रियों के तेईस विषय और दो सौ चालीस विकार हैं।[८७]

श्रोतेन्द्रिय के तीन विषय और बारह विकार हैं - तीन विषय = जीव शब्द, अजीव शब्द और मिश्र शब्द । ये तीनों प्रकार के विषय शुभ और अशुभ ऐसे दो-दो प्रकार के होते हैं। कुल छह भेद हुए। इन छह पर राग और छह पर द्वेष भाव होना ही बारह प्रकार के विकार हैं।

चक्षुरिन्द्रिय के पाँच विषय और साठ विकार हैं - विषय-काला, नीला, पीला, लाल और सफेद। ये पाँच सचित्त, अचित और मिश्र से पन्द्रह प्रकार के हैं। ये पन्द्रह शुभ और अशुभ ऐसे दो-दो प्रकार के हैं। कुल तीस हुए। तीस पर राग और तीस पर द्वेष ऐसे चक्षुरिन्द्रिय के साठ विकार हैं।

घ्राणेन्द्रिय के दो विषय और बारह विकार हैं - सुरभिगध और दुरभिगध ये दो विषय हैं। ये दोनों सचित अचित और मिश्र के भेद से तीन भेद हुए। तीन शुभ और तीन अशुभ कुल छह विकार हुये। इन छह पर राग और छह पर द्वेष कुल बारह विकार हुये।

रसेन्द्रिय के पाँच विषय और साठ विकार हैं - तिक्त, कटु, कषायला, अंबिला और मधुर ये पाँच विषय हैं। ये पाँच सचित, अचित और मिश्र = कुल पन्द्रह विकार हैं। पन्द्रह शुभ और पन्द्रह अशुभ = ३० विकार हुए। तीस पर राग और तीस पर द्वेष भाव होना ही साठ विकार हैं।

स्पर्शेन्द्रिय के आठ विषय और छियानव्वें (९६) विकार हैं - गुरु, लघु, मृदु, खर, शीत-उष्ण, स्निग्ध और रुक्ष। ये आठ विषय सचित, अचित और मिश्र रूप चौबीस विकार हैं। चौबीस शुभ और चौबीस अशुभ दोनों मिलकर अड़तालीस विकार हैं। अड़तालीस पर राग और अड़तालीस पर द्वेष होना ही छियानव्वें विकार हैं।

इस प्रकार पाँच इन्द्रियों के तेईस विषय और दो सौ चालीस विकार हैं। इन विषयविकारों से प्राप्त सुख अनन्त ससार बढ़ाता है। इन्द्रिय जनित सुख मोहदावानल की वृद्धि में इधन रूप है। यह विघ्नों का बीज, विपत्ति का मूल, पराधीन एव भय का स्थान है। कालकूट विष सरसों जैसा है और विषयविकार का विष सुमेरूपर्वत जैसा है।[८८] एकेक इन्द्रियों के वश बने हुए जीवों की कैसी दुर्दशा होती है? पतग चक्षुरिन्द्रिय के वश में पड़कर दीपज्योति में प्राण त्याग देता है। भ्रमर घ्राणेन्द्रिय के वश हो कर सध्या वेला में कमल में सकुचित (बद) होकर मर जाता है। मत्स्य रसेन्द्रिय के वश जाने से गलफास से मृत्यु प्राप्त करता है। हाथी स्पर्शेन्द्रिय के वश होकर गड्ढे में गिरकर मौत के शरण जाता है। हरिण श्रोतेन्द्रिय के वश होने से मधुर स्वर श्रवण करते हुए शिकारी के तीक्ष्ण बाणों का शिकार बनता है। एकेक इन्द्रिय के वश बने हुए प्राणी की यह स्थिति तो पाँचों ही इन्द्रियों के वश बने हुए प्राणियों की क्या स्थिति होगी?[८९] सयमी साधक इन्द्रियों के विषयविकार और मन की चचलता को ब्रह्मचर्यादि प्रक्रिया द्वारा वश करता है। ब्रह्म का अर्थ - शुद्ध, बुद्ध, सच्चिदानन्दमय परमात्मा में लीन होना ही ब्रह्मचर्य है। आत्मानुभूति का आस्वादन करना ही ब्रह्मचर्य है। विषयविकारों के वशीभूत होकर जीवात्मा ससार के नाना विषयों में और स्त्री के मोह में पड़कर दु ख उठाता है। जो साधक स्त्रियों के सग से बचता है उनके रूप को नही देखता है तथा उनकी कथा आदि भी नही करना, मन वचन काय और कृतकारित अनुमोदना के भेद से नवधा प्रकार का ब्रह्मचर्य होता है। जिनशासन में शील के अठारह हजार भेदों का कथन है। स्त्री के दो प्रकार माने गये हैं - अचेतन और चेतन। अचेतन स्त्री के तीन भेद हैं -लकड़ी, पत्थर एव रगादि से बनाई हुई।इन तीनों भेदों को मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना इन छह से गुणा करने पर अठारह भेद होते हैं। उनको पाँच इन्द्रियों से गुणा करने पर १८×५= नब्बे भेद होते हैं। इन्हें द्रव्य और भाव से गुणा करने पर ९०×२=एक सौ अस्सी भेद होते हैं। उनको क्रोधादि चार कषायों से गुणा करने पर १८०×४=सात सो बीस भेद होते हैं। ये अचेतन स्त्री के ७२० भेद हैं। चेतन

स्त्री के भी तीन प्रकार है - देवागना, मानुषी और तिर्यंचनी। इनको कृत, कारित अनुमोदना से गुणा करने पर ३×३=नौ भेद होते हैं। इन्हें मन वचन काय से गुणा करने पर ९×३=सताइस भेद होते हैं। उन्हें पाँच इन्द्रियों से गुणा करने पर २७×५= एक सौ पैंतीस भेद होते हैं। इन्हें द्रव्य और भाव से गुणा करने पर १३५×२= दो सौ सत्तर भेद होते हैं। इनको आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इन चार सज्ञाओं से गुणा करने पर एक हजार अस्सी भेद होते हैं। इनको अनन्तानुबधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, सज्वलन, क्रोध, मान, माया, लोभ इन सोलह कषायों से गुणा करने पर १०८०×१६= सत्रह हजार दो सौ अस्सी भेद होते हैं। इनमें अचेतन स्त्री के सात सौ बीस भेद जोड़ने पर अट्ठारह हजार भेद होते हैं। ये सब विकार के भेद हैं। इन विकारों को त्यागने से शील के अट्ठारह हजार भेद होते हैं। इन भेदों को दूसरे प्रकारों से भी गिनाया जाता है, जैसे कि पृथ्वीकायादि आरभ त्याग आदि १८००० हैं - पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजसकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय ये पाँच स्थावरकाय तथा तीन विकलेन्द्रिय - द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय जीव और अजीव इन दस भेदों का आरभ, समारभ, हिंसा न करना यह शीलाग कहलाता है। इन दस प्रकार के आरभ त्याग, क्षमा, मुत्ती (निर्लोभिता), आर्जव (ऋजुता), मार्दव (मृदुता), लाघव, सत्य, संयम, तप, अकिंचनता (अपरिग्रह), और ब्रह्मचर्य इन दस प्रकार के यति धर्म को समालते हुए करना है। १०×१०=सौ शीलाग हुए। इन्हें पाँच इन्द्रियों के साथ गुणा करने पर १००×५= पाँच सौ भेद होते हैं। इन्हें आहारादि चार सज्ञाओं से गुणा करने पर ५००×४ = दो हजार शीलांग होते हैं। इनको मन, वचन काय से गुणा करने पर २०००×३= छह हजार शीलाग होते हैं। इन्हें कृत कारित अनुमोदना इन तीन भेदों से गुणा करने पर ६०००×३=अट्ठारह हजार शीलाग होते हैं।[१०] इसके लिये सक्षिप्त सूत्र है - 'आय कइ सयोग' = (आरभ १० × यति धर्म १० × करण ३ × इन्द्रिय ५ × संज्ञा ४× योग ३)

इस प्रकार संयमी साधक अट्ठारह हजार शीलाग रत्नों से भरे हुये चारित्र जहाज पर आरूढ होकर इन्द्रियविजेता बनता है। क्योंकि इन्द्रियों के जीते बिना कषायविजेता नहीं बन सकता है। मन को वश करने के लिये सर्वप्रथम इन्द्रियों के विषयों का निरोध करना आवश्यक है।[११] एक मन को जीतने वाला समस्त कर्म शत्रुओं को आसानी से जीत सकता है।[१२] मन शुद्धि दीपिका तुल्य है।

कषायविजय

इन्द्रियजन्य रागद्वेषमोहादि भव भ्रमण के कारण हैं। ये रागादि भाव मन को कभी मूढ़ करते हैं, कभी भ्रम रूप करते हैं, कभी भयभीत करते हैं, कभी आसक्त करते हैं, कभी शंकित करते हैं, कभी क्लेशरूप करते है,[१३] मन में स्थिरता नहीं आने देते। मन में स्थिरता

लाने के लिये क्रोधादि कषायों से रहित एव मन को सक्लेश, भ्रान्ति और रागादिक विकारों से रहित करके अपने मन को वशीभूत कर तथा वस्तु के यथार्थ स्वरूप का अवलोकन करने वाला ही जिनकथित पंच परमेष्टि के नामस्मरण से कषायविजेता बन सकता है। कषाय, विषय मन को जीतने का मुख्य उपाय है। सम्यग्दर्शनादि की साधना एवं ध्यान की लीनता से साधक मोक्ष में रमण कर सकता है।[९४] इसलिये कषायविजय मनोनिग्रह का मुख्य उपाय है।

भावना

आगम एव अन्य ग्रन्थों में शुभ भावना (प्रशस्त भावना) को ध्यातव्य और अशुभ भावना (अप्रशस्त भावना) को हातव्य माना गया है। आगम में मोक्ष मार्ग के चार सोपान बतायें हैं - दान, शील, तप और भावना। जैन धर्म की सभी साधना भावना पर आधारित है। भव और भाव ऐसे दो शब्द हैं। कन्दर्प कैल्विषी, आभियोगिक, आसुरी एव समोही इन अशुभ भावनाओं का आधार लेकर मन को एकाग्र नही किया जा सकता। अशुभ भावना के आलम्बन से भव वृद्धि होती है और शुभ के आलम्बन से भव घटते हैं। ध्यानयोग की साधना भव घटाने की साधना है व मनोनिग्रह की साधना है। इन दोनों भावनाओं के प्रभेद अनेक होते हैं।[९५]

आगम में भावना को कही-कही अनुप्रेक्षा भी कहते हैं।[९६] वहाँ 'अणुप्पेहा' शब्द आध्यात्मिक चिन्तन के लिये ही प्रयुक्त किया गया है। इस शब्द के अनेक अर्थ होते हैं[९७] आत्म चिन्तन, पुन पुन चिन्तन, मनोनिग्रह के लिये किसी एक विषय पर केन्द्रित होना यही ध्यान की स्थिति है। आत्मा का आत्मा में रमण करना ही भावना है। भव्यात्माओं को इससे अनन्त सुख की प्राप्ति होती है। इसलिये भावना को आनद की जननी कहा है।[९८] मनोनिग्रह से शाश्वत आनद की प्राप्ति होती है। इसीलिये भावना को मन वश करने का एकमात्र साधक बताया है। शुभ भावना ही नौका का काम करती है। नौका सागर को पार कराती है। और भावना भवसागर को पार कराती है। भावना के अनेक रूप हैं[९९] चारित्र भावना, ध्यान भावना (ज्ञान दर्शन चारित्र वैराग्य), योग भावना (मैत्री प्रमोद कारुण्य माध्यस्थ) और वैराग्य भावना। यहाँ वैराग्यभावना को लेकर ही विचार किया जा रहा है। जीव को ध्यान सन्मुख करने के लिये मनोनिग्रह आवश्यक है। ससार भय निर्माण होते ही मन में वैराग्य भावना जाग जाती है। इसीलिये ज्ञानियों ने साधक को सावधान करते हुए कहा कि 'हे आत्मन्। तू समस्त जीवों पर मैत्री भाव रख। ममत्व का त्याग कर। निर्ममत्व का चिन्तन कर। मन का शल्य दूर करके अपनी भावों की शुद्धि के लिये अनित्य - अशरण - ससार एकत्व - अन्यत्व - अशौच - आस्रव - सवर - निर्जरा - धर्म - लोक भावना इन बारह भावनाओं का शरण ले जिससे तेरी चित्त शुद्धि होगी।[१००] इन बारह भावनाओं

में से प्रथम की चार भावनाओं का धर्मध्यान के अन्तर्गत विचार करेंगे। अन्यत्व भावना में आत्मा से शरीर, स्त्री, पुत्र, मित्र, परिवार, आदि सभी भिन्न वस्तुओं का चिन्तन ही अन्यत्वानुप्रेक्षा है।[१०१] अशुचि भावना से शरीर को अपवित्र द्रव्यों से बना हुआ अत्यन्त दुर्गन्धमय मलमूत्रादि का घर माना जाता है। शरीर की उत्पत्ति शुक्ररुधिर के बीज से मानी जाती है। क्योंकि 'गर्भ में दस दिन तक वीर्य कलल अवस्था में रहता है। गले हुए ताम्बे और चादी के परस्पर मिलने पर इन दोनों की जो अवस्था होती है, वैसी ही अवस्था माता के रज और पिता के वीर्य के मिलन से होती है। इसे ही कलल अवस्था कहते हैं। उसके पश्चात् दस दिन तक वह काला रहता है। उसके पश्चात् दस दिन तक वह स्थिर रहता है। इस प्रकार प्रथम मास में रज और वीर्य के मिलने से ये तीन अवस्थाएँ होती हैं। दूसरे मास में बुलबुले की तरह रहता है। तीसरे मास में कड़ा हो जाता है। चतुर्थ मास में मास का पिण्ड बन जाता है। पाँचवें मास में हाथ, पैर और सिर के स्थान में पाँच अकुर फूटते हैं। छठे मास में अग और उपांग बनते हैं। सातवें मास में चमड़ा, रोम और नाखून बन जाते हैं। आठवें मास में बच्चा पेट में घूमने लगता है। नौवें और दसवें मास में बाहर आ जाता है।' शरीर रस, रक्त , मांस, मेद - चर्बी, मज्जा, वीर्य, आत इन सप्त धातुओं से बना हुआ है। इस शरीर के अवयव इस प्रकार है - 'इस शरीर में तीन सौ हड्डियाँ हैं। वे सभी मज्जा नामक धातु से बनी हुई हैं। तीन सौ सन्धियाँ हैं। नौ सौ स्नायु हैं। सात सौ सिराएँ हैं। पाँच सौ मासपेशियाँ हैं। सिराओं के चार समूह हैं। रक्त से भरी १६ महासिराएँ हैं। सिराओं के छह मूल हैं। पीठ और उदर की ओर दो मासरज्जु हैं। चर्म के सात परत हैं। सात कालेयकमास खण्ड हैं। अस्सी लाख करोड़ रोम हैं। आमाशय में सोलह आतें हैं। सात दुर्गन्ध के आश्रय हैं। तीन स्थूणा हैं - वात, पित्त, और कफ। एक सौ सात मर्मस्थान हैं। नौ मल द्वार हैं, जिनके द्वारा सर्वदा मल बहता रहता है। एक अंजलिप्रमाण मस्तक है। एक अजलिप्रमाण मेद है। एक अजलिप्रमाण ओज है। एक अजलिप्रमाण वीर्य है। ये अजलियाँ अपनी अपनी ही लेनी चाहिये। तीन अजलिप्रमाण वसा है। तीन अजलिप्रमाण पित्त है। (भगवती आराधना में पित्त और कफ को ६-६ अंजलि प्रमाण बतलाया गया है) ८ सेर रुधिर है। १६ सेर मूत्र है। २४ सेर विष्ठा है। २० नख हैं। ३२ दात हैं। यह शरीर कृमि, लट तथा निगोदिया जीवों से भरा हुआ गन्दगी का घर है।' जो दूसरों के शरीर से विरक्त है, अपने शरीर पर ममत्व नहीं है, आत्मा के शुद्ध स्वरूप में लीन रहता है, उसी की अशुचित्व में भावना है। अत अशुचिभावना से मन की एकाग्रता बढ़ती है।[१०२] आस्रव भावना में पापों में प्रवेश करने के द्वारों का विचार किया जाता है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच आस्रव द्वार हैं। इन पाँच आस्रव द्वारों को गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र से रोका जाता है। इनका बार-बार चिन्तन करना ही सवर भावना है। पूर्वसचित कर्मों को बारह प्रकार के तप से (छह बाह्य

और छह आभ्यन्तर) क्षय किया जाता है। इस प्रकार पुन॰ पुन चिन्तन करना निर्जरा भावना है। लोक भावना में, १४ राजू लोक, जो षड् द्रव्यात्मक हैं, उनमें मुख्य दो द्रव्य जीव और अजीव हैं, जीव और अजीव का सयोग ससार है और इन दोनों का वियोग मोक्ष है इन सबका चिन्तन किया जाता है। निगोदावस्था से लेकर नौ ग्रेवेयक तक जीवात्मा का परिभ्रमण सतत चलता रहता है। सम्यक्त्व के प्राप्त होने पर ही जीव चारों गति के परिभ्रमण से मुक्त बन सकता है। षड् द्रव्यात्मक लोक में अनन्तानन्त कालचक्र तक इस जीवात्मा को परिभ्रमण करना पड़ता है। इस प्रकार का बार बार चिन्तन करना लोक भावना है। धर्म भावना में श्रावक के बारह व्रत और श्रमण के दस धर्म पर बार बार मनन किया जाता है।[१०३] दस धर्म का पालक ही ध्यानयोग की साधना करने में समर्थ बन सकता है। सम्यक्त्व प्राप्ति के बाद ही श्रावक और श्रमण ध्यानयोग की साधना का श्रीगणेश कर सकता है। अंतिम भावना 'बोधिदुर्लभ भावना' है। इसमें साधक अनादिकाल से ससार चक्र में परिभ्रमण करने के बाद दस बोलों की दुर्लभता का चिन्तन करता है। दस बोल इस प्रकार हैं[१०४] १. मनुष्य जन्म मिलना दुर्लभ है, २. आर्य क्षेत्र मिलना दुर्लभ है, ३. उत्तम कुल मिलना दुर्लभ है, ४ लम्बा आयुष्य मिलना दुर्लभ है, ५. सम्पूर्ण इन्द्रियाँ मिलना दुर्लभ है, ६. रोग रहित काया मिलना दुर्लभ है, ७ सन्तसमागम मिलना दुर्लभ है, ८. सूत्र सिद्धान्त का सुनना दुर्लभ है, ९ सूत्र सुनकर उस पर श्रद्धा करना दुर्लभ है और १० सयम में पराक्रम फोड़ना दुर्लभ है।

इन बारह प्रकार की भावनाओं का चिन्तन करने से मन की एकाग्रता बढ़ती है, शरीर का ममत्व घटता है और समता का प्रकाश प्राप्त होता है।[१०५] क्योंकि ज्ञानियों का कथन है कि कषायरोध के लिये इन्द्रिय जय, इन्द्रियजय से मनशुद्धि और मन शुद्धि से समता और समता के प्रादुर्भाव से निर्ममत्व अवस्था तथा निर्ममत्व अवस्था से ध्यान की प्राप्ति होती है।[१०६] अत मन को एकाग्र करने के लिये सतत अनित्यादि भावना का चिन्तन करना चाहिये।

समता

ममता को छोड़ने के लिये समता की नौका को पकड़ना जरूरी है। समता के हौज में डूबकी लगाते ही काम विष (दृष्टिविष) धोया जाता है, कषाय का ताप नष्ट हो जाता है, ममकार-अहकार का मेल उतर जाता है, परस्पर प्रेमामृत की धारा बहने लगती है, रागद्वेष मोहादि भाव दूर होने लगते हैं, समस्त जीवों पर मैत्री भावना प्रकट होती है। भेदज्ञान की प्रक्रिया विकसित होती है, और सामर्थ्ययोग की प्राप्ति होती है।[१०७] समता, उपेक्षा, वैराग्य, साम्य, नि स्पृहता, वितृष्णा, प्रशम, शांति, मध्यस्थता ये सब एकार्थवाची शब्द हैं।[१०८] मन शुद्धि के लिये समता का आश्रय लेना चाहिये, क्योंकि समता जन्ममरणरूप

दावानल में जलते हुए प्राणियों के लिये अमृतवर्षा तुल्य है, नरकद्वार की अर्गला है, मुक्ति मार्ग की दीपिका है, गुणरत्नों की खान मेरू पर्वत तुल्य है, मोक्ष मार्ग प्रदाता है, कर्म विनाशक है, सर्व सिद्धिप्रदायक है। इसलिये समता सर्वोत्कृष्ट ध्यान है।[१०९] समभाव से मन को सस्कारित किया जाता है। सस्कारी मन की अवस्था ही आत्मज्ञान (स्वाध्याय) को प्राप्त कर सकती है। अत समभाव को मन शुद्धि का उपाय बताया है।

स्वाध्याय (आत्म ज्ञान)

मन की चचलता को दूर करने के लिये आत्मज्ञान परमावश्यक है। उसके विना व्यवहार चारित्र - तप -जप - सयमादि क्रिया व्यर्थ है। पुण्य पाप दोनों ससारवर्धक हैं। पुण्य से स्वर्ग और पाप से नर्कावास मिलता है। दोनों को छोड़ने के लिये आत्मज्ञान जरूरी है, क्योंकि वह शिववास दिलाता है। तप, जप, सयमादि क्रिया व्यवहार से कही जाती है। निश्चय से आत्मज्ञान ही मोक्ष का प्रदाता है। आत्मज्ञान की प्राप्ति स्वाध्याय से होती है। पच परमेष्टी पद का चित्त की एकाग्रता के साथ जपना और सर्वज्ञ कथित शास्त्र को एकाग्रता एकलीनता के साथ पढ़ना ही स्वाध्याय हैं। जो अर्हन्त को द्रव्यत्व, गुणत्व और पर्यायत्व के द्वारा जानता है वह आत्मा को जानता है और उसका मोह क्षीण हो जाता है। स्वाध्याय से ध्यानावस्था में जाया जाता है। ध्यान और स्वाध्याय दोनों की सम्प्राप्ति से परमात्मा प्रकाशित होता है - स्वानुनव में लाया जाता है। अत एकाग्र चित्त से पचपरमेष्टियों के स्वरूप को स्वानुभूति में लाकर जो पच परमेष्टी नवकार मन्त्र का जप करता है, वह परम स्वाध्याय है।[११०] मन को एकाग्र करने के लिये सतत आत्मा से आत्मा का ही चिन्तन मनन निदिध्यासन करना चाहिये जिससे कर्म नो कर्म क्षणमात्र में नष्ट होकर परम पद की प्राप्ति हो जाती है। आत्मा के ध्यान से मन की स्थिरता अपने आप हो जाती है। धर्मध्यान शुक्लध्यान से अशुभ लेश्याओं का नाश होकर शुभ लेश्या का प्रादुर्भाव होता है। शुभ विचारों में (अध्यवसायों) में अनन्त शक्ति रही हुई है कि वह निर्वाण पद को प्राप्त करा देती है।[१११] आत्मज्ञान के बिना किया हुआ शास्त्राध्ययन बधन का कारण बनता है। शास्त्र तो जड़ है। जड़ क्रिया मन को एकाग्र नही करा सकती है। मन की एकाग्रता तो भेदज्ञान से है। सबर का मूल भेद विज्ञान है। पुद्गल और जीव इन दोनों को भिन्न-भिन्न समझने की प्रक्रिया ही भेदविज्ञान है। भेदविज्ञान ही सच्चा आत्मज्ञान है। जो साधक अपने को परभाव से छोड़कर स्वभाव में रमण कराता है वही केवलज्ञान को प्राप्त करके परम पद को पा लेता है।[११२] इसलिये आत्मज्ञान ही मनोनिग्रह का मुख्य उपाय है।

योगाष्टाग एव दृष्टियाँ

कर्म क्षय करने में भावों की शुद्धि होना प्रधान कारण है। भावशुद्धि मन शुद्धि में सहायक है। क्योंकि मन शुद्धि मोक्षमार्गप्रकाशक दीपिका है। इसलिये मन शुद्धि

और छह आभ्यन्तर) क्षय किया जाता है। इस प्रकार पुन॰ पुन चिन्तन करना निर्जरा भावना है। लोक भावना में, १४ राजू लोक, जो षड् द्रव्यात्मक है, उनमें मुख्य दो द्रव्य जीव और अजीव हैं, जीव और अजीव का सयोग संसार है और इन दोनों का वियोग मोक्ष है इन सबका चिन्तन किया जाता है। निगोदावस्था से लेकर नौ ग्रेवेयक तक जीवात्मा का परिभ्रमण सतत चलता रहता है। सम्यक्त्व के प्राप्त होने पर ही जीव चारों गति के परिभ्रमण से मुक्त बन सकता है। षड् द्रव्यात्मक लोक में अनन्तानन्त कालचक्र तक इस जीवात्मा को परिभ्रमण करना पड़ता है। इस प्रकार का बार बार चिन्तन करना लोक भावना है। धर्म भावना में श्रावक के बारह व्रत और श्रमण के दस धर्म पर बार बार मनन किया जाता है।[१०३] दस धर्म का पालक ही ध्यानयोग की साधना करने में समर्थ बन सकता है। सम्यक्त्व प्राप्ति के बाद ही श्रावक और श्रमण ध्यानयोग की साधना का श्रीगणेश कर सकता है। अतिम भावना 'बोधिदुर्लभ भावना' है। इसमें साधक अनादिकाल से ससार चक्र में परिभ्रमण करने के बाद दस बोलों की दुर्लभता का चिन्तन करता है। दस बोल इस प्रकार हैं[१०४] १ मनुष्य जन्म मिलना दुर्लभ है, २ आर्य क्षेत्र मिलना दुर्लभ है, ३. उत्तम कुल मिलना दुर्लभ है, ४. लम्बा आयुष्य मिलना दुर्लभ है, ५ सम्पूर्ण इन्द्रियाँ मिलना दुर्लभ है, ६ रोग रहित काया मिलना दुर्लभ है, ७ सन्तसमागम मिलना दुर्लभ है, ८. सूत्र सिद्धान्त का सुनना दुर्लभ है, ९. सूत्र सुनकर उस पर श्रद्धा करना दुर्लभ है और १०. सयम में पराक्रम फोड़ना दुर्लभ है।

इन बारह प्रकार की भावनाओं का चिन्तन करने से मन की एकाग्रता बढ़ती है, शरीर का ममत्व घटता है और समता का प्रकाश प्राप्त होता है।[१०५] क्योंकि ज्ञानियों का कथन है कि कषायरोध के लिये इन्द्रिय जय, इन्द्रियजय से मनशुद्धि और मन शुद्धि से समता और समता के प्रादुर्भाव से निर्ममत्व अवस्था तथा निर्ममत्व अवस्था से ध्यान की प्राप्ति होती है।[१०६] अत॰ मन को एकाग्र करने के लिये सतत अनित्यादि भावना का चिन्तन करना चाहिये।

समता

ममता को छोड़ने के लिये समता की नौका को पकड़ना जरूरी है। समता के हौज में डूबकी लगाते ही काम विष (दृष्टिविष) धोया जाता है, कषाय का ताप नष्ट हो जाता है, ममकार-अहकार का मेल उतर जाता है, परस्पर प्रेमामृत की धारा बहने लगती है, रागद्वेष मोहादि भाव दूर होने लगते हैं, समस्त जीवों पर मैत्री भावना प्रकट होती है। भेदज्ञान की प्रक्रिया विकसित होती है, और सामर्थ्ययोग की प्राप्ति होती है।[१०७] समता, उपेक्षा, वैराग्य, साम्य, नि स्पृहता, वितृष्णा, प्रशम, शाति, मध्यस्थता ये सब एकार्थवाची शब्द हैं।[१०८] मन शुद्धि के लिये समता का आश्रय लेना चाहिये, क्योंकि समता जन्ममरणरूप

दावानल में जलते हुए प्राणियों के लिये अमृतवर्षा तुल्य है, नरकद्वार की अर्गला है, मुक्ति मार्ग की दीपिका है, गुणरत्नों की खान मेरू पर्वत तुल्य है, मोक्ष मार्ग प्रदाता है, कर्म विनाशक है, सर्व सिद्धिप्रदायक है। इसलिये समता सर्वोत्कृष्ट ध्यान है।[१०९] समभाव से मन को संस्कारित किया जाता है। संस्कारी मन की अवस्था ही आत्मज्ञान (स्वाध्याय) को प्राप्त कर सकती है। अत समभाव को मन शुद्धि का उपाय बताया है।

स्वाध्याय (आत्म ज्ञान)

मन की चचलता को दूर करने के लिये आत्मज्ञान परमावश्यक है। उसके बिना व्यवहार चारित्र - तप -जप - सयमादि क्रिया व्यर्थ है। पुण्य पाप दोनों संसारवर्धक हैं। पुण्य से स्वर्ग और पाप से नर्कावास मिलता है। दोनों को छोड़ने के लिये आत्मज्ञान जरूरी है, क्योंकि वह शिववास दिलाता है। तप, जप, सयमादि क्रिया व्यवहार से कही जाती है। निश्चय से आत्मज्ञान ही मोक्ष का प्रदाता है। आत्मज्ञान की प्राप्ति स्वाध्याय से होती है। पच परमेष्टी पद का चित्त की एकाग्रता के साथ जपना और सर्वज्ञ कथित शास्त्र को एकाग्रता एकलीनता के साथ पढ़ना ही स्वाध्याय है। जो अर्हन्त को द्रव्यत्व, गुणत्व और पर्यायत्व के द्वारा जानता है वह आत्मा को जानता है और उसका मोह क्षीण हो जाता है। स्वाध्याय से ध्यानावस्था में जाया जाता है। ध्यान और स्वाध्याय दोनों की सम्प्राप्ति से परमात्मा प्रकाशित होता है - स्वानुभव में लाया जाता है। अत एकाग्र चित्त से पचपरमेष्टियों के स्वरूप को स्वानुभूति में लाकर जो पच परमेष्टी नवकार मत्र का जप करता है, वह परम स्वाध्याय है।[११०] मन को एकाग्र करने के लिये सतत आत्मा से आत्मा का ही चिन्तन मनन निदिध्यासन करना चाहिये जिससे कर्म नो कर्म क्षणमात्र में नष्ट होकर परम पद की प्राप्ति हो जाती है। आत्मा के ध्यान से मन की स्थिरता अपने आप हो जाती है। धर्मध्यान शुक्लध्यान से अशुभ लेश्याओं का नाश होकर शुभ लेश्या का प्रादुर्भाव होता है। शुभ विचारों में (अध्यवसायों) में अनन्त शक्ति रही हुई है कि वह निर्वाण पद को प्राप्त करा देती है।[१११] आत्मज्ञान के बिना किया हुआ शास्त्राध्ययन बधन का कारण बनता है। शास्त्र तो जड़ है। जड़ क्रिया मन को एकाग्र नहीं करा सकती है। मन की एकाग्रता तो भेदज्ञान से है। सवर का मूल भेद विज्ञान है। पुद्गल और जीव इन दोनों को भिन्न-भिन्न समझने की प्रक्रिया ही भेदविज्ञान है। भेदविज्ञान ही सच्चा आत्मज्ञान है। जो साधक अपने को परभाव से छोड़कर स्वभाव में रमण कराता है वही केवलज्ञान को प्राप्त करके परम पद को पा लेता है।[११२] इसलिये आत्मज्ञान ही मनोनिग्रह का मुख्य उपाय है।

योगाभ्यास एवं दृष्टियाँ

कर्म क्षय करने में भावों की शुद्धि होना प्रधान कारण है। भावशुद्धि मन-शुद्धि में सहायक है। क्योंकि मन शुद्धि मोक्षमार्गप्रकाशक दीपिका है। इसलिये मन शुद्धि

(मनोनिग्रह) के आठ अग बताये हैं - यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।[११३] पतजलि आदि आचार्यों ने भी ये ही आठ अग स्वीकार किये हैं। उन्होंने इन्हें मोक्ष के मुख्य अग माने हैं। जैनाचार्यों ने प्राणायाम को मुक्ति में साधन नही माना है। अध्ययन के बिना वह असमाधि निर्माण कर सकता है। अत जैनाचार्यों ने हठयोग के प्राणायाम का निषेध किया है। सूक्ष्म उच्छ्वास को शास्त्र कथनानुसार यतनापूर्वक करने के लिये विधान है। इसलिये यहाँ पर प्राणायाम का कथन किया जायेगा। प्राणायाम से शरीर स्वस्थता और कालज्ञान की प्राप्ति होती है।

योग के आठ अग के अनुसार हरिभद्राचार्य ने[११४] आठ दृष्टियाँ मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, काता, प्रभा, और परा। आठ बोध की प्रभा (दृष्टान्त) - तृण अग्नि कण, गोमय अग्नि कण, काष्ठ अग्निकण, दीपप्रभा, रत्नप्रभा, ताराप्रभा, सूर्यप्रभा, और चन्द्रप्रभा। आठ दोष त्याग - खेद, उद्वेग,क्षेप, उत्थान, भ्राति, अन्यमुद, रुग् (रोग) और आसग। तथा आठ गुणस्थान - अद्वेष, जिज्ञासा, शुश्रूषा, श्रवण, बोध, मीमांसा, प्रतिपत्ति और प्रवृत्ति का प्रतिपादन किया है। इनमें प्रथम की चार दृष्टियाँ मिथ्यात्व प्रधान हैं और शेष चार सम्यक्त्वप्रधान है। ये आठों ही दृष्टियाँ अष्टागों से समन्वित हैं।

यम

मित्रादृष्टिवाले अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, इन पाँच यमों का पालन करते हैं। किन्तु उनका 'दर्शन' 'तृणाग्नि' की तरह मंद होता है। सेवा, भक्ति, प्रभु वन्दन, भगवत्स्मरणादि क्रिया के कारण दूसरों पर द्वेष भावना नही जागती। प्रथम दृष्टि बीज रूप होती है। यह अवस्था 'पुद्गलपरावर्त' स्थिति में आने के बाद आती है। इसलिये प्रथम दृष्टि में आन्तरिक गाढ़ मल का ह्रास हो जाता है और जीव को 'यथाप्रवृत्तिकरण' की स्थिति प्राप्त होती है। यह यथाप्रवृत्तिकरण 'अपूर्व करण' के समीप होने से आगे का मार्ग सरल बना देता है। इसलिये यम की साधना मनोनिग्रह में सहायक बनती है। सत्रह (५ महाव्रत, ५ इन्द्रियविजेता, ४ कषाय, और ३ योगों की गुप्ति) प्रकार के सयम पालक यमी कहलाते हैं।[११५]

नियम

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान ये पाँच नियम हैं। इसमें तारा दृष्टि होने के कारण कषाय की मन्दता गोमयअग्नि कण की तरह होती है। उद्वेग का नाश होकर जिज्ञासावृत्ति जागती है।[११६]

यम नियम को पहले क्यों लिया?

अहिंसा आदि पाँच यमों का सामान्यत सभी धर्म वाले पालन करते हैं। इसलिये

इसे महाव्रत की सज्ञा दी गई है। 'वितर्क' (हिंसा झूठ चोरी मैथुन परिग्रह) जनित बाधाओं का प्रभाव यम के चिन्तन से हल्का पड़ जाता है और विघ्नों का नाश कराता है। 'वितर्क' नाम से घोषित हिंसा आदि के सत्ताइस-सत्ताइस भेद होते हैं। क्रोध, लोभ, मोह से हिंसा करना कराना और अनुमोदना ऐसे नौ भेद हुए। प्रत्येक के मृदु, मध्य और तीव्र ऐसे तीन भेद होने के कारण सत्ताइस भेद होते हैं। उन प्रत्येक सत्ताइस भेदों के पुन मृदु, मध्य और तीव्र ऐसे तीन भेद होने के कारण इक्कासी (८१) भेद हो जाते हैं। हिंसादी 'वितर्क' का फल अनन्त अज्ञान और अनन्त दु ख है। इनसे मुक्ति पाने के लिये जैसे जैसे यम का चिन्तन बढ़ता जाता है। वैसे वैसे अज्ञानता का गाढ़ अधकार दूर होता जाता है। अहिंसा की साधना से जन्मजात वैरी भी मित्र बन जाते हैं। हिंसक प्राणी भी नतमस्तक हो जाते हैं। सत्यव्रत की आराधना से वचनसिद्धि प्राप्त होती है। अस्तेयव्रत की साधना से सर्व दिशाओं के रत्ननिधान उपस्थित होते हैं। ब्रह्मचर्य की साधना से वीर्य बल प्राप्त होता है। अपरिग्रह की आराधना के उत्कर्ष से पूर्व जन्म का स्मरण होता है। इसलिये अष्टागयोग में यम को प्रथम स्थान दिया है।[११७]

शौचादि नियम की आराधना से साधक को वैराग्य भावना, ममत्व त्याग, सत्त्वबल, मानसिक उल्लास, एकाग्रता, इन्द्रियजय, तथा आत्मस्वरूप को देखने की योग्यता प्राप्त होती है। सतोष से उत्तम सुख, स्वाध्याय से इष्टदेव दर्शन, तप से भिन्न-भिन्न प्रकार की सिद्धियाँ तथा ईश्वर प्रणिधान से समाधि (धर्मध्यान) की अवस्था प्राप्त होती है।[११८] इसलिये योगागों में यम-नियम को प्रथम स्थान दिया गया है। जीवन विकास में ये दोनों भूमिका रूप हैं। ये दो न हो तो जीवन विकास सभव नही है। इन दोनों की स्थिरता के बाद ही साधक आसनादि में स्थिरता ला सकता है। सम्यक्त्व प्राप्ति के बाद ही जीवन में स्थिरता आती है।

आसन

आत्मजिज्ञासु साधक समाधि सिद्धि के लिये गोदोहिकासन, उत्कटासन, वीरासन, पर्यंकासन, सुखासन, आदि आसनों से कायोत्सर्ग करते हैं। इसमें 'बला' दृष्टि होने से क्षेप दोष का नाश होकर शुश्रूषा प्रवृत्ति निर्माण होती है। कषाय की मन्दता 'काष्ठाग्नि' कण के समान होती है। आसन में आने वाले व्यवधानों का बल क्षीण होता जाता है और तत्त्व शुश्रुषा की प्राप्ति से कर्मक्षय नाशक अन्य साधन भी सुलभ बन जाते हैं।[११९]

प्राणायाम

प्राणायाम के मुख्यत दो प्रकार हैं - द्रव्य और भाव। द्रव्य प्राणायाम में पवन की साधना की जाती है। पवन पाँच प्रकार का है - प्राण अपान, समान उदान, और व्यान। श्वास - निश्वास का व्यापार प्राणवायु है। मलमूत्रादि एव गर्भादि को बाहर लाने वाला

सुख ही वास्तव में सच्चा सुख है। धारणा के विषय में चित्त की एक समान परिणाम धारा को ध्यान कहा जाता है।[131] इस स्थिति में आत्मविकास अधिक होता है। ध्यानावस्था का परिणाम प्रवाह सतत चलता रहता है। इस अवस्था को 'असगानुष्ठान' कहते हैं।[132]

समाधि

ध्यान जब स्वरूपमात्रनिर्भास की स्थिति में पहुँचता है तब उसे समाधि कहा जाता है। ध्यान में ध्यानाकार - वृत्ति होती है, उस ध्यानाकार वृत्ति के नष्ट होते ही वह ध्यान विशेषदर्शक 'समाधि' नाम से पहचाना जाता है। परम समाधि अवस्था शुक्लध्यान के तीसरे चौथे भेद में प्राप्त होती है।[133] आठवी 'परा' दृष्टि समाधिनिष्ठ होती है। 'चन्द्रप्रभा' की तरह 'प्रवृत्ति' गुण के विकास 'आसग' दोष का नाश करके अध्यात्म जीवन की उत्कृष्ट दशा को प्राप्त करता हुआ 'धर्म सन्यास' के बल से केवलज्ञान को प्राप्त करता है। इसके बाद अयोगात्मक अवस्था को प्राप्त करके मोक्ष को प्राप्त करता है।[134]

आठ दृष्टियों के लक्षण - मित्रा का मैत्री, तारा का मानसिक विकास, बला का साधन बल, दीप्रा का अन्त करण दीप्ति, स्थिरा में स्थिर तत्त्व भूमि, कान्ता में उज्वल साम्य, प्रभा में ध्यान ज्योति, परा में परम समाधि भाव होता है।[135]

इस प्रकार अष्टाग योग और दृष्टियाँ मनोनिग्रह के सर्वोच्च साधन हैं।

मन के भेद

हेमचन्द्राचार्य एव आचार्य तुलसी ने क्रमश मन के चार और छह भेद बताये हैं[136] विक्षिप्तमन, यातायात मन, श्लिष्ट मन, सुलीन मन एव मूढ़ तथा निरुद्ध मन। विक्षिप्त मन चचल रहता है जिसके कारण यत्र -तत्र भटकता रहता है। परन्तु यातायात मन कुछ आनन्ददायक होता है। इस मन की स्थिति झूले की तरह होती है। श्लिष्ट मन स्थिर एव आनदप्रधान होता है। इस अवस्था की स्थिति जब अधिक स्थिर हो जाती है तो वह सुलीन मन कहलाता है। मिथ्यादृष्टि और मिथ्याचार में रमण करने वाला मन मूढ़ कहलाता है। मूढ़ मन वाले साधक ध्यान के अधिकारी नहीं बन सकते। विक्षिप्त और यातायात मन योग का प्रारभ करने वाले साधक में होता है। श्लिष्ट और सुलीन मन अपने-अपने योग्य विषय को ग्रहण करते हैं। बाह्यालम्बन से रहित होकर केवल आत्मपरिणत में रमण करनेवाला मन निरुद्ध कहलाता है। यह अवस्था वीतरागी को ही प्राप्त है।

(३) ध्यान का अधिकारी कौन?

आकाश अनन्त है। उसे दो भागों में विभाजित किया गया है-लोकाकाश और अलोकाकाश। लोकाकाश की अपेक्षा अलोकाकाश अनन्तगुणा बड़ा है। किन्तु लोकाकाश

में ही चेतन और अचेतन तत्त्व का अस्तित्व है। इसी में चारों गति के जीव समाविष्ट हैं। एक सूई के अग्र जितनी भी जगह शेष नही रही कि जहाँ हमने अथवा अन्य सभी योनियों के जीवों ने जन्म न लिया हो। समस्त लोकाकाश में सूक्ष्म और बादर जीव विद्यमान हैं। जीवों का प्रथम निवासस्थान निगोद है। अनन्तानन्त काल उसमें व्यतीत करने के बाद जब जीव की विकास हेतु आगे प्रगति होती है तो सूक्ष्म निगोदावस्था से निकलकर बादर में प्रवेश करते हैं। पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और वनस्पतिकाय को प्राप्त करते हुए उसमें भी अनन्तानन्त काल व्यतीत करके विकलेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय को प्राप्त करते हैं। बाद में पुण्यवानी के बल से पचेन्द्रिय में प्रवेश पाते हैं। उसमें नरक तिर्यंच देव और मनुष्य बनकर जीवन का अनन्तानन्त काल व्यतीत करते हैं। उनमें जीवों की दो अवस्थायें होती हैं - भव्य और अभव्य। जिस जीव में मोक्षावस्था प्राप्त करने की योग्यता होती है उसे भव्य कहते हैं और इससे भिन्न अभव्य हैं। जीव दो पर्यायों में सतत रमण करता रहता है।[१३७] स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय। चारों की गति में परिभ्रमण करना विभावपर्याय है और कर्मोपाधिरहित पर्याय स्वभाव पर्याय है। विभाव पर्याय के कारण ही जीव अनादिकाल से अचरमावर्तकाल में अनन्तानन्त भव व्यतीत करता है। इस स्थिति में स्थित जीवात्मा के अन्दर मैत्र्यादि गुण नही होते तथा मोक्ष के प्रति राग भाव भी नही होता। इस अवस्था का दूसरा नाम कृष्णपाक्षिक भी है।[१३८] इस अवस्था में जीव को मोक्ष प्राप्त होता ही नही। भव्यात्मा में ही मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता है।

'अचरमावर्त' और 'चरमावर्त' ये दोनों ही शब्द जैन परपरा के पारिभाषिक शब्द हैं। जब तक आत्मा अन्तिम पुद्गलपरावर्तन काल में प्रविष्ट नही होता तब तक गाढ़ कर्मावरण के कारण जीव धर्म बोध प्राप्त नही कर सकता। चाहे फिर वह मदिर में जाये, गुरु वन्दन करे, दानादि क्रिया करे, भक्ति करे किन्तु ये सारी क्रियायें ज्ञानदर्शनचारित्र लक्ष्मी न होने के कारण भव तारक नही बनती हैं। अचरमावर्तावस्था में ही भटकानेवाली होती हैं। अत अचरमावर्त काल ससारवर्धक है तथा धर्म का हरण करने वाला है।[१३९]

चरम+आवर्त=चरम का अर्थ अन्तिम और आवर्त का अर्थ घुमाव है। प्रत्येक जीवात्मा ने इस चरमावर्तकाल में भी अनन्तानन्त पुद्गलपरावर्त पसार किये। 'तथाभव्यत्व' का उदय होते ही जीव में धर्म सन्मुख होने की योग्यता प्राप्त होती है।[१४०] इस अवस्था को जैन परिभाषिक शब्दावली में 'अपुनर्बंधक' कहते हैं।

ज्ञानियों के कथनानुसार ध्यान के अधिकारी १. अपुनर्बंधक, २ सम्यग्दृष्टि (सम्यग्दर्शन) ३ चारित्र आत्मा हैं।[१४१] इस विभाग में देशविरति और सर्वविरति दोनों ही प्रकार के साधक आते हैं।

अपुनर्बन्धक

ध्यान के अधिकारी की प्रथम अवस्था अपुनर्बन्धक की है। इस अवस्था में जीवात्मा चरमावर्तावस्था में विद्यमान रहता है। चरमावर्तावस्था ही शुक्लपाक्षिक अवस्था कहलाती है।[१४२] चरमावर्त में विद्यमान जीव के लक्षण निम्नलिखित हैं[१४३] १ दु खियों के प्रति अत्यन्त दया, २ गुणी लोगों के प्रति अद्वेष भावना और ३ सर्वत्र औचित्य सेवन (अभेद रूप) से उचित सेवा। यह स्थिति बीज रूप है। यही से आत्मा विकासगामी बनता है। ग्रन्थि भेद एव चारित्र पालन की योग्यता इसी अवस्था में होती है। जमीन में बीज बोने पर एव हवा, जल, प्रकाश का योग मिलने पर वह विकसित होता है वैसे ही सत्तरकोड़ाकोडी सागरोपम स्थिति वाले मोहनीय कर्म का पुन बन्ध न करने वाला अपुनर्बन्धक जीव मार्गाभिमुख मार्गपतित मार्गानुसारी गुणों के सहयोग से आगे विकास करता है।[१४४] इस विकास भूमि पर आरोहन होने वाले साधक के लिये कुछ सोपान होते हैं जिन्हें जैन पारिभाषिक शब्द में 'पूर्व सेवा' संज्ञा से उद्घोषित करते हैं। गुरुओं की सेवा, परमात्म भक्ति, आचार विचार शुद्धि, देवपूजा, सदाचार, तप और मुक्ति के प्रति अद्वेष वृत्ति। इन सवके समन्वित रूप को 'पूर्व सेवा' की सज्ञा दी है।[१४५]

माता पिता, विद्यागुरु, धर्मगुरु, कलाचार्य आदि को 'गुरु' पद के अन्तर्गत माना गया है। प्रथम माता पिता को स्थान देने का कारण वे अधिक उपकारी होते हैं। इसलिये उनका आदर सत्कार करना, आज्ञा पालन करना, उनकी निंदा नही करना, उन्हें पूजनीय मानना। इनके अतिरिक्त वृद्ध, ग्लान, दीन, दु खी, रोगी, पीड़ित जन की सेवा करना, उन्हें पूजनीय मानना। सेवा कल्याणपदगामिनी है। 'सेवा' को ही जीवन मत्र बनाना चाहिये। वह गुरुभक्ति, जिनभक्ति, और श्रुतभक्ति का आराधक बन सकता है। अपुनर्बंधक आत्मा गुरु को वस्त्र, पात्र, आसनादि से सम्मानित करता है, उनकी निंदा नही करता, सदा सर्वदा उनका गुणानुवाद ही गाता रहता है। गुरु के सम्मुख जाना, उन्हें सम्मान से आसन देना, देव, गुरु, धर्म का पूजन करना, दानादि क्रिया, वन्दनादि क्रिया, लेखन, पूजन, वाचन, स्वाध्याय आदि करना ये सभी योगारूढ होने के साधन हैं। परमात्मगुणों द्वारा स्व का चिन्तन करना ही पूजा है। आन्तरिक बुराइयों को क्रियाकाड, पूजाविधि द्वारा निर्मल बनाना योगारूढ़ के लिये बीज रूप हैं। ये सब बातें गुरु वर्ग में आती है।[१४६]

लोकापवाद भीरू, सरल स्वभावी, सुदाक्षिण्य, कृतज्ञता, गुणग्राही, उदारवृत्ति, समवृत्ति, व्यवहार कुशल, दोषगुणों से रहित, आलस्य का त्यागी, विवेकज्ञ, विशेषज्ञ,

विनय नम्रता गुण सम्पन्न, सत्पथगामी, कष्ट सहिष्णु, समभाव गुण सम्पन्न, निंदक कार्यवर्जित आदि गुणों से युक्त आचरण ही सदाचरण है।[१४७]

आगम में तप के अनेक प्रकार बताये हैं। शरीरशुद्धि , चित्तशुद्धि के लिये कषाय, विषय रहित होकर तप करना ही वास्तविक तप है। उपवास का अर्थ आत्मा में वास करना है। 'अनाहार' (विदेह) पद की प्राप्ति के लिये विवेक एव स्वशक्ति अनुसार तपाराधना करना ही श्रेयस्कर है। जिससे दुर्ध्यान उपस्थित न हो, योगों को हानि न पहुँचे, इन्द्रियाँ क्षीण न हों ऐसे सद् विचारपूर्वक तप करना चाहिये। कम खाना, गम खाना और नम जाना तप ही है। रसविजेता बनकर इच्छा निरोध करना तप है। जिससे स्वस्वरूप की प्राप्ति होकर शीघ्र सिद्धत्व की प्राप्ति होती है।[१४८] इस प्रकार 'पूर्व सेवा' के रूप में योगारोहन के सोपान बताये हैं। 'पूर्व सेवा' के उपाय से मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति जीव दो बार ही बांधता है। ऐसी अवस्था को जैन पारिभाषिक शब्द में 'द्विबन्धक' कहते हैं और जो एक ही बार बाधता है, वह 'सकृत् बन्धक' कहलाता है। यथाप्रवृत्ति करण के विशेष प्रभाव से मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति एक बार भी बाधी नही जाती उस जीवात्मा की अवस्था 'अपुनर्बन्धक' कहलाती है। इस अवस्था में सम्यक्त्व की प्राप्ति नही होती है। किन्तु अपुनर्बन्धक अवस्था बीज रूप होने के कारण कालान्तर में मोक्ष वृक्ष निर्माण होता ही है।[१४९] क्योंकि तथाभव्यता के परिपाक से जब जीव चरम पुद्गल परावर्त में होता है तब उसे सशुद्ध चित्त की प्राप्ति होती है तथा [१५०] सशुद्धि चित्त वाले को ही योगबीज रूप अपुनर्बन्धक अवस्था की प्राप्ति होती है। अपुनर्बन्धक जीव तीव्र पाप भावों का बध नही करता, अनासक्त भाव से व्यवहारिक और धार्मिक कार्यों में न्याय सम्पन्न रहता है।[१५१] इस मार्ग पर चलने वाला ध्यान साधना का प्रथम अधिकारी आगे चलकर 'ग्रन्थि भेद' से 'सम्यग्दर्शन' को प्राप्त कर सकता है।

सम्यग्दृष्टि

ध्यान साधना का द्वितीय अधिकारी सम्यग्दृष्टि जीव है। भव्यात्मा सकृत्बन्धक से अपुनर्बन्धक भाव के मार्गाभिमुख मार्गपतित मार्गानुसारी गुणों द्वारा जीवन विकास के पथ पर आरूढ होकर मन्द मिथ्यात्व दशा को प्राप्त करके कालादिलब्धि द्वारा क्रमश विकासोन्मुख बनता जाता है। कालादिलब्धि में करणलब्धि मुख्य है जिसका स्वरूप निम्न प्रकार का है -

ग्रन्थि भेद -जन्य औपशमिक सम्यक्त्व अनादि मिथ्यात्वी भव्य जीवों को प्राप्त होता है। प्राप्ति के समय जीवों द्वारा यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण - ऐसे तीन करण (प्रयत्न विशेष) किये जाते हैं। उनकी प्रक्रिया निम्नलिखित है।[१५२]

यथाप्रवृत्ति करण

जीव अनादि काल से ससार में घूम रहा है और तरह-तरह से दु ख उठा रहा है। जिस प्रकार पर्वतीय नदी में पडा हुआ पत्थर लुढ़कते -लुढ़कते इधर-उधर टक्कर खाता हुआ गोल और चिकना बन जाता है, उसी प्रकार जीव भी अनन्तकाल से दु ख सहते सहते कोमल शुद्ध परिणामी बन जाता है। परिणाम -शुद्धि के कारण जीव आयु कर्म के सिवाय शेष सात कर्मों की स्थिति पल्योपम के असख्यातवें भाग कम एक कोड़ा-कोड़ी सागरोपम जितनी कर देता है। इस परिणाम को यथाप्रवृत्तिकरण कहते हैं। यथाप्रवृत्तिकरण वाला जीव रागद्वेष की मजबूत गाँठ तक पहुँच जाता है। किन्तु उसे भेद नहीं सकता, इसको ग्रथिदेश प्राप्ति कहते हैं। कर्म और रागद्वेष की यह गाठ क्रमश दृढ और गूढ रेशमी गाठ के समान दुर्भेद्य है। यथाप्रवृत्तिकरण अभव्य जीवों के भी हो सकता है। कर्मों की स्थिति कोड़ा -कोड़ी सागरोपम के अन्दर करके वे जीव भी ग्रन्थिदेश को प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु उसे भेद नही सकते।

अपूर्व करण

जब कर्मों की इस प्रकार से मर्यादित कालस्थिति हो जाती है तब जीव के समक्ष एक अभिन्न ग्रन्थि आती है। तीव्र रागद्वेष परिणामस्वरूप यह ग्रन्थि होती है। उस ग्रन्थि का सर्जन अनादि कर्म परिणाम द्वारा होता है। अभव्य जीव यथाप्रवृत्तिकरण से ज्ञानावरणादि सात कर्मों की दीर्घ स्थिति को क्षय करके अनन्त बार इस ''ग्रन्थि'' के द्वार पर आते हैं। किन्तु ग्रन्थि की भयकरता देखकर ग्रन्थि को भेदने की कल्पना भी नही कर सकते तो भेदने का पुरुषार्थ दूर रहा, वह तो वहाँ से ही पुन लौट जाता है और सक्लेश भावों में फस जाता है। सक्लेश भावों के कारण पुन कर्मों की स्थिति उत्कृष्ट बाध लेता है। भव्य जीव भी अनन्त बार ग्रन्थि प्रदेश के द्वार पर आकर उसकी भयकरता को देखकर वापिस लौट जाता है। किन्तु जब भव्य जीव जिस परिणाम से रागद्वेष की दुर्भेद्य ग्रन्थि को तोड़कर लाघ जाता है, उस परिणाम को अपूर्वकरण कहते हैं। अपूर्वकरण भव्यात्मा के जीवन में दो बार होता है। पहले अपूर्वकरण का फल ग्रन्थि भेद और भी अपूर्वकरण का फल सम्यग्दर्शन है तथा दूसरा अपूर्वकरण श्रेणी रोहण के समय है। अत अपूर्वकरण दो हैं - ग्रन्थिभेद जन्य और उपशम क्षपक श्रेणी भावी।

इसे 'अपूर्वकरण' कहने का कारण इसमें स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणी, गुण सक्रमण और अपूर्व स्थिति बध ऐसे पाँच कार्य अपूर्व होते हैं, जो पूर्व कभी हुये नहीं थे। इन पाँच ''अपूर्व'' अध्यवसायों का आगे वर्णन करेंगे। अपूर्वकरण का परिणाम जीव को बार बार नही आता, कदाचित ही आता है, इसलिये इसका नाम अपूर्वकरण है। यथाप्रवृत्तिकरण तो अभव्य जीवों को भी अनन्त बार आता है। किन्तु अपूर्वकरण भव्य जीवों को भी अधिक बार नही आता।

अनिवृत्तिकरण

अपूर्वकरण द्वारा राग-द्वेष की दुर्भेद्य गांठ टूटने पर जीव के परिणाम अधिक शुद्ध होते हैं, उस समय अनिवृत्तिकरण होता है। इस परिणाम को प्राप्त करने पर जीव सम्यक्त्व प्राप्त किये बिना नही लौटता है। इसीलिये इसका नाम अनिवृत्ति करण है। तीनों ही करण की स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। इस अनिवृत्तिकरण नामक परिणाम के समय वीर्य समुल्लास -सामर्थ्य भी पूर्व की अपेक्षा अधिक बढ़ जाता है।

अन्तरकरण

अनिवृत्तिकरण की जो अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति बतलाई गई है, उस स्थिति का एक भाग शेष रहने पर 'अन्तर करण' की क्रिया शुरू होती है - अनिवृत्तिकरण के अन्त समय में मिथ्यात्व मोहनीय के कर्मदलिकों को आगे पीछे कर दिया जाता है। कुछ दलिकों को अनिवृत्तिकरण के अन्त तक उदय में आनेवाले कर्म-दलिकों के साथ कर दिया जाता है और कुछ को अन्तर्मुहूर्त बीतने के बाद उदय में आने वाले कर्मदलिकों के साथ कर दिया जाता है। इससे अनिवृत्तिकरण के बाद का एक अन्तर्मुहूर्त काल ऐसा हो जाता है कि जिसमें मिथ्यात्व मोहनीय का कोई कर्मदलिक नही रहता। अतएव जिसका आबाधाकाल पूरा हो चुका है - ऐसे मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के दो विभाग हो जाते हैं। एक विभाग वह है, जो अनिवृतिकरण के चरम समय पर्यन्त उदय में रहता है और दूसरा वह जो अनिवृत्तिकरण के बाद एक अन्तर्मुहूर्त बीतने पर उदय में आता है। इनमें से पहले विभाग को मिथ्यात्व की प्रथम स्थिति और दूसरे को मिथ्यात्व की द्वितीय स्थिति कहते हैं। अन्तरकरण क्रिया के शुरू होने पर अनिवृत्तिकरण के अन्त तक तो मिथ्यात्व का उदय रहता है, पीछे नही रहता है। क्योंकि उस समय जिन दलिकों के उदय की संभावना है, वे सब दलिक अन्तकरण की क्रिया से आगे और पीछे उदय में आने योग्य कर दिये जाते हैं।

अनिवृत्तिकरण काल के बीत जाने पर औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है। इसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त की होती है। औपशमिक सम्यक्त्व का समय पूर्ण होने पर जीव के परिणामानुसार तीन पुज होते हैं - शुद्ध, अशुद्ध और अर्द्ध शुद्ध। इनमें से कोई एक अवश्य उदय में आता है। परिणामों के शुद्ध रहने पर शुद्ध पुज उदय में आता है, उससे सम्यक्त्व का घात नही होता। उस समय प्रगट होने वाले सम्यक्त्व को क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। जीव के परिणाम अर्द्ध विशुद्ध रहने पर दूसरे पुज का उदय होता है और जीव मिश्रदृष्टि कहलाता है। परिणामों के अशुद्ध होने पर अशुद्ध पुज का उदय होता है और उस समय जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

औपशमिक सम्यक्त्व के काल को उपशान्ताद्धा कहते हैं। अन्तर्मुहूर्त प्रमाण उपशान्ताद्धा में जीव शान्त, प्रशान्त, स्थिर और पूर्णानन्द वाला होता है। औपशमिक

सम्यक्त्व के प्राप्त होते ही जीव को स्पष्ट एवं असदिग्ध प्रतीति होने लगती है। क्योंकि उस समय मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का विपाक और प्रदेश दोनों प्रकार से उदय नही होता। इसलिये जीव का स्वाभाविक सम्यक्त्व गुण व्यक्त होता है।

दृष्टि की निर्मल स्थिति को 'सम्यक्त्व' कहते हैं। 'सम्यक्त्व' की मुद्रा प्राप्त किये बिना मोक्ष नही मिलता। मोक्ष का मुख्य साधन ध्यान है। 'सम्यग्दर्शन' की प्राप्ति के बाद ही ध्यान की योग्यता प्रारभ होती है। इसलिये सम्यग्दृष्टि जीव का स्वरूप - धर्म श्रवण करने की श्रद्धा, धर्म के प्रति प्रीति, गुरु आदि की नियमित परिचर्या करना है।[१५३]

चारित्र (चारित्री)

चारित्र का अर्थ समता है। सम्यग्दर्शन के बाद ही श्रावक और श्रमण क्रमश बारह व्रतों की आराधना और पाँच महाव्रत पाँच समिति तीन गुप्ति की सम्यक् साधना से विकासोन्मुखी बनते हैं। देशविरति श्रावक ध्यान का तीसरा अधिकारी है और सर्वविरति श्रमण चतुर्थ अधिकारी है।[१५४] अप्रमत्त अवस्था ही ध्यान की अवस्था है। प्रमादी साधक कभी भी ध्यान नही कर सकता। अप्रमत्त साधक ही श्रेणी – उपशम और क्षपक श्रेणी द्वारा ध्यान में विकास करते हुए कर्मक्षय करके सिद्धत्व को प्राप्त करते हैं।

ध्यान के सोपान

आगमानुसार ध्यान के दो सोपान माने गये हैं – छद्मस्थ का ध्यान और जिन का ध्यान। मन की स्थिरता छद्मस्थ का ध्यान जो अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है और जिन का ध्यान काया की स्थिरता है।[१५५] इसलिये योगनिरोध जिन का ध्यान है। जिन्होंने स्वरूपोपलब्धि में बाधक राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोध, आदि भावकर्मों को एव ज्ञानावरणादि रूप द्रव्यकर्मों को जीत लिया है, उन्हें जिन छद्मस्थ के सुस्थिर मन को ध्यान कहते हैं वैसे ही केवलज्ञानी की काया का सुस्थिर होना ध्यान कहलाता है।[१५६] यहाँ 'ध्यान' शब्द का अर्थ निश्चलता है फिर चाहे वह मन की निश्चलता हो या काया की निश्चलता हो, दोनों ही ध्यान स्वरूप हैं।

तीसरे शुक्लध्यान के समय सूक्ष्म काययोग होने से 'काय निश्चलता' स्वरूप ध्यान होगा, किन्तु चौथे शुक्लध्यान के समय सर्व योगों का सर्वथा निरोध होने से (अयोगी अवस्था होने से) काय स्थिर करने का कार्य ही नही तो फिर ऐसी अवस्था में ध्यानरूपता कैसे? अनुमान प्रयोग से इसमें ध्यानरूपता सिद्ध होती है, क्योंकि अनुमान में पक्ष, साध्य, हेतु, दृष्टान्त होते हैं वैसे ही चार हेतुओं द्वारा अनुयोग प्रयोग से ध्यानरूपता सिद्ध की जाती है। 'भवस्थ केवली' की सूक्ष्म क्रिया एव व्युपरत - समुच्छिन्न - व्यवच्छिन्न क्रिया ये दोनों ही क्रिया ध्यान स्वरूप ही है।

काययोग का निरोध करने वाले सयोगी केवली को अथवा शैलेशी अवस्था वाले अयोगी केवली को चित्त (मनोयोग) नही होता फिर भी ऊपर बतायी हुई सूक्ष्म क्रिया अनिवर्ती और व्युपरत क्रिया अप्रतिपाती अवस्था निम्न कारणों से ध्यान कहलाती है - १. पूर्व प्रयोग होने से, २ कर्मनिर्जरा का हेतु होने से, ३. शब्द के अनेक अर्थ होने से और ४. जिनेन्द्र का आगम वचन होने से। इनका स्वरूप इस प्रकार है - 'पूर्व प्रयोग' में कुम्हार के चक्र का भ्रमण है। चक्र घुमानेवाले दण्ड की क्रिया बद होने पर भी पूर्व प्रयोग के कारण बाद में दण्ड के बिना भी चक्र चालू ही रहता है, इसी प्रकार मनोयोग आदि का निरोध होने पर भी आत्मा का ज्ञानोपयोग चालू ही रहता है और उसमें भाव मन होने के कारण वह ध्यान रूप है। 'कर्म निर्जरा' सूक्ष्म क्रिया और समुच्छिन्न क्रिया को ध्यान कहने का कारण क्षपक श्रेणी है। क्षपक श्रेणी में घातिकर्मों का क्षय करने वाला 'पृथक्त्व-वितर्क-सविचार, एकत्व वितर्क अविचार' ध्यान है। 'शब्द के कई अर्थ' एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। यहाँ ध्यान शब्द का अर्थ 'उपयोग' है। 'ध्यै' धातु से बने ध्यान शब्द के 'स्थिर चिन्तन', 'कायनिरोध', और 'अयोगी अवस्था' आदि अनेक अर्थ होते हैं। इसलिये सूक्ष्म क्रिया और समुच्छिन्न क्रिया की अवस्था ध्यान स्वरूप ही है। 'जिनेन्द्र कथित आगम वचन' जिनागम वचन के अनुसार जिन का ध्यान ध्यान रूप ही है। आत्मा, कर्म, ध्यान एव अतीन्द्रिय पदार्थ सर्वज्ञ वचन से ही जाने जा सकते हैं, तर्क से नही।[१५७]

तुलनात्मक विवरण

ध्यान और लेश्या

आत्मा का स्वाभाविक स्वरूप स्फटिक मणि के समान निर्मल है। लेकिन कषायोदय से अनुरजित योग की प्रवृत्ति के द्वारा होने वाले उसके भिन्न-भिन्न परिणामों को - जो कृष्ण-नील-कापोत आदि अनेक रगवाले पुद्गल - विशेष के प्रभाव से होते हैं - लेश्या कहते हैं। कषाय और योग ही मुख्य कर्म बन्धन के कारण हैं। प्रकृतिबंध और प्रदेशबन्ध का सबध योग से है और स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध का कषाय से है। कषाय के कारण ही आत्मा में लेश्या द्वारा चारों प्रकार के बध होते हैं। जब कषायजन्य बध होता है, तब लेश्याएं कर्मस्थिति वाली होती हैं। किन्तु अकेले योग में स्थिति और अनुभाग नही होता जैसे कि तेरहवें गुणस्थानवर्ती अरिहन्तों के ईर्यापथिक क्रिया होने पर भी उनमें स्थिति, काल, और अनुभाग नही होता। कषायों के तरतम भावों के कारण ही अशुद्धतम, अशुद्धतर, अशुद्ध, शुद्ध, शुद्धतर, शुद्धतम, जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट, मन्दतम, मंदतर, मन्द, तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, आदि विविध प्रकार से भाव लेश्या का वर्गीकरण किया गया है। शास्त्र में लेश्या के दो प्रकार हैं - द्रव्य - लेश्या और भावलेश्या। नाम और स्थापना को जोड़कर लेश्या के चार प्रकार भी वर्णित है। 'लेश्या' यह नामलेश्या है।

सद्भाव स्थापना और असद्भाव स्थापना से स्थापना लेश्या निक्षेप है। द्रव्य लेश्या दो प्रकार की मानी गई है - आगम द्रव्यलेश्या व नो आगम द्रव्यलेश्या। इनमें नो आगमद्रव्य लेश्या ज्ञायक शरीर, भावी और तद् व्यतिरिक्त रूप से तीन प्रकार की है। इनमें चक्षुइन्द्रिय के द्वारा ग्रहण करने योग्य पुद्गल स्कधों के वर्णन को तद् व्यतिरिक्त नो आगम द्रव्य लेश्या कहते हैं। वह कृष्ण, नील, कापोत, तेजो, पद्म और शुक्ल लेश्या छह प्रकार की है। आगम और नो आगम के भेद से भाव लेश्या भी दो प्रकार की है। इनमें कर्म -पुद्गलों के ग्रहण में कारणभूत मिथ्यात्व अविरत प्रमाद कषाय से अनुरजित योगप्रवृत्ति होती है। अत कषाय से उत्पन्न संस्कार का नाम नो आगम भाव लेश्या है।[१५८]

द्रव्य लेश्या पुद्गल-विशेषात्मक है और वह शरीर नाम कर्म के उदय से उत्पन्न होती है। इसीलिये वर्ण नाम कर्म के उदय से उत्पन्न हुए शरीर के वर्ण को द्रव्य लेश्या कहते हैं। उसके स्वरूप के बारे में मुख्यतया तीन मत हैं[१५९] १ कर्म-वर्गणा-निष्पन्न, २. कर्म-निष्यन्द (बध्यमान कर्म प्रवाह रूप) और ३ योगपरिणाम। लेश्या - द्रव्यकर्मवर्गणा से बने हुए होने पर भी वे ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों से भिन्न नही हैं, जैसे कि कार्मण शरीर। लेश्या द्रव्य बध्यमान कर्म प्रवाह रूप होने से चौदहवें गुणस्थान में कर्म के होने पर भी उसका निष्यन्द न होने के कारण लेश्या के अभाव की उपपत्ति हो जाती है। तेरहवें गुणस्थान तक भावलेश्या का सद्भाव समझना चाहिये। इसलिये योगप्रवृत्ति को लेश्या कहा है। भाव लेश्या आत्मा का परिणाम विशेष है और यह परिणाम सक्लेश एव योग से अनुगत है। सक्लेश का कारण कषायोदय है। इसीलिये कषायोदयानुरजित योग प्रवृत्ति को भाव लेश्या कहते हैं[१६०] द्रव्य और भाव लेश्या के साथ ध्यान का गहरा सबंध है। इसलिये चार ध्यानों में से प्रथम आर्तध्यानवर्ती के प्रथम तीन अशुभ लेश्याए होती हैं। किन्तु उनमें कषायोदय के अतिसंक्लिष्ट भाव नहीं होते। परन्तु रौद्रध्यान के ये ही तीन अशुभ लेश्याए (कृष्ण, नील, कापोत) होने पर भी तीव्र सक्लेश वाली होती हैं। धर्म ध्यान में स्थित आत्मा के पीत, पद्म और शुक्ललेश्या शुभ परिणामवाली होती हैं। वे क्रमश अधिकाधिक विशुद्धिवाली होती हैं क्योंकि उनमें कषायों का उदय मन्द मन्दतर मन्दतम होता है जिससे धर्मध्यान की प्राप्ति सभव ही है। शुक्लध्यान के प्रथम दो ध्यान के प्रकार शुक्ललेश्या वाले होते हैं, तीसरा भेद परमशुक्ललेश्या में होने से स्थिरता गुण के कारण मेरू को जीतने वाला होता है और अंतिम शुक्ल ध्यान का भेद लेश्यारहित होता है।[१६१]

इन छह लेश्याओं की पारिणामिक स्थिति निम्नप्रकार की है-[१६२]

कृष्ण लेश्या - कृष्णलेश्या वाले के परिणामों में कषायों की तीव्रतम स्थिति

होती है। इसीलिये वह तीव्र क्रोधादि कषाय को करने वाला होता है। धार्मिक आचार - विचारों से सर्वथा शून्य होता है एव सदैव कलह, परनिन्दा, ईर्ष्या, क्लेश, राग, द्वेष, शोकग्रस्त आदि में रत रहता है। स्वेच्छाचारी, इन्द्रिय विषयों में रत रहनेवाला, मायावी, लोभी, दंभी, मन वचन काय में सयम न रखनेवाला होता है। काजलादि के समान कृष्ण वर्ण के लेश्या जातीय पुद्गलों के सबध से आत्मा में ऐसे परिणामों का होना स्वाभाविक है।

नीललेश्या : अशोक वृक्ष के समान नीले रग के लेश्या पुद्गलों से आत्मा में ऐसा परिणाम उत्पन्न होता है कि जिससे द्वेष, ईर्ष्या, असहिष्णुता, छल कपट आदि होने लगते हैं। निर्लज्जता, कामुकता, कृत्याकृत्य की विवेकहीनता आ जाती है। विषयों के प्रति उत्कट लालसा होती है। इन परिणामों को नील लेश्या कहते हैं। इस लेश्या के परिणाम वाला दूसरों को ठगने में चतुर, धनधान्यादि के सग्रह में तीव्र लालसा रखनेवाले लोभी, कृपण आदि वृत्ति से युक्त होता है। इसके काषायिक परिणाम मन्दतर होते हैं।

कापोत लेश्या : कापोत लेश्या वाले के परिणाम कबुतर के गले के समान रक्त तथा कृष्ण वर्ण के पुद्गलों जैसे होते हैं। कापोत लेश्या वाले के परिणाम तीव्र तो होते हैं लेकिन कृष्ण और नील लेश्या वालों की अपेक्षा कुछ सुधरे हुए होते हैं । फिर भी दूसरों की निन्दा, चुगली आदि करने की ओर उन्मुख रहता है, स्वप्रशसा और परनिंदा करने में चतुर होता है। अहकार ममकार में डूबे रहने के कारण मन, वचन, काय की प्रवृत्ति में वक्रता ही वक्रता रहती है। किसी भी विषय में सरलता नही होती है और नास्तिकता रहती है।

ये तीनों ही अशुभ लेश्याए आर्त ध्यानी और रौद्रध्यानी के होती हैं। अत ये वर्जित हैं। कृष्ण, नील और कापोत लेश्याओं में काषायिक तीव्रतम तीव्रतर तीव्र परिणामों के होने के कारण कर्मों की स्थिति अति दीर्घ और दु खदायी होती है।

तेजो लेश्या : तोते की चोंच के समान रक्त वर्ण के लेश्या पुद्गलों से आत्मा में ऐसे परिणाम होते हैं जिससे कि विनय, विवेक, नम्रता आ जाती है, शठता और चपलता नही रहती है, धर्म रुचि दृढ होती है, दूसरों का हित करने की इच्छा होती है। तेजोलेश्या विकासोन्मुखी आत्मपरिणामों एव मदकषाय परिणामों का सकेत करती है। इस लेश्या के परिणाम वाला अपने कर्तव्य -अकर्तव्य का विवेक करने वाला होता है। दया-दान आदि कार्य करने में तत्पर रहता है।

पद्मलेश्या : हल्दी के समान पीले रग के लेश्या पुद्गलों से आत्मा में तेजोलेश्या वाले की अपेक्षा श्रेष्ठ परिणाम होते हैं जिससे काषायिक प्रवृत्ति काफी अंशों में कम हो जाती है। कषायों की स्थिति मदतर हो जाती है। वह तत्त्वजिज्ञासु होता है। व्रत-

शील आदि के पालन में तत्पर रहता है। सासारिक विषयों में उदासीन एवं साधु-जनों का प्रशसक होता है जिससे उसका चित्त प्रशान्त रहता है। आत्म संयम और जितेन्द्रिय की वृत्ति आ जाती है। यह परिणाम पद्मलेश्या का है।

शुक्ललेश्या : इस लेश्या वाला परम धार्मिक होता है। कषाय उपशात रहती है। वीतराग भाव सम्पादन करने की अनुकूलता आ जाती है। मन , वचन, काय की वृत्ति अत्यन्त सरल होती है। इस लेश्या के परिणाम शख के समान श्वेत वर्ण जैसे होते हैं।

तेजो, पद्म और शुक्ल ये तीनों ही शुभ लेश्याएं ध्यान में सहायक हैं। अत सतत इन्ही का आचरण करना चाहिये।

कृष्णादि छहों लेश्याओं की पारिणामिक स्थिति, सरेस के डालने से रग पक्का और स्थायी होता है, वैसे (कर्मबन्ध की स्थिति) ही दृढ़ होती है। परिणाम विशेष का नाम ही लेश्या है। इसलिये जामुन खाने के इच्छुक पुरुषों के दृष्टान्त द्वारा उन उन पुरुषों के अपने अपने तीव्र, मन्द, मध्यम या परिणाम वाले के समान उनकी लेश्या जाननी चाहिये।[१६३] इन छहों लेश्याओं में से अन्तिम शुभ लेश्याए ही ध्यान के लिये योग्य मानी गई हैं। इसलिये ध्यान और लेश्या का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

ध्यान और गुणस्थान मार्गणास्थान

जैन पारिभाषिक शब्दावली में 'गुणस्थान' और 'मार्गणास्थान' शब्द का उल्लेख है। आगमों में 'गुणस्थान' शब्द का प्रयोग देखने में नही आया है लेकिन 'जीवस्थान' अथवा 'भूतग्राम' शब्द के द्वारा गुणस्थान के अर्थ को अभिव्यक्त किया गया है और जीव स्थान की रचना का आधार कर्मविशुद्धि माना है।[१६४] अभयदेव सूरि ने भी जीव स्थानों (गुणस्थानों) को ज्ञानावरण आदि कर्मों की विशुद्धि से सम्पन्न कहा है।[१६५] आचार्य नेमिचन्द्र ने जीवों को गुण कहा है। इसलिये आगमगत 'जीवस्थान' शब्द के लिये 'गुणस्थान' शब्द का प्रयोग आचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थों एव कर्मग्रन्थों में किया गया है। उनका कथन है कि दर्शन मोहनीय आदि कर्मों की उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि अवस्थाओं के होने पर उत्पन्न होने वाले जिन भावों से जीव लक्षित होते हैं, उन भावों को सर्वज्ञ सर्वदर्शियों ने 'गुणस्थान' इस सज्ञा से निर्दिष्ट किया है।[१६६] सक्षेप, ओघ, सामान्य, जीवसमास, ये चारों शब्द गुणस्थान के समानार्थक हैं।[१६७]

जीवस्थान, मार्गणा स्थान और गुणस्थान यद्यपि ये तीनों जीव की अवस्थायें हैं, फिर भी इनमें यह अन्तर है कि जीवस्थान जाति -नाम-कर्म, पर्याप्त नाम कर्म और अपर्याप्त नामकर्म के औदयिक भाव हैं। मार्गणा का अर्थ है अनुसधान, खोज, विचारणा आदि। गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, सयम, ज्ञान, दर्शन, लेश्या, भव्य,

सम्यक्त्व, संज्ञी, आहार इन चौदह अवस्थाओं को लेकर जीव में गुणस्थान जीवस्थान आदि की मार्गणा - विचारणा, गवेषणा की जाती है, उन अवस्थाओं को मार्गणा कहते हैं। मार्गणा के स्थानों को मार्गणास्थान कहते हैं। मार्गणास्थान नामकर्म, मोहनीय कर्म, ज्ञानावरण दर्शनावरण और वेदनीय कर्म के औदयिक आदि भाव रूप तथा पारिणामिक भाव रूप है और गुणस्थान सिर्फ मोहनीय कर्म के औदयिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक भावरूप तथा योग के भावाभाव रूप है।[१६८]

मार्गणा और गुणस्थान में अंतर

मार्गणा में किया जाने वाला विचार कर्म अवस्थाओं के तरतम भाव का विचार नहीं है, किन्तु शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक भिन्नताओं से घिरे हुए जीवों का विचार मार्गणाओं द्वारा किया जाता है। जब कि गुणस्थान कर्मपटलों के तरतम भावों और योगों की प्रवृत्ति निवृत्ति का ज्ञान कराता है। मार्गणाए जीव के विकास क्रम को नही बताती हैं, किन्तु इनके स्वाभाविक वैभाविक रूपों का अनेक प्रकार से पृथक्करण करती हैं। जब कि गुणस्थान जीव के विकास-क्रम को बताते हैं और विकास की क्रमिक अवस्थाओं का वर्गीकरण करते हैं। मार्गणाएं सहभावी हैं और गुणस्थान क्रमभावी हैं।

मार्गणाओं में जीव की गति, शरीर, इन्द्रिय आदि की मार्गणा-विचारणा, गवेषणा के साथ उनके आन्तरिक भावों, गुणस्थानों जीवस्थानों आदि का भी विचार किया जाता है।[१६९] विचारणा की धारा ही ध्यान की अवस्था है। ध्यान बल से जीव चौदह मार्गणाओं द्वारा अपने स्वरूप की गवेषणा करता है।

आगम में चौदह गुणस्थानों (जीवस्थानों) का वर्णन है। उनके नाम निम्नलिखित हैं।[१७०] मिथ्यादृष्टि, सासादण सम्यग्दृष्टि, सम्यक् मिथ्यादृष्टि, अविरत सम्यग्दृष्टि, विरताविरत, पमत्तसंयत्त, अपमत्तसयत्त, नियट्टिबादर, अनियट्टिबादर, सूक्ष्म सपराय, उपशान्त मोहनीय, क्षीण मोहनीय, सयोगी केवली और अयोगी केवली गुणस्थान। आगमेतर ग्रन्थों में गुणस्थानों के नाम कुछ भिन्न प्रतीत होते हैं किन्तु अर्थ में कोई अन्तर नही।

गुणस्थान के इन चौदह भेदों में पहले की अपेक्षा दूसरे में, दूसरे की अपेक्षा तीसरे में इस प्रकार पूर्व-पूर्ववर्ती गुणस्थान की अपेक्षा पर-परवर्ती गुणस्थान में विकास की मात्रा अधिक होती है, किन्तु दूसरा, गुणस्थान विकास की भूमिका नहीं है। वह तो ऊपर से पतित हुई आत्मा के क्षणिक अवस्थान का ही सूचक है। विकास के इस क्रम का निर्णय आत्मिक स्थिरता की न्यूनाधिकता पर अवलंबित है। स्थिरता का तारतम्य दर्शन और चारित्र मोह शक्ति की शुद्धि की तरतमता पर निर्भर है। मोह की प्रधान शक्तियाँ दो ही

शील आदि के पालन में तत्पर रहता है। सासारिक विषयों में उदासीन एव साधु-जनों का प्रशसक होता है जिससे उसका चित्त प्रशान्त रहता है। आत्म संयम और जितेन्द्रिय की वृत्ति आ जाती है। यह परिणाम पद्मलेश्या का है।

शुक्ललेश्या : इस लेश्या वाला परम धार्मिक होता है। कषाय उपशांत रहती है। वीतराग भाव सम्पादन करने की अनुकूलता आ जाती है। मन , वचन, काय की वृत्ति अत्यन्त सरल होती है। इस लेश्या के परिणाम शंख के समान श्वेत वर्ण जैसे होते हैं।

तेजो, पद्म और शुक्ल ये तीनों ही शुभ लेश्याए ध्यान में सहायक हैं। अत सतत इन्ही का आचरण करना चाहिये।

कृष्णादि छहों लेश्याओं की पारिणामिक स्थिति, सरेस के डालने से रग पक्का और स्थायी होता है, वैसे (कर्मबन्ध की स्थिति) ही दृढ़ होती है। परिणाम विशेष का नाम ही लेश्या है। इसलिये जामुन खाने के इच्छुक पुरुषों के दृष्टान्त द्वारा उन उन पुरुषों के अपने अपने तीव्र, मन्द, मध्यम या परिणाम वाले के समान उनकी लेश्या जाननी चाहिये।[१६३] इन छहों लेश्याओं में से अन्तिम शुभ लेश्याएं ही ध्यान के लिये योग्य मानी गई हैं। इसलिये ध्यान और लेश्या का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

ध्यान और गुणस्थान मार्गणास्थान

जैन पारिभाषिक शब्दावली में 'गुणस्थान' और 'मार्गणास्थान' शब्द का उल्लेख है। आगमों में 'गुणस्थान' शब्द का प्रयोग देखने में नही आया है लेकिन 'जीवस्थान' अथवा 'भूतग्राम' शब्द के द्वारा गुणस्थान के अर्थ को अभिव्यक्त किया गया है और जीव स्थान की रचना का आधार कर्मविशुद्धि माना है।[१६४] अभयदेव सूरि ने भी जीव स्थानों (गुणस्थानों) को ज्ञानावरण आदि कर्मों की विशुद्धि से सम्पन्न कहा है।[१६५] आचार्य नेमिचन्द्र ने जीवों को गुण कहा है। इसलिये आगमगत 'जीवस्थान' शब्द के लिये 'गुणस्थान' शब्द का प्रयोग आचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थों एवं कर्मग्रन्थों में किया गया है। उनका कथन है कि दर्शन मोहनीय आदि कर्मों की उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि अवस्थाओं के होने पर उत्पन्न होने वाले जिन भावों से जीव लक्षित होते हैं, उन भावों को सर्वज्ञ सर्वदर्शियों ने 'गुणस्थान' इस सज्ञा से निर्दिष्ट किया है।[१६६] संक्षेप, ओघ, सामान्य, जीवसमास, ये चारों शब्द गुणस्थान के समानार्थक हैं।[१६७]

जीवस्थान, मार्गणा स्थान और गुणस्थान यद्यपि ये तीनों जीव की अवस्थायें हैं, फिर भी इनमें यह अन्तर है कि जीवस्थान जाति -नाम-कर्म, पर्याप्त नाम कर्म और अपर्याप्त नामकर्म के औदयिक भाव हैं। मार्गणा का अर्थ है अनुसंधान, खोज, विचारणा आदि। गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, संयम, ज्ञान, दर्शन, लेश्या, भव्य,

सम्यक्त्व, संज्ञी, आहार इन चौदह अवस्थाओं को लेकर जीव में गुणस्थान जीवस्थान आदि की मार्गणा - विचारणा, गवेषणा की जाती है, उन अवस्थाओं को मार्गणा कहते हैं। मार्गणा के स्थानों को मार्गणास्थान कहते हैं। मार्गणास्थान नामकर्म, मोहनीय कर्म, ज्ञाना-वरण दर्शनावरण और वेदनीय कर्म के औदयिक आदि भाव रूप तथा पारिणामिक भाव रूप है और गुणस्थान सिर्फ मोहनीय कर्म के औदयिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक भावरूप तथा योग के भावाभाव रूप है।[१६८]

मार्गणा और गुणस्थान में अंतर

मार्गणा में किया जाने वाला विचार कर्म अवस्थाओं के तरतम भाव का विचार नहीं है, किन्तु शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक भिन्नताओं से घिरे हुए जीवों का विचार मार्गणाओं द्वारा किया जाता है। जब कि गुणस्थान कर्मपटलों के तरतम भावों और योगों की प्रवृत्ति निवृत्ति का ज्ञान कराता है। मार्गणाएं जीव के विकास क्रम को नही बताती हैं, किन्तु इनके स्वाभाविक वैभाविक रूपों का अनेक प्रकार से पृथक्करण करती हैं। जब कि गुणस्थान जीव के विकास-क्रम को बताते हैं और विकास की क्रमिक अवस्थाओं का वर्गीकरण करते हैं। मार्गणाएं सहभावी हैं और गुणस्थान क्रमभावी हैं।

मार्गणाओं में जीव की गति, शरीर, इन्द्रिय आदि की मार्गणा-विचारणा, गवेषणा के साथ उनके आन्तरिक भावों, गुणस्थानों जीवस्थानों आदि का भी विचार किया जाता है।[१६९] विचारणा की धारा ही ध्यान की अवस्था है। ध्यान बल से जीव चौदह मार्गणाओं द्वारा अपने स्वरूप की गवेषणा करता है।

आगम में चौदह गुणस्थानों (जीवस्थानों) का वर्णन है। उनके नाम निम्नलिखित हैं।[१७०] मिथ्यादृष्टि, सासादण सम्यग्दृष्टि, सम्यक् मिथ्यादृष्टि, अविरत सम्यग्दृष्टि, विरताविरत, पमत्तसयत्त, अपमत्तसयत्त, नियट्टिबादर, अनियट्टिबादर, सूक्ष्म संपराय, उपशान्त मोहनीय, क्षीण मोहनीय, सयोगी केवली और अयोगी केवली गुणस्थान। आगमेतर ग्रन्थों में गुणस्थानों के नाम कुछ भिन्न प्रतीत होते हैं किन्तु अर्थ में कोई अन्तर नही।

गुणस्थान के इन चौदह भेदों में पहले की अपेक्षा दूसरे में, दूसरे की अपेक्षा तीसरे में इस प्रकार पूर्व-पूर्ववर्ती गुणस्थान की अपेक्षा पर-परवर्ती गुणस्थान में विकास की मात्रा अधिक होती है, किन्तु दूसरा, गुणस्थान विकास की भूमिका नही है। वह तो ऊपर से पतित हुई आत्मा के क्षणिक अवस्थान का ही सूचक है। विकास के इस क्रम का निर्णय आत्मिक स्थिरता की न्यूनाधिकता पर अवलंबित है। स्थिरता का तारतम्य दर्शन और चारित्र मोह शक्ति की शुद्धि की तरतमता पर निर्भर है। मोह की प्रधान शक्तियाँ दो ही

हैं - दर्शन मोह और चारित्र मोह। इनमें से प्रथम शक्ति आत्मा को दर्शन - स्वरूप - पररूप का निर्णय, विवेक नही होने देती है। दूसरी शक्ति आत्मा को विवेक प्राप्त कर लेने पर भी तदनुसार प्रवृत्ति नही करने देती है। इसीलिये पहले, दूसरे, और तीसरे गुणस्थान में आत्मा की दर्शन और चारित्र शक्ति का विकास नही हो पाता है क्योंकि उनमें उनके प्रतिबधक कारणों की अधिकता रहती है। चतुर्थ आदि गुणस्थानों में से प्रतिबधक सस्कार मद होते जाते हैं जिससे उन-उन गुणस्थानों में शक्तियों के विकास का क्रम प्रारभ हो जाता है। इन प्रतिबधक सस्कारों को कषाय कहते हैं।

इन कषायों के मुख्यत चार विभाग किये गये हैं। ये विभाग काषायिक संस्कारों की फल देने की तरतम शक्ति पर आधारित हैं। इनमें से प्रथम विभाग दर्शन मोहनीय और अनन्तानुबन्धी कषाय का है। यह विभाग दर्शनशक्ति का प्रतिबधक है। शेष तीन विभाग जिन्हें क्रमश अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन कहते हैं, चारित्रशक्ति के प्रतिबधक हैं। प्रथम विभाग की तीव्रता रहने पर दर्शनशक्ति का आविर्भाव नही होता है, किन्तु जैसे-जैसे मन्दता या अभाव की स्थिति बनती है, वैसे दर्शनशक्ति व्यक्त होती है। दर्शन शक्ति के व्यक्त होने पर दर्शन मोह और अनन्तानुबन्धी कषाय का वेग शात या क्षय हो जाने से चतुर्थ गुणस्थान के अन्त में अप्रत्याख्यानावरण कषाय का सस्कार नही रहता है। जिससे पाचवें गुणस्थान में चारित्रशक्ति का प्राथमिक विकास होता है। इसके अनन्तर पाचवें गुणस्थान के अत में प्रत्याख्यानावरण कषाय का वेग न रहने से चारित्र शक्ति का विकास और बढ़ता है जिससे इन्द्रिय विषयों से विरक्त होने पर जीव साधु बन जाता है। यह विकास की छठ्ठी भूमिका है। इस भूमिका में चारित्र की विपक्षी सज्वलन कषाय के विद्यमान रहने से चारित्र पालन में विक्षेप तो आता ही है, किन्तु चारित्रशक्ति का विकास दबता नही है। शुद्धि और स्थिरता में अतराय आते रहते हैं और आत्मा उन विघातक कारणों से सघर्ष भी करती रहती है। इस सघर्ष में सफलता प्राप्त कर जब सज्वलन कषायों (सस्कारों) को दबाती हुई आत्मा विकास की ओर गतिशील रहती है, तब सातवें आदि गुणस्थानों को लांघकर बारहवें गुणस्थान में पहुँच जाती है। बारहवें गुणस्थान में तो दर्शन शक्ति और चारित्र शक्ति के विपक्षी संस्कार सर्वथा क्षय हो जाते हैं, जिससे दोनों शक्तियाँ पूर्ण विकसित हो जाती हैं। उस स्थिति में शरीर, आयु आदि का सबध रहने से जीवन्मुक्त अरिहन्त अवस्था प्राप्त हो जाती है और बाद में शरीर आदि का भी वियोग हो जाने पर शुद्ध, ज्ञान, दर्शन आदि शक्तियों से सम्पन्न आत्मावस्था प्राप्त हो जाती है।

ध्यान और गुणस्थानों का स्वरूप

(१) मिथ्यात्व गुणस्थान : दर्शन मोहनीय के आधार पर ही प्रथम गुणस्थान का नाम मिथ्यात्व गुणस्थान रखा है। यह चेतन की अधस्तम अवस्था है। दर्शन मोहनीय

के प्रभाव से विपर्यासमति (मिथ्यामति) द्वारा शुद्ध को अशुद्ध, सत्य को असत्य, निर्मल को मलिन एव कुदेव, कुगुरु और कुधर्म को सुदेव, सुगुरु, सुधर्म के रूप में प्रतिभासित करने वाली अवस्था मिथ्यात्व की मानी जाती है। मिथ्यात्व दो प्रकार का माना जाता है - व्यक्त मिथ्यात्व और अव्यक्त मिथ्यात्व। अनादिकाल से सबध रखने वाला अव्यक्त मिथ्यात्व है। इसे गुणस्थान की कोटि में नहीं रखा जाता। मिथ्यात्व मदिरा के समान जीव को हिताहित का भान नही करने देता। व्यक्त मिथ्यात्व को ही प्रथम गुणस्थान में लिया गया है। इसमें दृष्टि अशुद्ध होती है फिर भी जीवों के भद्र परिणामों एव सरल प्रवृत्ति के कारण मिथ्यादृष्टि की भूमिका को भी प्रथम गुणस्थान में निर्धारित किया गया है। इसमें सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, आहारक द्विक (आहारक शरीर, आहारक अगोपाग) और तीर्थंकर नाम कर्म इन पाच प्रकृतियों का बध नही होता।[१७१]

(२) सासादन (सास्वादन) गुणस्थान : जो औपशमिक सम्यक्त्वी जीव अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से सम्यक्त्व को छोड़कर मिथ्यात्व की ओर झुक रहा है, किन्तु अभी तक मिथ्यात्व को प्राप्त नही किया है, तब तक - जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह आवलिका पर्यन्त सास्वादन सम्यग्दृष्टि कहलाता है और उस जीव के स्वरूप विशेष को सास्वादन सम्यग्दृष्टि कहते हैं। औपशमिक सम्यक्त्व वाला जीव सास्वादन सम्यग्दृष्टि हो सकता है, दूसरा नही। इस गुण स्थान की समय स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह आवलिका तक की है। इस गुणस्थानवर्ती जीव के मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के निमित्त बधने वाली सोलह - नरकत्रिक - नरकगति, नरकायु, नरकानुपूर्वी, जाति चतुष्क - एकेन्द्रिय यावत् चतुरिन्द्रिय, स्थावरचउ - स्थावर नाम कर्म, सूक्ष्म नाम कर्म, अपर्याप्त नाम कर्म, साधारण नाम कर्म, हुण्डक सस्थान, आतप नाम कर्म, सेवार्त संहनन नामकर्म, नपुसक वेद और मिथ्यात्व इन प्रकृतियों का बध नही होता।[१७२]

(३) सम्यग् मिथ्यादृष्टि (मिश्र) गुणस्थान : मिथ्यात्व मोहनीय के अशुद्ध, अर्द्धशुद्ध और शुद्ध इन तीनों पुजों में से अनन्तानुबंधी कषाय का उदय न होने से शुद्धता और मिथ्यात्व के अर्द्ध शुद्ध पुद्गलों के उदय होने से अशुद्धता रूप जब अर्द्ध शुद्ध पुज का उदय होता है, तब जीव की दृष्टि कुछ सम्यक् (शुद्ध) और कुछ मिथ्यात्व (अशुद्ध) मिश्र हो जाती है। इसी से वह जीव सम्यग्मिथ्या दृष्टि (मिश्र दृष्टि) तथा उसका स्वरूप विशेष सम्यग्मिथ्या दृष्टि गुणस्थान कहलाता है। इस गुणस्थानवर्ती जीव की स्थिति नारियेलकेर द्वीप के मनुष्य की तरह होती है। इसमें जीव की विशेष अवस्था यह है कि वह इस गुण स्थान में आयुबध अथवा मरण नही करता है। किन्तु सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि परिणामों को प्राप्त करके ही मरता है, जिसके परिणामस्वरूप सद्गति अथवा दुर्गति को प्राप्त करता है। इस गुणस्थान में स्थित जीव निम्नलिखित सत्ताईस प्रकृतियों का बध नही करता, जैसे

कि तिर्यंचत्रिक- तिर्यंचगति तिर्यंचायु तिर्यंचानुपूर्वी, स्त्यानर्द्धित्रिक- निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला और स्त्यानर्द्धि, दुर्भगत्रिक - दुर्भग नाम, दु स्वर नाम व अनादेय नाम कर्म, अनन्तानुबन्धीचतुष्क - क्रोध, मान, माया, लोभ, मध्यमसंस्थान चतुष्क - न्यग्रोधपरिमण्डल सस्थान, सादि सस्थान, वामन सस्थान व कुब्ज सस्थान, मध्यम संहनन चतुष्क - वृषभनाराचसहनन, नाराचसहनन, अर्धनाराचसहनन और कीलिका सहनन।[१७३] पहले की २१ प्रकृति और आगे ६ प्रकृति - १) नीच गोत्र २) उद्योत नाम ३) अशुभ विहायोगति ४) स्त्रीवेद ५) मनुष्यायु ६) देवायु

प्रथम गुणस्थानवर्ती जीव एकान्तमिथ्यावादी होते हैं, दूसरे गुण स्थानवर्ती जीव अपक्रान्तिवाले होते हैं और तीसरे गुणस्थानवर्ती जीव अपक्रान्ति और उत्क्रान्ति दोनों ही प्रकार वाले होते हैं। इन तीन गुणस्थानों में ध्यान तो है ही किन्तु आर्त - रौद्र ध्यान है, जो ससारवर्धक है।

(४) अविरतसम्यग्दृष्टि (असंयतसम्यग्दृष्टि) गुणस्थान : सर्वज्ञ कथित तत्त्वों के विषय में स्वाभाविक (निसर्ग) और उपदेशादि से जीव को रुचि तो जागृत होती है किन्तु द्वितीय अप्रत्याख्यानावरण कषायों का उदय होने से व्रत प्रत्याख्यान रहित अकेले सम्यक्त्व मात्र रहता है, उस जीव को अविरत सम्यग्दृष्टि कहते हैं और उसके स्वरूप विशेष को अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहते हैं । यह अवस्था अर्धपुद्गल परावर्त जितना संसार भ्रमण शेष रहे तब ही प्राप्त होती है। सम्यक्त्व की प्राप्ति भव्य जीवों को होती है अभव्य जीवों को नही। इस गुणस्थानवर्ती जीव में व्रतादि न होने पर भी देव, गुरु, धर्म, सघ भक्ति, शासन सेवा की भावना दृढ़ होती है। इसमें जीव तीर्थंकर नामकर्म का बध करता है। जीव को ध्यान करने की योग्यता भी यहाँ से प्रारभ होती है। अत यह ध्यान को जन्म देने वाला उद्गम स्थान है।[१७४]

(५) देशविरति (विरताविरति - संयतासंयत) गुणस्थान : प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय के कारण जो जीव पापजनक क्रियाओं से सर्वथा तो नही किन्तु अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय न होने के कारण देश (अश) से पापजनक क्रियाओं से अलग हो सकते हैं, वे देशविरत कहलाते हैं। देशविरत को श्रावक भी कहते हैं। एक ही समय में जीव त्रसहिंसा से विरत होता है, वही स्थावर हिंसा से अविरत होता है, इस कारण से विरताविरति भी कहते हैं। षट् खण्डागम में इसे संयतासयत कहा है। इनका स्वरूप विशेष देशविरत गुणस्थान है। इस गुणस्थानवर्ती जीव के निम्नलिखित दस प्रकृतियों का बंध नहीं होता - वज्रऋषभ संहनन, मनुष्यगति, मनुष्यायु, मनुष्यानुपूर्वी, अप्रत्याख्यानावरण कषायचतुष्क, औदारिक शरीर और औदारिक अंगोपांग। इसमें आर्तध्यान और रौद्रध्यान मद होता है। श्रावक षट् कर्म (षड् आवश्यक क्रिया) ११

उपासक पडिमा, एव बारह व्रत धारक होने से पचम गुणस्थान में धर्म ध्यान मध्यम कोटि का होता है। इस गुणस्थानवर्ती जीव की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट कुछ न्यून करोड़ वर्ष की होती है।[१७५] इससे आगे के सभी गुणस्थानों की उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है।

(६) प्रमत्त संयत गुणस्थान : जो जीव पापजनक व्यापारों से विधि पूर्वक सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं, वे सयत (मुनि) हैं। लेकिन संयत भी जब तक प्रमाद का सेवन करते हैं, तब तक वे प्रमत्तसयत कहलाते हैं। यद्यपि सकल संयम को रोकनेवाली प्रत्याख्यानावरण कषाय का अभाव होने से इस गुणस्थानवर्ती जीव को पूर्ण सयम तो होता है, किन्तु सज्वलन आदि कषायों के उदय से सयम में मल उत्पन्न करने वाले प्रमाद के रहने से इसे प्रमत्त संयत कहते हैं। इस गुणस्थान में देशविरति की अपेक्षा गुणों - विशुद्धि का प्रकर्ष अप्रमत्तसयत की अपेक्षा विशुद्धि - गुण का अपकर्ष होता है। इसमें ही चतुर्दश पूर्वधारी मुनि आहारक लब्धि का प्रयोग करते हैं। प्रमत्त संयतगुणस्थानक की स्थिति जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट करोड़ पूर्व से कुछ प्रमाण है और यह तथा इससे आगे के गुणस्थान मनुष्यगति के जीवों के ही होते हैं। इसमें प्रत्याख्यानी कषायचतुष्क का बंध नही होता। इस गुणस्थानवर्ती जीव की स्थिति का वर्णन तो कर चुके हैं। किन्तु कही कही इसकी स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त बताई है। अन्तर्मुहूर्त के बाद प्रमत्तसयमी एक बार अप्रमत्तगुणस्थान में पहुँचता है और पुन वहाँ से अन्तर्मुहूर्त के बाद प्रमत्तसयतगुणस्थान में आ जाता है। यह उतार चढ़ाव देशोनकोटिपूर्व तक होता रहता है। इसमें धर्मध्यान की मात्रा बढ़ जाती है।[१७६]

(७) अप्रमत्तसंयतगुणस्थान : जो संयत (मुनि) विकथा, कषाय आदि प्रमादों का सेवन नही करते हैं, वे अप्रमत्त सयत हैं और उनका स्वरूप विशेष जो ज्ञानादि गुणों की शुद्धि और अशुद्धि के तरतम भाव से होता है, अप्रमत्तसंयत गुणस्थान कहलाता है। इसमें सज्वलन कषाय चतुष्क तथा हास्यादि नो कषायों का मन्द उदय होने से व्यक्ताव्यक्त प्रमाद नष्ट हो जाता है और ज्ञान, ध्यान, तप, में लीन मुनि को अप्रमत्तसंयत कहते हैं। प्रमाद के सेवन से ही आत्मा गुणों की शुद्धि से गिरता है। इसके आगे के सभी गुणस्थानों में मुनि अपने स्वरूप में अप्रमत्त ही रहते हैं। छठे और सातवें गुणस्थान में इतना ही अन्तर है कि सातवें गुणस्थान में थोड़ासा भी प्रमाद नही होता है, इसलिये व्रतों में अतिचारादिक सम्भव नहीं है, किन्तु छठा गुणस्थान प्रमाद युक्त होने से व्रतों में अतिचार लगने की संभावना है। ये दोनों गुणस्थान प्रत्येक समय नही होते हैं। किन्तु गति सूचक यन्त्र की सूई की तरह अस्थिर रहते हैं। कभी सातवें से छठा और छठे से सातवां गुणस्थान क्रमश होते रहते हैं। अप्रमत्तसंयत गुणस्थान की समय स्थिति जघन्य से एक

समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त तक की होती है। उसके बाद वे अप्रमत्तमुनि या तो आठवें गुणस्थान में पहुँचकर उपशम और क्षपक श्रेणी ले लेते हैं, या पुन छठे गुणस्थान में आ जाते हैं। इस गुणस्थान के दो प्रकार हैं - स्वस्थानाप्रमत्त और सातिशय अप्रमत्त। जब तक जीव दोनों श्रेणी के सन्मुख नही होता तब तक उसे स्वस्थानाप्रमत्त कहते हैं। इस गुणस्थान में सर्वज्ञ कथित शुद्ध धर्मध्यान होता है और रूपातीत ध्यान की प्रधानता के कारण अश रूप से शुक्लध्यान भी होता है। मोहनीय कर्म का उपशम और क्षय करने में तत्पर बना हुआ मुनि दर्शन सप्तक के सिवाय शेष इक्कीस मोहनीय कर्म की प्रकृति का उपशम और क्षय करने वाले श्रेष्ठ ध्यान साधने की प्रक्रिया शुरू करता है। इस गुणस्थानवर्ती जीव में छह आवश्यकादि क्रिया न होने पर भी उत्तम ध्यान के योग से स्वाभाविक आत्मशुद्धि करता रहता है।[१७७]

(८) नियट्टिबादर (निवृत्तिबादर) गुणस्थान : इसको अपूर्वकरण गुणस्थान भी कहते हैं। अध्यवसाय, परिणाम, निवृत्ति - ये तीनों समानार्थवाचक शब्द हैं, जिसमें अप्रमत्त आत्मा की अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण इन तीनों कषाय चतुष्क रूपी बादर कषाय की निवृत्ति हो जाती है, उस अवस्था को निवृत्तिबादर गुणस्थान कहते हैं।

दोनों श्रेणियों का प्रारभ यद्यपि नौवें गुणस्थान से होता है, किन्तु उनकी आधारशिला इस गुणस्थान में रखी जाती है। आठवा गुणस्थान दोनों प्रकार की श्रेणियों की आधार शिला बनाने के लिए है- उपशमन और क्षपण की योग्यता मात्र होती है और नौवें गुणस्थान में श्रेणिया प्रारभ होती हैं। आठवें गुणस्थान के समय जीव पाँच वस्तुओं का विधान करता है। वे ये हैं - १) स्थितिघात, २) रसघात, ३) गुणश्रेणि, ४) गुणसक्रमण और ५) अपूर्व स्थितिबध।

स्थितिघात :- *कर्मों की बड़ी स्थिति को अपवर्तनाकरण द्वारा घटा देना*-जो कर्मदलिक आगे उदय में आने वाले हैं, उन्हें अपवर्तनाकरण के द्वारा अपने उदय के नियत समयों से हटा देना स्थितिघात कहलाता है।

रसघात :- बंधे हुए ज्ञानावरणादि कर्मों के फल देने की तीव्र शक्ति को अपवर्तनाकरण के द्वारा मन्द कर देना रस घात कहलाता है।

गुणश्रेणि :- जिन कर्मदलिकों का स्थितिघात किया जाता है अथवा जो कर्मदलिक अपने-अपने उदय के नियत समयों से हटाये जाते हैं, उनको समय के क्रम से अन्तर्मुहूर्त में स्थापित कर देना गुण श्रेणि कहलाता है। स्थापित करने का क्रम इस प्रकार है - उदय समय से लेकर अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त के जितने समय होते हैं उनमें से उदयावलि के

समयों को छोड़कर शेष रहे समयों में से प्रथम समय में जो दलिक स्थापित किये जाते हैं, वे कम होते हैं। दूसरे समय में स्थापित किये जाने वाले दलिक पहले समय में स्थापित दलिकों से असंख्यात गुणे अधिक होते हैं। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त के चरम समय पर्यन्त आगे-आगे के समय में स्थापित किये जानेवाले दलिक पहले-पहले के समय में स्थापित किये गये दलिकों से असख्यात गुणे ही अधिक समझना चाहिये।

गुणसंक्रमण :- पहले बधी हुई अशुभ प्रकृतियों को वर्तमान में बंध हो रही शुभ प्रकृतियों में स्थानातरित कर देना - परिणत कर देना गुण सक्रमण कहलाता है। गुण संक्रमण का क्रम इस प्रकार है - प्रथम समय में अशुभ प्रकृतियों के जितने दलिकों का शुभ प्रकृति में संक्रमण होता है, उसकी अपेक्षा दूसरे समय में असख्यात गुण अधिक दलिकों का सक्रमण होता है, तीसरे में दूसरे की अपेक्षा असंख्यात गुण। इस प्रकार जब तक गुण सक्रमण होता रहता है तब तक पहले-पहले समय में सक्रमण किये गये दलिकों से आगे-आगे के समय में असख्यात गुण अधिक दलिकों का ही सक्रमण होता है।

अपूर्व स्थितिबंध :- पहले की अपेक्षा अत्यन्त अल्प स्थिति के कर्मों का बाँधना अपूर्व स्थितिबध कहलाता है। षट् खण्डागम और प्रवचनसारोद्धार में स्थितिघातादि के नाम क्रमश निम्नलिखित हैं - गुण श्रेणि निर्जरा, गुण सक्रमण, स्थितिखंडन और अनुभाग खण्डन तथा स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणी और अपूर्व स्थिति। इन दोनों ग्रन्थों में चार ही प्रकार बताये हैं।

यद्यपि स्थितिघात आदि ये पाँचों बातें पहले के गुणस्थानों में भी होती हैं, तथापि आठवें गुणस्थान में ये अपूर्व ही होती हैं। क्योंकि पूर्व गुणस्थानों में अध्यवसायों की जितनी शुद्धि होती है, उसकी अपेक्षा आठवें गुणस्थान में उनकी शुद्धि अधिक होती है। पहले के गुणस्थानों में बहुत कम स्थिति का और अत्यल्प रस का घात होता है। परतु आठवें गुणस्थान में अधिक स्थिति और अधिक रस का घात होता है। इसी प्रकार के पहले के गुणस्थानों में गुण श्रेणि की कालमर्यादा अधिक होती है, तथा जिन दलिकों की गुणश्रेणि (रचना या स्थापना) की जाती है, वे दलिक अल्प होते हैं, और आठवें गुणस्थान में गुणश्रेणि योग्य दलिक तो बहुत अधिक होते हैं, किन्तु गुणश्रेणि का कालमान बहुत कम होता है। पहले के गुणस्थानों की अपेक्षा गुण-सक्रमण बहुत कर्मों का होता है। अतएव वह अपूर्व होता है और आठवें गुणस्थान में इतनी अल्प स्थिति के कर्म बांधे जाते हैं कि जितनी अल्प स्थिति के कर्म पहले के गुणस्थानों में कदापि नही बँधते हैं। इस प्रकार इस गुणस्थान में स्थितिघात आदि पदार्थों का अपूर्व विधान होने से इस गुणस्थान को अपूर्वकरण कहते हैं।

आठवें गुणस्थान में ध्यानयोगी आत्मा की विशिष्ट अवस्था शुरू होती है। औपशमिक या क्षायिक भावरूप विशिष्ट फल पैदा करने के लिए चारित्र मोहनीय कर्म का उपशमन या क्षय करना पड़ता है और वह करने के लिए भी तीन करण करने पड़ते हैं - यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। उनमें क्रमश यथाप्रवृत्तिकरण-सातवा गुणस्थान, अपूर्वकरण आठवां गुणस्थान और अनिवृत्तिकरण रूप नौवां गुणस्थान है।

जो अपूर्वकरण गुणस्थान को प्राप्त कर चुके हैं, कर रहे हैं, और आगे प्राप्त करेंगे, उन सब जीवों के अध्यवसायस्थानों (परिणाम भेदों) की सख्या असख्यात लोकाकाश के प्रदेशों के बराबर है।

इस गुण स्थान का कालमान जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। इसमें सात भाग होते हैं - प्रथम भाग में देवायु को छोड़ ५८ प्रकृतियों का बध होता है। दूसरे से लेकर छठे भाग तक निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियों को छोड़कर ५६ प्रकृतियों का बध होता है। अपूर्वकरण गुणस्थान के प्रथम भाग में इन दो प्रकृतियों के (निद्रा, प्रचला) बध की व्युच्छित्ति मनुष्य आयु के विद्यमान में होती है। उपशम श्रेणी पर आरोहन करनेवाले जीव नियम से चारित्र मोहनीय का उपशमन करते हैं। उपशम श्रेणि पर आरोहन करनेवाला जीव आठवें गुणस्थान के प्रथम समय में मरण नही करता, किन्तु द्वितीयादि समय में मरण सभव है। इसलिये निद्रा और प्रचला प्रकृति का बध नही होता। क्षपक श्रेणी पर आरोहन करने वाले क्षपक नियम से चारित्र मोहनीय का क्षपण करते हैं किन्तु क्षपक श्रेणी में मरण होता ही नही। सातवें भाग में ५६ प्रकृतियों में से देवगति, देवानुपूर्वी, पचेंद्रिय जाति, शुभ विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय नामकर्म, वैक्रियशरीर, आहारक शरीर, तेजस शरीर, कार्मण शरीर, समचतुरस्त्र सस्थान, वैक्रिय अगोपाग, आहारक अगोपाग, निर्वाण नाम, तीर्थंकर नाम, वर्ण, गध, रस, स्पर्श, अगुरु-लघु, उपघात, पराघात, श्वासोच्छ्वास इन तीस प्रकृतियों को छोड़कर शेष २६ प्रकृतियों का बध होता है। इस प्रकार आठवा गुणस्थान ध्यान साधक के लिये विशिष्ट प्रकार की ध्यान साधना में आरोहन कराने वाला होता है।[१७८]

उपशम श्रेणि का स्वरूप :-

जिन परिणामों के द्वारा आत्मा मोहनीय कर्म का सर्वथा उपशमन करता है, ऐसे उत्तरोत्तर वृद्धिगत परिणामों की धारा को उपशम श्रेणि कहते हैं। इस उपशम श्रेणी का प्रारम्भक पूर्व का ज्ञाता, विशुद्ध चारित्र सम्पन्न, प्रथम तीन सहनन में से किसी भी एक संहनन नाम कर्म के उदय वाला अप्रमत्त संयत (उपशमक जीव) शुक्लध्यान के प्रथम भेद का ध्याता ही होता है और उपशम श्रेणि से गिरनेवाला अप्रमत्त सयत, प्रमत्त सयत, देशविरति या अविरति में से कोई भी हो सकता है। उपशम श्रेणि से गिरनेवाला (चारित्र

मोहनीय के उदय को प्राप्त करके जैसे कि जल में नीचे रहे हुए मलिन पानी की तरह. ...) अनुक्रम से चौथे गुणस्थान तक आता है और वहाँ से गिरे तो दूसरे और उससे पहले गुणस्थान को भी प्राप्त करता है।

उपशम श्रेणि के दो भाग हैं - १. उपशम भाव का सम्यक्त्व और २) उपशम भाव का चारित्र। इनमें से चारित्र मोहनीय का उपशमन करने के पहले उपशम भाव का सम्यक्त्व सातवें गुणस्थान में ही प्राप्त होता है। क्योंकि दर्शन मोहनीय की सातों प्रकृतियों को सातवें में ही उपशमित किया जाता है, जिससे उपशमश्रेणि का प्रस्थापक अप्रमत्त संयत ही है। किन्हीं-किन्ही आचार्यों का मंतव्य है कि अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्त या अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती कोई भी अनंतानुबंधी कषाय का उपशमन करता है और दर्शनत्रिक आदि को तो संयम में वर्तने वाला अप्रमत्त ही उपशमित करता है। उसमें सबसे पहले अनंतानुबधी कषाय को उपशान्त किया जाता है और दर्शनत्रिक का उपशमन तो सयमी ही करता है। इस अभिप्राय के अनुसार चौथे गुणस्थान में उपशम श्रेणि का प्रारंभ माना जा सकता है।

अनतानुबंधी कषाय के उपशमन का वर्णन इस प्रकार है कि चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान तक में से किसी एक गुणस्थानवर्ती जीव अनंतानुबंधी कषाय का उपशमन करने के लिये यथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नामक तीन करण करता है। यथा-प्रवृत्तकरण में प्रतिसमय उत्तरोत्तर अनंतगुणी विशुद्धि होती है, जिसके कारण शुभ प्रकृतियों में अनुभाग की वृद्धि और अशुभ प्रकृतियों में अनुभाग की हानि होती है। किंतु स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि या गुणसंक्रमण नहीं होता है, क्योंकि यहाँ उनके योग्य विशुद्ध परिणाम नहीं होते हैं। यथाप्रवृत्तकरण का काल अन्तर्मुहूर्त होता है।

उक्त अन्तर्मुहूर्त काल समाप्त होने पर दूसरा अपूर्वकरण होता है। इस करण में स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि, गुणसक्रमण और अपूर्व स्थिति बंध, ये पाचों कार्य होते हैं। अपूर्वकरण के प्रथम समय में कर्मों की जो स्थिति होती है, स्थितिघात के द्वारा उसके अतिम समय में वह संख्यातगुणी कम कर दी जाती है। रसघात के द्वारा अशुभ प्रकृतियों का रस क्रमश क्षीण कर दिया जाता है। गुणश्रेणी रचना में प्रकृतियों की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति को छोड़कर ऊपर की स्थिति वाले दलिकों में से प्रति समय कुछ दलिक ले-लेकर उदयावली के ऊपर की स्थिति वाले दलिकों में उनका निक्षेप कर दिया जाता है। दलिकों का निक्षेप इस प्रकार किया जाता है कि पहले समय में जो दलिक लिये जाते हैं, उनमें से सबसे कम दलिक प्रथम समय में स्थापित किये जाते हैं, उससे असख्यातगुणे दलिक दूसरे समय में, उससे असख्यातगुणे दलिक तीसरे समय में स्थापित किये जाते हैं। इस

प्रकार अन्तर्मुहूर्त के अतिम समय पर्यंत असंख्यातगुणे, असंख्यातगुणे दलिकों का निक्षेप किया जाता है। दूसरे आदि समयों में भी जो दलिक ग्रहण किये जाते हैं, उनका निक्षेप भी इसी प्रकार किया जाता है। गुणश्रेणि की रचना क्रम में पहले समय में ग्रहण किये जानेवाले दलिक थोड़े होते हैं और उसके बाद प्रत्येक समय में उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे, असंख्यातगुणे दलिकों का ग्रहण किया जाता है तथा दलिकों का निक्षेप अवशिष्ट समयों में ही होता है। इसी दृष्टि और क्रम को यहाँ भी समझना चाहिये कि पहले समय में ग्रहीत दलिक अल्प है, अनन्तर दूसरे आदि समयों में वे असख्यातगुणे हैं और उन सबकी रचना अन्तर्मुहूर्त काल प्रमाण समयों में होती है। काल का प्रमाण अन्तर्मुहूर्त से आगे नहीं बढ़ता है।

गुण सक्रम के द्वारा अपूर्वकरण के प्रथम समय में अनतानुबंधी आदि अशुभ प्रकृतियों के थोड़े दलिकों का अन्य प्रकृतियों में सक्रमण होता है और उसके बाद प्रत्येक समय में उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे दलिकों का अन्य प्रकृतियों में सक्रमण होता है। अपूर्वकरण के प्रथम समय में ही स्थितिबध भी अपूर्व-बहुत थोड़ा होता है।

अपूर्वकरण का काल समाप्त होने पर तीसरा अनिवृत्तिकरण होता है। इसमें भी प्रथम समय से ही स्थितिघात आदि अपूर्व स्थिति बन्धपर्यंत पूर्वोक्त पाँचों कार्य एक साथ होने लगते हैं। इसका काल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। उसमें से सख्यात भाग बीत जाने पर जब एक भाग शेष रहता है तब अनतानुबंधी कषाय के एक आवली प्रमाण नीचे के निषकों को छोड़कर शेष निषकों का भी पूर्व बताये मिथ्यात्व के अन्तरकरण की तरह इनका भी अन्तरकरण किया जाता है। जिन अन्तर्मूहूर्त प्रमाण दलिकों का अन्तरकरण किया जाता है, उन्हें वहाँ से उठाकर बधनेवाली अन्य प्रकृतियों में स्थापित किया जाता है। अन्तरकरण के प्रारभ होने पर दूसरे समय में अनंतानुवधी कषाय के ऊपर की स्थिति वाले दलिकों का उपशम किया जाता है। यह उपशम पहले समय में थोड़े दलिकों का होता है, दूसरे समय में उससे असख्यातगुणे, तीसरे समय में उससे असंख्यातगुणे दलिकों का उपशम किया जाता है। इसी प्रकार अन्तर्मुहूर्त काल तक क्रमश असख्यातगुणे असंख्यातगुणे दलिकों का प्रतिसमय उपशम किया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि इतने समयों में सपूर्ण अनतानुवधी कषाय का उपशम हो जाता है और यह उपशम इतना सुदृढ़ होता है कि उदय, उदीरणा, निघत्ति आदि करणों के अयोग्य हो जाता है। यही अनतानुवधी कषाय का उपशम है।

किन्हीं-किन्हीं आयाचों का मन्तव्य है कि अनतानुवंधी कषाय का उपशम नहीं होता है। किन्तु विसंयोजन होता है। चौथे, पाँचवें, तथा छठे गुणस्थानवर्ती यथायोग्य चारों गति पर्याप्त जीव तीन करणों के द्वारा अनतानुवंधी कषाय का विसयोजन करते हैं। किन्तु यहाँ न तो अन्तरकरण होता है और न अनतानुवंधी का उपशम ही होता है।

अनतानुबंधी का उपशम करने के बाद दर्शनमोहनीयत्रिक-मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति का उपशम करता है। इनमें से मिथ्यात्व का उपशम तो मिथ्यादृष्टि और वेदक सम्यग्दृष्टि (क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि) करते हैं, किन्तु सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व का उपशम वेदक सम्यग्दृष्टि से करता है। मिथ्यादृष्टि जीव जब प्रथमोपशम सम्यक्त्व को उत्पन्न करता है तब मिथ्यात्व का उपशम करता है। किंतु उपशम श्रेणि में यह प्रथमोपशम सम्यक्त्व उपयोगी नहीं होता लेकिन द्वितीयोपशम सम्यक्त्व उपयोगी होता है। क्योंकि इसमें दर्शनत्रिक का सपूर्णतया उपशम होता है। इसीलिए यहाँ दर्शनत्रिक का उपशमक वेदक सम्यग्दृष्टि को माना है।

इस प्रकार से अनन्तानुबधी कषाय और दर्शनत्रिक का उपशमन करने के बाद चारित्र मोहनीय के उपशम का क्रम प्रारभ होता है।

चारित्र मोहनीय का उपशम करने के लिये पुन. यथाप्रवृत्तकरण आदि तीन करण करता है। लेकिन इतना अतर है कि सातवें गुणस्थान में यथाप्रवृत्तकरण होता है अपूर्वकरण, अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान में तथा अनिवृत्तिकरण, अनिवृत्तिकरण नामक नौवें गुणस्थान में होता है। यहाँ भी स्थितिघात आदि कार्य होते हैं, किन्तु इतनी विशेषता है कि चौथे से सातवें तक जो अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण होते हैं, उनमें उसी प्रकृति का गुण सक्रमण होता है जिसके सबंध में वे परिणाम होते हैं। किन्तु अपूर्वकरण गुणस्थान में सपूर्ण अशुभ प्रकृतियों का गुण सक्रम होता है।

अपूर्वकरण के काल में से संख्यातवा भाग बीत जाने पर निद्रा, द्विक -निद्रा और प्रचला - का बंधविच्छेद होता है। उसके बाद और काल बीतने पर सुरद्विक, पचेन्द्रिय जाति आदि तीस प्रकृतियों का तथा अतिम समय में हास्य, रति, भय और जुगुप्सा का बधविच्छेद होता है।

इसके बाद अनिवृत्तिकरण गुणस्थान होता है। उसमें भी पूर्ववत् स्थितिघात आदि कार्य होते हैं। अनिवृत्तिकरण के असंख्यात भाग बीत जाने पर चारित्रमोहनीय की इक्कीस प्रकृतियों का अन्तरकरण करता है। जिन कर्म प्रकृतियों का उस समय बंध और उदय होता है उसके अतरकरण सबधी दलिकों को प्रथम स्थिति और द्वितीय स्थिति में क्षेपण करता है। जैसे कि पुरुषवेद के उदय से श्रेणि चढ़ने वाला पुरुषवेद का। जिन कर्मों का उस समय केवल उदय ही होता है और बध नही होता है, उनके अन्तरकरण संबधी दलिकों को, प्रथम स्थिति में ही क्षेपण करता है, द्वितीय स्थिति में नहीं। जिन कर्मों का उदय नही होता है किन्तु उस समय केवल बध ही होता है, उनके अतरकरण सबधी दलिकों का द्वितीय स्थिति में क्षेपण करता है, प्रथम स्थिति में नहीं। जिन कर्मों का न तो

बंध ही होता है और न उदय ही, उनके अन्तरकरण सबधी दलिकों का अन्य प्रकृतियों में क्षेपण करता है।

अन्तरकरण करके एक अन्तर्मुहूर्त में नपुंसक वेद का उपशम करता है, उसके बाद एक अन्तर्मुहूर्त में स्त्रीवेद का उपशम और उसके बाद हास्यादि षट्क का उपशम होते ही पुरुषवेद के बध, उदय और उदीरणा का विच्छेद है।

हास्यादि षट्क की उपशमना के अनन्तर समय कम दो आवलिका मात्र में सकल पुरुषवेद का उपशम करता है। जिस समय में हास्यादि षट्क उपशान्त हो जाते हैं और पुरुषवेद की प्रथम स्थिति क्षीण हो जाती है, उसके अनन्तर समय में अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन क्रोध का एक साथ उपशम करना प्रारंभ करता है और जब सज्वलन क्रोध की प्रथम स्थिति में एक आवलिका काल शेष रह जाता है तब सज्वलन क्रोध के बध, उदय और उदीरणा का विच्छेद हो जाता है तथा अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण क्रोध का उपशम। उस समय सज्वलन क्रोध की प्रथम स्थितिगत एक आवलिका को और ऊपर की स्थितिगत एक समय कम दो आवलिका में बद्ध दलिकों को छोड़कर शेष दलिक उपशान्त हो जाते हैं। उसके बाद समय कम दो आवलिका काल में सज्वलन क्रोध का उपशम हो जाता है।

उपशम करना प्रारंभ करता है। संज्वलन माया की प्रथम स्थिति में 'समय कम तीन' आवलिका शेष रहने पर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण माया के दलिकों का संज्वलन माया में प्रक्षेप नही करता। किन्तु संज्वलन लोभ में प्रक्षेप करता है और एक आवलिका शेष रहने पर संज्वलन माया के बंध, उदय और उदीरणा का विच्छेद हो जाता है तथा अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण माया का उपशम हो जाता है। उस समय में संज्वलन माया की प्रथम स्थितिगत एक आवलिका और 'समय कम दो' आवलिका में बाँधे गये ऊपर की स्थितिगत दलिकों को छोड़कर शेष का उपशम हो जाता है। उसके बाद 'समय कम दो' आवलिका में सज्वलन माया का उपशम करता है।

जब सज्वलन माया के बध, उदय और उदीरणा का विच्छेद होता है, उसके अनन्तर समय से लेकर संज्वलन लोभ की द्वितीय स्थिति से दलिकों को लेकर पूर्वोक्त प्रकार से प्रथम स्थिति करता है। लोभ का जितना वेदन काल होता है, उसके तीन भाग करके - १) अश्वकरणाद्धा, २) किट्टीकरणाद्धा और ३) किट्टीवेदनाद्धा, उनमें से दो भाग प्रमाण प्रथम स्थिति का काल रहता है। प्रथम त्रिभाग में पूर्व स्पर्धकों में से दलिकों को लेकर अपूर्वस्पर्धक करता है - पहले के स्पर्धकों में से दलिकों को ले-लेकर उन्हे अत्यंत रसहीन कर देता है। द्वितीय विभाग में पूर्वस्पर्धकों और अपूर्वस्पर्धकों से दलिकों को लेकर अनन्त कृष्टि करता है - उनमें अनन्तगुणा हीन रस करके उन्हें अंतराल से स्थापित कर देता है। कृष्टिकरण के काल के अंत समय में अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण लोभ का उपशम करता है। उसी समय में सज्वलन लोभ के बध का विच्छेद होता है। उसके साथ ही नौवें अनिवृत्तिकरण गुणस्थान का अंत हो जाता है।

इसके बाद दसवा सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान होता है। इस गुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त है। उसमें आने पर ऊपर की स्थिति से कुछ कृष्टियों को लेकर सूक्ष्मसंपराय काल के बराबर प्रथम स्थिति को करता है और 'एक समय कम दो' आवलिका में बधे हुए शेष दलिकों का उपशम करता है। सूक्ष्म सपराय के अंतिम समय में संज्वलन लोभ का उपशम हो जाता है। उसी समय में ज्ञानावरण की पाँच, दर्शनावरण की चार, अतराय की पाँच, यश, कीर्ति और उच्च गोत्र, इन प्रकृतियों के बंध का विच्छेद होता है। अनन्तर समय में ग्यारहवां गुण स्थान उपशान्तकषाय हो जाता है और इस गुणस्थान में मोहनीय की २८ प्रकृतियों का उपशम रहता है।१७१

यद्यपि उपशम श्रेणि में मोहनीय कर्म की समस्त प्रकृतियों का पूरी तरह उपशम किया जाता है, परतु उपशम कर देने पर भी उस कर्म का अस्तित्व तो बना ही रहता है। जैसे कि गदे पानी में फिटकरी आदि डालने से पानी की गाद उसके तले में बैठ जाती है और पानी निर्मल हो जाता है, किन्तु उसके नीचे गदगी ज्यों कि त्यों बनी रहती है। वैसे ही

बंध ही होता है और न उदय ही, उनके अन्तरकरण सबधी दलिकों का अन्य प्रकृतियों में क्षेपण करता है।

अन्तरकरण करके एक अन्तर्मुहूर्त में नपुंसक वेद का उपशम करता है, उसके बाद एक अन्तर्मुहूर्त में स्त्रीवेद का उपशम और उसके बाद हास्यादि षट्क का उपशम होते ही पुरुषवेद के बध, उदय और उदीरणा का विच्छेद है।

हास्यादि षट्क की उपशमना के अनन्तर समय कम दो आवलिका मात्र में सकल पुरुषवेद का उपशम करता है। जिस समय में हास्यादि षट्क उपशान्त हो जाते हैं और पुरुषवेद की प्रथम स्थिति क्षीण हो जाती है, उसके अनन्तर समय में अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन क्रोध का एक साथ उपशम करना प्रारभ करता है और जब सज्वलन क्रोध की प्रथम स्थिति में एक आवलिका काल शेष रह जाता है तब सज्वलन क्रोध के बध, उदय और उदीरणा का विच्छेद हो जाता है तथा अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण क्रोध का उपशम। उस समय सज्वलन क्रोध की प्रथम स्थितिगत एक आवलिका को और ऊपर की स्थितिगत एक समय कम दो आवलिका में बद्ध दलिकों को छोड़कर शेष दलिक उपशान्त हो जाते हैं। उसके बाद समय कम दो आवलिका काल में सज्वलन क्रोध का उपशम हो जाता है।

जिस समय में सज्वलन क्रोध के बध, उदय और उदीरणा का विच्छेद होता है, उसके अनन्तर समय से लेकर सज्वलन मान की द्वितीय स्थिति से दलिकों को लेकर प्रथम स्थिति करता है। प्रथम स्थिति करने के समय से लेकर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन मान का एक साथ उपशम करना प्रारभ करता है। संज्वलन मान की प्रथम स्थिति में समय कम तीन आवलिका शेष रहने पर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण मान के दलिकों का संज्वलन मान में प्रक्षेप नहीं किया जाता, किंतु सज्वलन माया आदि में किया जाता है। एक आवलिका शेष रहने पर संज्वलन मान के बध, उदय और उदीरणा का विच्छेद हो जाता है और अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण मान का उपशम हो जाता है। उस समय में सज्वलन मान की प्रथम स्थितिगत एक आवलिका और एक समय कम दो आवलिका में बाँधे गये ऊपर की स्थितिगत कर्मदलिकों को छोड़कर शेष दलिकों का उपशम हो जाता है। उसके बाद समय कम दो आवलिका में सज्वलन मान का उपशम करता है।

जिस समय में सज्वलन मान के बध, उदय और उदीरणा का विच्छेद होता है, उसके अनन्तर समय से लेकर संज्वलन माया की द्वितीय स्थिति से दलिकों को लेकर पूर्वोक्त प्रकार से प्रथम स्थिति करता है और उसी समय से लेकर तीनों माया का एक साथ

उपशम करना प्रारंभ करता है। सज्वलन माया की प्रथम स्थिति में 'समय कम तीन' आवलिका शेष रहने पर अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण माया के दलिकों का संज्वलन माया में प्रक्षेप नहीं करता। किन्तु संज्वलन लोभ में प्रक्षेप करता है और एक आवलिका शेष रहने पर सज्वलन माया के बध, उदय और उदीरणा का विच्छेद हो जाता है तथा अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण माया का उपशम हो जाता है। उस समय में सज्वलन माया की प्रथम स्थितिगत एक आवलिका और 'समय कम दो' आवलिका में बाँधे गये ऊपर की स्थितिगत दलिकों को छोड़कर शेष का उपशम हो जाता है। उसके बाद 'समय कम दो' आवलिका में सज्वलन माया का उपशम करता है।

जब सज्वलन माया के बध, उदय और उदीरणा का विच्छेद होता है, उसके अनन्तर समय से लेकर सज्वलन लोभ की द्वितीय स्थिति से दलिकों को लेकर पूर्वोक्त प्रकार से प्रथम स्थिति करता है। लोभ का जितना वेदन काल होता है, उसके तीन भाग करके - १) अश्वकरणाद्धा, २) किट्टीकरणाद्धा और ३) किट्टीवेदनाद्धा, उनमें से दो भाग प्रमाण प्रथम स्थिति का काल रहता है। प्रथम त्रिभाग में पूर्व स्पर्धकों में से दलिकों को लेकर अपूर्वस्पर्धक करता है - पहले के स्पर्धकों में से दलिकों को ले-लेकर उन्हे अत्यत रसहीन कर देता है। द्वितीय विभाग में पूर्वस्पर्धकों और अपूर्वस्पर्धकों से दलिकों को लेकर अनन्त कृष्टि करता है - उनमें अनन्तगुणा हीन रस करके उन्हें अंतराल से स्थापित कर देता है। कृष्टिकरण के काल के अत समय में अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण लोभ का उपशम करता है। उसी समय में सज्वलन लोभ के बंध का विच्छेद होता है। उसके साथ ही नौवें अनिवृत्तिकरण गुणस्थान का अत हो जाता है।

इसके बाद दसवा सूक्ष्मसपराय गुणस्थान होता है। इस गुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त है। उसमें आने पर ऊपर की स्थिति से कुछ कृष्टियों को लेकर सूक्ष्मसंपराय काल के बराबर प्रथम स्थिति को करता है और 'एक समय कम दो' आवलिका में बधे हुए शेष दलिकों का उपशम करता है। सूक्ष्म संपराय के अतिम समय में संज्वलन लोभ का उपशम हो जाता है। उसी समय में ज्ञानावरण की पाँच, दर्शनावरण की चार, अंतराय की पाँच, यश, कीर्ति और उच्च गोत्र, इन प्रकृतियों के बंध का विच्छेद होता है। अनन्तर समय में ग्यारहवां गुण स्थान उपशान्तकषाय हो जाता है और इस गुणस्थान में मोहनीय की २८ प्रकृतियों का उपशम रहता है।[१७१]

यद्यपि उपशम श्रेणि में मोहनीय कर्म की समस्त प्रकृतियों का पूरी तरह उपशम किया जाता है, परंतु उपशम कर देने पर भी उस कर्म का अस्तित्व तो बना ही रहता है। जैसे कि गंदे पानी में फिटकरी आदि डालने से पानी की गाद उसके तले में बैठ जाती है और पानी निर्मल हो जाता है, किन्तु उसके नीचे गदगी ज्यों कि त्यों बनी रहती है। वैसे ही

उपशम श्रेणि में जीव के भावों को कलुषित करने वाला प्रधान कर्म मोहनीय शांत कर दिया जाता है। अपूर्वकरण आदि परिणाम जैसे-जैसे ऊपर चढ़ते जाते हैं वैसे-वैसे मोहनीय कर्म की धूलिरूपी उत्तर प्रकृतियों के कण एक के बाद एक उत्तरोत्तर शात हो जाते हैं। इस प्रकार से उपशम की गई प्रकृतियों में न तो स्थिति और अनुभाग को कम किया जा सकता है और न बढाया जा सकता है। न उनका उदय या उदीरणा हो सकती है और न उन्हें अन्य प्रकृति रूप ही किया जा सकता है।[१८०] किन्तु यह उपशम तो अन्तर्मुहूर्त काल के लिए किया जाता है। अत दसवें गुणस्थान में सूक्ष्म लोभ का उपशम करके जब जीव ग्यारहवें गुणस्थान में पहुँचता है तो कम से कम एक समय और अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त के बाद उपशम हुई कषायें अपना उद्रेक कर बैठती हैं। जिसका फल यह होता है कि उपशम श्रेणि का आरोहक जीव जिस क्रम से ऊपर चढा था, उसी क्रम से नीचे उतरना शुरू कर देता है और उसका पतन प्रारभ हो जाता है। उपशात कषायवाले जीव का पतन अवश्यभावी है। उपशम श्रेणि आरोहक जीव यदि काल (मरण) कर लेता है तो अहमिन्द्रों में उत्पन्न होता है और यदि दीर्घायु वाला होता है तो उपशान्त मोह गुणस्थान में मोहनीय कर्म को उपशात करता है। [१८१]

ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती उपशम श्रेणि आरोहक उतरते-उतरते सातवें या छठे गुणस्थान में ठहरता है और यदि वहाँ से भी अपने को सभाल नही पाता है तो पाँचवें और चौथे गुणस्थान में पहुँचता है। यदि अनतानुबधी का उदय आ जाता है तो सासादन सम्यग्दृष्टि होकर पुन्हा मिथ्यात्व में पहुँच जाता है।[१८२]

लेकिन यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि यदि पतनोन्मुखी उपशम श्रेणि का आरोहक छठे गुणस्थान में आकर संभल जाता है तो पुन उपशम श्रेणि चढ़ सकता है। क्योंकि एक भव में दो बार उपशम श्रेणि चढ़ने का उल्लेख पाया जाता है। परंतु जो जीव दो बार उपशम श्रेणि चढ़ जाता है, वह जीव उसी भव में क्षपक श्रेणि का आरोहक नहीं बन सकता। जो एक बार उपशम श्रेणि चढ़ता है वह कार्मग्रंथिक मतानुसार दूसरी बार क्षपक श्रेणि भी चढ़ सकता है, किन्तु सैद्धांतिक मतानुसार तो एक भव में एक जीव एक ही श्रेणि चढ़ सकता है, और भी ऐसा कहा जाता है कि संपूर्ण ससारचक्र में एक जीव को चार बार ही उपशम श्रेणि होती है।[१८३]

उपशम श्रेणि में भी अनन्तानुबधी आदि का उपशम किया जाता है। वेदक सम्यक्त्व, देश चारित्र और सकल चारित्र की प्राप्ति उक्त प्रकृतियों के क्षयोपशम से होती है। अत उपशम श्रेणि का प्रारंभ करने से पहले उक्त प्रकृतियों का क्षयोपशम रहता है, न कि उपशम। इसीलिए उपशम श्रेणि में अनंतानुबंधी आदि के उपशम को बतलाया है।

उपशम और क्षयोपशम में अन्तर :- क्षयोपशम उदय में आये हुए कर्मदलिकों के क्षय और सत्ता में विद्यमान कर्मों के उपशम से होता है। क्षयोपशम में घातक कर्मों का प्रदेशोदय रहता है और उपशम में किसी भी तरह का उदय नही - न तो प्रदेशोदय और न रसोदय। क्षयोपशम में प्रदेशोदय होने पर भी सम्यक्त्व आदि का घात न होने का कारण यह है कि उदय दो प्रकार का है - फलोदय और प्रदेशोदय। लेकिन फलोदय होने से गुण का घात होता है और प्रदेशोदय के अत्यन्त मद होने से गुण का घात नही होता है। इसीलिए उपशम श्रेणि में अनन्तानुबधी आदि का फलोदय और प्रदेशोदय रूप दोनों प्रकार का उपशम माना जाता है।[१८४]

क्षपक श्रेणि

उपशम श्रेणि और क्षपक श्रेणि में अतर :- उपशम श्रेणि और क्षपक श्रेणि में यह अतर है कि इन दोनों श्रेणियों के आरोहक मोहनीय कर्म के उपशम और क्षय करने के लिए अग्रसर होते हैं। लेकिन उपशम श्रेणि में तो प्रकृतियों के उदय को शांत किया जाता है, प्रकृतियों की सत्ता बनी रहती है और अन्तर्मुहूर्त के लिए अपना फल दे सकती है किन्तु क्षपक श्रेणि में उनकी सत्ताही नष्ट कर दी जाती है, जिससे उसके पुन उदय होने का भय नहीं रहता है। इसी कारण क्षपक श्रेणि में पतन नही होता है। इन दोनों श्रेणियों में दूसरा अंतर यह है कि उपशम श्रेणि में सिर्फ मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का ही शमन होता है लेकिन क्षपक श्रेणि में मोहनीय कर्म की प्रकृतियों के साथ नाम कर्म की कुछ प्रकृतियों और ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अतराय कर्म की प्रकृतियों का भी क्षय होता है।

क्षपक आरोहक जीव अनतानुबधी कषाय, मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय, सम्यक्त्व मोहनीय, तीन आयु, एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, स्त्यानर्द्धित्रिक, उद्योत नाम, तिर्यचद्विक, नरकद्विक, स्थावरद्विक, साधारण नाम, आतप नाम, आठ (दूसरी और तीसरी) कषाय, नपुसक वेद, स्त्री वेद तथा हास्यादि षट्क, पुरुषवेद, सज्वलन कषाय, दो निद्रायें, पाँच अतराय, पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण इन प्रकृतियों का क्षय करके केवलज्ञानी होता है। क्षपक श्रेणि में प्रकृतियों के क्षय का क्रम इस प्रकार है -

आठ वर्ष से अधिक आयु वाला उत्तम संहनन का धारक, चौथे, पाँचवें, छठे अथवा सातवें गुणस्थानवर्ती मनुष्य क्षपक श्रेणि प्रारभ करता है। सबसे पहले वह अनतानुबधी कषाय चतुष्क का एक साथ क्षय करता है और उसके शेष अनंतवें भाग को मिथ्यात्व में स्थापन करके मिथ्यात्व और उस अंश का एक साथ नाश करता है। उसके बाद इस प्रकार क्रमश सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति का क्षय करता है।

जब सम्यग्मिथ्यात्व की स्थिति एक आवलिका मात्र बाकी रह जाती है, तब सम्यक्त्व मोहनीय की स्थिति आठ वर्ष प्रमाण बाकी रहती है। उसके अन्तर्मुहूर्त प्रमाण

खड कर- करके खपाता है। जब उसके अतिम स्थितिखण्ड को खपाता है तब उस क्षपक को कृतकरण कहते हैं। इस कृतकरण के काल में यदि कोई जीव मरता है तो वह चारों गतियों में से किसी भी गति में उत्पन्न हो सकता है।

यदि क्षपक श्रेणि का प्रारंभ बद्धायु जीव करता है और अनतानुबंधी के क्षय के पश्चात् उसका मरण हो तो उस अवस्था में मिथ्यात्व का उदय होने पर वह जीव पुन· अनंतानुबधी का बध करता है, क्योंकि मिथ्यात्व के उदय में अनन्तानुबधी नियम से बंधती है। किंतु मिथ्यात्व का क्षय हो जानेपर पुन अनंतानुबंधी का बध नही होता। बद्धायु होने पर भी यदि कोई जीव उस समय मरण नही करता है तो अनतानुबधी कषाय और दर्शन मोह का क्षपण करने के बाद वह वही ठहर जाता है। चारित्र मोहनीय के क्षपण करने का प्रयत्न नहीं करता है। यदि अबद्धायु होता है तो वह उस श्रेणि को समाप्त करके केवलज्ञान प्राप्त करता है। अत अबद्धायुष्क सकल श्रेणि को समाप्त करने वाले मनुष्य के तीन आयु देवायु, नरकायु और तीर्यंचायु का अभाव तो स्वत ही हो जाता है। तथा पूर्वोक्त क्रम से अनंतानुबंधी चतुष्क और दर्शनत्रिक का क्षय चौथे आदि चार गुणस्थानों में कर देता है।

इस प्रकार दर्शन मोह सप्तक का क्षय करने के पश्चात् चारित्रमोहनीय का क्षय करने के लिये यथाप्रवृत्त आदि तीन करणों को करता है। अपूर्वकरण में स्थितिघात आदि के द्वारा अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क और प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क कुल आठ प्रकृतियों का इस प्रकार क्षय किया जाता है कि अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय में उनकी स्थिति पल्य के असख्यातवें भाग मात्र रह जाती है। अनिवृत्तिकरण के सख्यात भाग बीत जाने पर -स्त्यानर्द्धित्रिक, नरकगति, नरकानुपूर्वी, तिर्यंचगति, तिर्यचानुपूर्वी, एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय त्रिक ये चार जातियाँ, स्थावर, आतप, उद्योत, सूक्ष्म और साधारण इन सोलह प्रकृतियों की स्थिति उद्वलना संक्रमण के द्वारा उद्वलना होने पर पल्य के असंख्यातवें भाग मात्र रह जाती है और उसके बाद गुणसक्रमण के द्वारा बध्यमान प्रकृतियों में उनका प्रक्षेप कर-करके उन्हें बिल्कुल क्षीण कर दिया जाता है। क्योंकि क्षपक मुनि अनिवृत्तिगुणस्थान के नौ विभाग में से प्रथम विभाग में उपरोक्त सोलह प्रकृतियों का क्षय करता है। द्वितीय विभाग में अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण इन दोनों के आठ कषायों का अन्तर्मुहूर्त में ही क्षय कर देता है। ऊसके पश्चात् नौ नोकषाय और चार सज्वलन कषायों में अन्तरकरण करता है। फिर क्रमश तीसरे विभाग में नपुसकवेद, चौथे विभाग में स्त्रीवेद और पाँचवें विभाग में हास्यादि छह नोकषायों का क्षपण करता है और उसके बाद शेष चार विभागों में क्रमश आत्मा की अत्यधिक विशुद्धि होने के कारण प्रथम पुरुषवेद, तदनतर संज्वलन क्रोध, मान और माया का क्षपण करता है, अर्थात् पुरुषवेद के तीन खण्ड करके दो खण्डों का एक साथ क्षपण करता है और तीसरे खण्ड को सज्वलन क्रोध में मिला देता है।

उक्त क्रम पुरुषवेद के उदय से श्रेणि चढ़नेवाले के लिए बताया है। यदि स्त्री श्रेणि पर आरोहण करती है तो पहले नपुंसकवेद का क्षपण करती है, उसके बाद क्रमश पुरुषवेद, छह नो कषाय और स्त्रीवेद का क्षपण करती है। यदि नपुंसक श्रेणि आरोहण करता है, तो वह पहले स्त्रीवेद का क्षपण करता है, उसके बाद क्रमशः पुरुषवेद, छह नो कषाय, और नपुंसकवेद का क्षपण करता है।

वेद के क्षपण के बाद सञ्ज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ का क्षपण उक्त प्रकार से करता है। यानी संज्वलन क्रोध के तीन खण्ड करके दो खण्डों का तो एक साथ क्षपण करता है और तीसरे खड को संज्वलन मान में मिला देता है। इसी प्रकार मान के तीसरे खण्ड को माया में मिलाता है और माया के तीसरे खंड को लोभ में मिलाता है। प्रत्येक के क्षपण करने का काल अन्तर्मुहूर्त है और श्रेणि काल अन्तर्मुहूर्त है किन्तु वह अन्तर्मुहूर्त बड़ा है।

सञ्ज्वलन लोभ के तीन खंड करके दो खडों का तो एक साथ क्षपण करता है किन्तु तीसरे खंड के संख्यात खड करके चरम खंड के सिवाय शेष खंडों को भिन्न-भिन्न समय में खपाता है और फिर उस चरम खड के भी असंख्यात खड करके उन्हें दसवें गुणस्थान में भिन्न-भिन्न समय में खपाता है। इस प्रकार लोभ कषाय का पूरी तरह क्षय होने पर अनन्तर समय में क्षीण कषाय हो जाता है। क्षीणकषाय गुणस्थान में क्षपक श्रेणी आरोहक जीव को एकत्व-वितर्क-अविचार नामक द्वितीय शुक्लध्यान की अवस्था प्राप्त होती है। इस ध्यानावस्था में जीव को स्वस्वरूप का अनुभव होने से समरसी भाव उत्पन्न होता है। क्षीण कषाय गुणस्थान के काल के सख्यात भागों में से एक भाग काल बाकी रहने तक मोहनीय के सिवाय शेष कर्मों में स्थितिघात आदि पूर्ववत् होते हैं। तथा दूसरे शुक्लध्यान के योग से कर्मसमूह का नाश करते हुए ध्यानयोगी पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, पाँच अतराय और दो निद्रा (निद्रा और प्रचला) इन सोलह प्रकृतियों की स्थिति को क्षीण कषाय के काल के बराबर करता है किन्तु निद्राद्विक की स्थिति को एक समय कम करता है। इनकी स्थिति के बराबर होते ही इनमें स्थितिघात आदि कार्य बन्द हो जाते हैं और शेष प्रकृतियों के होते रहते हैं। -क्षीण कषाय के उपान्त समय में निद्राद्विक का क्षय करता है और शेष चौदह प्रकृतियों का अंतिम समय में क्षय करता है और उसके अनन्तर समय में वह सयोगीकेवली (केवलज्ञानी) हो जाता है।

यह सयोगीकेवली अवस्था जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से कुछ कम एक पूर्व कोटि काल की होती है। इस काल में भव्य जीवों के प्रतिबोधार्थ देशना, विहार आदि करते हैं। इस अवस्था में शुद्ध क्षायिक भाव, उत्कृष्ट क्षायिक सम्यक्त्व तथा निश्चय क्षायिक यथाख्यात चारित्र होता है। इस गुणस्थानवर्ती जीव के यदि वेदनीय आदि कर्मों

की स्थिति आयुकर्म से अधिक होती है, तो उनके समीकरण के लिए यानी आयुकर्म की स्थिति के बराबर वेदनीय आदि तीन अघातियाँ कर्मों की स्थिति को करने के लिए समुद्घात करते हैं, जिसे केवलीसमुद्घात कहते हैं। केवलीसमुद्घात से निवृत्त होने के बाद मन, वचन और कायवाला होने से, उनके योगनिरोध करने के लिए तीसरे शुक्लध्यान का उपक्रम करते हैं। यदि आयुकर्म के बराबर ही वेदनीय आदि कर्मों की स्थिति हो तो समुद्घात नही करते हैं। केवलीसमुद्घात की प्रक्रिया का स्वरूप आगे वर्णन करेंगे।

योग के निरोध का उपक्रम यानी तीसरे शुक्लध्यान की प्रक्रिया ही है सो इस प्रकार है कि सबसे पहले बादर काययोग के द्वारा बादर मनोयोग को रोकते हैं, उनके पश्चात् बादर वचनयोग को रोकते हैं और उसके पश्चात् सूक्ष्म काय के द्वारा बादर काययोग को रोकते हैं, उसके बाद सूक्ष्म मनोयोग को, उसके पश्चात् सूक्ष्म वचनयोग को रोकते हैं। इस प्रकार बादर, सूक्ष्म मनोयोग, वचनयोग और बादर काययोग को रोकने के पश्चात् सूक्ष्म काययोग को रोकने के लिए शुक्लध्यान का चतुर्थ भेद सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ध्यान को ध्याते हैं। उस ध्यान में स्थितिघात आदि के द्वारा सयोगी अवस्था के अतिम समयपर्यंत आयुकर्म के सिवाय शेष कर्मों का अपवर्तन करते हैं। ऐसा करने से अन्तिम समय में सब कर्मों की स्थिति अयोगी अवस्था के काल के बराबर हो जाती है। यहाँ इतना विशेष समझना चाहिये कि अयोगी अवस्था में जिन कर्मों का उदय नही होता है, उनकी स्थिति एक समय कम होती है। योग निरोध का विशेष वर्णन आगे करेंगे।

सयोगकेवली गुणस्थान के अतिम समय में साता वा असाता वेदनीय में से कोई वेदनीय, औदारिक, तैजस, कार्मण, छह सस्थान, प्रथम सहनन, औदारिक अगोपाग, वर्ण चतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, शुभ और अशुभ विहायोगति, प्रत्येक,स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुस्वर, दु स्वर और निर्माण इन तीस प्रकृतियों के उदय और उदीरणा का विच्छेद हो जाता है और उसके अनन्तर समय में अयोगकेवली हो जाते हैं। इसमें शैलेशी अवस्था प्राप्त हो जाती है।

इस अयोगिकेवली अवस्था में व्युपरतक्रियाप्रतिपाती ध्यान को करते हैं। यहा स्थितिघात आदि नही होता है, अत जिन कर्मों का उदय होता है, उनको तो स्थिति का क्षय होने से अनुभव करके नष्ट कर देते हैं, किन्तु जिन प्रकृतियों का उदय नही होता, उनका स्तिबुक सक्रम के द्वारा वेद्यमान प्रकृतियों में सक्रम करके अयोगी अवस्था के उपान्त समय तक वेदन करते हैं और उपान्त समय में ७२ प्रकृतियों (५ शरीर, ५ बधन, ५ सघातन, ३ अगोपाग, ६ सस्थान, ५ वर्ण, ५ रस, ६ संघयण, ८ स्पर्श, २ गध, नीचगोत्र, अनादेय नाम, दुभग नाम, अगुरुलघुनाम, उपघात, पराघात, निर्माण, अपर्याप्त,

उच्छ्वास, अयश नाम, २ विहायोगति, शुभ नाम, अशुभ नाम, स्थिर नाम, अस्थिर नाम, देवगति, देवानुपूर्वी, प्रत्येक नाम, सुस्वर नाम और दु स्वर नामकर्म तथा दो वेदनीय में से एक वेदनीय) का और अंत समय में १३ प्रकृतियों (वेदनीय, आदेयनाम, पर्याप्त नाम, त्रस नाम, बादर नाम, मनुष्यायु, सुयशनाम, मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, सुभगनाम, उच्च गोत्र, पचेन्द्रियजाति और तीर्थंकर नाम कर्म) का क्षय करके निराकार, निरजन होकर नित्य सुख के धाम मोक्ष को प्राप्त करते हैं। सिद्ध परमात्मा की पूर्वप्रयोग से, असग भाव से, बध के विमोक्ष से और स्वभाव के परिणाम से ऊर्ध्वगति होती है। क्रमश इन सबके लिये कुम्हार का चक्र, झुला एवं बाण की गति, तुम्बे का मल हटते ही, एरण्ड का बीज आदि के उदाहरण से सिद्ध परमात्मा के स्वाभाविक ऊर्ध्वगति का बोध कराया गया है।

इस प्रकार से क्षपक श्रेणि[१८५] का स्वरूप समझना चाहिये। उपशम श्रेणि में नौवें गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान और क्षपक श्रेणी में नौवें गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक गुणस्थान होते हैं इस प्रकार ध्यान और गुणस्थान का विवेचन समाप्त हुआ। (इस प्रकार ध्यान का गुणस्थान के साथ संबध है)

(३) ध्यान और कायोत्सर्ग

मानसिक, वाचिक और कायिक ऐसे तीन प्रकार के ध्यान माने जाते हैं। उनमें कायिक ध्यान को कायोत्सर्ग कहा जाता है। काय+उत्सर्ग इन दो शब्दों के योग से कायोत्सर्ग शब्द बना है। काय शब्द के अनेक पर्यायवाची शब्द हैं जैसे कि काय, शरीर, देह, बोन्दि, चय, उपचय, सघात, उच्छ्रय, समुच्छ्रय कलेवर, भस्त्रा, तनु और पाणु तथा उत्सर्ग के व्युत्सर्जन, उज्झन, अवकिरण, छर्दन, विवेक, वर्जन, त्यजन, उन्मोचना, परिशातना और शातता अनेक पर्यायवाची शब्द हैं। कायिक ध्यान के बाद ही मानसिक व वाचिक ध्यान हो सकता है। मानसिक एकाग्रता के लिये कायिक ध्यान अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि कायिक ध्यान की सफलता के मूल तत्त्व श्वास की मदता और शरीर की शिथिलता है। शरीर की शिथिलता और श्वास की मदता जितनी अधिक होती है उतना ही कायिक ध्यान सफल होता है। शारीरिक और मानसिक तनावों का विसर्जन करके शिथिलीकरण की प्रक्रिया करना ही कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग दो प्रकार का होता है - १ चेष्टा और २ अभिभव। भय मोहनीय कर्म की प्रकृति है। उसका अभिभव (जीतना) करने के लिये ही कायोत्सर्ग किया जाता है, बाह्य कारणों का पराभव करने के लिये नही। भय उत्पन्न होने के तीन मूल बताये गये हैं - देव, मनुष्य और तिर्यंच संबंधी। उनका अभिभव करने के लिये कायोत्सर्ग नही किया जाता है। किन्तु देवसिक आदि क्रियाओं में लगने वाले अतिचारों को (दोष) जानने के लिये कायोत्सर्ग किया जाता है। कायोत्सर्ग से देहजाड्यशुद्धि, मतिजाड्यशुद्धि, सुख-दु ख तितिक्षा, अनुप्रेक्षा एवं एकाग्रता की प्राप्ति

होती है। इसलिये अभिभव कायोत्सर्ग का उत्कृष्ट कालमान एक वर्ष और जघन्य अन्तर्मुहूर्त का माना गया है।[१८६]

कायोत्सर्ग के अनेक प्रकार माने गये हैं -[१८७] उच्छ्रित-उच्छ्रित, उच्छ्रित-उच्छ्रित-निषण्ण, निषण्ण-उच्छ्रित, निषण्ण, निषण्ण-निषण्ण, निषण्ण-उच्छ्रित, निपन्न (सुप्त), निपन्न-निपन्न। इनमें मुख्य तीन ही शब्द हैं-उच्छ्रित, निषण्ण और निपन्न। इन तीनों के द्रव्य और भाव से चार-चार विकल्प किये जाते हैं। यथा द्रव्य से उच्छ्रित, भाव से उच्छ्रित, द्रव्य से उच्छ्रित, भाव से अनुच्छ्रित, द्रव्य से अनुच्छ्रित, भाव से उच्छ्रित द्रव्य से अनुच्छ्रित, भाव से अनुच्छ्रित। ऐसे ही निषण्ण और निप्पन्न के भी चार चार विकल्प समझना।

खड़े-खड़े, बैठे-बैठे अथवा सोये-सोये भी कायोत्सर्ग किया जा सकता है। जैसे कि खड़े-खड़े धर्मध्यान और शुक्लध्यान की प्रवृत्ति करना उच्छ्रित-उच्छ्रित कायोत्सर्ग है। खड़े होकर कायोत्सर्ग करना द्रव्यत उच्छ्रित और धर्म-शुक्लध्यान करना भावत उच्छ्रित है। आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल इन चारों में किसी भी ध्यान में प्रवृत्त नहीं होना, यह द्रव्यत॰ उच्छ्रित कायोत्सर्ग है। खड़े रहकर कायोत्सर्ग करना द्रव्यत उच्छ्रित और ध्यान का अभाव भावत शून्य है। खड़े होकर आर्त-रौद्र ये दो ध्यान करना द्रव्यत और भावत निषण्ण कायोत्सर्ग है। बैठकर धर्म और शुक्ल ध्यान में संलग्न होना निषण्ण उच्छ्रित कायोत्सर्ग है। बैठकर कायोत्सर्ग करना द्रव्यत॰ निषण्ण। धर्म-शुक्ल ध्यान करना भावत॰ उच्छ्रित। धर्म, शुक्ल अथवा आर्त-रौद्र इन चारों ध्यानों में से किसी भी ध्यान में सलग्न नहीं होना निषण्ण कायोत्सर्ग है। बैठकर कायोत्सर्ग करना द्रव्यत निषण्ण और ध्यान का अभाव भावत शून्य है। बैठकर आर्त रौद्र ध्यान में सलग्न होना निषण्ण-निषण्ण कायोत्सर्ग है। बैठकर कायोत्सर्ग करना द्रव्यत॰ निषण्ण व आर्त रौद्र ध्यान करना भावत निषण्ण। सोते-सोते धर्म और शुक्लध्यान में संलग्न होना निपन्न-उच्छ्रित कायोत्सर्ग है। सोये हुए कायोत्सर्ग करना-द्रव्यतः निपन्न और धर्म-शुक्लध्यान करना-भावत उच्छ्रित। धर्म, शुक्ल अथवा आर्त, रौद्र इन चार में से किसी भी ध्यान में संलग्न नहीं होना निपन्न कायोत्सर्ग है। सोये हुए कायोत्सर्ग करना द्रव्यत॰ निपन्न और ध्यान का अभाव-भावत॰ शून्य। सोये हुए आर्त रौद्र ध्यान में संलग्न होना निपन्न-निपन्न कायोत्सर्ग है। सोये हुए कायोत्सर्ग करना द्रव्यत निपन्न और आर्त रौद्र ध्यान करना - भावत निपन्न।

इस प्रकार कायोत्सर्ग वाचिक और मानसिक ध्यान का प्रवेश द्वार है।

ध्यान और गति

ससार परिभ्रमण का नाम गति है। आगम एवं अन्य ग्रन्थों में चार प्रकार की

गति का वर्णन है - तिर्यंचगति, नरक गति, देवगति और मनुष्यगति इन चारों गति में मनुष्य गति ही श्रेष्ठ है जिसके द्वारा मोक्ष को प्राप्त किया जाता है। चार गति के अनुसार ही चार ध्यान का वर्णन है। ससार के सभी प्राणी आर्त-रौद्र ध्यान तो सतत करते ही रहते हैं जिसके फलस्वरूप तिर्यंचगति और नरकगति में सतत परिभ्रमण करना पड़ता है। परन्तु ध्यानयोग धर्म शुक्लध्यान की साधना से साधक देवगति और मनुष्यगति में परिभ्रमण करता है और शुक्लध्यान से मोक्ष प्राप्त करता है।[१८८]

जैन धर्मानुसार ध्यान साधना की परम्परा

जैन धर्म की ध्यान साधना परम्परा को हम तीन विभागों में विभाजित कर सकते हैं- १. आगम युग (प्राचीन युग) २. योग युग (मध्य युग) और ३. वर्तमान युग।

आगम युग

आगम युग में ध्यान की मौलिक पद्धति क्या थी? इसका उत्तर हम अपने क्षयोपशम के अनुसार करेंगे।

भगवान महावीर से लेकर आचार्य कुन्दकुन्द तक के काल में ध्यान की मौलिक पद्धति उपलब्ध होती है। भगवान महावीर ने साढ़े बारह वर्ष के साधना काल में अधिकाश भाग ध्यान साधना में ही बिताया। उनकी शिष्यसपदाओं में कितनेक शिष्यों को 'ध्यानकोष्ठोपगत' विशेषण लगाया हुआ है।[१८९] इससे स्पष्ट होता है कि उस समय भी ध्यान परपरा थी। आगमकालीन ध्यान पद्धति का अनुसन्धान करने से स्पष्ट होता है कि उस समय 'कायोत्सर्ग', 'भावना', 'अप्रमत्त' और 'समत्व' शब्द मिलते हैं। कायोत्सर्ग जड़ चेतन के भेदज्ञान का प्रथम बिन्दु है। महावीर ने साधना कालीन जीवन में अनेक उपसर्ग परीषह सहन किये, किन्तु घबराये नही। स्थान स्थान पर कायोत्सर्ग ध्यान[१९०] में खड़े रहकर भेदविज्ञान का चिंतन करते रहे, जिससे वेदना का अनुभव नहीं हुआ। आगम में एकत्व भावना[१९१] के फलस्वरूप रागद्वेषरहित एकमात्र आत्मा के चिन्तन द्वारा शरीर के ममत्व का त्याग और चित्तवृत्तियाँ (मन की चचलता) का निरोध करना ही ध्यान है। अप्रमत्त अवस्था ही धर्मध्यान और शुक्लध्यान की स्थिति है। भगवान महावीर ने घरों में, सभाओं में, वनों में, दुकानों में, लुहार शाला में, चौक में, ग्राम के बाहर, श्मशान भूमि एव वृक्ष के नीचे एव अन्य बस्तियों के स्थान में निरतर अप्रमत्त स्थिति में लीन रहकर समाधिपूर्वक धर्मध्यान और शुक्लध्यान में लीन रहे।[१९२] भगवान महावीर ने अपने साधनाकालीन जीवन में देव, मनुष्य, तिर्यंच संबंधी अनुकूल प्रतिकूल उपसर्ग-परीषहों को समभाव से सहन किया।[१९३] इन चार शब्दों के अन्तर्गत ही प्राचीन ध्यान की मौलिक पद्धति स्पष्ट होती है। ध्यानकोष्ठोपगत विशेषण से सम्पन्न महावीर कालीन साधक कोठे

में भरे हुए अनाज की तरह तप सयम की साधना से आत्मा को ध्याते हुये विचरण करते थे।[१९४]

आगमकालीन ध्यान पद्धति को हम निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त करते हैं - १ निरीक्षणात्मक पद्धति, २ समीक्षणात्मक पद्धति, ३ विश्लेषणात्मक पद्धति और ४ प्रयोगात्मक पद्धति। इन चारों पद्धतियों का स्वरूप भगवान महावीर की शिष्य सपदाओं में उपलब्ध होता है। क्योंकि उनमें कितनेक केवलज्ञानी, मन पर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी एव कितनेक विभिन्न २८ प्रकार की लब्धियों के धारक थे। ध्यान साधना के बिना ये लब्धियाँ सभव नही।[१९५] आगमकालीन मौलिक ध्यान साधना पद्धति का क्रम भगवान महावीर के निर्वाण की दूसरी शताब्दी तक अविच्छिन्न रूप से चलता रहा।

चतुर्दशपूर्वधरों में अन्तिम पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु को माना जाता है। उन्होंने नेपाल में बारह वर्ष तक 'महाप्राण'[१९६] ध्यान की साधना की। तदनन्तर आचार्यों की ध्यान पद्धति को 'ध्यान सवर योग' अथवा 'सर्वसवरयोगध्यान' कहा गया है।[१९७]

दूसरी शताब्दी के बाद केवलज्ञान, मन पर्यवज्ञान, परम अवधिज्ञान, यथाख्यात चारित्र, सूक्ष्मसपराय चारित्र आदि विच्छिन्न हो गये और आचार्य भद्रबाहु के बाद चतुर्दशपूर्वों का ज्ञान भी विच्छिन्न हो गया। साथ ही साथ आगमकालीन ध्यान पद्धति के विच्छेद की चर्चा भी शुरू हो गई। आचार्य कुन्दकुन्दाचार्य ने 'मोक्षपाहुड' में लिखा है कि 'कुछ मुनि का कथन है कि पाचवें आरे में ध्यान नही हो सकता। यह काल ध्यान के लिये उचित्त नही है''।[१९८] तभी से ध्यान के विषय में दो धारायें प्रचलित हो गईं - १ निषेधक और २ समर्थक। निषेधक का कथन था कि वर्तमान में ध्यान नही हो सकता और समर्थक का कथन था कि उत्तम सहनन के अभाव में शुक्लध्यान नही हो सकता किन्तु धर्मध्यान हो सकता है। उमास्वाती, पुष्पदन्त, भूतबलि, वीरसेनाचार्य, जिनभद्रगणि क्षमा श्रमण आदि द्वितीय धारा के समर्थक थे। यह निषेध और समर्थन ध्यान परम्परा आचार्य रामसेन (वि सं ९-१० शताब्दी) तक चलती रही। उन्होंने ''तत्त्वानुशासन नामक ध्यान शास्त्र'' ग्रन्थ में[१९९] कुदकुदाचार्य के शब्दों को दोहराया है।

आचार्य कुदकुदाचार्य (वि १ शताब्दी) ने अपने ग्रन्थों में आगमकालीन ध्यान साधना का नया क्षेत्र खोला, उनके कथनानुसार शुद्ध प्रतिक्रमण ही ध्यान है। जो अनादिकालीन मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र का सम्यग्दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र की भावना से प्रतिक्रमण करता है वह ध्यान है। व्यवहार प्रतिक्रमण की अपेक्षा निश्चय प्रतिक्रमण ही ध्यान है। राग द्वेष मोह एव योगों से रहित शुभाशुभ कर्मों को जलानेवाली सवरयोग की साधना से ध्यानाग्नि उत्पन्न होती है। यही सच्चा भावप्रतिक्रमण है, जो ध्यानावस्था को प्राप्त होता है।[२००]

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की साधना ही ध्यानयोग की सच्ची साधना है। इन तीनों का एक ही ग्रन्थ में प्रतिपादन करने का श्रेय उमास्वाति (वि. २-३ श) को ही है। यह आगम साहित्य और उत्तरवर्ती साहित्य के मध्य की कड़ी है। जिसमें ध्यान परपरा का 'आगमानुसार ही वर्णन है। किन्तु उसमें आगमिक विधितत्र का उल्लेख उपलब्ध नही है। तदनन्तर ध्यान साधना की प्रक्रिया का स्वरूप निर्युक्ति में मिलता है। उसके बाद जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के 'ध्यान शतक' में आगमिक परंपरानुसार आर्त-रौद्र-धर्म शुक्ल इन चारों ध्यानों का विस्तृत विवेचन है। धर्म और शुक्लध्यान की साधना के लिये बारह द्वारों का प्रतिपादन किया गया है। निर्युक्ति और ध्यानशतक में जैन परंपरा के ध्यान का स्वतंत्र चिंतन परिलक्षित होता है। बाद में पूज्यवाद देवनदि (४-५ शताब्दी) के 'समाधि-तत्र' और 'इष्टोपदेश' में आध्यात्मिक ज्ञान को ध्यान कहा है। उसमें आत्मा की तीन अवस्थाओं का बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा, का वर्णन है। ज्ञान दर्शन चारित्र स्वरूप आत्मा का ज्ञान ही केवलज्ञानमय परम सुख को प्राप्त कराता है। उसके लिये सुद्रव्य -क्षेत्र-काल-भाव (स्वभाव) की सामग्री ही निर्मल चैतन्य स्वरूप आत्मा की उपलब्धि कराने में सहायक है। इन द्रव्यादि सुयोग्य साधनों की उपलब्धि से अनशनादि बाह्य और आभ्यन्तर तप, दश लक्षण धर्म, अनित्यादि द्वादश भावना, परीषह जय और चारित्र आदि के सम्यग् अनुष्ठानों से ध्यानाग्नि द्वारा कर्मेंधन को जलाकर स्वात्मोपलब्धि की प्राप्ति करते हैं।[२०१]

इस प्रकार भद्रबाहु के बाद अन्य आचार्यों ने ध्यान सवर योग के द्वारा ध्यान की परम्परा चालू की।

आगमकालीन ध्यान परपरा की प्रक्रिया कुदकुदाचार्य, आचार्य उमास्वाती, जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण आदि आचार्यों तक चलती रही। किंतु उसके बाद उसमें परिवर्तन की प्रक्रिया शुरू हो गई। यों तो कुदकुदाचार्य के पहले से ही परिवर्तन का प्रारम्भ हो गया था।

ध्यान की पद्धति का अवरोध वीर निर्वाण की कुछ शताब्दियों के बाद ही शुरू हो गया था। बाद में सघ-शक्ति के विकास की भावना ने बल पकड़ा, जिसके फलस्वरूप व्यवहार धर्म या तीर्थ धर्म की प्रमुखता बढ़ी और आध्यात्मिक शक्ति के विकास की प्रक्रिया मद हो गई तथा ध्यान की पद्धति गौण हो गई। ध्यान की अपेक्षा स्वाध्याय का मार्ग सरल बन गया। निश्चय धर्म के स्थान पर व्यवहार धर्म का प्रभुत्व बढ़ा। आध्यात्मिक उत्क्रान्ति की अपेक्षा लोक सग्रह को अधिक महत्व मिला, तब से जैन शासन में ध्यान की धारा अवरुद्ध होकर बहने लगी। श्रुतसागर के पारगामी मुनियों ने ध्यान के सूक्ष्म रहस्यों का उद्घाटन किया था, वही परम्परा अपनी मौलिक सम्पदा से वंचित होने लगी।

योग युग (मध्य युग)

विक्रम की आठवीं शताब्दि से, आगमकथित ध्यानयोग, समाधियोग, भावनायोग, तपोयोग, इन सब प्रक्रियाओं का स्वरूप ध्यान, समाधि और समत्व के रूप में प्रचलित था, यह जैन परम्परा में एक नये अध्याय का सूत्रपात हुआ। शब्द परिवर्तन क्रम से मूल ध्येय में कोई परिवर्तन नही आया किन्तु मध्ययुग में तप, ध्यान, समाधि भावना इन सभी शब्दों का एकार्थवाचक 'योग' शब्द रखा गया। 'योग' शब्द को जितना उत्कर्ष महर्षि पतजलि के योगदर्शन के बाद मिला उतना पहले कभी भी नही मिला था। उनके समकालीन जैनाचार्यों में हरिभद्रसूरि का नाम अधिक प्रचलित है।[२०२] उन्होंने मोक्ष प्राप्ति में सहायक सभी धार्मिक कार्य को 'योग' सज्ञा दी। जैन परपम्परा के योग के समन्वय कर्ता में हरिभद्र का नाम अग्रण्य है। उन्होंने अपने ग्रन्थों में[२०३] इच्छा योग, शास्त्र योग, सामर्थ्ययोग, अध्यात्मयोग, भावनायोग, ध्यानयोग, समतायोग, वृत्तिसक्षययोग, मित्रा, तारा आदि आठ दृष्टियाँ एव ज्ञानयोग और क्रियायोग में प्राचीन कालीन (आगमयुगीन) समस्त ध्यान की मौलिक पद्धति का 'योग' शब्द में समावेश कर दिया है। किन्तु हमारी धारणा के अनुसार 'योग' शब्द में ध्यान साधना पद्धति को अभिहृत नही किया जा सकता, क्योंकि ध्यान शब्द को किसी भी दृष्टि से जैन परम्परा से अलग नही किया जा सकता, वह तो अपने आप में मौलिक तत्त्व है। सभी प्रक्रिया में ध्यान मुख्य है। किन्तु काल प्रभाव के कारण मौलिक चिन्तन धारा में परिवर्तन आने लगा। जिसके फलस्वरूप नवी शताब्दी के आचार्य जिनसेन के 'महापुराण' में यत्र-तत्र योग-साधना पद्धति का निरूपण स्पष्ट हो रहा है। ग्यारहवी शताब्दी के आचार्य रामसेन के 'तत्त्वानुशासन नामक ध्यान शास्त्र' में एव शुभाचन्द्राचार्य के 'ज्ञानार्णव' ग्रन्थ में अष्टाग योग का विवेचन मिलता है। इस शताब्दी में जैन परम्परा (धर्म) अष्टागयोग, हठयोग और तन्त्रशास्त्र से अधिक प्रभावित मिलती है। आगमिक युग में जो धर्मध्यान था वही इस युग में (काल में) पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, और रूपातीत इन चार प्रकार के रूपों में वर्गीकृत हो गया। इस वर्गीकरण पर तत्रशास्त्र का प्रभाव प्रतीत होता है। नवचक्रेश्वरतत्र में पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत के ज्ञाता को गुरु कहा है। गुरु गीता में पिण्ड का अर्थ कुण्डलिनी शक्ति, पद का अर्थ हस, रूप का अर्थ बिन्दु और रूपातीत का अर्थ निरजन किया गया है।[२०४]

जैनाचार्यों ने पिण्ड -पद - रूप- रूपातीत-इस वर्गीकरण को स्वीकार तो किया किन्तु उनकी अपनी मौलिक परिभाषा भिन्न ही है। चैत्यवदन भाष्य[२०५] में पिण्डस्थ, पदस्थ, और रूपातीत ये तीन प्रकार माने गये हैं। इनका अर्थ शेष ग्रन्थों से भिन्न है। भाष्यकारों के कथनानुसार छद्मस्थ, केवली और सिद्ध परमात्मा ये तीन ही ध्येय रूप हैं। इसलिये एतद् विषयक ध्यान को क्रमश पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपातीत सज्ञा दी।

मध्ययुग में इस ध्यान परम्परा से जन मानस बहुत प्रभावित हो गया जिसके फलस्वरूप जैनाचार्यों ने भी अपने ग्रन्थों में पिण्डस्थादि ध्यान को स्वीकार किया।

ग्यारहवी शताब्दी के सोमदेवसूरि ने 'योगसार' ग्रन्थ में योग संबधी चर्चा की है। ग्यारहवीं शताब्दि के ग्रन्थों में[२०६] पार्थिवी, वारुणी, तेजसी, वायवी, और तत्त्व रूपवती (तत्त्व भू) इन पांच प्रकार की धारणाओं का उल्लेख मिलता है। तत्त्वानुशासन में सिर्फ तीन ही धारणाओं का उल्लेख मिलता है। बारहवी शताब्दी के आचार्य हेमचन्द्र ने अपने 'योगशास्त्र' ग्रन्थ में अष्टांगयोग, रत्नत्रय एव पाँच धारणाओं का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त अपने मौलिक चिन्तन धारा से मन के चार प्रकार वर्णित किए हैं - विक्षिप्तमन, यातायात मन, श्लिष्ट मन और सुलीन मन।

तेरहवी शताब्दी से लेकर पन्द्रहवी शताब्दी तक के ग्रन्थों में[२०७] आध्यात्मिक तत्त्वों के रहस्यों का व्यवस्थित रूप से वर्णन किया गया है। उनका कथन है कि जप, तप, सयम, मौन आदि नाना प्रकार की धार्मिक क्रियाओं से मोक्ष की प्राप्ति नही हो सकती। किन्तु सम्यक् प्रक्रिया से वश किये मन द्वारा ही मोक्ष मिल सकता है। इस काल में मन को एकाग्र करने पर विशेष बल दिया गया है। क्योंकि मन के साथ ही पुण्यपाप का सबध रहा है। मनोनिग्रह के बिना की हुई क्रिया नरकगामी बनती है। इसलिये मनोनिग्रह - मन की समाधि ही योग का कारण है। योग तप का उत्कृष्ट साधन है। शिवसुखलता का मूल है। मनोनिग्रह के लिये स्वाध्याय, योगवहन, चारित्रक्रियाप्रवृत्ति, बारह भावना, तीन योग के शुभाशुभ कार्य के फल का चिंतन आदि अनेक उपाय हैं। मनोगुप्ति ही इस युग का ध्यान है। मनोगुप्ति के बाद ही वचनगुप्ति एव कायगुप्ति की साधना हो सकती है। निरवद्य वचन बोलें। सावद्यवचन बोलने से वसुराजा की तरह नरक में जाना पड़ता है। सतत निरवद्य वचन बोलना ही वचनगुप्ति है। कछुवे की तरह काय सवर करनेवाला ही ध्येय को प्राप्त कर सकता है। मन वचन काय की प्रशस्त प्रवृत्ति ही मोक्ष का कारण है। इस प्रकार तेरहवीं से पन्द्रहवी शताब्दी तक का काल मन वचन काय गुप्ति एवं कषाय गुप्ति के आध्यात्मिक रहस्यों की पद्धति का काल है। इन शताब्दियों में मुख्यत· मनोनिग्रह की प्रक्रिया पर अधिक बल दिया गया है।

वर्तमानयुग

सोलहवी शताब्दी से लेकर आगे की बीसवीं सदी तक यमादि अष्टांग योग और ज्ञान और क्रियायोग के रूप में आगमकालीन एव मध्यकालीन ध्यानपरम्परा का स्वरूप दृष्टिगोचर होता है।[२०८] विनयविजयजी ने 'शान्तसुधारस' एवं 'अध्यात्मोपनिषद', 'अध्यात्मसार', 'ज्ञानसार', 'योगावतार द्वात्रिंशिका' इन ग्रन्थों में उपाध्याय यशोविजयजी ने, भावनायोग एव अध्यात्मयोग की विभिन्न प्रक्रिया तथा ज्ञान-

क्रियायोग की प्रक्रिया ही बताई है। 'ध्यान दीपिका' में विजयकेशरसूरि ने, 'अध्यात्म तत्त्वालोक' में पुण्यविजयजी ने, 'योग-प्रदीप' में मगलविजयजी ने, 'ध्यान-दीपिका' में सकलचदजी ने तथा 'योग-दीपक' में बुद्धि सागरसूरि ने यमादि अष्टागयोग का जैन धर्मानुसार विवेचन किया है। अष्टागयोग के अतिरिक्त भावनायोग, ध्यानयोग आदि विभिन्न योगों की प्रक्रिया का विवेचन मिलता है। इन ग्रन्थों में मुख्यत यम नियम आदि का पालन और ज्ञानज्ञक्रियायोग का आचरण ही ध्यान की प्रक्रिया है। इन प्रक्रिया से ध्यान कोई अलग चीज नही है। ध्यान तो आत्मा की एक अवस्था है। उस अवस्था तक पहुँचने के लिये नाना प्रकार के उपाय बताये गये हैं। उन उपायों को ग्रन्थों में सकलित करके रखने से आत्मा की वह उच्च कोटि की ध्यानावस्था प्राप्त नही हो सकती है। उसके लिये तो आचरण की आवश्यकता है।

वर्तमान में 'योगासन' 'विपश्यना' और 'प्रेक्षा' इन पद्धतियों द्वारा ध्यान-प्रक्रिया का प्रयोगात्मक दृष्टि से प्रतिपादन किया जा रहा है। बाह्य निरीक्षण की अपेक्षा आध्यात्मिक अन्तर्निरीक्षण को अधिक महत्व दिया जाता है। प्राचीन एवं मध्ययुगीन ध्यान प्रक्रिया का स्वरूप वर्तमान में प्रयोगात्मक दृष्टि से कम प्रतीत होता है। सभी का लक्ष्य भौतिक साधन सामग्री जुटाने में लगा हुआ है, आध्यात्मिकता से दूर हट रहा है। आध्यात्मिक बल प्राप्त करने के लिये गुरु चरण से अरिहत और सिद्ध को ही अपना ध्येय बनायें। यही सच्चा ध्यानयोग है।

संदर्भ - सूची

१ नालदा विशाल शब्द सागर (सं श्री नवलजी) पृ ६५५

२ (क) सस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ
(सं स्व चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा) पृ ५७५

(ख) नालदा विशाल शब्द सागर, पृ ६५५

३ (क) (ध्यै + ल्युट्) "ज्ञानात् ध्यान विशिष्यते"।
संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ पृ ५७५

(ख) "ध्यै-ध्यायते चिन्त्यतेऽ नेन तत्त्वमिति ध्यानम्,
एकाग्र चित्त निरोध इत्यर्थ ।
"ध्यै चिन्तायाम्"
अभिधान राजेन्द्रकोश भाग ४ पृ १६६२

(ग) ध्यायते वस्तु अनेनेति ध्यानम्।
ध्यान योग रूप और दर्शन (सं डॉ नरेन्द्र भानावत) पृ ३०

४ (क) युजृपी योग (गण७) हेमचंद्र धातु पाठ

(ख) युचि च समाधि (गण ४) हेमचद्र धातु पाठ

५ (क) योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। पातंजल योग सूत्र १/२

(ख) समत्वं योग उच्यते। गीता २/४८

योग कर्मसु कौशलम्। गीता २/५०

(ग) संयोगो योगयत्युक्ता जीवात्मा परमात्मा।

उद्धृत, जिनवाणी ध्यानपरिशिष्टाक, नवम्बर १९७२

६ ७ (क) काय वाड्मन कर्म योग । तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वाति) ६/१

(ख) कर्म क्रिया इत्यनर्थान्तरम्। सर्वार्थसिद्धि (पूज्यपाद) ६/१

(ग) स आस्रव । तत्त्वार्थ सूत्र ६/२

(घ) योगशब्दोऽनेकार्थ । ''योग निमित्तं ग्रहणं'' इत्यात्मप्रदेश परिस्पदं त्रिविधवर्गना सहायमाचष्टे। क्वचित्सबंध मात्र वचन ''अस्यानेन योग'' इति। क्वचिद्ध्यानवचन- यथा ''योगस्थित'' इति। इहाय परिगृहीत ततो ध्यान परिकर करोतीति यावत्। रागद्वेष मिथ्यात्वासश्लिष्ट अर्थयार्थात्म्यस्पर्शि प्रतिनिवृत्त विषयातरसचारं ज्ञान ध्यानमित्युच्यते।

भगवती आराधना (शिवार्य) भा १

अपराजित टीका पृ ४४

पावपओगा मणवचिकाया कम्मासवं पकुव्वंति।
भुज्जतो दुब्मत्त वणम्मि जह आसव कुणइ।।

भगवती आराधना, भा २ गा १८२७

(ङ) यथा सरस्सलिला वाहिद्वारं तदास्रवकारणत्वाद्
आस्रव इत्याख्यायते तथा योगप्रणालिकया आत्मन
कर्म आस्रवतीति योग ।

सवार्थ सिद्धि (तत्त्वार्थ सूत्र टीका) ६/२

८ रायादीपरिहारे अप्पाणं जो दु जुजदे साहू।
सो जोगभत्तिजुत्तो इदरस्स य कह हवे जोगो।।
सव्वविअप्पाभावे अप्पाणं जो दु जुजदे साहू।
सो जोगभत्तिजुत्तो इदरस्स य किह हवे जोगो।।
विवरीयाभिणिवेस परिचत्ता जोण्हकहियतच्चेसु।
जो जुजदि अप्पाणं णियभावो सो हवे जोगो।।

नियमसार (कुदकुंदाचार्य) गा १३७-१३९

(पद्मप्रभमलधारी टीका) (हिन्दी अनु मगनलाल जैन) १९६०

९ मोक्खेण (मुक्खेण) योजणाओ जोगो सव्वो वि धम्मवावारो।
परिसुद्धो विन्नेओ, ठाणाइगओ विसेसेणं।।

योगविंशति (हरिभद्रसूरि) गा १

१० समितिगुप्ति साधारणं धर्मव्यापारत्व योगत्व।

उद्धृत, योगदृष्टि समुच्चय (डॉ भगवानदास मनुभाई मेहता) पृ २१

११ युजे समाधिवचनस्य योग समाधिर्ध्यानमित्यनर्थान्तरम्।

तत्त्वार्थ वार्तिक ६/१/१२

१२ विविक्तात्मा परिज्ञान योगात्सजायते यत ।
स योगो योगिभिर्गीतो योगनिर्धूत - पातकै ।।

योगसार प्राभृत (अमितगति) ९/१०

१३ योगो ध्यानं समाधिश्च धीरोध· स्वान्तनिग्रह ।
अन्त संलीनता चेति तत्पर्याया स्मृता बुधै । आर्ष २१/१२

उद्धृत, योगसार प्राभृत, प्रस्तावना पृ १७

१४ सुविसुद्ध-राय-दोसो बाहिर-सकप्प-वज्जिओ धीरो।
एयग्ग-मणो संतो ज चिंतइ त पि सुइ-झाण।।
स-सरूव-समब्मासो णट्ठ-ममत्तो जिदिंदिओ।
अप्पाण चिंततो सुइ-झाण-रओ हवे साहु।।
वज्जिअ-सयल-वियप्पो अप्प सरूवे मण णिरुंधंतो।
ज चिंतदि साणद त धम्म उत्तम झाण।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा ४८०-४८२

१५ (क) मानसज्ञानमेव मनसि भव मानसोत्पन्न ज्ञान ध्यानमेव।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, शुभचद्र टीका पृ ३५६

वत्थुम्मि माणसं णाण।
झाणं भण्णदि समए असुह च सुह च त दुविह।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा ४७०

(ख) तदेतच्चतुर्विधं ध्यानं द्वैविध्यमश्नुते । प्रशस्ताप्रशस्त भेदात्।
अप्रशस्तपुण्यास्रवकारणत्वात्। कर्मनिर्दहनसामर्थ्यात्
प्रशस्तम्।। सवार्थ सिद्धि ९/२८

१६ (क) सस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ पृ ५७५
(ख) नालन्दा विशाल शब्द सागर पृ ६५५

१७ ''समाधियोगेभ्य ' समाधि - धर्मध्यान तदर्थ तत्प्रधानावा योगा
मनोवाक्कायव्यापारास्तेभ्य प्रच्युता शीतल विहारिण इति।।

सूत्रकृतांगम् (शीलांकाचार्य टीका एवं सं विका दत्तजी)
भा. २, पृ १२९ (प्र राजकोट)

भावणाजोगसुद्धप्पा जले णावा व आहिया।
नावा व तीरसंपन्ना, सव्व दुक्खा तिउट्टइ।।

सूत्रकृतांगम् (शीलांक टीका) भा ३
(जवाहरमलजी म) १५/५

झाणजोगं समाहट्टु, कायं विउसेज्ज सव्वसो।
तितिक्खं परमं णच्चा आमोक्खाए परिव्वएज्जासि।।

सूत्रकृतांगम् (शी टी) भा २, ८/२६

१८ अपि च "झाणजोगम्" इत्यादि ध्यान चित्तनिरोधलक्षणं धर्मध्यानादिक। तत्र योगो विशिष्टमनोवाक्कायव्यापारस्तं ध्यानयोगं।

सूत्रकृतांगम् शीलांक टीका पृ १६८ (भा २)

१९ संवर जोगेहिं जुदो तवेहिं जो चिट्ठदे बहुविहेहिं।
कम्माणं णिज्जरणं बहुगाणं कुणदि सो णियदं।

पंचास्तिकाय (कुंदकुंदाचार्य) गा. १४४

संवरयोगाभ्यां युक्त निर्मलात्मानुभूतिबलेन शुभाशुभपरिणाम-निरोध संवर , निर्विकल्पलक्षणध्यान शब्दवाच्य शुद्धोपयोगो योगस्ताभ्यां युक्त ।
पंचास्तिकाय टीकात्रयोपेत, पृ. २०९

२० दि सिक वर्ल्ड, हेरीवार्ड कैरिंगटन पृ १८१
उद्धृत, ध्यान योग (डॉ. नरेन्द्र भानावत) पृ १६०

२१ दि लाइफ डिवाइन, महर्षि अरविन्द पृ. २१३
उद्धृत, ध्यानयोग (डॉ. नरेन्द्र भानावत) पृ १६०

२२ हिन्दु साइकोलॉजी, स्वामी अखिलानंद, पृ ६३
उद्धृत, ध्यानयोग (डॉ. नरेन्द्र भा) पृ. ६३

२३ (क) नवीन मनोविज्ञान (लालजीराम शुक्ल) पृ ४
(ख) योग मनोविज्ञान (डॉ. शान्ति प्रकाश आत्रेय) पृ ३२७

२४ सरल मनोविज्ञान पृ १३

२५ सरल मनोविज्ञान पृ १३६

२६ मैनुयल ऑफ साइकोलॉजी, स्टाउट, पृ १२५
उद्धृत, ध्यानयोग (डॉ नरेन्द्र भा.) पृ १६१

९ मोक्खेण (मुक्खेण) जोयणाओ जोगो सव्वो वि धम्मवावारो।
परिसुद्धो विन्नेओ, ठाणाइगओ विसेसेणं॥

योगविंशति (हरिभद्रसूरि) गा. १

१० समितिगुप्ति साधारणं धर्मव्यापारत्वं योगत्वं।

उद्धृत, योगदृष्टि समुच्चय (डॉ. भगवानदास म. भाई मेहता) पृ २१

११ युजेः समाधिवचनस्य योगः समाधिर्ध्यानमित्यनर्थान्तरम्।

तत्त्वार्थ वार्तिक ६/१/१२

१२ विविक्तात्मा परिज्ञानं योगात्संजायते यतः।
स योगो योगिभिर्गीतो योगनिर्धूत - पातकैः॥

योगसार प्राभृत (अमितगति) ९/१०

१३ योगो ध्यानं समाधिश्च धीरोधः स्वान्तनिग्रहः।
अन्तःसंलीनता चेति तत्पर्यायाः स्मृता बुधैः। आर्ष २१/१२

उद्धृत, योगसार प्राभृत, प्रस्तावना पृ १७

१४ सुविसुद्ध-राय-दोसो बाहिर-संकप्प-वज्जिओ धीरो।
एयग्ग-मणो संतो जं चिंतइ तं पि सुह-झाणं॥
स-सरूव-समुब्भासो णट्ठ-ममत्तो जिदिंदिओ।
अप्पाणं चिंततो सुह-झाण-रओ हवे साहू॥
वज्जिय-सयल-वियप्पो अप्प सरूवे मणं णिरुंधंतो।
जं चिंतदि साणंदं तं धम्मं उत्तमं झाणं॥

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा. ४८०-४८२

१५ (क) मानसज्ञानेन मनसि भवं मानसोत्पन्नं ज्ञानं ध्यानं योगः।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, शुभचंद्र टीका पृ ३५५

..........वत्थुम्मि माणसं णाणं।
झाणं भण्णदि समए असुहं च सुहं च तं दुविहं॥

स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा गा. ४७०

(ख) तदेतच्चतुर्विधं ध्यानं द्वैविध्यमश्नुते....। प्रशस्ताप्रशस्त भेदात्।
अप्रशस्तपुण्यास्रवकारणत्वात्। कर्मनिर्दहनसामर्थ्यात्
प्रशस्तम्॥ सर्वार्थ सिद्धि ९/२८

१६ (क) संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ पृ. ५७५
(ख) नालंदा विशाल शब्द सागर पृ. ५५५

१७ ''समाधियोगेभ्यः' समाधिः - धर्मध्यानं तदर्थं तत्प्रधाना वा योगाः
''योगाः मनोवाक्कायव्यापारास्तेभ्यः अच्युताः शीतल विहारिण इति॥

सूत्रकृतांगम् (शीलांकाचार्य टीका एवं सं अंबिका दत्तजी)
भा २, पृ १२९ (प्र राजकोट)

भावणाजोगसुद्धप्पा जले णावा व आहिया।
नावा व तीरसंपन्ना, सव्व दुक्खा तिउट्टइ।।

सूत्रकृतांगम् (शीलांक टीका) भा ३
(जवाहरमलजी म) १५/५

झाणजोगं समाहट्टु, कायं विउसेज्ज सव्वसो।
तितिक्खं परम णच्चा आमोक्खाए परिव्वएज्जासि।।

सूत्रकृतागम् (शी टी.) भा २, ८/२६

१८ अपि च "झाणजोगम्" इत्यादि ध्यान चित्तनिरोधलक्षणं धर्मध्यानादिकं। तत्र योगो विशिष्टमनोवाक्कायव्यापारस्तं ध्यानयोगं।

सूत्रकृतांगम् शीलाक टीका पृ १६८ (भा. २)

१९ सवर जोगेहिं जुदो तवेहिं जो चिट्ठदे बहुविहेहिं।
कम्माणं णिज्जरण बहुगाणं कुणदि सो णियद।

पचास्तिकाय (कुदकुंदाचार्य) गा १४४

सवरयोगाभ्या युक्त निर्मलात्मानुभूतिबलेन शुभाशुभपरिणाम-
निरोध सवर , निर्विकल्पलक्षणध्यान शब्दवाच्य शुद्धोपयोगो योगस्ताभ्यां युक्त.।
पचास्तिकाय टीकात्रयोपेत, पृ २०९

२० दि सिक वर्ल्ड, हेरीवार्ड कैरिंगटन पृ १८१
उद्धृत, ध्यान योग (डॉ नरेन्द्र भानावत) पृ १६०

२१ दि लाइफ डिवाइन, महर्षि अरविन्द पृ २१३
उद्धृत, ध्यानयोग (डॉ नरेन्द्र भानावत) पृ १६०

२२ हिन्दु साइकोलॉजी, स्वामी अखिलानंद, पृ ६३
उद्धृत, ध्यानयोग (डॉ नरेन्द्र भा) पृ ६३

२३ (क) नवीन मनोविज्ञान (लालजीराम शुक्ल) पृ ४
(ख) योग मनोविज्ञान (डॉ शान्ति प्रकाश आत्रेय) पृ. ३२७

२४ सरल मनोविज्ञान पृ १३

२५ सरल मनोविज्ञान पृ १३६

२६ मैनुयल ऑफ साइकोलॉजी, स्टाउट, पृ १२५
उद्धृत, ध्यानयोग (डॉ नरेन्द्र भा) पृ १६१

२७ योगा एण्ड पर्सिनाल्टी, पृ १४४ (के एस जोशी)

उद्धृत, ध्यानयोग (अंक) पृ १६३

२८ दि सिक वर्ल्ड पृ १८८

उद्धृत, ध्यानयोग, पृ १६३

२९ सरल मनोविज्ञान (लालजीराम शुक्ल) पृ ९

३० उद्धृत, ध्यानयोग रूप और दर्शन (डॉ नरेन्द्र भा) पृ २२३

३१ काकतालीयकन्यायेनोपलब्धं यदि त्वया।
तत्तर्हि सफलं कार्यं कृत्वात्मन्यात्मनिश्चयम्।।

ज्ञानार्णव ३/२ (पृ ५७)

३२ (क) साधु संहननस्येह यदेकाग्रनिरोधनम्।
चित्तस्यान्तर्मुहूर्तं स्याद्ध्यानमाहुर्मनस्विन ।।

सिद्धान्तसार संग्रह ११/३३

(ख) अभिधान राजेन्द्र कोश, भा ४, पृ १६६१

३३ (क) जं थिरमज्झवसाणं त झाणं, ज चल तयं चित्तं।
त होज्ज भावणा वा, अणुप्पेहा वा, अहव चिंता।।

ध्यान शतक (जिनभद्रगणि) गा २

(ख) भावना-भाव्यत इति भावना, ध्यानाभ्यासक्रियेत्यर्थ ।
अनुप्रेक्षा - अनु पश्चाद्भावे, प्रेक्षणं प्रेक्षा,
चिन्ता - सा च स्मृति॰ ध्यानाभ्रष्टस्य चित्तचेष्टेत्यर्थ ।

अभिधान राजेन्द्रकोश, भा ४, पृ १६६२

(ग) आवश्यक निर्युक्ति, पृ ७० (भा २)

३४ (क) एकाग्र-चिन्ता-रोधो य परिस्पन्देन वर्जित ।
तद् ध्यानं निर्जरा हेतु संवरस्य च कारणम्।।

तत्त्वानुशासन नामक ध्यान शास्त्र (रा से) ५६

(ख) एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्।

तत्वार्थ सूत्रम ९/२७

(ग) अंतो-मुहुत्त-मेत्तं लीणं वत्थुम्मि माणसं णाणं।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा ४७०

(घ) नानार्थावलम्बनेन चिन्ता परिस्पन्दवती, तस्या अन्याऽ
शेषमुखेभ्यो व्यावर्त्य एकस्मिन्नग्रे नियम एकाग्रचिन्ता-
निरोध इत्युच्यते। सर्वार्थ सिद्धि (पूज्यपाद) ९/२७

३५ (क) एकं प्रधानमित्याहुअमालम्बनं मुखम्।

चिन्ता स्मृतिर्निरोधस्तु तस्यास्तत्रैव वर्तनम्।।
द्रव्य-पर्याययोर्मध्ये प्राधान्येन यदर्पितम्।
तत्र चिन्ता-निरोधो यस्तद् ध्यान बभणुर्जिना.।।

तत्त्वानुशासन नामक ध्यान शास्त्र (राम सेनाचार्य) गा ५७-५८

(ख) अग्रं मुखम्। एकमग्रमस्येत्येकाग्र.।

सर्वार्थ सिद्धि ९/२७

(ग) अंग्यते तदंगमिति तस्मिन्निति वाऽग्र मुखम्।

तत्त्वार्थ वार्तिक (अकलक देव) ९/२७

(घ) अर्थ पर्यायवाची वा अग्र शब्द । तत्त्वार्थवार्तिके ९/२७

(ङ) एक शब्द सख्यापदम्। तत्त्वार्थ वार्तिके ९/२७

३६ (क) एकाग्र-ग्रहणं चाऽत्र वैयग्रय-विनिवृत्तये।
व्यग्रं हि ज्ञानमेव स्याद् ध्यानमेकाग्रमुच्यते।।

तत्त्वानुशासन (राम सेनाचार्य) गा. ५९

(ख) व्यग्र हि ज्ञानं न ध्यानमिति।

तत्वार्थ वार्तिके ९/२७

३७ (क) एतदुक्तं भवति - ज्ञानमेवापरिस्पन्दाग्निशिखावदवभासमानं ध्यान-मिति। सर्वार्थ सिद्धि ९/२७

(ख) यथा प्रदीपशिखा निराबाधे प्रज्वलिता न परिस्पन्दते ।

तत्त्वार्थवार्तिके ९/२७

(ग) तदाऽस्य योगिनो योगश्चिन्तैकाग्रनिरोधनम्।
प्रसख्यान समाधि स्याद् ध्यानं स्वेष्ट-फल-प्रदम्।।

तत्त्वानुशासन - (रामसेनाचार्य) गा ६१

३८ (क) अथवा नायं भावसाधन निरोधनं निरोध इति किं
तर्हि कर्म साधन 'निरुध्यत इति निरोध' चिन्ता
चासौ निरोधश्च चिन्तानिरोध इति।

सर्वार्थ सिद्धि ९/२७

(ख) अग्रं मुखमिति ह्युच्यमानेऽनेकमुखत्वं निवर्तित एकमुखे
तु संक्रमोऽभ्युपगत एवेति नानिष्टप्राप्ति ।

तत्त्वार्थ वार्तिके २/२७

(ग) अथवागति जानातीत्यग्रमात्मा निरुक्तित ।
तत्त्वेषु चाग्रगण्यत्वादसावग्रमिति स्मृत ।।

तत्त्वानुशासन (नागसेनाचार्य) २/३०

(घ) अथवा अंगतीत्यग्रमात्मेत्यर्थ । द्रव्यार्थतयैकस्मिन्नात्मन्यग्रे चिन्तानिरोधो ध्यानम्, तत स्ववृत्तित्वात् बाह्यध्येयप्राधान्यापेक्षा निवर्तिता भवति। तत्त्वार्थ वार्तिके ९/२७

३९ श्रुतज्ञानेन मनसा यतो ध्यायन्ति योगिन.।
तत स्थिरं मनो ध्यानं श्रुतज्ञानं च तात्त्विकम्।।
तत्त्वानुशासन नामक ध्यान शास्त्र (रा से.) गा. ६८

४० (क) ज्ञानादर्थान्तराऽप्राप्तादात्मा ज्ञानं न चान्यत ।
एक पूर्वापरोभूतं ज्ञानमात्मेति कीर्तितम्।
तत्त्वानुशासन --। (रामसेनाचार्य) गा ६८

(ख) णाण अप्पा सव्व जम्हा सुयकेवली तम्हा।
समयसार (कुंदकुंदाचार्य) गा १०

४१ (क) श्रुतज्ञानमुदासीन यथार्थमतिनिश्चलम्।
स्वर्गाऽपवर्गऽफलद ध्यानमाऽन्तर्मुहूर्तत ।।
तत्त्वानुशासन नामक ध्यान शास्त्र गा ६६

(ख) अतो मुहुत्तमेत्तं चित्तावत्याणमेघवत्थुंमि।
छउमत्थाण झाण जोगनिरोधो जिणाण तु।।
अतो मुहुत्त परओ चिंता झाणतर व होज्जाहि।
सुचिर ऽ पि होज्ज बहुवत्थु सकमे झाण सताणो।
ध्यान शतक, गा ३ - ४

(ग) आ मुहूर्तात्। तत्त्वार्थ सूत्र ९/२८

(घ) उत्तमसहननाभिधानमन्यस्येयत्कालाध्यवसाय धारणा ऽसामर्थ्यात्।
तत्त्वार्थ वार्तिके ९/२७

४२. ध्यायत्यर्थाननेति ध्यान करणसाधनम्। आर्ष २१-१३
उद्धृत, तत्त्वानुशासन नामक ध्यान शास्त्र, पृ ६६

४३-४४ (क) द्रव्यार्थिकनयादेक केवलो वा तथोदित ।
अन्त करण वृत्तिस्तु चिन्ता रोधो नियत्रणा।।
तत्त्वानुशासन (नागसेनाचार्य) २/३१

(ख) चिन्ता अन्त करणवृत्ति । तत्त्वार्थ वार्तिके ९/२७

(ग) अभावो वा निरोध स्यात् स च चिन्तान्तरव्यय ।।
एक चिन्तात्मको यद्वा स्वसविच्चिन्तयोज्झित ।
तत्त्वानुशासन नामक ध्यान शास्त्र (रामसेनाचार्य) गा ६४

(घ) केनचित्पर्यायेणेष्टत्वात्। अन्यचिन्ता ऽ भावविक्षायामसदेव ध्यानम्,
विवक्षितार्थविषयावगमस्वभाव सामर्थ्यपेक्षया सदेवेति चोच्यते।

तत्त्वार्थ वार्तिके ९/२७

(ङ) तत्राऽऽत्मन्यासहाये यच्चिन्ताया· स्यान्निरोधनम्।
तद् ध्यानं तदभावो वा स्वसवित्तिमयश्च स·।।

तत्त्वानुशासन (नागसेनाचार्य) २/३३

४५ ध्यातरि ध्यायते ध्येयं यस्मान्निश्चयमाश्रितै ।
यस्मादिदमपि ध्यानं कर्माऽधिकरण - द्वयम्।।

तत्त्वानुशासन गा ७१

४६ (क) इष्टे ध्येये स्थिरा बुद्धिर्या स्यात्संतानवर्तिनी।
ज्ञानाऽन्तराऽपरामृष्टा सा ध्यातिर्ध्यानमीरिता।।

तत्त्वानुशासन नामक ध्यान शास्त्र (रामसेनाचार्य) गा ७२

(ख) ध्येय प्रति अव्यापृतस्य भावमात्रेणाभिधाने।
ध्यातिर्ध्यानमिति भावसाधनो ध्यान - शब्द ।।

तत्त्वार्थवार्तिके ९/२७

(ग) भावमात्राभिधित्सायां ध्याति र्वा ध्यानमिष्यते।

आर्ष - २१/२४, उद्धृत, तत्वानुशासन, (रा से) पृ ६९

(घ) उद्धृत, तत्वानुशासन, (रा से) पृ ७०

४७ ध्यायते येन तद् ध्यानं यो ध्यायति स एव वा।
यत्र वा ध्यायते यद्वा ध्याति र्वा ध्यानमिष्यते।।

तत्त्वानुशासन नामक ध्यान शास्त्र गा ६७

एव च कर्ता करण कर्माऽधिकरणं फलम्।
ध्यानमेवेदमखिलं निरुक्तं निश्चयान्नयात्।।
स्वात्मानं स्वात्मनि स्वेन ध्यायेत्स्वस्मै स्वतो यत ।
षट्कारकमयस्तस्माद् ध्यानमात्मैव निश्चयात्।।

तत्त्वानुशासन नामक ध्यान शास्त्र गा ७३-७४

४८ (क) अभिन्न-कर्तृ-कर्मादि - विषयो निश्चयो नय ।

तत्त्वानुशासन नामक ध्यान शास्त्र गा. २९

(ख) अभिन्न-कर्तृ-कर्मादि - गोचरो निश्चयो ऽ थवा।

ध्यान स्तव (भास्करानन्दि) गा. ७१

४९ झाणस्स भावणाओ देसं कालं तदासनविसेसं।
आलंबणं कमं झाइयव्व यं जे य झायारो।।

तत्तोऽणुप्पेहाओ लेस्सा लिंग फलं य नाऊणं।
धम्मं झाइज्ज मुणी तग्गयजोगो तओ सुक्का।।

ध्यान शतक गा २८-२९

५० ध्यातॉं ध्यानं फलं ध्येय यस्य यत्र यदा तदा।
इत्येतदत्र बोद्धव्य धातुकामेन योगिना।।

तत्त्वानुशासन नामक ध्यान शास्त्र (रा से) ३७

५१ (क) पुव्वकयब्भासो भावनाहि झाणस्स जोग्गयमुवेइ।
ताओ य नाणदसण चरित्त वेरग्गनियताओ।।

ध्यान शतक गा ३०

(ख) मैत्री - प्रमोद - कारुण्य - माध्यस्थ्यानि नियोजयेत्।
धर्मध्यानमुपस्कर्तुं, तद्धि तस्य रसायनम्।।

योग शास्त्र ४ / ११७

५२ झाणेणिच्चब्भासो कुणइ मणो धारण विसुद्धि च।
णाणगुण मुणियासारो तो झाइ सुनिच्चलमईओ।

ध्यान शतक गा ३१

५३ संकाइदोसरहिओ णसम - थेज्जाइ गुणगणोवेओ।
होइ असमूढमणो दंसणसुद्धीए झाणमि।।

ध्यान शतक गा ३२

५४ नवकम्माणायाण पोराणविणिज्जर सुभायाण।
चारित्त भावणाए झाणमयत्तेण य समेइ।।

ध्यान शतक गा ३३

५५ सुविदियजगस्स भावो निस्सगो निब्भओ निरासो य।
वेरग्ग भावियमणो झाणमि सुनिच्चलो होई।।

ध्यान शतक गा ३४

५६ (क) मा कार्षीत् को ऽ पि पापानि, मा च भूत् को ऽ पि दु खित ।
मुच्यता जगदप्येषां मतिर्मैत्री निगद्यते।।

योगशास्त्र ४/११८

५७ (क) अपास्ताशेषदोषाणा, वस्तुतत्त्वावलोकिनाम्।
गुणेषु पक्षपातो, य स प्रमोद प्रकीर्तित ।।

योग शास्त्र ४/११९

५८. (क) दीनेष्वार्त्तेषु भीतेषु याचमानेषु जीवितम्।
प्रतीकारपरा बुद्धि कारुण्यमभिधीयते।।

योगशास्त्र, ४/१२०

५९ (क) क्रूरकर्मसुनि शंकं, देवता-गुरु-निन्दिषु।
आत्मशंसिषु योपेक्षा, तन्माध्यस्थ्यमुदीरितम्।।

योग शास्त्र ४/१२१

६० आत्मान भावयन्नाभि र्भावनाभिर्महामति ।
त्रुटितामपि सघत्ते विशुद्धा ध्यानसन्ततिम्।।

योग शास्त्र ४/१२२

६१ (क) निच्चं चिय जुवइ - पसु - नपुसग कुसीलवज्जियं जइणो।
ठाण वियणं भणिय सो देसो झायमाणस्स।।

ध्यान शतक गा ३५, ३६-३७

(ख) तत्त्वानुशासन नामक ध्यान शास्त्र (रा से) गा. ९०-९५

६२ थिरकयजोगाणं पुण मुणिणं झाणेसु णिच्चलमणाण।
गाममिम जणाइण्णे सुण्णे रण्णे य ण विसेसो।।

षट् खण्डागम भा ५ धवला टीका पृ ६७

६३ कालो वि सो च्चिय जहिं जोगसमाहाणमुत्तम लहइ।
न य दिवसनिसावेलाइ नियमण झाइणो भणियं।।

ध्यान शतक गा ३८

६४ (क) जच्चिय देहावत्था जियाण झाणोवरोहिणी होइ।
झाइज्जा तदवत्थो ठिओ निसण्णो निवण्णो वा।।
सव्वासु वट्टमाणा मुणओ जं देस काल चेट्ठासु।
वर केवलाइलाभ पत्ता बहुसो समिय पाव।।
तो देसकाल चेट्ठा नियमो झाणस्स नत्थि समयंमि।
जोगाण समाहाणं जह होइ तहा जइयव्व।।

ध्यान शतक गा ३९-४१

(ख) पर्यंक - वीर - वज्राब्ज - भद्र - दण्डासनानि च।
उत्कटिका - गोदोहिका - कायोत्सर्गस्तथा ऽऽ सनम्।।

योग शास्त्र ४/१२४

(ग) ठाणे (सुत्तागमे) ५/४९८

६५ झाणप्पडिवत्तिकमो होइ मणोजोगनिग्गहाइओ।
भवकाले केवलिणो, सेसाण जहा समाहीए।

ध्यान शतक गा ४४

तत्तोऽणुप्पेहाओ लेस्सा लिंग फल य नाऊणं।
धम्मं झाइज्ज मुणी तग्गयजोगो तओ सुक्कं।।

ध्यान शतक गा २८-२९

५० ध्यातां ध्यान फल ध्येयं यस्य यत्र यदा तदा।
इत्येतदत्र बोद्धव्यं धातुकामेन योगिना।।

तत्त्वानुशासन नामक ध्यान शास्त्र (रा से) ३७

५१ (क) पुव्वकयब्भासो भावनाहि झाणस्स जोग्गयमुवेइ।
ताओ य नाणदसण चरित्त वेरग्गनियताओ।।

ध्यान शतक गा ३०

(ख) मैत्री - प्रमोद - कारुण्य - माध्यस्थ्यानि नियोजयेत्।
धर्मध्यानमुपस्कर्तुं, तद्धि तस्य रसायनम्।।

योग शास्त्र ४ / ११७

५२ झाणेणिच्चब्भासो कुणइ मणो धारण विसुद्धिं च।
णाणगुण मुणियासारो तो झाइ सुनिच्चलमईओ।

ध्यान शतक गा ३१

५३ सकाइदोसरहिओ णसम - थेज्जाइ गुणगणोवेओ।
होइ असमूढमणो दसणसुद्धीए झाणंमि।।

ध्यान शतक गा ३२

५४ नवकम्माणायाण पोराणविणिज्जर सुभायाण।
चारित्त भावणाए झाणमयत्तेण य समेइ।।

ध्यान शतक गा ३३

५५ सुविदियजगस्स भावो निस्संगो निब्भओ निरासो य।
वेरग्ग भावियमणो झाणमि सुनिच्चलो होई।।

ध्यान शतक गा ३४

५६ (क) मा कार्षीत् कोऽपि पापानि, मा च भूत् कोऽपि दुखित।
मुच्यता जगदप्येषा मतिर्मैत्री निगद्यते।।

योगशास्त्र ४/११८

५७ (क) अपास्ताशेषदोषाणां, वस्तुतत्त्वावलोकिनाम्।
गुणेषु पक्षपातो, य स प्रमोद प्रकीर्तित।।

योग शास्त्र ४/११९

५८ (क) दीनेष्वार्तेषु भीतेषु याचमानेषु जीवितम्।
प्रतीकारपरा बुद्धि कारुण्यमभिधीयते।।

योगशास्त्र, ४/१२०

५९ (क) क्रूरकर्मसुनि शंकं, देवता-गुरु-निन्दिषु।
आत्मशसिषु योपेक्षा, तन्माध्यस्थ्यमुदीरितम्।।

योग शास्त्र ४/१२१

६० आत्मान भावयन्नाभि र्भावनाभिर्महामति•।
त्रुटितामपि सधत्ते विशुद्धा ध्यानसन्ततिम्।।

योग शास्त्र ४/१२२

६१ (क) निच्च चिय जुवइ – पसु – नपुसग कुसीलवज्जिय जइणो।
ठाणं वियण भणिय सो देसो झायमाणस्स।।

ध्यान शतक गा ३५, ३६-३७

(ख) तत्वानुशासन नामक ध्यान शास्त्र (रा से) गा ९०-९५

६२ थिरकयजोगाणं पुण मुणिणं झाणेसु णिच्चलमणाणं।
गामम्मि जणाइण्णे सुण्णे रण्णे य ण विसेसो।।

षट् खण्डागम भा ५ धवला टीका पृ ६७

६३. कालो वि सो च्चिय जहिं जोगसमाहाणमुत्तमं लहइ।
न य दिवसनिसावेलाइ नियमणं झाइणो भणियं।।

ध्यान शतक गा ३८

६४ (क) जच्चिय देहावत्था जियाण झाणोवरोहिणी होइ।
झाइज्जा तदवत्थो ठिओ निसण्णो निवण्णो वा।।
सव्वाणु वट्टमाणा मुणओ जं देस काल चेट्ठासु।
वर केवलाइलाभं पत्ता बहुसो समिय पाव।।
तो देसकाल चेट्ठा नियमो झाणस्स नत्थि समयमि।
जोगाणं समाहाणं जह होइ तहा जइयव्व।।

ध्यान शतक गा ३९-४१

(ख) पर्यंक – वीर – वज्राब्ज – भद्र – दण्डासनानि च।
उत्कटिका – गोदोहिका – कायोत्सर्गस्तथा ऽऽ सनम्।।

योग शास्त्र ४/१२४

(ग) ठाणे (सुत्तागमे) ५/४९८

६५ झाणप्पडिवत्तिकमो होइ मणोजोगनिग्गहाइओ।
भवकाले केवलिणो, सेसाण जहा समाहीए।

ध्यान शतक गा ४४

तत्तोऽणुप्पेहाओ लेस्सा लिंग फल य नाऊणं।
धम्मं झाइज्ज मुणी तग्गयजोगो तओ सुक्का।।

ध्यान शतक गा २८-२९

५० ध्यातॉं ध्यान फलं ध्येयं यस्य यत्र यदा तदा।
इत्येतदत्र बोद्धव्य धातुकामेन योगिना।।

तत्त्वानुशासन नामक ध्यान शास्त्र (रा से) ३७

५१ (क) पुव्वकयब्भासो भावनाहि झाणस्स जोग्गयमुवेइ।
ताओ य नाणदंसण चरित्त वेरग्गनियताओ।।

ध्यान शतक गा ३०

(ख) मैत्री - प्रमोद - कारुण्य - माध्यस्थ्यानि नियोजयेत्।
धर्मध्यानमुपस्कर्तुं, तद्धि तस्य रसायनम्।।

योग शास्त्र ४ / ११७

५२ झाणेणिच्चब्भासो कुणइ मणो धारण विसुद्धिं च।
णाणगुण मुणियासारो तो झाइ सुनिच्चलमईओ।

ध्यान शतक गा ३१

५३ सकाइदोसरहिओ णसम - थेज्जाइ गुणगणोवेओ।
होइ असंमूढमणो दसणसुद्धीए झाणमि।।

ध्यान शतक गा ३२

५४. नवकम्माणायाण पोराणविणिज्जर सुभायाण।
चारित्त भावणाए झाणमयत्तेण य समेइ।।

ध्यान शतक गा ३३

५५ सुविदियजगस्स भावो निस्सगो निब्भओ निरासो य।
वेरग्ग भावियमणो झाणमि सुनिच्चलो होई।।

ध्यान शतक गा ३४

५६ (क) मा कार्षीत् कोऽपि पापानि, मा च भूत् कोऽपि दुखित ।
मुच्यतां जगदप्येषा मतिर्मैत्री निगद्यते।।

योगशास्त्र ४/११८

५७ (क) अपास्ताशेषदोषाणां, वस्तुतत्त्वावलोकिनाम्।
गुणेषु पक्षपातो, य स प्रमोद प्रकीर्तित ।।

योग शास्त्र ४/११९

५८. (क) दीनेष्वार्त्तेषु भीतेषु याचमानेषु जीवितम्।
प्रतीकारपरा बुद्धि कारुण्यमभिधीयते।।

योगशास्त्र, ४/१२०

५९ (क) क्रूरकर्मसुनि शंकं, देवता-गुरु-निन्दिषु।
आत्मशंसिषु योपेक्षा, तन्माध्यस्थ्यमुदीरितम्।।

योग शास्त्र ४/१२१

६० आत्मान भावयन्नाभि र्भावनाभिर्महामति ।
त्रुटितामपि संधत्ते विशुद्धां ध्यानसन्ततिम्।।

योग शास्त्र ४/१२२

६१ (क) निच्च चिय जुवइ - पसु - नपुंसग कुसीलवज्जिय जइणो।
ठाणं वियण भणियं .. सो देसो झायमाणस्स।।

ध्यान शतक गा. ३५, ३६-३७

(ख) तत्त्वानुशासन नामक ध्यान शास्त्र (रा से.) गा ९०-९५

६२ थिरकयजोगाणं पुण मुणिणं झाणेसु णिच्चलमणाणं।
गामम्मि जणाइण्णे सुण्णे रण्णे य ण विसेसो।।

षट् खण्डागम भा ५ धवला टीका पृ ६७

६३ कालो वि सो च्चिय जहिं जोगसमाहाणमुत्तम लहइ।
न य दिवसनिसावेलाइ नियमण झाइणो भणिय।।

ध्यान शतक गा ३८

६४ (क) जच्चिय देहावत्था जियाण झाणोवरोहिणी होइ।
झाइज्जा तदवत्थो ठिओ निसण्णो निवण्णो वा।।
सव्वाणु वट्टमाणा मुणओ जं देस काल चेट्ठासु।
वर केवलाइलाभ पत्ता बहुसो समिय पाव।।
तो देसकाल चेट्ठा नियमो झाणस्स नत्थि समयम्मि।
जोगाणं समाहाणं जह होइ तहा जइयव्वं।।

ध्यान शतक गा ३९-४१

(ख) पर्यंक - वीर - वज्राब्ज - भद्र - दण्डासनानि च।
उत्कटिका - गोदोहिका - कायोत्सर्गस्तथा ऽऽ सनम्।।

योग शास्त्र ४/१२४

(ग) ठाणे (सुत्तागमे) ५/४९८

६५ झाणप्पडिवत्तिकमो होइ मणोजोगनिग्गहाइओ।
भवकाले केवलिणो, सेसाण जहा समाहीए।

ध्यान शतक गा ४४

६६ (क) तत्त्वानुशासन (नागसेनाचार्य) ४/३१-३९

(ख) षट् खण्डागम, धवला टीका, पृ ६९-७०

(ग) ज्ञानार्णव ३१/१७

६७ (क) तत्थ उत्तमसघडणो ओघबलो ओघसूरो, चोद्दसपुव्वहरो वा दस पुव्वहरो वा णवपुव्वहरो वा णाणेण विणा अणवगयणवठावपयत्थस्स झाणाणुववत्तीदो।

षट् खण्डागम, धवला टीका, पृ ६४

(ख) मुमुक्षुर्जन्मनिर्विण्ण शान्तिचित्तो वशी स्थिर ।
जिताक्ष संवृतो धीरो ध्याता शास्त्रे प्रशस्यते।।

ज्ञानार्णव ४/६ (पृ ६५)

(ग) तत्रा ऽऽ सन्नीभवन्मुक्ति किंचिदासाद्यकारणम्।
विरक्त काम- भोगेभ्यस्त्यक्त- सर्वपरिग्रह ।।
अभ्येत्य सम्यगाचार्यं दीक्षा जैनेश्वरीं श्रित ।
तप संयम - सम्पन्न प्रमादरहिता ऽऽ शय ।।
सम्यग्निर्णीत - जीवादि - ध्येयवस्तु - व्यवस्थिति ।
आर्त्त - रौद्र - परित्यागाल्लब्ध - चित्त - प्रसत्तिक-।।
मुक्त - लोकद्वया ऽ पेक्ष सोढा ऽ शेष-परीषह ।
अनुष्ठित - क्रियायोगो ध्यान - योगे - कृतोद्यम ।।
महासत्व परित्यक्त - दुर्लेश्या ऽ शुभभावन-।
इतीदृग्लक्षणो ध्याता धर्म्य - ध्यानस्य सम्मत ।।

तत्त्वानुशासन नामक ध्यान शास्त्र गा ४१-४५

(घ) सम्माइट्ठी - ण च णवपयत्थविसयरुइ - पच्चय सद्धाहि विणा झाणं संभवादि, तप्पवुत्तिकारण सवेग - णिव्वेयाणं अण्णत्थ असमवादो। चत्ता सेस बज्झतरगगंयो-खेत्त-वत्थु-घण-घण्णदुवयचउप्पयजाण सयणासण सिस्स - कुल-गण-सघेहि जणिदमिच्छत्त कोह-माण-माया लोह - हस्स-रइ-अरइ-सोग-भय-दुगुछा-त्थी-पुरिस णपुसय वेदादि अतरंगगंथ करंवापरिवेढियस्स सुहज्झाणाणुववत्तीदो।

षट् खण्डागम, धवला टीका, पृ ६५

६८ होंति सुहासव संवर विणिज्जराऽमरऽसुहाइं विडलाइं।
झाणवरस्स फलाइ सुहाणुबधीणि धम्मस्स।।

ध्यान शतक गा ९३

६९ ऐहिकामुष्मिकापाय - परिहारपरायण ।
तत प्रतिनिवर्तेत, समन्तात् पापकर्मण ।।

योग शास्त्र १०/११

७०. नानाद्रव्यगतानन्त - पर्यायपरिवर्तनात्।
सदा सक्तं मनो नैव, रागाद्याकुलता व्रजेत्।।

योग शास्त्र १०/१५

७१ (क) सपहि दोण्ण सुक्कज्झाणाणं फलपरूवणं कस्सामो - अट्ठावीसभेय भिण्णमोहणीयस्स सव्वुवसमावट्ठाणफल पृधत्त-विदक्कवीचार सुक्कज्झाणफलं, सव्वसायत्तणेण घम्मज्झाणिणो सुहुमसापराइयस्स चरिमसमए मोहणीयस्स सव्वुवसममुवलं भादो। तिण्णं घादिकम्माणं णिम्मूलविणास-फलमयत्तविदक्कअवीचारज्झाण। मोहणीयविणासो पुण घम्मज्झाणफलं, सुहुमसापरायचरिमसमए तस्स विणाणुइलभादो।

षद् खण्डागम, (धवला टीका भा ५) पृ ८०-८१

(ख) पृथक्त्वादिति वीचार सामर्थ्यप्रगत मन ।
यस्यापर्याप्तबालस्योत्साहवच्चाव्यवस्थितम्।।
तत्पृथक्त्वसुवीतर्कवीचार ध्यानमुत्तमम्।
जायते जितकमौघमणविघ्वसकारिण ।।
दुरन्तमोह जालं तन्निर्मल निकषन्निह।
स एवातिविशुद्धात्मा ज्ञानावृत्तिर्निरुन्धनात्।।
स्थितिहासक्षयौ कुर्वञ्श्रुतज्ञानोपयोगवान्।
अर्थव्यंजनयोगानां सत्संक्रान्तिविवर्जनात्।।
अथावसरसप्राप्त मोक्षतत्त्व निगद्यते।
साक्षाच्च केवलं तस्य हेतुस्तद् घातिना क्षयात्।।

सिद्धान्तासार संग्रह, ११/७१-७५, ८५

(ग) महापुराण २१/१८६

(घ) ज्वलति ततश्च ध्यानं - ज्वलने भृशमुज्ज्वले यतीन्द्रस्स।
निखिलानि विलीयन्ते क्षणमात्राद् घाति कर्माणि।।
ज्ञानावरणीयं दृष्ट्यावरणीय च मोहनीय च।
विलय प्रयाणि सहसा सहान्तरायेण कर्माणि।।
संप्राप्य केवलज्ञान - दर्शने दुर्लभे ततो योगी।
जानाति पश्यति तथा लोकालोकं यथावस्थ।।

योग शास्त्र ११/२१-२३

(ङ) परिवारद्धिसामग्या सुखं स्यात्कल्पवासिनाम्।
तदभावे ऽ हमिद्राणां कृतस्त्यमिति चेत्सुखम्।।

परिवारर्द्धिसतैव किं सुखं किमु तद्वताम्।
तत्सेवा सुखमित्येवमात् स्याद् द्वितयी गति ।।

महापुराण ११/१८७-१८८

(च) ते य विसेसेण सुभासवादओगुत्तरामरसुहाइ।
दोण्ह सुक्काण फल .

ध्यान शतक गा ९४

७२ भाव सवर णिज्जरामरसुह फलं . ।

षट् खण्डागम, धवला टीका, (भा ५) पृ ७९

७३ (क) आस्रव निरोध सवर । तत्त्वार्थ सूत्र ९/१

(ख) या पुण्यपापयोरग्रहणे वाक्कायमानसी वृत्ति ।
सुसमाहितो हित सवरो वरददेशितश्चिन्त्य ।।

प्रशमरतिप्रकरणम् गा १५८ एव उसकी टीका

(ग) कल्मषागमनद्वार - निरोध सवरो मत ।

योगसार प्राभृत (अमितगति) ५/१

(घ) सर्वार्थ सिद्धि ९/१

७४ (क) भाव - द्रव्यविभेदेन द्विविध कृत संवरै ।
रोधस्तत्र कषायाना कथ्यते भाव सवर ।
दुरितए्रवविच्छेदस्तद्रोधे द्रव्य सवर ।।

योगसार प्राभृत ५/१-२

(ख) द्रव्य भावप्रभेदेन सोऽपि द्वेधा भवेदिह।
ससारैकनिमित्ताना क्रियाणां विनिवर्तनम्।।
भावसवर माख्यान्ति मुनीन्द्रा कृतसवरा ।
तन्निरोधे च तत्पूर्वकर्मपुद्गलविच्युति ।।
आत्मनस्तु स विज्ञेयो यतीन्द्रैर्द्रव्यसंवरा ।
समितस्य च गुप्तस्यानुप्रेक्षानुरतस्य च।।
सच्चारित्रवत पुस संवरो जायते क्षणात्।
परीषह जयेनासौ दशधा धर्म कारण ।।

सिद्धान्तसार संग्रह (नरेन्द्रसेनाचार्य) ९/२१५-२१८

(ग) गुत्ती समिदी . सज्झाणम्मि णिलीण तं
जाणसु उत्तम चरणं।।

स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा गा ९६-९९

(घ) सर्वार्थ सिद्धि ९/१

७५ सम्मत्तं देस - वयं महव्वयं तह जओ कसायाणं ।
एदे संवर-णामा जोगाभावो तहा चेव।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा ९५

७६ (क) पूर्वोपार्जित - कर्मैकदश सक्षय - लक्षणा।

योगसार प्राभृत ६/१

(ख) निर्जीयते यथा कर्म प्राणिना भववर्तिना।

सिद्धान्तसारप्रकरणम् १०/१

(ग) निर्जरा निर्जरणम् एकदेशेन कर्मणा शडनम्।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, टीका पृ ४९

(घ) सव्वेसिं कम्माण सत्ति - विवाओ हवेइ अणुभाओ।
तदणतर तु सडण कम्माण णिज्जरा जाण।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा १०३

(ङ) यद्वद्विशेषणादुपचितोऽपि यत्नेन जीर्यते दोष ।
तद्वत्कर्मोपचित निर्जरयति संवृतस्तपसा।।

प्रशमरतिप्रकरणम् गा १५९ एव उसकी टीका

७७ (क) निर्जरा सा द्विधा ज्ञेया कालेनोपक्रमेण च।।
या च कालकृता सेय मता साधारणा जिनै ।
सर्वेषा प्राणिना शश्वदन्यकर्मविधायिनी।।
या पुनस्तपसानेकविधिनात्र विधीयते।
उपक्रमभवा सेय सर्वेषा नोपजायते।।

सिद्धान्तसार सग्रह १०/१-३

(ख) पचास्तिकाय (कुदकुदाचार्य) गा ४४-४६

(ग) ससार बीज भूताना कर्मणा जरणादिह।
निर्जरा सा स्मृता द्वेधा सकामा काम - वर्जिता।।

योग शास्त्र ४/८६

(घ) निर्जरा जायते द्वेधा पाकजापाकजात्वत ।

योगसार प्राभृत ६/१

(ङ) सा पुण दुविहा णेया सकाल - पत्ता तवेण कयमाणा।
चादुगदीण पढमा वय - जुत्ताण हवे बिदिया।।
उवसम - भाव - तवाण जह जह वड्ढी हवेइ साहूण।
तह तह णिज्जर - वड्ढी विसेसदो धम्म - सुक्कादो।।
जो विसहदि दुव्वयण साहम्मिय - हीलण च उवसग्ग।
जिणिऊण कसाय - रिउ तस्स हवे णिज्जरा विउला।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा १०४-१०५, १०९

परिवारर्द्धिसतैव किं सुखं किमु तद्वताम्।
तत्सेवा सुखमित्येवमात् स्याद् द्वितयी गति ।।

महापुराण ११/१८७-१८८

(च) ते य विसेसेण सुभासवादओगुत्तरामरसुहाइ।
दोण्ह सुक्काण फलं

ध्यान शतक गा ९४

७२ भाव सवर णिज्जरामरसुह फल ।

षट् खण्डागम, धवला टीका, (भा ५) पृ ७९

७३ (क) आस्रव निरोध सवर । तत्त्वार्थ सूत्र ९/१

(ख) या पुण्यपापयोरग्रहणे वाक्कायमानसी वृत्ति ।
सुसमाहितो हित सवरो वरददेशितश्चिन्त्य ।।

प्रशमरतिप्रकरणम् गा १५८ एव उसकी टीका

(ग) कल्मषागमनद्वार - निरोध सवरो मत ।

योगसार प्राभृत (अमितगति) ५/१

(घ) सर्वार्थ सिद्धि ९/१

७४ (क) भाव - द्रव्यविभेदेन द्विविध कृत सवरै ।
रोधस्तत्र कषायाना कथ्यते भाव सवर ।
दुरितएत्रवविच्छेदस्तद्रोधे द्रव्य सवर ।।

योगसार प्राभृत ५/१-२

(ख) द्रव्य भावप्रभेदेन सोऽपि द्वेधा भवेदिह।
ससारैकनिमित्ताना क्रियाणा विनिवर्तनम्।।
भावसवर माख्यान्ति मुनीन्द्रा कृतसवरा ।
तन्निरोधे च तत्पूर्वकर्मपुद्गलविच्युति ।।
आत्मनस्तु स विज्ञेयो यतीन्द्रैर्द्रव्यसवरा ।
समितस्य च गुप्तस्यानुप्रेक्षानुरतस्य च।।
सच्चारित्रवत पुस सवरो जायते क्षणात्।
परीषह जयेनासौ दशधा धर्म कारण ।।

सिद्धान्तसार सग्रह (नरेन्द्रसेनाचार्य) ९/२१५-२१८

(ग) गुत्ती समिदी सज्झाणम्मि णिलीण तं
जाणसु उत्तम चरणं।।

स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा गा ९६-९९

(घ) सर्वार्थ सिद्धि ९/१

७५ सम्मत्तं देस - वयं महव्वयं तह जओ कसायाणं।
एदे संवर-णामा जोगाभावो तहा चेव।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा ९५

७६ (क) पूर्वोपार्जित - कर्मैकदश सक्षय - लक्षणा।

योगसार प्राभृत ६/१

(ख) निर्जीयते यथा कर्म प्राणिना भववर्तिना।

सिद्धान्तसारप्रकरणम् १०/१

(ग) निर्जरा निर्जरणम् एकदेशेन कर्मणां शडनम्।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, टीका पृ ४९

(घ) सव्वेसिं कम्माणं सत्ति - विवाओ हवेइ अणुभाओ।
तदणंतरं तु सडण कम्माण णिज्जरा जाण।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा १०३

(ङ) यद्वद्विशेषणादुपचितोऽपि यत्नेन जीर्यते दोष।
तद्वत्कर्मोपचित निर्जरयति सवृतस्तपसा।।

प्रशमरतिप्रकरणम् गा १५९ एवं उसकी टीका

७७ (क) निर्जरा सा द्विधा ज्ञेया कालेनोपक्रमेण च।।
या च कालकृता सेय मता साधारणा जिनै।
सर्वेषा प्राणिनां शश्वदन्यकर्मविधायिनी।।
या पुनस्तपसानेकविधिनात्र विधीयते।
उपक्रमभवा सेय सर्वेषां नोपजायते।।

सिद्धान्तसार संग्रह १०/१-३

(ख) पचास्तिकाय (कुद्कुंदाचार्य) गा ४४-४६

(ग) ससार बीज भूताना कर्मणा जरणादिह।
निर्जरा सा स्मृता द्वेधा सकामा काम - वर्जिता।।

योग शास्त्र ४/८६

(घ) निर्जरा जायते द्वेधा पाकजापाकजात्वत।

योगसार प्राभृत ६/१

(ङ) सा पुण दुविहा णेया सकाल - पत्ता तवेण कयमाणा।
चादुगदीण पढमा वय - जुत्ताण हवे बिदिया।।
उवसम - भाव - तवाणं जह जह वड्ढी हवेइ साहूण।
तह तह णिज्जर - वड्ढी विसेसदो धम्म - सुक्कादो।।
जो विसहदि दुव्वयण साहम्मिय - हीलणं च उवसग्गं।
जिणिऊण कसाय - रिउं तस्स हवे णिज्जरा विउला।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा १०४-१०५, १०९

७८ मिच्छादो सद्दिदट्ठी असंख - गुण - कम्म - णिज्जरा होदि।
तत्तो अणुवय - धारी तत्तो य महव्वई णाणी।।
पढम - कसाय - चउण्ह विजोजओ तह य खवय - सीलो य।
दसण - मोह - तियस्स य तत्तो उवसमग - चत्तारि।।
खवगो य खीण - मोहो सजोइ - णाहो तहा अजोइया।
एदे उवरिं उवरिं असख - गुण - कम्म - णिज्जरया।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा १०६-१०८

७९ षट् खण्डागम धवला टीका, (भाग ५) पृ ७९-८०

८० (क) अघाइचउक्कविणासफल। तदियसुक्कज्झाण जोगणिरोह फल। सेलेसिय अद्धाए 'ज्झाण' सव्वकम्मविप्पमुक्को एकसमएण सिद्धिं गच्छदि।।

षट् खण्डागम, धवला टीका (भाग ५) पृ ८८

(ख) परिनिव्वाण परिल्लाण।

ध्यान शतक गा ९४

(ग) सिद्धान्तसार सग्रह ११/८०-८४

(घ) सोऽथ मनोवागुच्छ्वासकाययोगक्रियार्थविनिवृत्त ।
अपरिमितनिर्जरात्मा ससारमहार्णवोत्तीर्ण ।।
ईषद्ध्रस्वाक्षरपचकोद्गिरणमात्रतुल्यकालीयाम्।
सयमवीर्याप्तबल शैलेशीमेति गतलेश्य ।।

प्रशमरतिप्रकरणम् गा २८२-२८३

(ङ) सर्वार्थ सिद्धि ९/४४

८१ न कसाय समुत्थेहि य वाहिज्जइ माणसेहिं दुक्खेहि।
ईसा - विसाय - सोगाइएहिं झाणोवगयचित्तो।।
सीयायवाइएहिं य सारीरेहिं सुबहुप्पगारेहिं।
झाण सुनिच्चलचित्तो न वहिज्जइ निज्जरापेही।।

ध्यान शतक गा १०३-१०४

८२ अट्टेण तिरिक्खगई रुद्दज्झाणेण गम्मती नरय।
धम्मेण देवलोय सिद्धिगई सुक्कज्झाणेण।।

ध्यान शतक गा ६

८३ (क) रागस्य हेतवो ये ये, भजन्ते द्वेषहेतुताम्।
सानुकूल प्रतिकूल मनोवृत्तिप्रसगत ।।
रागरूपामनोवृत्ति द्वेषरूपा तथैव च।

रागद्वेषविनिर्मुक्तं मनो मोक्षस्य कारणम्।।

योग - दीपक (बुद्धि सागर) गा ३०-३१

(ख) रागद्वेषादि कल्लोलैरलोलं मन्मनो जलम्।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्व तत् तत्त्वं नेतसे जन ।।
अविक्षिप्तं मनस्ततत्त्वं विक्षिप्तं भ्रान्तिरात्मन ।
धारयेत्तदविक्षिप्त विक्षिप्तं नाश्रयेत्तत ।।
अविद्या भ्यास सस्कारैरवश न क्षेपो तस्य चेतस ।

समाधि तत्र (देवनंद) गा ३५-३६, ३७-३८

(ग) अध्यात्मतत्त्वालोक ६/५, ९-१०

(घ) तत्त्वानुशासन नामक ध्यान शास्त्र, गा ७८

८४. चरणयोगघटान्प्रविलोठयन् समरसं सकलं विकिरत्यघ ।
चपल एव मन कपिरुच्चकै रसवणिक् विदधातु मुनिस्तु।।
सततकुट्टिटसंयम भूतलो, त्थितरजोनिकरै प्रथयन्नस्तम।
अतिदृढैश्च मनस्तुरगो गुणै रपि नियत्रित एव न तिष्ठति।।
जिनवचोघनसार मलिम्लुच- कुसुमसायकपावनदीपक ।
अहह कोऽपि मन पवनो बली शुभमतिद्रुमसन्ततिभगकृत्।।
अनिगृहीतमना विदधत्परा न वपुषां वचसा च शुभक्रियाम्।
गुणमुपैति विराधनयाऽनया दुरन्त भव भ्रममंचति।।
अनिगृहीतमना कुविकल्पतो नरकमृच्छति तन्दुलमत्स्यवत्।
इयमभक्षणजा तदजीर्णताऽनुपनतार्थविकल्पकदर्थना।।

अध्यात्मसार (यशोविजयजी) पृ १६८-

८५ (क) मनोरोधे निरुध्यन्ते कर्माण्यपि समन्तत ।
अनिरुद्धमनस्कस्य, प्रसरन्ति हि तान्यपि।।
मन कपिरय विश्वपरिभ्रमणलम्पट ।
नियंत्रणीयो यत्नेन मुक्ति मिच्छुभिरात्मन-।।

योग शास्त्र ४/३८-३९

(ख) उचितमाचरणं शुभमिच्छता प्रथमतो मनस खलु शोधनम्।
गदवता ह्यकृते मलशोधने, कमुपयोगमुपैतु रसायनम्।।
मनस एव तत- परिशोधनं नियमतो विदधीत महामति ।
इदमभेषजसवनन मुने परमुमर्थरतस्य शिवश्रिय ।।

अध्यात्मसार (यशोविजयजी) पृ १६७

(ग) मन शुद्धिमविभ्राणा, ये तपस्यन्ति मुक्तये।
त्यक्त्वा नाव भुजाभ्यां ते, तितीर्षन्ति महार्णवम्।।

तपस्विनो मन शुद्धि विनाभूतस्य सर्वथा।
ध्यानं खलु मुधा चक्षुर्विकलस्येव दर्पण ।।
तदवश्य मन शुद्धि कर्तव्या सिद्धिमिच्छता।
तप श्रुत - यमप्रायै किमन्यै कायदण्डनै ?।।

योग शास्त्र ४/४२-४४

८६ (क) पंच इदियत्था पण्णत्तं, त जहा - सोइदियत्थे जाव फासिंदियत्थे।

ठाणं (सुत्तागमे) ५/३/५३१

(ख) तत्त्वार्थसूत्र २/२०

८७ (क) स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तेषामर्था । तत्त्वार्थसूत्र २/२१

(ख) कर्मग्रन्थ १/४०-४१

(ग) पच्चीस बोल का थोकडा, पृ ५८ (गौतम मुनि)

८८ ज्ञानार्णव २०/५, १०, १३-१५, १८-१९

८९ (क) पतगभृगमीनेभ - सारगा यान्ति दुर्दशाम्।
एकैकेन्द्रियदोषाच्चेद्, दुष्टस्तै किं न पचभि ।।

ज्ञान सार (उपा यशो विजय) ७/७

(ख) मीना मृत्यु प्रयाता रसनवशमिता दन्तिन स्पर्शरुद्धा
बद्धास्ते वारिबन्धे ज्वलनमुपगता पत्रिणश्चाक्षिदोषात्।
भृगा गन्धोद्धताशा प्रलयमुपगता गीतलोला कुरगा
कालव्यालेन दष्टास्तदपि तनुभृतामिन्द्रियार्थेषु राग ।।

ज्ञानार्णव २०/३५

९० (क) जो परिहरेदि सगं महिलाणं णेव पस्सदे रूवं।
काम-कहादि-णिरीहो णव-विह-बंभं हवे तस्स।।

स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा गा -४०३

(ख) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, शुभचन्द्र संस्कृत टीका पृ ३०५-३०६

(ग) शीलार्णवस्य पार गत्वा सविम्नसुगमपारस्य।
धर्मध्यान मुपगतो वैराग्यं प्राप्नुयाद्योग्यम्।।

प्रशमरति प्रकरणम् गा २४६

(घ) ध्यान शतक (जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, हरिभद्र टीका)
हिन्दी विवेचक श्री विजय भुवनभानुसूरीश्वरजी म , पृ २१०

११. अजिताक्ष कषायाग्निं विनेतुं न प्रभुर्भवते।
अत' क्रोधादिकं जेतुमक्षरोध प्रशस्यते।।

ज्ञानार्णव २०/१

१२ (क) एगे जिए जिया पच पच जिए जिया दस।
दसहा उ जिणित्ताणं, सव्वसत्तू जिणामहं।।

उत्तराध्ययन सूत्र २३/२६

(ख) मनोरोधे भवेद्रुद्ध विश्वमेव शरीरिभि ।
प्रायोऽसंवृतचित्ताना शेष रोधोऽप्यपार्थक ।।

ज्ञानार्णव २२/६

१३ क्वचिन्मूढ क्वचिद् भ्रान्तं क्वचिद्भीतं क्वचिद्रतम्।
शकित च क्वचित्क्लिष्टं रागाद्यै क्रियते मन ।।

ज्ञानार्णव ३२/७

१४ (क) त्रिशुद्धिपूर्वक ध्यानमामनन्ति मनीषिण ।

ज्ञानार्णव ६/३

(ख) योगसार (योगीन्दुदेव) गा. ४६,४८

१५ (क) दुविहाओ भावणाओ, असकिलिट्ठाय य सकिलिट्ठाय।
मुत्तूण सकिलिट्ठा, असकिलिट्ठाहि भावेंति।।

बृहत्कल्प भाष्य (भा २) गा १२९१

(ख) कदप्प देवकिब्बिस अभिओगा आसुरा य सम्मोहा।
एसा य सकिलिट्ठा, पचविहा भावणा भणिया।।

बृहत्कल्पभाष्य गा १२९३

१६ (क) स्थानाग सूत्र (आत्मा म) ४/१/१२
(ख) तत्त्वार्थ सूत्र ९/७
(ग) कुन्दकुन्द भारती 'बारसणुपेक्खा'

१७ उत्तराध्ययन सूत्र २९/२२

स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका पृ १

१८ अनुप्रेक्षा भव्यजनानन्द जननी ।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका पृ १

१९ (क) आयारे (सुत्तागमे) २/१५/१०२७-१०७४
(ख) ध्यान शतक गा ३०
(ग) तत्त्वार्थ सूत्र ७/६

(घ) योगशास्त्र ४/५५-५६

१०० (क) प्रशमरति प्रकरण १४९-१५०
(ख) स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा गा २-३
(ग) ज्ञानार्णव २/७
(घ) अध्यात्म तत्वालोक ५/२५

१०१ (क) अण्ण देहं गिण्हदि जणणी अण्णा य होदि कम्मादो।
अण्ण होदि कलत्त अण्णो वि य जायदे पुत्तो।।
एव बाहिर-दव्व जाणदि रूवादु अप्पणो भिण्ण।
जाणतो वि हु जीवो तत्थेव हि रच्चदे मूढो।।
जो जाणिऊण देह जीव-सरूवादु तच्चदो भिण्णं।
अप्पाण पि य सेवदि कज्ज कर तस्स अण्णत्तं।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा ८०-८२

(ख) ध्यान - दीपिका (सकलचंद) २४-२६
(ग) शान्त सुधारस (विनय विजयजी) पृ १५९

१०२ (क) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा ८३-८४, ८७
(ख) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा शुभचन्द्र टीका पृ ४१-४२
(ग) योग शास्त्र ४/७२-७३
(घ) ज्ञानार्णव २/१, ३, ४ (पृ ३७-३८)
(ङ) शान्तसुधा रस, पृ १६९-

१०३ तेणुवइट्ठो धम्मो सगासत्ताण तह असगाण।
पढमो बारह भेओ दह - भेओ भासिओ बिदिओ।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा ३०४

१०४ स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा गा २९०-२९६

१०५ अनित्य भावादिक भावना स्मृता महर्षिभिद्वादेश तासु सन्ततम्।
विभाव्यमानासु ममत्वलक्षणान्धकारनाशे समताप्रभा स्फुरते।।

अध्यात्म तत्वालोक (न्याय विजय) ५/२५

१०६ कषायरोधाय जितेन्द्रियत्व, जितेन्द्रियत्वाय मनोविशुद्धि ।
मनोविशुद्ध्यै समता पुन. साऽममत्वतस्तत् खलु भावनाभि ।

अध्यात्म तत्वालोक ५/२

१०७ (क) साम्यमेव पर ध्यानं प्रणीत विश्वदर्शिभि ।
तस्यैव व्यक्तये नून मन्येऽयं शास्त्रविस्तर ।।

ज्ञानार्णव २४/१३

(ख) अध्यात्मसार (चन्द्रशेखर)९/१, ७, ८, १२, १४, १५-१७, २७

(ग) कर्म जीव च संश्लिष्टं परिज्ञातात्मनिश्चय ।
विभिन्नी कुरुते साधु· सामायिक शलाकया।।
रागादिध्वान्तविध्वसे . . साम्यभाजः साधो· प्रभावत·।।

योग शास्त्र ४/५२-५४

(घ) राय रोस बे परिहरिवि जो समभाउ मुणेइ।
सो सामाइउ जाणि फुडु केवलि एम भणेइ।।

योगसार (योगीन्द्रदेव) गा १००

(ङ) मनोविशुद्ध्यै समतां श्रयेत, निमज्जनात् साम्य सरोवरे यत्।
रागादिकम्लानिपरिक्षय· स्याद् अमन्द आनन्द उपेयते न·।।

अध्यात्मतत्वालोक ५/१७

१०८. अध्यात्म तत्वालोक ५/४२-४३

१०९ (क) समत्वमवलम्ब्याय, ध्यान योगी समाश्रयेत्।

योग शास्त्र ४/११२

(ख) ज्ञानार्णव २५/३-४

(ग) अध्यात्मतत्वालोक ५/१३, १७, २०, ३/११५

११० स्वाध्याय परमस्तावज्जप पचनमस्कृते ।
पठन वा जिनेन्द्रोक्त - शास्त्रस्यैकाग्र - चेतसा।।
स्वाध्यायाद् ध्यानमध्यास्ता ध्यानात्स्वाध्याय माऽऽमनेत्।
ध्यान - स्वाध्याय - सम्पत्या परमात्मा प्रकाशते।।

तत्वानुशासन नामक ध्यान शास्त्र गा. ८०-८१

१११ (क) जिणु सुमिरहु जिणु चिंतवहु जिणु झायहु सुमणेण।
सो झाय तहं परम-पउ लब्भइ एक्क-खणेण।।
अप्पा अप्पइ जो मुणइ जो परभाउ चएइ।
सो पावइ सिवपुरि - गमणु जिणवरु एम भणेइ।।

योगसार (योगीन्दु देव) गा ११, ३४

(ख) अप्पाणमप्पणा रुंधिऊण दो पुण्णपाव जोएसु।
दंसणणाणह्मि ठिदो इच्छाविरओ य अण्णह्मि।।
जो सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा।
णवि कम्मं णोकम्मं चेदा चेयेइ (चिंतेदि) एयत्तं।।
अप्पाणं झायंतो दंसणणाणमओ अणण्णमओ।
लहइ अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मपविमुक्कं।।

समय सार ५/१८७-१८९

११२. (क) अन्नो जीवो अन्न सरीर .. ।

रायपसेणइय (सुत्तागमे) ६१

(ख) जीवाजीवह भेउ जो जाणइ ति जाणियउ।
मोक्खह कारण एउ भणइ जोइ जोइहिं भणिउ।।
पुग्गल अण्णु जि अण्णु जिउ अण्णु वि सहु ववहारू।
चयहि वि पुग्गलु गहहि जिउ लहु पावहि भवपारू।।

योगसार गा ३८, ५५

११३ (क) अनन्तजन्मजानेककर्मबन्धस्थितिर्दृढा।
भावशुद्धि प्रपन्नस्य मुने॰ प्रक्षीयते क्षणात्।।

ज्ञानार्णव २२/२६

(ख) एतान्येवाहु केचिच्च मन स्थैर्याय शुद्धये।
तस्मिन्स्थिरीकृते साक्षात्स्वार्थसिद्धि ध्रुवं भवेत्।।
यमादिषु कृताभ्यासो नि सगो निर्ममो मुनि ।
रागादिक्लेशनिर्मुक्तं करोति स्ववश मन ।।
अष्टावगानि योगस्य यान्युक्तान्यार्यसूरिभि ।
चित्तप्रसत्तिमार्गेण बीज स्युस्तानि मुक्तये।।

ज्ञानार्णव २२/२-४

(ग) मोक्षाप्तये योगविद पुराणा योगस्य पन्थान
इत्यष्टागानि योगस्य।

अध्यात्म तत्त्वालोक (न्यायविजयजी) ३/४-५,

११४ (क) मित्ता तारा बला दीप्रा, स्थिरा कान्ता प्रभा परा।
नामानि योगदृष्टीनां, लक्षणं च निबोधत।।
तृणगोमयकाष्ठाग्नि-कण दीपप्रभोपमा।
रत्नतारार्कचन्द्राभा, सद्दृष्टेर्दृष्टिरष्टधा।।
यमादियोगयुक्ताना, खेदादिपरिहारत ।
अद्वेषादिगुणस्थानं, क्रमेणैषा सता मता।।

योग दृष्टि समुच्चय गा १३-१६

(ख) हरिभद्रीय योग भारती (प्रका मुबई) टीका पृ ७४-७७

११५ (क) तत्राहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मापरिग्रहाश्च यमा ।

अध्यात्म तत्त्वालोक ३/६

(ख) योगदृष्टि समुच्चय (हरिभद्र सूरि) गा २१-२४

(ग) अध्यात्म तत्वालोक ३/७९-८१, ८३, ८५-८८

(घ) सप्तदशभेदसयम धरो यमी ।

ध्यानदीपिका (सकल चदजी) गा. ९९

११६. (क) शौचं संतोषस्च तप स्वाध्याय प्रभुविचिन्तन नियमा ।

अध्यात्म तत्त्वालोक ३/६

(ख) शौचतादियुत नियमी। ध्यान दीपिका गा. ९९

(ग) योगदृष्टि समुच्चय, गा ४१-४२, ४५-४६

(घ) अध्यात्म तत्वालोक ३/८२

११७. अध्यात्म तत्त्वालोक ३/७१-७८

११८ (क) अध्यात्म तत्त्वालोक ३/८९-९१

(ख) योग - प्रदीप (मगलविजयजी) गा. ७, २६, ३६-४३

११९ (क) ठाणं (सुत्तागमे) ५/१/४९४

(ख) आयारे (सुत्तागमे) १/९/४/५१२, २/३/१/७००-७०२

(ग) योग दृष्टि समुच्चय, गा ४९, ५२, ५४, ५५

(घ) अध्यात्म तत्त्वालोक ३/९४-९७

(ङ) योग शास्त्र ४/१२४

(च) ज्ञानार्णव २८/९, १०

१२०-१२१ (क) योग शास्त्र ५/४-१४

(ख) ज्ञानार्णव २९/३-६, ९, ११, १२

(ग) अध्यात्मतत्त्वालोक ३/१००-१०४

(घ) योगदृष्टि समुच्चय गा ५७-६४

१२२ मिथ्यात्व मर्स्मिस्च दृशा चतुष्केऽवतिष्ठते ग्रन्थ्य विदारणेन।
ग्रन्थेर्विभेदो भवति स्थिरायां तद् हक्चतुष्केऽत्र न सूक्ष्मबोधः।।
अवेद्यसंवेद्यपदाभिधेयो मिथ्यात्वदोषश्च उच्चते स्म।
उग्रोदये तत्र विवेकहीना अधोगतिं मूढधियो व्रजन्ति।।

अध्यात्म तत्त्वालोक ३/१०५-१०६

१२३. मिथ्यात्व दोषस्य पराजयेन ससार दु खौघ निबन्धनस्य।
सत्संगतो दुर्गतिकारणस्य कुतर्क राहो : प्रपलायनं स्यात्।।

अध्यात्म तत्त्वालोक ३/१०७

१२४ अध्यात्म तत्त्वालोक ३/११२-११५

१२५ अध्यात्म तत्त्वालोक ३/११६-

१२६. शान्तो विनीतश्च मृदु प्रकृत्या भद्रस्तथा चारु चरित्रशाली।
मिथ्यादृगप्युच्यत एव सूत्रे निर्वाण भाक् धर्मितया प्रशस्त ।।
अर्धपरावर्तननामकालेऽवशिष्ट उत्कृष्टतया भवन्ति।

सम्यग्दृशो मोक्ष पदस्य लाभे विलम्ब उत्कृष्टतयाऽयमर्थात्।।

अध्यात्म तत्त्वालोक ३/११७-११८

१२७ (क) योग प्रदीप पृ ४४५-४४६

(ख) ध्यान - दीपिका गा १०२

१२८ (क) अध्यात्म तत्त्वालोक ३/१२१-१२२

(ख) योग प्रदीप पृ ४५६

१२९ (क) अध्यात्म तत्त्वालोक ३/१२०

(ख) योग प्रदीप पृ ४५९

१३० (क) योग प्रदीप पृ ४५९-४६०

(ख) ध्यान दीपिका गा १०३-४

१३१ (क) योगदृष्टि समुच्चय गा १७०-१७४

(ख) अध्यात्म तत्त्वालोक ३/१२७-१२८

१३२ (क) योगदृष्टि समुच्चय गा १७५-१७६

(ख) अध्यात्म तत्त्वालोक ३/१३०

१३३ (क) सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति तृतीयं सर्ववेदिनाम्।
समुच्छिन्नक्रियं ध्यानं तुर्यमार्ये प्रवेदितम्।।

ध्यान दीपिका गा १९८

(ख) या धारणाया विषये च प्रत्ययैकताननताऽन्त करणस्य तन्मयम्।
ध्यानं, समाधि पुनरेतदेव हि स्वरूपमात्रप्रतिमासन मत ।।

अध्यात्म तत्त्वालोक ३/१२८

१३४ दृष्टि परा नाम समाधिनिष्ठाऽष्टमी तदा सग विवर्जिता च।
सात्मीकृताऽस्यां भवति प्रवृत्ति बोध पुनश्चन्द्रिकया समान
अध्यात्मकोटि परमामिहाऽऽ गत श्रीधर्मसंन्यास बलेन [illegible]
लब्ध्वोत्तमं योगमयोगमन्तत प्राप्यापवर्गं लभतेऽ

अध्य... /१३१-१३२

१३५ [illegible]शो [illegible] मैत्री तादृशो मानसिको
[illegible] दीप्रादृ[illegible]
कान्तादृश
[illegible] यो [illegible] पर.

१३६ (क) योग शास्त्र १२/२-४
(ख) मनोनुशासन् (आ तुलसी) पृ २४

१३७. णर णारयतिरियसुरा पज्जाया ते विभावमिदि भणिदा।
कम्मोपाधिविवज्जिय पज्जाया ते सहावमिदि भणिदा।।
नियमसार (कुन्दकुन्दाचार्य) १/१५

१३८ पंचास्तिकाय गा १९-२०

१३९ असावचरमावर्त्ते, धर्मंहरति पश्यत ।
ज्ञानसार (उपा यशोविजयजी) २१/७

१४०. योग्यता चेह विज्ञेया बीजसिद्ध्याद्यपेक्षया।
आत्मन सहजा चित्रा तथा भव्यत्वमित्यत ।।
योगबिन्दु (हरिभद्र) २७८

१४१ (क) अहिगारी पुण एत्थं विण्णेओ अपुणबंधगाइ त्ति।
तह तह णियत्तपगइअहिगारो णेगभेओ त्ति।।
योग शतक (हरिभद्र) गा ९

(ख) हरिभद्र योग भारती पृ २६

१४२ चरमे पुद्गलावर्त्ते, यतो य शुक्लपाक्षिकः।
योग बिन्दु गा ७२

१४३ चरमे पुद्गलावर्ते, क्षयश्चास्योपपद्यते।
जीवानां लक्षणं तत्र, यत एतदुदाहृतम्।।
दु खितेषु दयात्यन्तमद्वेषो गुणवत्सु च।
औचित्यात्सेवनं चैव, सर्वत्रैवाविशेषत ।।
योगदृष्टि समुच्चय, गा ३१-३२

१४४ (क) भिन्नग्रन्थिस्त्वरित्री च तस्यैवैतदुदाहृतम्।।
योग बिन्दु गा. ७२

(ख) बीजं रूपं फलं चायमूहते भवगोचरम्।
द्वात्रिंशद् - द्वात्रिंशिका । यशोविजयजी।१४/९

(ग) प्रणामादि च संशुद्धं योगबीजमनुत्तमम्।।
योगदृष्टिसमुच्चय गा २३

(घ) मार्गपतित मार्गाभिमुखादय परिगृह्यन्ते।
पंच सूत्र (हरिभद्र वृत्ति, चिरन्तनाचार्य) पृ २९

१४५ (क) पूर्वसेवाक्रमश्चैव, प्रवृत्यगतया सताम् ।।
योग बिन्दु गा ३६

सम्यग्दृशो मोक्ष पदस्य लाभे विलम्ब उत्कृष्टतयाऽयमर्थात्।।

अध्यात्म तत्त्वालोक ३/११७-११८

१२७ (क) योग प्रदीप पृ ४४५-४४६
(ख) ध्यान - दीपिका गा १०२

१२८ (क) अध्यात्म तत्त्वालोक ३/१२१-१२२
(ख) योग प्रदीप पृ ४५६

१२९ (क) अध्यात्म तत्त्वालोक ३/१२०
(ख) योग प्रदीप पृ ४५९

१३० (क) योग प्रदीप पृ ४५९-४६०
(ख) ध्यान दीपिका गा १०३-४

१३१. (क) योगदृष्टि समुच्चय गा १७०-१७४
(ख) अध्यात्म तत्त्वालोक ३/१२७-१२८

१३२. (क) योगदृष्टि समुच्चय गा १७५-१७६
(ख) अध्यात्म तत्त्वालोक ३/१३०

१३३ (क) सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति तृतीयं सर्ववेदिनाम्।
समुच्छिन्नक्रिय ध्यान तुर्यमार्ये प्रवेदितम्।।

ध्यान दीपिका गा ११८

(ख) या धारणाया विषये च प्रत्ययैकतानताऽन्त करणस्य तन्मयम्।
ध्यानं, समाधि पुनरेतदेव हि स्वरूपमात्रप्रतिभासन मत ।।

अध्यात्म तत्त्वालोक ३/१२८

१३४ दृष्टि॰ परा नाम समाधिनिष्ठाऽष्टमी तदा सग विवर्जिता च।
सात्मीकृताऽस्यां भवति प्रवृत्ति बोध॰ पुनश्चन्द्रिकया समान ।।
अध्यात्मकोटि परमामिहाऽऽ गत श्रीधर्मसन्यास बलेन केवलम्।
लब्ध्वोत्तमं योगमयोगमन्तत प्राप्यापवर्गं लभते ऽ स्तकर्मकः।।

अध्यात्म तत्त्वालोक ३/१३१-१३२

१३५ मित्रादृशो लक्षण मस्ति मैत्री तारादृशो मानसिको विकास ।
बलादृश साधनशक्तिमत्त्वं दीप्रादृशोऽन्त करणस्य दीप्ति ।।
स्थिरा स्थिरताया॰ खलु तत्त्वभूमि कान्तादृश॰ साम्यसमुज्ज्वलत्वम्।
ध्यानप्रभा भासुरता प्रभाया समाधियोगश्च पर॰ पराया ।।

अध्यात्म तत्त्वालोक ३/१३३-१३४

१३६ (क) योग शास्त्र १२/२-४

(ख) मनोनुशासन् (आ तुलसी) पृ २४

१३७ णर णारयतिरियसुरा पज्जाया ते विभावमिदि भणिदा।
कम्मोपाधिविवज्जिय पज्जाया ते सहावमिदि भणिदा।।

नियमसार (कुन्दकुन्दाचार्य) १/१५

१३८. पंचास्तिकाय गा १९-२०

१३९ असावचरमावर्त्ते, धर्मंहरति पश्यत ।

ज्ञानसार (उपा यशोविजयजी) २१/७

१४० योग्यता चेह विज्ञेया बीजसिद्ध्याद्यपेक्षया।
आत्मन सहजा चित्रा तथा भव्यत्वमित्यत ।।

योगबिन्दु (हरिभद्र) २७८

१४१ (क) अहिगारी पुण एत्थं विण्णेओ अपुणबंधगाइ त्ति।
तह तह णियत्तपगइअहिगारो णेगभेओ त्ति।।

योग शतक (हरिभद्र) गा ९

(ख) हरिभद्र योग भारती पृ २६

१४२ चरमे पुद्‌गलावर्ते, यतो य· शुक्लपाक्षिकः।

योग बिन्दु गा ७२

१४३ चरमे पुद्‌गलावर्ते, क्षयश्चास्योपपद्यते।
जीवाना लक्षणं तत्र, यत एतदुदाहृतम्।।
दु खितेषु दयात्यन्तमद्वेषो गुणवत्सु च।
औचित्यात्सेवनं चैव, सर्वत्रैवाविशेषत ।।

योगदृष्टि समुच्चय, गा ३१-३२

१४४ (क) भिन्नग्रन्थिश्चरित्री च तस्यैवैतदुदाहृतम्।।

योग बिन्दु गा. ७२

(ख) बीजं रूपं फलं चायमूहते भवगोचरम्।

द्वात्रिंशद् - द्वात्रिंशिका । यशोविजयजी।१४/९

(ग) प्रणामादि च संशुद्ध योगबीजमनुत्तमम्।।

योगदृष्टिसमुच्चय गा २३

(घ) मार्गपतित मार्गाभिमुखादय परिगृह्यन्ते।

पंच सूत्र (हरिभद्र वृत्ति, चिरन्तनाचार्य) पृ २९

१४५ (क) पूर्वसेवाक्रमस्चैव, प्रवृत्त्यंगतया सताम् ।।

योग बिन्दु गा ३६

(ख) योगाधिरोहो न हि दुष्करश्चेत् किं दुष्कर तर्हि जगत्त्रयेऽपि।
योगस्य भूमावधिरोहणार्थ मादावुपाय परिदर्श्यतिऽयम्।।
भक्तिर्गुरूणा परमात्मनश्चाऽऽचास्य शुद्धिस्तपसि प्रवृत्ति ।।
नि श्रेयसे द्वेषविवर्जितत्त्वमिय सताऽदर्श्यत 'पूर्व सेवा' ।।

अध्यात्म तत्त्वालोक २/-१२

१४६ (क) योगबिन्दु गा ११०-१२५
(ख) योगदृष्टि समुच्चय गा २६-२८
(ग) अध्यात्म तत्त्वालोक २/३-८,१५

१४७ (क) योगविन्दु गा १२६-१३०
(ख) अध्यात्म तत्त्वालोक २/१८-२१

१४८ (क) इच्छा- रहियाउ तव करहि अप्पा अप्पु मुणेहि।
तो लहु पावहि परम-गइ फुडु संसारु ण एहि।।

योगसार। (योगीन्दु) गा १३

(ख) अध्यात्म तत्त्वालोक २/२३-२८, ३४,३५

१४९ (क) अध्यात्म तत्वालोक २/४१-४२
(ख) योगप्रदीप। उपा मंगल उदयजी। पृ ४६७
(ग) योगदृष्टि समुच्चय गा २२-२३
चरमे पुद्गलावर्त, तथा भव्यत्वपाकत ।
सशुद्ध मेतन्निय-मान्नान्यदापीति तद्विद·।।

१५० उपादेयधियात्यन्त, सज्ञाविष्कम्भणान्वितम् ।
फलाभिसन्धिरहितं, सशुद्धं ह्येतदीदृशम्।।

योग दृष्टि समुच्चय गा २४-२५

१५१ पावं न तिव्व भावा कुणइ, ण बहुमण्णइ भव घोरं।
उचियट्ठिइ च सेवइ सव्वत्थ वि अपुणबंधो त्ति ।।

योग शतक (हरिभद्र) गा १३

१५२ (क) करण अहापवत्तं अपुव्वमनियट्टियमेव भव्वाण।
इयरेसिं पढमं चिय भन्नइ करणं ति परिणामो।। १२०२

इह भव्यानां त्रीणि करणानि भवन्ति, तद्यथा-यथाप्रवृत्त करणम्, अपूर्वकरणम्, अनिवर्तिकरणं चेति। तत्र येनाऽनादिसंसिद्धप्रकारेण प्रवृत्तं यथाप्रवृत्तं क्रियते कर्मक्षपणमनेनेति करणं सर्वत्र जीवपरिणाम एवोच्यते, यथाप्रवृत्तं, च तत्करण च यथाप्रवृत्तकरणम्, एवमुत्तरत्राणि करणशद्वेन कर्मधारय , अनादिकालात् कर्मक्षपण

प्रवृत्तोऽध्यवसायविशेषो यथाप्रवृत्तकरणमित्यर्थ । अप्राप्तपूर्वमपूर्वम् स्थितिघात-रसघातेद्यपूर्वार्थनिर्वर्तक वाऽपूर्वम्। निवर्तनशील निवर्ति, न निवर्ति-अनिवर्तिआ सम्यग्दर्शनलाभाद् न निवर्तत इत्यर्थ । एतानि त्रीण्यपि यथोत्तर विशुद्ध-विशुद्धतर-विशुद्धतमाध्यवसायरूपाणि भव्याना करणानि भवन्ति । इतरेषां त्वभव्यानां प्रथममेव यथाप्रवृत्तकरणं भवति, नेतरे द्वे इति।

जा गंठी ता पठमं गंठि समइच्छओ अपुव्व तु।
अनियट्टीकरणं पुण सम्मत्त पुरक्खडे जीवे।। १२०३

अनादिकालादारभ्य यावद् ग्रन्थिस्थानं तावत् प्रथमं यथाप्रवृत्तकरण भवति, कर्मक्षपणनिबन्धनस्याऽध्यवसायमात्रस्य सर्वदैव भावात, अष्टाना कर्म-प्रकृतीनामुदयप्राप्तानां सर्वदैव क्षपणादिति। ग्रन्थि तु समतिक्रामतो भिन्दानत्याऽपूर्वकरणं भवति, प्राक्तनाद् विशुद्धतरा-ध्यवसायरूपेण तेनैव ग्रन्थिर्भेदादिति। अनिवर्तिकरणं पुन सम्यक्त्व पुरस्कृतमभिमुख यस्याऽ सौ सम्यक्त्वपुरस्कृतोऽभिमुख सम्यक्त्व इत्यर्थ , तत्रैवं भूते जीवे भवति। तत एव विशुद्धतमाध्यवसायरूपादनन्तरं सम्यक्त्वलाभात्।।

विशेषावश्यक भाष्य गा १२०२-१२०३ एवं टीका सहित।

(ख) खवगसेढी। (विजयप्रेमसूरि) पृ ६७-७०

१५३ (क) विमला स्थिति रुच्यते दृश. किल सम्यक्त्वपदार्थ आर्हतै.।
अपवर्गपुरप्रवेशन नहि मुद्रामनवापुषामिमाम् ।।

अध्यात्म तत्त्वालोक २/४४

(ख) अनेन भवनैर्गुण्यं सम्यग्वीश्य महाशय ।
तथाभव्यत्वयोगेन विचित्रं चिन्तयत्यसौ ।।

योगबिन्दु गा २८४

(ग) सुस्सूस धम्मराओ गुरु- देवाणं जहासमाहीए ।
वेयावच्चे णियमो सम्मद्दिट्ठिस्स लिंगाइं ।।

योग शतक गा १४

१५४ मग्गणुसारी सद्धो पण्णवणिज्जो कियापरो चेव ।
गुणरागी सक्कारंभसंगओ तह य चारित्ती ।। योग शतक गा १५

१५५ (क) अन्तर्मुहूर्तकालं चित्तावस्थानमेकस्मिन् वस्तुनि
यत्तद् छद्मस्थानां ध्यान।

आवश्यकनिर्युक्ति (भा २) पृ ७१

(ख) योगणिरोहो जिणाणं तु। ध्यान शतक गा ३

१५६ जह छउमत्थस्स मणो झाणं भण्णइ सुनिच्चलो सतो ।
तह केवलिणो काओ सुनिच्चलो भण्णइ झाणं। ध्यान शतक गा ८४

१५७ पुव्वप्पओगओ चिय, कम्मविणिज्जरण - हेउतो वावि।
सद्दत्थ - बहुत्ताओ, तह जिणचदागमाओ य।।
चित्ताभावे वि सया, सुहुमोवरय - किरियाइ भण्णति।
जीवोपयोग - सब्भावओ भवत्थस्स झाणाइ।। ध्यान शतक गा ८५-८६

१५८ षट् खण्डागम भा १४, पृ ४८४-४८५

१५९ 'कार्मण शरीरवत्पृथगेवकर्माष्टकात्कर्मवर्गणानिष्पन्नानि कर्मलेश्याद्रव्याणीति'। कर्म-निस्यन्दो लेश्या, यत कर्मस्थिति हेतवो लेश्या, यथोक्तम् - कृष्ण-नीलकापोततेजसीपद्म शुक्ल नामान। श्लेष इव वर्ण बन्धस्य कर्मबन्धस्थिति विधाव्य।

उत्तराध्ययन सूत्र अ ३४ की टीका,
उद्धृत, कर्मग्रन्थ भा ४ (मिश्रीमलजी म) पृ १८

१६० (क) भावलेश्याकषायोदयरजिता योगप्रवृत्तिरिति कृत्वा
औदयिकीत्युच्यते। सर्वार्थ सिद्धि २/६

(ख) कषायानुरजिता कायवाड्मनोयोगप्रवृत्तिर्लेश्या।
धवला टीका १/१/१,४/१४९/८

(ग) जोगपउत्ति लेस्सा कसायउदयाणुरजिया होई।
तत्तो दोण्ण कज्जं बंघ चउक्कं समुद्दिट्ठं।।
गोम्मटसार - जीवकाण्ड, ५३६

१६१ (क) कावोय नील कालालेस्साओ नाइसकिलिट्ठाओ।
अट्टज्झाणोवगयस्स कम्मपरिणामजणियाओ।।
कावोय- नील काला लेस्साओ तिव्वसकिलिट्ठाओ।
रोद्दज्झाणोवगयस्स कम्मपरिणामजणियाओ।।
होति कमविसुद्धाओ पीय- पम्ह - सुक्काओ।
धम्म ज्झाणोवगयस्स तिव्व- मंदाइ- भेयाओ।।
सुक्काए लेसाए दो, ततियं पुण परम सुक्क लेसाए।
थिरयाजियसेलेस लेसाइयं परम सुक्कं।।
ध्यान शतक गा १४,२५,६६,८९

१६२ (क) छ लेसाओ पण्णत्तं, तं जहा- कण्हलेसा जाव सुक्कलेसा।
ठाणं। सुत्तागमे। ६/५८५

(ख) उत्तराध्ययनसूत्र ३४/१-३२
(ग) धर्मामृत (आशाधर)। पृ १२१-१२२
(घ) गोम्मटसार जीवकाण्ड, गा ४८९-५५६

१६३. (क) प्रशमरतिप्रकरणम्, गा ३८

(ख) षट् लेश्या' मनस परिणाम भेदा । स च परिणामस्तीव्रोऽध्यव सायोऽशुभो जम्बूफलबुभुक्षुषट्पुरुषदृष्टान्तादिसाध्य - ।

प्रशमरति प्रकरण, टीका पृ ३०, गा ३८ की

१६४ (क) चउद्दस भूयग्गामा पन्नत्ता, ।

समवाय १४ वा, १४/४८

(ख) कम्मविसोहिमग्गण पडुच्च चउदस जीवट्ठाणा पन्नत्ता ।

समवाय १४वा, १४/४८

१६५ कर्मविशोधि मार्गणां प्रतीत्य ज्ञानावरणादि कर्मविशुद्धिगवेषणामाश्रित्य ।

समवायाग वृत्ति पत्र २६, उद्धृत कर्म ग्रन्थ ।

(मिश्री म) पृ १४

१६६ (क) जीवा ते गुण सण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदरिसीहिं ।

गोम्मट सार, जीव काण्ड (नेमिचन्द्र) गा ८

(ख) गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स ।

समयसार । कुदकुदाचार्य । गा ५५

(ग) नमिय जिणं जियमग्गणगुणठाण । कर्मग्रथ ४/१

(घ) चोद्दस गुणट्ठाणाणि । पंच संग्रह । जीवसमास । गा ५

१६७ (क) सखेओ ओघोत्ति य गुणसण्णा ।

गोम्मटसार जीव काण्ड गा ३

(ख) चउद्दस जीवसमासा कमेण सिद्धा य णादव्वा ।

गोम्मटसार जीवकाण्ड गा १०

१६८ (क) गुण सण्णा सा च मोहजोगभवा ।
वित्थारादेसोत्ति य मग्गणसण्णा सकम्मभवा ।।

गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गा ३

(ख) गइ इन्दिए य काए जोए वेए कसायनाणेसु ।
संजम दसण लेसा भव सम्म सन्नि आहारे ।

कर्मग्रन्थ ४/९

(ग) गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गा १४१

१६९ जाहि व जासु न जीवा मग्गिज्जते जहा तहा दिट्ठा।

उद्धृत कर्म ग्रन्थ ३ (मिश्रीमलजी म) पृ २

१७० (क) चउदस जीवट्ठाणा पण्णत्ता, त जहा - मिच्छदिट्ठी, सासायणसम्मद्दिट्ठी, सम्मामिच्छदिट्ठी, अविरयसम्म-

द्दिदठी, विरयाविरए, पमत्तसंजए, अप्पमत्तसंजए, नियट्टिबायरे, अनियट्टिबायरे, सुहुमसपराए, ठवसामए, वा रववए वा ठवसत मोहे, खीणमोहे, सजोगीकेवली, अजोगीकेवली ।

समवाए, सुत्तागमे । १४/४८

(ख) मिच्छे सासण मीसे अविरय देसे पमत्त अपमत्ते।
नियहि अनियहि सुहुमुवसम खीण सजोगि अजोगिगुणा ।।

कर्मग्रन्थ २/२

(ग) चतुर्दशगुणश्रेणी चतुर्दशम् ।

गुणस्थानक्रमारोह (रत्नशेखरमुनि) गा २-५

१७१ (क) गुणस्थान क्रमारोह गा ६-८
(ख) तित्थ्यराहारग १ कर्मग्रन्थ २/३

१७२ (क) गुणस्थान क्रमारोह गा ९-१० टीका सहित
(ख) नरयतिग जाइथावर चठ, हुडायव छिवट्टनपुमिच्छ ।

कर्मग्रन्थ २/४

१७३ (क) गुणस्थान क्रमारोह गा १६-१७ टीका सहित
(ख) कर्मग्रन्थ २/४-५

१७४ (क) गुणस्थान क्रमारोह, गा १८-२०, २३
(ख) षट् खण्डागम, १/१/१२
(ग) गोम्मटसार जीवकाण्ड, गा २९

१७५ (क) गुणस्थान क्रमारोह, गा २४-२६ टीका सहित
(ख) गोम्मटसार (भा १) गा ३०

१७६ (क) गुणस्थानक्रमारोह, गा २७-२८-३१
(ख) गोम्मटसार (जीवकाण्ड) गा ३२
(ग) कर्मग्रन्थ २/६-७

१७७ (क) चतुर्थानां कषायाणां .सद्ध्यानसाधनारम्भं,
कुरुते मुनिपुगव धर्म ध्यान भवत्यत्र, मुख्यवृत्या जिनोदितम्।
रूपातीततया शुक्लमपि स्यादशमात्रत ।।
इत्येतस्मिन् . संतत ध्यानसद्योगाच्छुद्धि स्वाभाविकी यत ।

गुणस्थान क्रमारोह, गा ३२-३६

१७८ (क) गुणस्थान क्रमारोह गा ३७,३९
(ख) गोम्मटसार, जीव काण्ड गा ५०-५३

(ग) अडवन्न अपुव्वाइमि निद्ददुगंतो छपन्न पण भागे।
सुरदुग पणिंदि सुखगइ तसनव उरलविणु तणुवंगा।।
समचउर निमिण जिण वण्ण अगुरुलहुचउ छलंसि तीसंतो।
चरमे छवीसबधो . .। कर्मग्रन्थ २/९-१०

१७९ (क) अण-दंस-नपुंसि-त्थी वेय-च्छक्कं च पुरिसवेयं च।
दो दो एगंतरिए सरिसे सरिसं उवसमेइ।।
उवसामगसेढीए पट्ठवओ अप्पमत्तविरओ उ।

एकेकक्केणंतरिए संजलणेण उवसमेइ।।

विशेषावश्यक भाष्य, गा १२८४-१२८९

(ख) विशेषावश्यक भाष्य बृहद्वृत्त्या (हेमचंद्र) अ.२ पृ ४८२-४८४
(ग) प्रवचन सारोद्धार, द्वार ९०, गा ७००-७०८
(घ) पूर्वज्ञ शुद्धिमात् युक्तो, ह्याद्यै संहननैस्त्रिभि
संध्यायन्नाद्यशुक्लांशं, स्वा श्रेणिं शमक श्रयेत्।।

गुणस्थान क्रमारोह, गा ४०

(ङ) कर्मग्रन्थ ५/९८

१८० (क) उवसत कम्मं ज न तओ कढेइ न देइ उदए वि।
न य गमयइ परपगइ न चेव उक्कड्ढए त तु।।

पचम कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ १३१

(ख) वृत्तमोहोदयं प्राप्योपशमी च्यवते तत ।
अध कृतमल तोयं, पुनर्मालिन्यमश्नुते।।

गुणस्थान क्रमारोह गा ४४

१८१ श्रेण्यारुढ - कृते कालेऽहमिन्द्रेष्वैव गच्छति।
पुष्टायुस्तूपशान्तान्तं, नयेच्चारित्रमोहनम्।।

गुणस्थान क्रमारोह गा ४१

१८२ अपूर्वाद्यास्त्रयोऽप्यूर्ध्वमेक यान्ति शमोद्यता ।
चत्वारोऽपि च्युताबाद्यं, सप्तम वाऽन्त्यदेहिन ।।

गुणस्थान क्रमारोह, गा ४५ वृत्ति सहित

१८३ (क) एक भवे दुक्खुत्तो चरित्तमोहं उवसमेज्जा।। कर्म प्रकृति गा ६४
(ख) पच सग्रह गा ९३ (उपशम)
(ग) उक्तं च सप्ततिकाचूर्णौ - जो दुवे वारे उवसमसेढिं
पडिवज्जइ, तस्स नियमा तम्मि भवे खवगसेढी नत्थि।
जो इक्कसिं उवसमसेढिं पडिवज्जइ तस्स खवगसेढी हुज्जत्ति।

पंचम कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका

(घ) आ संसार चतुर्वारमेव स्याच्छमनावली।
जीवस्यैकभवे वारद्वयं सा यदि जायते।।

गुणस्थान क्रमारोह गा ४६

१८४ (क) विशेषावश्यक भाष्य, गा १२९२-१२९६
(ख) विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति पृ ४८५-४८६

१८५ (क) विशेषावश्यक भाष्य गा १३१३-१३१४
(ख) विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति पृ ४९०-४९१ (अश-२)
(ग) अणमिच्छमीससम्म ति आठ इगविगल थीणतिगुज्जीव।
तिरिनियरथावरदुग साहारायवअडनपुत्थीए।।
छग पुसजलणादोनिद्दविग्घवरणक्कए नाणी

कर्मग्रन्थ ५/९९-१००

(घ) प्रवचन सारोद्धार, द्वार ८९, गा ६९४-६९९

टीका पृ १९६-२००

(ङ) गुणस्थान क्रमारोह, गा ४८-५३, ६७-११९

१८६ आवश्यक निर्युक्ति, गा १४८१, १४८४,१४६०,१४६५-१४६६
१४६८, १४७२, १५११, १४७६

१८७ आवश्यक निर्युक्ति, गा १४९३-१४९४, १४९७,
१५०३-१५०९, १४७५,१५१०

१८८ अट्टेण तिरिक्ख गइ, रुद्दज्झाणेण गम्मती नरयं।
धम्मेण देवलोय सिद्धिगइ सुक्क झाणेण।। ध्यान शतक गा ६

१८९ (क) अहोसिरे झाण कोट्ठोवगए संजमेणं तवसा अप्पाण
भावेमाणे विहरइ।। भगवइ (सुत्तागमे) १/६/५३
(ख) उड्ढ जाणु अहोसिरस्स धम्मज्झाणकोट्ठोवगयस्स
सुक्कज्झाणतरियाए वट्टमाणस्स निव्वाणे ।

आयारे २/१५/१०२०

(ग) ओववाइय सुत्त (सुत्तागमे) पृ २४

१९० बहि प्रतिमया स्थित । आवश्यक निर्युक्ति गा ४७९
कायोत्सर्गस्थ। आवश्यक निर्युक्ति गा ४६१
प्रतिमयास्थित । आवश्यक निर्युक्ति गा ४८०
भगवओ पडिमा। आवश्यक निर्युक्ति गा ४८३

१९१ इह आणाकंखी पडिए अणिहे।
एगमप्पाणं संपेहाए धुणे सरीरं।।

आयारे (सुत्तागमे) १/४/३/२४६

१९२ (क) आयारे (सुत्तागमे) १/९/२/४८४-४८६
(ख) राई दिवं पि जयमाणे, अप्पमत्ते समाहिए झाति।

आयारे, १/९/२/-४८७

१९३ इहलोइयाइं परलोगयाइं भीमाइं अणेगरूवाइ।

अहियासए सया समिए फासाइं विरुवरूवाइ।।

आयारे (सुत्तागमे) १/९/२/४९२-४९७

१९४ झाणकोट्ठोवगय - ध्यानकोष्ठोपगत। ध्यानं धर्मध्यानं शुक्लध्यान च। तदेव कोष्ठ कुशूलो ध्यानकोष्ठ. तमुपगतो ध्यानकोष्ठोपगत । यथा हि कोष्टके धान्यं प्रक्षिप्तं विप्रसृतं भवति . ।

अभिधान राजेन्द्र कोश (भा ४) पृ १६७३

१९५ ओववाइय (सुत्तागमे) पृ ६-७

१९६ चतुर्दशपूर्विणा महाप्राणध्याने।।

ध्यान विचार
उद्धृत, नवकार स्वाध्याय (प्राकृत विभाग)
जम्बुविजयजी पृ २२५

१९७ (क) ध्यान संवरजोगे।

समवाए, ३२/१०५

(ख) ध्यानमेव संवरयोगो ध्यानसवरयोग ।

अभिधान राजेन्द्रकोश (भा ४) पृ १६७३

१९८ मोक्ष पाहुड, गा ७३-७६ उद्धृत, कुन्दकुन्द भारती

१९९ येऽत्राहुर्न हि कालोऽयं ध्यानस्यं ध्यायतामिति।
तेऽर्हं न्मताऽनभिज्ञत्वं ख्यापयन्त्यात्मन स्वयम्।।
अत्रेदानीं निषेधन्ति शुक्लध्यान जिनोत्तमा ।
धर्म्यध्यानं पुन प्राहु श्रेणिभ्या प्राग्विवर्तिनाम्।।

तत्त्वानुशासन नामक ध्यानशास्त्र, गा ८२-८३ (रामसेन)

२०० (क) मोत्तूण अद्दरुद्दं झाणं जो झादि धम्म सुक्कं वा।
सो पडिकमणं उच्चइ जिणवरणिद्दिठसुत्तेसु।।
मिच्छत्तपहुदिभावा पुव्वं जीवेण भाविया सुइरं।
सम्मत्तपहुदिभावा अभाविया होंति जीवेण।।

मिच्छादंसणणाणचरित्त चइउण णिखसेसेण।
सम्मत्तणाणचरण जो भावइ सो पडिक्कमण।।
उत्तमअट्ठ आदा तम्हि ठिदा हणदि मुणिवरा कम्मं।
तम्हा दु झाणमेव हि उत्तमअट्ठस्स पडिक्कमण।।

नियमसार (कुदकुदाचार्य) ५/८९-९२

(ख) पचास्तिकाय (कुंदकुदाचार्य) गा १४२-१४५

२०१ (क) मुक्त्वा परत्र परबुद्धिमहर्धियं च
ससार दु खजननीं जननाद्विमुक्त ।
ज्योतिर्मयं सुखमुपैति परात्मनिष्ठ-
स्तन्मार्गमितदधिगम्य समाधितत्रम्।।

समाधि तत्र (पूज्यपाद) गा १०५

(ख) योग्योपादानयोगेन हषद स्वर्णता मता।
द्रव्यादिस्वादिसपत्तावात्मनोऽप्यात्मता मता।।

इष्टोपदेश (पूज्यपाद) गा २

२०२ जोगो सव्वो वि धम्म वावारो। योगविंशिका (हरिभद्र) गा १

२०३ (क) इहैवेच्छादियोगाना, स्वरूपमभिधीयते।
सामर्थ्ययोगोऽवाच्योऽस्ति, सर्वज्ञत्वादि साधनम्।।

योगदृष्टि समुच्चय (हरिभद्र) गा २-८

(ख) अध्यात्म भावना ध्यान समता वृत्तिसक्षय ।
मोक्षेण योजनाद्योग एष श्रेष्ठो यथोत्तरम्।।

योगबिन्दु (हरिभद्र) गा ३१

२०४ "पिंड पदं तथा रूप रूपातीत चतुष्टयम्।
यो वा सम्यग् विजानाति सुगुरु परिकीर्तित ।।
"पिड कुडलिनी शक्ति पद हस प्रकीर्तित ।
रूप बिंदुरिति ज्ञेय रूपातीत निरंजनम्"।। नवचक्रेश्वरतत्र

उद्धृत, जैन योग (मुनि नथमल) पृ प्रस्तुति

२०५ "भावेज्ज अवत्थतियं, पिंडत्थ पयत्थ रूवरहियत्तं।
छउमत्थ केवलित्तं सिद्धत्थं चेव तस्सत्थो।।

चैत्यवन्दन भाष्य, उद्धृत, जैन योग (मुनि नथमल) पृ प्रस्तुति

२०६ (क) तत्राऽऽदौ पिण्डसिध्यर्थं निर्मलीकरणाय च।
मारुतीं तैजसीमाप्या विदध्याद्धारणा क्रमात्।।

तत्त्वानुशासन (राम सेनाचार्य) गा १८३

(ख) योगशास्त्र (हेमचन्द्र) ७/९,१/१५,१२/२

(ग) ज्ञाणार्णव (शुभचन्द्राचार्य) ३७/३

२०७ (क) अध्यात्म कल्पद्रुम (मुनिसुदर विजय) ९/४, ८-९, १३-१६
१३/४२, १४/७,८, १०,१२-१६

२०८ (क) योगप्रदीप (उपा मंगलविजयजी) २-

(ख) अध्यात्मतत्त्वालोक (न्यायविजयजी) ३/४-५

(ग) ध्यान दीपिका (सकलचद)

(घ) कर्मज्ञानविभेदेन, स द्विधा तत्र चादिम ।
आवश्यकादिविहित-क्रियारूप प्रकीर्त्तित ।।

इन्द्रियार्थोन्मनी भावात्स मोक्षसुखसाधक ।।

अध्यात्मसार-अध्यात्मोपनिष्द ज्ञानसार
प्रकरणरत्नत्रयी (उपा यशोविजयजी) "योगाधिकार" १५-२-५

अध्याय ५

ध्यान के विविध प्रकार

चतुर्थ अध्याय का पचम अध्याय से घनिष्ठ सबध है। ध्यान का यथार्थ स्वरूप उसके भेद-प्रभेदों को जाने बिना स्पष्ट नही हो सकता। अत इसी बात को लक्ष्य में लेकर प्रस्तुत अध्याय में ध्यान के भेद प्रभेदों का आगमिक ग्रन्थ, आगमिक टीका एव आगमेतर ग्रन्थों के आधार से वर्णन किया जा रहा है।

जगत में जीवों की सख्या अनन्त है और सभी सुख की इच्छा करते हैं। यद्यपि सुख की इच्छा सबकी एक-सी नही है। तथापि विकास की न्यूनाधिकता या कमीबेशी के अनुसार सक्षेप में जीवों के और उनके सुख के दो वर्ग किये जा सकते हैं-१ अल्प विकासवाले प्राणी, जिनके सुख की कल्पना बाह्य साधनों तक ही सीमित है। वे प्रेय मार्ग में ही आनद मानते हैं जब कि- २ अधिक विकासवाले प्राणी, जो बाह्य (भौतिक साधनों) सपत्ति में सुख न मानकर सिर्फ आध्यात्मिक गुणों की प्राप्ति में ही सुख मानते हैं। वे श्रेय मार्ग के पुजारी होते हैं। इन दोनों वर्ग के माने हुए सुख में अन्तर इतना ही है कि पहला सुख पराधीन है और दूसरा सुख स्वाधीन है। पराधीन सुख को काम और स्वाधीन सुख को मोक्ष कहते हैं। ये दो ही पुरुषार्थ हैं। धर्म और अर्थ तो उसके साधन हैं। साधन के बिना साध्य सिद्ध नही हो सकता। इन दोनों में कार्य-कारणभाव समाविष्ट है। इन दो साधनों के द्वारा ही प्राणी असख्य प्रकार की विचारधारा में परिणमन करता रहता है। चाहे विचारधारा शुभ हो या अशुभ हो। किन्तु आत्मा का स्वभाव परिणमनशील है। शुभाशुभ असख्य विचार धाराओं को समझना अत्यधिक कठिन होने के कारण ज्ञानियों ने उन्हें चार भागों में विभाजित किया हैं। वे चार भाग ही ध्यान की संज्ञा को प्राप्त होते हैं।

ध्यान का आगमिक वर्गीकरण : आगम में मुख्यत- ध्यान के चार ही भेद बताये हैं।[१] (१) आर्तध्यान (२) रौद्रध्यान (३) धर्मध्यान और (४) शुक्लध्यान।

आगम के अनुसार इन चार ध्यानों के क्रमश ८+८+१६+१६ = ४८ भेद माने गये हैं।

आर्तध्यान के चार भेद : जैनागम में आर्तध्यान के चार भेद किये गये हैं[२] (१) अमनोज्ञवियोगचिन्ता, और (२) मनोज्ञ अवियोग चिन्ता, (३) आतक (रोग) और (४) भोगेच्छा अथवा निदान।

(१) अमनोज्ञवियोगचिन्ता : अमनोज्ञ शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श तथा उनके साधनभूत वस्तुओं का संयोग होने पर- अग्नि, जल, धतुरा, अफीम आदि का विष, जलचर प्राणी, स्थलचर प्राणी, वनजन्य क्रूर प्राणी सिंह व्याघ्रादि, सर्प, बिच्छु, खटमल, जू आदि, गिरि कन्दरा आदि, तीर, भाला, बर्छी, तलवार आदि शस्त्र, दुष्ट राजा, शत्रु, वैरी, दुर्जन, मद्य, मांस, मंत्र, तत्र, मारण, मूठ, उच्चाटन आदि दुष्ट प्रयोग, चोर, डाकू आदि का मिलन, भूत, प्रेत, व्यंतरादि देवों के श्रवण मात्र से एवं अन्य विविध प्रकार के वस्तुओं के तथा व्यक्तियों के सुनने देखने, जानने मात्र से ही मन में क्लेश होना एव इन सबका सयोग होने पर उसके वियोग की सतत चिन्ता करना ही प्रथम अमनोज्ञवियोगचिन्ता नामक आर्तध्यान है[३]।

(२) मनोज्ञअवियोगचिन्ता : पांचों इन्द्रियों के विभिन्न मनोज्ञ विषय एवं माता-पिता, भाई-बहन, पत्नी, पुत्र, मित्र, स्वजन, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, माडलिक राजा आदि का राज्य वैभव प्राप्त हो, सामान्य राज्य वैभव प्राप्त हो, भोग भूमि के अखड सुख सौभाग्य की प्राप्ति हो, प्रधान मत्री, मुख्य सेनापति आदि की पदवियाँ प्राप्त हो, मनुष्य देव सबधी कामभोगों की प्राप्ति हो, नवयुवतियों का संयोग हो, पर्यंक पलंग आदि शय्या, अश्व, गज, रथ, कार आदि विविध वाहनों का योग हो, चन्दन, अत्तर, सुगंधित तेल आदि मोहक पदार्थों की प्राप्ति हो, रत्न एव सुवर्ण जड़ित अनेक प्रकार के आभूषण तथा गहने प्राप्त हो, धन धान्यादि की विपुल प्राप्ति हो - इन सभी पदार्थों एवं वस्तुओं का सयोग होने पर सातावेदनीय कर्म के उदय से उनके वियोग न होने का अध्यवसाय करना तथा भविष्य में भी उनका वियोग न हो ऐसा, निरन्तर चिन्तन करना द्वितीय आर्तध्यान है। इसके अतिरिक्त भोगों का नाश, मनोज्ञ इन्द्रियों के विषयों का प्रध्वस, व्यापारादि में हानि, काल ज्ञानविषयक ग्रन्थ, स्वरादि लक्षणों, ज्योतिष आदि विद्या से अल्प आयु का ज्ञान होने पर चिन्तित होना, स्वजन के छोड जाने से मूर्च्छित होना, मित्रादि के वियोग से दु खी होना, मृत्यु का चिन्तन करना, धन, सपत्ति का अपहरण होने पर खिन्न होना, यश, कीर्ति, मान, सन्मान के लिए प्रयत्नशील रहना। प्रतिष्ठा के लिए धनादि का अधिक व्यय करना, दुर्बलता एव दरिद्रता के कारण पश्चात्ताप करना, मनोज्ञ वस्तु की प्राप्ति के लिए सतत प्रयत्नशील रहना और उनकी प्राप्ति के बाद उनके वियोग की निरन्तर चिन्ता करना ही मनोज्ञ अवियोग चिन्ता नामक द्वितीय आर्तध्यान है[४]।

(३) आतंक (रोग) (रोग वियोग चिन्ता) : वात, पित्त, कफ, के प्रकोप से होने-वाले भयकर कठमाला, कोढ, राजयक्ष्मा-क्षय, अपस्मार-मूर्छा-मृगी, नेत्ररोग, शरीर की जड़ता, लूला लगडा होना, कुब्जकुबडा होना, उदररोग-जलोदरादि, मूक, सोजनशोथ, भस्मक रोग, कम्पन, पीठ का झुकना, श्लीपद (पैर का कठन होना), मधु-मेह-प्रमेह-इन सोलह महारोगों[५] से उत्पन्न पीड़ा और कष्ट अति दु खदायक होती है। ये ही पाप बन्ध का कारण है। मनुष्य के शरीर में साढे तीन करोड़ रोम माने जाते हैं। उनमें से प्रत्येक रोम में पौने दो रोग कहे जाते हैं। जब तक मनुष्य के सातावेदनीय कर्म का उदय रहता है, तब तक रोगों की अनुभूति नही होती। परतु जैसे ही असातावेदनीय कर्म का उदय होता है कि इन सोलह रोगों में से किसी भी एक रोग का विपाक होता है। रोग के विपाक होते ही उसके भयकर वेदना से मन व्याकुल हो जाता है। उसे दूर करने के लिए प्रयत्न शुरू किये जाते हैं। नाना प्रकार के आरम्भ, समारम्भ, छेदन, भेदन, पचन, पाचन आदि क्रियायें की जाती है। इस प्रकार रोग के विपाक होने पर उसके वियोग का सतत चिन्तन करना ही आतक नामक तीसरा आर्तध्यान है[६]।

(४) भोगैच्छा अथवा निदान : पाचों इन्द्रियों में दो इन्द्रियाँ (आँख, कान) कामी हैं तथा शेष तीन इन्द्रियाँ (रसना, घ्राण, स्पर्शन) भोगी हैं। इन इन्द्रियों द्वारा अर्थात् श्रोतेन्द्रिय द्वारा राग-रागिनी का श्रवण, किन्नरियों का गायन, वाद्यादि के मनोहर राग सुनने के भाव उत्पन्न होना एव उसमें आनन्द मानना, चक्षुरिन्द्रिय से नृत्य, सोलह श्रृगारों से सुसज्जित स्त्री, विभिन्न मनोहर रमणीय दृश्यों एवं चित्रों को देखना, घ्राणेन्द्रिय से इत्र पुष्पादि सुगधित पदार्थों को सूघना, रसेन्द्रिय से षट् रस भोजन एवं अभक्ष्य सेवन की भावना होना तथा भक्षण करना, स्पर्शेन्द्रिय से शयनासन, वस्त्र एव आभूषण आदि विलासमय भोगों को भोगने की भावना होना ही भोगैच्छा अथवा भोगार्त्त नामक चतुर्थ आर्तध्यान है।

इसका दूसरा नाम निदान भी है। तप-जप के फल रूप में देवेंद्र, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि ऋद्धि, राज्य की प्राप्ति , इन्द्र पदवी की इच्छा, विद्याधरों का आधिपत्य, धरणेन्द्र के भोगने योग्य भोग, स्वर्ग सम्पदा, स्वर्ग लक्ष्मी, संसार का विपुल वैभव, देवागना का सुख विलास, पूजा, मान-सन्मान, यश कीर्ति की कामना, क्रोधाग्नि से दूसरे का अहित करने की भावना, कुलविनाशक भावना की कामना करना ही निदान नामक चतुर्थ आर्तध्यान है[८]।

यह चार प्रकार का आर्तध्यान ससारवर्धक राग-द्वेष-मोहादि से कलुषित जीव को होता है। यह ससारवर्धक, तिर्यंचगति का कारण एव रागद्वेषमोहादि भाव का जनक होने से ससारवृक्ष का बीज है[९]।

लक्षण शब्द के विभिन्न अर्थ : कोशों में[१०] लक्षण शब्द अनेक अर्थों में मिलता है। यथा, किसी वस्तु की विशेषता, जिससे वह पहचाना जाय/रोग की पहचान/नाम/ परि-भाषा/दर्शन/सारसपक्षी/शरीरपर का कोई शुभ या अशुभ चिह्न/सामुद्रिक/लच्छन/ उपाधि/विशिष्टता/उत्तमता/लक्ष्य, उद्देश्य/आकार, प्रकार, किस्म/कार्य, क्रिया / कारण/विषय, प्रसग/बहाना आदि।

आर्तध्यान के चार लक्षण - आर्तध्यान के चारों भेदों में से किसी भी एक की प्रबलता होने से सकर्मी (भारी-कर्मी) जीवों में कर्मों की प्रबलता के कारण अथवा अपने स्वभाव के कारण चार अवस्थाए (लक्षण) उत्पन्न होती हैं जो निम्नलिखित हैं-[११] (१) कदणया (क्रन्दनता) (२) सोयणया (शोचनता) (३) तिप्पणया (तेपनता) (४) परिदेवणया (परिदेवनता)

(१) कदणया : ऊचे स्वर से रोना, चिल्लाना या आक्रन्दन करना।

(२) सोयणया : शोच = चिन्ता करना, खिन्न होना, उदास होकर बैठना, चिन्तामग्नावस्था में बैठे रहना, पागलवत् कार्य करना, मूर्च्छित होना, दीनता भाव से आँख में आसू लाना आदि।

(३) तिप्पणया : वस्तु विशेष का चिन्तन करके जोर-जोर से रोना, वाणी द्वारा रोष प्रकट करना, क्रोध करना, व्यर्थ की बातें बनाना, अप्रियकारी शब्दोच्चार करना आदि।

(४) परिदेवणया : माता, पिता, पुत्र, स्वजन, मित्र, स्नेही आदि की मृत्यु होने पर अधिक विलाप करना, हाथ पैर पछाड़ना, हृदय पर प्रहार करना, बालों को तोड़ना, अगों को पछाड़ना, महान अनर्थकारी शब्दों का उच्चारण करना तथा क्लेश एव दयाजनक भाषा बोलना आदि।

इस प्रकार आगमकथित आर्तध्यान के ४ भेद + ४ लक्षण = ८ भेद होते हैं।

इन आगमिक चार लक्षणों के अतिरिक्त आगमेतर ग्रन्थों में आर्तध्यान के और भी लक्षण प्राप्त होते हैं[१२] -बातें। बातों (बात-बात) में शका करना, भय, प्रमाद, असावधानी, क्लेशजन्य कार्य, ईर्ष्या वृत्ति, चित्तभ्रम, भ्रान्ति, विषय सेवन की उत्कठा, निरन्तर रोना, (निद्रा लेना) अग में जड़ता का होना, शिथिलता, कायरता, चित्त में खेद, वस्तु में मूर्च्छा, निन्दक प्रवृत्ति, दूसरे की संपत्ति को देखकर विस्मित होकर प्रशसा करना, उसे पाने की अभिलाषा करना, मन में जलना, कुढना, धन में आसक्ति रखना, इन्द्रियविषयों में आसक्त होना, शुद्ध धर्म से परागमुख होना, जिन वचन का अनादर करना, देव, गुरु धर्म पर श्रद्धा न होना आदि।

(३) आतंक (रोग) (रोग वियोग चिन्ता) : वात, पित्त, कफ, के प्रकोप से होने-वाले भयकर कठमाला, कोढ, राजयक्ष्मा-क्षय, अपस्मार-मूर्छा-मृगी, नेत्ररोग, शरीर की जड़ता, लूला लगडा होना, कुब्जकुबडा होना, उदररोग-जलोदरादि, मूक, सोजनशोथ, भस्मक रोग, कम्पन, पीठ का झुकना, श्लीपद (पैर का कठन होना), मधु-मेह-प्रमेह-इन सोलह महारोगों से उत्पन्न पीड़ा और कष्ट अति दु खदायक होती है। ये ही पाप बन्ध का कारण है। मनुष्य के शरीर में साढे तीन करोड़ रोम माने जाते हैं। उनमें से प्रत्येक रोम में पौने दो रोग कहे जाते हैं। जब तक मनुष्य के सातावेदनीय कर्म का उदय रहता है, तब तक रोगों की अनुभूति नहीं होती। परतु जैसे ही असातावेदनीय कर्म का उदय होता है कि इन सोलह रोगों में से किसी भी एक रोग का विपाक होता है। रोग के विपाक होते ही उसके भयकर वेदना से मन व्याकुल हो जाता है। उसे दूर करने के लिए प्रयत्न शुरू किये जाते हैं। नाना प्रकार के आरम्भ, समारम्भ, छेदन, भेदन, पचन, पाचन आदि क्रियायें की जाती है। इस प्रकार रोग के विपाक होने पर उसके वियोग का सतत चिन्तन करना ही आतक नामक तीसरा आर्तध्यान है[६]।

(४) भोगैच्छा अथवा निदान : पाचों इन्द्रियों में दो इन्द्रियाँ (आँख, कान) कामी हैं तथा शेष तीन इन्द्रियाँ (रसना, घ्राण, स्पर्शन) भोगी हैं। इन इन्द्रियों द्वारा अर्थात् श्रोतेन्द्रिय द्वारा राग-रागिनी का श्रवण, किन्नरियों का गायन, वाद्यादि के मनोहर राग सुनने के भाव उत्पन्न होना एव उसमें आनन्द मानना, चक्षुरिन्द्रिय से नृत्य, सोलह श्रृगारों से सुसज्जित स्त्री, विभिन्न मनोहर रमणीय दृश्यों एव चित्रों को देखना, घ्राणेन्द्रिय से इत्र पुष्पादि सुगधित पदार्थों को सूघना, रसेन्द्रिय से षट् रस भोजन एवं अभक्ष्य सेवन की भावना होना तथा भक्षण करना, स्पर्शेन्द्रिय से शयनासन, वस्त्र एव आभूषण आदि विलासमय भोगों को भोगने की भावना होना ही भोगैच्छा अथवा भोगार्त्त नामक चतुर्थ आर्तध्यान है।

इसका दूसरा नाम निदान भी है। तप-जप के फल रूप में देवेंद्र, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि ऋद्धि, राज्य की प्राप्ति , इन्द्र पदवी की इच्छा, विद्याधरों का आधिपत्य, धरणेन्द्र के भोगने योग्य भोग, स्वर्ग सम्पदा, स्वर्ग लक्ष्मी, ससार का विपुल वैभव, देवागना का सुख विलास, पूजा, मान-सन्मान, यश कीर्ति की कामना, क्रोधाग्नि से दूसरे का अहित करने की भावना, कुलविनाशक भावना की कामना करना ही निदान नामक चतुर्थ आर्तध्यान है[८]।

यह चार प्रकार का आर्तध्यान ससारवर्धक राग-द्वेष-मोहादि से कलुषित जीव को होता है। यह ससारवर्धक, तिर्यंचगति का कारण एव रागद्वेषमोहादि भाव का जनक होने से ससारवृक्ष का बीज है[९]।

लक्षण शब्द के विभिन्न अर्थ : कोशों में[१०] लक्षण शब्द अनेक अर्थों में मिलता है। यथा, किसी वस्तु की विशेषता, जिससे वह पहचाना जाय/रोग की पहचान/नाम/ परिभाषा/दर्शन/सारसपक्षी/शरीरपर का कोई शुभ या अशुभ चिह्न/सामुद्रिक/लच्छन/ उपाधि/विशिष्टता/उत्तमता/लक्ष्य, उद्देश्य/आकार, प्रकार, किस्म/कार्य, क्रिया / कारण/विषय, प्रसग/बहाना आदि।

आर्तध्यान के चार लक्षण - आर्तध्यान के चारों भेदों में से किसी भी एक की प्रबलता होने से सकर्मी (भारी-कर्मी) जीवों में कर्मों की प्रबलता के कारण अथवा अपने स्वभाव के कारण चार अवस्थाएं (लक्षण) उत्पन्न होती हैं जो निम्नलिखित हैं-[११] (१) कदणया (क्रन्दनता) (२) सोयणया (शोचनता) (३) तिप्पणया (तेपनता) (४) परिदेवणया (परिदेवनता)

(१) कंदणया : ऊंचे स्वर से रोना, चिल्लाना या आक्रन्दन करना।

(२) सोयणया : शोच = चिन्ता करना, खिन्न होना, उदास होकर बैठना, चिन्तामग्नावस्था में बैठे रहना, पागलवत् कार्य करना, मूर्च्छित होना, दीनता भाव से आँख में आंसू लाना आदि।

(३) तिप्पणया : वस्तु विशेष का चिन्तन करके जोर-जोर से रोना, वाणी द्वारा रोष प्रकट करना, क्रोध करना, व्यर्थ की बातें बनाना, अप्रियकारी शब्दोच्चार करना आदि।

(४) परिदेवणया : माता, पिता, पुत्र, स्वजन, मित्र, स्नेही आदि की मृत्यु होने पर अधिक विलाप करना, हाथ पैर पछाड़ना, हृदय पर प्रहार करना, बालों को तोड़ना, अगों को पछाड़ना, महान अनर्थकारी शब्दों का उच्चारण करना तथा क्लेश एव दयाजनक भाषा बोलना आदि।

इस प्रकार आगमकथित आर्तध्यान के ४ भेद + ४ लक्षण = ८ भेद होते हैं।

इन आगमिक चार लक्षणों के अतिरिक्त आगमेतर ग्रन्थों में आर्तध्यान के और भी लक्षण प्राप्त होते हैं[१२] -बातों बातों (बात-बात) में शंका करना, भय, प्रमाद, असावधानी, क्लेशजन्य कार्य, ईर्ष्या वृत्ति, चित्तभ्रम, भ्रान्ति, विषय सेवन की उत्कठा, निरन्तर रोना, (निद्रा लेना) अग में जड़ता का होना, शिथिलता, कायरता, चित्त में खेद, वस्तु में मूर्च्छा, निन्दक प्रवृत्ति, दूसरे की सपत्ति को देखकर विस्मित होकर प्रशसा करना, उसे पाने की अभिलाषा करना, मन में जलना, कुढना, धन में आसक्ति रखना, इन्द्रियविषयों में आसक्त होना, शुद्ध धर्म से परागमुख होना, जिन वचन का अनादर करना, देव, गुरु धर्म पर श्रद्धा न होना आदि।

रौद्रध्यान के चार भेद : आगमकथित रौद्रध्यान के चार प्रकार इस प्रकार हैं[१३] (१) हिंसानुबधी (२) मृषानुवघी (३) स्तेयानुवघी और (४) सरक्षणानुवघी। आगमेतर ग्रन्थों में इन्ही विषयों के अनुसार थोड़े से नामों की भिन्नता को लिए हुए नाम मिलते हैं। यथा (१) हिंसानद (हिंसानन्दि, हिंसानुवन्धी) (२) मृषानद (मृषानन्दि, अनृतानुबन्धी) (३) चौर्यानन्द (चौर्यानन्दि, स्तेयानुबन्धी) और (४) सरक्षणानद (विषयानन्दि, विषय-सरक्षणानुवधी) इन चार भेदों का स्वरूप निम्नलिखित है।

(१) हिंसानुबन्धी रौद्रध्यान : एकेन्द्रिय से लेकर पचेंद्रिय तक किसी भी जीव को या सचित्त पदार्थ को स्व तथा पर से छेदन, भेदन, ताड़न, मारन, तापन, बन्धन, प्रहार, दमन आदि की प्रवृत्ति करना, नभचर-कौवा, तोता, कबूतर आदि पक्षी, जलचर-मगरमच्छ, मत्स्य आदि जन्तु, स्थलचर-गाय, भैस, सिंह, वाघ, हाथी, घोडा, बैल आदि पशुओं के कान, नाक आदि बीधना, जजीर आदि से बाधना, तलवार आदि शस्त्रों से प्राणरहित करने में आनद मनाना, हिंसक प्रवृत्ति में सतत कुशल रहना, पापकारी कार्य में प्रवीण, क्रूर, निष्ठूर, निर्दय लोगों से मैत्री करना अर्थात् सतत उनके साथ रहना, प्राणियों को कैसे मारा जाय? उसके लिए कौन से उपाय किये जाए? इसमें कौन चतुर है? इस प्रकार का सकल्प-विकल्प करना, अश्वमेघ यज्ञ, गोमेघयज्ञ, अजमेघयज्ञ, नरमेघयज्ञ आदि यज्ञादि में प्राणियों की हिंसा करके आनद मनाना, उन्हें जलते हुए देखकर प्रसन्न होना, खुशी मनाना, निरापराध जन्तुओं को पीड़ित करके खुश होना, शान्ति स्थापित करने के लिए ब्राह्मण, गुरु, देवता आदि की स्वार्थ बुद्धि से पूजा एव स्मरण करने का सकल्प करना, जीवों को बन्धन में बाधकर, शत्रु को शक्तिहीन कर, युद्ध में जय विजय पराजय की भावना कर आनन्दित होना, कत्लखाने में प्राणियों के करुण क्रन्दन को सुनकर देखकर अत्यधिक आनन्दित होना, शूली पर चढ़ते हुए जीव की वेदना को देखकर विचार करे, कि अच्छा हुआ, इसे ऐसा ही दण्ड मिलना चाहिये था, बड़ा जुल्मी था, पापी था, क्रूर था, निर्दयी था, हिंसक था, अच्छा हुआ मर गया। शिल्पकारों की कलाओं से प्रसन्न होकर हिंसक प्रवृत्ति में रस लेना। डास-मच्छर, सर्प, बिच्छु आदि विषैले प्राणियों को दवा आदि से खत्म करके आनन्दित होना तथा चक्की, हल, बखर, कुदाली, फावड़ा, उखल, मूसल, सरोता, हासिया, हथौड़ा, कैंची, बन्दूक, तलवार, चाकू आदि अनावश्यक वस्तुओं का सग्रह करके जीवों की हिंसा करने में खुशी मनाना। ये सभी हिंसानुबन्धी रौद्रध्यान हैं। ये सभी बातें रौद्रध्यान के प्रथम भेद में आती हैं। इसके अतिरिक्त ईर्ष्यावृत्ति, मायावृत्ति, हिंसक शस्त्र, वस्त्र, ग्रन्थ, होम आदि का निर्माण करना एव हमेशा हिंसाजनक वस्तुओं को उपयोग में लाने की भावना रखना हिंसानुबधी रौद्रध्यान है[१४]।

मृषानुबंधी रौद्रध्यान : यह दुष्ट वचन बोलने के उग्र चिन्तन से होता है। व्यावहारिक कार्य के प्रत्येक प्रवृत्ति में दूसरे को ठगने की भावना रखना, पाप करनेवाले

रौद्रध्यान के चार भेद : आगमकथित रौद्रध्यान के चार प्रकार इस प्रकार हैं[13] (१) हिंसानुबंधी (२) मृषानुबंधी (३) स्तेयानुबंधी और (४) सरक्षणानुबंधी। आगमेतर ग्रन्थों में इन्ही विषयों के अनुसार थोड़े से नामों की भिन्नता को लिए हुए नाम मिलते हैं। यथा (१) हिंसानद (हिंसानन्दि, हिंसानुबन्धी) (२) मृषानद (मृषानन्दि, अनृतानुबन्धी) (३) चौर्यानन्द (चौर्यानन्दि, स्तेयानुबन्धी) और (४) सरक्षणानद (विषयानन्दि, विषय-सरक्षणानुबंधी) इन चार भेदों का स्वरूप निम्नलिखित है।

(१) हिंसानुबन्धी रौद्रध्यान : एकेन्द्रिय से लेकर पचेंद्रिय तक किसी भी जीव को या सचित्त पदार्थ को स्व तथा पर से छेदन, भेदन, ताड़न, मारन, तापन, बन्धन, प्रहार, दमन आदि की प्रवृत्ति करना, नमचर-कौवा, तोता, कबूतर आदि पक्षी, जलचर-मगरमच्छ, मत्स्य आदि जन्तु, स्थलचर-गाय, भैस, सिंह, बाघ, हाथी, घोड़ा, बैल आदि पशुओं के कान, नाक आदि बींधना, जजीर आदि से बाधना, तलवार आदि शस्त्रों से प्राणरहित करने में आनद मनाना, हिंसक प्रवृत्ति में सतत कुशल रहना, पापकारी कार्य में प्रवीण, क्रूर, निष्ठूर, निर्दय लोगों से मैत्री करना अर्थात् सतत उनके साथ रहना, प्राणियों को कैसे मारा जाय? उसके लिए कौन से उपाय किये जाए? इसमें कौन चतुर है? इस प्रकार का सकल्प-विकल्प करना, अश्वमेघ यज्ञ, गोमेधयज्ञ, अजमेधयज्ञ, नरमेधयज्ञ आदि यज्ञादि में प्राणियों की हिंसा करके आनद मनाना, उन्हें जलते हुए देखकर प्रसन्न होना, खुशी मनाना, निरापराध जन्तुओं को पीड़ित करके खुश होना, शान्ति स्थापित करने के लिए ब्राह्मण, गुरु, देवता आदि की स्वार्थ बुद्धि से पूजा एव स्मरण करने का सकल्प करना, जीवों को बन्धन में बाधकर, शत्रु को शक्तिहीन कर, युद्ध में जय विजय पराजय की भावना कर आनन्दित होना, कत्लखाने में प्राणियों के करुण क्रन्दन को सुनकर देखकर अत्यधिक आनन्दित होना, शूली पर चढ़ते हुए जीव की वेदना को देखकर विचार करे, कि अच्छा हुआ, इसे ऐसा ही दण्ड मिलना चाहिये था, बड़ा जुल्मी था, पापी था, क्रूर था, निर्दयी था, हिंसक था, अच्छा हुआ मर गया। शिल्पकारों की कलाओं से प्रसन्न होकर हिंसक प्रवृत्ति में रस लेना। डास-मच्छर, सर्प, बिच्छु आदि विषैले प्राणियों को दवा आदि से खत्म करके आनन्दित होना तथा चक्की, हल, बखर, कुदाली, फावड़ा, उखल, मूसल, सरोता, हासिया, हथौड़ा, कैंची, बन्दूक, तलवार, चाकू आदि अनावश्यक वस्तुओं का सग्रह करके जीवों की हिंसा करने में खुशी मनाना। ये सभी हिंसानुबन्धी रौद्रध्यान हैं। ये सभी बातें रौद्रध्यान के प्रथम भेद में आती हैं। इसके अतिरिक्त ईर्ष्यावृत्ति, मायावृत्ति, हिंसक शस्त्र, वस्त्र, ग्रन्थ, होम आदि का निर्माण करना एवं हमेशा हिंसाजनक वस्तुओं को उपयोग में लाने की भावना रखना हिंसानुबंधी रौद्रध्यान है[14]।

मृषानुबंधी रौद्रध्यान : यह दुष्ट वचन बोलने के उग्र चिन्तन से होता है। व्यावहारिक कार्य के प्रत्येक प्रवृत्ति में दूसरे को ठगने की भावना रखना, पाप करनेवाले

को सहयोग देना, अनिष्टसूचक वचन, असभ्य वचन तथा असत् अर्थ का सतत प्रकाशन करना, सत् अर्थ का अपलाप करना, निर्दोष व्यक्तियों को दोषी ठहराने का प्रयत्न करना, सत्यमार्ग से उन्मुख होना, ठग विद्या के शास्त्रों का संग्रह करना एवं निर्माण करना, व्यसनी होना, चतुराई से दुसरों को ठगना तथा असत्य बल से राजा, प्रजा, सेठ, साहुकार, भोले जीवों को परेशान करना, असत्य वचन का सतत प्रयोग करना, शत्रुओं का दूसरों के द्वारा घात करने की भावना करना, वाक् कुशलता से वांछित प्रयोजन हेतु मूढजनों को संकट में फसाना, बूढ़े, रोगी, नपुंसक आदि का विवाह करवाना, दूसरों के साथ विश्वासघात करना, गाय, घोड़ा आदि पशुओं की, तोता मैना आदि पक्षियों की एवं खेत, बाग, कुवा आदि की झूठी प्रशसा करके प्रपच फैलाकर, बुरे को अच्छा बताकर, अच्छे को बुरा बताकर इन सबका क्रय विक्रय करना, करवाना, झूठी गवाही देना, झूठे लेख लिखाना, धन, मकान आदि का अपहरण करना, करवाना, व्यापार एव अन्य कार्य में दगल बाजी से दूसरे को ठगने का प्रयत्न करना, उसमें प्रसन्न होना, अपना मनमाना मिथ्यापंथ चलाना, वीतराग प्ररूपित शास्त्रों के अतिरिक्त अन्य कल्पित ग्रन्थों की रचना करना, करवाना, इन ग्रन्थों द्वारा भोली जनता को भ्रम में डालना, दया में पाप बताना, हिंसा मार्ग का समर्थन करना, दूसरे की चुगली खाने का सोचना, दूसरे की नापसद बात को किसी के सामने नमक मिर्च लगाकर कह देने की उग्र व क्रूर इच्छा करना, तिरस्कार वचन, गाली, अपशब्द या अधम असभ्य शब्द सुना देने का सोचना, दूसरों के पास से येनकेन प्रकार से स्वार्थ साधने के लिए सकल्प करना, असत्य को सत्य करके लोगों के गले बात उतारना, सतत मायामृषावचन मन में घड़ता रखना, बहिरे, अन्धे, लूले, अपग, कोढ़ी आदि लोगों की हसी मजाक करना, करवाना, निर्दोषियों में दोष समूह को सिद्ध करके अपने असत्य सामर्थ्य के प्रभाव से अपने दुश्मनों का राजा के द्वारा अथवा अन्य किसी के द्वारा घात कराने का सकल्प करना, मूर्ख प्राणी को चतुराई के वचनों द्वारा ठगने में मैं चतुर हूं – ऐसा सोचना, विचार करना तथा ये प्राणी मेरी प्रवीणता से बड़े अकार्यों में प्रवर्तेंगे ही, इसमें कोई सदेह नही, ऐसे विचार करना, अनेक प्रकार के असत्य संकल्पों से प्रमोद भाव पैदा करना, यह दुष्टात्मा हमेशा असत्य बोलकर मेरा नाश करता है, इसलिए असत्य भाषण से यह दुष्टात्मा वध बधादि को प्राप्त होगा ऐसा सतत चिन्तन करना, ज्ञानी, ध्यानी शीलवान व्यक्तियों से सतत ईर्ष्या करना, पागल आदि को देखकर उन्हें सताना, चिढ़ाना, उन्हें चिढते हुए देखकर अत्यधिक आनदित होना, जुआ, ताश, शतरंज आदि खेलों में स्वभावत झूठ बोलना, व्यर्थ की बकवाद करना, हस्तकौशलादि कार्यों में मंत्र तंत्र यत्रादि के आडम्बर द्वारा अपनी प्रतिष्ठा सुनने में आनन्दित होना आदि इन सभी प्रवृत्तियों को करते हुए आनन्दित होना मृषानुबधी रौद्रध्यान अथवा मृषानंदि रौद्रध्यान है[१५]।

(३) स्तेयानुबन्धी रौद्रध्यान : तीसरे प्रकार का रौद्रध्यान चोरी के क्रूर चिन्तन में

से उत्पन्न होता है। "दूसरे के पैसे, दूसरे का माल, दूसरे की पत्नी पुत्रादि, दूसरे की जायदाद, धन धान्य, मकान, गाय, भैंस आदि पशुओं को कैसे हजम करू, कैसे प्राप्त करू, किस तरह हड़प कर लू, रत्न, सोना, चादी, हीरा, माणेक, मोती, आभूषणों को किस उपाय से प्राप्त करू, एव परकीयों का धन किस उपाय से ग्रहण किया जा सकता है," ऐसे क्रूर चिन्तन में सतत तन्मय होना स्तेयानुबधी रौद्रध्यान है। उसके उपायों का विचार, दावपेच लगाने का विचार करना, सामने वाले की नजर बचाने, आँखों में धूल डालने आदि की तन्मय विचारधाराओं में चढ़ना एव चोरी के कार्यों के उपदेश की अधिकता तथा चौर्य कर्म में चतुरता, चोरी के प्रत्येक कार्यों में तत्परता (तन्मयता) होना, जीवों के चौर्यकर्म के लिए निरन्तर चिन्ता उत्पन्न होना तथा चोरी करके भी निरतर आनन्दित एव हर्षित होना, दूसरा कोई चोरी का कार्य करता हो तो हर्ष मानना, स्वय एव दूसरे के चौर्य कला, कौशलता की प्रशसा करना, दूसरों की बहुमूल्य वस्तुओं को ठगाई (बल) से प्राप्त करना, सारभूत द्विपद, चतुष्पद जीवों को सामर्थ्यबल से अपना बनाकर भोगना एव सतत चौर्य कृत्य का चिन्तन, परधन हरण की चिन्ता मन, वचन, काय से स्वय करना, कराना, अनुमोदना देना इन सबको करते हुए आनन्दित होना ही स्तेयानुबधी अथवा चौर्यानदि एव तस्करानुबन्धी रौद्रध्यान है[१६]।

(४) संरक्षणानुबधी रौद्रध्यान : इसमें धन सरक्षण में मशगूल होकर उसका उग्र चिन्तन होता है। जीव को अच्छे-अच्छे शब्दादि (शब्द, रूप, गध, रस, स्पर्श) विषयों की प्राप्ति तथा भोग बहुत पसंद है। इससे उसके साधन रूप, धन, वैभव की प्राप्ति व रक्षा में वह तत्पर रहता है, आरभ परिग्रह की रक्षा हेतु एव अपने कुटुम्ब परिवार की रक्षा हेतु, दास दासी, धन धान्य, मकान, वस्त्र, आभूषण, गाय, भैंस, बैल आदि पशु, तोता, मैना आदि पक्षी एव आधुनिककालीन विभिन्न भोग सामग्री को पाकर उनकी रक्षा हेतु निरन्तर चिन्तित रहना सरक्षणानुबधी रौद्रध्यान है। इसके अतिरिक्त क्रूर आशय से शत्रुओं का सहार करने की तीव्र भावना, ग्राम, नगर, पुर, पाटन आदि को दग्ध करने की तीव्र इच्छा होना, निष्कटक राज्य को प्राप्त करने की अभिलाषा होना, राजा बनने की भोगेच्छा होना, स्वय को प्रबल प्रतापी घोषित करना, धनादि को तिजोरी आदि में रखूं ताकि कोई न ले, एव अग्नि चोरादि का उपद्रव न हो, मैला कुचैला पागल सा रहने से कोई मेरा पीछा न करे, किसी से भी मैत्री न रखू ताकि उनकी बात न सुननी पड़े, मितव्ययता से जीवन चलाऊ, कम मूल्य की वस्तु खरीदू आदि विविध उपायों से द्रव्य की रक्षा करने की भावना रखना, कुटुम्ब परिवार को हमेशा खुश रखूं ताकि वे हर समय काम में आये, मकान आदि की सफाई रखूं जिससे गिरे नही, प्राण हानि न हो इस प्रकार विविध प्रकार से सम्पत्ति और सतति के रक्षणार्थ विचार करना यह भी विषयसंरक्षण रौद्रध्यान ही है। और भी शरीर रक्षा

की दृष्टि से शीत, उष्ण, वर्षाऋतु में उपयोगी वस्त्र, अन्न, मकानादि की रक्षा की भावना रखना, शत्रुरक्षार्थ शस्त्रों एव सुभटों की रक्षा का उपाय सोचना, उसमें सतत चिन्तित रहना, वातपित्तकफ आदि रोगों से उत्पन्न आधि व्याधि को दूर करने के लिए सतत औषधोपचार, व्यन्तरादि देवों के उपद्रवों से मन्त्रादि द्वारा शरीर को सुरक्षित रखने की चिन्ता करना, स्वय सुखी रहने की सतत भावना रखना, हृष्ट पुष्ट काय को देखकर हर्षित होना, अभक्ष्यादि पदार्थों द्वारा शरीर को पुष्ट करने की भावना रखना, स्वजन एवं सम्पत्ति, राजा, मित्रादि को नाश करने की क्रूर भावना रखना, उन्हें कष्ट में डालने के लिए विविध उपाय खोजना इस प्रकार शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्शादि पदार्थों के संग्रह-रक्षण के लिए अतिशय संक्लेश परिणाम से मन को उपरोक्त सभी क्रियाओं में सलग्न (एकाग्र) करना ही संरक्षणानुबंधी रौद्रध्यान है[१७]।

हिंसा, झूठ, चोरी और धन सरक्षण ये चारों प्रकार के रौद्र-ध्यान स्वय करे, दूसरों से कराये तथा करवाने को अनुमोदना दे इन तीनों के निमित्तादि का चिन्तन करना ही रौद्रध्यान है। रागद्वेषमोहादि से व्याकुल जीव को ही ये चारों प्रकार के रौद्रध्यान होते हैं। ये चारों ही प्रकार रागद्वेषमोहजनित हैं, संसारवर्धक हैं तथा नरकगति की जड़ हैं[१८]।

रौद्रध्यान के चार लक्षण (चिह्न) रौद्रध्यान के आगम कथित चार प्रकार निम्नलिखित है[१९]।

(१) ओसन्नदोष (२) बहुल दोष (३) अज्ञानदोष और (४) आमरणान्त दोष

(१) ओसन्नदोष : हिंसादि चारों भेदों में से किसी भी एक भेद में सतत प्रवृत्ति करना, बार-बार नाना भाति एव विभिन्न साधनों द्वारा पृथ्व्यादि के छेदन, भेदन क्रियाओं में सतत क्रियाशील रहना, हिंसक प्रवृत्ति अधिक रखना, स्थावर एव त्रस जीवों की हिंसा के लिए विभिन्न उपाय करना, झूठ पोषणार्थ अनेक पापजनक शस्त्र बनाना इस प्रकार पाँचों इंद्रियों के पोषण के लिए विविध उपायों को करना, करवाना ओसन्न दोष संबंधी रौद्रध्यान है।

(२) बहुल दोष : हिंसादि सभी साधनों की तथा रौद्र ध्यानों के चारों प्रकारों की अधिकाधिक इच्छा एव वैसी प्रवृति करना उसमें तृप्ति न होना बहुलदोष रौद्रध्यान है।

(३) अज्ञानदोष : रौद्रध्यान का स्वभाव ही सद्ज्ञान का नाश करना है। इससे मूढ़ता, अज्ञानता की वृद्धि होती है। सत्कार्य की प्रीति नष्ट होकर दुष्कार्य में संलग्नता उत्पन्न होती है। सत् शास्त्र श्रवण, सत्सगति में अप्रीति होती है तथा अरुचि जागती है। और भी २९ प्रकार के पापसूत्रों के अभ्यास में अज्ञानतावश प्रीति होती है। २९ प्रकार के पापसूत्र ये हैं[२०]- (१) भूमि कंपन (२) उत्पात (३) स्वप्न (४) अंग स्फुरण

विचारणा एकार्थवाची नाम हैं[२४]। इसलिए विचय नाम विचार करने अर्थात् चिंतवन करने का है, तथा इन चारों प्रकारों के नामकरण इस प्रकार हैं-[२५] १ आज्ञा विचय, २ अपाय विचय, ३. विपाक विचय और ४. सस्थान विचय।

(१) आज्ञा विचय धर्मध्यान : आज्ञा शद्ब से आगम, सिद्धांत और जिनवचन को लिया गया है। ये तीनों ही एकार्थवाची नाम हैं।[२६] इसलिये सर्वज्ञ प्रणीत आगम को प्रमाण मानकर, उस पर पूर्ण श्रद्धा रखकर, उसमें प्रतिपादित नय, प्रमाण, निक्षेप, सात भग, नौ तत्त्व, पाँच अस्तिकाय अथवा षट् द्रव्य, छह जीवनिकाय एवं अन्य आज्ञाग्राह्य जितने भी पदार्थ हैं उनका नय, प्रमाण, निक्षेप द्वारा निरन्तर चिन्तन करना आज्ञाविचय धर्मध्यान है[२७]। वीतराग प्ररूपित तत्त्वों एव अन्य पदार्थों में से कोई समझ में न आये तो चिन्तवन करें कि "वीतराग प्ररूपित वचन सत्य एव तथ्य है। उन्होंने राग-द्वेष-मोह पर पूर्णत विजय मिलाई है। अत उनके वचन कदापि अन्यथा नही हो सकते।" फिर भी मति की दुर्बलता, ज्ञेय की गहनता, ज्ञानावरणादि कर्मों की तीव्रता होने से एव हेतु तथा उदाहरण सभव न होने पर भी नदी और सुखोद्यान आदि रमणीय स्थान में बैठकर ध्याता चिन्तवन करे कि "जिनवचन ही सत्य है। वह सुनिपुण है, अनादिनिधन है, जगत् के जीवों का हित करने वाली है, जगत् के जीवों द्वारा सेवित है, अमूल्य है, अमित है (अमृत सा है), अजित है, अर्थगर्भित है, महान विषयवाला है, निरवद्य है, अनिपुणजनों के लिए दुर्ज्ञेय है तथा नय, भंगों एवं प्रमाण से ग्रहण जगप्रदीपस्वरूप जिनवचन का पालन सतत करना चाहिए।" इस प्रकार जिनवचनों का चिन्तन, मनन, निदिध्यासन सतत करते रहना, उनके वचनों में सन्देह न करना तथा उसमें मन को सदा एकाग्र बनाये रखना ही आज्ञाविचय धर्मध्यान है[२८]। आगम को दो भागों में विभाजित किया गया है - अर्थसमूह रूप में और शब्दसमूह रूप में। शब्दसमूह रूप आगम गणधरप्रणीत हैं, जब कि अर्थसमूह रूप आगम सर्वज्ञप्रणीत (तीर्थंकर प्रणीत) हैं।[२९]

नय-प्रमाण का स्वरूप : प्रमाण से परिच्छिन्न अनंतधर्मात्मक वस्तु के एक अंश को ग्रहण करनेवाले (दूसरे अशों का प्रतिक्षेप किये बिना) अध्यवसाय
कहा जाता है। प्रत्येक पदार्थ अनत धर्मात्मक होता है। 'प्रमाण' इस
धर्मात्मक सिद्ध करता है, जब कि 'नय' इस पदार्थ के अनत धर्मों में से
ग्रहण करता है। किन्तु अन्य धर्मों का खण्डन नही करता[३०]। इन दोनों
नय वस्तु के एक अश का बोध करता है और प्रमाण अनेक
अश समुद्र नहीं कहलाता, वैसे ही नयों को प्रमाण या
वीतरागाज्ञा में सुनय को ग्रहण किया गया है।

(५) उल्कापात (६) पक्षी स्वर (७) व्यजन, तिलमस सवधी (८) लक्षण एव सामुद्रिक-इन आठों के अर्थ, पाठ और भेद ८×३ = २४ रूप हुए (२५) कामकथा (२६) विद्यारोहिणी (२७) तत्र (२८) मत्र और (२९) अन्य मतवादियों के आचार विधान। कामविकारजन्य काव्य, ग्रन्थ, उपन्यास आदि पढ़ना, शृगारिक वस्तुओं का सग्रह करना एव उसमें अधिकाधिक रुचि रखना, हिंसक प्रवृत्ति में प्रीति रखना, देव, गुरु और धर्म के यथार्थ स्वरूप को न मानना, इन्द्रियों के पोषण में, कषायों के सेवन में ही धर्म मानना इत्यादि प्रकार के अनेक विचारों का होना 'अज्ञानदोष' नामक रौद्रध्यान है।

(४) आमरणान्तदोष : मृत्यु पर्यंत सतत क्रूर हिंसादि कार्यों में एव अठारह प्रकार के[२१] पाप कार्यों में (१ प्राणातिपात, २ मृषावाद, ३ अदत्तादान, ४ मैथुन, ५ परिग्रह, ६ क्रोध, ७ मान, ८ माया, ९ लोभ, १० राग, ११ द्वेष, १२ कलह, १३ अभ्याख्यान, १४ पैशुन्य, १५ परपरिवाद, १६ रति अरति, १७ माया-मृषावाद और १८ मिथ्यादर्शन शल्य) अनुरक्त रहना, पूर्वकृत पाप कार्यों का मृत्युशय्या पर रोते हुए भी पश्चात्ताप न होना, किन्तु निरतर मन, वचन, काय से हिंसक, घृणित एव निकृष्ट पापपूर्ण प्रवृत्ति में कार्यशील रहना ही 'आमरणान्त दोष' नामक रौद्रध्यान है।

इसके अतिरिक्त आगमेतर ग्रन्थों में बाह्य और आभ्यन्तर रूप से रौद्र ध्यान के लक्षण बताये हैं-

बाह्य रौद्रध्यान के लक्षण : हिंसादि उपकरणों का सग्रह करना, क्रूर जीवों पर अनुग्रह करना-दुष्ट जीवों को प्रोत्साहन देना, निर्दयतादिक भाव, व्यवहार की क्रूरता, मन वचन काय प्रवृत्ति की निष्ठुरता एव ठगाई, ईर्ष्यावृत्ति, मायाप्रवृत्ति, क्रोध करना उसके कारण नेत्रों से अगार बरसना, भृकुटियों का टेढ़ा होना, भीषण रूप बनाना, पसीना आना, अग प्रत्यग कापना अनेक प्रकार के रौद्रध्यान के बाह्य लक्षण हैं[२२]।

आभ्यन्तर रौद्रध्यान के लक्षण : मन वचन काय से दूसरे का हमेशा बुरा सोचना, दुसरे की बढ़ती एवं प्रगति को देखकर सतत मन में जलना, दु.खी को देखकर आनन्दी होना, गुणीजनों को देखकर ईर्षा करना, इहलोक परलोक के भय से बेपरवाह रहना, पश्चात्तापरहित प्रवृत्ति होना, पापकार्य से खुश रहना, धर्म से विमुख होना, कुदेव, कुगुरु, कुधर्म में श्रद्धा रखना आदि रौद्रध्यान के आभ्यन्तर लक्षण हैं[२३]।

इस प्रकार आगम कथित रौद्रध्यान के ४ + ४ = ८ भेद हुये।

धर्मध्यान : आगम कथित भेद, लक्षण, आलम्बन और अनुप्रेक्षानुसार धर्मध्यान के १६ भेद बताये हैं सो निम्नलिखित हैं-

धर्मध्यान के चार भेद : आज्ञा, अपाय, विपाक तथा सस्थान इनका भिन्नभिन्न विचय (विचार) अनुक्रम से करना ही धर्मध्यान के चार प्रकार हैं। यहाँ विचय, विवेक,

विचारणा एकार्थवाची नाम हैं[२४]। इसलिए विचय नाम विचार करने अर्थात् चिंतवन करने का है, तथा इन चारों प्रकारों के नामकरण इस प्रकार हैं-[२५] १ आज्ञा विचय, २ अपाय विचय, ३. विपाक विचय और ४ सस्थान विचय।

(१) आज्ञा विचय धर्मध्यान : आज्ञा शद्ब से आगम, सिद्धात और जिनवचन को लिया गया है। ये तीनों ही एकार्थवाची नाम हैं।[२६] इसलिये सर्वज्ञ प्रणीत आगम को प्रमाण मानकर, उस पर पूर्ण श्रद्धा रखकर, उसमें प्रतिपादित नय, प्रमाण, निक्षेप, सात भग, नौ तत्त्व, पाँच अस्तिकाय अथवा षट् द्रव्य, छह जीवनिकाय एवं अन्य आज्ञाग्राह्य जितने भी पदार्थ हैं उनका नय, प्रमाण, निक्षेप द्वारा निरन्तर चिन्तन करना आज्ञाविचय धर्मध्यान है[२७]। वीतराग प्ररूपित तत्त्वों एव अन्य पदार्थों में से कोई समझ में न आये तो चिन्तवन करें कि ''वीतराग प्ररूपित वचन सत्य एव तथ्य है। उन्होंने राग-द्वेष-मोह पर पूर्णत विजय मिलाई है। अत. उनके वचन कदापि अन्यथा नही हो सकते।'' फिर भी मति की दुर्बलता, ज्ञेय की गहनता, ज्ञानावरणादि कर्मों की तीव्रता होने से एव हेतु तथा उदाहरण सभव न होने पर भी नदी और सुखोद्यान आदि रमणीय स्थान में बैठकर ध्याता चिन्तवन करे कि ''जिनवचन ही सत्य है। वह सुनिपुण है, अनादिनिधन है, जगत् के जीवों का हित करने वाली है, जगत् के जीवों द्वारा सेवित है, अमूल्य है, अमित है (अमृत सा है), अजित है, अर्थगर्भित है, महान विषयवाला है, निरवद्य है, अनिपुणजनों के लिए दुर्ज्ञेय है तथा नय, भगों एव प्रमाण से ग्रहण जगप्रदीपस्वरूप जिनवचन का पालन सतत करना चाहिए।'' इस प्रकार जिनवचनों का चिन्तन, मनन, निदिध्यासन सतत करते रहना, उनके वचनों में सन्देह न करना तथा उसमें मन को सदा एकाग्र बनाये रखना ही आज्ञाविचय धर्मध्यान है[२८]। आगम को दो भागों में विभाजित किया गया है - अर्थसमूह रूप में और शब्दसमूह रूप में। शब्दसमूह रूप आगम गणधरप्रणीत हैं, जब कि अर्थसमूह रूप आगम सर्वज्ञप्रणीत (तीर्थंकर प्रणीत) हैं।[२९]

नय-प्रमाण का स्वरूप : प्रमाण से परिच्छिन्न अनतधर्मात्मक वस्तु के एक अश को ग्रहण करनेवाले (दूसरे अशों का प्रतिक्षेप किये बिना) अध्यवसाय विशेष को 'नय' कहा जाता है। प्रत्येक पदार्थ अनत धर्मात्मक होता है। 'प्रमाण' इस पदार्थ को अनत धर्मात्मक सिद्ध करता है, जब कि 'नय' इस पदार्थ के अनंत धर्मों में से किसी एक धर्म को ग्रहण करता है। किन्तु अन्य धर्मों का खण्डन नही करता[३०]। इन दोनों में यही अन्तर है कि नय वस्तु के एक अश का बोध करता है और प्रमाण अनेक अशों का। समुद्र का एक देश अश समुद्र नही कहलाता, वैसे ही नयों को प्रमाण या अप्रमाण भी नही कह सकते।[३१] वीतरागाज्ञा में सुनय को ग्रहण किया गया है।

प्रत्येक वस्तु के मुख्यत दो अश होते हैं। (१) द्रव्य और (२) पर्याय। वस्तु को जो द्रव्यरूप से जाने वह द्रव्यार्थिकनय और जो वस्तु (पदार्थ) को पर्याय रूप से जाने वह पर्यायार्थिक नय कहलाता है। मुख्य ये दो ही नय हैं- पर्यायार्थिक नय प्रतिक्षण उत्पाद-विनाश स्वभाव वाले हैं जब कि द्रव्यार्थिकनय स्थिर स्वभाव वाला है। द्रव्यार्थिक नय के तीन भेद-नैगम, सग्रह और व्यवहार और पर्यायार्थिक नय के ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ व एवभूत ऐसे चार भेद हैं। नैगमनय सामान्य - विशेषादि अनेक धर्मों को स्वीकारता है। सग्रहनय सामान्य को ही तात्त्विक मानता है, विशेष को नही। व्यवहारनय विशेष का ही प्रतिपादन करता है, सामान्य का नही। ऋजुसूत्र नय वर्तमानकालीन पर्याय को ही मानता है, फिर चाहे वस्तु के लिंग और वचन भिन्न हों। शब्द नय भी ऋजुसूत्रनय की भाति ही वर्तमानकालीन वस्तु को मानता है। यह अभिन्न लिंग एव वचन वाले पर्याय शब्दों की एकार्थता मानता है। इसका दूसरा नाम'साम्प्रत नय' भी है। समभिरूढ नय पर्याय भेद से अर्थ भेद को मानता है। इन्द्र, शुक्र, पुरदर आदि शब्दों का अर्थ भिन्न-भिन्न करता है। शब्द नय अभिन्न लिंग एव वचनवाले पर्याय शब्दों की एकार्थता मानता है और समभिरूढ नय भिन्नार्थकता को मानता है। यही इन दोनों में अन्तर है। एवभूत नय उस-उस शब्द के व्युत्पत्ति अर्थ के अनुसार उसे मानता है। इस प्रकार सातों नयों का[३२] स्वरूप सर्वज्ञ कथित है। इन सातों नयों को आगम में द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिक नय रूप में प्रतिपादित किया है। द्रव्यार्थिक नय के लिए ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न पर्यायवाची शब्द मिलते हैं, यथा व्यवहार, अशुद्ध, असत्यार्थ, अपरमार्थ, अभूतार्थ, परालबी, पराश्रित, परतत्र, निमित्ताधीन, क्षणिक, उत्पन्नध्वसी, भेद एव परलक्षी आदि। ऐसे ही द्रव्यार्थिकनय के लिए भी ग्रन्थों में अनेक पर्यायवाची शब्द मिलते हैं, यथा निश्चय, शुद्ध , सत्यार्थ, परमार्थ, भूतार्थ, स्वावलबी, स्वाश्रित, स्वतत्र, स्वाभाविक, त्रिकालवर्ती, ध्रुव, अभेद और स्वलक्षी आदि । इसीलिए कुन्दकुन्दाचार्य आदि नयों का निरूपण करने वालों ने नयों का शास्त्रीय और आध्यात्मिक दृष्टि से विवेचन किया है। शास्त्रीय दृष्टि के अनुसार नय के द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक भेद करके उनके अन्तर्गत सात भेदों का विवेचन किया है और आध्यात्मिक दृष्टि से निश्चय और व्यवहारनय का प्रतिपादन किया है।[३३]

स्व और पर को निश्चित रूप से जाननेवाला ज्ञान प्रमाण कहलाता है। यहाँ 'स्व' का अर्थ है ज्ञान से भिन्न पदार्थ। जो ज्ञान अपने स्वरूप को और दूसरे घट-पट आदि पदार्थों को सम्यक् प्रकार से निश्चित रूप से जानता है, वही प्रमाण कहलाता है।[३४]

निक्षेप : प्रमाण और नय के अनुसार निक्षेप भी उतना ही प्रचलित है। ज्ञेय पदार्थ अखण्ड है, किन्तु उन्हें जानते हुए ज्ञेयपदार्थ का जो भेद (अश खण्ड) करने में आता है उसे निक्षेप कहते हैं। उस अश को जाननेवाले ज्ञान को नय कहते हैं। तथा उसके सम्पूर्ण पर्याय को जाननेवाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। निक्षेप नय का विषय है और नय निक्षेप

का विषय करने वाला (विषयी) है। जिनकथित निक्षेप चार हैं[३५]-नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव निक्षेप। नामनिक्षेप में वस्तु या पदार्थ का नामकरण किया जाता है। स्थापना निक्षेप में असली वस्तु का स्थापन अर्थात् आरोप किया जाता है। स्थापना निक्षेप के दो प्रकार हैं- तदाकार और अतदाकार। इनमें मनोभावना की ही प्रबलता रहती है। द्रव्यनिक्षेप- जो अर्थ भावनिक्षेप का पूर्व रूप या उत्तर रूप हो वह । स्थापना निक्षेप में वस्तु का आरोपण किया जाता है (मूल वस्तु नही) और द्रव्यनिक्षेप में मूल वस्तु का ही आरोपण किया जाता है। यही इन दोनों में अन्तर है। जिस अर्थ में शब्द की व्युत्पत्ति या प्रवृति का निमित्त ठीक घटित हो वह भाव निक्षेप है। इन चारों निक्षेपों के द्वारा सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय एवं जीवादि नौ तत्त्वों का न्यास अर्थात् निक्षेप या विभाग होता है। नाम और स्थापना ये द्रव्यार्थिकनय के निक्षेप हैं और भाव पर्यायार्थिकनय की प्ररूपणा है।[३६] इस प्रकार जिनकथित निक्षेपों का सतत चिन्तन करना ही आज्ञा विचय धर्मध्यान है।

अनेकान्त या स्याद्वाद या श्रुतज्ञान : श्रुतज्ञान का वास्तविक रूप ही अनेकान्त है। किसी भी वस्तु को उसके अनेक भागों से देखने की वृत्ति रखना ही अनेकान्त दृष्टि है। अनेकान्तदृष्टि एक प्रकार से प्रमाणनय निक्षेप पद्धति ही है। वह तत्त्वप्ररूपणा की उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक पद्धति है। पदार्थों की प्ररूपणा का मार्ग द्रव्यार्थिकनय, पर्यायार्थिकनय, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, देश, संजोग, पर्याय और भेद के आश्रित ही है। इन्ही प्रकारों के द्वारा पदार्थों की प्ररूपणा की अनेकान्तदृष्टि योग्य मानी जाती है। श्रुतज्ञान द्रव्य और भाव से आचारागादि ग्यारह अंगों का, रायपसेणीय आदि बारह उपांगों का तथा आग्रायणी आदि चौदह पूर्वों का। यही दृष्टिवाद है जो बारहवां अग है। इसी प्रकार सामायिकादि प्रकीर्णकों का विस्तृत रूप ही श्रुतज्ञान है, यह श्रुतज्ञान बत्तीस आगम को द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग, चरणकरणानुयोग और धर्मकथानुयोग इन चार योगों में प्रतिपादित करता है अर्थात् यही सब श्रुतज्ञान हैं। श्रुतज्ञान "स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अस्ति-नास्ति, स्यात् अवक्तव्य , स्यात् अस्ति अव्यक्तव्य", स्यात् नास्ति-अवक्तव्य , स्यात् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य " इन सात भंग द्वारा वस्तु का स्वरूप सिद्ध करता है। यही अनेकान्त का स्वरूप है। अनेकान्त का लक्षण वस्तु 'स्व' रूप है और 'पर' रूप से नही है। इसको स्वतत्र सिद्ध करना ही श्रुतज्ञान है। यहाँ अस्तित्व धर्म को लेकर ही कही विधि, कही निषेध और कहीं विधिनिषेध दोनों क्रम से और कहीं दोनों एक साथ वस्तु के साथ बताये गये हैं। 'स्याद्' का अर्थ है, किसी अपेक्षा से। वस्तु किसी अपेक्षा से 'स्व'रूप है और किसी अपेक्षा से पर रूप है अर्थात नहीं है, ऐसा परस्पर विरुद्ध एव दो शक्तियों को अलग-अलग अथवा भिन्न-भिन्न अपेक्षा से प्रकाशित करके वस्तु को पर से भिन्न स्वरूप में

दिखाना ही श्रुतज्ञान है। आत्मा सर्व द्रव्यों से अलग वस्तु है इसका प्रथमत श्रुतज्ञान से निर्णय करना ही जिनकथित अनेकान्त एव स्याद्वाद रूप ही है।[३७] इन सबका जिनाज्ञानुसार चिन्तवन करना ही आज्ञाविचय धर्मध्यान है।

नौ तत्त्व : जिनागम में वीतराग प्रभु ने नौ तत्त्वों का प्रतिपादन किया है[३८]- जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बध और मोक्ष। जीव तत्त्व का लक्षण चेतना (उपयोग) है और अजीव तत्त्व चेतनारहित जड़ पदार्थ है। पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और काल ये सब अजीव हैं। इनमें से पुद्गलास्तिकाय रूपी है, शेष सब अरूपी हैं। जीव और अजीव ये दोनों ही पदार्थ अपने भिन्न स्वरूप के अस्तित्व से मूल पदार्थ है। इनके अतिरिक्त जो सात पदार्थ हैं वे जीव और अजीव पुद्गलों के सयोग से उत्पन्न हुये हैं। जब जीव के शुभ परिणाम होते हैं। तब उस शुभ परिणाम के निमित्त से पुद्गल में शुभ कर्मरूप शक्ति होती है अर्थात् जिसके उदय से जीव को सुख का अनुभव होता है, उसे पुण्य कहते हैं। पुण्य के दो भेद हैं। द्रव्यपुण्य और भावपुण्य। जीव के अशुभ परिणामों के निमित्त से पुद्गल वर्गणाओं में अशुभ कर्म में परिणत होनेवाली शक्ति को अर्थात् जिसके उदय से दु ख की प्राप्ती हो, आत्मा को शुभ कार्यों से पृथक् रखे, उसे पाप कहते हैं। इसके दो भेद हैं - द्रव्यपाप और भावपाप। मोहरागद्वेष रूप जीव के परिणामों के निमित्त से मन वचन काय-योगों द्वारा पुद्गल कर्मवर्गणाओं का आगमन होना अर्थात शुभाशुभ कर्मों के आगमन द्वार को आस्रव कहते हैं। आस्रव के दो भेद हैं - द्रव्यास्रव और भावास्रव। जीव के मोहरागद्वेष परिणामों को रोकनेवाले भावों का निमित्त पाकर योगों द्वारा पुद्गल वर्गणाओं के आगमन का निरोध होना सवर है। इसके दो भेद हैं-द्रव्यसवर और भावसवर। आत्मा के साथ नीर-क्षीर की तरह आपस में मिले हुए कर्मपुद्गलों के बहिरग और अतरग तपों द्वारा एक देश क्षय होने को निर्जरा कहते हैं। निर्जरा के दो भेद हैं। द्रव्य निर्जरा और भाव निर्जरा। जीव के मोह-राग-द्वेष रूप स्निग्ध परिणामों के निमित्त से कर्मवर्गणा रूप पुद्गलों का जीव के प्रदेशों से (आत्मप्रदेशों से) परस्पर एकक्षेत्रावगाह करके सबध होना बंध है। बध के दो भेद हैं। द्रव्यबध और भावबध। सपूर्ण कर्मों के क्षय होने को मोक्ष कहते हैं। कही-कहीं पुण्य और पाप को आस्रव या बध तत्त्व में समाविष्ट करके सात तत्त्व कहे हैं।[३९] ससार में नौ ही तत्त्व हैं। सर्वज्ञकथित नौ तत्त्वों का सतत चिन्तन करना ही आज्ञा विचय धर्मध्यान है।

छह जीवनिकाय : आगम में छह जीवनिकाय का इस प्रकार विभाजन किया गया है[४०]- पृथ्वीकाय, अप्काय (जल), तेजस्काय (अग्नि), वायुकाय (हवा), वनस्पतिकाय और त्रसकाय। ससारी जीव अनन्त हैं। इन अनन्त जीवों को छह जीवनिकाय में विभाजित किया गया है। और इन छह जीवनिकाय को सक्षेप से दो भागों में[४१] विभाजित किया है -

वह भी दो तरह से। पहला विभाग मन के सबध और असंबंध पर निर्भर है अर्थात् मनवाले और मनरहित इस तरह दो विभाग किये हैं। जिनमें सकल संसारी का समावेश हो जाता है। दूसरा विभाग त्रसत्व और स्थावरत्व के आधार पर किया है - एक त्रस और दूसरे स्थावर। इस विभाग में भी सकल ससारी जीवों का समावेश हो जाता है। आगम में त्रस के दो प्रकार कहे हैं[४२]- लब्धित्रस और गतित्रस। त्रस नाम-कर्म के उदयवाले लब्धि त्रस हैं। ये ही मुख्य त्रस हैं, जैसे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीव । स्थावर नाम-कर्म का उदय होने पर भी त्रस जैसी गति होने के कारण जो त्रस कहलाते हैं वे गतित्रस। ये उपचार मात्र से त्रस हैं, जैसे तेज कायिक और वायुकायिक। ये तो पृथ्वीकायिक से लेकर वनस्पतिकायिक तक सभी स्थावर कहलाते हैं। इस प्रकार छह जीवनिकाय का जिनाज्ञानुसार निरन्तर चिन्तन करना आज्ञाविचय धर्मध्यान है।

षड् द्रव्य : धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय इन षट् द्रव्यों का जिनाज्ञानुसार चिन्तन करना आज्ञाविचय धर्मध्यान है। इन सभी द्रव्यों का आगे विवेचन करेंगे।

इस प्रकार आज्ञाविचय धर्मध्यान में सिद्धान्तानुसार विभिन्न पहलुओं को लेकर चिन्तन किया जाता है। साराश यही है कि द्वादशाग वाणी के अर्थ के अभ्यास करने को आज्ञाविचय कहते हैं।

(२) अपायविचय धर्मध्यान : धर्मध्यान का दूसरा प्रकार अपायविचय है। इसमें रागादि क्रिया, कषाय क्रिया, मिथ्यात्वादि आस्रव क्रिया, हिंसादि क्रिया एव विकथा, परीषह आदि से इस लोक व परलोक में उत्पन्न अनर्थ कैसे हैं? इन क्रियाओं के करने से जीव दीर्घकालीन आधि, व्याधि, उपाधि को प्राप्त करके ससार वृद्धि करता है। इसका इसमें विचार किया जाता है कि मैं कौन हूं? कर्मों का आस्रव क्यों होता है? कर्मों का बध क्यों होता है? किन कारणों से निर्जरा होती है? संसारी और मुक्त आत्मा का स्वरूप क्या है? मोक्ष कैसे प्राप्त हो सकता है? कर्म क्षय कैसे हो सकता है? मिथ्यात्वत्वादि हेतु के कारण उत्पन्न कर्म कैसे निवारण होंगे? मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन, मिथ्याचारित्र से च्युत जीव कैसे मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होगा? सर्वज्ञ कथित सम्यग्दर्शनादि का पालन न करने से बद्धकर्मों के कारण जीव, जन्म, मरण, वेदना आदि का दु ख कैसे दूर करेगा? राग, द्वेष, मोह, कषाय एवं विषय विकारों से उत्पन्न अठारह पापस्थानों एवं तज्जनित दु ख, क्लेश, दुर्गति आदि अपाय के उपाय का चिन्तन करना ही अपाय विचय धर्मध्यान है। ध्यानाग्नि के द्वारा कर्म समूह को नष्ट करके आत्मा को शुद्ध करने का संकल्प ही अपायविचय धर्मध्यान है। क्योंकि जिनकथित मोक्ष मार्ग के अनुसार आचरण करने से सिद्धि निश्चय ही है। इस प्रकार अपाय और उपाय दोनों का आत्मा की सिद्धि के लिये निश्चय करना ही अपायविचय धर्मध्यान का लक्ष्य है।[४३]

आस्रव :- मन, वचन और काय के व्यापार को आस्रव कहते हैं। इसे ही योग कहते हैं अर्थात त्रिविध (मन, वचन, काय) क्रिया द्वारा आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्द-हलन-चलन की क्रिया ही योग कहलाती है। जैसे सरोवर में जल आने के मार्ग अनेक होते हैं, वैसे ही कर्मबध के अनेक मार्ग हैं। योग को ही आस्रव कहा है। वह दो प्रकार का है, शुभास्रव और पापास्रव। अनुकम्पा और शुद्ध उपयोग पुण्य कर्म के आस्रव हैं और इनके विपरित परिणाम पापकर्म के आस्रव हैं। अनुकम्पा आस्रव के तीन प्रकार हैं - १) धर्मानुकम्पा, २) मिश्रानुकम्पा, और ३) सर्वानुकम्पा। शुद्धोपयोग के भी दो प्रकार हैं - यति (श्रमण) शुद्ध सप्रयोग और २) गृहस्थ (श्रावक) शुद्ध सप्रयोग। यह क्रमश महाव्रत और अणुव्रत के पालन से पुण्यास्रव है। यह अशुभास्रव से बचने का उपाय है। हिंसादि आस्रव को दृढ़ व्रतों की अर्गलाओं से रोका जाता है। आस्रव के अपाय का चिन्तन करके सवर के उपाय में प्रवेश करना ही अपाय विचय धर्मध्यान है।[४४]

विकथा :- स्त्री, भक्त (भोजन), देश एव राज (चोरादि) की बातें करना विकथा है। स्त्रीकी विकथा करने से ब्रह्मचर्य में दोष लगता है। मानसिक विकृति के कारण साधक सयम मार्ग से पथभ्रष्ट हो जाता है, स्मृति विकृत हो जाती है और अन्ततोगत्वा शारीरिक शक्तियाँ भी क्षीण होने लगती हैं। इसलिए शास्त्रकार ने स्त्री विकथा के चार प्रकार बताये हैं - १) स्त्री जाति कथा, २) स्त्री कुल कथा, ३) स्त्री रूप कथा और ४) स्त्री नेपथ्य कथा। इन चारों प्रकार की चर्चाओं से जो साधक बचने का प्रयत्न करता है, वह भद्र स्वभावी होता है। भक्त कथा में खाने-पिने के विषय में लम्बी-चौड़ी बातें करने का वर्णन है। सयमियों के लिये यह वर्ज्य है। भक्त कथा के भी चार प्रकार हैं - १ अवाय भक्त कथा (शाक घृतादि वस्तू का प्रमाण), २) निर्वाप भक्त कथा (अनेक प्रकार के रस, मेवे आदि), ३) आरभ भक्त कथा और ४) निष्ठान भक्त कथा (सामग्री के परिणाम से चीजें बनाना)। स्वाद विजेता के लिए भक्तकथा अपायजन्य है। इगालादि दोषों को उत्पन्न करने वाली है। आहार सज्ञा की जनक है। अत भोग लालसा से उत्पन्न दोषों का उपाय करना ही ध्यान है। तीसरी देशकथा के अतर्गत देशविदेश से सबधित चर्चा की जाती है। इसके भी चार भेद हैं - १) देश विधि कथा, २) देश विकल्प कथा, ३) देश छद कथा, और ४) देश नेपथ्य कथा। इस विकथा से रागद्वेषादि की उत्पत्ति होती है। अत साधक के लिये इन कथाओं का निषेध है। चौथी राज कथा के अन्तर्गत राजनीति, राजशोभा एव राजनिन्दा आदि की चर्चाएँ की जाती हैं। राजकथा भी चार प्रकार की है। १) अतियान कथा, २) निर्याण कथा, ३) बलवाहन कथा, और ४) कोष-कोठार कथा। राजकथा के करने से अनेक दोष लगते हैं। अत अपायविचय धर्मध्यान में इनका चिन्तन करके सुकथा का ध्यान करें। ये चारों ही प्रकार की विकथा अनर्थ को निर्माण करनेवाली हैं। इसलिए इनका चिन्तन करना अपाय विचय धर्म ध्यान है।[४५]

गौरव :- ऐश्वर्य, सुख और रस को गौरव कहते हैं। अशुभ भावों से लोभ आदि कषायों से एवं अभिमान के कारण अपने को जिस भारीपन का अनुभव होता है उसे शास्त्रीय भाषा में गौरव कहा जाता है। जब किसी राजा, मत्री, सेठ, सेनापति आदि लौकिक पद एवं आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, गणी, गणावच्छेद आदि पदवियाँ मिलने पर अभिमान आना ऋद्धिगौरव है। रसानुभूति करने वाली सभी इद्रियों के विषय ही रस (सुख) गौरव हैं। जीवन में जितनी सुख भोगों की सामग्री है वह मुझे ही प्राप्त हो अन्य को नही यह साता (सुख) गौरव है। इन तीन प्रकार के गौरव (अभिमान) से नीच गोत्र का बध होता है। और भी साधक ऋद्धि गौरव से लोकैषणा, रस गौरव से निरणुकपी और सातागौरव से साधनाहीन बन जाता है। अत इनसे बचने का उपाय सोचना ही अपाय विचय धर्मध्यान है।[४६]

परीषह :- क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दशमशक, नग्नत्व, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मेल, सत्कार पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन आदि की बाधा को परीषह कहते हैं। परिषह २२ हैं।[४७] इनके आगमन से बहुत दु ख भोगना पड़ता है। नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति में प्राय अनेक दु ख भोगने पड़ते हैं। इस प्रकार आस्रव आदि की बुराइयों का चिन्तन करना अपाय विचय धर्मध्यान है।

शल्य :- आगम में तीन शल्य बताये हैं-[४८] १) माया शल्य, २) निदान शल्य, और ३) मिच्छा दर्शन (मिथ्या दर्शन) शल्य। शल्य का अर्थ है पीडा देना। आँख या पैर में रजकण या काटा जाने से चैन नही पड़तां, वैसे ही ये तीन शल्य हैं, जो आत्मा के निजस्वरूप का भान नही होने देती। क्योंकि शारीरिक और मानसिक पीड़ा देने वाला कर्मों का उदय, क्षयोपशमादिरूप जो माया, मिथ्यात्व और निदान यह तीन प्रकार का शल्य जीवों को पीड़ा देता है।

हेतु :- मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, और योग ये पाँचों बध हेतुओं के रूप में प्रसिद्ध हैं।[४९] इन हेतुओं के अनर्थ भी भयंकर हैं। यथा -

मिथ्यात्व :- इसका दूसरा नाम मिथ्यादर्शन है। यह सम्यग्दर्शन के उल्टे अर्थ वाला होता है।पदार्थों के अ-यथार्थ श्रद्धान को मिथ्यादर्शन कहते हैं। मूढ़ जीव प्रबल मिथ्यात्व के प्रभाव से ग्रह, भूत, पिशाच, योगिनी और यक्ष को शरण मानता है। किन्तु अनादिकाल से जीव इसी कारण संसार में अनतानत बार एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को धारण करता है। मिथ्यात्व के कारण जीव का जो अनेक शरीरों में ससरण (परि-भ्रमण) होता है, उसे ही तो संसार कहते हैं। मिथ्यादर्शन मोहनीय कर्म के उदय के कारण

हिताहित का भान भी जीव को नही हो पाता है। वह तो मूढ़ावस्था के कारण अस्वर्ण को स्वर्ण मान बैठता है। कुगुरु, कुदेव, कुधर्म को सुगुरु, सुदेव, सुधर्म मान लेता है।[५०]

मिथ्यात्व के अनेक भेद माने गये हैं -[५१] गृहीत, अगृहीत, सदेश, (अभिगृहीत, अनभिग्रहीत, सशयीत) अभिग्रहिक, अनभिग्रहिक, अभिनिवेशिक, अनाभोगिक, अधर्म में धर्म सज्ञा, धर्म में अधर्म सज्ञा, उन्मार्ग में मार्ग सज्ञा, मार्ग में उन्मार्ग सज्ञा, अजीव में जीव सज्ञा, जीव में अजीव सज्ञा, असाधु में साधु सज्ञा, साधु में असाधु सज्ञा, अमुक्त में मुक्त सज्ञा और मुक्त में अमुक्त सज्ञा। ये सभी प्रकार के मिथ्यात्व गृहीत, अगृहीत और सदेह के अन्तर्गत आ जाते हैं। तीन सौ त्रेसठ पाखण्डी मत गृहीत मिथ्यात्व हैं, क्योंकि दूसरों को उपदेश आदि से लोग उसे ग्रहण करते हैं। किसी पाखडी देवता को उपदेशपूर्वक ग्रहण न करना अर्थात् जन्म से ही उसमें अभिरुचि होना अगृहीत मिथ्यात्व है। श्रुतज्ञान के एक भी अक्षर अथवा पद में रुचि न होने से सग्दिग्ध मिथ्यात्व होता है। जिसके मिथ्यात्व होता है, उसकी बुद्धि मलिन हो जाती है, और बुद्धि के मलिन हो जाने से वह पाँचों इन्द्रियों के विषयों में आसक्त हो जाता है। अथवा हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पापों को करता है। इससे उसके कर्मों का आस्त्रव होता है, और कर्मों के आस्त्रव होने से उनकी आत्मा में कर्म-मल की राशि इकट्ठी हो जाती है। यह सारा मिथ्यात्व के कारण होता है। मिथ्यात्व से ग्रसित बुद्धि वाला जीव प्रशम सवेगादि गुणों से रहित होने के कारण इस जीवन में ही नरक जैसे दु ख प्राप्त करता है। नारक जीव को बाह्य तीव्र वेदना के कारण अन्तर्मन में भारी सताप एव दु ख होता है। इस सब मिथ्यात्व के कारण नरक तिर्यंच आदि गतियों में परिभ्रमण करना पड़ता है।[५२] इनका अनर्थ का चिन्तन करना ही अपायविचय धर्मध्यान है।

अविरति :- विरति का अर्थ है त्याग और त्याग नही करना अविरति है, अर्थात् दोषों-पापों से विरत न होना। हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह ये पाँच मूलभूत पाप हैं। इनका पूर्ण रूप से या आशिक रूप से भी त्याग न करना अविरति है।[५३] मिथ्यादृष्टि जीव में पाप से निवृत्त होने की भावना नही जागती जिसके कारण वह ससार में परिभ्रमण करता रहता है। छ काय जीवों की दया न करने से और छ इन्द्रियों के विषयभेद से अविरति बारह प्रकार की होती है।[५४]

प्रमाद :- प्रमाद का स्वरूप है आत्मविस्मरण होना, अर्थात् कुशल कार्यों में आदर न रखना, कर्तव्य-अकर्तव्य की स्मृति के लिए सावधान न रहना। आगम एव अन्य ग्रन्थों में प्रमाद के पाँच छ, पन्द्रह, अस्सी एव ३७५०० भेद मिलते हैं।[५५] प्रमाद के कारण ही सरम्भ ,समारभ और आरभ की क्रियायें होती हैं। प्रमाद ससार बढ़ाने वाला है। अत यह सब पापों का मूल है।

कषाय :- 'कषाय' आत्मा का प्रबल शत्रु है अथवा विकार है। कषाय से बढ़कर आत्मगुणों का घातक अन्य कोई विकार नही है। कषाय का स्वरूप - जो आत्मा के गुणों को कषे (नष्ट करे)। अथवा कष का अर्थ है, जन्म-मरण-रूप ससार, उसकी आय अर्थात् प्राप्ति जिससे हो उसे कषाय कहते हैं।[५६] सोलह कषाय और नौ नोकषाय से पच्चीस कषाय हैं।[५७] यद्यपि कषायों से नोकषायों में थोडा सा भेद है, - जो कषाय तो न हो, किन्तु कषाय के उदय के साथ जिसका उदय होता है अथवा कषायों को पैदा करने में (उत्तेजित करने में) सहायक हो, उसे नोकषाय कहते हैं। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुसकवेद- ये कषायों के सहवर्ती होने से और कषायों के सहयोग से पैदा होने से एवं कषायों को उत्पन्न करने में प्रेरक होने से हास्यादि को कषाय के अन्तर्गत लिया है। इसलिए कषाय के पच्चीस भेद किये हैं।नौ नोकषाय यहाँ विवक्षित नही है।

जिस विकार के कारण आत्मा कर्मजाल में आबद्ध होती है, जिसके कारण उसे भव भ्रमण करना पड़ता है वह विकार ही कषाय है। आत्मा के उत्थान और पतन में कारणीभूत एकमात्र कषायभाव ही है। गुणस्थानों का क्रम भी कषाय के तारतम्य पर ही आधारित है। यों तो कषाय-अध्यवसाय की तीव्रता, तीव्रतरता, तीव्रतमता, मंदता, मदतरता, मंदतमता आदि के आधार पर अनेक प्रकार की मानी जाती है, उनकी गणना हो ही नही सकती, तथापि उसके पार्थक्य का आभास बताने की दृष्टि से उसके चार स्थूल विभाग किये गये हैं, जिसके सोलह भेद होते हैं-[५८]

१) अनन्तानुबधी चतुष्क - क्रोध, मान, माया, लोभ।
२) अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क .- क्रोध, मान, माया, लोभ।
३) प्रत्याख्यानावरण चतुष्क '- क्रोध, मान, माया, लोभ।
४) संज्वलन चतुष्क - क्रोध, मान, माया, लोभ ।

क्रोध से प्रीति का नाश होता है, मान से विनय का घात होता है, माया (मायाचार) से विश्वास जाता रहता है और लोभ से सभी गुण नष्ट हो जाते हैं।[५९]

जो जीव के सम्यक्त्व गुणों का घात करके अनन्तकाल तक संसार में परिभ्रमण करावे, उस कषाय को अनन्तानुबधी कहते हैं। अनंतानुबधी कषाय की कालमर्यादा जीवनपर्यंत है। यह नरक गति का बंधक है और आत्मा के सम्यक्त्व गुण का घातक है। अनन्तानुबंधी चतुष्क को दृष्टान्त द्वारा समझाया जाता है -

अनन्तानुबधी क्रोध पर्वत में आई दरार के समान होता है।
अनन्तानुबंधी मान पत्थर के स्तम्भ (खम्बे) के समान होता है।

अनन्तानुबधी माया घनवशी (बास की जड़ में रहनेवाली वक्रता - टेढ़ेपन का सीधा होना सभव नही) के समान होती है।

अनन्तानुबधी लोभ किरमिची रग के समान होता है।

जो कषाय आत्मा के देशविरति गुण-चारित्र (श्रावकपन) का घात करे,अर्थात् जिसके उदय से देशविरनि आशिक त्यागरूप अल्प प्रत्याख्यान न हो सके, उस कषाय को अप्रत्याख्यानावरण कहते हैं। इसकी कालमर्यादा एक वर्ष की है, गति तिर्यंच की, घात देशविरति का अर्थात् इस कषाय के प्रभाव से श्रावक धर्म की प्राप्ती नही है। इस कषाय के चार भेद को दृष्टात द्वारा समझाया गया है -

अप्रत्याख्यानावरण क्रोध पृथ्वी में खीची गई रेखा के समान है।
अप्रत्याख्यानावरण मान अस्थि (हड्डी को नमाने) के समान है।

अप्रत्याख्यानावरण माया भेड के सीग (भेड़ के सीगों में रहने वाली वक्रता कठिन परिश्रम से) के समान होती है।

अप्रत्याख्यानावरण लोभ कीचड़ के समान होता है।

जिस कषाय के प्रभाव से आत्मा को सर्वविरति चारित्र प्राप्त करने में बाधा हो - श्रमण धर्म की प्राप्ति न हो, उसे प्रत्याख्यानावरण कहते हैं। इस कषाय की कालमर्यादा चार मास, गति मनुष्य की और घात सर्वविरति का होता है। इस कषाय के चार भेद को भी दृष्टात द्वारा समझाया है -

प्रत्याख्यानावरण क्रोध धूलि में खीची गई रेखा के सदृश है।
प्रत्याख्यानावरण मान सूखे काष्ठ में तेलादि की मालिश से नरमाई के समान है।
प्रत्याख्यानावरण माया गोमूत्रिका के समान है। (कुटिल स्वभाव वाला)
प्रत्याख्यानावरण लोभ काजल के रंग समान है।

जिस कषाय के उदय से आत्मा को यथाख्यातचारित्र की प्राप्ती न हो, अर्थात् जो कषाय परीषह तथा उपसर्गों के द्वारा श्रमण धर्म का पालन करने को प्रभावित करे, उसे सज्वलन कहते हैं। इसका कालमान पन्द्रह दिन का है,गति देव की है तथा यथाख्यात चारित्र का घात करती है। इसको भी चार भेदों के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया है -

सज्वलन क्रोध जल में खीची गई रेखा सदृश है।
सज्वलन मान वेत्रलता के समान क्षण मात्र में नमने वाला है।
सज्वलन माया अवलेखिका (बास के छिलके) के समान है।
सज्वलन लोभ हल्दी के रग के समान है।

इन सोलह[६०] प्रकार के कषायों में संज्वलन कषाय अल्प माना जाता है। फिर भी आध्यात्मिक विकास क्रम की सीढ़ियों पर चढ़ा हुआ ग्यारहवी भूमिका का साधक इस कषाय के कारण पतनोन्मुख बन जाता है।[६१] इसलिए विशेषावश्यक में जिन भद्रगणि क्षमाश्रमण ने प्रतिपादन किया है कि ऋण, व्रण, अग्निकण और कषाय इनका कभी विश्वास नही करना चाहिये।[६२] क्योंकि कषाय के मूल दो ही भेद हैं - १) ममकार और २) अहकार। राग द्वेष भी उन्ही के नामान्तर (पर्याय) हैं। सक्षेप में माया और लोभ कषाय के युगल का नाम राग है और क्रोध तथा मान कषाय के युगल का नाम द्वेष है।[६३]

राग :- द्रव्यादि चार पर रति, प्रीति, मोह अथवा आसक्ति का होना अर्थात् इष्ट-प्रिय वस्तु में प्रीत्यादि होना राग है। इच्छा, मूर्च्छा, काम, स्नेह, गार्ध्य, ममत्व, अभिनन्द, अभिलाष आदि अनेक राग के पर्यायवाची नाम हैं। जैसे पेड़ के दीर्घ मूल उसके शाखा, पत्र, पुष्प, फल आदि के लिए कारण हैं, वैसे ही रागभाव सर्व मोह का मूल है।[६४] दृष्टिराग, कामराग और स्नेहराग का फल दीर्घ ससार भ्रमण है।[६५]

द्वेष :- अनिष्ट वस्तुओं में जो प्रीति का अभाव हैं, उसे द्वेष कहते हैं। यह द्वेष सम्पूर्ण ससार का मूल कारण है। ईर्ष्या, रोष, दोष, द्वेष, परिवाद, मत्सर, असूया, वैर और प्रचण्डन इत्यादि अनेक द्वेष के पर्यायवाची नाम हैं।[६६]

इस प्रकार मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और योग ये राग और द्वेष की सेना है। उसकी सहायता से वे दोनों आठ प्रकार के कर्म-बंध के कारण होते हैं। इसीलिए मिथ्यात्वादि हेतु एवं रागादि अपाय का चिन्तन करना ही अपायविचय धर्मध्यान है।

मुख्यत मिथ्यात्व और कषाय से युक्त ससारी जीव प्रतिपल प्रतिक्षण अनेक प्रकार के कर्मपुद्गलों एव नो कर्मपुद्गलों को ग्रहण करता है और छोड़ता है। क्रोध, मान, माया और लोभ ये दु खों के कारण होने से चतुर्गतिरूप ससार के वर्धक हैं।[६७] इन सबके अनर्थों का चिन्तन करना ही अपायविचय धर्मध्यान है।

(३) विपाक विचय धर्मध्यान :- 'विपाक -विचय' नामक तीसरे धर्मध्यान के प्रकार में आत्मा पर बधे जाने वाले कर्मों की प्रकृति, स्थिति, रस, प्रदेश के विपाक का चिन्तन करना होता है।

विपाक से आशय रसोदय का है। कर्म प्रकृति में विशिष्ट अथवा विविध प्रकार के फल देने की शक्ति को और फल देने के अभिमुख होने को विपाक कहते हैं। जैसे आम आदि फल जब पक कर तैयार होते हैं, तब उनका विपाक होता है। वैसे ही कर्म प्रकृतियाँ भी जब अपना फल देने के अभिमुख होती हैं तब उनका विपाककाल कहलाता है।

यह विपाक दो प्रकार का है- हेतुविपाक और रसविपाक। पुद्गलादि रूप हेतु के आश्रय से जिस प्रकृति का विपाक फलानुभव होता है, वह प्रकृति हेतुविपाकी कहलाती है। तथा रस के आश्रय अर्थात् रस की मुख्यता से निर्दिश्यमान विपाक जिस प्रकृति का होता है, वह प्रकृति रसविपाकी कहलाती है। इन दोनों प्रकार के विपाकों में से भी प्रत्येक के पुन चार-चार भेद हैं। पुद्गल,क्षेत्र, भाव और जीव रूप हेतु के भेद से हेतुविपाकी के चार भेद हैं यानी पुद्गलविपाकी, क्षेत्रविपाकी, भावविपाकी, और जीवविपाकी। इसी प्रकार से रसविपाक के भी एक स्थानक, द्विस्थानक, त्रिस्थानक और चार स्थानक ये भेद हैं।

पुद्गल विपाकी प्रकृतियाँ जीव में ऐसी शक्ति पैदा करती हैं कि जिससे जीव अमुक प्रकार के पुद्गलों को ग्रहण करता है। जीव द्वारा कर्मपुद्गलों के ग्रहण किये जाने पर यानी बध होने पर उनमें चार अशों का निर्माण होता है, जो बध के प्रकार कहलाते हैं। इसीलिए आत्मा के साथ कर्म बध की प्रक्रिया चार प्रकार की है- १) प्रकृतिबध, २) स्थितिबध, ३) रसबध (अनुभागबध अथवा अनुभावबध) और ४) प्रदेशबध। ग्रहण के समय कर्मपुद्गल एकरूप होते हैं। किन्तु बधकाल में उनमें आत्मा के ज्ञान, दर्शन आदि भिन्न-भिन्न गुणों को रोकने का स्वभाव हो जाता है। इसे प्रकृतिबध कहते हैं। यहाँ प्रकृति शब्द का अर्थ स्वभाव है।[६९] दूसरी परिभाषा के अनुसार स्थितिबध, रसबध और प्रदेशबध के समुदाय को प्रकृतिबध कहते हैं।[७०] अर्थात् प्रकृतिबध कोई स्वतत्र बंध नहीं है किन्तु शेष तीन बधों के समुदाय का ही नाम है। प्रकृति यानी ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि कर्मों के मूल तथा प्रत्येक के उत्तर भेद और उनके स्वभाव क्रमश आँख की पट्टी समान, द्वारपाल-समान, शहद-लिप्त तलवार की धार को चाटने के समान, मद्य (शराब) के समान, हड़ि (बेड़ी) के समान, चित्रकार के समान, कुम्हार के समान तथा भण्डारी के समान इन उदाहरणार्थ विपाक के समय ज्ञान का रोकना, दर्शन का रोकना, सुख-दु ख का अनुभव होना, स्व-पर विवेक में तथा स्वरूप रमण में अथवा आत्मा के सम्यक्त्व और चारित्रगुण का घात होना, आदि का चिन्तन करें।[७१] उनमें (बद्धकर्म) समय की मर्यादा का निर्धारण होना स्थितिबध है। स्थिति याने कर्मों का आत्मा पर चिपके रहने का काल, जघन्य से समय अथवा अन्तर्मुहूर्त-ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय का जघन्य कालमान अन्तर्मुहूर्त का है एवं वेदनीय का १ २ मुहूर्त और नाम और गोत्र का ८ मुहूर्त हैं तथा उत्कृष्ट कालमान ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय और वेदनीय, का ३० कोटाकोटी सागरोपम, मोहनीय का ७० कोटाकोटी सागरोपम, आयु का ३ ३ सागरोपम, नाम और गोत्र का २० कोटाकोटी सागरोपम और अन्तराय का ३ ३ कोटाकोटी सागरोपम स्थिति है।[७२] आत्मपरिणामों की तीव्रता और मंदता के अनुरूप कर्मबधन में तीव्र रस और मंद रस का होना, अनुभाग बंध कहलाता है, अनुभाग याने विपाक, रसोदय और

कर्मपुद्गलों का आत्मप्रदेशों के साथ एकीभाव या कर्मप्रदेशों की सख्या का निर्धारण होना प्रदेशबध है। इस प्रकार प्रकृति आदि का चिन्तन करना ही विपाकविचय धर्मध्यान है।[७२]

कर्मभोग के प्रकार :- जीव द्वारा कर्म फल के भोग को कर्म की उदयावस्था कहते हैं। उदयावस्था में कर्म के शुभ या अशुभ फल का जीव द्वारा वेदन किया जाता है। यह कर्मोदय दो प्रकार का है - १) प्रदेशोदय और २) विपाकोदय।

जिन कर्मों का भोग सिर्फ प्रदेशों में होता है, उसे प्रदेशोदय कहते हैं, इसका अपर नाम 'स्तिबुक सक्रमण' भी हो सकता है और जो कर्म शुभ-अशुभ फल देकर नष्ट हो जाते हैं वह विपाकोदय हैं। कर्मों का विपाकोदय ही आत्मा के गुणों को रोकता है और नवीन कर्मबंध में योग देता है। जब कि प्रदेशोदय में नवीन कर्मों के बध करने की क्षमता नही है और न वह आत्मगुणों को आवृत करता है। कर्मों के द्वारा आत्मगुण प्रकट रूप से आवृत्त होने पर भी कुछ अशों में सदा अनावृत ही रहते हैं, जिससे आत्मा के अस्तित्व का बोध होता रहता है। कर्मावरणों के सघन होने पर भी उन आवरणों में ऐसी क्षमता नही है जो आत्मा को अनात्मा, चेतन को जड़ बना दें।

लोक में कार्मण वर्गणायें व्याप्त हैं। इन कर्म परमाणुओं में जीव के साथ बधने से पहले किसी प्रकार का रस-फल-जनन शक्ति नही रहती है। किन्तु जब वे जीव के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं तब ग्रहण के समय में ही जीव के कषाय रूप परिणामों का निमित्त पाकर उनमें अनतगुणा रस पड़ जाता है, जो अपने विपाकोदय में उस उस रूप में अपना-अपना फल देकर जीव के गुणों का घात करते हैं। इसलिए बध को प्राप्त कर्म पुद्गलों में शुभाशुभ फल देने की जो शक्ति होती है, उसे ही रसबध की सज्ञा प्राप्त होती है। जैसे सूखा घास नीरस होता है, लेकिन ऊँटनी, भैंस, गाय और बकरी के पेट में पहुँचकर वह दूध के रूप में परिणत होता है तथा उसके रस में चिकनाई की हीनाधिकता देखी जाती है। सूखे घास को खाकर ऊँटनी खूब गाढ़ा दूध देती है और उसमें चिकनाई भी बहुत अधिक होती है। भैंस के दूध में उससे कम गाढ़ापन व चिकनाई रहती है। गाय के दूध में उससे भी कम गाढ़ापन और चिकनाई है तथा बकरी के दूध में गाय के दूध से भी कम गाढ़ापन व चिकनाई होती है। इस प्रकार जैसे एक प्रकार का घास भिन्न-भिन्न पशुओं के पेट में जाकर भिन्न-भिन्न रस रूप परिणत होता है, उसी प्रकार एक ही प्रकार के कर्म परमाणु भिन्न-भिन्न जीवों के कषाय रूप परिणामों का निमित्त पाकर भिन्न भिन्न रस वाले हो जाते हैं। शुभाशुभ दोनों ही प्रकार की प्रकृतियों का अनुभाग तीव्र भी होता है और मद भी।

अशुभ और शुभ (८२ पाप प्रकृतियाँ, ४२ पुण्य प्रकृ) प्रकृतियों के तीव्र और मद रस की चार-चार अवस्थाए होती हैं - १) तीव्र, २) तीव्रतर, ३) तीव्रतम, ४) अत्यन्त

तीव्र और १) मद, २) मंदतर, ३) मदतम, और अत्यन्त मद। यद्यपि इसके असख्य प्रकार हैं तथापि उन सबका समावेश इन चार स्थानों में हो जाता है। इन चार प्रकारों को क्रमश एकस्थानिक, द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतु स्थानिक कहा जाता है।अर्थात् एक स्थानक से तीव्र या मद, द्विस्थानक से तीव्रतर या मदतर, त्रिस्थानक से तीव्रतम या मदतम और चतु स्थानक से अत्यन्त तीव्र या अत्यन्त मद का ग्रहण करना चाहिये। इस प्रकार इन शुभाशुभ कर्मों के रस का विचार करना विपाकविचय धर्मध्यान है।[७४]

जीवों के एक भव या अनेक भव सबधी पुण्यपाप कर्म के फल का एव उदय, उदीरणा, सक्रमण, बध और मोक्ष का विचार करते हुए द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव के निमित्त से कर्मफल का चिन्तन करना ही विपाकविचय धर्मध्यान है। इस प्रकार प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशानुसार शुभाशुभ कर्मों के विपाक (उदय-फल) का चिन्तवन करना विपाकविचय धर्मध्यान है।[७५]

ज्ञानावरणादि आठ कर्मों की द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव के निमित्त से शुभाशुभ कर्मफलों की जो चर्चा की गई है उसका आशय यही है कि यद्यपि कर्मों के उदय या उदीरणा से जीव के औदयिकादि भाव एव विविध प्रकार के शरीर की प्राप्ति इन कर्मों का उदय और उदीरणा बिना अन्य निमित्त के नही होती, परन्तु द्रव्य, क्षेत्रादि का निमित्त पाकर ही चौदह गुणस्थानवर्ती जीवों में कर्मों का उदय-उदीरणा होती है।[७६]

(४) संस्थानविचय धर्मध्यान :- धर्मध्यान के चौथे प्रकार 'सस्थान विचय' में वीतराग सर्वज्ञ जिनेश्वर कथित सिद्धात के पदार्थों का विचार करना होता है। यहाँ 'सस्थान' यानी 'सस्थिति, अवस्थिति, स्वरूप, पदार्थों का स्वरूप' अर्थ होता है। विचय याने चिन्तन अथवा अभ्यास करना। सर्वज्ञ कथित सिद्धात शास्त्र के पदार्थ ही यथार्थ होने से उनका ही चिन्तन करना होता है। ये पदार्थ इस प्रकार हैं-

निम्न पदार्थों के स्वरूप का एकाग्र चिन्तन करना है। इनमें मुख्यत. ६ द्रव्य, पचास्तिकायमय अष्टविध लोक, क्षेत्रलोक, जीव, ससार, चारित्र और मोक्ष।

(चौथे संस्थान विचय में) सर्वज्ञ जिनेश्वर भगवान द्वारा उपदिष्ट धर्मास्तिकायादि द्रव्यों के लक्षण, आकृति, आधार प्रकार, स्वभाव, प्रमाण और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यादि पर्यायों का चिन्तन करें। जिनोक्त अनादि अनत पंचास्तिकायमय लोक को नाम-स्थापना-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भाव और पर्यायलोक भेद से ८ प्रकार से तथा अधो, मध्य, ऊर्ध्व तीन प्रकार से चिन्तन करें। धम्मा आदि (रत्नप्रमादि) सात भूमियों, घनोदधि, आदिवलयों, जंबुद्वीप आदि असख्य द्वीप समुद्रों, नदियाँ, सरोवरों, नरक, विमान, देवभवन तथा व्यतरनगरों आदि की आकृत्ति, आकाशवायु आदि में प्रतिष्ठित शाश्वत्

लोक व्यवस्था के प्रकार आदि का चिन्तन करें। साकार-निराकार उपयोग स्वरूप अनादि अनन्त तथा शरीर से भिन्न, अरूपी, स्वकर्म का कर्ता भोक्ता आदि रूप जीव का चिन्तन करें। जीव का संसार स्वकर्म से निर्मित, जन्मादि जलवाला, कषायरूपपाताल सहित, सैकड़ों व्यसनरूपी जलचर जीवों वाला, मोहावर्तवाला अति भयानक अज्ञान पर्वत से प्रेरित इष्टानिष्ट सयोग वियोग रूप तरगवाला-अनादि अनत अशुभ ससार का चिन्तन करें। पुनश्च उसे तैरने के लिए समर्थ, सम्यग्दर्शन का शुभ बंधवाला, निष्पाप व ज्ञानमय कप्तान वाले चारित्र जहाज का चिन्तन करें। अर्थात् रत्नत्रय का चिन्तन करें। आस्रवनिरोधात्मक संवर से छिद्ररहित किया हुआ, तप-पवन से प्रेरित, अति शीघ्र वेगवाला, वैराग्यमार्ग पर चढ़ा हुआ, बहुमूल्यवान् शीलांग-रत्नों से भरा हुआ वह जहाज है, उस पर आरूढ़ हुए मुनि-व्यापारी शीघ्र निर्विघ्नता से मोक्ष नगर में कैसे पहुँच जाते हैं, उसका चिन्तन करें। पुनश्च उस निर्वाणनगर में ज्ञानादि तीन रत्नों के विनियोगमय एकातिक, बाधारहित, स्वाभाविक, अनुपम और अक्षय सुख को जिस तरह प्राप्त करते हैं, उसका चिन्तन करें। अधिक विस्तृत न कहते हुए सिर्फ जीवादि पदार्थों का विस्तार से संपन्न और सर्व नय समूहमय सिद्धात अर्थ का चिन्तन करें।[७७]

१) लोक :- 'लोक' शब्द 'लुच्' धातु से बना है, जिसका अर्थ देखना होता है।[७८] अत जितने क्षेत्र में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, ये छहों द्रव्य देखे जाते हैं, उसे लोक कहते हैं।[७९] इसका दूसरा नाम लोकाकाश है। इसके विपरीत जहाँ आकाश के अतिरिक्त अन्य कोई भी द्रव्य दिखाई न दे, जहाँ सिर्फ शुद्ध आकाश ही आकाश है, उसे अलोक अथवा अलोकाकाश कहते हैं। लोक के मस्तक पर तनुवातवलय में कर्म और नोकर्म से रहित तथा सम्यक्त्वादि आठ गुणों से सपन्न सिद्ध भगवान विराजमान हैं।[८०] जैसे विशाल स्थान के मध्य छीका लटका रहता है वैसे ही अलोक के मध्य में लोक है, उसे किसी ने भी बनाया नहीं और न उसे किसी ने (हरि हर आदि) धारण भी किया है। वह अकृत्रिम है, अनादि अनंत है, स्वभाव से निष्पन्न है, जीव-अजीव द्रव्यों से भरा हुआ है। समस्त आकाश का अग है और नित्य है। द्रव्यों की परस्पर में एकक्षेत्रा-वगाहरूप स्थिति को लोक कहते हैं। द्रव्य नित्य है इसलिए लोक को भी नित्य जानें।[८१] जो पर्यायों के द्वारा प्राप्त किये जाते हैं या पर्यायों को प्राप्त करते हैं, उन्हें द्रव्य कहते हैं। परिणमन करना वस्तु का स्वभाव है। अत द्रव्य प्रतिसमय परिणमन करते हैं। उनके परिणमन से लोक का भी परिणमन जानना चाहिये। क्योंकि जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छहों द्रव्यों में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप से प्रतिसमय परिणमन होता रहता है। प्रतिसमय छहों द्रव्यों की पूर्व पूर्व पर्याय नष्ट होती है, उत्तर-उत्तर पर्याय उत्पन्न होती है और द्रव्यता ध्रुव रहती है। इस तरह भूत, भविष्यत् और वर्तमानकाल में

अनन्त पर्यायरूप से परिणमन करना द्रव्य का स्वभाव है। जो इस तरह परिणमनशील नही है, वह सत् भी नहीं हो सकता। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य, द्रव्यरूप से नित्य है, क्योंकि द्रव्य का नाश कभी नही होता। किन्तु प्रतिसमय उसमें परिणमन होता रहता है, जो पर्याय एक समय में होती है वही दूसरे समय में नही होती, जो दूसरे समय में होती है, वह तीसरे समय में नहीं होती। अत पर्याय की अपेक्षा अनित्य है। पर्याय दो प्रकार की होती हैं - १) व्यजनपर्याय और २) अर्थपर्याय। इन दोनों प्रकारों के भी दो दो भेद होते हैं- १) स्वभाव और २) विभाव। जीवद्रव्य की नर, नारक आदि पर्याय विभाव व्यजन पर्याय है और पुद्गलद्रव्य की शद्व, बध, सूक्ष्मता, स्थूलता, आकार, खण्ड, अन्धकार, छाया, धूप, चादनी आदि की पर्याय विभाव व्यजनपर्याय हैं। प्रदेशत्वगुण के विकार को व्यजनपर्याय और अन्य शेष गुणों के विकार को अर्थपर्याय कहते हैं। तथा जो पर्याय पर सबध के निमित्त से होती है, उसे विभाव तथा जो परसबध के निमित्त बिना स्वभाव से ही होती है उसे स्वभाव पर्याय कहते हैं। हम चर्म चक्षुओं से जो कुछ देखते हैं, वह सब विभावव्यजन पर्याय है। इस प्रकार छहों द्रव्य नित्य होने पर भी जीव, पुद्गल आदि द्रव्य अनेक स्वभाव तथा विभावपर्यायरूप से प्रतिसमय परिणमन करते रहते हैं। परिणमन करना उनका स्वभाव है।[८२] स्वभाव के बिना कोई वस्तु स्थिर नही रह सकती। उन्ही परिणामी द्रव्यों के समुदाय को लोक कहते हैं।

२) **द्रव्यों के लक्षण :-** जगत में छह द्रव्य कैसे -कैसे एक दूसरे से बिल्कुल स्वतत्र लक्षण वाले हैं, इससे कभी भी यह एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप नही हो सकता। धर्मास्तिकाय द्रव्य का लक्षण 'जीव और पुद्गल को गति में सहायक' होना है, इसलिए ये दो द्रव्य लोकाकाश के अन्त तक जा सकते हैं, आगे अलोक में नही। क्योंकि धर्मास्तिकाय लोकाकाश व्यापी है। मछली गमन तो अपनी शक्ती से ही करती है किन्तु उसमें पानी सहायक होने से पानी के किनारे तक ही जा सकती है, आगे नही। धर्मास्तिकाय की सहायता से जीव तथा पुद्गल के लिये ऐसी ही गति है। इसी तरह अधर्मास्तिकाय का लक्षण 'इन दो द्रव्यों की स्थिति में सहायक' होना है। अशक्त वृद्ध पुरुष को चलते हुए बीच में खड़े रहने के लिए लकड़ी सहायक होती है, इसी तरह जीव व पुद्गल को स्थिति (स्थिरता) करने में यह अधर्मास्तिकाय सहायक है। आकाश का लक्षण अवगाहना (समावेश) है। वह शेष सभी द्रव्यों को अपने में अवकाशदान करता है। पुद्गल का लक्षण पूर्ति करना व गलना है। यही एक द्रव्य ही ऐसा है कि जिसके अदर अपने सजातीय द्रव्य मिलते हैं और अलग भी हो जाते हैं। अन्य सब द्रव्य जीवसहित, अखण्ड रहते हैं। उनमें न कुछ बढ़ता है और न कुछ घटता ही है। मेरू जैसे में भी पुद्गलों का सड़ना, गलना व विध्वस होना और पूर्ति होना चालू ही है। जीव का लक्षण चैतन्य है, ज्ञानादि का

उपयोग है। वह इसी में होता है, अन्य में नहीं। इसीलिए यही एक चेतन द्रव्य है, अन्य सब जड़ द्रव्य है। काल का लक्षण वर्तना है। वह वस्तु में नया पुराना भावी अतीत आदि रूपों का परिवर्तन करता है । इस तरह लक्षणों के[८३] विचार से स्पष्ट होता है कि छहों द्रव्यों में से एक-एक द्रव्य का लक्षण कार्य स्वय ही कर सकता है, दूसरा द्रव्य नही। छ द्रव्य अपने आपमें भिन्न-भिन्न हैं और एक दूसरे से स्वतत्र हैं।

३) लोक स्थिति का आधार :- सर्वज्ञ भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित लोक स्थिति आठ प्रकार की है -

१) वात-तनुवात आकाश प्रतिष्ठित है, २) उदधि-घनोदधिवात प्रतिष्ठित है, ३) पृथ्वी-उदधि प्रतिष्ठित है, ४) त्रस और स्थावर प्राणी पृथ्वी प्रतिस्थित है, ५) अजीव जीव प्रतिष्ठित है, ६) जीव कर्म प्रतिष्ठित है, ७) अजीव जीव से सगृहीत है, ८) जीव कर्म से गृहीत है। ठाणांग सूत्र में दस प्रकार की लोक स्थिति का वर्णन है।[८४]

त्रस, स्थावर आदि प्राणियों का आधार पृथ्वी है, पृथ्वी का आधार उदधि है, उदधि का आधार वायु है और वायु का आधार आकाश है। यानी जीव, अजीव आदि सभी पदार्थ पृथ्वी पर रहते हैं और पृथ्वी वायु के आधार पर तथा वायु आकाश के आधार पर टिकी हुई है, जैसे मशक में पवन के आधार पर पानी ऊपर रहता है।[८५]

पृथ्वी को वाताधारित कहने का स्पष्टीकरण यह है कि पृथ्वी की नीव घनोदधि पर आधारित है। घनोदधि जलजातीय है और जमे हुए घी के समान इसका रूप है। इसकी मोटाई नीचे मध्य में बीस हजार योजन की है।घनोदधि के नीचे घनवायु का आवरण है, यानी घनोदधि घनवात से आवृत है और इसका रूप कुछ पतले पिघले हुए घी के समान है। लम्बाई-चौड़ाई और परिधि असख्यात योजन की है। यह घनवात भी तनुवात से आवृत है। इसकी लम्बाई-चौड़ाई परिधि तथा मध्य की मोटाई असख्यात योजन की है। इसका रूप तपे हुए घी के समान समझना चाहिये।[८६]

तनुवात के नीचे असख्यात योजन प्रमाण आकाश है। इन घनोदधि, घनवात और तनुवात को उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है कि एक दूसरे के अन्दर रखे हुए लकड़ी के पात्र हो, उसी प्रकार ये तीनों वातवलय भी एक दूसरे में अवस्थित हैं। यानी घनोदधि छोटे पात्र जैसा, घनवात मध्यम पात्र जैसा और तनुवात बड़े पात्र-जैसा है और उसके बाद आकाश है।

४) १४ राजू लोक का आकार एवं क्षेत्रफल ३४३ - घनाकार :- शास्त्र में लोक का आकार 'सुप्रतिष्ठित सस्थान' वाला कहा है। सुप्रतिष्ठित संस्थान के आकार का रूप इस प्रकार होता है -

जमीन पर एक सकोरा उलटा, उस पर दूसरा सकोरा सीधा और उस पर तीसरा सकोरा उलटा रखने से जो आकार बनता है, वह सुप्रतिष्ठित सस्थान कहलाता है और यही आकार लोक का है।[८७]

अनेक आचार्यों ने[८८] लोक का आकार विभिन्न रूपकों द्वारा भी समझाया है। जैसे कि लोक आकार कटिप्रदेश पर हाथ रखकर तथा पैरों को पसारकर नृत्य करने वाले पुरुष के समान है। इसलिए लोक को पुरुषाकार की उपमा दी है। कही-कही वेत्रासन पर रखे हुए मृदंग के समान लोक का आकार बतलाया है, इसी प्रकार की और दूसरी वस्तुयें जो जमीन में चौड़ी, मध्य में सकरी तथा ऊपर में चौड़ी और फिर सकरी हो और एक दूसरे पर रखा जाने पर जैसा आकार बने, वह लोक का आकार है।

लोक के अध , मध्य और उर्ध्व यह तीन विभाग हैं और इन विभागों के होने का मध्यबिन्दु मेरू पर्वत ये मूल में है। चौदह राजू ऊँचाई प्रमाण इस लोक के विभाजन का कारण मेरू पर्वत की अवस्थिति है। 'मेरू' शद्व का अर्थ है -[८९] 'माप करने वाला'। जो तीनों लोक का माप करता है उसे मेरू कहते हैं। इस मध्य लोक के बीचोबीच जम्बूद्वीप के मध्य में एक लाख योजन ऊंचा मेरू पर्वत स्थित है, जिसका पाया जमीन में एक हजार योजन और ऊपर जमीन पर ९९००० योजन है। उसके ऊपर ४० योजन की चूलिका है। जमीन के समतल भाग पर इसकी लम्बाई-चौड़ाई चारों दिशाओं में दस हजार योजन की है। मेरू पर्वत के पाये के एक हजार में से नौ सौ योजन के नीचे जाने पर अधोलोक प्रारभ होता है और अधोलोक के ऊपर १८०० योजन तक मध्यलोक है। अर्थात् नौ सौ योजन नीचे और नौ सौ योजन ऊपर, कुल मिलाकर १८०० योजन मध्यलोक की सीमा है और मध्यलोक के बाद ऊपर का सभी क्षेत्र ऊर्ध्वलोक कहलाता है। इन तीनों लोकों में अधोलोक और उर्ध्वलोक की ऊँचाई-चौड़ाई से ज्यादा और मध्यलोक में ऊँचाई की अपेक्षा लम्बाई-चौड़ाई अधिक है, क्योंकि मध्यलोक की ऊँचाई तो सिर्फ १८०० योजन प्रमाण है और लम्बाई-चौड़ाई एक राजू प्रमाण है। इसके बीच में ही मेरूपर्वत है यानी मेरू प्रमाण मध्यलोक है।

अधोलोक और ऊर्ध्वलोक की लम्बाई-चौड़ाई भी एक सी नही है। अधोलोक की लबाई-चौड़ाई सातवें नरक में सात राजू से कुछ कम है और पहला नरक एक राजू लबा-चौड़ा है, जो मध्यलोक की लबाई-चौड़ाई के बराबर है। ऊर्ध्वलोक की लबाई-चौड़ाई पाँचवें देवलोक में पाँच राजू और उसके बाद एक-एक प्रदेश की कमी करने पर लोक के चरम ऊपरी भाग पर एक राजू लबाई-चौड़ाई रहती है। यानी ऊर्ध्वलोक का अन्तिम भाग मध्यलोक के बराबर लंबा-चौड़ा है।

लोक की उक्त लंबाई-चौड़ाई आदि का साराश यह है कि नीचे जहाँ सातवा नरक है, वहाँ सात राजू चौड़ा है और वहाँ से घटता-घटता सात राजू ऊपर आने पर जहाँ पहला नरक है, वहाँ एक राजू चौड़ाई है। उसके बाद क्रमश बढ़ते बढ़ते पाँचवे देवलोक के पास चौड़ाई पाँच राजू और उसके बाद क्रमशः घटते-घटते अतिम भाग में एक राजू चौड़ाई है। सपूर्ण लोक की[१०] लंबाई-चौड़ाई चौदह राजू और अधिकतम चौड़ाई सात राजू तथा जघन्य चौड़ाई एक राजू है।

यह लोक त्रस और स्थावर जीवों से खचाखच भरा हुआ है। त्रस जीव तो त्रसनाड़ी में ही रहते हैं, लेकिन स्थावर जीव त्रस और स्थावर दोनों ही नाड़ियों में रहते हैं।[११] लोक के ऊपर से नीचे तक चौदह राजू लबे और एक राजू चौड़े ठीक बीज के आकाश प्रदेशों को त्रसनाडी कहते हैं और शेष लोक स्थावर नाड़ी कहलाता है। त्रिलोकप्रज्ञप्ति और त्रिलोकसार में त्रसनाली की उपमा वृक्ष के सार (छाल वगैरह) के मध्य में रहनेवाली लकड़ी से दे दी है।[१२] उद्खल (कोशार्थ-ओखली, जूगुलवृक्ष) के बीच में छेद करके उसमें रखी हुई बास की नली के समान लोक के मध्य में चौकोर त्रसनाड़ी है। त्रिलोकप्रज्ञप्ति[१३] में इसका विशेष कथन किया गया है - 'वृक्ष में उसके सार की तरह, लोक के ठीक मध्य में एक राजू लम्बी, एक राजू चौड़ी और कुछ कम तेरह राजू ऊँची त्रसनाली है।'

लोक की ऊँचाई चौदह राजू है। उतनी ही ऊँचाई त्रसनाली की होनी चाहिये। किन्तु उसमें से सातवें नरक के नीचे एक राजू में निगोदिया जीव रहते हैं। अत एक राजू कम होने से १३ राजू रहते हैं। उनमें भी सातवी पृथ्वी के मध्य में ही नारकी रहते हैं, नीचे के ३९९९$^{१}/_{३}$ योजन प्रमाण पृथ्वी में कोई त्रस नही रहता है। तथा ऊर्ध्वलोक में सर्वार्थसिद्धि विमान तक ही त्रस जीव रहते हैं। सर्वार्थसिद्धि से ऊपर के क्षेत्र में कोई त्रस जीव नही रहता है। अत सर्वार्थसिद्धि से लेकर आठवी पृथ्वीतल का अन्तराल १२ योजन, आठवी पृथ्वी की मोटाई ८ योजन और आठवी पृथ्वी के ऊपर ७५७५ धनुष प्रमाण क्षेत्र त्रस जीवों से शून्य है। अत· नीचे और ऊपर के उक्त धनुषों से कम १३ राजू प्रमाण त्रसनाड़ी में ही त्रसजीव जानने चाहिये।[१४] परतु कही कारणों से त्रसजीव त्रसनाड़ी के बाहर भी पाये जाते हैं।[१५]

इस चौदह राजू ऊचे तथा अधिकतम सात राजू और न्यूनतम एक राजू लबे-चौड़े लोक की घनाकार कल्पना की जाय तो सात राजू ऊंचाई, सात राजू लंबाई तथा सात राजू चौड़ाई होगी। क्योंकि लोक के एक-एक राजू प्रमाण टुकड़े किये जायँ तो ३४३ होते हैं। उनमें से अधोलोक के १९६ और ऊर्ध्वलोक के १४७ घनराजू हैं और इनका घनमूल ७ होता है। अत घनीकृत लोक का प्रमाण सात राजू है और घनराजू ३४३ होते हैं।

(५) विघानप्रकार : इसमें छ द्रव्यों के अवातर भेदों का चिन्तन किया जाता है। सर्वज्ञ भगवान महावीर ने दो प्रकार की राशि का वर्णन किया है।[१६] जीव राशि और अजीव राशि। उनमें जीवराशि के आगमानुसार ५६३ भेद और अजीवराशि के ५६० हैं।

जीव के सक्षेप में चौदह भेद और विस्तार से ५६३ हैं। जिनका कथन निम्नलिखित है-

इस लोक में सूक्ष्म एकेन्द्रिय, वादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असज्ञी पचेन्द्रिय और सज्ञी पचेन्द्रिय ये सातों अपर्याप्त और पर्याप्त के भेद से दो-दो प्रकार के होने से जीव (भूत स्थान, जीवस्थान) के चौदह भेद हैं।[१७] ये चौदह भेद ससारी जीवों के हैं। जीवत्व-चैतन्यरूप सामान्य धर्म की समानता होने के कारण अनन्त जीव समान एक जैसे हैं। सभी के गुण, धर्म समान होने से उनमें किसी प्रकार का भेद नही है। कर्मवद्ध ससारी जीवों में ही पाँच जातियों के रूप में विभिन्न भेद किये गये हैं। ससारी जीवों की पाँच जातियाँ हैं।[१८] १ एकेन्द्रिय, २ द्वीन्द्रिय, ३ त्रीन्द्रिय, ४ चतुरिन्द्रिय, ५ पचेन्द्रिय। जाति का अर्थ सामान्य-जिस शब्द के बोलने या सुनने से सभी समान गुण - धर्म वाले पदार्थों का ग्रहण हो जाये। एकेन्द्रिय वाले जीव स्थावर तथा द्वीन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय पर्यन्त के जीव त्रस कहलाते हैं।

जीव के ५६३ भेद : एकेन्द्रिय जीवों के पाच प्रकार हैं तथा उन पाच के २२ भेद हैं-[१९]

१ पृथ्वीकाय पृथ्वी ही काया है जिनकी ऐसे जीव यथा नाना प्रकार के रत्नों, विभिन्न धातुएँ, मिट्टी, पाषाण, नमक, खार, फिटकड़ी, हिंगलोक, पखाला, हड़ताल, पारा, मणसिल, सुरमा, कक्कड़ आदि विभिन्न प्रकार हैं। सूक्ष्म और बादर के भेद से दो प्रकार के हैं। ये दोनों पर्याप्ता और अपर्याप्ता नाम से दो-दो प्रकार के हैं। कुल पृथ्वीकाय के चार भेद हैं।

२ अप्काय जल ही है काया जिनकी ऐसे जीव -जैसे, नदी, कुआ, सरोवर, समुद्र आदि का जल, घनोदधि, पाचों रग का पानी। इसके सूक्ष्म और बादर दो भेद हैं। इन दोनों भेदों के पर्याप्ता और अपर्याप्ता ऐसे कुल चार भेद हैं।

३ तेजस्काय · (अग्नि) अग्नि ही है काया जिसकी ऐसे जीव, जैसे अगारे, ज्वाला, तृणाग्नि, काष्ठाग्नि, उल्कापाताग्नि, दीपक, बिजली आदि की अग्नि। इसके दो भेद हैं। सूक्ष्म और बादर। इन दोनों के पर्याप्ता और अपर्याप्ता ऐसे दो भेद हैं। कुल चार भेद हैं।

४. वायुकाय पवन ही है काया जिसकी ऐसे जीव - यथा उद्भ्रामक वायु,

उत्कलिक वायु, मंडलिक्वायु, ओस का जल, महावायु, शुद्धवायु, गुंजवायु, घनवात, तनवात, आदि । इसके दो भेद हैं - सूक्ष्म और बादर। इन दोनों के पर्याप्ता और अपर्याप्ता ऐसे दो-दो भेद हैं। कुल चार भेद हैं।

५. वनस्पतिकाय : इसके दो प्रकार हैं - १. साधारण वनस्पतिकाय (एक शरीर में अनन्त) और २. प्रत्येक वनस्पतिकाय (एक शरीर में एक जीव) इन दोनों भेदों का विशेष वर्णन पीछे कर चुके हैं। साधारण वनस्पतिकाय सूक्ष्म और बादर के भेद से दो प्रकार की है और प्रत्येक वनस्पतिकाय बादर ही हैं। इन तीनों के पर्याप्ता और अपर्याप्ता भेद से ६ भेद होते हैं।

इस प्रकार पांच स्थावर के कुल ४+४+४+४+६=२२ भेद हुये। इन्हें सिर्फ एक स्पर्शेन्द्रिय ही होती है। इन्द्रियाँ पाच हैं।

३ विकलेन्द्रिय के ६ भेद -[१०१] द्वीन्द्रिय जीवों के (त्वचा, शरीर) और रसन (जीभ) ये दो इन्द्रियाँ होती हैं। जैसे, शंख, सीप, कृमि, लट, अलसिया, काष्ठ के घुण, पोरा आदि अनेक द्वीन्द्रिय जीव हैं। इनके पर्याप्ता और अपर्याप्ता ऐसे दो भेद हैं। त्रीन्द्रिय जीवों के स्पर्शन, रसन, और घ्राण (नाक) ये तीन इन्द्रियाँ होती हैं। यथा, जूं, खटमल, चीटी, वृश्चिक, कानखजूरा, उदइ, इयल (इयल), धीमेल, गीगोंडा, विष्ठा के कीड़े, कीड़ा, इन्द्रगोप आदि अनेक प्रकार के त्रीन्द्रिय जीव हैं। इसके पर्याप्ता अपर्याप्ता ऐसे दो भेद हैं। चतुरिन्द्रिय जीवों के पूर्वोक्त तीन और नेत्र यह चार इन्द्रियाँ होती है। जैसे, भ्रमर, मक्खी, डास, मच्छर, मधुमक्खी, भँवरा, पतंग, बिच्छू, तीड, कसारी, करोळीया, खडमाकडी, आदि की गणना चतुरिन्द्रिय जीवों में होती है। इसके पर्याप्ता-अपर्याप्ता दो भेद हैं। इस प्रकार २+२+२=६ भेद विकलेन्द्रिय जीवों के हैं।

पचेन्द्रिय जीवों के ५३५ भेद - स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र (कान) यह पाचों इन्द्रियाँ जिन जीवों को होती हैं, उन्हें पचेन्द्रिय कहते हैं। जैसे, नारक, गाय, बैल, मनुष्य, देव=१४ नारक,, २० तिर्यंच, ३०३ मनुष्य और १९८ देव।

नारकी के १४ भेद : जिसे नरक गति नाम कर्म का उदय हो, उसे नारकी कहते हैं। इसके सात भेद हैं। १ रत्नप्रभा, २. शर्कराप्रभा, ३. बालुकाप्रभा, ४ पकप्रभा, ५ धूमप्रभा, ६ तमप्रभा, और ७. तम तमप्रभा। इन सात के पर्याप्ता और अपर्याप्ता ऐसे १४ भेद हैं। नारक का जघन्य आयुष्य दस हजार वर्ष का और उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम का है।[१०२]

तिर्यंच के २० भेद : तिर्यंच नामकर्म का उदय जिन प्राणियों के हो, उन्हें तिर्यंच कहते हैं। तिर्यंच गति के जीवों में स्पर्शन आदि श्रोत्रपर्यन्त पाचो इन्द्रियाँ होती हैं। किन्तु

तिर्यंच जीवों में से किन्ही को एक, दो, तीन, चार, या पाच इन्द्रियाँ होती हैं। इन एक से लेकर पांच इन्द्रिय तक के जीवों में से द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय वाले जीव तो अपने हिताहित की प्रवृत्ति -निवृत्ति के निमित्त हलन-चलन करने में समर्थ हैं, लेकिन एकेन्द्रिय वाले असमर्थ हैं। एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक के जीवों में मन नहीं होने से असंज्ञी तथा पंचेन्द्रिय वाले तिर्यंच जीवों में भी कोई मन सहित और मनरहित होता है, अत पचेन्द्रिय तिर्यंचों के सज्ञी और असज्ञी की अपेक्षा दो प्रकार हो जाते हैं।

संज्ञा शब्द के तीन अर्थ है - १. नामनिक्षेप, २. आहार, भय, मैथुन, परिग्रह की इच्छा और ३ धारणात्मक या ऊहापोह रूप विचारात्मक ज्ञान विशेष। जीवों के सज्ञित्व और असज्ञित्व के विचार करने के प्रसंग में सज्ञा का आशय नामनिक्षेपात्मक न लेकर मानसिक क्रिया विशेष लिया जाता है। नोइन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम या तज्जन्य ज्ञान को सज्ञा कहते हैं। नोइन्द्रियावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर जीव मन के अवलम्बन से शिक्षा, क्रिया, उपदेश और आलाप को ग्रहण करता है।

तिर्यंचगति के जीवों की सख्या आगमानुसार ४८ है। ५ स्थावर और तीन विकलेन्द्रिय के भेद ऊपर कह दिये हैं। तिर्यंचपचेन्द्रिय के २० भेदों का वर्णन कर रहे हैं।[१०३] तिर्यंच पचेन्द्रिय दो प्रकार के हैं - १ सम्मूच्छिम और २ गर्भजतिर्यंचपंचेन्द्रिय। इन दोनों प्रकार के जीवों के तीन-तीन भेद हैं - १. जलचर (मस्त्य, मगरमस्त्य, वगैरह) २ स्थलचर - १) चतुष्पद (गाय भैंस बैल हाथी घोड़ा) और २) परिसर्प- i) उरपरिसर्प (सर्प, अजगर आदि) और ii) भुजपरिसर्प (बदर, नोलिया, खिसकोली, गिरोली आदि) और ३. नभचर। अर्थात् जलचर, स्थलचर, खेचर, उरपरिसर्प और भुजपरिसर्प इन पाच भेद के सज्ञी असज्ञी से दस भेद होते हैं। इन दस के पर्याप्त अपर्याप्त भेद से तिर्यंचपचेन्द्रिय के २० भेद होते हैं। तिर्यंच के ४८ भेद इस प्रकार हैं -
२२+६+२०=४८ (ए.) (वि.) (प.)

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा में तिर्यंचों के ८५ भेदों का वर्णन है-[१०४] मुख्यत तिर्यंच जीवों के तीन भेद हैं - जलचर, थलचर, और नभचर। ये तीनों ही सज्ञी-असज्ञी के भेद से ६ प्रकार के हैं। ये छ भेद कर्मभूमि के गर्भज तिर्यंच के हैं। भोगभूमि के तिर्यंच गर्भज जन्मवाले ही होते हैं तथा थलचर और नभचर ही होते हैं, जलचर नही। इस प्रकार आठों ही कर्मभूमियाँ और भोग भूमियाँ गर्भज तिर्यंच पर्याप्त और निवृत्यपर्याप्त होते हैं। अत गर्भज तिर्यंचों के सोलह भेद होते हैं। तथा सम्मूर्च्छिम तिर्यंचों के तेईस भेद होते हैं - सूक्ष्म पृथ्वीकायिक, बादर पृथ्वीकायिक, सूक्ष्म जलकायिक, बादर जलकायिक, सूक्ष्म तेजस्कायिक, बादर तेजस्कायिक, सूक्ष्म वायुकायिक, बादर वायुकायिक, सूक्ष्म नित्यनिगोद साधारण वनस्पतिकायिक, बादर नित्यनिगोद साधारण वनस्पति कायिक, सूक्ष्म चतुर्गति निगोद साधारण वनस्पतिकायिक, बादर चतुर्गति निगोद साधारण वनस्पतिकायिक, तथा प्रत्येक सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक और अप्रतिष्ठित

प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव बादर ही होते हैं। इस प्रकार एकेन्द्रिय के चौदह भेद हुए। तीन विकलेन्द्रिय के तीन भेद और कर्म भूमियाँ जलचर, थलचर और नभचर ये तीनों तिर्यंच पंचेन्द्रिय संज्ञी असंज्ञी के भेद से छह प्रकार के हैं। १४+३+६=२३ भेद सम्मूर्च्छिम तिर्यंचों के होते हैं। ये २३ प्रकार के सम्मूर्च्छिम तिर्यंच भी तीन प्रकार के होते हैं - पर्याप्त, निवृत्यपर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्त। २३ को तीन से गुणा करने पर सब सम्मूर्च्छिम तिर्यंच के ६९ भेद होते हैं। इनमें गर्भज तिर्यंचों के १६ भेद मिलाने से सब तिर्यंचों के ६९+१६=८५ भेद होते हैं।

मनुष्य के ३०३ भेद : मनुष्य दो प्रकार के हैं[१०५] १. सम्मूर्च्छिम और २ गर्भज। उनमें गर्भज मनुष्य के तीन प्रकार हैं -[१०६] १. कर्मभूमि, २. अकर्मभूमि और ३ अन्तर्द्वीप।

१५ कर्मभूमि : जिस भूमि के मनुष्य असि (शस्त्रों), मसि (स्याई), कसि (कृषिखेत) से जीवन व्यवहार चलाते हैं, विशेषत. उस भूमि के जीव मोक्ष मार्ग का रहस्य समझकर सयमादि दस धर्मों में प्रवृत्ति करते हैं। उसे कर्म भूमि कहते हैं। तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, वासुदेव, बलदेव, आदि ६३ शलाका महापुरुषों की जन्मभूमि एवं साधक आत्माओं को मोक्ष भी इसी भूमि से प्राप्त होता है। १५ कर्मभूमियाँ हैं - [१०७] जम्बूद्वीप में १ भरत, १ ऐरावत और १ महाविदेह, धातकीखण्ड द्वीप में भरत, ऐरावत, महाविदेह, दुगुने हैं और अर्धपुष्करवरद्वीप में भरतादि दुगुने हैं = इस प्रकार ढाई द्वीप के कुल ३+६+६=१५ कर्मभूमि हैं। इन्ही ढाई द्वीप में मनुष्य पैदा होते हैं। इसलिये इसे मनुष्य क्षेत्र भी कहते हैं।

३० अकर्म भूमि : (क) जिस भूमि के मनुष्य असि, मसि, कसि आदि कर्मों की प्रवृत्ति न करके सिर्फ दस कल्पवृक्षों से अपना निर्वाह चलाते हैं, उन्हें अकर्मभूमि (भोगभूमि) कहते हैं। अकर्मभूमि तीस हैं - जम्बूद्वीप में १ देवकुरु, १ उत्तरकुरु, १ हरिवास, १ रम्यकवास, १ हेमवय और १ हिरण्यवय ऐसी छह भूमियाँ हैं। इससे दुगुने धातकी खड द्वीप में और उतने ही अर्धपुष्करवरद्वीप में है। कुल ढाई द्वीप में ६+१२+१२=३० अकर्मभूमि है।

(ख) ५६ अंतर्द्वीप और (ग) १९८ देवता के भेद।

(ख) अन्तर्द्वीप के ५६ भेद इस प्रकार हैं -

जंवूद्वीप में भरतक्षेत्र की मर्यादा करनेवाला चूल हेमवत पर्वत और ऐरवत क्षेत्र की मर्यादा करनेवाला शिखरी पर्वत, इन दोनों पवर्तो में से ४-४ दाढाएँ (शाखाएँ) पूर्व पश्चिम के लवण समुद्र में गईं। एक एक दाढा पर ७-७ अन्तर्द्वीप हैं। इस प्रकार ७ अन्तर्द्वीप × ८ शाखा = ५६ अन्तर्द्वीप हैं।

अत १५+३०+५६=१०१ सज्ञी मनुष्य। इनके पर्याप्त और अपर्याप्त याने २०२ भेद हुए।

सम्मूर्च्छिम मनुष्य गर्भज मनुष्य के १०१ क्षेत्र में निम्न १४ स्थानों में उत्पन्न होते हैं-

१) उच्चार-विष्ठा में, २ पासवण-मूत्र में, ३) खेल-खेंकार में, ४) सघाण-श्लेष्म, नाक के मेल में, ५) वत-वमन (उल्टी) में, ६) पित्त, ७) पुश्य-रस्सी, पीप में, ८) सोणिय-रुधिर (रक्त) में, ९) सुक्क-वीर्य में, १०) सुक्क पोग्गल परिसाहित्य-वीर्य के सूखे पुद्गल पुन गीले हों उसमें, ११) विगयजीव कलेवर-मनुष्य के मृतक शरीर में, १२) इत्थीपुरिस सजोग-स्त्री-पुरुष के सयोग में, १३) नगर णिद्ध मणिया-नगर के गटर आदि में, १४) सव्व असुइ ठाणाइ-सभी मनुष्य सबधी अशुचि स्थानों में।

इस प्रकार १५+३०+५६= १०१ × २ (पर्याप्त, अपर्याप्त) = २०२ सम्मूर्च्छिम मनुष्य के अपर्याप्त १०१ कुल ३०३ भेद मनुष्य के हुए।

(ग) देवता के १९८ भेद - देवता के मुख्यत चार भेद हैं - १ भवन पति, २ वाणव्यतर, ३ ज्योतिषि, ४ वैज्ञानिक

१) भवन पति के पचीस भेद- (अ) १० अपुरकुमार और (आ) १५ परमाधामी

अ) १० असुरकुमार- १) असुरकुमर, २) नामकुमार, ३) सुवर्णकुमार, ४) विद्युतकुमार, ५) अग्निकुमार, ६) द्वीपकुमार, ७) दधिकुमार, ८) दिशाकुमार, ९) पवनकुमार, १०) स्तनितकुमार

आ) १५ परमाधामी- १) आम्र (अम्ब), २) अबरीष, ३) श्याम, ४) सबल, ५) रौद्र, ६) महारुद्र, ७) काल, ८) महाकाल, ९) असिपत्र, १०) धनुष, ११) कुभ, १२) बालुका, १३) वैतरणी, १४) खरस्वर, १५) महाघोष

२) वाणव्यतर के २६ भेद - अ) १६ व्यतर, आ) १० त्रिजृम्भक

अ) १६ व्यतर- १) पिशाच, २) भूत, ३) यक्ष, ४) राक्षस, ५) किन्नर, ६) किंपुरुष, ७) महोरग, ८) गधर्व, ९) आणपन्ने, १०) पाणपन्ने, ११) इसिवाई, १२) भूयवाई, १३) कदिय, १४) महाकदिय, १५) कोहड, १६) पयगदेव

आ) १० त्रिजृम्भक - १) अन्नजृम्भक, २) पानजृम्भक, ३) लयनजृम्भक, ४) शयनजृम्भक, ५) वस्त्रजृम्भक, ६) फलजृम्भक, ७) पुष्पजृम्भक, ८) फल-पुष्पजृम्भक, ९) विद्याजृम्भक, १०) अग्निजृम्भक

३) ज्योतिषि के १० भेद - १) चन्द्र, २) सूर्य, ३) ग्रह, ४) नक्षत्र, ५) तारा ये ५ चर और ये ५ अचर - कुल दस भेद हुए।

४) वैमानिक के ३८ भेद - अ) ३ किल्बिषी, आ) १२ देवलोक, इ) ९ लोकान्तिक, ई) ९ ग्रैवेयक, उ) ५ अनुत्तर विमान।

अ) किल्बिषी ३ - १) तीन पालिया (त्रिपल्योपमिक), २) तीन सागरिया (त्रैसागरिक), ३) तेरा सागरिया (त्रयोदश सागरिक)

आ) देवलोक १२ - १) सौधर्म, २) ईशान, ३) सनत्कुमार, ४) माहेन्द्र, ५) ब्रह्मलोक, ६) मातक, ७) शुक्र, ८) सहस्रार, ९) आनत, १०) प्राणत, ११) आरण, १२) अच्युत

इ) लोकान्तिक ९ - १) सारस्वत, २) आदित्य, ३) वह्नि, ४) वरुण, ५) गर्दतोयक, ६) तुषित, ७) अव्याबाध, ८) आग्नेय, ९) अरिष्ट

ई) ग्रैवेयक ९ - १) भद्र, २) सुभद्र, ३) सुजय, ४) सुमानस, ५) सुदर्शन, ६) प्रियदर्शन, ७) अमोघ, ८) सुप्रतिबद्ध, ९) यशोधर

उ) अनुत्तर विमान ५ - १) विजय, २) विजयंत, ३) जयत, ४) अपराजित, ५) सर्वार्थसिद्ध

इस प्रकार २५+२६+१०+३८ = ९९ देवता के भेद हुए। इनके पर्याप्त और अपर्याप्त याने ९९ × २ = १९८ भेद हुए।

अन्तत. १४ नारकी + ४८ तिर्यंच + ३०३ मनुष्य + १९८ देवता = कुल ५६३ जीव के भेद हुए।

अजीव राशि के ५६० भेद -

१) अजीव अरूपी के ३० भेद तथा २) अजीवरूपी के ५३० भेद हैं।

१) अजीव अरूपी के ३० भेद -

अ) धर्मास्तिकाय के ३, आ) अधर्मास्तिकाय के ३, इ) आकाशास्तिकाय के ३, ई) कालद्रव्य १

अ) धर्मास्तिकाय के ३ भेद - १) स्कन्ध (संपूर्ण वस्तु), २) देश (दो, तीन आदि भाग), ३ प्रदेश (जिसका दूसरा भाग न हो सके)

आ) अधर्मास्तिकाय के ३ भेद - १ स्कन्ध, २) देश, ३) प्रदेश

इ) आकाशास्तिकाय के ३ भेद - १) स्कन्ध, २) देश, ३) प्रदेश

३+३+३+१= १० भेद

अन्य प्रकार से इन चारों के - १) द्रव्य, २) क्षेत्र, ३) काल, ४) भाव और ५) गुण

इस प्रकार ४ × ५ = २० भेद होते हैं।

इस प्रकार अरूपी के १०+२०=३० भेद हुए।

२) अजीव रूपी के ५३० भेद -

अ) सठाण ५ - १) परिमडल, २) पट्ट, ३) तंस, ४) चउरंस, ५) आयत। एक एक के २० भेद - २० × ५ = १००

आ) वर्ण ५ - १) काला, २) नील, ३) लाल, ४) पीत, ५) श्वेत। एक एक के २० भेद - २० × ५ = १००

इ) रस ५ - १) तीखा, २) कडुआ, ३) कषायला, ४) खट्टा, ५) मीठा। एक एक के २० भेद - २० × ५ = १००

ई) गध २ - १) सुगन्ध, २) दुर्गन्ध। एक एक के २३ भेद - २×२३=४६

उ) स्पर्श ८ - १) खुरदरा, २) सुशला, ३) भारी, ४) हलका, ५) शीत, ६) उष्ण, ७) चिकना, ८) लूखा। एक एक के २३ भेद - ८×२३=१८४

इस प्रकार १०० + १०० + १०० + ४६ + १८४ = ५३० भेद रूपी अजीव के हुए।

धर्मध्यान के चार लक्षण : आगम ग्रन्थों में धर्मध्यान के चार लक्षण कहे हैं।[१०९] १ आज्ञारुचि = जिनकथित जीवादिपदार्थों के अर्थ जानने की रुचि रखना। २ निसर्गरुचि = स्वाभाविक क्षयोपशम से तत्त्व में रुचि जागना। ३. सूत्ररुचि = जिनोक्त द्रव्यादि पदार्थों को जानने की रुचि जागना। ४ अवगाढरुचि = जिनागमानुसार देशना श्रवण करने से उत्पन्न होने वाली रुचि। इनके अतिरिक्त अन्य भी लक्षण मिलते हैं[११०] देव, गुरु, धर्म की स्तुति करना, गुणियों के गुणों का कथन करना, विनय, नम्रता, तप, जप, सयमादि, गुणों से विभूषित, सुपात्रदान की भावना जागना, ये सभी धर्मध्यान के लक्षण हैं। इन सबके मूल में श्रद्धा है। श्रद्धा ही धर्मध्यान का मूल है।

धर्मध्यान के चार आलंबन : आगम में चार प्रकार के आलबन बताये गए हैं-[१११]

१. वाचना - गणधर रचित सूत्रों की योग्य शिष्य को वाचना देना, सूत्र दान देना या पढ़ाना। इसके आलम्बन से एकाग्रता बढ़ती है।

२. पृच्छना - सूत्र पाठ में कही शका हो तो गुरु समीप जाकर विनयपूर्वक प्रश्न पूछना।

३. परियट्टना (परिवर्तन) - पढ़े हुये सूत्रार्थ ज्ञान में भूल न हो, इस लिये पुन पुन परावर्तन (पुनरावृत्ति) करना, जिससे एकाग्रता में वृद्धि होती है।

४. अनुप्रेक्षा (धर्म कथा) - आगम में अनुप्रेक्षा और धर्मकथा दोनों ही शब्द मिलते हैं। पढ़े हुए ज्ञान का विस्मरण न हो, इसलिये उसका बार बार चिन्तन करना अथवा दूसरों को धर्मोपदेशना देना। धर्मकथा के चार प्रकार हैं -

१ आक्षेपिनी कथा = रागादि भावों से विमुख करके सत्य तत्त्वों के सन्मुख लाने वाली कथा।

२ विक्षेपणी कथा = कुमार्ग से हटाकर सन्मार्ग में लाने वाली कथा।

३. सवेगनी कथा = वैराग्य भावना बढ़ाने वाली कथा।

४ निर्वेदनी कथा = ससार में उदासीन बनाने वाली कथा।

इन चारों के आलम्बन से मन एकाग्र होने पर वह धर्म ध्यान पर चढ़ सकता है।

धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षा : भावना और अनुप्रेक्षा में अन्तर है। अनुप्रेक्षा में पुन· पुन तत्त्वों का गहराई से चिन्तन किया जाता है, जब कि भावना में इतनी गहराई नही होती।

आगमकथित आज्ञा अपाय आदि ध्यान के प्रकारों से मन विचलित होने पर अनित्यादि वैराग्यजनक अनुप्रेक्षाओं का शरण लिया जाता है। आगम कथित चार अनुप्रेक्षा हैं-[११२] अनित्यानुप्रेक्षा, अशरणानुप्रेक्षा, एकत्वानुप्रेक्षा और संसारानुप्रेक्षा।

अनित्यानुप्रेक्षा - संसार में दृश्यमान दु.ख, क्लेश, भय, चिन्ता, शोक आदि की जनिता 'मोह' है। मोह एव मतिभ्रम के चक्रव्यूह को तोड़ने का उपक्रम भावना ही है। संसार में जितने भी मनमोहक पौद्गलिक पदार्थ हैं वे सब अनित्य एवं नश्वर हैं। माता, पिता, परिवार, शरीर, धन, धान्य, वैभव, ज्ञातिजन, बन्धुजन, मित्रगण एवं सुर, असुर, देव, दानव, मानव, चक्रवर्ती आदि सब का धन, ऐश्वर्य, आयु, बल, इन्द्रधनुष, बिजली, नदी की लहरें, इन्द्रजाल वत् क्षणिक एवं नाशवान हैं। पक्षीगण की भाँति ही प्राणी आयु पूर्ण होने पर कर्मानुसार ससार में परिभ्रमण करता है। भौतिक सुख, शरीर सुख, इन्द्रिय सुख क्षण-क्षण में अनित्यता में परिणत होने वाले हैं। रागद्वेषादि विकल्पों से निर्मित अशुभ पदार्थ शुभ में और शुभ पदार्थ अशुभ में सतत परिणमन स्वभाव वाले होते हैं। इसलिये अनित्यादि वस्तुओं में आसक्त न बनें। वैषयिक सुख इन्द्रियजनिक विषय भोग किंपाक की तरह मधुर भाषित होते हैं। किन्तु वे सब मेघपटल की तरह अनित्य हैं, कच्चे घड़े की तरह क्षणिक हैं और मार्गपथिक की तरह क्षण विनाशक हैं। मन को इन सब से विमुख बनाना ही उत्तम सुख पाना है। संसार में उत्पन्न सभी वस्तुएँ पर्यायरूप से नाशवान हैं, अनित्य हैं। भरत चक्रवर्ती ने अनित्यानुप्रेक्षा का चिन्तन किया तो केवलज्ञान को प्राप्त कर लिया। अत संसार के प्रत्येक वस्तु एवं पदार्थ की अनित्यता का चिंतन करना ही अनित्यानुप्रेक्षा है। एकमात्र आत्मा ही सत् चिदानंदमय स्वरूप वाली है।[११३] इस प्रकार का चिन्तन करना ही 'अनित्यानुप्रेक्षा' है।

अशरणानुप्रेक्षा : संसार में जो वस्तु अनित्य, क्षणिक और नाशवान हैं वे सभी अशरणरूप हैं। जन्म, जरा, मरण, व्याधि, उपाधि से पीड़ित जीवों का इस संसार में कोई शरणरूप नही है। धन, परिवार, कुटुम्ब, इन्द्र, उपेन्द्र, देव, वासुदेव, माता, पिता, भाई, बहन, पुत्र, पुत्री, पत्नी आदि कोई भी मृत्यु से बचा नही सकते। सिंह के मुख से मृग को कोई नहीं बचा सकता, वैसे ही काल के मुख से ये कोई भी वस्तुएं बचा नही सकतीं। इतना तो क्या? प्रबल मिथ्यात्व के वशीभूत मानव प्राणी, यक्ष, भूत, राक्षस, ग्रह, नक्षत्र, पिशाच, योगिनी, शाकिनी, यत्र, मत्र, तन्त्र, को शरण रूप मानने पर भी वे भी उसे शरणभूत नही हैं। बलशाली हाथी, घोड़े, रथ, पायदल, सेना आदि भी रक्षक नही हैं। चन्द्रमा जब ग्रह से पीड़ित होता है, तो उसकी कौन रक्षा करता है? आत्मा का यदि कोई रक्षक है तो जिनेन्द्र का प्रवचन ही शरणभूत है। सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ही शरणरूप है। धर्म का शरण लेना, ममता का त्यागना और शिवसुख पाना ही जीवन में सच्चा शरण है। शेष अशरणरूप हैं। इस प्रकार आत्मा के त्राण के अभाव का चिन्तन करना ही 'अशरणानुप्रेक्षा' है।[११४]

संसारानुप्रेक्षा - चतुर्विध गति में परिभ्रमण करानेवाले जन्म मरण रूप चक्र को ससार कहते हैं। जीव ससार दुर्गम वन में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव से ग्रसित पच ससार में मिथ्यात्व के तीव्रोदय से दु खित होकर परिभ्रमण करता रहता है। सुई की नोंक जितनी भी जगह लोकाकाश की शेष नही रही जहाँ जीवात्मा ने जन्म न लिया हो। जो चार गतिरूप संसार में परवशतावश परिभ्रमण करता है, वह ससार है, उसका चिन्तन करना ससारानुप्रेक्षा है। निगोद के जीवों की वेदना अपरम्पार है। एक शरीर में अनन्त जीव रहते हैं। इस योनि में अनन्तानन्त काल व्यतीत करते हैं। जन्म मरण की भयंकर वेदना पृथ्व्यादि योनि में भी नही है। एक शरीर में अनन्त जीव किन्तु वे अपनी-अपनी वेदना का अनुभव भिन्न-भिन्न करते हैं। एक श्वासोच्छ्वास में निश्चित रूप से कुछ अधिक सत्रह क्षुद्र भव और एक मुहूर्त में सैंतीस सौ तिहत्तर श्वासोच्छ्वास होते हैं। तथा एक मुहूर्त में पैंसठ हजार पाच सौ छत्तीस क्षुद्रभव होते हैं। और एक क्षुद्रभव में दो सौ छप्पन आवली होती है। अर्थात् एक मुहूर्त में श्वासोच्छ्वास की संख्या मालूम करने के लिये एक मुहूर्त × २ घटिका × ३७।। लव; ७ उच्छ्वास, इस प्रकार सबको गुणा करने पर ३७७३ सख्या आती है, तथा एक मुहूर्त में एक निगोदिया जीव ६५५३६ बार जन्म लेता है, जिससे ६५५३६ में ३७७३ से भाग देने पर १७$\frac{१३९५}{३७७३}$ लब्ध आता है, अत एक श्वासोच्छ्वास काल में सत्रह से कुछ अधिक क्षुद्र भवों का प्रमाण जानना चाहिये।[११५] एक क्षुद्र भव में दो सौ छप्पन आवली होती है। दिगम्बर साहित्य में[११६] एक श्वासोच्छ्वास काल में १८ क्षुल्लक भव माने हैं। एकेन्द्रिय से लेकर सज्ञी पचेन्द्रिय पर्यंत लब्ध्यपर्याप्तक जीवों में निरन्तर जन्म मरण का कालमान 'लब्ध्यपर्याप्तक जीव एक अर्न्मुहूर्त में ६६३३६ बार मरण कर उतने ही भवों-जन्मों को भी धारण करता है। अत एक अन्तमुहूर्त में ६६३३६ क्षुद्र भव होते हैं। इन भवों को क्षुद्र भव इसीलिये कहते हैं कि इनसे अल्पस्थिति वाला अन्य कोई भी भव नही पाया जाता है। इन भवों में से प्रत्येक का कालप्रमाण श्वास का अठारहवा भाग है। फलत त्रैराशिक के अनुसार ६६३३६ भवों के श्वासों का प्रमाण ३६८५$^{१}/_{३}$ होता है। इतने उच्छ्वासों के समूह प्रमाण अन्तर्मुहूर्त में पृथ्वीकायिक से लेकर पचेन्द्रिय तक लब्ध्यपर्याप्तक जीवों के क्षुद्र भव ६६३३६ हो जाते हैं। ३७७३ उच्छ्वासों का एक मुहूर्त होता है तथा इन ६६३३६ भवों में से द्वीन्द्रिय के ८०, त्रीन्द्रिय के ६०, चतुरिन्द्रिय के ४०, पचेन्द्रिय के २४ और एकेन्द्रिय के ६६१३२ क्षुद्र भव होते हैं। कोई एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक जीव अपने भव के प्रथम समय से लेकर उच्छ्वास के अठारहवें भाग प्रमाण अपनी आयु पूरी करके पुन एकेन्द्रिय पर्याय में ही उत्पन्न हुआ और उच्छ्वास के अठारहवें भाग काल तक जीकर मर गया और पुन एकेन्द्रियपर्याय में उत्पन्न हुआ। इस प्रकार यदि निरन्तर वह एकेन्द्रियलब्ध्यपर्याप्त में ही बार-बार जन्म लेता है तो

६६१३२ बार से अधिक जन्म नही ले सकता। इसी तरह द्वीन्द्रिय से पचेन्द्रिय तक उपर बताये हुये अंकों के अनुसार समझना। पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक के जो २४ बार जन्म बताये हैं, उसमें भी मनुष्य लब्ध्यपर्याप्त में आठ बार, असज्ञी पचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक में आठ बार और सज्ञी पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक में आठ बार इस तरह कुल मिलाकर पचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक में २४ बार निरन्तर जन्म लेता है। इससे अधिक नही ले सकता।

एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक के निरन्तर क्षुद्र भवों की संख्या जो ६६१३२ बतलाई है उसका विभाग स्वामीकुमार के अनुसार इस प्रकार है-[११७] पृथ्वीकाय, जलकाय, तेजस्काय, वायुकाय, और साधारण वनस्पतिकाय ये पाँचों बादर और सूक्ष्म के भेद से १० भेद होते हैं। उनमें प्रत्येक वनस्पति को मिलाने से ग्यारह होते हैं। इन ग्यारह प्रकार के लब्ध्यपर्याप्तकों में से एक-एक भेद में ६०१२ निरन्तर क्षुद्र भव होते हैं और मरते भी उतने ही बार हैं। इस प्रकार एक अन्तर्मुहूर्तकाल में लब्ध्यपर्याप्तक जीव ६६३३६ बार जन्म-मरण करता है। जो जीव श्वास के अठारहवें भाग में मर जाता है और एक भी पर्याप्ति को समाप्त नही कर पाता, उसे लब्ध्यपर्याप्त कहते हैं।[११८] यह तो बात लब्ध्यपर्याप्तक जीवों की हुई। किन्तु एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक सज्ञी असज्ञी भवों में भी जीवात्मा ने असख्यात एव अनन्तानन्त बार जन्म मरण का दु ख भोगा है। पंचेन्द्रिय में भी नरक गति का दु ख भयकर है। नारकों में तीन प्रकार की वेदनाए होती हैं- १. क्षेत्र स्वभावजन्य, २. परस्परजन्य तथा ३. उत्कटअधर्मजनित। सातों नारकों की वेदना उत्तरोत्तर तीव्र होती है। प्रथम के तीन नारकों में परमाधामी देव हैं। वे नारकी के जीवों को उत्कट अधर्मजनित वेदनाएं देते हैं। परमाधामी असुरजाति के देव हैं। उनका स्वभाव क्रूर होता है। वे अब, अम्बरीष, श्याम, शबल, रौद्र, उपरुद्र, काल, महाकाल, असिपत्र, धनुषपत्र, कुम्भी, बालुका, वैतरणी, खरस्वर, तथा महाघोष नामवाले पन्द्रह प्रकार के परमाधामी देव हैं। वे कुतुहल प्रिय होने के कारण अपने अपने नामानुसार अनेक प्रकार के प्रहारों से, तीर, बर्छी, तलवार, हथोड़ा, अस्त्र, शस्त्र, द्वारा छेदन, भेदन, छीलन, काटना, मारना, एव परस्पर कुत्तों, भैसों, मल्लों की तरह लड़ाने में आनंद मनाते हैं। नारकी जीवों को परस्पर लड़ाना, तप्त लोहे का रस पिलाना, अत्यन्त तपाये गये लोहस्तम्भ का आलिंगन कराना, कूट और सेमर के वृक्ष पर चढ़ाना, तेल की कढ़ाई में पकाना, भांड की भाती कढ़ई में भूंजना, वैतरणी नदी में डुबाना, यंत्र से पिलना, असिवन की छाया में बिठाना, असिपत्र से शरीर को छिन्नभिन्न करना आदि अनेक प्रकार की भयंकर वेदनाएं नारकी जीवों को परमाधामी देव देते रहते हैं। शरीर का छेदन-भेदन होने पर भी नारकीय जीवों की अकाल में मृत्यु नहीं होती, उनकी आयु नही घटती, क्योंकि वे अनपवर्तनीय आयु वाले होते हैं। क्षेत्रस्वभाव जन्य और परस्पर जन्य वेदनाए तो सातों ही नरकभूमि में

हैं। प्रथम ही तीन भूमियों में उष्णवेदना, चौथी में उष्ण-शीत वेदना, पाचवी में शीतोष्ण, छठी में शीत तथा सातवी में शीततर वेदनाए हैं। ये सब वेदनाए अति मात्रा में होती हैं। मुख्यत नारकी जीव प्रति समय दस प्रकार की वेदनाए भोग रहा है - सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास, खाज, परवशता, भय, शोक, जरा और ज्वर। इस तरह नरक की वेदनाए तीव्रतम हैं। इन सबका चिन्तन करना ही ससारानुप्रेक्षा है।[११९]

तिर्यंचगति में एकेन्द्रिय (पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, प्रत्येक वनस्पतिकाय), द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय तक पाँचों में नाना प्रकार की छेदन, भेदन, काटन, मारन की वेदनाए जीव को सहन करनी पड़ती हैं। पचेन्द्रिय में जलचर भव में मत्स्यगलागल न्याय की भाति एक दूसरे को निगलते रहते हैं। स्थलचर भव में गाय, भैंस, हाथी, ऊट, बैल, कुत्ता, आदि के भव में परवशतावश भूख-प्यास आदि अनेक प्रकार की वेदनाए सहनी पड़ती हैं। नभचर के भव में तोता, कबूतर, पक्षी, चील, चिड़िया, तीतर आदि रूप में जन्म पाकर शिकारी, राजा आदि द्वारा अनेक दु ख भोगने पड़ते हैं, मरण के दु ख को सहन करते हैं। तिर्यंचगति के जन्म-मरण रूप दु खों का चिन्तन करना ससारानुप्रेक्षा है।[१२०]

मनुष्य भव में आर्य-अनार्य क्षेत्र में जन्म लेकर पूर्वकृत कर्मानुसार नानाविध कष्टों को सहन करना पड़ता है। अज्ञानतावश नानाविध योनियों में परिभ्रमण करना पड़ता है। जन्म, जरा, मरण, रोग का दु ख सहना पड़ता है। मनुष्य भव श्रेष्ठ माना जाता है, किन्तु जब तक जीव सम्यक्त्व को प्राप्त नही होता है तब तक तो ससार में भटकना ही पड़ता है। इस प्रकार का चिन्तन करना ससारानुप्रेक्षा है। देव भव में भी बलशाली देवों की समृद्धि देखकर शोक, क्रोध, विषाद, ईर्ष्या आदि के कारण दु खी होते हैं। देव गति से च्युत होने का चिह्न देखकर विलाप करना, दु खी होना, तथा कान्दर्पिक आदि देवों के क्रोधादि से पीड़ित होते रहते हैं। इस प्रकार चारों गति के जन्म-मरण रूप दु खों का चिन्तन करके आत्मस्वरूप में रमण करना ही 'ससारानुप्रेक्षा' है।[१२१]

एकत्वानुप्रेक्षा : अनित्य, अशरण और ससारानुप्रेक्षा में बताये हुए माता पिता कुटुब परिवार आदि कोई भी सुख दु ख में सहभागी नही होते। जन्म-मरण में भी साथी नही बनते। अकेला आता है और अकेला ही जाता है। अपने पूर्वकृतकर्मानुसार अगले भव को प्राप्त करता है। जब तक जीवात्मा को सच्ची दृष्टि प्राप्त नही होती तब तक
के सयोग-वियोग, जन्म-मरण में कोई भी सहायक नही बनते। यह जीवात
परिवार, मित्रगण या अन्य के लिये कुछ कार्य करता है उसका नरकादि में स्वय
भोगता है। अत यह जीव अकेला ही जन्मता है, अकेला ही मरता है, अकेले
गर्भ में आता है, अकेला ही बाल यौवन वृद्धावस्था को ही

दु खों को भोगता है, अकेला ही शोकग्रस्त होता है और अकेला ही चतुर्विधगति में परिभ्रमण करता है। लोक के सुखों का भोक्ता और सम्पूर्ण कर्मों का क्षयकर्ता अकेला जीवात्मा ही है। वास्तव में आत्मा को उत्तम क्षमादि दस धर्म ही चार गतियों के दु.ख से बचा सकते हैं। इस प्रकार का चिन्तन ही एकत्वानुप्रेक्षा है। नमिराजर्षि ने एकत्व भावना का चिंतन किया था।[१२२]

इस प्रकार आगम कथित धर्मध्यान के ४+४+४+४=१६ भेद हैं।

शुक्लध्यान के भेद : जैनागमानुसार शुक्लध्यान के भेद, लक्षण, आलम्बन तथा अनुप्रेक्षा इन सबके चार चार भेद हैं। कुल शुक्लध्यान के १६ भेद हैं।

आगम में शुक्लध्यान के चार भेद किये हैं।-[१२३]

१ पृथक्त्व वितर्क सविचार, २. एकत्व वितर्क अविचार, ३. सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्ति और समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती। इनमें से दो प्रथम ध्यान छद्मस्थ को और अतिम दो ध्यान केवली को होते हैं। क्योंकि प्रथम के दो ध्यान श्रुतज्ञान के आश्रित होते हैं तथा वे दोनों ही सवितर्क हैं, उनमें से प्रथम सविचार और दूसरा अविचार-विचाररहित है। फिर भी इन दोनों में श्रुतज्ञान का आलम्बन ही है, शेष दो में नही है।[१२४]

१. पृथक्त्व वितर्क सविचार : शुक्लध्यान के प्रथम भेद में विविध विषयों पर विचार किया जाता है। इनमें आये हुए शब्दों का अर्थ निम्नलिखित है।

पृथक्त्व = भेद, वितर्क = विशेष तर्कणा (द्वादशागश्रुत), विचार = विशेष रूप से चार -चलना, एक स्थिति से दूसरी स्थिति में गति करना तथा परमाणु द्व्यणुक आदि पदार्थ (अर्थ) व्यजन, शब्द, योग, (मन, वचन, काय) में सक्राति करना विचार है। भेद रूप से श्रुत का विचार जिस ध्यान में होता है, उसे 'पृथक्त्व-वितर्क-सविचार' कहते हैं। यदि ध्याता पूर्वधर हो तो पूर्वगत श्रुत के आधारपर और पूर्वधर न हो तो स्वयं के संभवित श्रुत के आधार पर परमाणु आदि जड़ या चेतन, एक द्रव्य के उत्पाद, व्यय, ध्रुव, मूर्तत्व, अमूर्तत्व, आदि पर्यायों का, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों के अनुसार पूर्वगतश्रुतानुसार, अपूर्वगत श्रुतानुसार तथा अर्थ-व्यंजन-योग संक्रान्ति के अनुसार एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य पर, एक पर्याय से दूसरे पर्याय पर, एक अर्थ से दूसरे अर्थ पर, एक व्यजन से दूसरे व्यजन पर तथा मन-वचन-काय इन तीनों में से एक को छोड़ अन्य का आलबन लेना ही पृथक्त्व वितर्क सविचार ध्यान कहलाता है।[१२५]

इसमें आये हुये अर्थ, व्यंजन, योग और संक्रान्ति का अर्थ निम्न प्रकार से हैं।

अर्थ : ध्यान करने योग्य पदार्थ -ध्येय। ध्येय वस्तु को ही अर्थ कहते हैं। वह द्रव्य और पर्याय रूप होता है।

हैं। प्रथम ही तीन भूमियों में उष्णवेदना, चौथी में उष्ण-शीत वेदना, पाचवी में शीतोष्ण, छठी में शीत तथा सातवी में शीततर वेदनाए हैं। ये सब वेदनाए अति मात्रा में होती हैं। मुख्यत नारकी जीव प्रति समय दस प्रकार की वेदनाएं भोग रहा है - सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास, खाज, परवशता, भय, शोक, जरा और ज्वर। इस तरह नरक की वेदनाए तीव्रतम हैं। इन सबका चिन्तन करना ही ससारानुप्रेक्षा है।[११९]

तिर्यंचगति में एकेन्द्रिय (पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, प्रत्येक वनस्पतिकाय), द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय तक पाँचों में नाना प्रकार की छेदन, भेदन, काटन, मारन की वेदनाए जीव को सहन करनी पड़ती हैं। पचेन्द्रिय में जलचर भव में मत्स्यगलागल न्याय की भाति एक दूसरे को निगलते रहते हैं। स्थलचर भव में गाय, भैंस, हाथी, ऊट, बैल, कुत्ता, आदि के भव में परवशतावश भूख-प्यास आदि अनेक प्रकार की वेदनाए सहनी पड़ती हैं। नभचर के भव में तोता, कबूतर, पक्षी, चील, चिड़िया, तीतर आदि रूप में जन्म पाकर शिकारी, राजा आदि द्वारा अनेक दु ख भोगने पड़ते हैं, मरण के दु ख को सहन करते हैं। तिर्यंचगति के जन्म-मरण रूप दु खों का चिन्तन करना ससारानुप्रेक्षा है।[१२०]

मनुष्य भव में आर्य-अनार्य क्षेत्र में जन्म लेकर पूर्वकृत कर्मानुसार नानाविध कष्टों को सहन करना पड़ता है। अज्ञानतावश नानाविध योनियों में परिभ्रमण करना पड़ता है। जन्म, जरा, मरण, रोग का दु ख सहना पड़ता है। मनुष्य भव श्रेष्ठ माना जाता है, किन्तु जब तक जीव सम्यक्त्व को प्राप्त नही होता है तब तक तो संसार में भटकना ही पड़ता है। इस प्रकार का चिन्तन करना ससारानुप्रेक्षा है। देव भव में भी बलशाली देवों की समृद्धि देखकर शोक, क्रोध, विषाद, ईर्ष्या आदि के कारण दु खी होते हैं। देव गति से च्युत होने का चिह्न देखकर विलाप करना, दु खी होना, तथा कान्दर्पिक आदि देवों के क्रोधादि से पीड़ित होते रहते हैं। इस प्रकार चारों गति के जन्म-मरण रूप दु खों का चिन्तन करके आत्मस्वरूप में रमण करना ही 'ससारानुप्रेक्षा' है।[१२१]

एकत्वानुप्रेक्षा : अनित्य, अशरण और ससारानुप्रेक्षा में बताये हुए माता पिता कुटुब परिवार आदि कोई भी सुख दु ख में सहभागी नही होते। जन्म-मरण में भी साथी नही बनते। अकेला आता है और अकेला ही जाता है। अपने पूर्वकृतकर्मानुसार अगले भव को प्राप्त करता है। जब तक जीवात्मा को सच्ची दृष्टि प्राप्त नही होती तब तक प्राणी के संयोग-वियोग, जन्म-मरण में कोई भी सहायक नहीं बनते। यह जीवात्मा अपने परिवार, मित्रगण या अन्य के लिये कुछ कार्य करता है उसका नरकादि में स्वय ही फल भोगता है। अत यह जीव अकेला ही जन्मता है, अकेला ही मरता है, अकेले ही माँ के गर्भ में आता है, अकेला ही बाल यौवन वृद्धावस्था को पाता है, अकेला ही रोगादिग्रस्त

दु खों को भोगता है, अकेला ही शोकग्रस्त होता है और अकेला ही चतुर्विधगति में परिभ्रमण करता है। लोक के सुखों का भोक्ता और सम्पूर्ण कर्मों का क्षयकर्ता अकेला जीवात्मा ही है। वास्तव में आत्मा को उत्तम क्षमादि दस धर्म ही चार गतियों के दु:ख से बचा सकते हैं। इस प्रकार का चिन्तन ही एकत्वानुप्रेक्षा है। नमिराजर्षि ने एकत्व भावना का चिंतन किया था।[१२२]

इस प्रकार आगम कथित धर्मध्यान के ४+४+४+४=१६ भेद हैं।

शुक्लध्यान के भेद : जैनागमानुसार शुक्लध्यान के भेद, लक्षण, आलम्बन तथा अनुप्रेक्षा इन सबके चार चार भेद हैं। कुल शुक्लध्यान के १६ भेद हैं।

आगम में शुक्लध्यान के चार भेद किये हैं।-[१२३]

१. पृथक्त्व वितर्क सविचार, २. एकत्व वितर्क अविचार, ३. सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्ति और समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती। इनमें से दो प्रथम ध्यान छद्मस्थ को और अंतिम दो ध्यान केवली को होते हैं। क्योंकि प्रथम के दो ध्यान श्रुतज्ञान के आश्रित होते हैं तथा वे दोनों ही सवितर्क हैं, उनमें से प्रथम सविचार और दूसरा अविचार-विचाररहित है। फिर भी इन दोनों में श्रुतज्ञान का आलम्बन ही है, शेष दो में नही है।[१२४]

१. पृथक्त्व वितर्क सविचार : शुक्लध्यान के प्रथम भेद में विविध विषयों पर विचार किया जाता है। इनमें आये हुए शब्दों का अर्थ निम्नलिखित है।

पृथक्त्व = भेद, वितर्क = विशेष तर्कणा (द्वादशांगश्रुत), विचार = विशेष रूप से चार -चलना, एक स्थिति से दूसरी स्थिति में गति करना तथा परमाणु द्व्यणुक आदि पदार्थ (अर्थ) व्यजन, शब्द, योग, (मन, वचन, काय) में सक्रांति करना विचार है। भेद रूप से श्रुत का विचार जिस ध्यान में होता है, उसे 'पृथक्त्व-वितर्क-सविचार' कहते हैं। यदि ध्याता पूर्वधर हो तो पूर्वगत श्रुत के आधारपर और पूर्वधर न हो तो स्वयं के संभवित श्रुत के आधार पर परमाणु आदि जड़ या चेतन, एक द्रव्य के उत्पाद, व्यय, ध्रुव, मूर्तत्व, अमूर्तत्व, आदि पर्यायों का, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों के अनुसार पूर्वगतश्रुतानुसार, अपूर्वगत श्रुतानुसार तथा अर्थ-व्यंजन-योग संक्रान्ति के अनुसार एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य पर, एक पर्याय से दूसरे पर्याय पर, एक अर्थ से दूसरे अर्थ पर, एक व्यंजन से दूसरे व्यजन पर तथा मन-वचन-काय इन तीनों में से एक को छोड़ अन्य का आलबन लेना ही पृथक्त्व वितर्क सविचार ध्यान कहलाता है।[१२५]

इसमें आये हुये अर्थ, व्यजन, योग और संक्रान्ति का अर्थ निम्न प्रकार से हैं।

अर्थ : ध्यान करने योग्य पदार्थ -ध्येय। ध्येय वस्तु को ही अर्थ कहते हैं। वह द्रव्य और पर्याय रूप होता है।

व्यंजन : वचन, शब्द, वाक्य आदि को व्यजन कहते हैं।

योग : मन, वचन और काय प्रवृत्ति से आत्मप्रदेशों में उत्पन्न होने वाली चचलता को योग कहा जाता है। उसके परिवर्तन को विचार कहते हैं। विचार का अर्थ-अर्थ व्यजन और योग सक्रान्ति है।

संक्रान्ति :बदलना, परिवर्तन होना ही सक्रान्ति है। यह तीन प्रकार की है - अर्थ सक्रान्ति, व्यजन सक्रान्ति और योग सक्रान्ति। इसे ही प्रविचार कहते हैं। विशुद्ध ध्यान के सामर्थ्य से जिसका मोहनीय कर्म सर्वथा नष्ट हो जाता है, उन्हें ही त्रिविध सक्रान्ति प्राप्त होती है।[१२६]

चौदह-दस-नौपूर्व का धारी, प्रशस्त तीन उत्तम संहननवाला, कषायों का नाश करने वाला, तीन योगों में से किसी एक योग में विद्यमान उपशान्तकषाय - वीतराग-छद्मस्थ जीव ही श्रुतस्कन्ध- महासागर में लीन रहकर द्रव्य-गुण-पर्याय रूप श्रुत किरणों के प्रकाशबल से ध्यान करता है। ध्यान से अनेक नय, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, सात भग, रत्नत्रय आदि श्रुतस्कन्धमहासागर में प्रवेश करके अर्थ से अर्थान्तर, गुणान्तर, पर्याय, पर्यायान्तर के बाद योगों की पक्ति में स्थापित करके द्विसंयोग, त्रिसयोग की अपेक्षा पृथक्त्ववितर्क-सविचार ध्यान के ४२ भंग उत्पन्न करके अन्तर्मुहूर्तकाल तक षट् द्रव्य व नौ पदार्थ का चिन्तन करता है। अर्थ से अर्थान्तर का संक्रमण होने पर भी ध्यान का विनाश नही होता, क्योंकि इससे चिन्तान्तर में गमन नही होता। इस ध्यान का फल सवर -निर्जरा ही है, जिससे अमर सुख की प्राप्ति होती है।[१२७]

(२) एकत्व वितर्क अविचार : इसमें चित्त की स्थिति हवारहित दीपक की तरह होती है। पूर्वश्रुतानुसार किसी भी परमाणु, जीव, ज्ञानादिगुण, उत्पादादि कोई एक पर्याय, शब्द, अर्थ, तीन योग में से कोई भी एक योग ध्येय रूप में होता है, अलग-अलग नही होता। एक ही ध्येय होने से इसमें अर्थ, व्यजन और योगों का सक्रमण नही होता। चित्त एक ही पुद्गल पर स्थिर रहता है। इसलिये इसे 'एकत्व-वितर्क-अविचार' कहते हैं।[१२८] सिर्फ अभेद से चिन्तन होने के कारण अर्थ, व्यजन और योग की एकरूपता रहती है। द्रव्य, गुण, पर्याय में मेरूपर्वत के समान निश्चल भाव से अवस्थित चित्तवाले, असख्यात गुण श्रेणिक्रम से कर्म स्कन्धों को गलानेवाले, अनन्तगुणहीन, श्रेणिक्रम से कर्मो के अनुभाग को शोषित करने वाले तथा कर्मों की स्थितियों को एक योग अथवा एक शब्द के आलबन से ध्यान बल द्वारा घात करके वज्रऋषभनाराच सहनन वाला, शूर, वीर, चौदह, दस अथवा नौ पूर्वधारी क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव ही अन्तर्मुहूर्त काल तक ध्यान करता है। तदनन्तर शेष रहे क्षीणकषायकाल प्रमाण स्थितियों को छोड़कर उपरिम सब स्थितियों की उदय आदि गुण श्रेणिरूप से रचना करके पुन स्थिति घात के विना अध॰ स्थिति गलना

द्वारा ही असंख्यातगुण श्रेणिक्रम से कर्मस्कन्धों का घात करते हुये क्षीणकषाय के अंतिम समय को प्राप्त होने पर वहाँ ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घाति कर्मों को युगपद नाश करते हैं।[१२९]

(३) सूक्ष्म क्रिया अनियट्टी (प्रतिपाती, अनियट्टी) 'एकत्ववितर्क-अविचार' शुक्लध्यान से समस्त घातिकर्मइन्धन को जलाने के कारण केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर समस्त वस्तुओं के द्रव्य और पर्याय को युगपद जानते हैं, उन केवली के चरणों में देव, देवी आदि सब वन्दन करते हैं।

चारों घाति कर्मों का नाश करके वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र का अनुभव करता हुआ केवलज्ञानी एक मुहूर्त तक अथवा कुछ कम एक पूर्व कोटि काल तक विहार करता है। कर्मभूमिज मनुष्य की उत्कृष्ट आयु एक पूर्व कोटि वर्ष की होती है और वह कम से कम आठ वर्ष की अवस्था होने पर दीक्षा लेता है और दीक्षा लेते ही उसे केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है। ऐसी अवस्था में वह (केवलज्ञानी) जघन्य में दो घड़ी तक और उत्कृष्ट से आठ वर्ष कम एक पूर्व कोटिकाल तक भव्य जीवों को धर्मोपदेश करता हुआ विहार करता है।[१३०]

जब केवली की आयु अन्तर्मुहूर्त शेष रहती है और वेदनीय, नाम, तथा गोत्र की भी स्थिति उतनी ही रहती है तब सब वचनयोग, मनोयोग तथा बादर काययोग को छोड़कर सूक्ष्मयोग का आलम्बन लेकर सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती ध्यान प्रारभ करते हैं। यहाँ क्रिया का अर्थ 'योग' किया गया है। वह जिसके पतनशील हो वह प्रतिपाती कहलाता है और उसका प्रतिपक्ष अप्रतिपाती कहलाता है। जिसमें क्रिया (योग) सूक्ष्म होती है, उसे सूक्ष्म क्रिया कहते हैं। और सूक्ष्मक्रिया होकर जो अप्रतिपाती होता है, वह सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ध्यान कहलाता है। इसमें केवलज्ञान के द्वारा श्रुतज्ञान का अभाव होने से यह अवितर्क कहलाता है और अर्थान्तर की सक्राति का अभाव होने से अविचार भी है। अत. यह ध्यान अवितर्क, अविचार और सूक्ष्म क्रिया से सबध रखनेवाला होता है। इसमें काययोग सूक्ष्म होता है।[१३१]

केवली की आयु अन्तर्मुहूर्त ही शेष रहे और अघातिकर्म (वेदनीय, नाम, गोत्र) की स्थिति अधिक रहने पर केवली भगवान उनको बराबर करने के लिये समुद्घात करते हैं।[१३२] किन्तु केवली समुद्घात करने के पहले आउज्जीकरण (आयोज्यकरण) की प्रक्रिया अवश्य करनी पड़ती है।

आउज्जीकरण (आयोज्यकरण) : सभी सयोगी केवली मोक्ष गमन के एक मुहूर्त पहले केवली-समुद्घात करने के पहले किये जाने वाला शुभ-व्यापार-योग

आउज्जीकरण कहलाता है।[133] अथवा केवलिसमुद्घात के पहले की जाने वाली मन, वचन, काया की शुभक्रिया, एक अन्तर्मुहूर्त तक कर्म पुद्गल को उदयावलिका में डालने रूप उदीरणा विशेष को आउज्जियाकरण कहते हैं।[134] मन, वचन, काय की शुभ प्रवृत्ति (व्यापार), मोक्ष के अनुकूल कर्तव्य ही आउज्ज या आउज्जीकरण है।[135] इसे आयोजिकाकरण, आवश्यककरण, अवश्यकरण, आवर्जितकरण के नाम से सबोधित करते हैं।[136] यह क्रिया सब केवली भगवन् को अवश्य करणीय होती है। इसलिये आवश्यक करण या अवश्यकरण कहा है। योग निरोध का कार्य एक समय का नही होता है उसमें असख्य समय का कार्य होता है। आवर्जितकरण और केवली समुद्घात किये विना सीधे ही योग निरोध की प्रक्रिया करने लग जाय तो योग निरोध के सिद्ध होने पर भोगने योग्य अवशिष्ट भवोपग्राही (अघातिकर्म) कर्म के भोगने में योग का अभाव होने से वहाँ सिर्फ अकेले कर्मों का शुभ वेदन ही होगा। इन कर्मों को क्षय करने के लिये केवलज्ञान और क्षायिक सम्यक्त्व के बल से उन उन कर्मदलिकों को ऐसी स्थिति में लाकर रखा जाय कि उन्हें सहजरूप से भोगा जा सके। मोक्ष के सन्मुख होने की क्रिया ही आवर्जितकरण है। केवली समुद्घात के पूर्व की यह विशिष्ट प्रक्रिया है जो तेरहवें गुणस्थान के अतिम समय में होती है।

केवलीसमुद्घात : आयोज्यकरण के बाद केवली समुद्घात किया जाता है। समुद्घात की क्रिया अन्तर्मुहूर्त आयु शेष रहने पर ही की जाती है। सभी केवली को समुद्घात की क्रिया करनी ही पड़ती है ऐसा कोई नियम नही है। किन्तु छह मास आयु शेष रहने पर जिन्हें केवल ज्ञान होता है वे नियम से समुद्घात करते हैं। शेष केवलियों में समुद्घात भजनीय है।

समुद्घात शब्द = सम्= सम्यक्, उत् =प्रबलता से, घात= कर्म का हनन (क्षय) इन तीन शब्दों के योग से बना है। जिसका अर्थ है एक साथ प्रबलता से जीवप्रदेशों से कर्म पुद्गल को उदीरणादिक से आकर्षित करके भोगना समुद्घात है अर्थात मूल शरीर को छोड़े बिना, उत्तर देहरूप जीवपिण्ड का - आत्मप्रदेशों के समूह को देह से बाहर निकालना ही समुद्घात है।[137] आयुकर्म थोड़े रहे और वेदनादि शेष कर्म अधिक रह जाय तो उन सबको (कर्मों को) प्रदेश और स्थिति द्वारा समान करने के लिये केवलज्ञानी समुद्घात करते हैं। जिनके वेदनादि कर्म आयु जितने ही स्थिति वाले हों तो वे समुद्घात नही करते। वेदना आदि निमित्तों से जीवन के प्रदेशों का शरीर के भीतर रहते हुए भी बाहर निकालना वेदनादि सात समुद्घात है।[138]

समुद्घात की विधि और समय : केवलज्ञान, केवलदर्शन के प्राप्त होने पर केवली त्रिकालविषयक समस्त द्रव्य और पर्यायों को जानते एव देखते हुए, करण, क्रम

तथा व्यवधान से रहित होकर असख्यात गुणश्रेणि से कर्मों की निर्जरा करके कुछ कम एक पूर्व कोटि काल तक धर्मोपदेश देते विचरण करते रहते हैं। जब आयु का काल अन्तर्मुहूर्त शेष रहता है, तब वे शीघ्र ही सूक्ष्मक्रिया -प्रतिपाती नामक तीसरा शुक्लध्यान प्रारंभ कर सकते हैं। उसी समय यदि आयुष्य-कर्म की अपेक्षा अन्य नाम, गोत्र, और वेदनीय कर्मों की स्थिति अधिक रह जाती है, तो उसे बराबर करने के लिये योगी (केवलज्ञानी) केवली-समुद्घात करते हैं। दण्ड, कपाट, प्रतर (मंथानी) और लोक पूरण (लोक व्यापी) समुद्घात करते हैं। केवली समुद्घात में आठ समय लगते हैं। ध्यानस्थ केवली भगवान् ध्यान के बल से अपने आत्मप्रदेशों को शरीर के बाहर निकालते हैं। प्रथम समय में दण्ड, द्वितीय समय में कपाट, तीसरे समय में मथानी और चौथे समय में लोकव्यापी होता है। प्रथम समय में कुछ कम चौदह राजू उत्सेध रूप और अपने निष्कभप्रमाण गोल परिवेदरूप आत्मप्रदेशों को शरीर से बाहर निकालकर ऊपर-नीचे लोकान्त तक , स्थिति के असंख्यात बहुभाग का और अनुभाग के अनन्त बहुभाग का घात करके उन्हें लोकप्रमाण दण्डाकार कर लेते हैं। (लोक के अन्त तक आत्मा के प्रदेशों को विस्तारता है)। दूसरे समय में उस दण्डाकार में से कपाट का आकार करता है और दक्षिण उत्तर दिशा में लोक के अन्त तक वातवलय के सिवाय पूरे लोकाकाश को अपने देह के विस्तार द्वारा व्याप्त करके शेष स्थिति और अनुभाग का क्रम से असख्यात बहुभाग और अनन्तबहुभाग का घात करते हुए कपाटाकार समुद्घात करते हैं। आत्मप्रदेशों को पूर्व-पश्चिम उत्तर-दक्षिण चारों दिशा में कपाटाकार बना देते हैं। तीसरे समय में उस कपाट को मथानी का आकार देकर वातवलय के सिवाय पूरे लोकाकाश को अपने आत्मप्रदेशों के द्वारा व्याप्त करके शेष स्थिति और अनुभाग का क्रम से असख्यात बहुभाग और अनन्तबहुभाग का घात करते हुए कपाट को मथानी के आकार का बनाकर फैलाते हैं, इससे अधिकतर लोक परिपूरित हो जाता है। यह प्रतर (मथानी) समुद्घात है। चौथे समय में योगी मथानी के जो अन्तराल खाली रह जाता है, उन्हें पूर कर लोक व्यापी हो जाता है। चौदह राजूलोक में व्याप्त हो जाता है। इस तरह लोक को परिपूरित करते हुए अनुश्रेणि तक गमन होने से लोक के कोणों में भी आत्मप्रदेश पूरित हो जाते हैं। चौथे समय में सब लोकाकाश को व्याप्त कर शेष स्थिति और अनुभाग का क्रम से असंख्यात बहुभाग और अनन्तबहुभाग का घात कर जो अवस्थान होता है, यह लोकपूरण समुद्घात है। चार समयों में समग्र लोकाकाश को अपने आत्मप्रदेशों से पूर्ण कर देते हैं। जितने आत्मप्रदेश हैं उतने ही लोकाकाश के प्रदेश हैं। अत प्रत्येक आकाशप्रदेश में एक एक आत्मप्रदेश का व्याप्त होना ही 'लोकपूरण' समुद्घात है। इस प्रकार अपने निरावरण अनन्तवीर्य के द्वारा आत्मा के प्रदेशों को फैलाने पर वेदनीय आदि तीन अघातिकर्मों को आयुकर्म के बराबर करता है किन्तु आयुकर्म का अपवर्तन नही करता। क्योंकि चरमशरीरी की आयु का घात नही हो

सकता। अत आत्मा के प्रदेशों को फैलाने से अतिरिक्त कर्मों का क्षय होकर, वेदनीय, नाम, और गोत्र कर्म भी आयु कर्म के बराबर ही हो जाते हैं। जिस प्रकार गीले वस्त्र को इकट्ठा करके यदि एक जगह रख दिया जाय तो उसे सूखने में बहुत समय लगता है, किंतु यदि उसे फैला दिया जाय तो वह जल्दी सूख जाता है, उसी प्रकार संकुचित दशा में जो कर्मरज आत्मा से पृथक् होने में अधिक समय लेती है, वही समुद्घात दशा में आत्मा के प्रदेशों के फैलाये जाने पर कम समय में पृथक् होने के योग्य हो जाती है।[१३९]

इस प्रकार चार समय में आयुष्य को अन्य कर्मों की स्थिति के समान बनाकर पाँचवें समय में लोक में फैले हुए कर्म वाले आत्मप्रदेशों का उपसहार (सहरण कर सिकोड़ते हैं) करता है। छठे समय में पूर्व-पश्चिम के प्रदेशों का सहार करके मथानी से पुन कपाट के आकार करता है और आठवें समय में दण्डाकार को समेटकर पूर्ववत् अपने मूल शरीर में ही स्थित हो जाते हैं। इस प्रकार चार समय में दण्ड, कपाट, मथानी और लोक व्यापी तथा चार समय में मथानी, कपाट, दण्ड और अपने शरीर में स्थित होता है। इस प्रकार केवलीसमुद्घात में आठ समय लगते हैं।[१४०]

समुद्घात मे किस समय कौन योग होता है? समुद्घात के समय मन और वचन के योग का व्यापार नही होता। उस समय दोनों योगों का कोई प्रयोजन नही होता है, केवल एक काय-योग का ही व्यापार होता है। इसलिये 'समुद्घात काल में पहले और आठवें समय में औदारिक काया की प्रधानता होने से औदारिक काययोग होता है। उस समय केवली अपने शरीर में ही स्थिर होते हैं। दूसरे, छठे और सातवें समय में औदारिक शरीर से बाहर आत्मा का गमन होने से कार्मण-वीर्य के परिस्पन्द-अत्यधिक कम्पन होने से औदारिक मिश्र काय होता है। कपाट का आकार द्वितीय समय में होता है। कपाट का उपसहार (समेटना) सातवें समय में होता है और मथानी का उपसहार छट्ठे समय में होता है। तीसरे, चौथे और पाचवें समय में आत्मप्रदेश औदारिक शरीर के व्यापाररहित और उस शरीर से रहित होने से उस शरीर की सहायता के बिना अकेला कार्मणकाययोग होता है। चौथे समय में मथानी के अन्तरालों को भरा जाता है - लोक व्यापी होता है। पाचवें समय में मथानी के अतरालों का उपसहार करता है और तीसरे समय में मथानी के आकार का होता है। इसलिये इन तीनों समयों में कार्मण काय-योग होता है और उसमें जीव नियम से अनाहारक होता है। इन तीनों समयों में जीव की अनाहारक अवस्था है।[१४१] समुद्घात का त्याग करने के बाद यदि आवश्यकता हो तो वे तीनों योगों का व्यापार करते हैं। जैसे कि कोई अनुत्तरदेव मन से प्रश्न पूछे तो सत्य या असत्यामृषा मनोयोग की प्रवृत्ति करें, इसी प्रकार किसी को सम्बोधन आदि करने में वचन योग का व्यापार करते हैं। अन्य दो प्रकार के योग से व्यापार नही करते। दोनों भी औदारिक

काययोग फलक वापिस अर्पण करने आदि में व्यापार करते हैं।[142] उसके बाद अतर्मुहूर्तमात्र समय में योग-निरोध प्रारभ करते हैं।

योग-निरोध :- जो केवली समुद्घात को प्राप्त होते हैं वे समुद्घात के पश्चात् और जो समुद्घात को प्राप्त नही होते हैं वे योग-निरोध के योग्य काल के शेष रहने पर योग-निरोध का प्रारभ करते हैं।

जो परिस्पन्दन शरीर, भाषा, मनोवर्गणा के पुद्गलों की सहायता से होता है, उसे योग कहते हैं। अथवा पुद्गल विपाकी शरीर नामकर्म के उदय से मन, वचन, काययुक्त जीवों की जो कर्मों के ग्रहण करने में कारणभूत शक्ति है, उसे योग कहते हैं।[143] उन योगों के विनाश को योग निरोध की सज्ञा है।[144] क्योंकि योगसहित जीव की कदापि मुक्ति नही। इसलिये योगनिरोध[145] होना ही चाहिये। इन तीनों योगों के दो भेद हैं- सूक्ष्म व बादर। केवली भगवान केवली समुद्घात के अन्तर्मुहूर्त काल व्यतीत होने के बाद बादर काययोग से तीनों योगों में से सर्वप्रथम बादर मनोयोग को रोकते हैं। सर्व प्रथम मन को रोकने का कारण यही है कि मन पर्याप्ति नामक एक करण शरीर से सबद्ध है, जिसके द्वारा जीव मनोद्रव्य वर्गणाओं को ग्रहण करता है। जिन पुद्गल वर्गणाओं से मन बनता है उन्हें मनोद्रव्य वर्गणा कहते हैं और मनोद्रव्यवर्गणा के ग्रहण करने से योग्य शक्ति के व्यापार को मनोयोग कहते हैं। अत मन पर्याप्ति के वियोग करने के लिए ही अनन्तशक्ति के धारक जीव मन के विषय को रोकते हैं। उसे रोकने के लिये वह पहले मन पर्याप्ति करण से युक्त पचेन्द्रिय सज्ञी जीव के पर्याप्तक होने के प्रथम समय में जघन्य मनोयोग उतने मनोद्रव्यवर्गणा के स्थानों को अपनी आत्मा में रोकता है। उसके बाद प्रति समय उसके असख्यात गुणे हीन स्थानों को रोकता है। समस्त स्थान के रुकने पर वह अमनस्क-मन - पर्याप्तिरहित होता है। तदनन्तर अन्तर्मुहूर्त के बाद बादर काययोग से बादर वचनयोग का निरोध करता है। पुन अन्तर्मुहूर्त में बादर काययोग के द्वारा बादर उच्छ्वास-निश्वास का निरोध करता है। द्वीन्द्रिय जीव के जो वचनयोग होता है और साधारण वनस्पति जीव के जो श्वासोच्छ्वास होता है, मनोयोग की तरह ही उससे सख्यातगुणे हीन वचनयोग और श्वासोच्छ्वास का निरोध करते हुए समस्त वचनयोग और श्वासोच्छ्वास का निरोध करता है। उसके बाद जघन्य पर्याप्तक मनक जीव के जो काययोग होता है उससे असख्यातगुणे हीन अन्तर्मुहूर्त में बादर काययोग के द्वारा निरोध करते-करते समस्त बादर काययोग का निरोध करता है। विशेषत॰ उल्लेखनीय यह है कि द्वीन्द्रिय पर्याप्तक जीव के प्रथम समय में जो जघन्य वचनयोग होता है और पर्याप्तक साधारण जीव के प्रथम समय में जो श्वासोच्छ्वास होता है, उससे असख्यातगुणे हीन असंख्यातगुणे वचनयोग और श्वासोच्छ्वास को प्रति समय तब तक रोकता है, जब तक समस्त वचनयोग और

श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति करण का निरोध नही हो जाता है। मनोयोग और वचनयोग के निरोध होने के बाद ही काययोग का निरोध करता है। क्योंकि पर्याप्त पनक इल्लि जीव के प्रथम समय में जो जघन्य काययोग होता है, उससे भी असख्यातगुणे हीन काययोग का प्रति समय निरोध करता है। इस प्रकार निरोध करते-करते समस्त बादर काययोग का निरोध करता है। बाद में अन्तर्मुहूर्त में सूक्ष्म काययोग के द्वारा सूक्ष्म मनोयोग का निरोध करता है। फिर से अन्तर्मुहूर्त में सूक्ष्म काययोग द्वारा सूक्ष्म वचनयोग का निरोध करता है। फिर से अन्तर्मुहूर्त में सूक्ष्म काय योग द्वारा सूक्ष्म उच्छ्वास-निश्वास का निरोध करता है। पुन अन्तर्मुहूर्त काल व्यतीत होने पर सूक्ष्म काययोग द्वारा सूक्ष्म काययोग का निरोध करता हुआ इन करणों को करता है[१४६] प्रथम समय में पूर्व स्पर्धकों के नीचे अपूर्व स्पर्धक करता हे। इस क्रिया को करते हुए प्रथम वर्गणा के अविभाग प्रतिच्छेदों के असख्यातवें भाग का अपकर्पण करता हे और जीवप्रदेशों के असख्यातवें भाग का अपकर्षण करता है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त काल तक अपूर्वस्पर्धक करता है। ये अपूर्व स्पर्धक प्रति समय पहले समय में जितने किये गये उनसे अगले द्वितीयादि समयों में असख्यातगुणे हीन श्रेणिरूप से किये जाते हैं और पहले समय में जितने जीवप्रदेशों का अपकर्षण कर दिया जाता हैं, उनसे अगले समयों में असख्यातगुणे श्रेणि रूप से जीव प्रदेशों का अपकर्षण कर दिया जाता हैं। इस प्रकार किये गये सब अपूर्व स्पर्धक जगश्रेणि के असख्यातवें भागप्रमाण, जगश्रेणि के प्रथम वर्ग मूल के असख्यातवें भागप्रमाण और पूर्व स्पर्धकों के भी असख्यातवें भाग प्रमाण होते हैं। यह अपूर्व स्पर्धक की प्रक्रिया है।

इसके बाद अन्तर्मुहूर्त काल तक कृष्टियों को करता है। कृष्टियों को करते हुए अपूर्व स्पर्धकों की प्रथम वर्गणा के अविभाग प्रतिच्छेदों के असख्यातवें भाग का अपकर्षण करता है और जीवप्रदेशों के असख्यातवें भाग का अपकर्षण करता है। इस प्रकार यहा अन्तर्मुहूर्त काल तक कृष्टियाँ करता है। ये कृष्टियाँ प्रति समय पहले समय में जितनी की गई उनसे आगे द्वितीयादि समयों में असख्यातगुणी हीन श्रेणिरूप से की जाती है और पहले समय में जितने जीव प्रदेशों का अपकर्षण कर की गई उनसे अगले समयों में असख्यातगुणी श्रेणिरूप से जीवप्रदेशों का अपकर्षण कर की जाती है। कृष्टिगुणकार पल्योपम के असख्यातवें भाग प्रमाण है। सब कृष्टिया जगश्रेणि के असख्यातवें भाग प्रमाण हैं और अपूर्व स्पर्धकों के भी असख्यातवें भाग प्रमाण है। कृष्टिकरण क्रिया के समाप्त हो जाने पर फिर से उसके अनन्तर समय में पूर्व स्पर्धकों का और अपूर्व स्पर्धकों का नाश करता है। अन्तर्मुहूर्त काल तक कृष्टिगत योग वाला होता है और सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाती ध्यान का ध्याता है। अन्तिम समय में कृष्टियों के असख्यात बहुभाग का नाश करता है। इन प्रक्रिया में (योगनिरोध) पहले बादर काययोग को रोका जाता है। यदि बादर काययोग हो तो सूक्ष्म काययोग का निरोध अशक्य है। दौड़ने वाला मनुष्य

अकस्मात् अपने गति को रोक नही सकता, परन्तु धीरे-धीरे रोकता है। वैसे ही सर्व वादर योग का निरोध करने के बाद सूक्ष्म काययोग से सूक्ष्म वचन और सूक्ष्म मनोयोग का निरोध करते हैं- औदारिकादि शरीर द्वारा प्राप्त केवलज्ञानादि लक्ष्मी एवं अचिन्तनीय शक्ति सपन्न योगी ही बादर काययोग का अवलम्बन लेकर औदारिक, वैक्रिय, आहारक शरीर व्यापारगत वचनयोग और मनोयोग को शीघ्र ही रोक लेता है। बाद में सूक्ष्म काययोग को एव बादर काययोग को रोकता है क्योंकि वादर काययोग का निरोध किये बिना सूक्ष्म काययोग का निरोध नही कर सकता। तदनन्तर सूक्ष्म काययोग से सूक्ष्म वचनयोग और सूक्ष्म मनोयोग का निरोध करते हैं। बाद में सूक्ष्म काययोग से रहित सूक्ष्म क्रियानिवर्ती नामक तीसरा शुक्लध्यान करते हैं। इसका दूसरा नाम 'समुच्छिन्न क्रिया' अथवा 'सूक्ष्म-क्रिया-अप्रतिपाती' है। इसमें सूक्ष्म क्रिया कभी भी स्थूल नही हो सकती। अत काययोग का निरोध करने पर ही शुक्लध्यान का तीसरा भेद 'सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाती' की प्राप्ति होती है। सम्पूर्ण आत्मस्थिरता की ओर जाने वाले अत्यत प्रवर्धमान परिणाम से निवृत्त नही होने वाली (सूक्ष्म से बादर में परिणत नही होने वाली) सूक्ष्म क्रिया को ही 'सूक्ष्मक्रिया अनिवर्ती' कहते हैं। यह अवस्था ही ध्यान है।[१४७] और योग निरोध की भी यही प्रक्रिया है।

४) समुच्छिन्न-क्रिया अप्रतिपाती (निवर्ती) :- तीसरे ध्यान के बाद चतुर्थ समुच्छिन्न क्रिया-निवर्ती (अप्रतिपाती) ध्यान का प्रारभ होता है। इसमें प्राणापान क्रिया का तथा सब प्रकार के मन, वचन काय योग के द्वारा अथवा काययोग, वचनयोग और मनोयोग के द्वारा होने वाली आत्मप्रदेश परिस्पन्दरूप क्रिया का उच्छेद हो जाने पर समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती अथवा सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाती ध्यानावस्था की प्राप्ति होती है। जिसमें योग का सम्यक् प्रकार से उच्छिन्न हो गया है उसे समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती ध्यान कहते हैं।[१४८] यह श्रुतज्ञान से रहित होने के कारण अवितर्क है। जीवप्रदेशों के परिस्पन्द का अभाव होने से अविचार है अथवा अर्थ, व्यंजन और योगसक्रान्ति का अभाव होने से भी अविचार है।[१४९] चतुर्थ ध्यान के प्रारभ में सूक्ष्म काययोग की क्रिया भी नही होती, कोई भी योग नही होता, तब वे केवलज्ञानी अयोगिकेवली बन जाते हैं। तब कही चतुर्थ समुच्छिन्न क्रिया-अप्रतिपाती ध्यान प्रारभ होता है- इसके अनेक नाम है- 'व्यवच्छिन्न क्रिया-अप्रतिपाती', 'व्युच्छिन्न-व्युपरत क्रिया-अप्रतिपाती'। अप्रतिपाती का अर्थ है- अटल स्वभाव वाली अथवा शाश्वत काल तक अयोग अवस्था कायम रहेगी। योग निरोध क्रिया के पूर्ण होने पर शेष कर्मों की स्थिति आयुकर्म के समान अन्तर्मुहूर्त वत् होती है। तदनतर समय में शैलेशी अवस्था को प्राप्त होकर चतुर्थ समुच्छिन्न क्रिया अनिवृत्ति शुक्लध्यान को ध्याता है। यह ध्यान वितर्क रहित, विचार

श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति करण का निरोध नही हो जाता है। मनोयोग और वचनयोग के निरोध होने के बाद ही काययोग का निरोध करता है। क्योंकि पर्याप्त पनक इल्लि जीव के प्रथम समय में जो जघन्य काययोग होता है, उससे भी असख्यातगुणे हीन काययोग का प्रति समय निरोध करता है। इस प्रकार निरोध करते-करते समस्त वादर काययोग का निरोध करता है। बाद में अन्तर्मुहूर्त में सूक्ष्म काययोग के द्वारा सूक्ष्म मनोयोग का निरोध करता है। फिर से अन्तर्मुहूर्त में सूक्ष्म काययोग द्वारा सूक्ष्म वचनयोग का निरोध करता है। फिर से अन्तर्मुहूर्त में सूक्ष्म काय योग द्वारा सूक्ष्म उच्छ्वास-निश्वास का निरोध करता है। पुन अन्तर्मुहूर्त काल व्यतीत होने पर सूक्ष्म काययोग द्वारा सूक्ष्म काययोग का निरोध करता हुआ इन करणों को करता है[१४६] प्रथम समय में पूर्व स्पर्धकों के नीचे अपूर्व स्पर्धक करता है। इस क्रिया को करते हुए प्रथम वर्गणा के अविभाग प्रतिच्छेदों के असख्यातवें भाग का अपकर्षण करता है और जीवप्रदेशों के असख्यातवें भाग का अपकर्षण करता है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त काल तक अपूर्वस्पर्धक करता है। ये अपूर्व स्पर्धक प्रति समय पहले समय में जितने किये गये उनसे अगले द्वितीयादि समयों में असख्यातगुणे हीन श्रेणिरूप से किये जाते हैं और पहले समय में जितने जीवप्रदेशों का अपकर्षण कर दिया जाता हैं, उनसे अगले समयों में असख्यातगुणे श्रेणि रूप से जीव प्रदेशों का अपकर्षण कर दिया जाता हैं। इस प्रकार किये गये सब अपूर्व स्पर्धक जगश्रेणि के असख्यातवें भागप्रमाण, जगश्रेणि के प्रथम वर्ग मूल के असख्यातवें भागप्रमाण और पूर्व स्पर्धकों के भी असख्यातवें भाग प्रमाण होते हैं। यह अपूर्व स्पर्धक की प्रक्रिया है।

इसके बाद अन्तर्मुहूर्त काल तक कृष्टियों को करता है। कृष्टियों को करते हुए अपूर्व स्पर्धकों की प्रथम वर्गणा के अविभाग प्रतिच्छेदों के असख्यातवें भाग का अपकर्षण करता है और जीवप्रदेशों के असख्यातवें भाग का अपकर्षण करता है। इस प्रकार यहा अन्तर्मुहूर्त काल तक कृष्टियाँ करता है। ये कृष्टियाँ प्रति समय पहले समय में जितनी की गई उनसे आगे द्वितीयादि समयों में असख्यातगुणी हीन श्रेणिरूप से की जाती है और पहले समय में जितने जीव प्रदेशों का अपकर्षण कर की गई उनसे अगले समयों में असख्यातगुणी श्रेणिरूप से जीवप्रदेशों का अपकर्षण कर की जाती है। कृष्टिगुणकार पल्योपम के असख्यातवें भाग प्रमाण है। सब कृष्टिया जगश्रेणि के असख्यातवें भाग प्रमाण हैं और अपूर्व स्पर्धकों के भी असख्यातवें भाग प्रमाण है। कृष्टिकरण क्रिया के समाप्त हो जाने पर फिर से उसके अनन्तर समय में पूर्व स्पर्धकों का और अपूर्व स्पर्धकों का नाश करता है। अन्तर्मुहूर्त काल तक कृष्टिगत योग वाला होता है और सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाती ध्यान का ध्याता है। अन्तिम समय में कृष्टियों के असंख्यात बहुभाग का नाश करता है। इन प्रक्रिया में (योगनिरोध) पहले बादर काययोग को रोका जाता है। यदि बादर काययोग हो तो सूक्ष्म काययोग का निरोध अशक्य है। दौड़ने वाला मनुष्य

हैं-१५५ क्षमा, मुक्ति, आर्जव और मार्दव। कहीं-कहीं क्रम भिन्नता भी दृष्टिगोचर होती है- क्षमा, मार्दव, आर्जव और मुक्ति।

क्षमा :- साधना मार्ग में यदि क्रोध प्रवेश कर जाय तो उसे दूर करने के लिये क्षमा का आलंबन लिया जाय। क्षमा से सारे शत्रु नामूल हो जाते हैं।

मुक्ति :- 'निर्लोभता'। लोभ कषाय पतन का कारण है। उसके उदयावली में आते ही संतोष का आलंबन लिया जाय।

आर्जव :- 'सरलता'। साधक जीवन का आभूषण सरलता है। कषाय संसार परिभ्रमण का कारण है। इसलिये माया कषाय का उदय होते ही सरलता का आलंबन लेना चाहिये।

मार्दव :- 'मृदुता-नम्रता'। मान कषाय के उदयावलि में आते ही मृदुता का आलंबन लेकर उसे दूर करें। मृदुता, नम्रता और कोमलता ये सभी एक ही पर्यायवाची शब्द हैं।

इन चारों का आलंबन लेने से आत्मविशुद्धि की अवस्था प्राप्त होती है और शुक्लध्यान की योग्यता (शक्ति) प्राप्त होती है।

शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ :- आगम में शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ बताई हैं-१५६

१) अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा, २) विपरिणामानुप्रेक्षा, ३) अशुभानुप्रेक्षा और ४) अपायानुप्रेक्षा। आगमेतर ग्रन्थों में अनुप्रेक्षा के नाम निम्नलिखित हैं-१५७

१) आस्रवद्वार, २) ससार स्वभाव, ३) भवों की अनन्तता तथा ४) वस्तु का परिणमन।

१) अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा :- अनादिकाल से जीव मिथ्यात्व और कषाय के कारण द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव संसार में परिभ्रमण कर रहा है। सब कर्मों में मोहनीय कर्म प्रधान है और मिथ्यात्व व कषाय उसके भेद हैं। यों कर्म बंध के पांच प्रकार हैं मिथ्यात्वादि, परन्तु इन दोनों को ही अधिक प्रधानता दी है, क्योंकि इन दोनों के अधीन हुआ ससारी जीव ज्ञानावरण आदि सात कर्मों के योग्य पुद्गलस्कन्धों को प्रतिसमय ग्रहण करता है। लोक में सर्वत्र कार्मणवर्गणाएँ भरी हुई हैं; उनमें से अपने योग्य को ही ग्रहण करता है। आयु कर्म सर्वदा नहीं बंधता, इसलिये सात ही कर्मों के योग्य पुद्गल स्कन्धों को प्रतिसमय ग्रहण करता है और अबाधाकाल पूर्ण हो जाने पर उन्हें भोगकर छोड़ देता है। वैसे ही औदारिक, वैक्रिय और आहारक इन तीन शरीरों की छह पर्याप्तियों के योग्य नोकर्मपुद्गलों को भी प्रतिसमय ग्रहण करता है और छोड़ता है। इस प्रकार जीव प्रतिसमय

रहित, अनिवृत्ति एवं क्रियारहित शैलेशी अवस्था को प्राप्त होता है। यह अवस्था शैलेश की तरह स्थिर होने से शैलेशी अवस्था कहलाती है। तेरहवां गुणस्थान पूर्ण होकर चौदहवें गुणस्थान के प्रारभ में यह अवस्था प्राप्त होती है। मेरू की तरह स्थिर अवस्था होने से परम शुक्लध्यान 'समुच्छिन्न-क्रिया-अप्रतिपाती' नामक चतुर्थ ध्यान की प्राप्ति होती है।[१५०]

यहा ध्यान का अर्थ है- एकान्त रूप से जीव के चिन्ता का निरोध - परिस्पन्द का अभाव होना है। इस दृष्टि से यहा ध्यान सज्ञा दी गई है।[१५१] शुक्लध्यान के चारों ध्यान में से अन्तिम के दो ध्यान सवर और निर्जरा का कारण हैं।[१५२]

शुक्लध्यान के चार प्रकारो में योग :- प्रथम 'पृथक्त्व-वितर्क-सविचार' ध्यान में एक योग या तीनों ही योग होते हैं। योग के अर्थ में सक्रमण नही किन्तु योगान्तर में सक्रमण हो तो अनेक योग होते हैं, नही तो एक ही योग होता है। तीनों में से कोई एक योग अथवा अनेक योगों की सभावना है। द्वितीय 'एकत्व-वितर्क-अविचार' ध्यान सक्रमणरहित होने से तीनों योग में से किसी एक योग में ही तल्लीनता आती है। तृतीय 'सूक्ष्म-क्रिया-अनिवर्ती' ध्यान केवल सूक्ष्म काययोग में ही होता है। इसमें अन्य सभी योगों का निरोध हो जाता है। चौथे 'समुच्छिन्न-क्रिया-अप्रतिपाती' ध्यान में अयोग अवस्था होती है। समस्त योगों का निरोध हो जाने पर ही यह अवस्था प्राप्त होती है। इसलिये यह ध्यान अयोगीकेवली को शैलेशी अवस्था प्राप्त होने पर होता है।[१५३]

शुक्लध्यान के चार लक्षण :- आगम ग्रन्थों में शुक्लध्यान के चार लक्षण बताये हैं।-[१५४]

१) अव्यथा :- इसे अवध भी कहते हैं। अवध का अर्थ है अचलता। स्थिर शुक्लध्यानी मुनि क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण आदि परीषह और देव, मानव, तिर्यंच सबधी मारणान्तिक उपसर्ग आने पर भी विचलित नही होते, अपितु स्थिर और सावधान-ता से समता में लीन रहते हैं।

२) असमोह :- व्यामोह में न पड़ना। ध्यानावस्था में चाहे जितने अनुकूल, प्रतिकूल उपद्रव आने पर भी विचलित नही होते।

३) विवेक :- सदसद्विवेक बुद्धि से भेदविज्ञान का ज्ञान होता है। देह और आत्मा की भिन्नता स्पष्ट होती है।

४) व्युत्सर्ग :- 'त्याग'। शुक्लध्यानी द्रव्य (कुटुब परिवार आदि) और भाव (कषाय, ससार, कर्म) से सर्वथा मुक्त होता है। इन चार लक्षणों के प्राप्त होने पर ही ध्यान की शक्ति प्राप्त होती है।

शुक्लध्यान के चार आलम्बन :- आगम में शुक्लध्यान के चार आलम्बन बताये

है-१५५ क्षमा, मुक्ति, आर्जव और मार्दव। कही-कहीं क्रम भिन्नता भी दृष्टिगोचर होती है- क्षमा, मार्दव, आर्जव और मुक्ति।

क्षमा :- साधना मार्ग में यदि क्रोध प्रवेश कर जाय तो उसे दूर करने के लिये क्षमा का आलबन लिया जाय। क्षमा से सारे शत्रु नामूल हो जाते हैं।

मुक्ति :- 'निर्लोभता'। लोभ कषाय पतन का कारण है। उसके उदयावली में आते ही संतोष का आलंबन लिया जाय।

आर्जव :- 'सरलता'। साधक जीवन का आभूषण सरलता है। कषाय ससार परिभ्रमण का कारण है। इसलिये माया कषाय का उदय होते हा सरलता का आलबन लेना चाहिये।

मार्दव :- 'मृदुता-नम्रता'। मान कषाय के उदयावलि में आते ही मृदुता का आलबन लेकर उसे दूर करें। मृदुता, नम्रता और कोमलता ये सभी एक ही पर्यायवाची शब्द हैं।

इन चारों का आलंबन लेने से आत्मविशुद्धि की अवस्था प्राप्त होती है और शुक्लध्यान की योग्यता (शक्ति) प्राप्त होती है।

शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ :- आगम में शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ बताई हैं-१५६

१) अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा, २) विपरिणामानुप्रेक्षा, ३) अशुभानुप्रेक्षा और ४) अपायानुप्रेक्षा। आगमेतर ग्रन्थों में अनुप्रेक्षा के नाम निम्नलिखित हैं-१५७

१) आस्रवद्वार, २) ससार स्वभाव, ३) भवों की अनन्तता तथा ४) वस्तु का परिणमन।

१) अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा :- अनादिकाल से जीव मिथ्यात्व और कषाय के कारण द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव संसार में परिभ्रमण कर रहा है। सब कर्मों में मोहनीय कर्म प्रधान है और मिथ्यात्व व कषाय उसके भेद हैं। यों कर्म बंध के पांच प्रकार हैं मिथ्यात्वादि, परन्तु इन दोनों को ही अधिक प्रधानता दी है, क्योंकि इन दोनों के अधीन हुआ ससारी जीव ज्ञानावरण आदि सात कर्मों के योग्य पुद्‌गलस्कन्धों को प्रतिसमय ग्रहण करता है। लोक में सर्वत्र कार्मणवर्गणाएं भरी हुई हैं, इनमें से अपने योग्य को ही ग्रहण करता है। आयु कर्म सर्वदा नही बधता, इसलिये सात ही कर्मों के योग्य पुद्‌गल स्कन्धों को प्रतिसमय ग्रहण करता है और अबाधाकाल पूर्ण हो जाने पर उन्हें भोगकर छोड़ देता है। वैसे ही औदारिक, वैक्रिय और आहारक इन तीन शरीरों की छह पर्याप्तियों के योग्य नोकर्मपुद्‌गलों को भी प्रतिसमय ग्रहण करता है और छोड़ता है। इस प्रकार जीव प्रतिसमय

कर्मपुद्गलों और नोकर्मपुद्गलों को ग्रहण करता है और छोड़ता है। कर्म द्रव्य परिवर्तन और नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन को ही द्रव्य परिवर्तन (द्रव्य ससार) कहते हैं। समस्त लोकाकाश का कोई भी प्रदेश खाली न रहा हो कि जहा सभी जीवों ने जन्म न लिया हो- आकाश प्रदेश के एक-एक प्रदेश में अनेक वार जन्मे और मरे हैं। यही क्षेत्रपरिवर्तन (क्षेत्र ससार) है। इसके दो भेद हैं- स्वक्षेत्रपरिवर्तन और परक्षेत्रपरिवर्तन। कोई सूक्ष्म निगोदिया जीव, सूक्ष्मनिगोदिया जीव की जघन्य अवगाहना को लेकर उत्पन्न हुआ और आयु पूर्ण कर मर गया। पश्चात् अपने शरीर की अवगाहना में एक-एक प्रदेश बढ़ाते-बढाते महामत्स्य की अवगाहना पर्यन्त अनेक अवगाहना धारण करता है। इसे स्वक्षेत्रपरिवर्तन कहते हैं। छोटी अवगाहना से लेकर बड़ी अवगाहना पर्यन्त सब अवगाहनाओं को धारण करने में जितना काल लगता है उसको स्वक्षेत्रपरिवर्तन कहते हैं। कोई जघन्य अवगाहना का धारक सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव लोक के आठ मध्यप्रदेशों को अपने शरीर के आठ मध्य प्रदेश बनाकर उत्पन्न हुआ। पीछे वही जीव उस ही रूप से उस ही स्थान में दूसरी तीसरी बार भी उत्पन्न हुआ। इसी प्रकार घनागुल के असख्यातवें भाग प्रमाण जघन्य अवगाहना के जितने प्रदेश हैं, उतनी बार उसी स्थान पर क्रम से उत्पन्न हुआ और श्वास के अट्ठारहवें भाग प्रमाण क्षुद्र आयु को भोगकर मरण को प्राप्त हुआ। पीछे एक-एक प्रदेश बढ़ाते-बढ़ाते सम्पूर्ण लोक को अपना जन्म क्षेत्र बना ले, यह परक्षेत्रपरिवर्तन है। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के प्रथम समय से लेकर अन्तिम समयपर्यंत यह जीव क्रमश जन्म लेता है और मरता है। यही कालपरिवर्तन (काल ससार) है। ससारी जीव नरकादि चार गतियों की जघन्य स्थिति से लेकर उत्कृष्ट स्थितिपर्यंत सब स्थितियों में ग्रैवेयक तक जन्म लेता है और मरता है, यह भवपरिवर्तन (भव ससार) है। नरक गति की जघन्य आयु दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम की है। तिर्यंच और मनुष्य की जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट आयु तीन पल्य की है। देवगति की जघन्य आयु और उत्कृष्ट आयु तो तेतीस सागरोपम की है। किन्तु यहा पर ग्रैवेयक तक इकतीस सागरोपम की है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि की उत्पत्ति ग्रैवेयक तक ही होती है, आगे नही। इस प्रकार चारों गतियों की आयु पूर्ण करने को भवपरिवर्तन कहते हैं। सज्ञी जीव जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति बध के कारण तथा अनुभाग बध के कारण अनेक प्रकार की कषायों से तथा श्रेणि के असंख्यातवें भाग प्रमाण योगस्थानों से वर्धमान भाव संसार में परिणमन करता है। योगस्थान, अनुभागबन्धाध्यवसाय स्थान, कषायाध्यवसायस्थान और स्थिति स्थान, इन चार निमित्त से भावपरिवर्तन होता है। प्रकृतिबध और प्रदेश बंध के कारण आत्मा के प्रदेशपरिस्पन्दरूप योग के तरतमरूप स्थानों को योग स्थान कहते हैं। अनुभागबध के कारण कषाय के तरतमस्थानों को अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान कहते हैं। स्थितिबध के कारण कषाय के तरतमस्थानों को कषायस्थान या स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान कहते हैं।

बंधने वाले कर्म की स्थिति के भेदों को स्थितिस्थान कहते हैं। योगस्थान श्रेणी के असंख्यातवें भागप्रमाण हैं। अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान असंख्यातलोकप्रमाण है एवं कषायाध्यवसायस्थान भी असख्यातलोकप्रमाण हैं। मिथ्यादृष्टि, पंचेन्द्रिय, सज्ञी, पर्याप्तक कोई जीव ज्ञानावरण कर्म की अंत कोड़ाकोड़ीसागर प्रमाण जघन्य स्थिति को बाधता है। उस जीव के उस स्थिति के अनुसार (योग्य) जघन्य कषायस्थान, जघन्य अनुभाग स्थान और जघन्य ही योगस्थान होता है। फिर उसी स्थिति, उसी कषाय स्थान, उसी अनुभाग स्थान को प्राप्त जीव के दूसरा योगस्थान होता है। जब सब योगस्थानों को समाप्त कर लेता है तब उसी स्थिति और उसी कषाय स्थान को प्राप्त जीव के दूसरा अनुभाग स्थान होता है। इसी प्रकार कषाय एवं स्थितिस्थान को समझना चाहिये। इस प्रकार सब कर्मों की स्थितियों को भोगने को भावपरिवर्तन (भाव ससार) कहते हैं। इस तरह पाच प्रकार के ससार में जीव ने अनन्तानन्त भव व्यतीत किये। इस प्रकार का चिन्तन करना ही 'अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा' है।[१५८]

२) विपरिणामानुप्रेक्षा :- ससार की प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है। जड़ अथवा चेतन पदार्थों की अस्थिरता का चिन्तन करना कि सर्व स्थान अशाश्वत है, सर्व द्रव्य परिणामी, सर्व पर्याय परिवर्तनशील है, शाश्वत माने जाने वाले मेरू जैसे अणु भी गमनशील है तो दूसरे पदार्थों का क्या कहें? जीवों का भी एक पर्याय में रहना नियत नही है। वह भी पुत्र का भाई होता है। भाई का देवर होता है। माता सौत होती है। पिता पति बन जाता है। जब जीव के एक ही भव में ये नाते हो जाते हैं तो धर्मरहित जीवों के दूसरे भव में कितने नाते होंगे?[१५९] पुद्गल का स्वभाव परिणमनशील है। इस प्रकार का सतत चिंतन करना 'विपरिणामानुप्रेक्षा' है।

३) अशुभानुप्रेक्षा :- ससार चक्र में जन्म, जरा, मरण, रोग, आधि, व्याधि, उपाधि, सयोग, वियोग आदि का चक्र सतत चला करता है। नरक निगोद स्थान दु खमय है। निगोदावस्था में अनन्तानन्त काल व्यतीत करना पड़ता है। नरक में सभी वस्तुए दु ख देने वाली और अशुभ हैं। क्योंकि वहां के क्षेत्र का स्वभाव ही है।[१६०] नारकी जीव सदा ही क्रोधाग्नि में जलते रहते हैं। तिर्यंच और मनुष्य भव में अशुचिस्थान में जन्म लेना भी अशुभ ही है। अत ससार के अशुभ स्वभाव का चिंतन करना ही 'अशुभानुप्रेक्षा' है।

४) अपायानुप्रेक्षा :- ससार में बध के पाच कारण मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इन्हें अपाय माना गया है। इसके अतिरिक्त आर्त रौद्र ध्यान, तीन शल्य, तीन गारव (गौरव), अज्ञानता तथा राग-द्वेष-मोह भी अपाय हैं। मोहनीय कर्म के उदय से ही जीव के अनेक प्रकार के मिथ्यात्व आदि होते हैं। बंध के पाच प्रकारों में योग को छोड़कर शेष चार प्रकार मोहनीय कर्म का ही उदय है। मोहनीय कर्म का उदय दसवें

गुणस्थान तक रहता है। दसवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म की बधव्युच्छित्ति हो जाने से ग्यारहवें आदि गुणस्थानों में योग के द्वारा एक सातावेदनीय का ही बध होता है। शेष११९ प्रकृतियाँ मोहनीयकर्मजन्य भावों के कारण ही बधती हैं।[१६१] यही आस्रव का कारण है। इस प्रकार इन अपायों (आस्रव) का सतत चिन्तन करना ही 'अपायानुप्रेक्षा' है।

शुक्लध्यान के चार भेद, चार लक्षण, चार आलवन और चार अनुप्रेक्षा कुल १६ भेद हैं।

आर्तध्यान के आठ भेद, रौद्रध्यान के आठ भेद, धर्मध्यान के सोलह भेद और शुक्लध्यान के सोलह भेद कुल आगमकालीन ध्यान के ४८ भेद हैं।

आगमिक टीका में ध्यान के भेद :- आगमिक ग्रन्थों पर निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीकाएँ प्राचीन मानी जाती हैं। इनमें प्राचीनतम निर्युक्ति है। निर्युक्तिया अनेक हैं। उनमें *आवश्यक निर्युक्ति ही सबसे प्राचीनतम है। आवश्यक निर्युक्ति के 'कायोत्सर्ग'* प्रकरण में ध्यान का वर्णन है। वहा पर ध्यान के शुभ और अशुभ ऐसे दो भेद मिलते हैं।[१६२] आर्त रौद्र ध्यान अशुभ हैं और धर्म शुक्लध्यान शुभ हैं। कायोत्सर्ग में शुभ ध्यान ही ध्याया जाता है। और भी उसमें ध्यान के तीन भेद मिलते हैं- कायिक, वाचिक और मानसिक। अन्य टीका साहित्य में ध्यान के दो भेद प्रशस्त और अप्रशस्त रूप में मिलते हैं।

आगमेतर साहित्य में ध्यान के भेद :-

ध्यान का एक भेद :- पच परमेष्टी का लौकिक ध्यान है।[१६३]

ध्यान के दो भेद :- विभिन्न ग्रन्थों में[१६४] आगमकालीन चार ध्यान को शुभ-अशुभ, प्रशस्त-अप्रशस्त, ध्यान-दुर्ध्यान, ध्यान-अपध्यान, स्थूल और सूक्ष्म, इन दो-दो भागों में रखा है। धर्म-शुक्लध्यान शुभ, प्रशस्त, एव ध्यान रूप हैं और आर्त-रौद्रध्यान अशुभ, अप्रशस्त, अपध्यान तथा दुर्ध्यान रूप हैं। धर्मध्यान के और भी दो भेद किये हैं- आभ्यन्तर और बाह्य। आभ्यन्तर में पिण्डस्थादि चार ध्यान हैं और बाह्य में परमेष्टी नमस्कार आदि का कथन है। इसके अतिरिक्त भी ध्यान के दो-दो भेद किये गये हैं- मुख्य-उपचार, द्रव्य-भाव, निश्चय-व्यवहार, स्वरूपालम्बन और परालम्बन।

ध्यान के तीन भेद :- परिणाम, विचार और अध्यवसाय के अनुसार ध्यान के तीन-तीन भेद किये गये हैं-[१६५] कायिक, वाचिक और मानसिक, तीव्र, मृदु और मध्य *तथा उत्तम, मध्यम और जघन्य।*

ध्यान के चार भेद :- नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के अनुसार ध्यान के चार भेद किये गये हैं। नाम ध्यान में अ-सि-आ-उ-सा, पंच परमेष्टी के पांचों पदों का भिन्न-भिन्न रूप से एवं उनके अक्षरों का, एव 'अर्हं' और 'ॐ' का स्मरण करना नाम ध्यान है।

जिनेन्द्र प्रतिमा का ध्यान करना स्थापना ध्यान है। चेतन-अचेतन, द्रव्य, गुण, पर्याय आदि का चिन्तन करना द्रव्य ध्यान है और सिद्ध भगवान् और अरिहत भगवान् का ध्यान करना भाव ध्यान है।[१६६]

ध्येय के अनुसार ध्यान (धर्म ध्यान) के और चार भेद हैं-[१६७] पिण्डस्थ ध्यान, पदस्थध्यान, रूपस्थ ध्यान और रूपातीत ध्यान। कही-कही पदस्थ ध्यान को प्रथम रखा गया है। पवित्रपदों का आलम्बन लेकर जो ध्यान किया जाता है उसे पदस्थ ध्यान कहते हैं। पिण्ड का अर्थ यहां पर शरीर है। शरीर का आलबन लेकर किया जाने वाला ध्यान पिण्डस्थ ध्यान है। सर्वचिद्रूप का आलंबन लेकर जो ध्यान किया जाता है वह रूपस्थ ध्यान है और निरजन निराकार सिद्ध भगवान् का आलम्बन लेकर किया जाने वाला ध्यान रूपातीत ध्यान कहलाता है।[१६८]

(१) पिण्डस्थ ध्यान का स्वरूप :- शुद्ध स्फटिक सदृश निर्मल शरीर, ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य से अलंकृत, आठ महाप्रातिहार्यों से युक्त, मनुष्य एव देवों से पूजित, घातिकर्मों के क्षय से उत्पन्न केवलज्ञान-केवलदर्शन के स्वामी, चौतीस अतिशय और पैंतीस वाणी से युक्त अरिहन्तदेव का जिसमें ध्यान किया जाता है, उसे पिण्डस्थ ध्यान कहते हैं। और भी शरीर के अधोभाग को अधोलोक, मध्यभाग को मध्यलोक, नाभि के स्थान पर मेरू पर्वत, नाभि से ऊपरी भाग को ऊर्ध्वलोक मानकर कधे तक के भाग में स्वर्गों की, ग्रीवा भाग में ग्रैवेयक की, ठोडी के स्थान पर अनुदिश की, मुख स्थान पर विजयादिक पाच अनुत्तरविमान की, ललाट पर सिद्धस्थान की और मस्तक पर लोक के अग्र भाग की कल्पना करें। इस प्रकार अपने शरीर में तीन लोक सदृश आकार का चिंतन करना पिण्डस्थ ध्यान है।[१६९] इस ध्यान में पाच धारणाओं का चिन्तन किया जाता है,[१७०] जिनकी प्रक्रिया निम्नलिखित है-

१) पार्थिवी धारणा :- एक राजूप्रमाण मध्यलोक की कल्पना करें। उसे क्षीरसागर के समान निर्मल जल से युक्त, नि·शब्द, निस्तरग, कर्पूरबर्फ-दुग्ध के समान श्वेत क्षीर सागर का चिन्तन करें। उसमें एक लाख योजन जम्बूद्वीप सदृश पद्मरागमणि की स्वर्णप्रभा से युक्त एक हजार पंखुडियोंवाले कमल का चिन्तन करें। उस कमल के मध्य भाग में केसराए है, उसके अन्दर देदीप्यमान पीलीप्रभा से युक्त और सुमेरू पर्वत के समान एक लाख योजन ऊची कर्णिका (पीठिका) का चिंतन करें। उस कर्णिका में शरद्-चन्द्र सा श्वेत वर्ण का एक सिंहासन का चिंतन करें। उस पर अपने को बैठा हुआ शान्त, जितेन्द्रिय, रागद्वेषरहित चिंतन करें। इस प्रक्रिया को 'पार्थिवी धारणा' कहते हैं।[१७१]

२) आग्नेयी धारणा :- पार्थिवी धारणा के बाद ध्यानी पुरुष अपने नाभिमण्डल में सोलहपत्रवाले कमल का चिंतन करें। उस कमल के सोलह पत्तों पर 'अ-आ-इ-ई-उ-

ऊ-ॠ-ॠ-ऌ-ॡ-ए-ऐ-ओ-औ-अ-अ ' इन सोलह अक्षरों का चिंतन करें। उस कमल की कर्णिका पर 'रेफ-बिन्दु-कला' सहित हकार 'ह' अथवा 'अर्हं' इस महामत्र का चिंतन करें। तदनतर उस महामंत्र के रेफ से निकली हुई धूप का चिंतन करें। उसके पश्चात् धूप में से निकलते हुए स्फुलिंगों की पक्ति का चिंतन करें। फिर उसमें से निकलती हुई ज्वाला की लपटों का चिंतन करें। तदनतर क्रम से बढते हुए उस ज्वाला के समूह से हृदय में स्थित अघोमुख कमल को जलता हुआ चिंतन करें। वह हृदय में स्थित कमल आठ पत्र से युक्त हो, उन आठ पत्रों पर आठ कर्म स्थित हो। नाभिकमल की कर्णिका पर स्थित 'अर्हं' के रेफ से उठती हुई (निकलती हुई) अग्नि के द्वारा आत्मा को आवरण करने वाले उन आठ कर्म युक्त कमल को जलता हुआ चिंतन करें। तत्पश्चात् बाहर स्थित तीन कोण वाले अग्नि मडल से उठी हुई स्फुरायमान ज्वाला समूहवाली अग्नि से अपने सप्तधातुमय शरीर को जलता हुआ चिंतन करें। इस प्रकार मत्राग्नि कमलस्थित कर्मों को तथा मडलाग्नि बाहर के शरीर को जलाकर, जलाने योग्य अन्य पदार्थ के अभाव से धीरे-धीरे स्वय कर्मरहित हो रहा है, ऐसा चिंतन करें। इस प्रक्रिया को 'आग्नेयी धारणा' कहते हैं।[१७२]

३) वायवी (मारुती) धारणा :- आग्नेयी धारणा के बाद समग्र तीन लोक (भवन) के विस्तार को पूरित करने वाले, पर्वतों को चलित करने वाले एव समुद्र को क्षुब्ध करने वाले पवन का चिंतन करें। आग्नेयी धारणा में शरीर एव अष्टकर्मों को जलाकर जो राख बनायी, उन्हें वायु से चारों दिशाओं में उड़ाने का चिंतन करें। प्रचण्ड पवन के चलने से देह एव कर्मों की राख उड़कर बिखर रही है। इस प्रकार दृढ़ अभ्यास के साथ वायु मद-मद गति से शात हो रही है, ऐसा चिंतन ही 'वायवी धारणा' है।[१७३]

४) वारुणी धारणा :- वायवी धारणा के पश्चात् ध्यानी साधक इन्द्र धनुष, बिजली एव गर्जनादि से रहित मेघमालिका से व्याप्त आकाश का चिंतन करें। उसमें अर्धचन्द्राकार बिन्दु युक्त वरुण बीज 'व' का चिंतन करें। वरुण बीज से सतत उत्पन्न अमृत सम जलधाराए आकाश से बरस रही हैं। उस जल से, पहले देह और कर्मों की उड़नेवाली एव शान्त राख की ढेर, साफ हो रही है, ऐसा चिंतन करें। पौद्गलिक देह और अष्टकर्मों की राख जल द्वारा धोकर साफ हो रही है और वारुणमडल शान्त बन रहा है। इस प्रकार का चिन्तन करना 'वारुणी धारणा' है।[१७४]

५) तत्त्वभू (तत्त्वरूपवती) धारणा :- उपरोक्त चार धारणाओं का चिंतन करने के बाद योगी पुरुष अपने को सर्वज्ञ समान सप्त धातुरहित, पूर्ण चन्द्रमा सदृश प्रभावाला, दिव्य अतिशयों से युक्त, कर्मरज से रहित, देवों से पूजित निराकार आत्मा समझकर स्व स्वरूप का चिन्तन करें। यही 'तत्त्वभू धारणा' की प्रक्रिया है।[१७५]

(२) पदस्थ ध्यान का स्वरूप :- पवित्र पदों का आलबन लेकर किया जानेवाला

ध्यान ही पदस्थ ध्यान है ऐसा सिद्धान्तपारगामियों का मतव्य है।[१७६] परमेष्टी पद वाचक पैंतीस, सोलह, छह, पाँच, चार, दो और एक अक्षर के मंत्रों का ध्यान करना एवं अन्य गुरुकथित मंत्रों का या पदों का ध्यान करना पदस्थ ध्यान है। 'णमो अरहताणं (अरिहताण), णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाण, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूण' यह पैंतीस अक्षरों का मत्र है। 'अरहत सिद्ध आयरिय उवज्झाय साहु' अथवा 'अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नम ' यह सोलह अक्षरों का मंत्र है। 'अरहत सिद्ध' यह छह अक्षरों का मत्र है। 'अ सि आ उ सा' यह पाँच अक्षरों का मंत्र है। 'अरहंत' यह चार अक्षरों का मत्र है। 'सिद्ध' अथवा 'अर्हं' यह दो अक्षरों का मंत्र है। 'अ' यह एक अक्षर का मंत्र है, जो अर्हन्त का वाचक है। 'ओम्' यह पच परमेष्ठी का वाचक (अ+अ+आ+उ+म्) पच परमेष्ठी का ध्यान सर्व सिद्धिदायक है।[१७७]

सिद्धचक्र ध्यान वी विधि इस प्रकार है[१७८]- साधक नाभिकन्दपद्म में सोलह पत्र वाले कमल के प्रत्येक पत्र पर क्रमश· 'अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ लॄ ए ऐ ओ औ अ अ.' इन सोलह स्वरों का स्मरण करें। तदनतर हृदयपद्म में कर्णिका सहित कमल की चौवीस पखुडियों में क्रमश 'क, ख, ग, घ, ङ', 'च, छ, ज, झ, ञ्', 'ट, ठ, ड, ढ, ण', 'त, थ, द, ध, न', 'प, फ, ब, भ, म', इन ककार से लेकर मकार तक पच्चीस व्यजनों का चिंतन करें। तत्पश्चात् मुखपद्म में अष्टपंखुडियों वाले कमल में 'य, र, ल, व', 'श, ष, स, ह, इन आठ अक्षरों का चिंतन करें। इस प्रकार मातृका (वर्णमाला) का ध्यान करने वाला श्रुतज्ञान का पारगामी बनता है।

नाभिकन्द के नीचे अष्टपत्र कमल का चिन्तन करें। इन कमल की आठ पंखुडियों में क्रमश सोलह स्वरावली, क वर्ग, च वर्ग, ट वर्ग, त वर्ग, प वर्ग, य र ल व, और अन्तिम श ष स ह व्यजनों का चिंतन करें। इन आठ पखुडियों की सधियों में 'ह्रीं' कार रूप सिद्ध स्तुति की स्थापना करें तथा सभी पंखुडियों के अग्र भाग में 'ओम् ह्रीं' स्थापित करें। उस कमल के मध्य भाग में प्रथम वर्ण 'अ' और अन्तिम वर्ण 'ह' रेफ '-', कला '-', बिन्दु '-', सहित हिमवत् उज्ज्वल 'अर्हं' की स्थापना करें। इस अर्हं शब्द का उच्चारण पहले मन में ह्रस्व नाद से करें, बाद में दीर्घ, प्लुत, सूक्ष्म, अतिसूक्ष्म नाद से उच्चारण करें। वह नाद नाभि, हृदय, कण्ठ की घटिकादि गाठों को भेदता हुआ उन सबके बीच में से होकर आगे बढ़ा जा रहा है ऐसा चिन्तन करें। नादबिन्दु से अतरात्मा प्लावित हो रही है ऐसा चिंतन करें।[१७९] यह पदमयी देवता का स्वरूप है।

एक अमृत के सरोवर की कल्पना करें। उस सरोवर से उत्पन्न सोलह पंखुडियों वाले कमल का चिंतन करें। कमल के सोलह पखुडियों पर सोलह विद्यादेवियों का चिंतन करें। तदनतर देदीप्यमान स्फटिकरत्न की झारी से झरते हुए दुग्ध सदृश अमृत से अपने को

ऊ-ऋ-ॠ-लृ-लॄ-ए-ऐ-ओ-औ-अं-अः ' इन सोलह अक्षरों का चिंतन करें। उस कमल की कर्णिका पर 'रेफ-बिन्दु-कला' सहित हकार 'ह' अथवा 'अर्हं' इस महामंत्र का चिंतन करें। तदनंतर उस महामंत्र के रेफ से निकली हुई धूप का चिंतन करें। उसके पश्चात् धूप में से निकलते हुए स्फुलिंगों की पंक्ति का चिंतन करें। फिर उसमें से निकलती हुई ज्वाला की लपटों का चिंतन करें। तदनंतर क्रम से बढते हुए उस ज्वाला के समूह से हृदय में स्थित अधोमुख कमल को जलता हुआ चिंतन करें। वह हृदय में स्थित कमल आठ पत्र से युक्त हो, उन आठ पत्रों पर आठ कर्म स्थित हो। नाभिकमल की कर्णिका पर स्थित 'अर्हं' के रेफ से उठती हुई (निकलती हुई) अग्नि के द्वारा आत्मा को आवरण करने वाले उन आठ कर्म युक्त कमल को जलता हुआ चिंतन करें। तत्पश्चात् बाहर स्थित तीन कोण वाले अग्नि मंडल से उठी हुई स्फुरायमान ज्वाला समूहवाली अग्नि से अपने सप्तधातुमय शरीर को जलता हुआ चिंतन करें। इस प्रकार मंत्राग्नि कमलस्थित कर्मों को तथा मंडलाग्नि बाहर के शरीर को जलाकर, जलाने योग्य अन्य पदार्थ के अभाव से धीरे-धीरे स्वयं कर्मरहित हो रहा है, ऐसा चिंतन करें। इस प्रक्रिया को 'आग्नेयी धारणा' कहते हैं।[१७२]

३) वायवी (मारुती) धारणा :- आग्नेयी धारणा के बाद समग्र तीन लोक (भवन) के विस्तार को पूरित करने वाले, पर्वतों को चलित करने वाले एवं समुद्र को क्षुब्ध करने वाले पवन का चिंतन करें। आग्नेयी धारणा में शरीर एवं अष्टकर्मों को जलाकर जो राख बनायी, उन्हें वायु से चारों दिशाओं में उड़ाने का चिंतन करें। प्रचण्ड पवन के चलने से देह एवं कर्मों की राख उड़कर बिखर रही है। इस प्रकार दृढ़ अभ्यास के साथ वायु मंद-मंद गति से शांत हो रही है, ऐसा चिंतन ही 'वायवी धारणा' है।[१७३]

४) वारुणी धारणा :- वायवी धारणा के पश्चात् ध्यानी साधक इन्द्र धनुष, बिजली एवं गर्जनादि से रहित मेघमालिका से व्याप्त आकाश का चिंतन करें। उसमें अर्धचन्द्राकार बिन्दु युक्त वरुण बीज 'वं' का चिंतन करें। वरुण बीज से सतत उत्पन्न अमृत सम जलधाराएं आकाश से बरस रही हैं। उस जल से, पहले देह और कर्मों की उड़नेवाली एवं शान्त राख की ढेर, साफ हो रही है, ऐसा चिंतन करें। पौद्गलिक देह और अष्टकर्मों की राख जल द्वारा धोकर साफ हो रही है और वारुणमंडल शान्त बन रहा है। इस प्रकार का चिन्तन करना 'वारुणी धारणा' है।[१७४]

५) तत्त्वभू (तत्त्वरूपवती) धारणा :- उपरोक्त चार धारणाओं का चिंतन करने के बाद योगी पुरुष अपने को सर्वज्ञ समान सप्त धातुरहित, पूर्ण चन्द्रमा सदृश प्रभावाला, दिव्य अतिशयों से युक्त, कर्मरज से रहित, देवों से पूजित निराकार आत्मा समझकर स्व स्वरूप का चिन्तन करें। यही 'तत्त्वभू धारणा' की प्रक्रिया है।[१७५]

(२) पदस्थ ध्यान का स्वरूप :- पवित्र पदों का आलंबन लेकर किया जानेवाला

ध्यान ही पदस्थ ध्यान है ऐसा सिद्धान्तपारगामियों का मतव्य है।[१७६] परमेष्टी पद वाचक पैंतीस, सोलह, छह, पाँच, चार, दो और एक अक्षर के मंत्रों का ध्यान करना एवं अन्य गुरुकथित मत्रों का या पदों का ध्यान करना पदस्थ ध्यान है। 'णमो अरहताण (अरिहताण), णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाण, णमो उवज्झायाण, णमो लोए सव्वसाहूण' यह पैंतीस अक्षरों का मत्र है। 'अरहत सिद्ध आयरिय उवज्झाय साहु' अथवा 'अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नम ' यह सोलह अक्षरों का मत्र है। 'अरहत सिद्ध' यह छह अक्षरों का मत्र है। 'अ सि आ उ सा' यह पाँच अक्षरों का मत्र है। 'अरहत' यह चार अक्षरों का मत्र है। 'सिद्ध' अथवा 'अर्हं' यह दो अक्षरों का मत्र है। 'अ' यह एक अक्षर का मत्र है, जो अर्हन्त का वाचक है। 'ओम्' यह पच परमेष्ठी का वाचक (अ+अ+आ+उ+म्) पच परमेष्ठी का ध्यान सर्व सिद्धिदायक है।[१७७]

सिद्धचक्र ध्यान की विधि इस प्रकार है[१७८]- साधक नाभिकन्दपद्म में सोलह पत्र वाले कमल के प्रत्येक पत्र पर क्रमश 'अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ ॡ ए ऐ ओ औ अ अ ' इन सोलह स्वरों का स्मरण करें। तदनंतर हृदयपद्म में कर्णिका सहित कमल की चौबीस पखुडियों में क्रमश 'क, ख, ग, घ, ङ', 'च, छ, ज, झ, ञ्', 'ट, ठ, ड, ढ, ण', 'त, थ, द, ध, न', 'प, फ, ब, भ, म', इन ककार से लेकर मकार तक पच्चीस व्यजनों का चिंतन करें। तत्पश्चात् मुखपद्म में अष्टपखुडियों वाले कमल में 'य, र, ल, व', 'श, ष, स, ह, इन आठ अक्षरों का चिंतन करें। इस प्रकार मातृका (वर्णमाला) का ध्यान करने वाला श्रुतज्ञान का पारगामी बनता है।

नाभिकन्द के नीचे अष्टपत्र कमल का चिन्तन करें। इन कमल की आठ पंखुडियों में क्रमश सोलह स्वरावली, क वर्ग, च वर्ग, ट वर्ग, त वर्ग, प वर्ग, य र ल व, और अन्तिम श ष स ह व्यजनों का चिंतन करें। इन आठ पखुडियों की संधियों में 'ह्री' कार रूप सिद्ध स्तुति की स्थापना करें तथा सभी पखुडियों के अग्र भाग में 'ओम् ह्री' स्थापित करें। उस कमल के मध्य भाग में प्रथम वर्ण 'अ' और अन्तिम वर्ण 'ह' रेफ '-', कला '-', बिन्दु '-', सहित हिमवत् उज्ज्वल 'अर्हं' की स्थापना करें। इस अर्हं शब्द का उच्चारण पहले मन में ह्रस्व नाद से करें, बाद में दीर्घ, प्लुत, सूक्ष्म, अतिसूक्ष्म नाद से उच्चारण करें। वह नाद नाभि, हृदय, कण्ठ की घटिकादि गाठों को भेदता हुआ उन सबके बीच में से होकर आगे बढ़ा जा रहा है ऐसा चिन्तन करें। नादबिन्दु से अतरात्मा प्लावित हो रही है ऐसा चिंतन करें।[१७९] यह पदमयी देवता का स्वरूप है।

एक अमृत के सरोवर की कल्पना करें। उस सरोवर से उत्पन्न सोलह पंखुडियों वाले कमल का चिंतन करें। कमल के सोलह पखुडियों पर सोलह विद्यादेवियों का चिंतन करें। तदनतर देदीप्यमान स्फटिकरत्न की झारी से झरते हुए दुग्ध सदृश अमृत से अपने को

ऊ-ऋ-ॠ-लृ-लॄ-ए-ऐ-ओ-औ-अ-अ ' इन सोलह अक्षरों का चिंतन करें। उस कमल की कर्णिका पर 'रेफ-विन्दु-कला' सहित हकार 'हं' अथवा 'अर्हं' इस महामत्र का चिंतन करें। तदनतर उस महामंत्र के रेफ से निकली हुई धूप का चिंतन करें। उसके पश्चात् धूप में से निकलते हुए स्फुलिंगों की पक्ति का चिंतन करें। फिर उसमें से निकलती हुई ज्वाला की लपटों का चिंतन करें। तदनतर क्रम से वढते हुए उस ज्वाला के समूह से हृदय में स्थित अधोमुख कमल को जलता हुआ चिंतन करें। वह हृदय में स्थित कमल आठ पत्र से युक्त हो, उन आठ पत्रों पर आठ कर्म स्थित हो। नाभिकमल की कर्णिका पर स्थित 'अर्हं' के रेफ से उठती हुई (निकलती हुई) अग्नि के द्वारा आत्मा को आवरण करने वाले उन आठ कर्म युक्त कमल को जलता हुआ चिंतन करें। तत्पश्चात् बाहर स्थित तीन कोण वाले अग्नि मडल से उठी हुई स्फुरायमान ज्वाला समूहवाली अग्नि से अपने सप्तधातुमय शरीर को जलता हुआ चिंतन करें। इस प्रकार मत्राग्नि कमलस्थित कर्मों को तथा मडलाग्नि बाहर के शरीर को जलाकर, जलाने योग्य अन्य पदार्थ के अभाव से धीरे-धीरे स्वय कर्मरहित हो रहा है, ऐसा चिंतन करें। इस प्रक्रिया को 'आग्नेयी धारणा' कहते हैं।[१७२]

३) वायवी (मारुती) धारणा :- आग्नेयी धारणा के वाद समग्र तीन लोक (भवन) के विस्तार को पूरित करने वाले, पर्वतों को चलित करने वाले एव समुद्र को क्षुब्ध करने वाले पवन का चिंतन करें। आग्नेयी धारणा में शरीर एव अष्टकर्मों को जलाकर जो राख बनायी, उन्हें वायु से चारों दिशाओं में उड़ाने का चिंतन करें। प्रचण्ड पवन के चलने से देह एव कर्मों की राख उड़कर बिखर रही है। इस प्रकार दृढ़ अभ्यास के साथ वायु मद-मद गति से शात हो रही है, ऐसा चिंतन ही 'वायवी धारणा' है।[१७३]

४) वारुणी धारणा :- वायवी धारणा के पश्चात् ध्यानी साधक इन्द्र धनुष, बिजली एव गर्जनादि से रहित मेघमालिका से व्याप्त आकाश का चिंतन करें। उसमें अर्धचन्द्राकार बिन्दु युक्त वरुण बीज 'व' का चिंतन करें। वरुण बीज से सतत उत्पन्न अमृत सम जलधाराए आकाश से बरस रही हैं। उस जल से, पहले देह और कर्मों की उड़नेवाली एव शान्त राख की ढेर, साफ हो रही है, ऐसा चिंतन करें। पौद्गलिक देह और अष्टकर्मों की राख जल द्वारा धोकर साफ हो रही है और वारुणमडल शान्त बन रहा है। इस प्रकार का चिन्तन करना 'वारुणी धारणा' है।[१७४]

५) तत्त्वभू (तत्त्वरूपवती) धारणा :- उपरोक्त चार धारणाओं का चिंतन करने के बाद योगी पुरुष अपने को सर्वज्ञ समान सप्त धातुरहित, पूर्ण चन्द्रमा सदृश प्रभावाला, दिव्य अतिशयों से युक्त, कर्मरज से रहित, देवों से पूजित निराकार आत्मा समझकर स्व स्वरूप का चिन्तन करें। यही 'तत्त्वभू धारणा' की प्रक्रिया है।[१७५]

(२) पदस्थ ध्यान का स्वरूप :- पवित्र पदों का आलबन लेकर किया जानेवाला

उग्गतवाणं' से लेकर 'णमो महादिमहावीरवड्ढमाणाण' ४८ नंवर तक मत्र पद रहते हैं।[१८६] गणधर वलय यंत्र की विधि - पहले षट्कोण यत्र का चिंतन करें। उसके प्रत्येक खाने में 'अप्रतिचक्र फट्' इन छह अक्षरों में से एक-एक अक्षर लिखें। इस यंत्र के वाहर उलटे क्रम से 'विचक्राय स्वाहा' इन छह अक्षरों में से एक-एक अक्षर कोने के पास लिखें। वाद में '१. ॐ नमो जिणाणं, २. ॐ नमो ओहिजिणाण, ३.ॐ नमो परोहिजिणाण, ४. ॐ नमो सव्वोसहि जिणाण, ५ ॐ नमो अणतोहिजिणाण, ६. ॐ नमो कोट्ठबुद्धीण, ७ ॐ नमो बीयबुद्धीण, ८. ॐ नमो पयाणुसारिण, ९ ॐ नमो सभिन्नसोदारण, १०. ॐ नमो पत्तेयवुद्धीणं, ११. ॐ नमो सय बुद्धीण, १२ ॐ नमो बोहिय बुद्धीण, १३. ॐ नमो उजमदीण, १४ ॐ नमो विउलमदीण, १५ ॐ नमो दसपुव्वीण, १६ ॐ नमो चउद्दसपुव्वीण, १७ ॐ नमो अठ्ठगमहाणिमित्तकुसलाण, १८ ॐ नमो विउव्वणइड्ढिपत्ताण, १९. ॐ नमो विज्जाहराणं, २०. ॐ नमो चारणाणं, २१. ॐ नमो पण्णसमणाण, २२ ॐ नमो आगासगामिणं, २३. ॐ नमो आसीविसाण, २४ ॐ नमो दिट्ठिविसाण, २५ ॐ नमो उग्गतवाणं, २६ ॐ नमो दित्ततवाणं, २७ ॐ नमो तत्ततवाणं, २८. ॐ नमो महातवाण, २९. ॐ नमो घोरतवाणं, ३०. ॐ नमो घोरपरक्कमाण, ३१ ॐ नमो घोरगुणाण, ३२ ॐ नमो घोरगुणवभचारिणं, ३३. ॐ नमो आमोसहिपत्ताण, ३४ ॐ नमो खेलोसहिपत्ताण, ३५. ॐ नमो जल्लोसहि पत्ताण, ३६ ॐ नमो दिट्ठोसहिपत्ताण, ३७. ॐ नमो सव्वोसहिपत्ताणं, ३८ ॐ नमो मणबलीण, ३९. ॐ नमो वचिबलीण, ४०. ॐ नमो कायबलीण, ४१. ॐ नमो अभियसवीण, ४२ ॐ नमो महुसवीण, ४३ ॐ नमो सप्पिसवीणं; ४४. ॐ नमो खीरसवीणं, ४५. ॐ नमो अक्खीणमहाणसाण, ४६ ॐ नमो सिद्धादयाणं, ४७ ॐ नमो वड्ढमाणाण, ४८ ॐ नमो महादिमहावीर-वड्ढमाणाणं।[१८७] गणधर वलय को गणेश यत्र भी कहते हैं। इसके तृतीय वलय की ऊपरी वृत्त रेखा पर पूर्व की ओर मध्य में 'ह्रीं' बीज पद है। इसकी ईकार मात्रा से वलय को त्रिगुणवेष्टित करके अन्त में उसे 'क्रौं' बीज से निरुद्ध किया जाता है।[१८८] "ॐ ज्सौं ज्सौं श्री ह्री धृति -कीर्ति-बुद्धि-लक्ष्मी स्वाहा' इन पदों से पिछले वलय की पूर्ति करते हैं। तदनन्तर पच परमेष्टि महामंत्र के पाच पदों का पाच अगुलियों में, जैसे कि 'ॐ नमो अरिहताण ह्रां स्वाहा' अगुठे में, 'ॐ नमो सिद्धाण ह्री स्वाहा' तर्जनी में, 'ॐ नमो आयरियाण ह्रू स्वाहा' मध्यमा में, 'ॐ नमो उवज्झायाण ह्रौं स्वाहा' अनामिका में, 'ॐ नमो लोए सव्व साहूण ह्रौं स्वाहा' कनिष्ठा अंगुली में स्थापना करके सक्लीकरण किया जाता है और वाद में यत्र के मध्य विन्दु सहित 'ॐ' कार की स्थापना करें। इस प्रकार तीन वार अंगुलियों में विन्यास करके यंत्र को मस्तक पर पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा के अतर भाग में स्थापित करके जाप (ध्यान) करें।[१८९]

दीर्घकाल तक सिंचित होते हुए मन में चिंतन करें। उसके वाद शुद्ध स्फटिकरत्न सदृश निर्मल मत्रराज 'अर्हं' 'अर्हन्त' परमेष्टी का मस्तक में ध्यान करें। इसके चिंतन से आत्मा परमात्मा की एकरूपता का अनुभव करें। वीतराग, वीतद्वेष, निर्मोह, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी देवों से पूजित समवसरण में धर्मोपदेशना देने वाले परमात्मा के साथ अपना अभिन्न रूप मानकर ध्यान करें। इस ध्यान से परमात्मत्व पद की प्राप्ति होती है।[१८०] साधक को विशेषत पच परमेष्टी पद का ही ध्यान करना चाहिये।[१८१] मत्र तो अनेक प्रकार के हैं किन्तु योगी के लिये यही श्रेयस्कर है।

आठ पखुडियों वाले श्वेत कमल का चिंतन करें। उस कमल की कर्णिका में स्थित सात अक्षर वाले 'णमो अरहताण' मत्र का चिंतन करें। तदनतर सिद्ध आदि चार मंत्र पदों का अनुक्रम से चार दिशाओं की पखुडियों में तथा चूलिकाओं के चार पदों का विदिशा की पखुडियों में चिंतन करें। और भी मगल, उत्तम और शरण इन तीन पदों को अरिहतसिद्धसाहु धर्म के साथ जोड़कर ध्यान करें।[१८२]

विद्या प्रवाद नामक पूर्व से उद्धृत 'ह्रा', 'ह्री', 'ह्रू', 'ह्रौं', 'ह्र ', अथवा 'अ सि आ उ सा नम इन विद्या का निरतर अभ्यास (ध्यान) करने से ससार के समस्त क्लेश नष्ट हो जाते हैं।[१८३]

अष्ट पत्र वाले कमल में 'ॐ ह्री अर्हं' इस मत्र का ध्यान करने से पापों का क्षय किया जाता है।[१८४]

अष्ट पत्र वाले कमल की कल्पना करें। विदिशावाले पत्रों पर 'ॐ ह्री' पद तथा अन्त में 'स्वाहा' पद सहित 'णमो अरहताण' इन सात अक्षरवाले मत्र को स्थापित करें। दिशावाले पत्रों पर आदि में 'ॐ' पद तथा अन्त में 'स्वाहा' पद के साथ क्रमश 'ह्री, ह्रूं, ह्रौं, ह्र ' इन पदों से युक्त 'णमो अरहताण' इस मंत्र को स्थापित करें। कर्णिका में 'ॐ ह्री अर्हं स्वाहा' यह मत्र लिखें। इस कमल को 'ह्री' इस मायाबीज से तीन बार वेष्टित करें। इस यंत्र को कमल पर लिखकर 'ॐ ह्री णमो अरहंताण ह्रू नम ' मत्र का ध्यान करें। जिससे इष्ट कार्य सिद्धि एव हेय उपादेय की प्राप्ति होती है।[१८५] सब प्रकार की ध्यान प्रक्रिया आत्मकल्याण हेतु ही करें। स्वार्थ भाव से न करें।

गणधरवलय का प्रारंभ षट्कोण यंत्र से (चक्र) विहित है। जिसके ऊपर क्रमश तीन वलय रहते हैं। प्रथम वलय में आठ, दूसरे में सोलह और तीसरे में चौबीस कोष्ठक होते हैं, जिनमें ऋद्धि संपन्न जिनों के नमस्कार रूप से युक्त प्रथम वलय में 'णमो जिणाण से णमो पदाणुसारिण' तक आठ पद रहते हैं, दूसरे वलय में 'णमो सभिन्नसोदारणं से दिट्ठिविसाण' तक (२४ पद) मत्रपद रहते हैं। तीसरे वलय में २५ से - 'णमो

उग्गतवाण' से लेकर 'णमो महादिमहावीरवड्ढमाणाण' ४८ नवर तक मंत्र पद रहते हैं।[१८६] गणधर वलय यंत्र की विधि - पहले षट्कोण यंत्र का चिंतन करें। उसके प्रत्येक खाने में 'अप्रतिचक्र फट्' इन छह अक्षरों में से एक-एक अक्षर लिखें। इस यत्र के बाहर उलटे क्रम से 'विचक्राय स्वाहा' इन छह अक्षरों में से एक-एक अक्षर कोने के पास लिखें। बाद में '१. ॐ नमो जिणाण, २. ॐ नमो ओहिजिणाणं, ३.ॐ नमो परोहिजिणाण, ४ ॐ नमो सव्वोसहि जिणाण, ५. ॐ नमो अणंतोहिजिणार्ण, ६. ॐ नमो कोट्ठबुद्धीण, ७ ॐ नमो बीयबुद्धीण, ८. ॐ नमो पयाणुसारिण, ९. ॐ नमो संभिन्नसोदारण, १० ॐ नमो पत्तेयबुद्धीण, ११ ॐ नमो सय बुद्धीण, १२. ॐ नमो बोहिय बुद्धीण, १३. ॐ नमो उजमदीण, १४. ॐ नमो विउलमदीण, १५ ॐ नमो दसपुव्वीण, १६ ॐ नमो चउद्दसपुब्बीण, १७ ॐ नमो अट्ठगमहाणिमित्तकुसलाण, १८. ॐ नमो विउव्वणइड्ढिपत्ताणं, १९ ॐ नमो विज्जाहराणं, २०. ॐ नमो चारणाणं, २१. ॐ नमो पण्णसमणाण, २२. ॐ नमो आगासगामिर्ण, २३. ॐ नमो आसीविसाणं, २४ ॐ नमो दिट्ठिविसाण, २५ ॐ नमो उग्गतवाणं, २६ ॐ नमो दित्ततवाणं, २७ ॐ नमो तत्ततवाणं, २८. ॐ नमो महातवाण, २९ ॐ नमो घोरतवाण, ३०. ॐ नमो घोरपरक्कमाणं, ३१. ॐ नमो घोरगुणाणं, ३२ ॐ नमो घोरगुणबम्भचारिण, ३३ ॐ नमो आयोसहिपत्ताण, ३४. ॐ नमो खेलोसहिपत्ताण, ३५ ॐ नमो जल्लोसहि पत्ताण, ३६ ॐ नमो दिट्ठोसहिपत्ताण, ३७ ॐ नमो सव्वोसहिपत्ताण, ३८. ॐ नमो मणबलीण, ३९ ॐ नमो वचिबलीण, ४०. ॐ नमो कायबलीण, ४१. ॐ नमो अमियसवीण, ४२. ॐ नमो महुसवीण, ४३ ॐ नमो सप्पिसवीण, ४४ ॐ नमो खीरसवीण, ४५ ॐ नमो अक्खीणमहाणसाणं, ४६ ॐ नमो सिद्धादयाणं, ४७. ॐ नमो वड्ढमाणाण, ४८. ॐ नमो महादिमहावीर-वड्ढमाणाण।[१८७] गणधर वलय को गणेश यत्र भी कहते हैं। इसके तृतीय वलय की ऊपरी वृत्त रेखा पर पूर्व की ओर मध्य में 'ह्रीं' बीज पद है। इसकी ईकार मात्रा से वलय को त्रिगुणवेष्टित करके अन्त में उसे 'क्रौं' बीज से निरुद्ध किया जाता है।[१८८] "ॐ ज्सौं ज्सौं श्री ह्रीं धृति -कीर्ति-बुद्धि-लक्ष्मी स्वाहा' इन पदों से पिछले वलय की पूर्ति करते हैं। तदनन्तर पच परमेष्टि महामत्र के पाच पदों का पाच अंगुलियों में, जैसे कि 'ॐ नमो अरिहताण ह्रां स्वाहा' अगुठे में, 'ॐ नमो सिद्धार्ण ह्री स्वाहा' तर्जनी में, 'ॐ नमो आयरियाण हू स्वाहा' मध्यमा में, 'ॐ नमो उवज्झायाणं ह्रौं स्वाहा' अनामिका में, 'ॐ नमो लोए सव्व साहूण ह्रौं स्वाहा' कनिष्ठा अगुली में स्थापना करके सकलीकरण किया जाता है और बाद में यत्र के मध्य बिन्दु सहित 'ॐ' कार की स्थापना करें। इस प्रकार तीन बार अगुलियों में विन्यास करके यंत्र को मस्तक पर पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा के अतर भाग में स्थापित करके जाप (ध्यान) करें।[१८९]

अष्टाक्षरी विद्या का ध्यान योगी को सतत करना चाहिये, जिससे उपद्रव शात होता है। अष्ट पत्र वाले कमल में आत्मा के स्वरूप का ध्यान करें। 'ॐ नमो अरिहताण' इस मत्र को आठ पत्र पर स्थापित करें। प्रथम पखुडी की गणना पूर्व दिशा से प्रारभ करें। उसमें ॐ स्थापित करें। बाद में यथाक्रम से शेष सात अक्षर स्थापित करें। इस अनुक्रम से शेष दिशाविदिशाओं में स्थापना करके समस्त उपद्रव शाति हेतु योगी इस अष्टाक्षरी विद्या का आठ दिन तक ध्यान करें। आठ दिन के बाद कमल में स्थित अष्टाक्षरी विद्या के इन आठों वर्णों के क्रमश दर्शन होंगे। ध्यान में उपद्रव करने वाले भयानक सिंह, हाथी, राक्षस, भूत, प्रेत, व्यतर, आदि का उपद्रव शात हो जाता है। इहलौकिक फलाभिलाषियों को 'नमो अरिहताण' का ध्यान करना चाहिये। और मोक्षसुखाभिलाषी मुमुक्षुओं को 'ॐ नमो अरिहताण' का ध्यान करना चाहिये।[१९०]

चार पत्र वाले कमल में मध्यकर्णिका पर क्रमश 'अ सि आ उ सा' अक्षर मत्र का ध्यान करना चाहिये जिससे ध्याता के सर्व कर्मों का समूल नाश होता है। और भी चार पत्रक कमल में 'अ, इ, उ, ए' इन चार वर्णों का चिन्तन करना चाहिये, जिससे पाचों ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। नाभि, हृदय, मुख, ललाट एव मस्तक पर ध्यान करें, जैसे कि नाभिकमल में 'अ' कार का, मस्तक कमल में 'सि' वर्ण का, मुख कमल में 'आ' का, हृदयकमल में 'उ' कार का, और कठ कमल में 'सा' का ध्यान करना चाहिये। इसी तरह अन्य बीजाक्षरों का भी ध्यान करें।[१९१,१९२] पदस्थ ध्यान पर विशालकाय ग्रन्थ निर्माण हो सकता है। यहाँ पर अति सक्षिप्त में पदस्थ ध्यान का दिग्दर्शन कराया गया है।

(३) रूपस्थ ध्यान का स्वरूप : समवसरण में स्थित अरिहंत भगवान का जिसमें ध्यान किया जाता है उसे रूपस्थ ध्यान कहते हैं।[१९३]

समवसरण का स्वरूप : सर्वप्रथम चारों दिशाओं में चार मान स्तभ रोपे जाते हैं, मान स्तभों के चारों ओर सरोवर होता है, फिर निर्मल जल से युक्त खाई होती है, उसमें पुष्पवाटिका होती है और उसके आगे प्रथम कोट होता है, उसके आगे दोनों ओर दो-दो नाट्यशालाए होती हैं, उसके आगे दूसरा उपवन होता है, उसके आगे वेदिका होती है, फिर ध्वजाओं की पक्तियाँ होती हैं, बाद में दूसरा कोट होता है, उसके आगे वेदिका सहित कल्पवृक्षों का उपवन होता है, तदनन्तर स्फटिकमणि का तीसरा कोट होता है, उसके भीतर मनुष्य, देव और मुनियों की बारह सभाए (भुवन पति, वाण व्यतर, ज्योतिषी, वैमानिक इन चारों देवों की देवियाँ और चतुर्विध सघ, श्रावक श्राविका साधु साध्वी) होती हैं। फिर पीठिका और पीठिका के अग्रभाग पर स्वयभू भगवान विराजमान होते हैं। ऋषभदेव भगवान के समवसरण का प्रमाण बारह योजन था। अजित नाथ भगवान के समवसरण का प्रमाण साढ़े ग्यारह योजन था। सभवनाथ भगवान के समवसरण का प्रमाण एक योजन

था। विदेह क्षेत्र में स्थित श्री सीमंधर युगमधर आदि तीर्थंकरों के समवसरण का प्रमाण बारह योजन था। ऐसे देवों द्वारा निर्मित समोसरण (समवसरण) के मध्य में तीसरे सिंहासन के ऊपर चार अगुल के अन्तराल से विराजमान अर्हन्त का ध्यान करना चाहिये।[१९४] जो चार घातिकर्मों को क्षय करने वाले होते हैं। रूपस्थ ध्यान दो प्रकार का है - स्वगत और परगत। आत्मा का ध्यान करना स्वगत है और अर्हन्त का ध्यान करना परगत है। [१९५]

(४) रूपातीत ध्यान का स्वरूप : वर्ण, गध, रस और स्पर्श से रहित, केवल ज्ञान-दर्शन -चारित्र गुण सम्पन्न, निराकार, चिदानन्द स्वरूप निरजन सिद्ध परमात्मा का ध्यान रूपातीत ध्यान कहलाता है।[१९६] इस ध्यानावस्था में पहले अपने गुणों का स्मरण करें, बाद में सिद्धों के गुणों का विचार करें। निरजन निराकार सिद्ध परमात्मा के स्वरूप का आलबन लेकर उनका सतत ध्यान करनेवाला योगी ग्राह्य ग्राहक भाव (ध्येय और ध्याता के भाव) रहित होकर तन्मयता (सिद्ध स्वरूपता) प्राप्त कर लेता है। सिद्ध परमात्मा की शरण से योगी जब तन्मय बन जाता है, तब ध्याता और ध्येय इन दोनों के अभाव में ध्येय रूप सिद्ध परमात्मा के साथ उसकी एकरूपता हो जाती है।[१९७] रूपातीत योगी के मन का सिद्ध परमात्मा के साथ एकीकरण हो जाना इसे ही समरसी भाव कहते हैं।[१९८] आत्मा अभेद रूप से परमात्मा में लीन हो जाती है। यही समरसी समाधि रूप ध्यान है।

ध्यान के दस भेद : कतिपय ग्रन्थों में धर्मध्यान के दस भेद मिलते हैं-[१९९] १ अपायविचय, २. उपायविचय, ३. जीवविचय, ४ अजीवविचय, ५ विपाक-विचय ६. विरागविचय, ७. भवविचय, ८ सस्थानविचय, ९. आज्ञाविचय और १०. हेतुविचय। इनका स्वरूप[२००] - इस अनादि ससार में परिभ्रमण करने वाले जीवों ने नाना भाति दु खों को उठाया है, उनसे कैसे मुक्ति हो? मन, वचन, काय की विशिष्ट प्रवृत्ति से सचित पापों की शुद्धि कैसे हो? तथा मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र में ग्रसित जीवों का उद्धार कैसे हो? इस प्रकार का विचार करना अपायविचय धर्मध्यान है। मन वचन काय की शुभ प्रवृत्ति कैसे हो तथा दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से जीव सम्यग्दर्शनादि गुणों से विमुख है तो उनका उद्धार कैसे हो? ऐसा चिन्तन करना उपायविचय धर्मध्यान है। जीव का लक्षण उपयोग है, द्रव्य दृष्टि से जीव अनादि और अनन्त है, असंख्यातप्रदेशी है, अपने शुभाशुभ कर्मों का कर्ता तथा भोक्ता है, सूक्ष्म एवं अमूर्त है, देहप्रमाण वाला है, आत्मप्रदेशों के सकोच विस्तार करनेवाला है, व्याघातरहित है, ऊर्ध्वगमन स्वभाव वाला है, अनादि काल से बधा हुआ है, कर्मों के क्षय होने पर मुक्त हो जाता है। इस प्रकार जीव के स्वरूप का चिन्तन करना जीवविचय धर्मध्यान है। जीव से विलक्षण पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश इन अचेतन द्रव्यों की अनन्त पर्यायों के स्वरूप का चिन्तन करना अजीवविचय धर्मध्यान है। आठों कर्मों की बहुत सी उत्तर

प्रकृतिया हैं, उनमें से शुभ प्रकृतियों का उदय गुड़, खाड, शक्कर और अमृत की तरह मधुर होता है और अशुभ प्रकृतियों का विपाक लता, दारु, अस्थि और शैल की तरह कठोर होता है। कर्म बध के प्रकार चार हैं। किस-किस गति तथा किस-किस योनि में जीवों के भिन्नभिन्न प्रकृतियों का वध, उदय-उदीरणा और सत्ता होती है। इस प्रकार आठ कर्मों के शुभाशुभ अनुभाग का विचार करना विपाकविचय धर्मध्यान है। यह शरीर अशुचिमय है। कर्मबध का कारण है, अस्थिर है, अनित्य है, वात पित्त और कफ के आधार है, सप्त धातुमय है, मलमूत्रादि से युक्त है, इसमें रति करना नरक निगोद का कारण है। इस प्रकार वैराग्य का चिन्तन करना विरागविचय धर्मध्यान है। सचित्त, अचित्त, सचित्ताचित्त, शीत, उष्ण, शीतोष्ण, सकृत, विकृत, सकृतविकृत ये नौ योनियाँ हैं। इन योनियों में गर्भ, उपपात, और सम्मूर्छन जन्म द्वारा नाना योनियों में जरायुज, अण्डज, आदि नाना प्रकार के जन्मों को धारण करता हुआ एक भव से अन्य भव में चार प्रकार की गति - इषुगति, पाणिमुक्तागति, लागलिकागति, और गोमूत्रिका गति, इसके अतिरिक्त और भी दो गति हैं। ऋजुगति और वक्रगति - इन गतियों के द्वारा जीव ने ससार में परिभ्रमण करते हुए अनन्तानन्त भव परिवर्तन किये हैं, ऐसा चिन्तन करना भव विचय धर्मध्यान है। इसमें बताई गई इषुगति बाण की तरह सीधी होती है, इसमें एक समय लगता है। यह ससारी और सिद्ध दोनों प्रकार के जीवों को होती है। शेष तीन गतियाँ ससारी जीवों को ही होती हैं। पाणिमुक्ता गति एक मोड़वाली होती है, इसमें दो समय लगते हैं। लागलिका गति भी दो मोड़वाली है, इसमें तीन समय लगते हैं। गोमूत्रिका गति तीन मोड़वाली है, जिसमें चार समय लगते हैं। ऋजुगति में सीधे ही अपने गन्तव्य स्थान को पाते हैं और वक्रगति में घुमाव होता है जिसमें अधिक से अधिक चार समय लगते हैं। इस प्रकार ससार में भटकनेवाले जीवों में गुणों का विकास नही होता, भटकना निरर्थक है। ऐसा विचार करना भव विचय धर्मध्यान है। अनित्य, अशरण आदि बारह प्रकार की वैराग्य भावनाओं का चिन्तन तथा लोक के आकार का चिन्तन ही सस्थान विचय धर्मध्यान है। अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान छद्मस्थ जीवों को नही हो सकता है। अत सर्वज्ञ कथित तत्त्वों पर चिन्तन करना आज्ञाविचय धर्मध्यान है। आगम के किसी विवादास्पद विषय को तर्क की कसौटी पर कसकर स्याद्वाद नयादि द्वारा उसका निर्धारण करना हेतुविचय धर्मध्यान है। इन सभी प्रकार के धर्मध्यान पर पीछे विस्तृत से वर्णन किया गया है। अत वहाँ देखें।

ध्यान के ८० भेद : आचार्य हरिभद्रसूरि आदि ग्रन्थकारों ने धर्म ध्यान के अस्सी भेद बताये हैं[२०१] 'स्थान, वर्ण, अर्थ, आलबन, और अनालंबन' इन पाच योगों को 'इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता, सिद्धि' इन चार के साथ गुणा करने से ध्यान के बीस भेद होते हैं। 'अनुकपा, निर्वेद, सवेग, और प्रशम' ये चार इच्छानुयोग के कार्य हैं। पूर्व कथित बीस भेदों का इन चार के साथ गुणा करने से धर्मध्यान के अस्सी भेद होते हैं। ५×४×४=८०

छद्मस्थ ध्यान के ४४२३६८ भेद हैं। मूलत. ध्यान के चौबीस भेद हैं[२०२]
१ ध्यान, २. परम ध्यान, ३ शून्य, ४. परमशून्य, ५. कला, ६. परमकला, ७ ज्योति, ८ परम ज्योति, ९. बिन्दु, १०. परमबिन्दु, ११. नाद, १२ परमनाद, १३. तारा, १४. परमतारा, १५ लय, १६. परमलय, १७ लव, १८. परम लव, १९ मात्रा, २०. परममात्रा, २१. पद, २२. परमपद, २३ सिद्धि, २४ परमसिद्धि।
इनका स्वरूप[२०३]- 'स्थिर' अध्यवसाय को ध्यान कहते हैं। इसके दो भेद है - द्रव्य और भाव। द्रव्य ध्यान में आर्त रौद्र ध्यान और भाव में धर्मध्यान का वर्णन है। 'परम ध्यान' में शुक्लध्यान का प्रथम भेद 'पृथक्त्व वितर्क सविचार' ध्यान का कथन है। 'शून्य ध्यान' में चिन्तन का अभाव होता है। इसके दो भेद हैं- द्रव्य और भाव। द्रव्य ध्यान में क्षिप्त, दीप्त, उन्मत्त, राग, स्नेह, अतिभय, अव्यक्त, निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानर्द्धि ये बारह भेद आते हैं और भाव शून्य ध्यान में चित्त व्यापार का सर्वथा अभाव है। 'परम शून्य' ध्यान में प्रथम चित्त को तीन लोक के विषय में व्याप्त करके, तदनन्तर उसमें से किसी एक वस्तु में मन को लगाया जाता है। 'कला ध्यान' के दो भेद हैं। द्रव्य और भाव। नाड़ी दबाकर मल्लादि को रोकना द्रव्य कला है। अत्यत अभ्यास द्वारा देश, काल, एव करण आदि की अपेक्षा बिना प्रयत्न स्वय ही शरीर को क्रियारहित करता है और दूसरों के द्वारा उतारता है, उसे भाव कला कहते हैं, यथा आचार्य पुष्पभूति की कला (समाधि) को मुनि पुष्पमित्र ने जागृत की थी। तीव्र अभ्यास के द्वारा अपने आप समाधि उतर जाय वह परम ध्यान है। यथा चौदह पूर्वधरों को 'महाप्राण' ध्यान में होता है। 'ज्योतिध्यान' भी दो प्रकार का है। द्रव्य और भाव। चन्द्र, सूर्य, मणि, प्रदीप, बिजली आदि द्रव्य ज्योति हैं और अभ्यास द्वारा जिनका मन लीन बन गया है ऐसे मनुष्य को भूत, वर्तमान, भविष्य काल के बाह्य वस्तुओं को सूचित करनेवाला विषयक प्रकाश जिससे उत्पन्न हो उसे भाव ज्योति कहते हैं। 'परम ज्योति' ध्यान में चिरकाल तक स्थिर रहनेवाला बिना प्रयत्न से उत्पन्न समाधि अवस्था में जो ध्यान उत्पन्न होता है वह। जलादि बिन्दु 'द्रव्य से बिंदु' है और जिस परिणाम विशेष से आत्मा पर चढ़े हुए कर्मदलिक खिर जाय ऐसे अध्यवसाय विशेष 'भाव बिन्दुध्यान' है। सम्यक्त्व, देश विरति, सर्वविरति, अनंतानुबंधी चतुष्क, का विसंयोजन, सप्तक का क्षय, उपशामक अवस्था, उपशांतमोहावस्था, मोहक्षपकावस्था और क्षीणमोहावस्था प्राप्त होते समय जो गुणश्रेणियाँ होती हैं उन्हें 'परम बिन्दु' ध्यान समझना। इन गुणश्रेणियों में अंतिम की दो गुणश्रेणी केवलज्ञानी को होती है और शेष सभी छद्मस्थ को। क्षुधा से पीड़ित मनुष्य कान में अंगुली डालकर जो ध्वनि करता है वह द्रव्य नाद है और अपने ही शरीर में उत्पन्न वाजिंत्र जैसे नाद का श्रवण करता है वह 'भावनाद ध्यान' है। भिन्न-भिन्न वाजिंत्रों के नाद भिन्न-भिन्न ध्वनि द्वारा सुनाई देते हैं वैसे ही विभिन्न शब्दों का नाद 'परमनाद' है। विवाहादि प्रसग में आँखकीकी न्याय से वर वधू का परस्पर तारा मैत्रक-तारा मेलक होना 'द्रव्य तारा ध्यान' है और कायोत्सर्ग में निश्चल दृष्टि

प्राप्त होना 'भावतारा ध्यान' है। बारहवीं पडिमा जैसे शुष्क पुद्‌गल पर अनिमेष दृष्टि रखना 'परम तारा ध्यान' है। वज्रलेप आदि द्रव्य से वस्तुओं का जो परस्पर गाढ़ संयोग होता है वह 'द्रव्य लय' है और 'अरिहत, सिद्ध, साधु, तथा केवलीप्ररूपित धर्म - इन चार का शरण अंगीकार करने से जो चित्त का निवेश होता है, वह 'भावलय' है। आत्मा से आत्मा में लीन होना ही 'परमलय ध्यान' है। जिनसे घासादि को कापा जाता है वह 'द्रव्य लव' है और शुक्लध्यान एव अनुष्ठान द्वारा कर्मों को छेदा जाना वह 'भाव लव' है। उपशमश्रेणि और क्षपक श्रेणि 'परमलव ध्यान' है। उपकरणादि की मर्यादा 'द्रव्यमात्रा' है और समवसरण में स्थित सिंहासन पर विराजमान धर्मोपदेशना देते हुए तीर्थंकर समान स्वय की आत्मा को देखना 'भावमात्रा' ध्यान है। चौबीस वलयों से वेष्टित स्वयं की आत्मा का ध्यान, वह 'परममात्रा' ध्यान है। चौबीस वलय इस प्रकार हैं -

१. 'शुभाक्षर वलय' है, जिसमें धर्मध्यान के चार भेदों के २३ अक्षर और शुक्लध्यान के प्रथम भेद के १० अक्षर, कुल ३३ अक्षरों का न्यास किया जाता है।

२. 'अनक्षरवलय' है। आगम ग्रन्थों में अनक्षर श्रुतज्ञान 'ऊससिय' आदि गाथाओं के अक्षरों को वलय में स्थापित किया जाता है।

३ 'परमाक्षर वलय' है। 'ॐ, अ र्ह, ॲ रिं ह तॅ सिद्धॅ, ऑ यॅ रिं यॅ, उॅ वॅ ज्झॉ यॅ, सॉ हूँ नम.' इन अक्षरों का न्यास करने में आता है।

४. 'अनक्षर वलय' में 'अ' से लेकर 'ह' तक ४९ अक्षर, वैसे ही ईषत्‌स्पृष्टतर 'य, ल, व,' इन अक्षरों को मिलाने से ५२ अक्षरों का न्यास किया जाता है।

५ 'ध्यान, परमध्यान' आदि चौबीस भेद में से प्रथम दो भेद प्रथम शुभाक्षरवलय में आते हैं और शेष २२ भेदों को इसमें न्यास किया जाता है।

६. 'सकलीकरणवलय' में पृथ्वीमडल, अप्‌मंडल, तेजोमंडल, वायुमडल और आकाशमंडल का स्वरूप है।

७. '२४ तीर्थंकरों की माताओं का वलय' इसमें वे अपने-अपने गोद में तीर्थंकर को बिठाकर परस्पर एक दूसरों को देखने में व्यग्र हैं।

८. २४ तीर्थंकरों के पिताओं का वलय।

९ इस वलय में भूत, भविष्य और वर्तमान कालीन चौबीस तीर्थंकरों के नाम अक्षरों की स्थापना की जाती है।

१०. इस वलय में रोहिणी आदि १६ विद्यादेवियों का न्यास किया जाता है।

११. इस वलय में २८ नक्षत्रों के नामाक्षरों की स्थापना की जाती है।

१२. इस वलय में ८८ ग्रहों की स्थापना की जाती है।

१३. तेरहवें वलय में ५६ दिक्कुमारिकाओं की स्थापना करने में आती है।

१४. चौदहवें वलय में ६४ इन्द्रों की स्थापना की जाती है।

१५ पन्दरहवें वलय में २४ यक्षिणियों की स्थापना करने में आती है।

१६. सोलहवें वलय में २४ यक्षों की स्थापना करने में आती है।

१७. सत्तरहवें वलय में असंख्यात शाश्वत अशाश्वत अरिहंतों की जिनप्रतिमाओं के चैत्य का स्थापन किया जाता है।

१८ अठारहवें वलय में ऋषभदेव आदि वर्तमानकालीन २४ तीर्थंकरों के परिवार, गणधर एव साधुओं की संख्या का न्यास किया जाता है।

१९. उन्नीसवें वलय में महत्तरा आदि साध्वियों की संख्या है।

२० बीसवें वलय में श्रावकों की सख्याओं को स्थापित किया गया है।

२१. इक्कीसवें वलय में श्राविकाओं की संख्या का न्यास है।

२२ बाईसवें वलय में ९६ भवन योग की स्थापना करने में आयी है।

२३. तेईसवें वलय में ९६ करण योग की स्थापना करने में आयी है।

२४. चौबीसवें वलय में ९६ करण की स्थापना करने में आयी है।

'पदध्यान' के दो भेद हैं - द्रव्य और भाव। राजा, मंत्री, कोषाध्यक्ष, सेनापति, पुरोहित, आदि लौकिक पदवियाँ 'द्रव्य पद' हैं और आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणावच्छेद आदि पदवियाँ 'भावपद' हैं। पंच परमेष्टि पदों का आत्मा में चिन्तन करना 'परम पद' ध्यान है। 'सिद्धि ध्यान' के दो भेद हैं - द्रव्य और भाव। लघिमा, वशिता, ईशित्व, प्राकाम्य, महिमा, अणिमा, आदि आठ लब्धियाँ 'द्रव्य सिद्धि' हैं और राग द्वेष माध्यस्थ भाव रूप परमानंद लोकोत्तर' सिद्धि है। मुक्ति प्राप्त जीवों के ६२ गुणों का ध्यान 'भाव सिद्धि' है। सिद्धों के गुणों को अपने आत्मा में अध्यारोप करना 'परमसिद्धि' ध्यान है।

इन चौबीस भेदों में आये हुए भवनयोग, करणयोग और करण का स्वरूप निम्नलिखित है[२०४]- भवनयोग और करणयोग के ९६-९६ भेद हैं। एक अन्तर्मुहूर्त में मरुदेवी माता की तरह सहज क्रिया की जाती है उसे भवनयोग कहते हैं । और जानकर की जानेवाली क्रिया 'करणयोग' कहलाती है। भवनयोग के ८ भेद इस प्रकार हैं- योग, वीर्य, स्थान, उत्साह, पराक्रम्, चेष्टा, शक्ति और सामर्थ्य, इन आठ भेदों के प्रत्येक के तीन-तीन भेद हैं-'योग', 'महायोग' और 'परमयोग'। दूसरे शब्दों में योग को जघन्य, महायोग

को मध्यम और परमयोग को उत्कृष्ट कहते हैं। आठ भेदों को इन भेदों के साथ गुणा करने से (८×३) चौबीस भेद होते हैं। इन चौबीस भेदों को 'प्रणिधान' (अशुभ प्रवृत्ति से निवृत्ति), 'समाधान' (शुभ कार्यों में प्रवृत्ति), 'समाधि' (रागद्वेष में मध्यस्थ भाव) और 'काष्ठा' (मन की एकाग्रता से उच्छ्वास आदि का निरोध) इन चार भेदों के साथ गुणा करने से (२४×४=९६) ९६ भेद भवनयोग के होते हैं। प्रणिधानादि के लिये क्रमश प्रसन्न चद्र राजर्षि, भरतचक्रवर्ती, दमदतमुनि व पुष्पभूति आचार्य के दृष्टान्त हैं।

ये ही ९६ भेद 'करणयोग' के भी हैं। अब करण के ९६ भेद कहते हैं- १ मन, २ चित्त, ३ चेतना, ४ सज्ञा, ५ विज्ञान, ६ धारणा, ७ स्मृति, ८ बुद्धि, ९ ईहा, १० मति, ११ वितर्क और १२ उपयोग।

चिन्तन यह मन का खुराक है। चिन्तन का अभाव वह मन का अनशन है। चिन्ता (चिन्तन) के अभाव से जिसका मन (चचलता) नाश हुआ, ऐसी अवस्था को 'उन्मनी करण' कहते हैं। यह उन्मनीकरण जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट रूप से तीन प्रकार का है। यदि तीनों का मिश्रण हो तो चौथा प्रकार भी समझना चाहिए। जैसे 'करण' के चार भेद हैं वैसे ही 'भवन' के भी चार भेद हैं। यथा - उन्मनीकरण, महोन्मनीकरण परमोन्मनीकरण, सर्वोन्मनीकरण, उन्मनीभवन, महोन्मनीभवन, परमोन्मनीभवन और सर्वोन्मनीभवन ये आठ भेद मन के हैं। चित्तादि प्रत्येक के आठ-आठ भेद हैं, जैसे कि निश्चितीकरण, महानिश्चित्तीकरण, परम निश्चित्तीकरण, सर्वनिश्चित्तीकरण, निश्चित्तीभवन, महा-निश्चित्तीभवन, परमनिश्चित्तीभवन और सर्व निश्चित्ती भवन। ऐसे ही 'चेतना' निश्चेत्तीकरणादि के आठ भेद, 'सज्ञा' - नि सज्ञी करणादि के आठ भेद, 'विज्ञान' - निर्विज्ञानीकरणादि के आठ भेद, 'धारणा' - निर्धारणीकरणादि के आठ भेद, 'स्मृति' विस्मृतिकरणादि के आठ भेद, 'बुद्धि' निर्बुद्धीकरणादि के आठ भेद, 'ईहा' निरीहीकरणादि के आठ भेद, 'मति' निर्मतिकरणादि के आठ भेद, 'वितर्क'-निर्वितकरणादि के आठ भेद, 'उपयोग'-निरूपयोगी करण के आठ भेद-इस प्रकार इन बारह वस्तुओं के चार करण और चार भवन के साथ गुणा करने से (१२×४×४=९६) ९६ भेद करण के होते हैं। यहाँ पर जघन्य के लिये उन्मनीकरण, मध्यम के लिये महोन्मनीकरण, उत्कृष्ट के लिये परमोन्मनी करण और चौथे प्रकार के लिये सर्वोन्मनीकरण है।

४४२३६८ ध्यान के भेद : करण के ९६ भेदों का 'ध्यान
प्रकारों के साथ गुणाकार करने से २३०४ भेद होते हैं। २३०४
साथ गुणा करने से २२११८४ भेद होते हैं। ऐसे ही २३०४

साथ गुणाकार करने से २२११८४ भेद होते हैं। करणयोग और भवनयोग दोनों के भेद मिलाने से ध्यान के ४४२३६८ भेद होते हैं।[२०५]

इस प्रकार पंचम अध्याय में आगमकालीन, निर्युक्तिकालीन एव आगमेतर कालीन ध्यान के सभी भेदों का हमने अपनी अल्प बुद्धि के अनुसार स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

संदर्भ सूची

१ (क) चत्तारि झाणा पण्णत्तं, तं जहा - अट्टे झाणे, रोद्दे झाणे, धम्मे झागे, सुक्के झाणे। ठानांगसूत्र (आत्मारामजी म) ४।१।१२

(ख) आर्तरौद्र धर्म शुक्लानि। तत्त्वार्थसूत्र, (उमास्वाति) ९/२९

(ग) अट्टं रूद्दं धम्मं सुक्कं झाणाइं -। ध्यानशतक (जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण) गा ५

२ (क) अट्टे झाणे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा -अमणुन्नसंपओगसंपउत्ते, तस्स विप्पओगसति समण्णागए यावि भवइ।
मणुन्नसपओग संपउत्ते, तस्स अविप्पओगसतिसमण्णागए यावि भवइ।
आयक संपओग संपउत्ते, तस्स विप्पओगसतिसमण्णागए यावि भवइ।
परिजुसियकामभोगसंपओग संपउत्ते, तस्स अविप्पओगसतिसमण्णागए यावि भवइ। ठानांग सूत्र (आ म) ४/१/१२

(ख) तत्त्वार्थसूत्र ९/३१-३४

(ग) ज्ञानार्णव २५/२४

(घ) ध्यान प्रदीप (विजयकेसर सूरि) ५/७०

३ (क) ध्यान शतक (जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण) गा ७

(ख) सर्वार्थ सिद्धि ९/३० की टीका

(ग) ज्ञानर्णव २५/२५-२८

(घ) ध्यान दीपिका गा ७१-७२

(ङ) सिद्धान्तसार सग्रह (नरेंद्र सेनाचार्य) ११/३७

(च) श्रावकाचार संग्रह भा ५, पृ ३५१ (गा ६)

(ख) ज्ञानार्णव २५/२९-३१
(ग) ध्यान दीपिका गा ७३-७४
(घ) सिद्धान्तसार सग्रह ११/३८
(ङ) श्रावकाचार सग्रह भा ५ पृ ३५१

५ (क) आचारांगसूत्र
(ख) ज्ञानार्णव २५/३२

६ (क) ध्यान शतक गा ७
(ख) ध्यान दीपिका (गुजराती-विजयकेशरसुरिजी) गा ७६
(ग) तत्त्वार्थसूत्र ९/३२

७ (क) ज्ञानार्णव २५/३४
(ख) ध्यान दीपिका गा ७७

८ (क) तत्त्वार्थसूत्र ९/३४
(ख) ध्यान शतक गा ९
(ग) ज्ञानार्णव २५/३५-३६

९ एवं चउव्विहं रागद्दोस मोह कियस्स जीवस्स।
अट्टज्झाण ससारवद्धणं तिरियगइमूल।।
रागो दोसो मोहो य जेण ससार हेयवो भणिया।
अट्टंमि य ते तिण्णि वि, तो त ससार तरुबीय।।

ध्यान शतक गा १०, १३

१० (क) सस्कृत शद्बार्थ कौस्तुभ (स्व चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा) पृ ९८६
(ख) नालन्दा विशाल शद्ब सागर (स नवलजी) पृ ११९५

११ (क) अट्टस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णत्तं, तं जहा-कंदणया, सोयणया, तिप्पणया, परिदेवणया। ठानांगसूत्र (आ म) ४/१/१२
(ख) ध्यानशतक गा १५

१२. ध्यान शतक गा १६-१७

१३. रोद्दे झाणे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा -हिंसाणुबंधी, मोसाणुबंधी, तेणाणुबधी, सरक्खणाणुबंधी। स्थानांगसूत्र (आत्मा म) ४/१/१२

१४ (क) ध्यान शतक (जिनभद्र) गा १९
(ख) ज्ञानार्णव २६/४/१२

(ग) स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा (स्वामी कुमार) गा ४७५

(घ) सिद्धान्तसार संग्रह ११/४२

(ड) ध्यान कल्प तरू (पूज्य श्री अमोलकऋषि म.) पृ. १२

(च) ध्यान दीपिका (गुज) गा ८५-८६

१५. (क) ध्यान शतक गा २०

(ख) ज्ञानार्णव २६/१६-२३

(ग) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा. ४७५

(घ) सिद्धान्तसार संग्रह ११/४३

१६ (क) ध्यान शतक गा २१

(ख) ज्ञानार्णव २६/२४-२८

(ग) सिद्धान्तसार संग्रह, ११/४४

(घ) ध्यानदीपिका (गुज.) गा. ८९-९१

(ङ) श्रावकाचार संग्रह भा ५, पृ ३५१

१७ (क) ध्यान शतक गा २२

(ख) ज्ञानार्णव २६/२९

(ग) सिद्धान्तसार संग्रह, ११/४५

(घ) ध्यान दीपिका (गुज) गा ९२

१८. एयं चउव्विहं राग-दोस -मोहाउलस्स जीवस्स।
रोद्दज्झाणं संसार वद्धणं नरयगइमूले। ध्यान शतक गा २४

१९ रोद्दस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णत्तं, तं जहा-ओसन्नदोसे, बहुलदोसे, अन्नाणदोसे, आमरणंतदोसे।
स्थानांगसूत्र (आत्मा म) ४/१/१२

२० ध्यान कल्प तरू (पू अमोलक ऋषिजी म) पृ २१

२१ प्रवचन सारोद्धार, द्वार ४४, गा ४५१-४५२

२२ ज्ञानार्णव २६/३७-३८

२३ (क) ध्यान शतक गा २६

(ख) ध्यानदीपिका (गुज विजयकेशरसूरि) १२१

२४. (क) विचितिर्विवेको विचारणा विचय। विचितिर्विचयो विवेको विचारणेत्यनर्थान्तरम्। तत्त्वार्थवार्तिक (भट्टकलंकदेव) ९/३६ की टीका

(ख) विचयनं विचयो विवेको विचारणेन्यर्थ।
सर्वार्थ सिद्धि ९/३६ की टीका

२५ (क) धम्मे झाणे चउव्विहे चउपडोयारे पण्णत्तं, तं जहा - आणा-विजए, अवायविजए, विवाग विजए, सठाण विजए।

स्थानागसूत्र (आत्मा म) ४/१/१२

(ख) तत्त्वार्थसूत्र (प सुखलालजी - सम्पादक) ९/३७

(ग) ज्ञानार्णव ३३/५

(घ) श्रावकाचार संग्रह, भा ५, पृ २५२

२६ तत्थ आणा णाम आगमो सिद्धतो जिणवयणमिदि एयट्ठो।

षट्खण्डागम भा ५ धवला टीका (वीरसेनाचार्य) पृ ७०

२७ (क) षट् खण्डागम भा ५ धवला टीका गा ३८

(ख) योग शास्त्र (हेमचद्राचार्य) १०/९

(ग) ध्यान दीपिका (गुज) गा १२१-१२२

२८ (क) षट् खण्डागम भा ५, धवला टीका (गा ३५-३७) पृ ७१

(ख) ध्यान शतक गा ४५-४६

(ग) ज्ञानार्णव (शुभचन्द्राचार्य) ३२/१

२९ अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गथति गणहरा निउणं।
सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्त पवत्तइ। आवश्यक निर्युक्ति गा १९२

३० (क) प्रमाणनयैरधिगम तत्त्वार्थसूत्र १/६

(ख) प्रमाण परिच्छिन्नस्यानन्तधर्मात्मकस्य वस्तुन
एकदेश ग्राहिणस्तदितराशाप्रतिक्षेपिणोऽध्यवसायविशेषानया ।

जैन तर्क भाषा (उपा यशोविजयजीगणि) नय परिच्छेद पृ २१

३१. यथा हि समुद्रैकदेशो न समुद्रो नाप्यसमुद्रस्तथा नया अपि न प्रमाण न वाऽप्रमाणमिति।

तर्क भाषा (उपा यशोविजयजी) नयपरिच्छेद (पृ २१)

३२ (क) सम्मति तर्क (सिद्ध सेन दिवाकर) १/३,४,५,११
एवं सम्मति तर्क (" " ") पृ २१ एवं २१४ (गा. १९)

(ख) ज्ञान-सार, भाग १, (यशोविजयजी) पृ २८३-

(ग) जैन तर्क भाषा (यशोविजयजी) पृ २२,२४,२५

(घ) से किं तं नए? सत्त मूलणया पण्णत्ता, तं जहा-णेगमे १ संगहे २ ववहारे ३ उज्जुसुए ४ सद्दे ५ समभिरूढे ६ एवंभूए ७ ।

अणुओगदारसुत्तं (सुत्तागमे) पृ ११६२

(ङ) नैगम-संग्रह-व्यवहारर्जुसूत्रशद्बा नया । तत्त्वार्थसूत्र १/३४

३३. (क) कुन्दकुन्द भारती, प्रस्तावना पृ १०

(ख) निश्चय व्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थित ।
तत्राद्य साध्यरूप. स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम्।।
श्रद्धानाधिगमोपेक्षा शुद्धस्य स्वात्मनो हि या ।
सम्यक्त्वज्ञानवृत्तात्मा मोक्षमार्ग स निश्चय ।।
श्रद्धानाधिगमोपेक्षा या पुन स्यु परात्मनाम्।
सम्यक्त्वज्ञानवृत्तात्मा स मार्गो व्यवहारत ।।

उद्धृत कुन्दकुन्द भारती, प्रस्तावना पृ १६

३४ (क) स्वपरव्यवसायि ज्ञान प्रमाणम्।।

प्रमाण-नय-तत्वालोक (वादिदेवसूरि) १/२

(ख) स्वम् आत्मा ज्ञानस्यैव स्वरूपमित्यर्थ ,
पर तस्मादन्योऽर्थ इति यावत्, तौ व्ययस्यति यथास्थिततत्वेन निश्चिनोतीत्येवशीलं स्वपरव्यवसायि।

जैन तर्क भाषा (उपा. यशोविजयगणि) १/प्रमाणपरिच्छेद पृ १

३५ (क) ठाणे (सुत्तागमे) ४/३/३८३, ७/६७८

(ख) नामस्थापना द्रव्यभावतस्तन्न्यास । तत्त्वार्थसूत्र १/५

३६ नामं ठवणा दविए त्ति एस दव्वट्ठियस्स निक्खेवो।
भावो उ पज्जवट्ठिअस्स परूवणा एस परमत्थो।।

सन्मति तर्क (सिद्धसेन दिवाकर) १/६

३७ (क) सन्मति तर्क (सिद्धसेनदिवाकर) १/२८, ३/६०

(ख) ज्ञानार्णव (शुभचद्राचार्य) ३३/१०, १२, १५-१७

३८ (क) नव सब्भावपयत्था पण्णत्तं, तं जहा - जीवा अजीवा पुण्णं पावो आसवो सवरो मिज्जरा बंधो मोक्खो।

स्थानांग सूत्र ९/८६७ (सुत्तागमे)

(ख) जियअजिय पुण्णपावासव संवरबंधमुक्ख निज्जरणा।।

कर्मग्रन्थ (देवेन्द्रसूरि) १/१५

(ग) जीवाजीवा य बन्धो य, पुण्ण पावाऽसवो तहा।
संवरो णिज्जरा मोक्खो, सन्तेए तहिया नव।। उत्तराध्ययनसू २८/१४

(घ) पंचास्तिकाय गा.

३९ (क) जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्। तत्त्वार्थसूत्र १/४

४० इमा खलु सा छज्जीवनीकाया नामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया सुअक्खाया सुपन्नता सेयं ने अहिज्जिउं अज्झयणं

धम्मपण्णत्ती। त जहा- पुढविकाइया १, आउकाइया २, तेउकाइया ३, वाउकाइया ४, वनस्सइकाइया ५, तसकाइया ६।

दसवैकालिक सूत्र ४/३ (सुत्तागमे)

४१. (क) सण्णी असण्णी। पण्णवण्णसुत्त। गा ६६४ (सुत्तागमे)

तसे चेव थावरे चेव। स्थानांगसूत्र २/८० (सुत्तागमे)

(ख) समनस्काऽमनस्का ।

संसारिणस्त्रसस्थावरा । तत्वार्थसूत्र २/११, १२

४२ (क) जीवाजीवाभिगमे पृ ११० (सुत्तागमे)

(ख) तत्त्वार्थ सूत्र हिन्दी टीका (पं सुखलालजी) पृ ८०

४३ (क) षट्खण्डागम भा ५ धवला टीका पृ ७२

(ख) ध्यान शतक गा ५०

(ग) योगशास्त्र (हेमचन्द्राचार्य) १०/१०

(घ) ज्ञानार्णव ३४/२-३, ६, ११-१२, ९, १, १५-१६

(ङ) सिद्धान्तसार सग्रह ११/५१-५२

(च) स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा पृ ३६७

४४. (क) कायवाड्मन कर्म योग । स आस्रव ।

शुभ पुण्यस्य। अशुभ पापस्य। तत्वार्थसूत्र ६/१-४

(ख) आत्मप्रदेशपरिस्पन्दो योग ।

यथा सरस्सलिलावाहिद्वार तदास्रवकारणत्वाद्
आस्रव इत्याख्यायते तथा योगप्रणालिकया आत्मन कर्म आस्रवतीति योग । सर्वार्थसिद्धि (पूज्यपाद) ६/१ की वृत्ति

(ग) पावपओगा मणवचिकाया कम्मासव पकुव्वति।
भुञ्जतो दुब्मत्तं वणम्मि जह आसवं कुणइ।।

भगवति आराधना (शिवार्य) गा १८२७

(घ) अनुकम्पा त्रिप्रकारा। धर्मानुकम्पा मिश्रानुकम्पा सर्वानुकम्पा चेति।
स च द्वि प्रकार यतिगृहिगोचरभेदेन।

भगवति आराधना भा २ टी पृ ८१४, ११६
(अपराजितसूरि)

(ङ) आस्रव अपायस्तु। प्रशमरतिप्रकरण (उमास्वाति) गा २४८

४५. (क) चत्तारि विकहाओ पण्णत्तं तं जहा -
इत्थिकहा भत्त कहा देस कहा राय कहा।
इत्थिकहा चउव्विहा पण्णत्ता, त जहा- इत्थीणं जाइ कहा, इत्थीणं

कुलकहा, इत्थीणं रूव कहा, इत्थीणं नेवत्थ कहा।
भत्तकहा चउव्विहा पण्णत्ता, त जहा-भत्तस्स आवावकहा,
भत्तस्स निव्वावकहा, भत्तस्स आरंभकहा, भत्तस्स णिट्ठाणकहा।
देस कहा चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा- देसविहिकहा,
देसविकप्पकहा, देसनेवत्थकहा।
रायकहा चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा रण्णो अइयाणकहा,
रण्णो निज्जाण कहा, रण्णो बलवाहणकहा, रण्णो कोसकोट्ठागार कहा।

स्थानांग सूत्र (आत्मा म) ४/२/४८

(ख) --- विकथा --- अपायस्तु। प्रशमरतिप्रकरणम् गा. २४८

४६ (क) तओ गारवा पण्णत्तं, त जहा - इड्ढीगारवे, रस गारवे, सायागारवे।

स्थानांगसूत्र (आत्मा म) ३/४/९७

(ख) -- गौरव--अपायस्तु। प्रशमरति प्रकरणम् गा २४८

४७ (क) बावीसं परीसहा पण्णत्तं, तं जहा- दिगिंछापरीसहे, पिवासापरीसहे, सीतपरीसहे, उसिणपरीसहे, दंसमसगपरीसहे, अचेलपरीसहे, अरइ-परीसहे, इत्थी परीसहे, चरिआपरीसहे, निसीहिआपरीसहे, सिज्जा-परीसहे, अक्कोसपरीसहे, वहपरीसहे, जयणापरीसहे, अलाभपरीसहे, रोगपरीसहे, तणफासपरीसहे, जल्लपरीसहे, सक्कारपुरक्कारपरीसहे, पण्णा परीसहे, अण्णाणपरीसहे, दसणपरीसहे ।

समवायांग सूत्र, समवाय २२

(ख) --- परीषहाद्येष्वपायस्तु। प्रशमरतिप्रकरणम् गा २४८

४८. (क) तओ सल्ला पण्णत्तं. तं जहा - मायासल्ले, णियाणसल्ले, मिच्छादसणसल्ले। ठाणे (सुत्तागमे) ३/२४०

(ख) सिद्धान्तसार संग्रह ४/४-११, २४५-२५६

४९ (क) पच आसवदारा पण्णत्ता, तं जहा -मिच्छत्तं अविरइ पमाए कसाया जोगा। स्थानाग ५/२/४१८

(ख) मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतव । तत्वार्थ सूत्र ८/१

५०. (क) मिथ्यात्वं तत्त्वार्थाश्रद्धानम्। प्रशमरति प्रकरणम् गा २३ की टीका

(ख) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा २७, ३२, ३३

(ग) बंधदि मुंचदि जीवो पडि समयं कम्म-पुग्गला विविहा।
णोकम्म-पुग्गला वि य मिच्छत्त-कसाय-संजुत्तो।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा. ६७

(घ) कालु अनादि अणाइ जिउ भव-सायरू जि अणंतु।

मिच्छा-दसण-मोहियउ ण वि सुह दुक्ख जि पत्तु।।

योगसार (योगीन्दु) गा, ४

(ड) वस्त्वन्यथा परिच्छेदो ज्ञाने संपद्यते यत ।
तन्मिथ्यात्व मत सद्भि कर्मारामोदयोदकम्।।
उदये दृष्टिमोहस्य गृहीतमगृहीतकम्।
जात साशयिक चेति मिथ्यात्वं तत् त्रिधा विदु ।।
अतत्त्व मन्यते तत्त्वं जीवो मिथ्यात्व मावित ।
अस्वर्णमीक्षते स्वर्णं न किं कनक मोहित ।।

योगसारप्राभृत (अमितगति) १/१३-१५

(च) अदेवागुर्वधर्मेषु, या देवगुरुधर्मधी ।
तन्मिथ्यात्व भवेद्व्यक्त-अव्यक्तं मोह लक्षणम्।।

गुणस्थान क्रमारोह (रत्नशेखरसूरि) उद्धृत धर्म रत्नप्रकरण

५१ (क) सभाष्य तत्त्वार्थाधिगम् सूत्र ८/१
(ख) आवश्यक चूर्णि गा १६५८
(ग) प्रशमरतिप्रकरणम् गा २३ की टीका
(घ) कर्म ग्रन्थ ४/५१
(ड) गुणस्थान क्रमारोह गा ६ की टीका
(च) स्थानाग सूत्र १०/९९४ (सुत्तागमे)

५२ ध्यान शतक (जिनभद्रगणि) टी हरिभद्रसूरि

हिन्दी विवेचक विजयभुवनभानु सूरिश्वरजी पृ १६६

५३ अविरमणमविरति अनिवृत्ति पापाशयात् ।।

प्रशमरतिप्रकरणम् गा ३३ की टीका

५४ अविरतिर्द्वादशविधा, षट्काय षट्करणविषयभेदात्।।

सर्वार्थसिद्धि ८/१ की टीका

५५ (क) छव्विहे पमाए पण्णत्ते, त जहा-
मज्जपमाए, णिद्दपमाए, विसयपमाए, कसायपमाए, जूयपमाए, पडिलेहणापमाए। ठानाग सूत्र ६/५८३ (सुत्तागमे)

(ख) मज्ज विसय कसाया, निद्दा विकहा पंचमी भणिया।
एए पच पमाया जीवा पाडति संसारे।।

ध्यान कल्प तरू (अमोलक ऋषि जी म) पृ

(ग) विषयेन्द्रिय निद्रा विकथाख्य चतुर्विध प्रमाद ।

प्रशमरति प्रकरणम् गा ३३ की टीका

(घ) विकहा तहा कसाया इंदियणिद्दा तहेव पणयो च।
चदु चदु पण भेगेण होंदि पमादा हु पण्णरसा।।

गोम्मटसार (जी का) गा ३४

(ङ) पंचदश प्रमादा १५, अशीति प्रमादा वा ८०
सार्धसप्तत्रिंशत्सहस्रप्रमित प्रमादा वा ३७५००।
यैस्ते तथोक्ता ।
१५ = विकथा ४, कषाय ४, इन्द्रिय ५, निद्रा, मोह
८० = ४ × ४ × ५ = ८०
३७५०० = विकथा २५, कषाय २५, इन्द्रिय ५, मन=१, निद्रा ५, स्नेह
और मोह = २५ × २५ × ६ × ५ × २ = ३७५००

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा १०/१९५ गा की टीका

५६ कम्मं कसो भवो वा, कसमातो सिं कसाया तो।
कसमाययति व जतो गमयंति कस कसाययत्ति ।।

विशेषावश्यक भाष्यम् (जिनभद्रगणिक्षमा श्रमण)
(टी हेमचंद्राचार्य) गा १२२८

५७ षोड्श कषाया नव नोकषायास्तेषामीषद् भेदो न भेद इति
पचविंशति कषाया ।। सर्वार्थ सिद्धि ८/१ की टीका

५८ सोलह कषाय ----। कर्मग्रन्थ १/१७
अण अपचक्खाणा, पच्चक्खाणा य संजलणा।

५९ कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणय-नासणो।
माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्व-विणासणो।।

दशवैकालिकसूत्र, ८/३८

६० जाजीववरिसचउमासपक्खगा नरयतिरिय नर अमरा।
सम्माणुसव्वविरइ अहक्खाय चरित्त घायकरा।।
जल रेणु पुढवी पव्वयराई सरिसो चउव्विहो कोहो।
तिणिसलयाकट्ठसेलत्थभोवमो माणो।।
मायावलेहिगोमुत्तिमिंढसिंग घणवसिमूल समा।
लोहो हलिद्दखजणकद्दमकिमिरागसामाणो।। कर्म ग्रन्थ १/१८-२०

६१ उवसानं उवणीया गुणमहया जिणचरित्तसरिसं पि।
पडिवायति कसाया किं पुण सेसे सरागत्थे? ।।

विशेषावश्यक भाष्य गा १३०६

६२ अण थोवं वण थोव अग्गीथोव कसायथोव च।
न हु भे वीससियव्व थेवं पि हु तं वहु होइ।।

विशेषावश्यक भाष्य गा १३१०

६३ ममकारा हकारावेषां मूलं पदद्वयं भवति।
रागद्वेषावित्यपि तस्यैवान्यस्तु पर्याय· ।।
माया लोभ कषाय श्चेत्येतद् राग संज्ञित द्वन्द्वम्।
क्रोधो मानश्च पुनर्द्वेष इति समासनिर्दिष्ट ।।
प्रशमरतिप्रकरणम् गा ३१-३२

६४ (क) इष्ट वस्तुनि या प्रीति स रागो रागवर्जितै ।
कथित सर्वमोहस्य मूल मूलमिवायतम्।। सिद्धान्तसारसंग्रह ३/१०२

(ख) इच्छा मूर्च्छा काम स्नेहो गार्ध्यं ममत्वमभिनन्द-।
अभिलाष इत्यनेकानि रागपर्यायवचनानि।। प्रशमरतिप्रकरणम् गा १८

६५ ध्यानशतक (हिन्दी - भुवनभानुसूरिश्वरजी) पृ १६४ टीका

६६ (क) सर्व संसारमूलाना वैराणा कारण परम्।
अनिष्टे वस्तुनि प्रीतेरभावो द्वेष इष्यते।। सिद्धान्तसार सग्रह ३/१०३

(ख) ईर्ष्या रोषो दोषो द्वेष परिवादमत्सरासूया ।
वैरप्रचण्डनाद्या नैके द्वेषस्य पर्याया ।। प्रशमरति प्रकरणम् गा १९

६७ एव क्रोधो मानो माया लोभश्च दु खहेतुत्वात्।
सत्त्वाना भवससार दुर्ग मार्गप्रणेतार ।। प्रशमरति प्रकरणम् गा ३०.

६८. दुविहा विवागओ पुण हेउविवागाओ रसविवागाओ।
एक्केक्का वि य चउहा जओ च सद्दो विगप्पेणं।। पंचसंग्रह ३/४४

६९ (क) प्रकृति स्वभाव इत्यनर्थान्तरम्।
तत्त्वार्थ सूत्र ८/३ (सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक टीका)

(ख) पयडी सील सहावो । गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) गा ३

७०. ठिइ बंधो दलस्स ठिइ पएसबंधो पएसग्रहण च।
ताण रसो अणुभागो तस्समुदाओ पगइबधो।। पंच संग्रह ४३२

७१ (क) पड पडिहार सिमज्जाहलि चित्त कुलाल भंडयारीणं।
जह एदेसिं भावा तह वि य कम्मा मुणेयव्वा।।
गोम्मटसार (कर्म काण्ड) गा २१

(ख) पडुव्व चक्खुस्स तं तयावरणं।। ९
वित्तिसम दंसणावरण।९
महुलित्तखग्गधारालिहणं। १२
मज्ज व मोहनीय। १३
आऊ हडिसरिसं। २३

नाम कम्म चित्तिसमं। २३
गोयं दुहुच्चनीयं कुलाल इव। ५२
सिरिहरियसमं। ५३ कर्मग्रन्थ १/९,९,१२,१३,२३,२३,५२,५३

७२ (क) उत्तराध्ययनसूत्र, ३४/१९-२३
(ख) तत्त्वार्थसूत्र (उमा स्वाति, विवे पं सुखलालजी) ८/१५-२१

७३ (क) स्वभाव प्रकृति प्रोक्त स्थिति कालावधारणम्।
अनुभागो रसो ज्ञेय- प्रदेशो दलसंचय ॥
कर्म ग्रन्थ भा ५ हिन्दी टीका (मिश्री म) पृ ८५
(ख) योगशास्त्र, १०/१२-१३
(ग) प्रशमरतिप्रकरणम् १७/२४९
(घ) ध्यान शतक गा ५१
(ङ) ज्ञानार्णव ३५/१-२, ५-८
(च) महापुराण (जिनसेन) २१/१४३-१४५
(छ) सिद्धान्तसार सग्रह ११/५६९
(ज) श्रावकाचार संग्रह भा ५ पृ ३५३

७४ तिव्वो असुहसुहाणं-----। कर्मग्रन्थ ५/६३

७५-७६ (क) कर्मणां ज्ञानावरणादीनां द्रव्यक्षेत्रकालभवभावप्रत्ययफलानुभवनं प्रति प्रणिधानं विपाक विचय। तत्त्वार्थ वार्तिक (भट्टाकलंकदेव) ९/३६
(ख) भगवती आराधना भा २, गा १७०८-१७०९

७७ (क) ध्यानशतक गा ५२-६२
(ख) षट् खण्डागम भा ५ धवला टीका पृ ७२
(ग) सर्वार्थसिद्धि (पूज्यपाद) ९/३६
(घ) तत्त्वार्थ वार्तिक ९/३६
(ङ) महापुराण (जिनसेन) २१/१४८-१५१
(च) सिद्धान्तसार संग्रह, (नरेन्द्रासेनाचार्य) ११/५७-५८
(छ) श्रावकाचार संग्रह, भा ५, पृ ३५३ - (गा ४०-४२)

७८-७९ दीसंति जत्थ अत्था जीवादीया स भण्णते लोओ॥
स लोक- भण्यते, यत्र जीवादिका अर्था जीवपुद्गल धर्माधर्माकाश-कालरूपपदार्था द्रव्याणि षट् दृश्यन्ते लोक्यन्ते इति स लोक' कथ्यते सर्वज्ञै।
स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा १२१ एवं उसकी टीका पृ ६०

८०   तस्स सिहरम्मि सिद्धा अंत- विहीणा विरायंते।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा १०/१२१

८१   अण्णोण्ण-पवेसेण य दव्वाणं अच्छणं हवे लोओ।
दव्वाण णिच्चत्तो लोयस्स वि मुणह णिच्चत्त।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा १०/११६

८२ (क) परिणाम - सहावादो पडिसमय परिणमति दव्वाणि।
तेसिं परिणामादो लोयस्स वि मुणह परिणाम।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा १०/११७

(ख) परिणमदि चेदणाए आदा पुण चेदणा तिधाभिमदा।
सा पुण णाणे कम्मे फलम्मि वा कम्मणो भणिदा।।

प्रवचन सार (कुन्दकुन्दाचार्य) २/३१

(ग) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा १०/११७ की टीका।

(घ) दव्व सल्लक्खणिय उप्पादव्वयदधुवत्तसजुत्त।
गुण पज्जयासय वा ज त भण्णति सव्वण्हू।।   पचास्तिकाय १/१०

८३ (क) गइलक्खणो उ धम्मो, अहम्मो ठाण लक्खणो।
भायण सव्व दव्वाण, नहं ओगाह लक्खण।।
वत्तणा -लक्खणो कालो, जीवो उवओग-लक्खण।
सद्दन्धयार - उज्जोओ, पभा छाया तवो इ-वा।
वण्ण-रस-गन्ध-फासा, पुग्गलाण तु लक्खण।।
एगत्त च पुहत्त च, सखा सठाण मेव य।
सजोगा य विभागा य, पज्जवाण तु लक्खण।।

उत्तराध्ययन सूत्र २८/९-१०, १२-१३

(ख) उदयं जह मच्छाण गमणाणुग्गहयर हवदि लोए।
तह जीवपुग्गलाण धम्म दव्व वियाणेहि।।
जह हवदि धम्मदव्व तह त जाणेह दव्वमधमक्खं।
ठिदिकिरियाजुत्ताण कारण भुद तु पुढवीव।।

पचास्तिकाय (कुन्दकुन्दाचार्य) गा ८५-८६

८४ (क) स्थानागसूत्र (आत्मा म) १०/१
(ख) भगवती सूत्र १/६

८५   भगवती सूत्र १/६   (सैलाना पृ २७६)

८६ (क) भगवती सूत्र २०/६/६७२ (सुत्तागमे)
(ख) स्थानागसूत्र, ३/४/२८६ (सुत्तागमे)

(ग) पन्नवण्णा सुत्त २, पृ २९२-२९३ (सुत्तागमे)

८७-८८ (क) सुपइट्ठगसंठिए लोए पन्नत्ते, हेट्ठा विच्छिन्नो जाव
उप्पिं उड्ढमुइंगागारसंठिए, तेसिं च ण सासयति. .।
भगवती सूत्र (भगवइ सुत्तागमे)७/१/२६०

८९. लोकत्रयं मिनातीति मेरुरिति। राजवार्तिक पृ १२७

९० (क) लोक - चतुर्दशरज्ज्वात्मक।
आचारागवृत्ति (शीला, पुण्यविजयजी) पृ १५

(ख) दक्खिण - उत्तरदो पुण सत्त वि रज्जू हवंति सव्वत्थ।
उड्ढ चउदह रज्जू सत्त वि रज्जू घणो लोओ।।
मेरुस्स हिट्ठ - भाए सत्त वि रज्जू हवइ अह लोओ।
उड्ढम्मि उड्ढ - लोओ मेरु - समो मज्झिमो लोओ।।
स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा १०/११९-१२०

९१ (क) प्रवचनसारोद्धार ( ) ९१३

(ख) एइंदिएहिं भरिदो पच-पयारेहिं सव्वदो लोओ।
तस-णाडीए वि तसा ण बाहिरा होंति सव्वत्थ।।
स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा १०/१२२

(ग) जैन तत्त्वप्रकाश (अमोलकऋषिजी म) पृ ४६

९२ तस्यैव लोकस्य मध्ये पुनरुदूखलस्य मध्याधो भागे
छिद्रे कृते सति निक्षिप्तवंशनलिकेव चतु कोणा त्रसनाडी भवति
स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा १०/१२२ की टीका

९३ लोयबहुमज्झदेसे तरुम्मि सार व रज्जुपदरजुदा।
तेरसरज्जुस्सेहा किंचूणा होदि तसणाली।।
तिलोकप्रज्ञप्ति २/६ उद्धृत, स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, टीका, पृ ६१

९४ (क) किंचूणा होदि तसणाली इत्यत्र ऊनदण्डप्रमाणं कथमिति, सप्तम-पृथिव्या श्रेणिबद्धादधोयोजनानां ३९९९ १/३, दण्डा- ३१९९४-६६६ २/३। सर्वार्थसिद्धेरुपरियोजनानां १२, (दण्डा ९६०००) अष्टमपृथ्व्यां योजनानां ८, दण्डा ६४०००। तस्या उपरि वायुत्रयदण्डा ७५७५। एते सर्वे दण्डा ३२१६२२४१ २/३। किंचिन्न्यूनत्रयोदशरज्जुप्रमाण त्रसनाड्यां त्रसास्तिष्ठन्तीत्यर्थ।
स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा १०/१२२ गाथा की टीका पृ ६२

(ख) त्रिलोक सार (सिद्धान्तचक्रवर्ति) गा ५५६, १२६

(ग) त्रिलोक प्रज्ञप्ति २/७

९५ (क) उववाद मारणंतिय परिणद तस मुज्झिऊण सेस तसा।

गोम्मटसार (जी का) गा १९२

(ख) जैन तत्त्व प्रकाश (अमो म) पृ ४६

९६ (क) दुवे रासी पण्णत्ता, त जहा - जीवरासी चेव, अजीवरासी चेव।

समवाय २

(ख) जीवपन्नवणा य अजीवपन्नवणा य। पण्णवणासुत्त (सुत्तागमे) १

९७ (क) चउदस भूअग्गामा पण्णत्ता त जहा - सुहुम अपज्जत्तया,
सुहुम पज्जत्तया, बादर अपज्जत्तया, बादर पज्जत्तया, बेइन्दिया अपज्जत्तया, वेइन्दिया पज्जत्तया, तेइदिया अपज्जत्तया, तेइदिया पज्जत्तया, चउरिंदिया अपज्जत्तया, चउरिंदिया पज्जत्तया, पचिंदिया असन्नि अपज्जत्तया, पचिंदिया असन्नि पज्जत्तया, पचिंदिया सन्नि अपज्जत्तया, पचिंदिया सन्नि पज्जत्तया।
समवायाग १४/१

(ख) भगवती सूत्र २५/१

(ग) इह सुहुम बायरेगिंदिबितिचउअसन्निसन्निपचिंदि।
अपज्जत्ता पज्जत्ता कमेण चउदस जियट्ठाणा। कर्मग्रन्थ ४/२

९८ (क) पच पचेन्द्रिया - एगिंदिया जाव पचिंदिया।

स्थानागसूत्र (सुत्तागमे) ५/५३२

(ख) इग बिय तिय चउपणिंदि जाइओ। कर्मग्रन्थ, १/३३

९९ (क) पच थावरकाया पण्णत्ता, त जहा-
इन्दे थावरकाए, बम्भे भावरकाए, सिप्पे थावरकाये,
समती थावरकाए, पाजावच्चे थावरकाए। स्थानागसूत्र ५/४८८

(ख) जीवाजीवाभिगमसूत्र (सुत्तागमे) गा १०-२६

(ग) एगेन्दिय संसारसमावण्णजीवपण्णवणा पचविहा पण्णत्ता,
त जहा - पुढविक्काइया, आउक्काइया, तेउक्काइया, वाउक्काइया, वणस्सइकाइया। पण्णवणा १/१२

१०० (क) कति ण भते इदिया पण्णत्ता? गोयमा। पंचेंदिया पण्णत्ता।

प्रज्ञापना १५/१/१९१

(ख) पंच इदियत्था पण्णत्तं तं जहा - सोइंदियत्थे जाव फासिंदियत्थे।

स्थानागसूत्र ५/५३१

१०१ जीवाजीवाभिगमसूत्र (सुत्तागमे) गा २८-३०

१०२. (क) सत्तविहा पण्णत्ता, तंजहा -रयणपभापुढविनेरइया जाव अहेसत्तमपुढविनेरइया, ते समासओ दुविहा पण्णत्ता, तं जहा - पज्ञत्ता य अपज्ञत्ता य।

जीवाजीवाभिगमसूत्र (सुत्तागमे) गा ३२

(ख) पण्णवणासुत्तं, गा ७९

(ग) जहन्नेणं दसवाससहस्साइं, उक्कोसेणं तेत्तीस सागरोवमाइं।

पण्णवणासुत्तं, गा २१३

१०३ से किं तं पंचेंदियतिरिक्ख जोणिया? दुविहा पण्णत्ता, तं जहा - सम्मुच्छिमपंचेंदियतिरिक्खजोणिया य गब्भवक्कतियपंचिंदियतिरिक्ख-जोणिया य।। समुच्छिमपंचेंदिय तिरिक्ख जोणिया तिविहा पण्णत्ता, त जहा- जलयरा थलयरा खहयरा । गब्भवक्कंतिय-पंचेंदियतिरिक्ख-जोणिया तिविहा पण्णत्ता, तं जहा - जलयरा थलयरा खहयरा .। से किं तं थलयरा? दुविहा पण्णत्ता, तं जहा - चउप्पया य परिसप्पा य। । से किं तं परिसप्पा? दुविहा पण्णत्ता, तं जहा - उरपरिसप्पा य भुयपरिसप्पा य ।।

जीवाजीवाभिगमसुत्त (सुत्तागमे) गा ३३-४०

१०४ (क) अट्ठ वि गब्भज दुविहा तिविहा संमुच्छिणो वि तेवीसा।
इदि पणसीदी भेया सव्वेसिं होति तिरियाणं।।

स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा १०/१३१

(ख) स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा १३१ की टीका पृ ६२

१०५-१०६ से किं त मणुस्सा? दुविहा पण्णत्ता, तं जहा- समुच्छिममणुस्सा य गब्भवक्कतियमणुस्सा य। से किं तं गब्भवक्कतियमणुस्सा? तिविहा पण्णत्ता, त जहा- कम्मभूमगा अकम्मभूमगा अंतरदीवगा, ते समासओ दुविहा पण्णत्ता ,त जहा - पज्ञत्ता य अपज्ञत्ता य।

जीवाजीवाभिगमसुत्त गा ४१

१०७ से किं तं कम्मभूमगा? कम्मभूमगा पन्नरसविहा पन्नत्ता, तं जहा - पचहिं भरहेहिं, पंचहिं एरवएहिं, पचहिं महाविदेहेहिं।

पण्णवणासुत्त गा १/६३

१०८ पन्नरससु कम्मभूमीसु, तीसाए अकम्म भूमीसु, छप्पन्नाए अतरदीवेसु।

पण्णवणासुत्तं, गा १०५

१०९. धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णत्ता, तं जहा- आणारुइ, णिसग्गरुइ, सुत्तारुइ, ओगाढरुइ। ठाणे (सुत्तागमे) ४/१/३०८

११० ध्यान शतक (जिनभद्रगणिक्षमा श्रमण) गा ६७-६८

१११ (क) धम्मस्स ण झाणस्स चत्तारि आलवणा पण्णत्ता तं जहा- वायणा पडिपुच्छणा परियट्टणा अणुप्पेहा। ठाणे (सुत्तागमे) ४/१/३०८

(ख) झाणस्स चत्तारि आलंवणा पण्णत्ता, तं जहा- वायणा पडिपुच्छणा परियट्टणा धम्मकहा। भगवती सूत्र २५/७

(ग) ध्यान शतक गा ४२

११२ (क) धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि अणुप्पेहाओ पण्णत्ताओ, तं जहा- एगाणुप्पेहा, अणिव्वाणुप्पेहा, असरणाणुप्पेहा, संसाराणुप्पेहा। ठाणे (सुत्तागमे) ४/१/३०८

(ख) भगवती सूत्र २५/७

११३ (क) ज्ञानार्णव २/३१, ३६, ३८, ३९, ४०, ४५-४६

(ख) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा ४, ७, ८-९, २१-२२

(ग) अध्यात्मतत्वालोक ५/२६-२७

(घ) शात सुधारस ( ) पृ ३५

(ड) ध्यान दीपिका गा १४-१६

(च) तिलोक काव्य संग्रह पृ ८३

(छ) प्रशमरतिप्रकरणम् गा १५१

११४ (क) उत्तराध्ययनसूत्र १३/२२

(ख) योगशास्त्र ४/६२,६३

(ग) सूत्रकृतागसूत्र २/१/१३

(घ) ज्ञानार्णव २/१

(ड) प्रशमरतिप्रकरणम् गा १५२

(च) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा २४-२५, २७, २९, ३०

(छ) शांत सुधारस पृ ६६

११५ सत्तरसमहिया किर इगाणुपाणुमि हुंति खुड्डभवा।
सगतीससयत्तिहुत्तर पाणू पुण इगमुहुत्तमि।।
पणसट्ठिसहस्सपणसय छत्तीसा इगमुहूत्तखुड्डभवा।
आवलियाण दो सय छप्पन्ना इग खुड्डभवे। कर्मग्रन्थ ५/४०-४१

११६ (क) तिण्णिसया छत्तीसा छावट्ठि सहस्सगाणि मरणाणि।
अतो मुहुत्त काले तावदिया चेव खुद्दभवा।।
गोम्मटसार - जीवकाण्ड १२३

(ख) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा १३७ की टीका पृ ७५-७६

११७. पृथिव्याप्तेजोवायुसाधारणवनस्पतय पंचापि प्रत्येकं वादर सूक्ष्मभेदेन दश। तथा प्रत्येक वनस्पतिश्चेत्येष्वेकादशसु लब्ध्यपर्याप्तकभेदेष्वेकैकस्मिन् भेदे प्रत्येकं द्वादशोत्तरषट्सहस्रनिरन्तरक्षुद्रभवा भवन्ति ६०१२। लब्ध्यपर्याप्तानां मरणानि भवा ६६३३६।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा १०/१३७ की टीका, पृ ७५

११८ उस्सासट्ठारसमे भागे जो मरदि ण य समाणेदि।
एक्को वि य पज्जत्ती लद्धि- अपुण्णो हवे सो दु।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा १०/१३७

११९ (क) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा ३२, ६६, ६८, ६९
(ख) योग शास्त्र ४/६५-६७
(ग) प्रशमरतिप्रकरणम् गा १५६
(घ) शातसुधा रस पृ ९५-९६ (गा ३,५)
(ङ) ज्ञानार्णव २/९-११
(च) आचारांगवृत्ति (शीलांकाचार्य) २/१/१८५-६
(छ) सूयगडागसूत्र (शीलांकाचार्य, जवाहरमलजी म भा)
५/१/६८-६९
(ज) ध्यान दीपिका गा २०-२१
(झ) उत्तराध्ययनसूत्र १९/१५, ३१-७२
(ञ) स्थानागसूत्र (आत्मा म) १०/५२
(ट) तत्वार्थ सूत्र ३/३,४
(ठ) तत्वार्थाधिगमभाष्य ३/३-४
(ड) सर्वार्थ सिद्धि ३/५

१२० योगशास्त्र स्वोपज्ञ भाष्य ४/६७ की टीका

१२१ (क) योग शास्त्र ४/६७ की टीका
(ख) ध्यान दीपिका (गुजराती) गा २०-२१

१२२ (क) ज्ञानार्णव २/२
(ख) योगशास्त्र ४/६८-६९
(ग) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा ३८, ७४-७९
(घ) शातसुधा रस पृ १३१-२

१२३. (क) सुक्के झाणे चउव्विहे चउप्पडोयारे पण्णत्ते, तं जहा- पुहुत्त-वियक्के-सवियारी, एगत्तवियक्के अवियारी, सुहुम किरिए अणियट्टी, समुच्छिन्नकिरिए अप्पडिवाई। ठानांग सूत्र (आत्मा म) ४/१/१२
(ख) षट्खण्डागम भाग ५ पृ ७७
(ग) तत्वार्थ सूत्र ९/४१

(घ) योगशास्त्र ११/५

(ङ) सिद्धान्तसार सग्रह ११/५९

१२४ छद्मस्थयोगिनामाद्ये द्वे तु शुक्ले प्रकीर्तिते ।
द्वे त्वन्त्ये क्षीणदोषाणा केवलज्ञानचक्षुपाम् ।।
श्रुतज्ञानार्थसम्वन्धाच्छ्रुतालम्वनपूर्वके।
पूर्वे परे जिनेन्द्रस्य नि शेषालम्वनच्युते।। ज्ञानार्णव ४२/७-८

१२५ (क) ध्यान शतक गा ७७-७८

(ख) षट् खण्डागम भा ५, धवला टीका पृ ७८ (गा. ५८-६०)

(ग) ज्ञानार्णव ४२/९, १३, १५

(घ) महापुराण (आ जिनसेन) २१/१७०-१७१, १७५, १७८-१८३

(ङ) योगशास्त्र ११/६

(च) सिद्धान्तसार सग्रह ११/७१-७२

१२६ (क) ज्ञानार्णव ४२/१६-१७

(ख) सिद्धान्तसार सग्रह ११/६६-७०

१२७. (क) भाव सवर - णिज्जरामरसुहफलं ।
षट्खण्डागम भा ५, धवला टीका पृ ७९

(ख) महापुराण २१/१५४

१२८ (क) ध्यान शतक गा ८२

(ख) षट् खण्डागम भा ५, धवला टीका पृ ७९

(ग) योगशास्त्र ११/७

(घ) महापुराण (जिनसेन) ११/१८४-१८५

(ङ) सिद्धान्तसार सग्रह ११/७६

(च) ज्ञानार्णव ४२/२३-२७

(छ) श्रावकाचार संग्रह भा ५ पृ ३५५

१२९ (क) षट् खण्डागम, भा ५, धवला टीका पृ ७९-८०

(ख) सर्वार्थ सिद्धि ९/४४

१३० (क) क्षीण चतु कर्मांशो वेद्यायुर्नामगोत्रवेदयिता ।
विहरति मुहूर्तकालं देशोनां पूर्व कोटिं वा।।
प्रशमरतिप्रकरणम् गा २७१

(ख) प्रशमरतिप्रकरणम् टीका गा २७१की।

१३१ (क) षट् खण्डागम भा ५, धवला टीका (वीरसेनाचार्य)
पृ ८३ (गा ७२)

(ख) तत्त्वार्थ वार्तिक ९/४४ की वृत्ति

(ग) सर्वार्थ सिद्धि ९/४४ की वृत्ति

(घ) योग शास्त्र ११/८

१३२. यस्य पुन केवलिन· कर्म भवत्यायुषोऽतिरिक्ततरम्।
स समुद्घातं भगवानथ गच्छति तत् समीकर्त्तुम्।।

प्रशमरतिप्रकरणम् गा. २७३

१३३ (क) कइ समए णं भंते। आउज्जीकरणे पण्णत्ते, तं जहा – गोयमा असंखेज्जसमइए अंतोमुहुत्तिए पण्णत्ते।

ओववाइयसुत्तं (सुत्तागमे) पृ ३६

(ख) कइ समएणं भते। आउज्जीकरणे पण्णत्ते, तं जहा – गोयमा असंखेज्जसमइए अंतोमुहुत्तिए आउज्जीकरणे पण्णत्ते।

पण्णवणासुयं (सुत्तागमे) ३६/७११

(ग) सचित्र अर्ध मागधी कोष (सं शतावधानी रत्नचंद्र मुनि)

भा २ पृ ११

१३४ सचित्र अर्ध मागधी कोष भा २ पृ ११

१३५. सचित्र अर्ध मागधी कोष भा २ पृ १०-११

१३६. (क) आवज्जणमुवओगो वावारो वा तदत्थमाईए।
तं च गन्तुमना प्रारिप्सु पूर्वमावर्जीकरणमभ्येति विदधाति . । उच्यते – तदर्थं समुद्घातकरणार्थमादौ केवलिन उपयोगो 'मयाऽधुनेदं कर्तव्यम्' इत्येवं रूप , उदयावलिकायां कर्मप्रेक्षरूपो व्यापारो वाऽऽवर्जनमुच्यते। तथा भूतस्य करणमावर्जीकरणम्।

विशेषावश्यक भाष्य गा ३०५१ एव हेमचंद्र टीका पृ २४३

(ख) १ आवर्जनमावर्ज आत्मानं प्रतिमोक्षस्याभिमुखीकरणम् , आत्मनो मोक्षं प्रत्युपयोजनमित्यर्थं । २. आवर्ज्यतेऽभिमुखीक्रियते मोक्षोऽनेनेति, आवर्ज. शुभमनोवाक्काय व्यापारविशेष । ३. अपरे – आवर्जितो नाम अभिमुखीकृत. तथाभव्यत्वेनावर्जितस्य मोक्षगमनं प्रत्यभिमुखीकृतस्य करणं – क्रिया शुभयोग व्यापारणमावर्जितकरणम्। ४ आयोजिकाकरणम् – आमर्यादया केवलिदृष्ट्या योजनं शुभानां योगानां व्यापारणमिति। ५. आउस्सियकरणं सर्वकेवलिनामावश्यककरणम्।'. .हारिभद्रीय वृत्तौ 'आवर्जीकरण' वेद्यायुष. समरचनप्रयत्नकरणम्।

प्रज्ञापनासूत्रे समुद्घातपदे मलयगिरि वृत्तौ
उद्धृत, विशेषावश्यक भाष्य (हेमचन्द्रसूरि टीका) भा २ पृ २४३

(ग) तत्राऽन्तर्मुहूर्तशेष आयुष्यायोजिका करणं करोति, अयम्भाव सर्वोऽपि केवलि भगवन् जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तकालमुत्कृष्टतश्च देशोनपूर्वकोटिवर्ष प्रमाण कालं विहृत्य स्वायुष्यन्तर्मुहूर्तमात्रे शेष अन्तमौर्हूर्तिकमायोजिकाकरणमुदया-वलिकायां कर्मपुद्गल निक्षेपव्यापाररूपमुदीरणा-विशेषात्मकमारभते। इयमत्र व्युत्पत्ति आमर्यादया योजनं केवलिदृष्ट्या शुभानां योगाना व्यापार इत्यायोजिका 'भावे' (सिद्ध हेम ५-३-१२२) सूत्रेण भावे णक प्रत्यय, आयोजिकाया करणमित्या- योजिकाकरणम्।

अथवाऽन्ये प्राहु - स्वायुष्यन्तर्मुहूर्तशेषे केवली भगवन् आवश्यक-करणं करोतीति। .। उच्यते - अवश्य भाव - आवश्यकम्,। 'चोरादे' (सिद्ध हेम ७-१-७३ (इति सूत्रेण भावे अकप्रत्यय, आवश्यकेन = अवश्यं भावेन करणमित्यावश्यककरणम्, यथा लोके साटकेन कक्षा वद्ध्वा तत परं कृतावश्यक कक्षाबन्धकरणो योद्धुमुपक्रमते तथा अन्तर्मुहूर्तायु शेषेण सर्व केवलिना सिध्यता प्रथममेवेदं करणमवश्यं कर्तव्यमित्यावश्यककरणम्।

'अवश्य करणं वा' वा शब्दो मतान्तरद्योतक एवमग्रेऽपि, अथवैके भणन्ति - सयोगीकेवली भगवानन्तर्मुहूर्तप्रमाण आयुषि शेषेऽवश्यकरणं करोतीति, सर्वकेवलिभि· सिद्धयद्भिरवश्यंक्रियमाणत्वादवस्यकरणमिति व्यपदिश्यते, अवश्यं क्रियत इत्यवश्यकरणमिति व्युत्पत्ते।

'आवर्जितकरण' तत्र 'वा' अथवा परे भणन्ति 'आवर्जितकरण' करोतीति। नन्वावर्जितकरण कुतो व्यपदिश्यते? इति चेत् उच्यते -आवर्जितस्य = तथा भव्यत्वेन मोक्ष गमनं प्रत्यभिमुखीकृतस्य करण = शुभ योग व्यापारणमित्यावर्जितकरणम्।

'आवर्जीकरणम्' काकाक्षिगोलकन्यायेन वा शब्दोऽत्राऽऽपि सम्बध्यते, वा = अथवा विशेषावश्यकभाष्यकारादयो हरिभद्रसूरि-पादादयश्च भणन्ति - केवली भगवानन्तर्मुहूर्तमात्रआयुविशेषे आवर्जी-करणं करोतीति।

खवगसेढी, स्वोपज्ञवृत्ति (श्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वर) पृ ४४८-४४९

१३७ ननु समुद्घात इति क शब्दार्थ ? इति चेत्, उच्यते-सम्यक् = अपुनर्भावेन उत् = प्राबल्येन घातो = वेदनीयादीनां कर्मणां हनन = विनाशो यस्मिन् प्रयत्नविशेषे, स समुद्घात इत्युच्यते, अथ व्युत्पत्यन्तरं दर्श्यते - सं = सामस्त्येन उत् = प्राबल्येन घातो = हननं = शरीराद् बहिर्जीवप्रदेशानां निस्सारणमिति समुद्घात,

खवगसेढी पृ ४५२

१३८ (क) यस्य पुन केवलिन कर्म भवत्यायुषो तिरिक्ततरम्।
स समुद्घातं भगवानथ गच्छति तत् समीकर्तुम्।।

प्रशमरतिप्रकरणम् (उमास्वाति) गा. २७३

(ख) प्रशमरतिप्रकरणम् की वृत्ति गा २७३ की

(ग) कइ ण भते। समुग्घाया पन्नत्ता? गोयमा। सत्त समुग्घाया पन्नत्ता, त जहा - वेयणासमुग्घाए १, कसायसमुग्घाए २, मारणतियसमुग्घाए ३, वेउव्विय-समुग्घाए ४, तेयासमुग्घाए ५, आहारगसमुग्घाए ६, केवलि-समुग्घाए ७।

पण्णवणासुत्त (सुत्तागमे) ३६/६८६

१३९-१४० (क) केवलिसमुग्घाए णं भते। कइ समइए पण्णत्ते? गोयमा। अट्ठ समइए पण्णत्ते, त जहा-पढमे समए दडं करेइ, विइए समए कवाडं करेइ, तइए समए मंथ करेइ, चउत्थे समए लोयं पूरेइ, पंचमे समए लोय पडिसाहरई, छट्ठे समए मंथं पडिसाहरई, सत्तमसमए कवाडं पडिसाहरइ, अट्ठमे समए दंडं पडिसाहरइ, तओ पच्छा सरीरत्थे भवइ।

ओववाइय सुत्त (सुत्तागमे) पृ ३६

पण्णवणासुत्तं (सुत्तागमे) पृ ३६/७११

(ख) प्रशमरति प्रकरणम् गा २७४-२७५ एवं इन गाथाओं की टीका

(ग) ज्ञानार्णव ४२/४३,-५१

(घ) निर्वाणगमनसमये केवलिनो दरनिरुद्धयोगस्य।
सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति, तृतीयं कीर्तितं शुक्लम्।।

योगशास्त्र (हेमचन्द्र) ११/८, ११/५१-५२

(ङ) तत्त्वार्थवार्तिक ९/४४

१४१ औदारिक प्रयोक्ता प्रथमाष्टमसमययोरसाविष्ट ।
मिश्रौदारिकयोक्ता सप्तमषष्टद्वितीयेषु।।
प्रथमेऽष्टमे च समये औदारिक एव योगो भवति शरीरस्थत्वात्। कपाटोपसंहरणे सप्तम मन्थसंहरणे षष्ठ कपाटकरणे द्वितीय । एतेषु त्रिष्वपि समयेषु कार्मणव्यतिमिश्रऔदारिक योगो भवति। 'कार्मण शरीरयोगी चतुर्थके पचमे तृतीये च'। 'समयत्रयेऽपि तस्मिन् भवत्यनाहारको नियमात्। मन्थान्तरपूरणसमयश्चतुर्थ मन्थान्तरसंहरण-समय पंचम । मन्थानकरणसमयस्तृतीय । समयत्रयेऽप्यस्मिन् कार्मणशरीर योग । तत्र च नियमेनैव जीवो भवत्यनाहारक'।।

प्रशमरतिप्रकरणम् गा २७६ एवं टीका

(ख) योगशास्त्र स्वोपज्ञ भाष्य ११/५२ की वृत्ति

१४२ योगशास्त्र स्वोपज्ञभाष्य ११/ ५२ की वृत्ति

१४३ (क) जीवपदेसाण परिफन्दो सकोचविकोचब्ममणसरूवओ।।

धवला टीका १०/४,२, १७५/४, ३७/७

उद्धृत, कर्मग्रन्थ ४, मिश्रीमलजी म पृ १६

(ख) पुग्गलविवाइदेहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स।
जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागमकारणं जोगो।

गोम्मटसार-जीवकाण्ड गा २१६

(ग) युज्यते धावनवल्गनादिचेष्टास्वात्माऽनेनेति योग ।

चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका, पृ १२७

१४४ को जोगणिरोहो? जोगविनासो।

षट् खण्डागम धवला टीका, भा ५ पृ ८४

१४५ (क) ओववाइयसुत्त (सुत्तागमे) पृ ३७

(ख) प्रशमरतिप्रकरणम् गा २७८-२७९ एवं टीका सहित

(ग) षट् खण्डागम, धवला टीका (भा ५) पृ ८४

१४६ षट् खण्डागम, धवला टीका, भा ५ पृ ८४-८५

१४७ (क) सूक्ष्म क्रियमप्रतिपाति काययोगोपयोगतो ध्यात्वा विगतक्रियम-मनिवर्तिन्वमुत्तर' ध्यायति परेण। प्रशमरतिप्रकरणम् गा २८०

(ख) श्रीमानचिन्त्यवीर्य शरीरयोगऽथ बादरे स्थित्वा।
अचिरादेव हि निरुणद्धि, बादरो वाङ्मन सयोगी।
सूक्ष्मेण काययोगेन, काय योगं स बादरं रुन्ध्यात्।
तस्मिन् अनिरुद्धे सति, शक्यो रोद्धुं न सूक्ष्मतनुयोग ।।
वचन-मनोयोग-युगसूक्ष्म निरुणद्धि सूक्ष्मतनुयोगात्।
विदधाति ततो ध्यानं सूक्ष्मक्रियमसूक्ष्मतनु-योगम्।।

योगशास्त्र स्वोपज्ञभाष्य ११/५३-५५

(ग) अभिधान राजेन्द्र कोश भा ४ पृ १६६२

१४८ (क) समुच्छिन्ना क्रिया योगो यस्मिन्त्तत्समुच्छिन्नक्रियम्।
समुछिन्न क्रियं च अप्रतिपाति च समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाति ध्यानम्।

षट् खण्डागम, धवला टीका, भा ५, पृ ८७

(ख) सवार्थ सिद्धि ९/४४

१४९ श्रुतरहितत्वात् अवितर्कम् जीवप्रदेशपरिस्पंदाभावाद वीचारं अर्थ-व्यंजनयोगसंक्रात्यभावाद्वा। षट् खण्डागम भा ५ पृ ८७

१५० (क) अविदक्कमवीचारं अणियट्टी अकिरियं च सेलेसिं।
ज्झाणं णिरुद्धजोगं अपच्छिमं उत्तम सुक्कं।

उद्धृत, षट् खण्डागम, भा ५ गा ७७ (पृ ८७)

(ख) तदनन्तरं समुत्सन्नक्रियमाविर्भवेदयोगस्य।
अस्यान्ते क्षीयते त्वघातिकर्माणि चत्वारि।।
लघुवर्णपंचकोद्‌गिरणतुल्यकालमवाप्य शैलेशीम्।
क्षपयति युगपत् परितो, वेद्यायुर्नामगोत्राणि।।

योगशास्त्र ११/५६-५७

१५१ एयग्गेण चिंताए जीवस्स णिरोहो परिप्फंदा भावो ज्झाणं णाम।

षट् खण्डागम, भा ५, पृ ८७

१५२ तदेतद् द्विविध तपोऽभिनवकर्मास्रवनिरोधहेतुत्वात्संवरकारणं
प्राक्तकर्मरजोविधुननिमित्तत्वान्निर्जराहेतुरपि भवति।।

सर्वार्थ सिद्धि ९/४४

१५३ (क) पढमं जोगे जोगेसु वा, मयं बितियमेकजोगमि।
तइयं च कायजोगे सुक्कजोगमि य चउत्थं।। ध्यान शतक गा ८३

(ख) यत्पृथक्त्ववितर्क तत्रियोगेषु प्रजायते।
एकयोगस्यचैकत्ववितर्क चारुतान्वितम्।।
केवलकाययोगस्य ध्यानं सूक्ष्मक्रियं मतम्।
समुच्छिन्नक्रिय तावदयोगस्य महात्मन ।।

सिद्धान्तसार संग्रह (नरेन्द्र सेनाचार्य) ११/६२-६३

१५४ (क) सुक्कस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णत्ता,
त जहा - अव्वहे असम्मोहे विवेगे विउस्सग्गे।

स्थानांग सूत्र (आ म) ४/१/१२

(ख) ध्यान शतक गा ९०-९२

१५५ (क) सुक्कस्स णं झाणस्स चत्तारि आलबणा पण्णत्ता, तं जहा-खती, मुत्ती, मद्दवे, अज्जवे। स्थानांगसूत्र ४/१/१२

(ख) भगवतीसूत्र २५/७

१५६ (क) सुक्कस्स ण झाणस्स चत्तारि अणुप्पेहा पण्णत्ता, तं जहा-अणंतवत्तियाणुप्पेहा विप्परिणामाणुप्पेहा असुहाणुप्पेहा अवायाणुप्पेहा। स्थानांगसूत्र

(आत्मारामजी म) ४/१/१२

(ख) भगवतीसूत्र २५/७

१५७ आसवदाराए तह संसारासुहाणुभावं च।
भवसंताणमणन्तं वत्थूणं विपरिणामं च।।

ध्यान शतक गा ८८

१५८ संसारो पच-विहो दव्वे खेत्ते तहेव काले य।
भव भमणो य चउत्था पंचमओ भाव-ससारो।।
वंधदि मुचदि जीवो पडिसमयं कम्म-पुग्गला विविहा।
णो कम्म-पुग्गला वि य मिच्छत्त-कसाय-सजुत्तो।।
सो को वि णत्थि देसो लोयायासस्स णिखसेसस्स।
जत्थ ण सव्वो जीवो जादो मरिदो य बहुवारं।।
उवसप्पिणि-अवसप्पिणि-पढम-समयादि-चरम-समयत।
जीवो कमेण जम्मदि मरदि य सव्वेसु कालेसु।।
णेरइयादि-गदीण अवर-ट्ठिदो वरट्ठिदी जाव।
सव्व-ट्ठिदिसु वि जम्मदि जीवो गेवेज्ज-पज्जत।।
परिणमदि सण्णि-जीवो विविह-कसाएहिं ठिदि-णिमित्तेहिं।
अणुभाग-णिमित्तेहि य वट्टंतो भाव-ससारे।।
एव अणाइ काले पच-पयारे भमेइ ससारे।
णाणा-दुक्ख-णिहाणो जीवो मिच्छत्त-दोसेण।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा ६६-७२

(ख) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा ६६-७२ की संस्कृत टीका पृ ३७-३९

१५९ पुत्तो वि भाउ जाओ सो चिय भाओ वि देवरो होदि।
माया होदि सवत्ती जणणो वि य होदि भत्तारो।।
एयम्मि भवे एदे सवंधा होंति एय जीवस्स।
अण्ण-भवे किं भण्णइ जीवाणं धम्मरहिदाण।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा ६४-६५

१६० सव्वं पि होदि णरए खेत्त-सहावेण दुक्खद असुहं।
कुविदा वि सव्व-कालं अण्णोण्णं होदि णेरइया।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा ३८

१६१ (क) मोह-विवाग-वसादो जे परिणामा हवंति जीवस्स।
ते आसवा मुणिज्जसु मिच्छत्ताई अणेय-विहा।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा ८९

(ख) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा ८९ की टीका

१६२ पयलायत सुसुत्तो नेव सुहं झाइ झाइ झाणमसुहं वा।

आवश्यक निर्युक्ति गा १४९५

कायिकादि त्रिविध ध्यानं। आवश्यक चूर्णि पृ २१५ (भा २)

१६३ उपासकाध्ययन ३९/७०९-७१०

१६४ (क) तत्त्वार्थवार्तिके ९/२८

(ख) आर्त्तरौद्रविकल्पेन दुर्ध्यानं देहिनां द्विधा।
द्विधा प्रशस्तमप्युक्तं धर्मशुक्लविकल्पत ।।
प्रशस्तेतर संकल्पवशात्तद्भिद्यते द्विधा।
इष्टानिष्टफलप्राप्तेर्बीजभूत शरीरिणाम्।।

ज्ञानार्णव गा १७,२०

(ग) तत्प्रशस्तं मत ध्यानं रौद्राद्यं चाप्रशस्तकम्।

ध्यान दीपिका गा ६७ (गुजराती)

(घ) श्रावकाचार संग्रह, भा ५ पृ ३५१

(ड) तत्पुन धर्मध्यानमाभ्यन्तरं बाह्यं च।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गा ४८२ की टीका पृ ३६९

(च) मुख्योपचार भेदेन धर्मध्यानमिह द्विधा।

तत्त्वानुशासन (रामसेनाचार्य) ४७

निश्चयाद् व्यवहाराच्च ध्यानं द्विविधमागमे।
स्वरूपालम्बनं पूर्वं परालम्बनमुत्तरम्।। तत्त्वानुशासन गा ९६

(छ) उपासकाध्ययन ३९/७११

१६५ (क) अभिधान राजेन्द्र कोश, भा ४ पृ १६६३

(ख) ध्यातारस्त्रिविधास्तस्मात्तेषा ध्यानान्यपि त्रिधा। तत्त्वानुशासन गा ४८

१६६ तत्त्वानुशासन गा १०१-१३०

१६७ पिण्डस्थ च पदस्थ च, रूपस्थ, रूपवर्जितम्।
चतुर्धा ध्येयमाम्नात ध्यानस्यालम्बनं बुधै ।। योगशास्त्र ७/८

१६८ 'पदस्थ मन्त्रवाक्यस्य पिण्डस्थं स्वात्मचिन्तनम्।'
रूपस्थ सर्वचिद्रूप रूपातीत निरजनम्।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा पृ ३७०

१६९ (क) शुद्धस्फटिकसकाश प्रातिहार्यष्टकान्वितम्।
यद् ध्यायतेऽर्हतो रूपं तद ध्यानं पिण्ड संज्ञकम्।।

श्रावकाचार सग्रह, भा २ पृ ४५७

(ख) श्रावकाचार संग्रह, भा १ पृ ४१३

(ग) अधो भागमधोलोक मध्यांश मध्यमं जगत्।
. . . .चिन्तनं यत्स्वदेहस्थं पिण्डस्थं तदपि स्मृतम्।

श्रावकाचार संग्रह, भा २, पृ ४५७ (गा १२१-१२३)

१७० (क) पार्थिवी स्यादथाग्नेयी, मारुती वारुणी तथा।
तत्त्वभू पंचमी चेति, पिण्डस्थे पंच धारणा।। योगशास्त्र ७/९

(ख) पार्थिवी स्यात्तथाग्नेयी श्वसना वाय वारुणी।
तत्त्वरूपवती चेति विज्ञेयास्ता यथाक्रमम् ।। ज्ञानार्णव ३७/३

१७१ (क) योगशास्त्र ७/१०-१२
(ख) ज्ञानार्णव ३७/४-९
(ग) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका पृ ३७५
(घ) श्रावकाचार सग्रह, भा ३ पृ ५१९

१७२ (क) योगशास्त्र ७/१३-१८
(ख) ज्ञानार्णव ३७/१०-१९
(ग) स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा, टीका पृ ३७६
(घ) श्रावकाचार सग्रह, भा ३, पृ ५१९

१७३ (क) योगशास्त्र ७/१९-२०
(ख) ज्ञानार्णव ३७/२०-२३
(ग) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, टीका पृ ३७६
(घ) श्रावकाचार सग्रह, भा ३, पृ ५१९

१७४ (क) योगशास्त्र, ७/२१-२२
(ख) ज्ञानार्णव, ३७/२४-२७
(ग) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका, पृ ३७६
(घ) श्रावकाचार सग्रह, भा ३, पृ ५१६

१७५ (क) योगशास्त्र ७/२३-२५
(ख) ज्ञानार्णव ३७/२८-३०
(ग) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका, पृ ३७६
(घ) श्रावकाचार सग्रह, भा ५ पृ ५१९

१७६ (क) 'पदस्थ मन्त्रवाक्यस्य' ।
स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, शुभचन्द्र टीका पृ ३७०
(ख) ज झाइज्जइ उच्चारिऊण परमेष्टिमत पयममल।
एयक्खरादि विविध पयत्थ ज्झाण मुणेयव्व।।
श्रावकाचार सग्रह भा १ पृ ४७३

१७७ स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका, पृ ३७०

१७८ (क) योगशास्त्र ८/२-४
(ख) ज्ञानार्णव ३८/२-६
(ग) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, टीका, पृ ३७०-३७१

१७९ (क) योगशास्त्र ८/७-११
(ख) ज्ञानार्णव ३८/७-८
(ग) स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा की टीका, पृ ३७१

१८० तत सुधासर सूत षोडशाब्जदलोदरे।
आत्मानं न्यस्त पत्रेषु, विद्यादेवीश्च षोडश।।
स्फुरत्स्फटिकभृगार-क्षरत् क्षीरसितामृतै ।
आभिराप्लाव्यमान स्वं चिरं चित्ते विचिन्तयेत्।।
अथास्य मन्त्रराजस्याभिधेयं परमेष्टिनम्।
अर्हन्त मूर्धनि ध्यायेत्, शुद्धस्फटिकनिर्मलम्।।
तद्ध्यानावेशात 'सोऽह' 'सोऽहम्' इत्यालपन् मुहु ।
नि शकमेकतां विद्याद् आत्मन परमात्मना।।
ततो नीरागमद्वेषम् अमोहं सर्व दर्शिनम्।
सुरार्च्य समवसृतौ, कुर्वाणं धर्मदेशनाम्।।
ध्यायन्नात्मानमेवेत्थम् अभिन्नं परमात्मना। योगशास्त्र ८/१२-१७

१८१ योगी पंचपरमेष्टि नमस्कार विचिन्तयेत्। योगशास्त्र ८/३२

१८२ (क) योगशास्त्र ८/३३-३४, ४२
(ख) ज्ञानार्णव ३८/५७

१८३ योगशास्त्र ८/४१

१८४ श्रावकाचार सग्रह, भा १ पृ ४११

१८५ श्रावकाचार सग्रह, भा १ पृ ४११

१८६ उद्धृत, तत्त्वानुशासन (रामसेनाचार्य) पृ १०६

१८७ (क) योगशास्त्र ८/६४-५५ एवं स्वोपज्ञभाष्य टीका
(ख) षट् खण्डागम (चउत्थखण्डे वेयणाए) पृ १-१२ (गा. १-४४)
(ग) श्रावकाचार सग्रह, भा १ पृ ४१२

१८८ उद्धृत, तत्त्वानुशासन (रामसेनाचार्य) पृ १०६

१८९ योगशास्त्र स्वोज्ञ भाष्य ८/६४-६५ की वृत्ति

१९० योगशास्त्र ८/६६-७१

१९१ स्थितोऽसि आ उ सा मन्त्रश्चतुष्पत्रे कुशेशये।
ध्यायमान प्रयत्नेन कर्मोन्मूलयतेऽखिलम्।।

श्रावकाचार संग्रह, भा १, पृ ४०९ (गा ३३)

१९२ (क) तन्नाभौ हृदये वक्त्रे ललाटे मस्तके स्थितम्।
गुरुप्रसादतो बुध्वा चिन्तनीयं कुशेशयम्।।
अशुम वित्यमी वर्णा स्थिता पद्मे चतुर्दले।
विश्राणयन्ति पचापि सम्यग्ज्ञानानि चिन्तिता ।।

श्रावकाचार सग्रह, भा १ पृ ४०९

(ख) योग शास्त्र ८/७७

१९३ (क) योग शास्त्र ९/१-७
(ख) प्रवचनसारोद्धार गा ४४१-४५० (पृ १०७)
(ग) ज्ञानार्णव ३९/१-३
(घ) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, शुभचद्र टीका पृ ३७७
(ड) श्रावकाचार सग्रह, भा २ पृ ४५९

१९४ स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, शुभचद्र टीका पृ ३७७

१९५ स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका, पृ ३७७

१९६ (क) अमूर्त्तस्य चिदानन्द-रूपस्य-परमात्मन ।
निरजनस्य सिद्धस्य, ध्यान स्याद् रूपवर्जितम्।। योगशास्त्र १०/१
(ख) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका, पृ ३७८
(ग) श्रावकाचार सग्रह, भा २ पृ ४५९

१९७ (क) इत्यजस्र स्मरन् योगी तत्स्वरूपावलम्बन ।
तन्मयत्वमवाप्नोति, ग्राह्यग्राहक-वर्जितम्।। योगशास्त्र १०/२
(ख) आकर्षण वशीकार स्तम्भन मोहन द्रुति ।
निर्विषीकरणं शान्तिर्विद्वेषोच्चाट-निग्रहा ।
एवमादीनि कार्याणि दृश्यन्ते ध्यानवर्तिनाम्।
तत समरसीभाव - सफलत्वान्न विभ्रम ।।

तत्त्वानुशासन नामक ध्यान शास्त्र गा २११-२१२

(ग) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, टीका, पृ ३७८

१९८ (क) अनन्यशरणीभूय, स तस्मिन् लीयते तथा।
ध्यातृ-ध्यानोभयाभावे, ध्येयेवैक्य यथा व्रजेत्।।
सोऽय समरसी भाव तदेकीकरण मतम्।
आत्मा यदपृथक्त्वेन, लीयते परमात्मनि।। योगशास्त्र १०/३-४
(ख) तत्त्वानुशासन (रामसेनाचार्य) गा १३७

१९९ (क) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका पृ ३६७

(ख) श्रावकाचार संग्रह, भा १, पृ ४०६

२०० स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, टीका पृ ३६७-३६९

२०१ (क) योग विंशिका (हरिभद्र) गा २,४,८

उद्धृत, हारिभद्र, योग भारती

(ख) तथा च स्थानादावेकैकस्मिन्निच्छादि भेदचतुष्टय समावेशादेतद्विषया अशीतिर्भेदा संपन्ना।

हारिभद्र योग भारती (मु जयसुदर विजय) टीका पृ ८

२०२ ध्यान विचार उद्धृत, नमस्कार, स्वाध्याय (प्राकृत विभाग) पृ २२५

२०३ ध्यान विचार उद्धृत, नमस्कार स्वाधाय (प्रा वि) पृ २२५-२३४

२०४ ध्यान विचार उद्धृत, नमस्कार स्वाधाय (प्रा वि) पृ २४०-२४६

२०५ ध्यान विचार उद्धृत, नमस्कार स्वाधाय (प्रा वि) पृ २४६

अध्याय ६

ध्यान का मूल्यांकन

ध्यान का आध्यात्मिक मूल्याकन अतत शाश्वत सुख है। किंतु साथ ही साथ ध्यान से शारीरिक और मानसिक विकास उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। क्योंकि शुद्धोपयोग की प्राप्ति चित्त-समाधि से प्राप्त होती है। चित्त समाधि - मन शान्ति चित्त शुद्धि से होती है। चित्त शुद्धि शरीर और मन के स्वस्थ होने पर होती है। तन के स्वस्थ रहने से मन स्वस्थ रहता ही है और मन स्वस्थ रहा तो आत्मोपलब्धि की सिद्धि मिलती ही है। आत्मोपलब्धि = शुद्ध आत्मा का स्वरूप। आत्मा का निज स्वरूप ध्यान के विना निखर नही सकता। कर्मरज को जीव से सर्वथा पृथक् करने की शक्ति ध्यान में ही है। कर्मसयोग से ससार वृद्धि और कर्मवियोग से मोक्ष की प्राप्ति होती है। जैसे मैले कुचैले वस्त्र को पानी से, लोहे को अग्नि से और कीचड़ का शोधन सूर्य से किया जाता है, वैसे ही ध्यान रूपी पानी, अग्नि, सूर्य से कर्म मलादि का शोधन किया जाता है।[१] ध्यानाग्नि ही कर्म इन्धन को जलाने में समर्थ है।[२] यह सारी प्रक्रिया आध्यात्मिक है। इसके अतिरिक्त मानसिक निर्मलता और शारीरिक स्वस्थता में भी ध्यान की प्रक्रिया का विशेष योगदान है। अत ध्यान की प्रक्रिया से शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास होता है।

१) ध्यान से शारीरिक लाभ

शरीर की स्थिरता :- शरीर की स्थिरता से चित्त की निर्मलता बढ़ती है। चित्त शुद्धि का सबसे बड़ा मत्र है - शरीर की स्थिरता, और चित्त की अशुद्धि का कारण है शरीर की चंचलता। शरीर में व्याधि उत्पन्न होने से वैद्य की शरण ली जाती है। वैद्य उसके शरीर की जाच मलमूत्र, नाखून के रग, नाड़ी की गति, श्वास की गति, मुह का स्वाद, जिह्वा एव रक्त परीक्षण आदि से करके रोग का निर्णय लेता है। वैसे ही ध्यानयोगी साधक ध्यान के विविध प्रयोगों से आत्मस्वरूप का ज्ञान करते हैं। इसलिए ध्यान साधक को शरीर-सरचना एव उसकी क्रियाविधि का ज्ञाता होना चाहिए।

साधना का माध्यम 'शरीर' :- जन्म होना ही शरीर का प्रारभ है। जीव के क्रिया करने के साधन को शरीर कहते हैं। जैनागम में शरीर के पाच प्रकार बताये हैं[३]-औदारिक,

वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण। इनमें से तैजस और कार्मण शरीर सब ससारी जीवों के होते हैं और आत्मा के साथ उनका अनादि संबध है। ये दोनों शरीर लोक में कही भी प्रतिघात नहीं पाते है, वज्र - जैसी कठोर वस्तु भी इन्हें प्रवेश करने से रोक नहीं सकती है। क्योंकि ये अत्यन्त सूक्ष्म हैं और सूक्ष्म वस्तु बिना रुकावट के सर्वत्र प्रवेश पा सकती है, लोहपिण्डाग्नि की तरह। जो विशेष नामकर्म के उदय से प्राप्त होकर गलते हैं, वे शरीर हैं। इन पांचों शरीरों का स्वरूप इस प्रकार है - जिस शरीर में हाड, मांस, रुधिर, त्वचा है एवं जिनका सड़न-गलन-पड़न का स्वभाव है, वह औदारिक शरीर है। यह शरीर मनुष्य और तिर्यंच गति के जीव को होता है। उदार और स्थूल ये दोनों एक ही पर्यायवाची शब्द हैं। प्रधान पुद्गलों से तीर्थंकरादि के शरीर बनते हैं। इस शरीर से ही साधना की जाती है। अत उदार और स्थूल प्रयोजन वाला शरीर ही औदारिक शरीर है। जिस शरीर में हाड़, मास, रुधिर, त्वचा एव सड़न-गलन-पड़न नही होता है, सिर्फ अणिमादि आठ सिद्धिओं के बल से छोटे बड़े आकार करना ही (विक्रिया करना) जिसका प्रयोजन है, वह वैक्रिय शरीर है। यह शरीर देवता और नरक के जीवों को होता है। वैक्रियशरीर उपपात जन्म से पैदा होता है और लब्धि से भी पैदा होता है, किन्तु औदारिक शरीर सम्मूर्च्छन जन्म और गर्भ जन्म से पैदा होता है। जो शरीर सिर्फ चतुर्दशपूर्वधर मुनि के द्वारा सूक्ष्म तत्त्वज्ञान और असयम परिहार के लिये जिसकी रचना की जाती है वह आहारक शरीर है। जो शरीर तेजोमय होने से खाद्य आहार के परिपाक का हेतु तथा दीप्ति का कारण होता है, वह तैजस शरीर है। कर्मों के समूह को कार्मण शरीर कहते हैं। यद्यपि सब शरीर कर्म के निमित्त से ही होते हैं, फिर भी रूढ़िगत विशिष्ट शरीर को कार्मण शरीर कहते हैं। मिट्टी के पिण्ड से उत्पन्न घट, घटी, सकोरा आदि में संज्ञा, लक्षण, आकार आदि की दृष्टि से भेद हैं; वैसे ही औदारिकादि शरीर कर्मकृत होने पर भी लक्षण, आकार और निमित्तादि के कारण परस्पर भिन्न हैं। कार्मण शरीर से ही औदारिकादि शरीर उत्पन्न होते हैं। इनमें कार्य कारण की अपेक्षा होने से कार्मण और औदारिकादि शरीर भिन्न हैं। गीले गुड पर धूलि जम जाती है, वैसे ही कार्मण शरीर पर औदारिकादि शरीरों के योग्य परमाणु, जिन्हें विस्रसोपचय कहते हैं,- आकार जम जाते हैं। इस दृष्टि से भी कार्मण और औदारिकादि भिन्न हैं। दीपक की भाति कार्मण शरीर औदारिकादि का निमित्त है और अपने उत्तर कार्मण का भी। इस प्रकार कार्मण शरीर निर्निमित्त होने से असत् नही हो सकता। उसमें प्रति समय उपचय-अपचय होता रहता है। उसका अंशत विशरण सिद्ध है, इसलिये वह शरीर है। कार्मण सबका आधार और निमित्त होने से उसका प्रथम ग्रहण होना चाहिए था, किन्तु वह सूक्ष्म है और औदारिकादि स्थूल हैं। पाच शरीर में सबसे अधिक स्थूल औदारिक शरीर है, वैक्रिय उससे सूक्ष्म है, आहारक वैक्रिय से सूक्ष्म है और आहारक से तैजस सूक्ष्म है तथा तैजस से कार्मण सूक्ष्मतर सूक्ष्मतम है। अत्यन्त स्थूल और इन्द्रिय ग्राह्य होने से

औदारिक शरीर को प्रथम ग्रहण किया है। आगे-आगे सूक्ष्मता दिखाने के हेतु से वैक्रियादि शरीर का क्रम है।

स्थूल और सूक्ष्म भाव की व्याख्यानुसार उत्तर-उत्तर शरीर का आरम्भक द्रव्य पूर्व-पूर्व शरीर की अपेक्षा परिमाण में अधिक होता है। उन सबका परिमाण एक सा नही होता। परमाणुओं से बने हुए जिन स्कन्धों से शरीर का निर्माण होता है वे ही स्कन्ध शरीर के आरम्भक द्रव्य हैं। जब तक परमाणु अलग-अलग रहते हैं, तब तक शरीर नही बन सकता। परमाणुपुज के स्कन्ध से ही शरीर बनता है। वे स्कन्ध भी अनन्त परमाणुओं के बने हुए होते हैं। औदारिक शरीर के आरम्भक स्कन्धों से वैक्रिय शरीर के आरम्भक स्कन्ध असख्यात गुणा होते हैं। यही अधिकता वैक्रिय और आहारक शरीर के स्कन्धगत परमाणुओं की अनत सख्या में समझना चाहिये । आहारक स्कन्धगत परमाणुओं की अनत सख्या से तैजस के स्कन्धगत परमाणुओं की अनत सख्या अनतगुण होती है। इसी तरह तैजस से कार्मण के स्कन्धगत परमाणु भी अनन्तगुण अधिक है। इससे सिद्ध है कि पूर्व-पूर्व शरीर की अपेक्षा उत्तर-उत्तर शरीर के आरम्भक द्रव्य अधिक-अधिक होते हैं। फिर भी परिणमन की विचित्रता के कारण उत्तर-उत्तर शरीर निविड, निबिडतर और निबिडतम बनते जाते हैं तथा सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम कहलाते हैं।[४] सूक्ष्म शरीर के सहारे ही स्थूल शरीर बनते हैं।

एक साथ एक ससारी जीव में कम-से-कम दो और अधिक-से-अधिक चार शरीर होते हैं। पाच कभी नही होते हैं। जब दो होते हैं तब तैजस और कार्मण कहलाते हैं, क्योंकि ये दोनों सभी ससारी जीवों के होते हैं। यह स्थिति विग्रहगति में पूर्व शरीर को छोड़कर दूसरी गति के शरीर को प्राप्त करने के लिये होने वाली गति के अतराल में पायी जाती है। क्योंकि उस समय अन्य कोई भी शरीर नही होता है। जब तीन होते हैं, तब तैजस कार्मण और औदारिक या तैजस कार्मण और वैक्रिय। पहला प्रकार मनुष्य तिर्यंचों में और दूसरा प्रकार देव नारकों में जन्म से लेकर मरण पर्यन्त पाया जाता है। जब चार होते हैं, तब तैजस, कार्मण, औदारिक और वैक्रिय अथवा तैजस, कार्मण, औदारिक और आहारक।[५] पहला विकल्प वैक्रिय लब्धि के समय कुछ मनुष्य और तिर्यंचों में पाया जाता है। दूसरा विकल्प आहारक लब्धि के प्रयोग के समय चतुर्दश पूर्वधारी मुनियों में होना सभव है। किन्तु वैक्रिय लब्धि और आहारक लब्धि का प्रयोग एक साथ संभव न होने से पाचों शरीर एक साथ किसी के भी नही होते हैं। प्रथम तीन शरीरों में ही अगादि होते हैं। शेष तैजस कार्मण शरीरों का कोई सस्थान-आकार नही होता है।

बधन नामकर्म के द्वारा लाख, गोंद आदि चिकने पदार्थों की भांति बधने वाले औदारिकादि शरीरों के पुद्‌गलों का आपस में सबध कराया जाता है।[६] जैसे दतालीद्वारा

तृण समूह को एकत्रित किया जाता है, वैसे ही संघातन नामकर्म के द्वारा औदारिकादि शरीर पुद्‌गलों को एकत्रित किया जाता है।[७] शरीर योग्य पुद्‌गलों को सघातन नामकर्म समीप लाता है और उसके बाद बंधन नामकर्म उन्हें उन-उन शरीरों से सवद्ध कराता है। शरीर नामकर्म के उदय से ही पांचों शरीरों का निर्माण होता है।

जैनागम में छह पर्याप्तियों का वर्णन है। उनमें से द्वितीय पर्याप्ति का नाम शरीर पर्याप्ति है। प्रथम आहार लिया जाता है, बाद में शरीर बांधा जाता है। शरीर के विना इन्द्रियाँ और श्वासोश्वास की क्रिया नही हो सकती। इसलिये ध्यान साधना करने वाले साधक को शरीर तत्र का ज्ञान होना चाहिये। शरीर भी एक वड़ा भारी यत्र है। उसमें हड्डियों की रचना कैसे होती है तथा मनुष्यादि में जो शारीरिक विभिन्नताएँ और आकृतियों में विविधता दिखाई देती है, उसका क्या कारण है? भगवान महावीर मनोविज्ञान और शरीरविज्ञान के बड़े भारी ज्ञाता थे। उन्होंने अपने केवलज्ञान के आलोक में देखकर शरीर विज्ञान को स्पष्ट किया कि "जिस नाम कर्म के उदय से हड्डियों का आपस में जुड़ जाना अथवा हड्डियों की रचना विशेष को सहनन नाम कर्म कहते हैं।" औदारिक शरीर के अतिरिक्त अन्य वैक्रिय आदि शरीरों में हड्डियां नही होती हैं। अत संहनन नाम कर्म का उदय औदारिक शरीर में ही होता है। संहनन नाम कर्म के छह भेद हैं[८]- १) वज्र ऋषभ नाराच, २) ऋषभ नाराच, ३) नाराच, ४) अर्द्धनाराच, ५) कीलिका और ६) छेवट्ट। प्रत्येक के साथ संहनन नाम कर्म जोड़ लेना चाहिये। इन छह सहननों में प्रथम के तीन सहनन ध्यान के लिये योग्य हैं। अधिकत वज्र ऋषभ नाराच सहनन वाले ही धर्मध्यान और शुक्लध्यान की साधना कर सकते हैं। वज्र, ऋषभ और नाराच - इन तीन शब्दों के योग से निष्पन्न वज्र ऋषभ नाराच पद है। इनमें वज्र का अर्थ कीली, ऋषभ का अर्थ - वेष्टन-पट्टी और नाराच का अर्थ दोनों ओर मर्कटबध है। जिस संहनन में दोनों तरफ से मर्कट बंध से बधी हुई दो हड्डियों पर तीसरी हड्डी का वेष्टन (पट्ट) हो और इन तीनों हड्डियों को भेदने वाली हड्डी की कील लगी हुई हो, उसे वज्र ऋषभ नाराच कहते हैं। जिस कर्म के उदय से हड्डियों की ऐसी रचना -विशेष हो, उसे वज्र ऋषभ नाराच - संहनन नामकर्म कहते हैं। शरीर के आकार को संस्थान कहते हैं। जिस कर्म के उदय से सस्थान की प्राप्ति होती हो, उसे संस्थान नामकर्म कहते हैं। उनके छह प्रकार हैं[९]- १) समचतुरस्र-सस्थान नाम कर्म, २) न्यग्रोध-परिमंडल-सस्थान नामकर्म, ३) सादि-संस्थान नाम कर्म, ४) कुब्ज-सस्थान नामकर्म, ५) वामन-संस्थान नामकर्म और ६) हुंड-सस्थान नामकर्म। इनमें सम, चतु , अस्र, इन तीन शब्दों से निष्पन्न समचतुरस्र पद में सम का अर्थ समान, चतु का अर्थ चार और अस्र का अर्थ कोण होता है। पालथी मारकर बैठने से जिस शरीर के चारों कोण समान हो, यानी आसन और कपाल का अन्तर,

दोनों घुटनों का अन्तर, दाहिने कधे और बाये जानु का अन्तर, बाये कंधे और दाहिने जानु का अन्तर समान हों, उसे समचतुरस्र कहते हैं। जिस कर्म के उदय से ऐसे सस्थान की प्राप्ति होती है, वह समचतुरस्र सस्थान नामकर्म कहलाता है। ऐसी आकृति में ही साधक ध्यान कर सकता है। अत ध्यान प्रक्रिया में शरीर तज्ञ होना जरूरी है। शरीर का ज्ञाता ही उक्कुडुया, गोदोहिया, समपायपुया, पलियका, अद्धपलियका आदि विभिन्न आसनों[१०] द्वारा शरीर की चचलता को स्थिर करके मन को एक वस्तु पर स्थिर करता है। जैनेतर ग्रन्थों में भी शरीर के तीन प्रकार मिलते हैं[११]- स्थूल, सूक्ष्म और कारण। इससे सिद्ध हुआ कि साधना का माध्यम शरीर ही है। क्योंकि इसी औदारिक शरीर से केवलज्ञान की प्राप्ति एवं अरिहत सिद्ध बना जा सकता है।

विज्ञान की दृष्टि से शरीर का महत्व :- शरीरशास्त्र की दृष्टि से भी औदारिक शरीर में ही नाड़ी तत्र, ग्रथि-तत्र, विद्युत् तत्र, श्वसन तत्र, पाचन तत्र, रक्त सचार तत्र आदि अनेक तत्रों का भिन्न-भिन्न कार्य प्रणालियों से सचालन होता रहता है। शरीर में सभी तत्रों का महत्व है। किन्तु नाड़ी तत्र और ग्रथि तत्र का अधिक महत्त्व है। ये शरीर के सचालक और सदेशवाहक हैं। इसलिए ध्यान साधक को शरीर ज्ञाता होना चाहिये। जैसे तार यत्र शहर के विभिन्न भागों को एक दूसरे से मिलाने का कार्य करता है, वैसे ही नाड़ी तत्र भी शरीर के विभिन्न भागों से लेन देन का कार्य करता है। नाड़ी तत्र के तीन विभाग हैं[१२]- १) त्वक् नाड़ी-मण्डल, २) केन्द्रीय नाड़ी-मण्डल, और ३) स्वतन्त्र नाड़ी-मण्डल। त्वक् नाड़ी-मण्डल दो प्रकार का कार्य सचालन करता है, जिनके नाम हैं- १) अन्तर्गामी (ज्ञानवाही) और २) निर्गामी (गतिवाही अथवा क्रियावाही)। इन दोनों का कार्य बाह्य उत्तेजना को ग्रहण करना और शरीर में कार्य करने वाली पेशियों का नियत्रण करना है। त्वक् नाड़ी-मण्डल लेन-देन की क्रिया में सतत कार्यशील रहता है।

सपूर्ण नाड़ी-तत्र नाड़ियों का बना होता है। इनमें कुछ नाड़िया छोटी और कुछ बड़ी होती हैं। ज्ञानवाही और क्रियावाही कार्यप्रणाली से वे अपना कार्य करती रहती हैं। नाड़ी के तीन विभाग किये गये हैं[१३]- १) मध्य भाग, जिसे नाड़ी-कोषाणु कहते हैं। २) नाड़ी का छोर, जिसे अक्षतन्तु कहते हैं। ३) नाड़ी का दूसरा छोर, जिसे ग्राहीतन्तु (डेड्राइट्स) कहते हैं। किसी भी प्रकार की उत्तेजना को ग्राहीतन्तु पहले पहल ग्रहण करके नाड़ी-कोषाणु पर पहुंचती है और अक्षतन्तु द्वारा बाहर प्रवाहित होती है। इस प्रकार प्रत्येक नाड़ी में हर समय उत्तेजना का ग्रहण ग्राहीतन्तु द्वारा होता है और उसका प्रवाह बाहर की ओर अक्षतन्तु द्वारा होता है। ग्राहीतन्तु अक्षतन्तु से छोटे होते हैं तथा देखने में वृक्ष के ऊपरी भाग की तरह दिखाई देते हैं। अक्षतन्तु बड़े होते हैं। इसमें इतने फुक्से नही होते जितने कि ग्राहीतन्तु में होते हैं। जहां दो नाड़ियां एक दूसरे से (अक्षतन्तु और ग्राहीतन्तु) मिलती हैं,

उस स्थान को साइनाप्स कहते हैं। साइनाप्स की तुलना प्राय. रेल के जंक्शन से की जाती है। साइनाप्स सदा मस्तिष्क और सुषुम्ना में ही होते हैं। मस्तिष्क और सुषुम्ना में एक भूरा पदार्थ होता है। यह नाड़ियों का सूक्ष्म भाग है इसी के अन्तर्गत साइनाप्स रहते हैं। साइनाप्स अन्तर्गामी (ज्ञानवाही) और निर्गामी (क्रियावाही) नाड़ियों के बीच सुषुम्ना और मस्तिष्क के भीतर रहती है। यही साइनाप्स हमारी साधारण और जटिल दोनों प्रकार के क्रियाओं में कार्य करती है। इस प्रकार हमारे शरीर में होने वाली सहज क्रिया (छींकना, खुजलाना, आसू आना आदि) में एव उत्तेजक पदार्थ, इन्द्रिय आदि में ज्ञानवाही नाड़ी, साइनाप्स, गतिवाही नाड़ी और पेशियां काम करती हैं।

नाड़ी तंत्र का दूसरा विभाग है - केन्द्रीय नाड़ी तंत्र। उसके दो विभाग हैं- १) मस्तिष्क-सुषुम्ना नाड़ी तत्र (ऊपरी भाग जहा उसका दिमाग से संबध होता है), २) मस्तिष्क। इसके तीन विभाग किये गये हैं - बृहत् मस्तिष्क, लघुमस्तिष्क और सेतु। अन्तर्गामी नाड़ी किसी इन्द्रिय द्वारा गृहीत उत्तेजना को केन्द्रीय नाड़ी तत्र की ओर ले जाती है। अन्तर्गामी नाड़ियों की इकतीस जोड़ी होती हैं, जो सुषुम्ना में आकर मिलती हैं। प्रत्येक जोड़ी की एक नाड़ी शरीर के दाहिने अंग से और दूसरी नाड़ी शरीर की बांयी ओर से आती है। जब अन्तर्गामी नाड़िया सुषुम्ना से मिलती हैं तो निर्गामी नाड़ियों के साथ एक गट्ठर में बध जाती हैं। गतिवाही नाड़िया किसी भी उत्तेजना का प्रवाह पेशियों और शरीर में स्थित चक्रों की ओर करती हैं। अन्तर्गामी नाड़ियां सुषुम्ना के माध्यम से किसी भी ज्ञान उत्तेजना को मस्तिष्क की ओर ले जाती हैं। सुषुम्ना में प्रवेश होने पर अन्तर्गामी नाड़ी के कई भाग हो जाते हैं। एक छोटे भाग का सुषुम्ना में अन्त होता है और बड़ा भाग मस्तिष्क की ओर चला जाता है। मस्तिष्क तक पहुंचने में देर लगती है, उससे पहले ही सुषुम्ना निर्गामी नाड़ी द्वारा उचित आज्ञा प्रदान कर देती है, जिससे पेशियां अपना कार्य करने लग जाती हैं। सुषुम्ना को शीर्षक कहा गया है। सुषुम्ना शीर्षक सुषुम्ना का सबसे ऊपरी भाग है। इस प्रकार केन्द्रिय नाड़ी तत्र का एक भाग सुषुम्ना नाड़ी है, जो मस्तिष्क में संदेश पहुचाने का तथा वहां से आज्ञा लेकर पेशियों तक पहुंचाने का काम करती है। सुषुम्ना नाड़ी के दो कार्य है सदेश पहुचाना और लाना।

केन्द्रीय नाड़ी तत्र का दूसरा विभाग मस्तिष्क है। इसके तीन विभाग हैं। इन तीनों का ही भिन्न-भिन्न कार्य है। बृहत् मस्तिष्क ज्ञान क्रिया का उत्पादन स्थल है। लघु मस्तिष्क का प्रधान कार्य है विभिन्न प्रकार की उत्तेजनाओं से संबंध जोड़ना और शरीर में समतोलपना रखना। बृहत् मस्तिष्क दो भागों में बंटा हुआ है। एक दाहिनी ओर है जिसे दक्षिण गोलार्द्ध कहते हैं और दूसरा बांई ओर रहता है, जिसे वाम गोलार्द्ध कहते हैं। लघुमस्तिष्क बृहत् मस्तिष्क के नीचे स्थित है। इसके भी बृहत् मस्तिष्क की तरह दो

विभाग है, जो बहुत से नाड़ी-तन्तुओं के गुच्छों से एक दूसरे से बधे हैं। इन गुच्छों को सेतु कहते हैं। लघुमस्तिष्क एक ओर सुषुम्ना शीर्षक से अनेक नाड़ी तन्तुओं के द्वारा जुड़ा रहता है। इसका मुख्य कार्य विभिन्न उत्तेजनाओं से संबध स्थापित करना और शरीर की क्रिया में समता स्थापित करना। ध्यान का मूल समता है। समता के बिना ध्यान हो नहीं सकता। सेतु लघु मस्तिष्क के दोनों भागों को मिलाये रखता है। बड़े मस्तिष्क से स्नायु-सूत्र सेतु से होकर जाते हैं और यही बड़े मस्तिष्क के दाहिने और बाये गोलार्द्ध से आये सूत्र एक दूसरे को पार करते हैं। जो स्नायु-सूत्र दक्षिण गोलार्द्ध से आते हैं वे सेतु के वाम भाग से होते हुए शरीर के वाम भाग की पेशियों तक जाते हैं और यदि कही दक्षिण गोलार्द्ध में कुछ गड़बड़ी हुई तो शरीर के वाम भाग की ऐच्छिक क्रियाए अवरुद्ध हो जाती हैं। इसी तरह जो स्नायु-सूत्र वाम गोलार्द्ध से आते हैं वे सेतु के दक्षिण भाग से होते हुए शरीर के दक्षिण भाग की पेशियों तक जाते हैं। यदि कही गोलार्द्ध में गड़बड़ी हो गई तो शरीर के दक्षिण भाग की गतिया अवरुद्ध हो जाती हैं। ये दोनों ही सम रहें इसलिये उपनिषदों में इडा-पिंगला नाड़ी को ध्यान पद्धति में महत्व दिया है। उपनिषद् में कथन है[१३] कि मेद्र से ऊपर और नाभि के नीचे वाले केन्द्र में पक्षी के अण्डे की आकार वाली योनि है। उस स्थान से बहत्तर हजार नाड़ियाँ निकली (उत्पन्न) हैं, उनमें से मुख्यत बहत्तर ही प्रधान हैं। उनमें भी दस प्राण वाहिनी नाड़ियां मुख्य मानी गई हैं, जैसे कि इडा, पिंगला, सुषुम्ना, गाधारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुसा, कुहु और शखनी। नाड़ियों का यह महाचक्र योगियों के लिये सदैव ज्ञातव्य है। इनमें इडा बायी तरफ और पिंगला दाहिनी तरफ रहती है। इन दोनों के बीच में सुषुम्ना का स्थान है। गाधारी बाये नेत्र में, हस्तिजिव्हा दाये नेत्र में, पूषा दायें कान में, यशस्विनी बांयें कान में, अलम्बुसा मुख में, कुहु लिंगेद्री में और शखनी मूल स्थान में रहती है। इस प्रकार ये नाड़ियाँ शरीर के विभिन्न भागों में स्थित हैं। इडा, पिंगला प्राणवाहिनी (मार्ग) में स्थित हैं। इन सभी नाड़ियों में सुषुम्ना ही मुख्य है, क्योंकि वह मन को एकाग्र करने में अग्रन्य है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से ध्यान के दो प्रकार किये गये हैं[१४]- इच्छित और अनिच्छित। इन दोनों के क्रमश दो-दो भेद हैं - प्रयत्नात्मक, निष्प्रयत्नात्मक, सहज और बाध्य। इन सबमें सुषुम्ना नाड़ी द्वारा मन को एकाग्र करना है। मन की एकाग्रता, तल्लीनता और तन्मयता ही ध्यान है। मन के स्वस्थ होने पर ही ध्यान लग सकता है। मन की स्वस्थता मस्तिष्क की स्वस्थता पर आधारित है। मस्तिष्क का समतोलपणा ही शरीर के प्रत्येक कार्य प्रवृत्ति में सम्यक् प्रकार से सदेशवाहक का कार्य करता है। इसलिये नाड़ी तंत्र का द्वितीय विभाग मन की स्थिरता में अधिक सहायक है।

नाड़ी तंत्र का तीसरा विभाग है[१५]- स्वतंत्र नाड़ी मण्डल। यह केन्द्रीय नाड़ी मण्डल की ही एक शाखा है। बहुत से नाड़ी-तन्तु सुषुम्ना से मिलकर स्वतंत्र नाड़ी मण्डल में

मिलते हैं। स्वतंत्र नाड़ी मण्डल में बहुत से चक्र अथवा गंड रहते हैं। ये चक्र सुषुम्ना और शीर्षणी नाड़ी से नाड़ीतन्तुओं के द्वारा जुड़े रहते हैं। ये नाड़ी तन्तु गले, सिर और निचले भाग से निकलते हैं। इन चक्रों से दूसरे नाड़ी तन्तु भी निकलते हैं जो शरीर के विभिन्न भागों में फैले हुए हैं। हमारे शरीर में जो ग्रन्थियां हैं, उन्हें योगाचार्यों ने चक्र (सहस्रार, आज्ञा, विशुद्धि, अनाहत, मणिपूर, स्वाधिष्ठान, मूलाधार चक्र) कहा है। शरीर शास्त्रज्ञ उसे ग्लैण्डस् (गिल्टियाँ) कहते हैं। वे दो प्रकार की हैं - प्रणालीयुक्त गिल्टियां और प्रणालीविहीन गिल्टियां। इनमें प्रणालीयुक्त गिल्टियां रसों को उत्पन्न करके शरीर की विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं और प्रणालीविहीन गिल्टिया मानसिक उद्वेगों को घटाने-बढ़ाने में सहायक होती हैं जिनके निम्नलिखित नाम हैं- १) कण्ठमणि (चुल्लिका) इससे 'थायराक्सिन रस' निकलता है। २) उपचुल्लिका, ३) पीनियल, ४) पिट्युटरी और ५) एड्रिनल्स, इससे 'एड्रिनलीन रस' निकलता है। ये ग्रन्थियाँ बहि स्रावी और अन्त स्रावी नाम से प्रचलित है। अन्त स्रावी ग्रन्थियों (प्रणालीहीन ग्रन्थियाँ) का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अधिक महत्व है। ये ग्रन्थियाँ सीधे अपने स्राव को रक्त में मिश्रित कर देती हैं। ये सवेगात्मक अथवा व्यक्तित्व ग्रन्थियों के नाम से प्रचलित हैं।

ग्रन्थियों का शरीर पर प्रभाव :- ग्रन्थियों के विशेषत· तीन कार्य हैं - १) अंत स्रावी रस (हारमोन्स) उत्पन्न करना, २) उत्पन्न रसों को रक्त में मिश्रित करना और ३) समस्त शरीर संस्थान पर नियंत्रण करना। हमारे शरीर में दो ग्रन्थियाँ, पिच्युटरी और एड्रिनल ऐसी हैं कि जिनके द्वारा शरीर पर तनाव पड़ता है। मानसिक आवेगों का प्रभाव इन दोनोंपर पड़ता है। मानसिक तनाव से प्रभावित होकर ये ग्रन्थियाँ दूषित हारमोन्स को रक्त में छोड़ती हैं जिसके फलस्वरूप शरीर में भाँति-भाँति के रोग उत्पन्न होते हैं । जिसके कारण सिम्पेथेटिक और पेरासिम्पेथेटिक पर कोई नियंत्रण नही रह पाता।[१६] इसलिये ये नाडियाँ अपनी उत्तेजित दशा में क्रोध, भय, घृणा आदि को प्रेरित करती हैं। इस मानसिक तनाव का प्रभाव मस्तिष्क के 'हाईपोथेलेमस 'विभाग पर सर्वप्रथम पड़ता है, जिसके फलस्वरूप पिच्युटरी उत्तेजित होती है। मानसिक तनाव बढता है। इन तनावों को योगप्रक्रिया से ही शान्त किया जा सकता है। योगप्रकिया में शरीर और मन दोनों ही स्वस्थ होने चाहिये । इसीलिये शरीरतन्त्र में स्वतंत्र नाडी-मण्डल का महत्वपूर्ण स्थान है।

स्वतंत्र नाडी - मण्डल के तीन विभाग हैं[१७]- १) शीर्षणी, २) मध्यम और ३) अनुत्रिका। शीर्षणी भाग अपने आप होने वाली क्रिया आँख के ताल-लेन्स ,पुतली का अंधेरे एव प्रकाश में छोटी बड़ी होना आदि पर नियत्रण करती है। अनुत्रिका सुषुम्ना के निचले छोर के समीप स्थित है। मलमूत्र त्याग में यह कार्यशील रहती है। कामभाव की उत्तेजना में भी यह काम करती है। मध्यम भाग इन दोनों भागों से विपरीत कार्य करता है।

शरीर में स्थित नाड़ी तन्त्र और ग्रन्थितन्त्र का यथार्थ ज्ञान होने पर ही ध्यान साधक ध्यान प्रक्रिया द्वारा उन सबको प्रभावित करता है। यहाँ ध्यान का अर्थ चित्तवृत्ति को एकाग्र करना है। आग्ल भाषा में चित्त को माइन्ड (मन) कहा है। शरीर शास्त्र में 'चित्त' को मस्तिष्क का एक विशेष भाग बताया है।

शरीर में आत्मा का निवास होता है। कर्मों के तरतम भाव के कारण आत्मशक्ति पर गाढ़, गाढतर, गाढ़तम आवरण आ जाते हैं। उन आवरणों को दूर करने के लिये ध्यान साधन है और मोक्ष साध्य है। साधन का माध्यम शरीर है। इसलिये आत्मा की अनन्तशक्ति को प्रगट करने के लिये साधना का माध्यम शरीर को माना है। औदारिक शरीर द्वारा ही कर्मों की निरावरण अवस्था होती है। इस अवस्था में ज्ञान के सारे आवरण दूर होते ही केवलज्ञान, केवलदर्शन की प्राप्ति करके साधक सिद्धत्व को पाता है।

शरीर पर ध्यान का प्रभाव :- ध्यान साधना का प्रयोजन स्थूल शरीर को भेदकर सूक्ष्म तक पहुचना है। शरीर में प्रतिक्षण प्रतिपल परिवर्तन होता रहता है, एक पर्याय का उद्‌गम हुआ कि दूसरा पर्याय नष्ट होता है। यह उत्पाद व्यय का चक्र सतत चालू ही रहता है। इस चक्राकार पर्याय के स्रोतों का परीक्षण करना ही पर्याप्त नही है, इससे भी आगे बढ़ने के लिये यत्र की सहायता उपयोगी नही होती। अतीन्द्रिय शक्ति को विकसित करने के लिये मानसिक शक्ति का विकास होना जरूरी है। आध्यात्मिक साधना के बल से सूक्ष्म शरीर तैजस और कार्मण का निरीक्षण करना है। इनका निरीक्षण करते-करते देव, मनुष्य और तिर्यंच सबधी कितने भी उपसर्ग आये तो भी समभाव की साधना में लीन रहना है। भगवान महावीर की सपूर्ण साधना पद्धति समभाव की ही साधना थी। उन्होंने साढ़े बारह वर्ष तक साधना की। उन साधनाकालीन जीवन में भगवान महावीर को अनेक उपसर्ग - परीषह सहने पड़े। साधना के प्रारभ काल में और साधना के अन्तकाल में ग्वाले का ही उपसर्ग आया। कुर्मारगाम और छम्माणिगाम के बाहर ध्यानस्थ अवस्था में खड़े महावीर पर ग्वालों ने क्रमश रस्सी-से मारा और कानों में खीले डाले, कही-कही कास नामक घास की शलाका का भी वर्णन आता है। इन हृदयद्रावक उपसर्ग के कारण शरीर में भयकर वेदना हुई, परतु भगवान महावीर स्वचिंतन में लीन थे। पूर्व कृत कर्मों का फल समभाव की साधना में लीन होकर भोगते रहे।[१८] भगवान महावीर ने जब प्रव्रज्या अगीकार की उस समय शरीर पर सुगन्धित गोशीर्ष चन्दन आदि द्रव्यों के लगाने से मच्छर, कीट, पतग आदि जहरीले जीव जन्तु शरीर को दश देने लगे फिर भी महावीर का ध्यान शरीर की ओर नही था। वे शरीर की साधना नही कर रहे थे, मन को साध रहे थे, जिसके फलस्वरूप वे आत्म ध्यान में लीन थे।[१९] उन्हें सर्दी-गर्मी का भी ध्यान नहीं था। 'हलिद्‌दुग' नामक ग्राम के बाहर 'हलिद्‌दुग वृक्ष' के नीचे ध्यानस्थ मुद्रा में खड़े रहे।

कड़कड़ाती सर्दी पड़ रही थी। यात्रियों ने उसी वृक्ष के नीचे रात्रि में विश्राम लिया और सबेरे सर्दी से बचने के लिये अग्नि जलायी। वे तो सूर्योदय के पहले वहां से चले गये। अग्नि की लपटें महावीर के पैरों तक गई, गोशाला तो आग की लपटों से घबराकर भाग गया पर महावीर ध्यान में ही लीन रहे।[२०] सर्दी गर्मी के अतिरिक्त दंश-मशक, सर्पादि विषैले जन्तु, काक, गीध, तीक्ष्ण चंचुवाले पक्षियों का प्रहार, दुष्ट लोगों का चोर समझकर शस्त्रों का प्रहार, कामातुर स्त्रियों के विविध उपसर्गों को भगवान महावीर ने समभाव से सहन किये। वे जानते थे कि कामभोग विषय वासना किंपाक की तरह विनाशक हैं। इसलिये वे सतत आत्मभाव में लीन रहते थे।[२१]

जब अनार्य देश में महावीर ने विहार किया तो वहा के अज्ञानी व्यक्तियों ने, उन्हें डंडों से मारा-पीटा व अनेक कष्ट दिये। कोई उनका तिरस्कार करते और कोई प्रशसा भी करते, फिर भी वे तो अपने आप में मस्त रहते थे। अनार्य लोगों के असह्य प्रहारों से पीड़ित न होकर समभाव में लीन रहते थे। गीत, नृत्य, दंडयुद्ध, मुष्टियुद्ध को देखकर भी वे विस्मित नही होते थे। सदा ध्यानस्थ अवस्था में ही तल्लीन रहते थे।[२२] लाढ देश के अनार्य लोगों ने महावीर के शरीर को तथा नखों और दातों को क्षत विक्षत किया। जंगली कुत्तों द्वारा मास निकाला, लाठियों का प्रहार किया, पत्थरों से मारा, दातों से काटा, कुत्तों की तरह उन पर टूट पड़ते, फिर भी लाढनिवासियों के ऊपर भगवान महावीर ने तनिक भी क्रोध नहीं किया।[२३] उनके पास ऐसी शक्ति थी कि वे क्षण भर में उनको नष्ट कर सकते थे, और शरीर वेदना को शान्त कर सकते थे। किन्तु उन्होंने अपनी शक्ति का उपयोग शरीर सुखों के लिये न करके आत्मसुखों की प्राप्ति में किया। शारीरिक कष्टों को कर्म निर्जरार्थ सहन करना ही उनका ध्येय था। उनका ध्यान शरीर पर नही था, आत्मा पर था। जिसका ध्यान आत्मा पर होता है, उसे शरीर से सबधित कष्टों का भान नही होता। वह तो भेदविज्ञान की साधना में मस्त रहता है। महावीर की साधना देह की साधना नही थी, बल्कि आत्मध्यान की साधना थी, जिसके कारण उन्हें 'शूलपाणियक्ष' ने विभिन्न हाथी, पिशाच, सर्प आदि के रूप बनाकर आख, कान, नासिका, सिर, दांत, नख, पीठ इन सप्त स्थानों में दिये गये भयकर उपसर्गों से निर्मित वेदनाएं कुछ न कर सकीं। लोमहर्षक उपद्रवों की लम्बी श्रृखलाओं को, सुमेरू की भाति ध्यान साधना में अडिग रहकर समभाव की साधना से सहते रहे। शूलपाणियक्ष की राक्षसी प्रवृत्ति अन्त में ध्यानयोगी महावीर के सामने झुक गई।[२४] चण्डकौशिक सर्प ने[२५] भगवान महावीर पर विषैली फुंकार फेंकी, पैरों पर दंश पर दश देता रहा, किन्तु वे तो ध्यान में स्थिर थे। पैरों की वेदनाओं की ओर महावीर का ध्यान नहीं था, ध्यान तो आत्मा की ओर था। प्रेमामृत से चण्डकौशिक के विष को शान्त कर दिया। रुधिर के स्थान पर दूध की धार बहने लगी। महावीर की ध्वनि

चण्डकौशिक के कानों में गूजने लगी कि 'चण्डकौशिक शान्त हो, जागृत हो।' ध्यान के प्रभाव से चण्डकौशिक को आत्मज्ञान (जातिस्मरण) हो गया और झुक गया महावीर के चरणों में। दृढ़ प्रतिज्ञा की कि 'आज से किसी भी जीव को सताऊंगा नही, मारूगा नहीं, कष्ट दूगा नही।' महावीर से क्षमादान लेकर वह उसी समय अनशन व्रत (सलेखना) अगीकार करके देह को वाहर ओर मुह को वांवी में डालकर स्वचिंतन में लीन हो गया। देह का भान भूल गया। लोगों ने गालिया दी, पत्थर मारे, ककड़ फेंके, शक्कर दूध से पूजा की गई फिर भी चण्डकौशिक को कुछ भी नही था। समभाव की साधना में लीन वन गया। शक्कर की मिठास के कारण हजारों चीटियाँ शरीर से चिपक गईं। देह में असीम पीड़ा हुई फिर भी चण्डकौशिक का ध्यान शरीर पर नही था। समभाव की साधना से भयकर शारीरिक वेदना को सहकर, शुभ ध्यान के परिणाम से तिर्यंच मिटकर देव बन गया।[२६] रागादिकल्मष को धोने के लिये ध्यान-जल की ही आवश्यकता है। आत्मज्ञानी तप-संयम के योग से समस्त कल्मषों को धो डालते हैं।[२७] यह सब ध्यान का ही प्रभाव है। देह में उत्पन्न वेदनाओं को सहने की ताकद ध्यान से ही प्राप्त होती है। कटपूतना का शीत परीषह भगवान महावीर ने समभाव की साधना से सहन किया तो परमअवधि ज्ञान को प्राप्त कर गये।[२८]

दृढ़भूमि के पेढाल उद्यान के 'पोलास' चैत्य में अष्टम तप की आराधना से एक पुद्गल पर दृष्टि केन्द्रित करके भगवान महावीर ध्यानस्थ खड़े थे, उस समय स्वर्ग में शक्रेन्द्र ने अवधिज्ञान से उपयोग लगा कर देखा। अपने सभामण्डप में स्थित देव देवियों के सामने महावीर की साधना की प्रशसा की। इस प्रशसा को सुनकर सगम नामक देव उनकी कसौटी (परीक्षा) करने निकल पडा। जहा महावीर ध्यानस्थ थे वहा आया। एक से एक बढ़कर उपसर्गों का जाल बिछाने लगा। शरीर के रोम-रोम में भयकर वेदनाए उत्पन्न कर दी, फिर भी महावीर चलायमान नही हुए। किंचित् भी प्रतिकूल उपसर्गों से चलायमान नहीं हुए देखकर सगम उन्हें अनुकूल उपसर्ग देने लगा। सौन्दर्यसम्राज्ञी नारियों के हाव भाव से भी वे विचलित नही हुए। बल्कि सुमेरू की तरह महावीर ध्यान में स्थिर थे। संगम के मन में शाति नही थी। इसलिए एक रात्रि में महाभयंकर बीस उपसर्ग दिये, जो निम्नलिखित हैं-

१) प्रलयकारी धूल की वर्षा की जिसके कारण महावीर के कान, नेत्र, नाक आदि में भयंकर वेदनाएं हुईं।

२) वज्रमुखी चींटियां उत्पन्न की। उन्होंने महावीर के शरीर को काटकाट कर खोखला बना दिया।

३) मच्छरों का झुण्ड महावीर पर छोड़ा। वे खून पीने लगे।

४) तीक्ष्णमुखी दीमकें उत्पन्न की। वे महावीर के शरीर को कांटने लगी।

५) जहरीले बिच्छुओं की सेना महावीर पर छोड़ी। वे डंख देने लगी।

६) नेवले उत्पन्न करके शरीर पर छोड़े। वे शरीर में स्थित मांसखण्ड को छिन्न-भिन्न करने लगे।

७) भीमकाय विषधर सर्प उत्पन्न किये। वे महावीर को पुन॰ पुन कांटने लगे।

८) चूहे उत्पन्न करके महावीर के शरीर पर छोड़े। वे तीक्ष्ण दातों से उन्हें कांटने लगे। कटे घाव पर मूत्र करते थे।

९) लम्बी सूड वाले हाथी बनाकर, आकाश में पुन पुन उछाला, नीचे गिराया, पैरों से रोंदा और उनकी छाती में तीक्ष्ण दातों से प्रहार किया।

१०) हाथी की भाति हथिनी बनाई, उसने भी महावीर को अनेक कष्ट दिये।

११) बीभत्स पिशाच का रूप बनाया। पैनी बर्छी से मारा।

१२) विकराल व्याघ्र का रूप बनाकर महावीर के दांतों और नखों को बिदारा।

१३) माता त्रिशला और पिता सिद्धार्थ का रूप बनाकर करुण क्रन्दन करने लगा।

१४) दोनों पैरों के बीच अग्नि जलाकर भोजन पकाने की चेष्टा की।

१५) चाण्डाल का रूप बनाकर महावीर के शरीर पर पक्षियों के पिंजरे लटकाये। उन्होंने अपने पंजों और चोंच से महावीर पर प्रहार किये।

१६) आधी का रूप बनाया। उसमें महावीर को कई बार गगन में उड़ाया और नीचे गिराया।

१७) कलकलिका (चक्राकार) वायु उत्पन्न की। उसमें महावीर को चक्र की भांति घुमाया।

१८) कालचक्र बनाया। महावीर जमीन में घुटनों तक धंस गये।

१९) देव बनकर महावीर के पास आकर बोलने लगा कि "स्वर्ग चाहिये या मोक्ष"।

२०) अप्सरा का रूप बनाया। विभिन्न हाव भाव और विभ्रम-विलास से महावीर को विचलित करने का प्रयत्न किया।

एक रात्री के बीस उपसर्ग से भी महावीर विचलित नही हुए। इस प्रकार सगम[२१] लगातार छह मास तक महावीर को कष्ट देता रहा। महावीर परीषह - उपसर्ग को समभाव

से सहते रहे। शरीर में मारणातिक वेदना होनेपर भी सहन करने की ताकद ध्यानवल से ही प्राप्त हुई। ध्यान बल का प्रभाव यह हुआ कि शरीर पर दारुण कष्ट आने पर भी सहने की दिव्य शक्ति प्राप्त हुई। महावीर को ध्यानस्थ अवस्था में अड़िग देखकर मिथ्यादृष्टि देव सगम भी महावीर के चरणों में झुक गया। क्षमा मागी और अपने स्वस्थान को चला गया। दिव्यशक्ति की ही अत में विजय होती है। शारीरिक वेदनाओं और कष्टों को सहन करने की शक्ति भी ध्यानवल से ही प्राप्त होती है।

उपसर्ग तीन प्रकार के माने जाते हैं। जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। दीर्घकालीन तपोयोग की साधना में महावीर को अनेक उपसर्ग और परिषह सहने पड़े। उनमें अनुकूल, प्रतिकूल उपसर्ग आये। किन्तु उन सबमें कानों से कील निकालने का उपसर्ग सबसे अधिक कष्टप्रद था। महावीर के जीवन में यह उत्कृष्ट उपसर्ग था। शेष सब जघन्य और मध्यम थे। इन तीनों प्रकार के उपसर्गों में महावीर ने समभाव रखकर बहुत सी कर्म निर्जरा कर दी।

ध्यान से यही लाभ है कि शरीर का ममत्व हटकर समत्व की प्राप्ति होती है। महावीर ने अपने साधनाकालीन जीवन में देह का निरीक्षण न करके आत्मा का निरीक्षण किया था। आत्मा को देखने की प्रक्रिया लोकभाषा में अन्तर्मुखी प्रक्रिया है। अन्तर्मुखी प्रक्रिया शरीर के द्वारा ही हो सकती है और वह भी औदारिक शरीर द्वारा।

ध्यान के प्रभाव से योगी पुरुष की विष्ठा भी रोग नाशक बनती है। सभी देहधारियों का मल दो प्रकार का होता है। १) कान, नेत्रादि से निकलने वाला और २) शरीर से निकलनेवाला मलमूत्र, पसीना आदि। ध्यान के बल से यह दोनों प्रकार का मल रोगियों के समस्त रोगों का नाशक होता है। वैसे ही योगियों के शरीर के नाखून, बाल, दात आदि विभिन्न अवयव भी औषधिमय बन जाते हैं। इसके लिए आगम में 'सर्वौषधिलब्धि' शब्द का प्रयोग मिलता है। मानव जीवन में स्थित पाँचों इन्द्रियों में से किसी भी एक इन्द्रिय के द्वारा समस्त इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान होना भी योगजनित (ध्यानजनित) अभ्यास का ही सुफल है। इसके लिए आगम में 'सभिन्न स्रोतलब्धि' शब्द का प्रयोग मिलता है। ध्यान के बल से शरीर में अनेक लब्धिया उत्पन्न होती हैं, किन्तु ध्यानयोगी उसका प्रयोग नही करते हैं।[३१] सनत्कुमार चक्रवर्ती[३२] के शरीर में सोलह-सोलह महारोग उत्पन्न हुए। खुजली, सूजन, बुखार, श्वास, अरुचि, पेट में दर्द, आँखों में भयकर वेदना आदि व्याधियाँ, सनत्कुमार चक्रवर्ती के शरीर में सात सौ वर्ष तक रही। मारणातिक वेदनाओं को समभाव से सहन करने के कारण उन्हें लब्धियाँ प्राप्त हो गईं। इन्द्र द्वारा की गई प्रशसा को सुनकर 'विजय' और 'वैजयन्त' देव वैद्य का रूप बनाकर सनत्कुमार चक्रवर्ती के पास आये और बोले कि हम दोनों वैद्य हैं। आप रोग से क्यों दु खी होते हो? तब चक्रवर्ती ने कहा कि

जीव को दो प्रकार के रोग होते हैं। द्रव्यरोग और भावरोग। क्रोधादि भाव रोग हैं, जो शरीरधारी आत्माओं में होते हैं। अनन्तानन्त जन्मों तक ये दु ख देने वाले होते हैं। यदि आपके पास भाव रोग को मिटाने की दवा हो तो दीजिए। द्रव्य रोग मिटाने की दवा तो मेरे पास भी है। मवाद से भरी अगुली पर कफ का लेप करते ही वह कचन सी चमकने लगी। भावरोग को मिटाने की दवा देव के पास नही है। वह है ध्यानयोगी साधक के पास ही। धर्मध्यान की प्रक्रिया से अनेक लब्धियाँ प्राप्त होती है। जिनका वर्णन आगे करेंगे।

पिण्डस्थ ध्यान की साधना करनेवाले योगी को दुष्ट विद्याएँ, उच्चाटन, मारण, स्तभन, विद्वेषण, मन्त्रमण्डल, शक्तियाँ आदि कुछ भी हानि नही कर सकती। शाकिनिया, क्षुद्र योगिनियाँ, पिशाच और मास भक्षी दुष्ट व्यक्ति उसके तेज को सहन नही कर सकते। वे स्वय तत्काल ही त्रस्त हो जाते हैं। हिंसक प्राणी जैसे कि दुष्ट हाथी, सिंह, शरभ, सर्प आदि जीव भी दूर से ही स्तंभित होकर खड़े हो जाते हैं। उसके शरीर को तनिक भी कष्ट नही दे सकते हैं।[३३]

मातृका ध्यान करने से क्षय रोग, भोजन में अरुचि, अग्नि-मंदता, कुष्टरोग, पेट के रोग, खासी, दम आदि पर साधक विजय प्राप्त कर सकता है और मृदुभाषी बनता है। तथा ज्ञानियों द्वारा पूजा, सत्कार, परलोक में उत्तम गति और श्रेष्ठपद को प्राप्त कर सकता है।[३४]

ध्यान से शरीर की काति, मुख की प्रसन्नता, स्वर में सौम्यता तथा ग्रैवेयक आदि वैमानिक देवों की शरीर सम्पदा प्राप्त करते हैं। वहाँ पर विघ्न बाधा-रहित अनुपम सुख का चिरकाल तक सेवन करते रहते हैं। अनुपम शरीर सम्पदा ध्यान बल से ही प्राप्त होती है। देवलोक से च्युत होनेपर भूतल पर भी उन्हें उत्तम शरीर प्राप्त होता है। ध्यानयोगी साधक गृहस्थवास में रहकर भी विविध प्रकार के भोगों को अनासक्तिपूर्वक भोगते हुए[३५] शाश्वत पद (निर्वाण पद) को प्राप्त करते हैं।

रक्ताभिसरण चिकित्सा के अनुसार शरीर के चार विभाग किये जाते हैं। १) मेरुदण्डविभाग, २) श्वसन विभाग, ३) अस्थि सस्थान विभाग और ४) पाचन विभाग। इन सब पर ध्यान प्रक्रिया का प्रभाव पड़ता है। आमाशय, अन्ननली, हृदय, फेफड़े, धमनियाँ, शिराएँ इन सबका सबध श्वसन तत्र से है। नाक, श्वासनली तथा फुप्फुस का सीधा सबध मस्तिष्क से है। आमाशय का मस्तिक में स्थित 'ओटोनोमिक केन्द्र' से सीधा सबध है। इस केन्द्र के दो विभाग हैं - सिम्पेथेटिक और पेरासिम्पेथेटिक। ये दोनों विभाग (भाग) उदर का सचालन करके पाचन रस उत्पन्न करते हैं। ध्यान प्रक्रिया भी मस्तिष्क को समतोल रखकर शरीर के सभी कार्यों का सचालन करके उन्हें प्रभावित

करती है। शरीर में कार्बनडाइऑक्साइड की मात्रा अधिक बढ़ जाने पर ध्यानप्रक्रिया ऑक्सीजन को बढ़ा देती है। ध्यान बल से ही शरीर में ओजस्विता, तेजस्विता आती है।

शरीर के लिए आहार की मात्रा : ध्यान साधना में शरीर स्वस्थता आवश्यक है। शरीर को स्वस्थ रखने के लिए शुद्ध आहार जरूरी है। अल्प आहार करनेवाला ही ध्यान कर सकता है। अनासक्त भाव से सब दोषों को टालकर रूखा-सूखा आहार करनेवाला योगी आत्मज्ञानी हो सकता है। आधाकर्मी आहार कर्मबधन का कारण है। इसीलिए महा-वीर ने उसे ग्रहण न करके शरीर को टिकाये रखने के लिए दीर्घ साधनाकालीन जीवन में थोड़े दिन ही शुद्ध आहार किया। आत्म बल को बढ़ाने के लिए तपाहार अधिक किया। ध्यान तप का अग है। उच्चकोटि का साधक ही ध्यान का सतत आहार कर सकता है। अन्य साधक के लिए भगवान महावीर ने निर्दोष आहार की प्ररूपणा की। हितकारी, मितकारी और अल्पाहारी साधक ध्यान आसानी से कर सकता है। ध्यान साधक के लिए छह कारणों से आहार करने को कहा है। १) क्षुधावेदनीय के उपशमनार्थ, २) वैयावृत्यर्थ, ३) ईर्याशोधनार्थ, ४) सयमपालनार्थ, ५) प्राणसधारणार्थ और ६) धर्मचिन्तार्थ।[३६] जैनेतर ग्रन्थों में पथ्याहार और मिताहार का वर्णन है।[३७] जितेन्द्रिय और स्वादविजेता साधक का शरीर स्वस्थ रहता है। स्वस्थ शरीरवाला ही शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्ति को प्राप्त कर सकता है।

शुद्ध आहार के प्रभाव से कण्ठमणि ''थायरॉक्सिन' रस का उत्पादन करती है, जिससे सारा शरीर प्रभावित होता है। यह रस शरीर वृद्धि में लाभदायक है। यह अमृत का काम करता है। एड्रिनल ग्रन्थि से 'एड्रिनलिन' रस निकलता है जिससे शरीर में स्फूर्ति बढ़ती है। थायरॉक्सिन और एड्रिनलिन रस की भाति ही ध्यान भी शारीरिक स्फूर्ति में अमृत का काम करता है।

ध्यान से मानसिक और आध्यात्मिक लाभ : ध्यान कराया नही जाता वह अनुभूति का विषय है। महावीर ने अपने सम्पूर्ण साधना विधि (प्रक्रिया) का परिचय ध्यान शब्द से न देकर 'समता' (सामायिक) शब्द से दिया है। ध्यान का आधार समभाव है और समभाव का आधार ध्यान है। प्रशस्त ध्यान से केवल साम्य ही स्थिर नही होता, किन्तु कर्मसमूह से मलिन बना जीव भी शुद्ध होता है।[३९] इसलिए ध्यान किया नही जाता वह फलित होता है तथा हमारे शारीरिक, मानसिक सन्तुलन दशा का परिणाम ही ध्यानावस्था है। इसके लिए चित्तशुद्धि परमावश्यक है। जो चित्तशुद्धि के बिना ही ध्यानावस्था लाना चाहते हैं, वे ध्यान की विडम्बना करते हैं। आसन जमाकर सीधे बैठना, रीढ़ की हड्डी को सीधे रखना, एकाग्रता की दशा में यह सब प्रयत्न आवश्यक (जरूरी) हैं। किन्तु इन अभ्यास के साथ चित्तशुद्धि, व्यवहारशुद्धि, विचारशुद्धि, आचारशुद्धि, व्यापार (योग)

शुद्धि, दैनिकचर्याशुद्धि और आहारशुद्धि मानसिक आध्यात्मिक लाभ के लिए परमावश्यक हैं। ध्यान प्रक्रिया तब ही विकसित होगी जब इन प्रक्रिया की सिद्धि होगी। जानना, देखना और प्रवृत्ति करना - इन तीन शब्दों को जैन पारिभाषिक शब्दावली में सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र कहा है। मानसिक और आध्यात्मिक साधना का स्वर यही रहा है कि मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को जानो, देखो और अनुभव करो। मानसिक तनावों के विसर्जन के लिए भावना अनुप्रेक्षा का आलबन लिया जाता है। मन की मलिनता जैसे-जैसे दूर होती जाती है वैसे-वैसे ध्यान का क्रमिक विकास होता जाता है। मानसिक मनोविकारों का मूलहेतु मन की मलिनता ही है।

पहले बताया गया है कि 'थायरॉक्सिन रस और एड्रिनलिन रस' शरीर वृद्धि एवं स्फूर्ति में लाभदायक है वेसे ही मानसिक और आध्यात्मिक विकासक्रम में ज्ञान और क्रिया मोक्षदायक है। इन दोनों क्रिया के बिना ध्यान साधा नहीं जाता। ध्यान प्रक्रिया से कषायों का शमन होता है। कषायों का सर्वथा शमन (क्षय) ही मोक्ष है[४०]।

ज्ञानियों का कथन है कि कर्मों का शमन मन की स्थिरता पर आधारित है। जितनी मन की स्थिरता बढती है, उतनी ही ध्यानावस्था दृढ होती है। ध्यान अन्तर्निरीक्षण की प्रक्रिया है। कषायों की ग्रन्थि को तोड़ने की विशिष्ट प्रक्रिया है। उसके लिए मानसिक शक्ति आवश्यक है। शारीरिक शक्ति की प्रबलता ही मानसिक और आध्यात्मिक शक्ति को प्राप्त कराती है। वज्रऋषभनाराच संहननवाला ही उत्कृष्ट कोटि का शुक्लध्यान कर सकता है। यह योग्यता जीवात्मा में ग्रन्थिभेद के बाद ही होती है, चाहे फिर वह चोर हो, डाकू हो, राजकुमार हो, पल्लीपति हो या अन्य कोई भी नीच आत्मा हो, उन सबको मोक्ष का पासपोर्ट मिल ही जाता है।

जैनागमों के बत्तीस आगम को चार अनुयोगों में विभाजित किया गया है। इन चारों ही अनुयोगों के माध्यम से एवं ध्यान बल से साधक मानसिक और आध्यात्मिक लाभ प्राप्त करता है। कौशाम्बीनगरी के राजा प्रभूत धन सचय के पुत्र के देह में दाहजन्यवेदनाएं उत्पन्न हुईं। पूरे शरीर में वेदनायें थी। वेदना को शात करने के लिए मंत्र तंत्रवादियों को बुलाया गया, किन्तु कोई इलाज नही हुआ। वैद्याचार्य आये। दाह शात करने का प्रयत्न किया पर सब व्यर्थ। जब राजकुमार ने सोचा कि माता-पिता, परिवार, मत्र, तंत्र, वैद्य कोई भी इस दाह रोग को शान्त करने में समर्थ नही बने, तब मानसिक चिन्तन बढ़ गया। दाहजन्य रोग को दूर करने के लिए रामबाण औषधि मिल गई - संयमवृत्ति अंगीकार करना। राजपुत्र अनगार बनकर अनाथीमुनि के नाम से प्रसिद्ध हो गये। ध्यान का बल इतना तीव्र बढ़ा कि दाहजन्य रोग तो मिटा ही, साथ ही साथ कर्मजन्य रोग को भी मिटा दिया[४१]। ध्यान का फल आत्मा को आत्मा से जीतना है। नमिराजर्षि ने आत्मा से आत्मा

के साथ युद्ध किया था। कर्मवैरी से अपने आपको सुरक्षित रखने के लिए श्रद्धानगर, तपसवर-अर्गल, क्षमा-प्राकार (कोट), मनोगुप्ति-खाई, वचनगुप्ति-अट्टालक, कायगुप्ति-शतघ्नी इन सबको सर्वप्रथम तैयार करके पराक्रम-धनुष में ईर्यासमिति-जीवा-प्रत्यचा को स्थापित करके धृति-केतन (धनुष का मध्य) द्वारा सत्य से धनुष को बाधकर तप बाण से कर्मों को भेदन कर ससार से सर्वथा मुक्त हो जाते हैं। दुर्जय सग्राम में दस लाख सुभट को जीतने की अपेक्षा एक आत्मा को जीतनेवाला बलशाली योद्धा है। उसकी विजय सर्वोत्कृष्ट विजय है।[४२] आगम का कथन है कि "तू आत्मा से ही युद्ध कर। तेरे लिए बाहर के युद्ध क्या काम के? आत्मा को आत्मा से जीतना ही सच्चा सुख है। एक मन को जीतनेवाला पाँच (इन्द्रियाँ) को जीत सकता है। पाँच को जीतनेवाला दस (पाँच इन्द्रियाँ, मन,चार कषाय) को आसानी से जीत सकता है"।[४३] मन का निग्रह करना ही अत्यत कठिन है। मन का निग्रह ही आत्म विजय है। "जिसने एक को जीता, उसने सबको जीता और जिसने सबको जीता उसने एक को भी जीत लिया"।[४४] विषय विकार और कषाय को जीतना दुर्जय न बताकर एक मात्र मन (आत्मा) को जीतना ही दुर्जय कहा है। ध्यान प्रक्रिया में मन को जीतना ही मुख्य है। भरतचक्रवर्तीने मन को जीत लिया था जिसके कारण अरिसा भवन में देह का निरीक्षण करते-करते आत्मा का निरीक्षण करने लग गये। परिणामस्वरूप मानसिक विचारधारा तीव्र बढ़ गई। आध्यात्मिक श्रेणी क्षपक श्रेणी पर चढ़कर उसी भवन में केवलज्ञान की प्राप्ती कर ली।[४५] मरुदेवी माता ने ध्यान बल से हाथी के हौदे पर ही पूर्वसचित कर्मइन्धन को जलाकर भस्म कर दिया और केवलज्ञान पा लिया।[४६] दृढ़ प्रहारी, हिंसक, चोर का हृदय, गर्भवती स्त्री के गर्भस्थ बालक के अवयवों को छिन्न-भिन्न कर देने पर उन्हें तड़फते हुए देखकर, काप उठा। करुण क्रन्दन से दृढप्रहारी का हृदय परिवर्तन हो गया। मानसिक चिन्तनधारा बदल गई, पश्चाताप के नीर से स्व को निर्मल बनाने लगे और दुष्कृत कर्मों की गर्हा करने लगे। जिसके फलस्वरूप समस्त कर्मराशि को ध्यानाग्नि से जलाकर केवलज्ञान की प्राप्ति करके मोक्ष प्राप्त कर लिया।[४७] यह सब ध्यान का ही फल है। चिलातीपुत्र[४८] धन्नासार्थवाह की कन्या सुषुमा के सिर को लेकर आगे बढ़ा। वृक्ष के नीचे ध्यानावस्था में मुनि को देखा। मुनि ने उसकी योग्यता जानकर बोध में तीन पद दिये-"उपशम, विवेक और सवर"। इन त्रिपदी से चिलाती चोर से मुनि बन गया। मानसिक चिन्तन बढ़ गया कि "आज से मैं कषाय उपशम के लिए क्षमादि गुणों में वृद्धि करूगा, समता की आराधना करूगा, धन धान्य सुषुमा के सिर आदि का त्याग करके ज्ञान-विवेक का दीपक प्रज्वलित करूगा, विषय विकारों से इन्द्रिय और मन को निवृत्त करके संवर की साधना करूगा"। यह उनकी दृढ़ प्रतिज्ञा थी। देह भान भूलकर चिलाती अनगार आत्मा के साथ युद्ध करने लग गये। चिन्तन की गहराई बढ़

गई। मन आत्म-चिन्तन में एकाग्र बन गया। समाधिभाव और निश्चलता प्राप्त हो जाने के कारण चिलातीमुनि के शरीर पर चीटियों ने सैंकड़ों केन्द्र कर डाले फिर भी उन्हें भान नहीं रहा। चीटियों का असह्य उपसर्ग शरीरपर आने पर भी वे सुमेरू की भांति ध्यान में स्थिर रहे। ढाई दिन तक इस घोर उपसर्ग को समभाव से सहन किया तो देवपद पा गये।

ध्यान से शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक लाभ की प्राप्ति चिलातीमुनि को हुई। ध्यान का माहात्म्य अपरम्पार है। उसके बल से अनेकों को नही, करोंडों का कल्याण हुआ है।

ध्यान का मानसिक और आध्यात्मिक फल संवर और निर्जरा है। जीव में संवर निर्जरा की अवस्था भावों को निर्मल (शुद्ध) बनाने से प्राप्त होती है। भावों की निर्मलता रगों के ध्यान से प्राप्त होती है।

रंगों का ध्यान : आगमग्रन्थ में पाँच रंग का वर्णन है।[४९] कृष्ण, नील, लोहित, हारिद्र और श्वेत इन पाँच रगों का समायोजन पंच परमेष्टि पद के साथ किया गया है। ''णमो अरहंताण'' के साथ श्वेत वर्ण का ''णमो सिद्धाण'' के साथ लोहित (लाल) वर्ण का, ''णमो आयरियाण'' के साथ हारिद्र (पीले) वर्ण का, ''णमो उवज्झायार्णं'' के साथ नीले वर्ण का और ''णमो लोए सव्व साहूण'' के साथ कृष्ण (काला) वर्ण का समावेश किया गया है।[५०] प्रत्येक वर्ण (रग) के दो-दो भेद हैं। प्रशस्त और अप्रशस्त। पच परमेष्टि पदों के साथ जिन वर्णों की कल्पना की गई है, वहाँ प्रशस्त वर्ण से संबध है। ध्यान साधना में प्रशस्त वर्ण को ही लिया गया है। मुख्यत· ध्यान प्रक्रिया में तीन रग को लिया गया है। लाल, पीला और श्वेत। तीन प्रशस्त लेश्या के रग भी ये ही हैं। यथा तेजो लेश्य का रग लाल है, पद्यम लेश्या का रंग पीला है और शुक्ल लेश्या का रग श्वेत है। लेश्या का अर्थ वृत्ति में आणविक आभा, काति, प्रभा और छाया किया गया है।[५१]

भारतीय परपरा के त्रिधारा के सन्यासियों के वस्त्रों का रंग भी साधनानुसार ही रखा गया है। वैदिक (हिन्दू) परम्परा के सन्यासियों को गैरिक (लाल) वस्त्र धारण करने का विधान है। बौद्ध भिक्षुओं के लिए पीले वस्त्र का विधान है और जैन मुनियों के लिए श्वेत वर्ण का विधान है। पीला रंग ध्यान की अवस्था का प्रतीक है और श्वेत रंग समाधि का प्रतीक है। श्वेत वर्ण विचारों की पवित्रता का भी प्रतीक है। रगो के साथ मनुष्य के मन का और उसके शरीर का घनिष्ट सबध है। मानव शरीर इन्द्रिया, मन के पुद्गलों से निर्मित है। शरीर में स्थित आत्मा मन को आदेश देता है और उन आदेशों को मस्तिष्क में पहुँचाता है। मस्तिष्क ज्ञानेन्द्रियों द्वारा सारे शरीर में सन्देश पहुँचा देता है। पुद्गल वर्ण, गंध, रस और स्पर्श से निर्मित है। इससे सिद्ध है कि मन के अध्यवसाय (लेश्या) के अनुसार ध्यानावस्था स्थिर होती है।

वर्ण के साथ हमारे शरीर का गहरा सबध रहा है। शारीरिक स्वास्थ्य, अस्वास्थ्य, मन की स्थिरता, अस्थिरता, आवेगों की कमी या वृद्धि इन रहस्यों पर निर्भर है कि हम किस प्रकार के रगों का चुनाव करते हैं? नीले रग की कमी के कारण गुस्सा अधिक बढ़ता है। उसकी पूर्ति होते ही क्रोध शान्त हो जाता है। पीले रग की कमी से ज्ञानतन्तु निष्क्रिय बन जाते हैं। इसलिए तो "णमो आयरियाण" पद का ध्यान मस्तिष्क में पीले रग में करने के लिए कहा है। यह अनुभव सिद्ध बात है कि शरीर में क्रोध की मात्रा बढ़ जाती है, तो उसकी आकृति बदल जाती है। स्थिर मन से पीले रग का मस्तिष्क में ध्यान करते ही ज्ञानतन्तु शान्त हो जाते हैं और मन स्वस्थ बन जाता है। श्वेत वर्ण की कमी से शरीर में अस्वस्थता बढ़ जाती है और लाल वर्ण की कमी के कारण आलस्य और जड़ता बढ़ती है। काले वर्ण की कमी होने पर प्रतिरोधक शक्ति कम हो जाती है। शरीर से सबधित इन सारी कमियों को पच परमेष्टि पद के रगानुसार ध्यान करने से दूर किया जा सकता है। इसलिए भगवान महावीर ने महामत्र नमस्कार मत्र के साथ पाचों ही रग को जोड़ दिया है।

"णमो अरहताण" का ध्यान श्वेत वर्ण के साथ करें, क्योंकि मस्तिष्क में धूसर (ग्रे कलर) रग का एक द्रव पदार्थ है। जो समूचे ज्ञान का संवाहक है। पृष्ठरज्जु में भी वह पदार्थ है। मस्तिष्क में "अर्हत्' का श्वेत वर्ण से ध्यान करने पर ज्ञानशक्ति जागृत होती है और स्वास्थ्य लाभ होता है।

"णमो सिद्धाण" पद का ध्यान लाल रग से भृकुटी में करने से आन्तरिक शक्ति जागृत होती है। पिच्युटरी ग्लैण्ड और उसके स्रावों को नियत्रित करने के लिए लाल वर्ण अधिक महत्वपूर्ण है।

"णमो आयरियाण" पद का पीले वर्ण से हृदय में ध्यान करने पर मन की सक्रियता बढ़ती है। मन स्थिर होता है। मन की स्थिरता ही ध्यान की अवस्था है।

"णमो उवज्झायाण" पद का ध्यान 'नाभि' में नीले वर्ण से करें। नीला रग शान्तिप्रदाता है। इस रग का 'नाभि' में ध्यान करने से समाधि प्राप्त होती है। समाधिभाव के कारण कषायों का शमन होता है। अत यह रंग आत्म साक्षात्कार कराने में सहायक है।

"णमो लोए सव्वसाहूणं" पद का ध्यान काले रंग से 'चरणों' में करें। काला रंग अवशोषक होता है। 'साहू' पद का काले रग में ध्यान करने से कषायों का शमन और इन्द्रियों का दमन होता है। ध्यान प्रक्रिया में इन दोनों का शमन, दमन करना ही मुख्य है। साधु ससार तारक होते हैं। उनके चरणों की शरण लेने से भव सागर आसानी से पार किया जा सकता है। इसलिए आगम कथित पाचों रगों के साथ पच्च परमेष्टि पदों का ध्यान करने से मानसिक शक्ति बढ़ जाती है।[५२]

वैज्ञानिकों ने भी परीक्षण करके सिद्ध किया है कि रंगों का प्रकृति, शरीर और मन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। लाल, नारगी, गुलाबी एवं बादामी रगों से मानव प्रकृति में उष्मा बढती है। पीले रंग से भी उष्मा बढ़ती है। किन्तु उनकी अपेक्षा कम। नीले और आसमानी रंग से मानव प्रकृति में शीतलता का सचार होता है। हरे रग से शीतोष्ण सम रहता है और श्वेत रंग से प्रकृति सदा सम रहती है। प्राकृतिक दृश्यों में भी ये रंग दृष्टिगोचर होते हैं।[५३] रगों की आभा से मन प्रसन्न हो जाता है। जैनागम के कथनानुसार रगों का (वर्णों का) सबध लेश्या के साथ लिया गया है। शुभ लेश्या में ध्यान करने से स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है। अत. रंगों का प्रभाव शरीर, मन और आत्मा पर गहरा पड़ता है।

यह स्मरण रहे कि शुद्धि-अशुद्धि का आधार एकमात्र निमित्त ही नही, बल्कि निमित्त और उपादान दोनों ही हैं। अशुद्धि का उपादान कषाय की तीव्रता है और उसके निमित्त कृष्ण, नील और कापोत लेश्या के अशुभ पुद्‌गल हैं। शुद्धि का उपादान कषाय की मन्दता है और उसके निमित्त रक्त, पीत, श्वेत वर्ण के लेश्या के पुद्‌गल हैं। जैसे-जैसे कषाय की मन्दता होती है वैसे-वैसे भावों की शुद्धि होती जाती है और सवर निर्जरा में वृद्धि होती जाती है।

आज के विज्ञान ने शरीर और मन की चिकित्सा के लिये अनेक पद्धतिया प्रचलित की हैं, जैसे कि नैचरोपैथी, होम्योपैथी, एलोपैथी, हाइड्रोपैथी, इलेक्ट्रोपैथी, एवं मेन्टल हीलिंग, डिवाइन हीलिंग, फीलिंग चिकित्सा, सेल्फ हिप्नोसिस, आटो सजेशन, मंत्र-तत्र चिकित्सा, फास्टिंग थेरेपी आदि अनेक चिकित्सा पद्धतियां हैं जो सिर्फ शरीर और मन की बीमारियों को चिकित्सा द्वारा दूर करते हैं। ये सारी चिकित्सा पद्धतिया आत्मा के रोग को दूर नही कर सकती हैं। उसके लिये तीर्थंकरों ने आध्यात्मिक चिकित्सा पद्धति प्रचलित की है- जिसका नाम है 'ध्यानयोग'। यह पद्धति शरीर, मन और आत्मा इन तीनों को रोगों से दूर करती है। तन की स्वस्थता, मन की स्थिरता और आत्मा की निर्मलता ध्यानयोग चिकित्सापद्धति से प्राप्त होती है।

ध्यान और लब्धियाँ

आगम ग्रन्थों में आत्मशोधन की प्रक्रिया के लिये दो ही साधन बताये हैं - ज्ञान और ध्यान, उपशमन और क्षपन। जैसे-जैसे ज्ञानावरण के आवरण एवं कषाय उपशम होती है वैसे-वैसे ध्यान में स्थिरता आती है। उपशमश्रेणी और श्रपक श्रेणी ध्यान के लिये मुख्य बताई गयी हैं। ये दोनों ही श्रेणियां आठवें गुणस्थान से प्रारंभ होकर आगे के गुणस्थानों में विकास पाती हैं। उपशम श्रेणी ग्यारहवें गुणस्थान तक ही रहती है। परन्तु क्षपक श्रेणी आगे बढ़कर साधक को यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति कराके मोक्षप्रदान कराके

ही रहती हैं। आत्मनियत्रण और आत्मशोधन पद्धति से ध्यान योगावस्था विकसित होती है। सिद्धि की प्राप्ति होती है।

सिद्धि क्या है? :- ससार में दो प्रकार की शक्तिया मानी जाती हैं- १) भौतिक और २) आध्यात्मिक। यत्र तत्रादि प्रयोग, तात्रिक प्रयोग एव पद्मावती, भैरवी, भवानी, काली आदि देवियों की उपासना से प्राप्त भौतिक शक्ति सिद्धि नही कहला सकती। वास्तव में भौतिक शक्ति 'जादू' है। आध्यात्मिक शक्ति ही सिद्धि कहलाती है, इसे ही लब्धि भी कहते हैं, जो धर्मध्यान और शुक्लध्यान के महा प्रभाव से ज्ञानजन्य, चारित्रजन्य, तपजन्य लब्धियाँ प्राप्त होती हैं। ध्यानयोग को चौदह पूर्व का सार कहा गया है। क्योंकि ज्ञानावरण कर्म के क्षय, क्षयोपशम से ज्ञानसवधी लब्धियाँ प्राप्त होती हैं, पाच महाव्रत, पाच समिति, तीन गुप्ति आदि संवरयोग की आराधना से चारित्र सवधी लब्धियाँ प्राप्त होती हैं और पूर्वसचित कर्मों का क्षय और नये कर्मों का अभाव तपाराधना से होता है, इसे आगम भाषा में निर्जरा कहते हैं। तप से निर्जरा होती है।[५४] इसलिये तपोयोग से (सवरनिर्जरा) सवधी कुछ लब्धियाँ उत्पन्न होती हैं।

आज के वैज्ञानिक युग में विज्ञान ने आश्चर्यकारी अनुसन्धान वहुत किये है, किन्तु वे सब भौतिक जगत में ही हुये हैं। वस्तुपदार्थ और अणु विश्लेषण में विज्ञान ने आश्चर्यजन्य खूब प्रगति की है परन्तु आध्यात्मिक शक्तियों के वारे में वह आज भी गतिहीन है। आत्मा की अनन्तानन्त शक्ति का मापदण्ड विज्ञान नही कर सकता है। वैज्ञानिक योगियों के मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों के चमत्कार को देखकर दातों तले अगुली डाल देता है। विज्ञान की भाषा में जिसे 'विल पावर' कहा जाता है, वह एक प्रकार की मानसिक शक्ति ही है। मेस्मेरिज्म के प्रयोग से हजारों मनुष्यों को सम्मोहित किया जा रहा है, असाध्य रोगों का इलाज किया जा रहा है। क्या यह भौतिक शक्ति है? नही, यह तो मानसिक शक्ति का एक छोटा-सा रूप है।

आज का संसार 'अणु' शक्ति से चकित है, किन्तु जब आत्मशक्ति का अनुभव हो जायेगा तो वह अलौकिक आनंद को प्राप्त कर जायेगा। आत्मा अनन्तानन्त शक्तियों से सम्पन्न है। इस आत्मशक्ति का विकास ध्यान से होता है और ध्यान 'लब्धि' या 'सिद्धि' को प्रदान करता है।

लब्धि क्या है? :- जिससे आत्मा के ज्ञान-दर्शन-चारित्र, वीर्य आदि गुणों से कर्मावरणों का क्षय होने पर तत् तत् संबधित कर्मों के क्षय व क्षयोपशम से स्वत आत्मा में जो शक्ति प्रगट होती है उसे लब्धि कहते हैं। यहा लब्धि का अर्थ लाभ है।[५५] जैन धर्म में लब्धि शब्द का प्रयोग प्राय इसी अर्थ में सर्वत्र किया गया है। लब्धि की प्राप्ति परिणामों की विशुद्धता, चारित्र की निर्मलता (अतिशयता) और उत्कृष्ट शुद्ध तपाचरण से प्राप्त

होती हैं।[५६] इसी कारण लब्धियाँ शुद्ध आत्म शक्ति हैं। इसमें देव शक्ति या मत्र शक्ति का सहारा नही लिया जाता। बौद्ध और वैदिक दर्शन में इसे क्रमश 'अभिज्ञा' और 'विभूति' कहते हैं।

लब्धियों के भेद :- जितनी आत्मा की शक्तियाँ हैं उतनी ही लब्धियाँ हो सकती हैं। किन्तु आगमों में एव अन्य ग्रन्थों में दस, अठ्ठाइस या अन्य भी कुछ लब्धियों का दिग्दर्शन किया गया है, जैसे कि[५७] नाणलब्धि, दसण लब्धि, चरित्त लब्धि, चरित्ताचरित्त लब्धि, दान लब्धि, भोग लब्धि, लाभलब्धि, उपयोग लब्धि, वीरिय लब्धि, इदिय लब्धि, आमोसहि, विप्पोसहि, खेलोसहि, जल्लोसहि, सव्वोसहि, सभिन्ने, अवधि, ऋजु मई, विपुल मई लब्धि, चारण लब्धि, आसीविष लब्धि, केवली लब्धि, गणधर लब्धि, अर्हल्लब्धि, चक्रवर्ती लब्धि, बलदेव लब्धि, पूर्वधर लब्धि, वासुदेव लब्धि, क्षीरमधुसर्पिरास्रवलब्धि, कोष्टकबुद्धि लब्धि, शीतललेश्या लब्धि, पदानुसारिणी लब्धि, बीजबुद्धि लब्धि, तेजोलेश्या लब्धि, आहारक लब्धि, वैक्रिय देह लब्धि, अक्षीणमहानस लब्धि और पुलाक लब्धि। इनमें नाणादि लब्धियों के अनेक भेद किये गये हैं।

शुद्ध ध्यान के प्रभाव से ध्याता की आत्मा निर्मल हो जाती है, जिसके फलस्वरूप उसमें आठ ऋद्धियाँ (आत्मशक्तियाँ) प्रकट हो जाती हैं[५८]-

१) ज्ञानऋद्धि :- इसके अठारह भेद हैं - केवल ज्ञान, मन पर्यवज्ञान, अवधिज्ञान, चतुर्दशपूर्वज्ञान, दशपूर्वज्ञान, अष्टांगनिमित्त ज्ञान, बीज बुद्धि, कोष्ठ बुद्धि, पदानुसारिणी, सभिन्न श्रोता, पांचों इन्द्रियों की तीव्र शक्ति = दुरास्वाद, प्रत्येक बुद्धता और वाद शक्ति।

२) क्रियाऋद्धि :- इसके नौ भेद हैं - जलचर, अग्निचारण, पुष्पचरण, पत्र चरण, बीज चरण, तंतु चरण, श्रेणी चरण, जंघाचरण और विद्या चरण।

३) वैक्रियऋद्धि :- इसके ग्यारह भेद हैं- अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति (मेरू की चोटी का स्पर्श करें), प्राकाम्य, ईशत्व, वशित्व, अप्रतिघात, अन्तर्धान और कामरूप।

४) तपऋद्धि :- इसके सात भेद हैं- उग्रतप (उग्रोग्रतप), अवस्थितोग्रतप, दीप्त तप, तप्ततप, महातपऋद्धि, घोर तप, घोरपराक्रम, घोरगुण ब्रह्मचारी।

५) बलऋद्धि :- इसके तीन भेद हैं- मनोबली, वचनबली और कायबली।

६) औषधऋद्धि :- इसके आठ भेद हैं- आमर्शौषध, खेलौषध, जल्लौषध, कान, नाक, आख आदि शरीर के मैल से स्पर्श, विषुडौषध, सर्वौषध, आशीविषौषध, दृष्टिविषौषध।

७) रसऋद्धि :- इसके छह भेद हैं- आशीविष, दृष्टि विष, क्षीरास्रवी, मधु आस्रवी, सर्पिरास्रवी, अमृतास्रवी।

८) क्षेत्रऋद्धि :- इसके दो भेद हैं- अक्षीणमहानस और अक्षीणमहालय।

ज्ञानजन्य लब्धियो का स्वरूप

कोष्ठकबुद्धि लब्धि :- जिस प्रकार कोठे में डाला हुआ धान्य वहुत काल तक ज्यों का त्यों सुरक्षित रहता है, इसी प्रकार जिसे कोष्ठक वुद्धि लब्धि प्राप्त होती है वह आचार्यादि के मुख से सुना हुआ सूत्र, अर्थ, तथा अन्य जो भी कुछ तत्त्व सुनता है उसे ज्यों का त्यों अविकलरूप से धारण करने में समर्थ होता है। इस लब्धि के प्रभाव से वुद्धि स्थिर धारणा वाली बन जाती है।

बीजवुद्धि लब्धि :- जैसे बीज विकसित होकर विशाल वृक्ष का रूप धारण करता है, उसी प्रकार वीज वुद्धि लब्धि के प्रभाव से एक सूत्र, अर्थ का ज्ञान कर लिया जाता है। यह लब्धि गणधरों में विशिष्ट रूप से होती है। वे तीर्थंकर के मुख से त्रिपदी (उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवे इ वा) का श्रवण करके सम्पूर्ण द्वादशागी का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं और बारह अगों की रचना भी।

पदानुसारिणी लब्धि :- सूत्र के एक पद को सुनकर आगे के बहुत से पदों का ज्ञान बिना सुने ही अपनी बुद्धि से कर लिया जाता है। एक पद से अनेक पदों का ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता इस लब्धिधारी में होती है।

संभिन्नसोदारण (सभिन्न श्रोता) :- इस लब्धि के प्रभाव से साधक शरीर के किसी भी (कान, जीभ, आख, नाक आदि) भाग से शब्दों को सुन सकता है अथवा किसी भी एक इन्द्रिय से पांचों इन्द्रियों का काम कर सकता है। इस लब्धि के प्रभाव से सभिन्न श्रोता लब्धि के धारक योगी की श्रोत्रेन्द्रिय शक्ति बहुत ही प्रचड हो जाती है। सूक्ष्म और दूरस्थ विषय को ग्रहण करने की शक्ति सभिन्न श्रोतोलब्धि कहलाती है।

अवधि लब्धि :- इस लब्धि के बल से साधक को अवधिज्ञान की प्राप्ति होती है।

ऋजुमति-विपुलमति लब्धि :- मन पर्यव ज्ञान के ये दो भेद हैं- ऋजुमति और विपुलमति। ऋजुमति मन पर्यव ज्ञान का धारक अढ़ाई द्वीप में कुछ कम (अढ़ाई अगुल कम) क्षेत्र में रहे हुए संज्ञी (समनस्क) प्राणियों के मनो भावों को जानता है और सम्पूर्ण अढ़ाई द्वीप में रहे हुए सज्ञी प्राणियों के मनोभावों को स्पष्ट रूप से, सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचारों को जान लेना विपुलमति मन-पर्यव ज्ञान है। यह मनोज्ञान ऋजुमति लब्धि तथा विपुलमति लब्धि से प्राप्त होता है।

पूर्वधर लब्धि :- 'पूर्व' शब्द का अर्थ 'पहले' है। जैन परपरा में पूर्व का अर्थ किया गया है - भगवान ने जो सबसे पहले गणधरों के सामने प्रवचन दिये - जिनमें समस्त वाङ्मय का ज्ञान छिपा था - वे 'पूर्व' कहलाये। बारह अंग में दृष्टिवाद की रचना 'पूर्व' कहलाया। पूर्व चौदह हैं। जिस मुनि को नौ, दस से लेकर चौदह पूर्व तक का ज्ञान होता है वह पूर्वधर कहलाता है। जिस शक्ति के प्रभाव से उक्त पूर्वो का ज्ञान प्राप्त होता हो, वह पूर्वधरलब्धि कहलाती है। वर्तमान परम्परा में चौदह पूर्व के अतिम ज्ञाता श्रीभद्रबाहु स्वामी हुए।

अष्टांगनिमित्तज्ञान लब्धि :- अग, स्वर, व्यंजन, लक्षण, छिन्न, भौम, स्वप्न और अन्तरिक्ष ये आठ महानिमित्तों के अग हैं। इन सभी में पारंगत होना अष्टांगनिमित्त-लब्धि है।

इस प्रकार ये सभी ज्ञानजन्य लब्धियाँ हैं।[५१]

चारित्र एवं तपोजन्य लब्धियों का स्वरूप

वैक्रियदेह लब्धि :- जैन धर्म में विक्रिया का अर्थ विविध क्रिया, अनेक प्रकार के रूप, आकार आदि रचना है। वैक्रिय देह लब्धि से शरीर के छोटे-बड़े, विचित्र-सुन्दर, हल्का, भारी, वज्र जैसा आदि अनेक रूप बनाये जाते हैं। उनके लिये अणिमा, महिमा, लघिमा (हवा सा हल्का), गरिमा (वज्र सा भारी), प्राप्ति (मेरू स्पर्श), प्राकाम्य (जल पर चलना), ईशित्व, वशित्व, अप्रतिघात, अन्तर्धान और कामरूप आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। ये सारी वैक्रियदेहलब्धियाँ हैं।

विद्याधर लब्धि :- जातिविद्या, कुलविद्या और तपविद्या ये तीन प्रकार की विद्याएँ हैं। इनमें जाति और कुल विद्या विद्याधरों में होती हैं और तपविद्या साधुओं में होती है।

चारण लब्धि :- जल, जंघा, तन्तु, फल, पुष्प, बीज, आकाश और श्रेणी इन आठ का आलम्बन लेकर चारणगण सुखपूर्वक विहार करते हैं। चारणों के दो सौ पचपन भेद माने जाते हैं, जिनका समावेश इन आठ में ही हो जाता है। जिस लब्धि के कारण आकाश में जाने आने की विशिष्ट शक्ति प्राप्त होती है, उसे चारण लब्धि कहा जाता है। चारण शब्द एक प्रकार का रूढ़ शब्द है, जिसका आकाशगामिनी शक्ति के रूप में जैन ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर प्रयोग हुआ है। भगवती सूत्र में चारणलब्धि के दो भेद बताये हैं- जंघाचारण और विद्याचारण। जंघाचारण लब्धि का धारक पद्मासन लगाकर जंघा पर हाथ लगाता है और तीव्रगति से आकाश में उड़ जाता है। टीकाकार अभयदेव सूरि के कथनानुसार जंघाचारणवाला मुनि आकाश में उड़ान भरने के पहले मकड़ी के जाल जैसा ततु, बटी हुई बाती अथवा सूर्य की किरणों का अवलंबन लेकर बाद में आकाश में उड़ता

है। जघाचारण लब्धि चारित्र और तप के विशेष प्रभाव से प्राप्त होती है। भगवती में इसकी साधना विधि का वर्णन करते हुए बताया गया है, निरतर बेले-बेले तप करने वाले को विद्याचारण एवं निरतर तेले-तेले का उग्र तप करने वाले योगी को जघाचारण लब्धि प्राप्त होती है। जघाचारण लब्धि वाला एक ही उड़ान में (उत्पात में) तेरहवें रुचकवर द्वीप तक जा सकता है। यह द्वीप भरतक्षेत्र से असख्यात योजन दूर है। इस लब्धि धारक की पहली उड़ान शक्तिशाली होती है। किन्तु उड़ान करने में प्रमाद और कुतुहल होने के कारण लब्धि की शक्ति क्रमश हीन व क्षीण होने लग जाती है, इस कारण एक उड़ान में रुचकवर द्वीप जाने वाला जब वहा से लौटता है तो वह बीच में थक जाता है, जिसके कारण बीच में नदीश्वर द्वीप में उसे एक विश्राम लेना पड़ता है और वह दूसरी उड़ान में अपने स्थान पर लौट कर आ सकता है।

जघाचारण वाला यदि ऊपर ऊर्ध्व लोक में उड़ान भरता है तो वह सीधा सुमेरू पर्वत के शिखर पर पाण्डुकवन में पहुच जाता है। यह सब वनों में सुदर और सबसे अधिक ऊंचाई पर है। जब योगी वहा से वापिस लौटता है तो जाने की अपेक्षा आने में उसे अधिक शक्ति और समय लगता है। शक्ति की क्षीणता के कारण उसे नदनवन में एक विश्राम लेना पड़ता है, और दूसरी उड़ान भरके अपने स्थान पर पहुच जाता है।

विद्याचारण लब्धि तप के साथ विद्या के विशेष अभ्यास द्वारा प्राप्त होती है। जघाचारण से इसका तपक्रम सरल है, उसमें तेले-तेले की तपस्या की जाती है और इसमें बेले-बेले की। उसमें चारित्र की अतिशयता रहती है और इसमें ज्ञान की। विद्याधरों के आकाशगामिनी शक्ति में और विद्याचारणलब्धि में अंतर है। विद्याधरों को भी अभ्यास करना ही पड़ता है। परन्तु वह जन्मगत एव जातिगत संस्काररूप में भी प्राप्त होती है। कुछ योगी मत्र शक्ति से आकाश में उड़ान भर सकता है। किन्तु विद्याचारण लब्धि वाला मंत्र-तत्र व जन्मगत कारण से नही किन्तु तप के साथ विद्याभ्यास के कारण ही आकशगमन कर सकता है।

विद्याचारण वाला तिरछे लोक में आठवें नन्दीश्वर द्वीप तक उड़कर जा सकता है। विद्याचारण की शक्ति प्रारभ में कम और बाद में अधिक होती है। विद्याचारण वाला नदीश्वर द्वीप में उड़ान भरते समय बीच में मानुषोत्तर पर्वत पर एक विश्राम लेता है और दूसरी उड़ान भरकर वह नंदीश्वरद्वीप पहुंचता है किन्तु लौटते समय परिशीलन से उसकी विद्या शक्ति प्रखर हो जाती है अत एक ही उड़ान में सीधा अपने स्थान पर आ जाता है। इसी प्रकार ऊंची उड़ान भरते समय भी पहले नन्दनवन में विश्राम लेकर फिर दूसरी उड़ान में पाण्डुकवन में पहुचता है, किन्तु लौटते समय में सीधे ही एक उड़ान में अपने स्थान पर आ जाता है।

जंघाचारण से विद्याचारण की शक्ति कम होती है। जघाचारणवाला तीन वार आंख की पलक झपकने जितने समय में एक लाख योजन वाले जम्बूद्वीप को २१ वार चक्कर लगा सकता है, किन्तु विद्याचारण लब्धि वाले इतने समय में सिर्फ ३ वार ही चक्कर लगा सकते हैं। गति की तीव्रता जघाचारण में अधिक है।

आशीविष लब्धि :- जिनकी दाढों में तीव्र विष होता है, उन्हें आशीविष कहा जाता है। आशीविष के दो भेद हैं- कर्म आशीविष और जाति आशीविष। कर्म आशीविष - तप अनुष्ठान, सयम आदि क्रियाओं द्वारा प्राप्त होता है इसलिये इसे लब्धि माना गया है। इस लब्धि वाला, शाप आदि देकर दूसरों को मार सकता है। यह लब्धि मनुष्य और तिर्यंच दोनों में हो सकती है। जातिआशीविष कोई लब्धि नही है। वह जन्मजात (जातिगत स्वभाव के कारण) प्राप्त हो जाती है। विच्छू आदि में जो विष होता है वह जातिगत होता है। जाति आशीविष के चार भेद हैं- बिच्छू, मेंढक, साप और मनुष्य। बिच्छू से मेंढक का विष अधिक प्रबल होता है, मेंढक से साप का और साप से मनुष्य का।

दृष्टिविष :- दृष्टि शब्द से चक्षु और मन को ग्रहण किया गया है। दोनों में दृष्टि की प्रबलता है। शुभ अशुभ लब्धि से रहित, हर्ष, क्रोधादि से रहित छह प्रकार के दृष्टि विष हैं।

उग्रतप लब्धि :- उग्र तप लब्धि के धारक दो प्रकार के होते हैं- १) उग्रोग्र तप लब्धि धारक और २) अवस्थित उग्रतप लब्धि धारक। एक उपवास करके पारणा करें, दो उपवास करके पारणा करें, तीन उपवास करके पारणा करें। क्रमश· जीवन पर्यंत एकेक बढ़ाते हुए तप करें, पारणा करें उसे उग्रोग्रतप लब्धि के धारक कहते हैं। एक उपवास करके पारणा करें फिर एकान्तर से किसी निमित्त वश षष्ठोपवास हो गया। षष्ठोपवास से विहार करने वाले के अष्टमोपवास हो गये। इस प्रकार दशम द्वादशम आदि के क्रम से नीचे न गिरते हुए जो जीवनपर्यंत विहार करता रहता है, वह अवस्थित उग्रतप लब्धि का धारक कहा जाता है। यह तप का अनुष्ठान वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से होता है। इन दोनों तपों का उत्कृष्ट फल मोक्ष है।

दिप्ततप लब्धि :- चतुर्थ और छट्ठम आदि उपवासों के करने से शरीर की तेज जनित लब्धि प्राप्त होती है। शरीर दीप्ति की लब्धि तपाराधना से प्राप्त होती है।

तप्ततप लब्धि :- इस लब्धि के प्रभाव से मलमूत्र शुक्रादि तप्त-दग्ध कर दिये जाते हैं।

महातप लब्धि :- अणिमादि गुण, जल जंघादि के आठ चारण गुण, शरीरप्रभा से युक्त, दोनों प्रकार के अक्षीण ऋद्धि से युक्त, सर्वौषधि स्वरूप, आशीविष, दृष्टिविष

सम्पन्न, तप्त तपोधारक, समस्त विद्याओं का धारक, मति श्रुत अवधि मन - पर्यव ज्ञान धारक महातप लब्धि वाला होता है।

घोर तप लब्धि :- उपवासों में छह मास का तपस्वी, अवमोदर्य तप में एक ग्रास का धारक, वृत्तिपरिसख्याओं में चौराहे पर भिक्षा की प्रतिज्ञा धारक, रसपरित्याग में उष्णजलयुक्त ओदन का सेवन, विविक्तशय्यासन में वृक, व्याघ्र आदि हिंसक जीवों से सेवित अटवियों में निवास, कायक्लेश तप के अन्तर्गत हिमालय, वृक्ष अथवा खुले आकाश में आतापना - ध्यान करें। इसी प्रकार आभ्यन्तर तपों में भी निरन्तर आराधक घोर तप लब्धि धारक है।

घोर पराक्रम लब्धि :- यह तपोजन्य है। तीनों लोक का उपसहार, समुद्र का निगलना, समुद्र के जल को सुखाना, पृथ्वी का निगलना, जल, अग्नि, पर्वत आदि बरसाने की शक्ति प्राप्त करना घोर पराक्रम लब्धि है। यह आध्यात्मिक क्षेत्र में त्याज्य है।

घोर गुणबभचारी लब्धि :- यह चारित्र के शुद्ध पालन से प्राप्त होती है। पाच समिति, तीन गुप्ति का धारक अघोर-शान्त गुण सम्पन्न होता है। राष्ट्रीय उपद्रव, रोग, दुर्भिक्ष, वैर, कलह, वध, बन्धन आदि को निवारण करने की शक्ति जिसे प्राप्त होती है वह अघोरगुणबभचारी लब्धि है।

आमोसहि :- 'आमर्शौषधि' इस लब्धि के धारक तपस्वी किसी रोगी ग्लान आदि को स्वस्थ करना चाहे तो प्रथम मन में सकल्प करके, उसे स्पर्श करे, उनके स्पर्श मात्र से रोग शान्त हो जाता है।

खेलोसहि :- खेल यानी श्लेष्म, खंखार, थूक। जिस योग शक्ति के प्रभाव से लब्धिधारी के श्लेष्म में सुगध आती हो, और उसके प्रयोग-लेपन-स्पर्शन आदि से औषधि की भाति रोग शात हो जाता हो, वह खेलोसहि लब्धि है। मल मूत्र की भाति खेल-खखार से भी घृणा की जाती है, किंतु इनमें तपस्या के प्रभाव से दुर्गंध के स्थान पर सुगध आने लग जाती है फिर जहा कही भी उसका स्पर्श-लेपन-प्रयोग करने पर रोग शांत हो जाता है।

जल्लोसहि :- जल्ल नाम मल का है। शरीर के विभिन्न अवयव, जैसे, कान, मुख, नाक, जीभ, आख आदि का जो मल = पसीना अथवा मैल होता है उसे 'जल्ल' कहा जाता है। तपस्वियों में लब्धि के प्रभाव से ये मल भी सुगध देने लगते हैं तथा इनका स्पर्श भी औषधि की भांति रोग मिटाने की अद्‌भुत शक्ति रखता है।

विप्पोसहि :- 'विप्रुडौषधि' 'वि' शब्द का अर्थ है शरीर द्वारा त्यक्त मल, और 'प्र' का अर्थ है - प्रस्रवण। पूरे शब्द विप्रुड का अर्थ है - मल-मूत्र। जिस लब्धि के

प्रभाव से तपस्वी साधक के मल-मूत्र में सुगध आती हो, जिसका स्पर्श होने पर रोगी का रोग शांत हो जाता हो - जिनका मल-मूत्र औषधि की भांति रोगोपशमन में समर्थ हो, ऐसी योग शक्ति का नाम- विप्पोसहि लब्धि है।

सव्वोसहि :- सर्वौषधि। प्रथम चार लब्धियों से शरीर के अलग-अलग अवयव एवं वस्तुओं के स्पर्श से रोग शात हो जाता है। किन्तु सर्वौषधि लब्धि के धारक तपस्वी के तो शरीर के समस्त अवयव, मल-मूत्र, केश, नख, थूक आदि में सुगंध आती है तथा उनके स्पर्श से रोग शात हो जाते हैं।

मनोबलि लब्धि :- बारह अंगों में निर्दिष्ट त्रिकालविषयक अनन्त अर्थ-व्यंजन पर्यायों से व्याप्त षड् द्रव्य एव नौ तत्त्वों के निरन्तर चिंतन में खेद न होना मनोबलि लब्धि है। यह लब्धि विशिष्ट तप के प्रभाव से प्राप्त होती है।

वचिबलि लब्धि :- यह भी विशिष्ट तप के प्रभाव से प्राप्त होती है। बारह अगों का बार-बार चिंतन करने में खेद न होना ही वचनलब्धि है। वचनलब्धि धारक की वाणी अमृत सी मीठी होती है।

कायबली लब्धि :- यह शक्ति विशेष चारित्र से उत्पन्न होती है। तीनों लोक को अगुली से उठाकर अन्यत्र रखने में जो समर्थ होता है, वह कायबली है।

क्षीर मधु-सर्पिरास्रव लब्धि :- क्षीर का अर्थ 'दूध' है। इस लब्धि के प्रभाव से वक्ता के वचन सुनने वालों को बड़े ही मधुर (दूध-मधु एवं घृत के समान) प्रिय एव सुखकारी होते हैं। भिक्षा पात्र में लूखा-सूखा-नीरस आहार आ जाने पर भी इस लब्धि के प्रभाव से वह स्वत ही क्षीर, मधु एव घृत के समान स्वादिष्ट बन जाता है।

कही-कही लोग मान्त्रिक प्रयोग से वस्तु का स्वाद बदल देते हैं, किन्तु लब्धिधारी का तो यह सहज प्रभाव होता है, और वह शुद्ध आध्यात्मिक ही होता है, उसमें मत्र-तत्र का कोई पुट नही होता है।

मधु शब्द से गुड़,शक्कर, खाड आदि लिया गया है । सर्पिष् शब्द का अर्थ घृत है। यह लब्धि तप के प्रभाव से प्राप्त होती है ।

अमडास्रवलब्धि :- भिक्षापात्र में आया हुआ रूखा-सूखा आहार इस लब्धि के प्रभाव से अमृत स्वरूप परिणत हो जाता है ।

तेजोलेश्यालब्धि :- यह आत्मा की एक प्रकार की तेजस् शक्ति है । यह लब्धि छह महीने तक निरतर बेले-बेले तप करके सूर्यमण्डल के सामने आतापना लेना और पारणे में मुट्ठीभर उड़द के बाकुले और चुल्लूभर पानी लेने पर प्राप्त होती है । इस लब्धि के प्रभाव से योगियों को ऐसी शक्ति प्राप्त होती है कि क्रोध के आने पर विरोधी को

जलाकर भस्म कर देते हैं। उत्कृष्ट शक्ति प्रयोग में १६११ महाजनपदों को एक साथ भस्म कर डालने की शक्ति भी इस लब्धिधारक में होती है। बायें पैर के अगूठे को घिसकर यह तेज निकाला जाता है।

शीतललेश्या लब्धि :- यह तेजोलेश्या की प्रतिरोधी शक्ति है। यह भी एक आध्यात्मिक तेज है।

अक्षीणमहानस लब्धि :- इस लब्धि के प्रभाव से तपस्वी भिक्षा में लाये हुए थोडे से आहार से लाखों व्यक्तियों को भरपेट भोजन करा सकता है। शर्त यह है कि जब तक लब्धिधारी स्वय भोजन न करें तब तक ही वह अखूट रहता है। लब्धिधारी उसमें से एक ग्रास भी खा ले तो वह अन्न समाप्त हो जाता है।

इस प्रकार इन लब्धियों का स्वरूप सक्षेप में बताया गया है, जो चारित्र और तप की विशिष्ट साधना द्वारा प्राप्त की जा सकती हैं।[६०] दृष्टिवाद अग में इन लब्धियों की प्राप्ति की तपस्या विधि का बहुत विस्तार से वर्णन है ऐसा कथन है, किन्तु आज वह उपलब्ध नही है। भगवती सूत्र, षट् खडागम, आवश्यक निर्युक्ति, विशेषावश्यक भाष्य, प्रवचन- सारोद्धार एव तिलोयपण्णत्ती (यतिवृषभाचार्य) आदि ग्रन्थों में लब्धियों का स्वरूप मिलता है।

इन लब्धियों में तप की जो विधि बताई गई है वह लब्धि प्राप्त करने के लिये नही है, किन्तु वह तप का एक मार्ग है, जिस पर चलने से बीच में अमुक सिद्धियाँ मिल जाती हैं।

गरिष्ठ भोजन करने का महत्व नही है, महत्व है उसे पचाने का। वैसे ही शक्ति को प्राप्त करना उतना महत्त्वपूर्ण नही है, किन्तु शक्ति को प्राप्त करके उसे पचा लेना बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसलिये शास्त्रों में जहा लब्धियों का वर्णन किया गया है, वहा लब्धियों के प्रदर्शन व प्रयोग का निषेध भी किया गया है। स्थूलि भद्र को लब्धियाँ मिलीं, किन्तु उन्हें वे पचा नही सके।[६१] लब्धि का प्रकटीकरण प्रमाद है। जितने भी लब्धि प्रयोग किये जाते हैं- सब प्रमत्त दशा में ही होते हैं। छठे गुणस्थान तक ही लब्धि प्रयोग है। सप्तम गुणस्थानवर्ती कभी भी लब्धि का प्रयोग नही करता, क्योंकि वहा अप्रमत्त भाव है, और लब्धि-विस्फोट प्रमत्त भाव है, प्रमाद-सेवना है। प्रमाद कर्म बन्धन का कारण है।[६२] इसीलिये भगवती सूत्र में बताया गया है - जो साधक (गृहस्थ या मुनि) लब्धि का प्रयोग कर, प्रमाद सेवन करके यदि पुन उसकी आलोचना नही करता है, और अनालोचना की दशा में ही काल प्राप्त कर जाता है तो वह धर्म की आराधना से च्युत हो जाता है - विराधक हो जाता है।[६३]

लब्धि फोड़ना - एक प्रकार की उत्सुकता, कुतुहल और प्रदर्शन, यश एवं प्रतिष्ठा की भावना का परिणाम है। इसलिये लब्धि का प्रयोग साधक के लिये विहित नही है। शुद्ध रत्नत्रय की साधना करना ही साधक का लक्ष्य है। महावीर की साधना पद्धतियों में चमत्कार को नही, सदाचार एव आत्मशुद्धि को महत्व है।

ध्यानी को कफ, श्लेष्म, विष्ठा, स्पर्श आदि सभी औषधिमय महासम्पदाए तथा सभिन्नस्रोतलब्धि आदि का प्राप्त होना योगजनित अभ्यास का ही चमत्कार है। चारण विद्या, आशीविषलब्धि, अवधिज्ञान, मन पर्यवज्ञान आदि उपरोक्त बताई हुई ज्ञान-चारित्र-तपोजन्य सभी लब्धिसम्पदाएं योगकल्पवृक्ष, ध्यानचिन्तामणिरत्न की ही विकसित पुष्पप्रभायें हैं।[६४] रत्नत्रय से गर्भित ध्यानयोग के द्वारा प्राप्त की गई ये लब्धियाँ मोक्षप्रदाता बनती हैं।

संदर्भ सूचि

१ (क) अबर-लोह-महीण कमसो जह मल-कलंक-पंकाणं।
सोज्झा-वणयण- सोसे साहेंति जलाणलाइचा।।
तह सो ज्झाइ समत्था जीवबर-लोह मेहणिगयाण।
झाण जलाऽणल-सूरा-कम्ममल-कलक-पकाणं।।

ध्यान शतक (जिनभद्रागणिक्षमाश्रमण) गा १७-१८

(ख) अनादिविभ्रमोद्भुत रागादितिमिर घनम्।
स्फुटयत्याशु जीवस्य ध्यानार्क प्रविजृम्भित ।

ज्ञानार्णव २५/५

२. (क) ध्यानमेवापवर्गस्य मुख्यमेकं निबन्धनम्।
तदेव दुरितव्रातगुरुकक्षहुताशनम्।। ज्ञानार्णव २५/७

(ख) वीरं सुक्कज्झाणाग्गिदड्ढकम्मिधण पणमिऊण। ध्यान शतक गा १

३ (क) पंच सरीरगा पण्णत्तं, तं जहा-ओरालिए वेउव्विए आहारए तेयए कम्मए।

ठाणे (सुत्तागमे) ५/१/४१२

(ख) कइ णं भते। सरीरा पण्णत्ता? गोयमा। पंच सरीरा पण्णत्ता। तंजहाओरालिए जाव कम्मए।

पण्णवणा सुत्तं (सुत्तागमे) १२/४०५

(ग) विशिष्टनामकर्मोदयापादितवृत्तीनि शीर्यन्त इति शरीराणि।

सर्वार्थ सिद्धि, तत्त्वार्थ सूत्र टीका, २/३

(घ) तत्त्वार्थ सूत्र २/३७-४९, २६, (प सुखलालजं

(ङ) उदार स्थूलमिति यावत्, ततो भवे प्रयोजने वा ठत्रि औदारिकमिति भवेत्।

तत्त्वार्थ वार्तिके २/:

अष्टगुणैश्वर्ययोगादेकानेकाणुमहच्छरीर-विधकरण विक्रिया,
प्रयोजनस्येति वैक्रियम्।। तत्त्वार्थ वार्तिके २/३

आह्रियते तदित्याहारकम्। तत्त्वार्थ वार्तिके २/३

यत्तेजो निमित्त तत्तैजसमिदम्, तेजसि भव वा, तैजसमित्याख्यायते।

तत्त्वार्थ वार्तिके २/३६

कर्मणामिद कर्मणा समूह इति वा कार्मणम्।। तत्त्वार्थ वार्तिके, २/३६

(च) सूक्ष्म पदार्थनिर्ज्ञानार्थमसयमपरिजिहीर्षया वा
प्रमत्त सयतेनाह्रियते निर्वर्त्यते तदित्याहारकम्।। सर्वार्थ सिद्धि २/३६
तत्तेजो निमित्त तेजसि वा भव तत्तैजसम्। कर्मणा कार्य कार्मणम्।
सर्वेषा कर्म निमित्तत्वेऽपि रूढिवशाद्विशिष्टविषये वृत्तिरसेवया।

सर्वार्थ सिद्धि २/३६

(छ) सर्वषा कार्मणत्वप्रसग इति चेत न, प्रतिनियतौ दारिकादि·
निमित्तत्वात्। नानात्व सिद्धिम्। तत्त्वार्थ वार्तिके २/३६

४ (क) पर पर सूक्ष्मम्। तत्त्वार्थ सूत्र २/३८

(ख) सज्ञा लक्षण प्रयोजनादि त्रि पृथग् भूताना शरीराणा
सूक्ष्मगुणे न वीप्सानिर्देश क्रियते परपरम्।। तत्त्वार्थ वार्तिके २/३७

(ग) औदारिक स्थूलम्, तत सूक्ष्म वैक्रियिकम्, तत सूक्ष्म आहारकम्,
तत सूक्ष्म तैजसम्, तैजसात्कार्मण सूक्ष्ममिति। सर्वार्थ सिद्धि २/३७

५ (क) पण्णवणा पद २१

(ख) तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्याऽऽ चतुर्भ्य । तत्त्वार्थ सूत्र २/४३

६ उरलाइपुग्गलाण निवद्ध बज्झतयाण सबन्ध।
ज कुणइ जउ समं त उरलाइ बधण नेय।। कर्मग्रन्थ १/३५

७ जं सघायइ उरलाइ पुग्गले तणगण व दताली।
त सघाय बधणमिव तणुनामेण पंचविह।। कर्मग्रन्थ १/३६

८. (क) छव्विहे सघयणे पण्णत, त जहा - वइरोसभणारायसघयणे, उसभ-णारायसघयणे, नारायसघयणे, अद्धणाराय सघयणे, कीलियासघयणे, छेवट्ठ सघयणे। ठाणे (सुत्तागमे) ६/५७२

(ख) सघयणमट्ठिनिचओ त छद्धा वज्जरिसहनाराय।
तहय रिसहनारायं नाराय अद्धनारायं।।
कीलिअ छेवट्ठ इह रिसहो पट्टो य कीलिया वज्ज।
उभओ मक्कडबधो नारायं इममुरालगे।। कर्मग्रन्थ १/३८-३९

९ (क) छव्विहे सठाणे पण्णत्तं, तं जहा - समचउरसे, णग्गोहपरिमडले, साई, खुज्जे, वामणे, हुडे। ठाणे (सुत्तागमे) ६/५७३

(ख) कर्मग्रन्थ १/४०

१० (क) पच निसिज्जाओ पण्णत्तं, तजहा- उक्कुडुया गोदोहिया समपायपुया पलियका अद्धपलियका। ठाणे (सुत्तागमे) ५/१/४९८

(ख) आयारे (सुत्तागमे) २/१५/१०२०

११ (क) सर्वेषामेव त्रीणि शरीराणि वर्तन्ते।
१०८ उपनिषद् (साधना खण्ड) पृ ७८

(ख) विवेक चूडामणि (आ शंकर) गा ७४, ८९, ९८, १२२

१२ सरल मनोविज्ञान (लालजीराम शुक्ल) पृ ३३-४०

१३ १०८ उपनिषद् (साधना खण्ड) श्री राम शर्मा, पृ ६७-६८

१४ सरल मनोविज्ञान पृ १४०

१५ सरल मनोविज्ञान पृ १४४

१६ उद्धृत, प्राचीन जैन साधना पद्धति, (साध्वी राजेमति) पृ ४०

१७ सरल मनोविज्ञान पृ ४४

१८ (क) कर्मारग्राममनुप्राप्त तत्र प्रतिमया स्थित ।
आवश्यक निर्युक्ति (भा १) गा ४६१

(ख) महावीरचरियं (श्रीगुणचद्रगणि) पृ १४४

(ग) छम्माणि गोव कडसल पवेसण मज्झिमाए पावाए।
खर ओ विज्ज सिद्धत्थ वाणियओ नीहरावेइ।।
आवश्यक निर्युक्ति गा ५२५

(घ) त्रिषष्टिशलाकापुरुष, १०/३/१७-२६, १०/४/६१६-६४६

१९ तसि भगव अपडिन्ने अहे विगडे अहियासए।
दविए निक्खम्म एगया राओ ठाइए भगवं समियाए।।
आचारांगसूत्र १/९/२/५

चत्तारि साहिए मासे बहवे पाणजाइया अभिगम्म।
अभिरुज्झ काय विहिरिंसु आरूसियाणं तत्थ हिंसिसु।।
आचारांग सूत्र, १/९/१/३

२० (क) तत्थ सामी वाहिं पडिम ठितो।

आवश्यक निर्युक्ति (मलयगिरि) २७९

(ख) वहि प्रतिमया स्थित । आवश्यक निर्युक्ति (हरिभद्र) ४७९

(ग) तत स्वामी वहिर्हरिद्रसन्निवेशात् हरिद्रवृक्षस्याधोऽवतस्थे प्रतिमया, पथिक-प्रज्वालिताग्निना प्रभोरनपसरणात् पादौ दग्धौ, गोशालो नष्टस्तत्र।

आवश्यक निर्युक्ति (हरिभद्र टीका) गा ४७९ की चूर्णि

२१ आचाराग सूत्र १/९/२/२-३, १/९/१/६

२२ णो सुकरमेयमेगेसिं नाभित्रासे य अभिवायमाणे।
हयपुव्वे तत्थ दण्डेहिं लूसियपुव्वे अपुण्णेहिं।।
फरुसाइ दुतितिक्खाइ, अइअच्चमुणी परक्कममाणे।
अघायनट्टगीयाइ, दडजुद्धाइ मुट्ठिजुद्धाइ।।

आचाराग सूत्र १/९/१/८-९

२३ लाढेहिं तस्सुवस्सग्गा वहवे जाणवया लूसिंसु।
अह लूहदेसिए भत्ते कुक्कुरा तत्थ हिंहिंसु निवइसु।।
अप्पे जणे णिवारेइ, लूसणए सुणए डसमाणे।
छु छु कारति आहु सु समण कुक्कुरा डसतु त्ति।।

आचारागसूत्र, १/९/३/-५

२४ (क) शूलपाणीनामा यक्षोऽभूत् ।
रोद्दा य सत्त वेयण, । रौद्राश्च सप्त वेदना यक्षेण कृता

आवश्यक निर्युक्ति गा ४६४ एव उसकी चूर्णि

(ख) महावीर चरिय पृ १५३

२५ (क) महावीर चरिय (नेमिचद) पृ १८४

(ख) महावीर चरिय (गुणचद्र) पृ १५९

(ग) त्रिशष्टिशलाकापुरुष १०/३/२३६

(घ) आवश्यक निर्युक्ति गा ४६७

२६ त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र १०/३/२७१-२७९

२७ रागद्वेषाग्निनोत्तप्ता समुतिष्ठन्ति जन्तव ।
तप सयमयोगेन क्षालिताखिलकल्मषा ।।

उपमिति भवप्रपचा (सिद्धर्षिगणि) उत्तरार्द्ध, ५/१३६, ७/७७

२८ आवश्यक निर्युक्ति गा ४८९ एव उसकी चूर्णि

२९ (क) ढढभूमीए बहिआ पेढाल नाम होइ उज्जाण।

पोलास चेइयमि ठिएगराई महापडिमं।।
सोहम्मकप्पवासी देवो सक्कस्स सो अमरिसेण।
सामाणिअ सगमओ बेइ सुरिंद पडिनिविट्ठो।।
तेलोक्कं असमत्थति बेह एतस्स चालण काउं।
अज्ञेव पासह इम ममवसग भट्ठ जोगतवं।।
अह आगओ तुरतो देवो सक्कस्स सो अमरिसेण।
कासी य हडवसग्ग मिच्छद्दिट्ठी पडिनिविट्ठो।।
धूली पिवीलिआओ उद्दसा चेव तहय ठण्होला।
विंछुय नउला सप्पा य मूसगा चेव अट्ठमगा।।
हत्थी हत्थिणिआओ पिसायए घोररूव वग्घो य।
थेरो थेरी सूओ आगच्छइ पक्कणो य तहा।।
खरवाय कलकलिया कालचक्क तहेव य।
पाभाइय उवसग्गे वीसइमो होइ अणुलोमो।।

आवश्यक निर्युक्ति गा ४९७-५०४

(ख) आवश्यक चूर्णि, निर्युक्ति गा ५०६ की

३० जघन्येषु कटपूतनाव्यन्तरी शीत, मध्यमेषु काल चक्र, उत्कृष्टेषु शल्योद्धरण कर्णयो। आवश्यक चूर्णि गा ५२५ की पृ २९३

३१ (क) अप्पेगइया खेलोसहिपत्ता एव जल्लोसहि पत्ता, विप्पोसहिता, आमोसहिपत्ता, सव्वोसहिपत्ता अप्पेगइया सभिन्नसोया।।

ओववाइयसुत्त (सुत्तागमे) पृ ७

(ख) कफविपुष्मलामर्श – सर्वौषधि – महर्द्धय।
सभिन्नस्रोतालब्धिश्च यौग ताण्डवडम्बरम्।।

योगशास्त्र स्वोपज्ञ भाष्य १/८

एष सर्वोऽपि सर्वौषधिप्रकार।
मल किल समाम्नातो द्विविध सर्व– दहिनाम्।।

योगशास्त्रस्वोपज्ञभाष्य पृ २३-२४

३२ (क) शरीरमन्तरुत्पन्नैर्व्याधिभिर्विविधैरिदम्।
दीयर्यते दारूणैर्दारु दारुकीटगणैरिव।।
कच्छूशोषज्वरश्वासारुचिकुक्ष्यक्षिवेदना।।
सप्ताधिसेहे पुण्यात्मा सप्तवर्षशतानि स।
सिद्धलब्धिरपि व्याधि बाधा सोढा तपस्यति।
सनत्कुमारो भगवानितीन्द्रस्त्वामवर्णयत्।।
योगिना योगमाहात्म्ययात्पुरीषमपिकल्पते।

रोगिणां रोगनाशाय कुमुदामोदशालि च।।

योग शास्त्र स्वोपज्ञ भाष्य गा ३३,४५,५९

(ख) सिज्झइ जाव सव्वदुक्खाणमंत करेइ,
जहा से सणकुमारे राया चाउरंतचक्कवट्टी।

ठाणे (सुत्तागमे) ४/१/२९४

(ग) योगशास्त्र स्वोपज्ञ भाष्य पृ २०-२४

३३ अश्रान्तमिति पिण्डस्थे, कृताभ्यासस्य योगिन ।
प्रभवन्ति न दुर्विधा मत्र मण्डलशक्तय ।।
शाकिन्य क्षुद्रयोगिन्य पिशाचा पिशिताशना ।
त्रस्यानि तत्क्षणादेव, तस्य तेजोऽसहिष्णव ।।
दुष्टा करटिन सिंहा, शरभा पन्नगा अपि।
जिघासवोऽपि तिष्ठन्ति, स्तम्भिता इव दूरत ।।

योग शास्त्र ७/२६-२८

३४ 'जापरज्ञयेत्क्षयमरोचकमग्निमान्द्य,
कुष्ठोदराभस्मकसनश्वसनादिरोगान्।
प्राप्नोति चाप्रतिमवाग्महती महद्भ्य ,
पूजा परत्र च गतिं पुरुषोत्तमाप्ताम्।।

योग शास्त्र स्वोपज्ञ भाष्य ८/५

३५ त्यक्त सगास्तनु त्यक्त्वा, धर्मध्यानेन योगिन ।
ग्रैवेयकादि स्वर्गेषु भवन्ति त्रिदशोत्तमा ।।
महामहिमसौभाग्य शरच्चन्द्रनिभप्रभम्।
प्राप्नुवन्ति वपुस्तत्र स्रग्भूषाम्बर-भूषितम्।।
विशिष्ट-वीर्य-बोधाद्यं, कामार्तिज्वरवर्जितम्।
निरन्तराय सेवन्ते सुख चानुपम चिरम्।।
इच्छा-सम्पन्न-सर्वार्थ-मनोहारि -सुखामृतम्।
निर्विघ्नमुपभुञ्जाना गत जन्म न जानते।।
दिव्या भोगावसाने च, च्युत्वा त्रिदिवतस्तत ।
उत्तमेन शरीरेणावतरन्ति महीतले।।
दिव्यवंशे समुत्पन्ना नित्योत्सवमनोरमात्।
भुंजते विविधान् भोगानखण्डित मनोरथा ।।
ततो विवेकमाश्रित्य, विरज्या शेष भोगत-।
ध्यानेन ध्वस्तकर्माण प्रयान्ति पदमव्ययम्।।

योग शास्त्र ८/१८-२४

३६. (क) अहाकडं न से सेवे, सव्वसो कम्मुणा बंधं अदक्खू।
जं किं- चि पावगं, भगवतं अकुव्वं वियड भुजित्था।।
मायन्ने असण-पाणस्स, णाणुगिद्धे रसेसु अपडिण्णे।
अच्छिपि णो पमज्जिज्जा, णो वि य कडूयये मुणि गाय।
आयारे (सुत्तागमे) १/९/१/४७८, ४८०

(ख) हियाहारा मियाहारा, अप्पाहारा य जे णरा।
ण ते विज्ञा तिगिच्छंति, अप्पाणं ते तिगिच्छगा।।
छण्हमण्णरे ठाणे, कारणंमि आगमा।
आहारेज्ञा मेहावी, संजमा सुसमाहिए।।
षण्णा स्थानानामन्यतस्मिन् कारणे स्थाने आमते आहारयेत्।
वेयणवेयावच्चे इरियट्ठाए य सजमट्ठाए।
तह पाणवत्तियाए, छट्ठ पुण धम्मचिंताए।।
ओघनिर्युक्ति (भद्रबाहु, ज्ञानःसागरसूरि टीका) गा ८८०-८८२

३७ (क) घेरण्ड संहिता गा १६-३१

(ख) हठयोगप्रदीपिका (चमनलाल) १/६४-६५

३८. सरल मनोविज्ञान पृ ४७-४९

३९ (क) समत्वमवलम्ब्याथ, ध्यानं योगी समाश्रयेत्।
विना समत्वमारब्धे, ध्याने स्वात्मा विडम्ब्यते।। योगशास्त्र ४/११२

(ख) यस्य ध्यानं सुनिष्कम्पं समत्वं तस्य निश्चलम्।
नानयोर्विद्ध्यधिष्ठानमन्योऽन्य स्याद्विभेदत ।।
साम्यमेव न सद्ध्यानात्स्थिरीभवति केवलम्।
शुद्ध्यत्यपि च कर्मौधिकलकी यन्त्रवाहक.।
यदैव संयमी साक्षात्समत्वमवलम्बते।
स्यात्तदेव परं ध्यान तस्य कर्मौघघातकम्।।
ज्ञानार्णवे (शुभचन्द्र) २५/२-४

४० (क) कृत्स्नकर्म क्षयो मोक्ष। तत्त्वार्थ सूत्र १०/३

(ख) प्रक्षीणोभ्यकर्माणं जन्मदोषैर्विवर्जितम्।
लब्धात्मगुणमात्मानं मोक्षमाहुर्मनीषिण ।।
उपासकाध्ययन (सोमदेव) ३९/६६१

(ग) रागस्स दोसस्स य संखएणं, एगन्तसोक्खं समुवेइ मोक्ख।
उत्तराध्ययनसूत्र ३२/२

(घ) अत्यक्ष विषयातीत निरोपत्य स्वभावजम्।
अविच्छिन्न सुख यत्र स मोक्ष परिपठ्यते ।।
निर्मलो निष्कल शान्तो निष्पन्नोऽत्यन्तनिर्वृत ।
कृतार्थ साधुवोधात्मा तत्पदं शिवम् माख्यते।।

ज्ञानार्णव ३/८-९ (पृ ५८)

४१ उत्तराध्ययनसूत्र २०/१८-३४, ६०

४२ सद्ध नगर किच्चा, तव-सवर-मग्गल।
खन्ति निउण-पागार, तिगुत्त दुप्पधसयं।।
धणु परक्कम किच्चा, जीव च इरिय सया।
धिइ च केयण किच्चा, सच्चेण पलिमन्थए।।
तव-नारायजुत्तेण, भित्तुण कम्म-कचुय।
मुणी विगय-सगामो, भवाओ परिमुच्चए।।
जो सहस्स सहस्साण, सगामे दुज्जए जिणे।
एग जिणेज्ज अप्पाण, एस से परमो जओ।।

उत्तराध्ययनसूत्र ९/२०-२२, ३४

४३ (क) अप्पणा मेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण वज्झओ।
अप्पणा-मेव-मप्पाण, जइत्ता सुह मेहए।।
पचिन्दियाणि कोह, माण माय तहेव लोह च।
दुज्जय चेव अप्पाण, सव्व अप्पे जिए जिय।।

उत्तराध्ययन सुत्त ९/३५-३६

(ख) एगे जिए जिया पच, पच जिए जिया दस।
दसहा उ जिणित्ताण, सव्वसत्तू जिणामहं।।

उत्तराध्ययन सूत्र २३/३६

४४ जे एग जाणइ से सव्व जाणइ, जे सव्व जाणइ से एग जाणइ।

आयारे १/३//४/२०९ (सुत्तागमे)

४५ (क) अहो योगस्य माहात्म्य प्राज्य साम्राज्यमुद्वहन्।
अवाप केवलज्ञान भरतो भरताधिप ।। योगशास्त्र १/१०

(ख) योगशास्त्र स्वोपज्ञ भाष्य पृ २८-५८

(ग) जहा स भरहे राया चाउरतचक्कवट्टी अतकिरिया।

ठाणे (सुत्तागमे) ४/१/२९४

४६ (क) सिज्झइ जाव सव्वदुक्खाणमतं करेइ
जहा सा मरुदेवी भगवई। ठाणे (सुत्तागमे) ४/१/२९४

(ख) पूर्वमप्राप्तधर्मापि परमानन्दनन्दिता।
योगप्रभावत प्राप मरुदेवी परं पदम्।। योग शास्त्र (हेम) १/११

(ग) मरुदेवी हि स्वामिनी आससारं त्रसत्वमात्रमपि नानुभूतवती
किं पुनर्मानुषत्त्व तथापि योगबलसमृद्धेन शुक्लध्यानाग्निना
सचितानि कर्म्मेन्धनानि भस्मसात्कृतवती।
योगशास्त्र स्वोपज्ञ भाष्य पृ ५८

४७ (क) ब्रह्म स्त्री भ्रूणगोघातपातकान्नरकातिथे ।
दृढप्रहारि प्रभृते र्योगो हस्तावलम्बनम्।। योग शास्त्र १/१२

(ख) योगशास्त्र स्वोपज्ञ भाष्य पृ ५९-६३ (गा १-५३)

४८ (क) तत्कालकृतदुष्कर्मकर्मठस्य दुरात्मन ।
गोप्त्रे चिलातीपुत्रस्य योगाय स्पृहयेन्न क । योग शास्त्र १/१३

(ख) स एव चिन्तयन्नेव प्राप राजगृह पुरम्।
सशोक सुसुमापुत्र्या विदधे चौर्ध्वदेहिकम्।। ५५।।
वैराग्याद्व्रतमादाय श्री वीर स्वामिनोऽन्तिके।
दुस्तप स तपस्तेपे पूर्णायुश्च दिव ययौ ।।५६।।
चैलातेयोऽप्यनुरागात्सुसुमाया मुहुर्मुहु ।
मुख पश्यन्नविज्ञातश्रमो याम्या दिश ययौ ।।५७।।
सर्वसन्तापहरणं छायावृक्षमिवाध्वनि।
साधुमेक ददर्शासौ कायोत्सर्गजुष पुर ।।५८।।
स ज्ञानान्मुनिरज्ञासीद्बोधिबीजमिहाहितम्।
अवश्यं यास्यति स्फाति पल्वले शालिबीजवत् ।।६१।।
कार्यं सम्यग्गुणशमो विवेक सवरोऽपि च। ।।६२।।
क्रोधादीनां कषायाणा कुर्यादुपशम सुधी ।

पिपीलिकोपसर्गेऽपि स स्तम्भ इव निश्चल ।
सार्द्धाहोरात्रयुग्मेन जगाम त्रिदशालयम्।।
योगशास्त्र स्वोपज्ञ भाष्य गा ५५-५८, ६१-६२, ६५-७१

४९ (क) पच वण्णा पण्णत्ता, तजहा - किण्हा नीला लोहिया
हालिद्दा सुक्किला। ठाणे (सुत्तागमे) ५/१/४८५

(ख) वन्ना किण्हनीललोहियहलिद्दसिया। कर्मग्रन्थ १/४०

५०. णमो अरहताणं णमो सिद्धाणं णमो आयरियाणं
णमो उवज्झायाण णमो लोएसव्व साहूणं।। भगवइ (सुत्तागमे) १/१

(घ) अत्यक्ष विषयातीत निरोपल्य स्वभावजम्।
अविच्छिन्न सुखं यत्र स मोक्ष परिपठ्यते।।
निर्मलो निष्कल शान्तो निष्पन्नोऽत्यन्तनिर्वृत ।
कृतार्थ साधुवोधात्मा तत्पद शिवम् माख्यते।।

ज्ञानार्णव ३/८-९ (पृ ५८)

४१ उत्तराध्ययनसूत्र २०/१८-३४, ६०

४२ सद्ध नगर किद्या, तव-सवर-मग्गल।
खन्ति निउण-पागार, तिगुत्त दुप्पधंसयं।।
धणु परक्कम किद्या, जीव च इरिय सया।
धिइ च केयण किद्या, सच्चेण पलिमन्थए।।
तव-नारायजुत्तेण, भित्तुण कम्म-कचुय।
मुणी विगय-सगामो, भवाओ परिमुच्चए।।
जो सहस्स सहस्साण, सगामे दुज्जए जिणे।
एग जिणेज्ज अप्पाण, एस से परमो जओ।।

उत्तराध्ययनसूत्र ९/२०-२२, ३४

४३ (क) अप्पणा मेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण वज्झओ।
अप्पणा-मेव-मप्पाण, जइत्ता सुह मेहए।।
पचिन्दियाणि कोह, माण माय तहेव लोह च।
दुज्जय चेव अप्पाण, सव्व अप्पे जिए जिय।।

उत्तराध्ययन सुत्त ९/३५-३६

(ख) एगे जिए जिया पच, पच जिए जिया दस।
दसहा उ जिणित्ताण, सव्वसत्तू जिणामह।।

उत्तराध्ययन सूत्र २३/३६

४४ जे एग जाणइ से सव्व जाणइ, जे सव्व जाणइ से एग जाणइ।

आयारे १/३//४/२०९ (सुत्तागमे)

४५ (क) अहो योगस्य माहात्म्य प्राज्य साम्राज्यमुद्वहन्।
अवाप केवलज्ञान भरतो भरताधिप ।।

योगशास्त्र १/१०

(ख) योगशास्त्र स्वोपज्ञ भाष्य पृ २८-५८

(ग) जहा स भरहे राया चाउरंतचक्कवट्टी अतकिरिया।

ठाणे (सुत्तागमे) ४/१/२९४

४६ (क) सिज्झइ जाव सव्वदुक्खाणमत करेइ
जहा सा मरुदेवी भगवई।

ठाणे (सुत्तागमे) ४/१/२९४

(ख) पूर्वमप्राप्तधर्मापि परमानन्दनन्दिता।
योगप्रभावत प्राप मरुदेवी पर पदम्।। योग शास्त्र (हेम) १/११

(ग) मरुदेवी हि स्वामिनी आससारं त्रसत्वमात्रमपि नानुभूतवती
किं पुनर्मानुषत्व तथापि योगवलसमृद्धेन शुक्लध्यानाग्निना
सचितानि कर्म्मेन्धनानि भस्मसात्कृतवती।
योगशास्त्र स्वोपज्ञ भाष्य पृ ५८

४७ (क) ब्रह्म स्त्री भ्रूणगोघातपातकान्नरकातिथे।
दृढप्रहारि प्रभृते र्योगो हस्तावलम्बनम्।। योग शास्त्र १/१२

(ख) योगशास्त्र स्वोपज्ञ भाष्य पृ ५९-६३ (गा १-५३)

४८ (क) तत्कालकृतदुष्कर्मकर्मठस्य दुरात्मन।
गोप्त्रे चिलातीपुत्रस्य योगाय स्पृहयेन्न क। योग शास्त्र १/१३

(ख) स एव चिन्तयन्नेव प्राप राजगृह पुरम्।
सशोक सुसुमापुत्र्या विदधे चौर्ध्वदेहिकम्।। ५५।।
वैराग्यादव्रतमादाय श्री वीर स्वामिनोऽन्तिके।
दुस्तपं स तपस्तेपे पूर्णायुश्च दिव ययौ।।५६।।
चैलातेयोऽप्यनुरागात्सुसुमाया मुहुर्मुह।
मुखं पश्यन्नविज्ञातश्रमो याम्या दिश ययौ।।५७।।
सर्वसन्तापहरण छायावृक्षमिवाध्वनि।
साधुमेकं ददर्शासौ कायोत्सर्गजुषं पुर।।५८।।
स ज्ञानान्मुनिरज्ञासीद्बोधिवीजमिहाहितम्।
अवश्यं यास्यति स्फाति पल्वले शालिबीजवत्।।६१।।
कार्यं सम्यग्गुणशमो विवेक संवरोऽपि च।।।६२।।
क्रोधादीनां कषायाणा कुर्यादुपशम सुधी-।

पिपीलिकोपसर्गेऽपि स स्तम्भ इव निश्चल।
सार्द्धाहोरात्रयुग्मेन जगाम त्रिदशालयम्।।
योगशास्त्र स्वोपज्ञ भाष्य गा ५५-५८, ६१-६२, ६५-७१

४९ (क) पंच वण्णा पण्णत्ता, तंजहा - किण्हा नीला लोहिया
हालिद्दा सुक्किला। ठाणे (सुत्तागमे) ५/१/४८५

(ख) वन्ना किण्हनीललोहियहलिद्दसिया। कर्मग्रन्थ १/४०

५०. णमो अरहताणं णमो सिद्धाणं णमो आयरियाणं
णमो उवज्झायाणं णमो लोएसव्व साहूणं।। भगवइ (सुत्तागमे) १/१

५१ लेशयति-श्लेषयतीवात्मनि जननयनानीति लेश्या अतीव चक्षुराक्षेपिका स्निग्ध दीप्त रूपा छाया। उत्तराध्ययन वृहत्वृत्ति पत्र ६५०

उद्धृत श्री पुष्करमुनि अभिनन्दन ग्रन्थ (प खण्ड) ४७१

५२ एसो पच नमस्कार (मुनि नथमल) पृ ७६-७७

५३ श्री पुष्करमुनि अभिनन्दन ग्रन्थ (खण्ड ५) पृ ४६५-४६६

५४ तपसा निर्जरा च। तत्त्वार्थ सूत्र ९/३

५५ आत्मनो ज्ञानादि गुणाना तत्कर्म क्षयादितो लाभ ।

भगवतीसूत्र वृत्ति ८/२,

उद्धृत जैन धर्म में तप (मिश्रीमलजी म) पृ ६८

५६ परिणाम तववसेण इमाइ हुति लद्धीओ।

प्रवचनसारोद्धार, द्वार २७०, गा १४९५

५७ (क) कइविहा ण भते। लद्धी पण्णत्ता? गोयमा। दसविहा लद्धी पण्णत्ता, तजहा- १ णाण लद्धी, २ दसण लद्धी, ३ चरित्त लद्धी, ४ चरित्ता-चरित्त लद्धी, ५ दाण लद्धी, ६ लाभ लद्धी, ७ भोग लद्धी, ८ उवभोग लद्धी, ९ वीरियलद्धी, १० इदिय लद्धी।

णाणलद्धी पच विहा पण्णत्ता, तजहा- अभिणिबोहियणाणलद्धी, जाव केवलणाण लद्धी। अण्णाणलद्धी - तिविहा पण्णत्ता, तजहा-मइ-अण्णाण लद्धी सुयअण्णाणलद्धी विभगणाणलद्धी।

दसण लद्धी तिविहा पण्णत्ता, तजहा-सम्मदंसणलद्धी, मिच्छा-दसणलद्धी, सम्ममिच्छादसणलद्धी।

चरित्त लद्धी पचविहा पण्णत्ता, तजहा-सामाइयचरित्त लद्धी जाव अहक्खायचरित्तलद्धी।

चरित्ताचरित्तलद्धी एगागारा पण्णत्ता एवं जाव उवभोग लद्धी एगागारा पण्णत्ता।

वीरिय लद्धी तिविहा पण्णत्ता, तजहा -बालवीरियलद्धी, पडियवीरियलद्धी बालपडियवीरिय लद्धी।

इदिय लद्धी पचविहा पण्णत्ता, तजहा-सोइदिय लद्धी जाव फासिंदिय लद्धी।

भगवइ (सुत्तागमे) ८/२

(ख) तेणं कालेण तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अतेवासी बहवे निग्गथा भगवतो अप्पेगइया आभिणिभोहियणाणी जाव केवलणाणी अप्पेगइया मणबलिया वयबलिया कायबलिया अप्पेगइया मणेण सावाणुग्गह-समत्था ३ अप्पेगइया खेलोसहिपत्ता एव जल्लोसहि,

विप्पोसहि, आमोसहि, सव्वोसहि, अप्पेगइया कोट्ठबुद्धी एवं बीय बुद्धी पडबुद्धी, अप्पेगइया पयाणुसारी अप्पेगइया संभिन्नसोया अप्पेगइया खीरासवा अप्पेगइया महुआसवा अप्पेगइया सप्पिआसवा अप्पेगइया अक्खीणमहाणसिया एवं उज्जुमइ, अप्पेगइया विउलमइ विउव्वणिड्ढिपत्ता चारणा विज्जाहरा आगासाइवाइणो।

ओववाइसुत्त (सुत्तागमे) पृ ७

(ग) आमोसहि विप्पोसहि खेलोसहि जल्लओसही चेव।
सव्वोसहि संभिन्ने ओहीरिउ विउलमइ लद्धी।।
चारण आसीविस केवलीय गणहारिणो य पुव्वधरा।
अरहंत चक्कवट्टी बलदेवा वासुदेवा य।।
खीरमहुसप्पि आसव कोट्ठय बुद्धी पयाणुसारी य।
तह बीयबुद्धि तेयग आहारक सीय लेसा य।।
वेउव्विदेहलद्धी अक्खीणमहाणसी पुलाया य।
परिणाम तव वसेण एमाइं हुंति लद्धीओ।।

प्रवचन सारोद्धार, द्वार २७०, गा २४९२-२४९५

(घ) आवश्यक निर्युक्ति गा ६९-७७

(ङ) विशेषावश्यक भाष्य गा ७७९-८०८

५८. ध्यान कल्प तरू, अमोलक ऋषिजी म पृ १४५

५९ (क) आवश्यक निर्युक्ति (भद्रबाहु स्वामी) ज्ञानसागर चूर्ण्या समेत सभाष्य निर्युक्ति पृ १३

(ख) षट्खण्डागम (खंड ४) पृ २७-३८ (गा ६-१५)

(ग) सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्रम् भाष्यकार पृ ४५९

(घ) विशेषावश्यक भाष्य गा ७७९, भाष्यवृत्ति पृ ३२३

७९९-८००, भाष्य पृ ३२७

६० (क) भगवती सूत्र २०/९

लूतातन्तुनिवर्तित पुटकतन्तून् रविकरान् वा निश्रां कृत्वा जंघाभ्यामाकाशेन चरतीति जंघाचारण।

भगवती सूत्र वृत्ति (अभयदेवसूरि) २०/९

उद्धृत जैन धर्म में तप (मुनि मिश्रीमलजी म) पृ ७६

(ख) चत्तारि जाइ आसीविसा - विच्छुयजाई .। स्थानांग ४/४

(ग) आवश्यक निर्युक्ति गा ६९-७०
आवश्यक चूर्णि पृ ८९-९१

(घ) आमोसहि वलदेवा वासुदेवा य।

आसी दाढा तग्गयमहाविसासीविसा दुविह भेया।
ते कम्म जाइभेएणणेगहा -चउविहविगप्पा।।

विशेषावश्यक भाष्य गा ७७९-७९१

विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति (हेमचन्द्र) पृ ३२२-३२५

(ड) प्रवचनसारोद्धार द्वार २७० गा १४९२-१४९५ की वृत्ति

(च) सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र भाष्यकार पृ ४५९-४६३

६१ आवश्यक वृत्ति, पृ ६९८, उद्धृत, जैन धर्म में तप (मिश्री म)
पृ ८१

६२ पमाय कम्ममाहसु। सूत्रकृताग १/८/३

६३ नत्थि तस्स आराहणा। भगवती सूत्र २०/९

६४ (क) योग कल्पतरु श्रेष्ठो योगश्चिन्तामणि पर ।
योगप्रधान कर्मांणा योगसिद्धे स्वय ग्रह ।।

योगविन्दु (हरिभद्रसूरि) गा ३७

(ख) कफ विपुण्मलामर्श - सर्वोषधि महर्द्धय ।
सम्भिन्नस्रोतालब्धिश्च, यौग ताण्डवडम्बरम्।।
चारणाशीविषावधि- मन पर्यायसम्पद ।
योगकल्पद्रुमस्यैता विकसितकुसुमश्रिय । योगशास्त्र १/८-९

(ग) योगाणुभावओ चिय पाय न य सोहणस्स वि य लाभो।
लद्धीण वि सपत्ती इमस्स ज वन्निया समए।।
रयणाई लद्धीओ अणिमाइयाओ तह चित्ताओ।
आमोसहाइयाओ तहा तहा जोगवुड्ढीए ।।
एईय एस जुत्तो सम्म असुहस्स खवगओ नेओ।
इयरस्स बधगो तह सुहणमिय मोक्खगामि त्ति।।

योग शतक (हरिभद्र) गा ८३-८५

सारांश

जैन साधना पद्धति मे ध्यान योग

ससार के सभी प्राणी नाना प्रकार के दु खों से संतप्त बने हुए हैं। वे आधि-व्याधि-उपाधि आदि सभी दु खों से छूटना चाहते हैं। परतु छूट नही पाते। उन्हें दु ख के कारणों एव सुख प्राप्ति के साधनों का ठीक सा परिज्ञान नही है। जिन्हें कुछ परिज्ञान है तो उनकी उस पर श्रद्धा नही है। श्रद्धा के अभाव में ससार-वृद्धि होती है। ससार वृद्धि ही दु ख का मूल कारण है।

ससार में दो प्रकार के तत्त्व हैं - हेय और उपादेय। हेय तत्त्व ससारवृद्धि के कारण हैं और उपादेय तत्त्व ससार विनाशक । ससार वृद्धि के कारण अज्ञानता प्रसार व षड्रिपु हैं। वे हेय हैं। इन्हें दूर करने के लिये उपादेय तत्त्व को ग्रहण करना होगा। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थ में 'मोक्ष' पुरुषार्थ ही उपादेय है। ऋषिमुनियों, तत्त्व-चिंतकों, विचारकों तथा दार्शनिकों ने एक अवाज से मोक्ष तत्त्व को स्वीकार किया है। मोक्ष तत्त्व को प्राप्त करने के लिये भारतीय दर्शन के सभी तत्त्वचिंतकों ने एव ज्ञानियों ने स्वानुभूति के अनुसार भिन्न-भिन्न मोक्ष हेतुओं का प्रतिपादन किया है।

भारतीय सस्कृति में आध्यात्मिक चिंतनधाराओं को मुख्यत तीन भागों में विभाजित किया गया है वैदिक (हिंदू), बौद्ध और जैन। इन तीन धाराओं ने हेय तत्त्व का नाश करने हेतु उपादेय तत्त्व का अपने अपने चिंतन मथन से निकाली हुई मक्खन रूपी विभिन्न साधनाओं का प्रतिपादन किया है।

वैदिक धर्म में चित्त की एकलीनता के लिये नामस्मरण की प्रक्रिया से 'स्थूलध्यान' और 'महाभाव' समाधि, प्रकृति के सूक्ष्म रूप के चिंतनार्थ 'बिन्दुध्यान' एवं 'महालय' अथवा लयसिद्धियोग समाधि, प्राणायाम के माध्यम से समाधि अवस्था का नाम 'महाबोध' समाधि और 'ज्योतिध्यान', यम नियमादि अष्टांग योग के माध्यम से ब्रह्मध्यान आदि की प्रक्रिया का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। मन की एकलीनता ही ध्यानयोग है।

बौद्धधर्म में भी समाधि के अन्तर्गत ही ध्यानयोग का विवेचन किया है। ध्यान के साथ ही समाधि, विमुत्ति, शमथ, भावना, विसुद्धि, विपस्यना, अधिचित्त, योग, कम्मट्ठान, प्रधान, निमित्त, आरम्मण आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। अकुशल कर्मों के दहन के लिये शील, समाधि, प्रज्ञा, चार आर्य सत्य, (१) दु ख (२) दु·ख समुदय (३) दु ख निरोध व (४) दु ख निरोध गामिनी के रूप में अष्टागिक साधना मार्ग का प्रतिपादन किया है।

जैन धर्म में कर्मसिद्धात पर अधिक जोर दिया गया है। उसमें सर्वज्ञ के कथनानुसार बधों को दु ख का कारण बताया गया है। बध चार प्रकार के हैं - (१) प्रकृतिबध, (२) स्थिति बध, (३) रस बध (अनुभाव, अनुभाग) और (४) प्रदेशबध। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के निमित्तों से ज्ञानावरणादि पौद्‌गलिक द्रव्य कर्मों में परिणत होकर अनतानत प्रदेश वाले सूक्ष्म कर्म पुद्‌गलों का आत्मा के साथ क्षीर-नीरवत् एक क्षेत्रावगाढ होकर मिल जाना बध कहलाता है। ससार में चार ही प्रकार का बध होता है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म रज का मिथ्यात्वादि हेतुओं के निमित्तों से जीव के साथ मिल जाने पर कर्म संज्ञा को प्राप्त होते हैं। क्योंकि जैन धर्म में कर्म की व्याख्या स्पष्ट करते हुये कहा गया है, कि मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग से जीव द्वारा जो कुछ किया जाता है, उसे कर्म कहते हैं, दूसरे शब्दों में कहें तो आत्मा की रागद्वेषात्मक क्रिया से आकाश प्रदेशों में विद्यमान अनतानत कर्म के सूक्ष्म पुद्‌गल चुबक की तरह आकर्षित होकर आत्मप्रदेशों से सक्लिष्ट हो जाते हैं। उसे कर्म कहते हैं।

बध के मुख्यत तीन हेतु बतलाये हैं - मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, और मिथ्याचारित्र, जो कि हेय तत्त्व हैं। ये ही दु ख के कारण हैं। मिथ्यादर्शन के कारण ही जीवात्मा अनादिकाल से ससार में चक्कर लगा रहा है। इसमें अनतानत पुद्‌गल परावर्तकाल व्यतीत कर चुका है। क्योंकि लोक अनेक प्रकार की पुद्‌गल वर्गणाओं से भरा हुआ है। उसमें ग्रहणयोग्य और अग्रहणयोग्य ऐसी दो प्रकार की वर्गणाए हैं। अग्रहण योग्य वर्गणाए अपना अस्तित्व रखते हुए भी ग्रहण नही की जाती हैं, किंतु ग्रहण योग्य वर्गणाओं में भी ग्रहण और अग्रहण योग्य वर्गणाए हैं। ग्रहणयोग्य वर्गणाए आठ प्रकार की हैं- (१) औदारिक शरीर वर्गणा, (२) वैक्रिय शरीर वर्गणा, (३) आहारक शरीर वर्गणा, (४) तैजस शरीर वर्गणा, (५) भाषा वर्गणा, (६) श्वासोच्छ्‌वास वर्गणा, (७) मनोवर्गणा और (८) कार्मणवर्गणा।

ये वर्गणाए क्रम से उत्तरोत्तर सूक्ष्म होती हैं और उनकी अवगाहना भी उत्तरोत्तर न्यून अगुल के असख्यातवें भाग प्रमाण होती हैं।

अनंत उत्सर्पिणी और अनंत अवसर्पिणी काल का एक पुद्‌गल परावर्त होता है। ऐसे जीवात्मा ने अनतानत पुद्‌गल परावर्तकाल 'निगोद' अवस्था में व्यतीत किये हैं। उसने द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय में भी अनतानत पुद्‌गल परावर्त काल व्यतीत किये हैं। पंचेन्द्रिय में नारक, तिर्यंच, मनुष्य व देव रूप में जन्ममरण करके किया है। किंतु सम्यग्दर्शन के अभाव में वह ससार में भटकता ही रहा है। मोहनीय कर्म सब कर्मो मे राजा के समान है। मिथ्याज्ञान उसके मत्री का कार्य करता है और अहकार- ममकार, उसके अनुज (पुत्र) ही हैं। इन दोनों के कारण ही 'मोह' की सेना का चक्रव्यूह जीतना दुर्भेद्य बना हुआ है। इसके कारण ही अहकार-ममकार से रागद्वेषादि, रागद्वेषादि से क्रोधादि, सोलह

नो कषाय और हास्यादि नौ कषाय की उत्पत्ति होती है। इन्ही के कारण कर्म बध होते रहते हैं और जीव अचरमावर्त पुद्गल परावर्त ससार चक्र में सतत चक्कर लगा रहा है। परभाव (विभाव दशा) की प्रवृत्ति में से जब तक जीव का बाहर निकलना नही होता तब तक जीव का मोक्ष नही है। सविपाक निर्जरा तो जीव चारों ही गति में सतत करता रहता है। जब तक वह अविपाक निर्जरा का अधिकारी नही बनता, तब तक ससार में भटकता ही रहता है। जीव और अजीव तत्त्व का मिलन ही ससार है और इन दोनों का अलग होना ही मोक्ष है। प्रत्येक क्रिया के साथ ही उसके समान् अथवा उससे विपरीत प्रतिक्रिया होती रहती है। प्रवृत्ति- निवृत्ति की भाति ही राग-द्वेष, हर्ष-शोक, बुभुक्षा-मुमुक्षा आदि द्वद्वों की अविरल धारायें जीवन में उदयमान होती ही रहती हैं। द्वन्द्वों के चक्र के कारण ही ससार का रथ नियत चल रहा है। व्यावहारिक दृष्टि से यही ससार का विचित्र रूप है। यह विचित्रता विविध कर्म बध के कारण है। कर्मबध के हेतुओं का विनाश तभी सभव है जब कि मोक्ष के हेतुओं को अपनाया जाये।

साधना के दो अग हैं - आध्यात्मिक व भौतिक। भौतिक साधना के अनेक पहलू हैं, जिसके द्वारा साधक अपने साध्य को सिद्ध करता है। परतु उससे वह शाश्वत सुख को प्राप्त नही कर सकता। भौतिक साधना का फल ही अशाश्वत सुख की उपलब्धि है। आत्मलक्षी साधक इन साधनों से दूर रहता है। वह तो आध्यात्मिक साधना द्वारा शाश्वत सुख को प्राप्त करता है। शाश्वत सुख की प्राप्ति के लिये सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय ही हैं। इन्ही के द्वारा वह अपने आपको जान सकता है।

साधना का मूल जानना है। आगमवाणी का भी यही कथन है कि 'जाणइ-पासइ' पहले जानो और बाद में देखो। आत्मा के निज स्वरूप को जानने के लिये कषायों की मदता आवश्यक है। बीजरूप अपुनर्बंधक अवस्था में साधक बाह्य साधनों के द्वारा सम्यक्त्व प्राप्ति के सन्मुख बढने की तैयारी में रहता है। खेत में बीज बोने पर जमीन, हवा, प्रकाश, जल आदि का सहयोग मिलने पर बीज फल (फसल) के रूप में सामने आता है। इस स्थिति में जीव मार्गाभिमुख, मार्गपतित, मार्गानुसारी के पैंतीस गुणों की 'पूर्व सेवा' संज्ञा को प्राप्त करके उनके सहयोग से मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोटाकोटी सागरोपम की स्थिति का पुन बध नहीं करता है। जो दो बार मोहनीय कर्म की स्थिति का बध करता है, उसे आगमवाणी में 'द्विबधक' कहते हैं और जो एक बार ही बाधता है, उसे 'सकृत्बधक' कहते हैं। परतु जो मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बाधता ही नहीं है वह 'अपुनर्बंधक' कहलाता है।

ससार में जीव की अवस्था दो प्रकार की है - भव्य और अभव्य। जो मोक्ष को प्राप्त करते हैं या पाने की योग्यता रखते हैं अथवा सम्यग्दर्शनादि भाव प्रगट होने की जिनमें योग्यता हो वह भव्य है। जो अनादि काल तक तथाविध पारिणामिक भाव के कारण

किसी भी समय मोक्ष पाने की योग्यता ही नही रखते हैं, वे अभव्य कहलाते हैं। यथा-प्रवृत्तिकरण की अवस्था दोनों प्रकार के जीवों की होती है। इनमें भव्य जीवों को वाह्य और आभ्यन्तर योग्य साधन सामग्री के मिलने पर सम्यक्त्व की प्राप्ति होती ही है। कषाय की मदतम स्थिति को प्राप्त करने पर जीव में अपूर्वकरण की अवस्था प्राप्त होती है। इसमें ग्रथिभेदन किया जाता है। 'अपूर्वकरण' में पाच प्रकार के कार्य अपूर्व ही होते हैं, जैसे कि स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि, गुणसक्रमण और अपूर्व स्थितिवध। स्थितिघात आदि पदार्थों का अपूर्व विधान होने से इसे अपूर्वकरण कहते हैं। यह अपूर्वकरण की अवस्था जीव को दो बार प्राप्त होती है, पहले सम्यक्त्व प्राप्ति के समय और दूसरी श्रेणी आरोहण के समय। दुर्भेद्य रागद्वेष की ग्रथि तोड़ देने के बाद जीव अनिवृत्तिकरण की अवस्था प्राप्त करता है। इसमें भी स्थितिघातादि पाच कार्य होते हैं। अनिवृत्तिकरण के बाद जीव 'अतकरण' द्वारा निश्चित ही सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। सम्यक्त्व प्राप्ति के आभ्यतर तीन कारण हैं- औपशमिक सम्यक्त्व, क्षयोपशमिक सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व।

सम्यक्त्व का सामान्य लक्षण पदार्थों में यथार्थ श्रद्धा होता है। तीन मूढताए, आठ मद, आठ मल एव छह अनायतन, इन पच्चीस दोषों से रहित तत्त्वार्थ श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है। वह उत्पत्ति, पात्र, श्रेणि, रुचि और विशुद्धि आदि इन सबकी अपेक्षा से अनेक प्रकार का है। उनमें सराग सराग सम्यग्दर्शन, शम, सवेग, निर्वेद, अनुकपा और आस्तिक्य गुणों से शोभित होता है और वीतराग सम्यग्दर्शन आत्मा की विशुद्धिमात्र से प्राप्त होता है।सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बाद ही जीव में ध्यान की योग्यता प्राप्त होती है।

ज्ञान आत्मा का निज गुण है जो स्व पर प्रकाशक है। सम्यग्दर्शन के अभाव में ज्ञान अज्ञान रूप होता है, जो ससार परिवर्धक होता है। तत्त्वार्थ श्रद्धान से प्राप्त होने वाला ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के बाद ही जीव ध्यान की साधना कर सकता है। केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद जीव ध्यान के बल से सम्पूर्ण कर्मों को क्षय करके सिद्धत्व को प्राप्त करता है।

पाच प्रकार के पापों का (हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह) त्याग सम्यक् चारित्र है। चारित्र का मूल समता है। समता की आराधना ही चारित्र की साधना है। चारित्र के दो भेद माने जाते हैं - सकल चारित्र (सर्वविरति चारित्र - श्रमण धर्म) और विकल चारित्र (देश विरति - श्रावक धर्म) और भी चारित्र (सयम) के पाच प्रकार हैं - सामायिक चारित्र, छेदोपस्थापनीय चारित्र, परिहार विशुद्ध चारित्र, सूक्ष्म सपराय चारित्र और यथाख्यात चारित्र। इनमें देश विरति चारित्र के आराधक श्रावक कहलाते हैं। व्यवहार और निश्चय सम्यक्त्व का धारक श्रावक श्रद्धावान, विवेकवान व क्रियावान होता है। उसके दो भेद होते हैं - सामान्य और विशेष।

सर्वविरति चारित्र श्रमण धर्म है। इसमें साधना आंशिक रूप से न होकर पूर्ण रूप से होती है।

अपुनर्बंधक, सम्यग्दृष्टि, देश-विरति, सर्वविरति ये चार प्रकार के साधक ही ध्यान की योग्यता प्राप्त कर सकते हैं।

चारित्र के विभिन्न आयामों में (उत्सर्ग-अपवाद मार्ग, श्रमण समाचारी, षडावश्यक) ध्यान ताने बाने की तरह गुथा हुआ है। ध्यान के बिना आध्यात्मिक साधना हो नही सकती। सभी साधनाओं में ध्यान तो है ही । इसीलिये ध्यान-योग को द्वादशांगी का सार कहा है। सभी तीर्थों में ध्यानयोग ही श्रेष्ठ है।

ध्यान का स्वरूप : ध्यान शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है। व्यावहारिक रूप में ध्यान का सामान्य अर्थ सोचना, विचारणा, ध्यान रखना, दशा, समझ, स्मृति, बुद्धि, याद, स्मरण आना, ध्यान आना आदि है और विशेषार्थ मानसिक प्रत्यक्ष, प्रशस्त ध्यान, विशिष्ट प्रकार की एकाग्रता है।

मन की दो अवस्थाए हैं - ध्यान और चित्त। समस्त विकल्पों से रहित मन-वचन-काय की विशिष्ट प्रवृत्ति से आत्मस्वरूप में अग्नि की स्थिर ज्वाला की तरह एक ही विषय में मन का स्थिर होना ध्यान है। यही प्रशस्त ध्यान है। इसके लिये आगम में ध्यानयोग, समाधियोग, भावनायोग और संवरयोग शब्द का प्रयोग किया गया है। 'स्व' स्वरूप का बोध ध्यानयोग के बिना हो नही सकता है। 'स्व' को जानने के लिये ध्यान की प्रक्रिया ही श्रेष्ठ है। क्योंकि किसी वस्तु में उत्तम संहनन वाले को अन्तर्मुहूर्त के लिये चित्तवृत्ति का रोकना यानी मानसज्ञान में लीन होने को ध्यान कहा जाता है। मानसिक ज्ञान का किसी एक द्रव्य या पर्याय में स्थिर होना-चिंता का निरोध करना ही ध्यान है। एकाग्र चितानिरोध ध्यान ही संवर निर्जरा का कारण होता है। एक ही वस्तु का आलंबन लेकर मन को एकाग्र करना ध्यानयोग है। ध्यान योग के दो सोपान हैं। छद्मस्थ का ध्यान और जिन का ध्यान। मन की स्थिरता छद्मस्थ का ध्यान है और काया की स्थिरता जिन का ध्यान है। जो स्थिर मन है वह ध्यान है और जो चचल मन है वह चित्त है। चचल चित्त की तीन अवस्थाए हैं - भावना, अनुप्रेक्षा और चिंता। भावना का अर्थ ध्यान के लिये अभ्यास की क्रिया है, जिससे मन भावित हो। अनुप्रेक्षा का अर्थ पीछे की ओर दृष्टि करना, तत्त्वों के अर्थ (अध्ययन) का पुन पुन चिंतन करना है। चिंता का अर्थ मन की अस्थिर अवस्था है। इन तीन अवस्थाओं से भिन्न चित्त की स्थिर अवस्था ही ध्यान है।

आगम में ध्यान के भेद प्रभेदों का वर्णन किया गया है और निर्युक्ति में उन्हीं ध्यान को दो भागों में विभाजित किया है - शुभ ध्यान और अशुभ ध्यान।

ससारी जीव अनत हैं। अत किसी एक व्यक्ति के आधार से उन सबकी बधादि सबधी योग्यता का दिग्दर्शन नही कराया जा सकता और न यह सभव भी है। इसके अतिरिक्त एक व्यक्ति को कर्मबधादि सबधी योग्यता भी सदा एक समान नही रहती है। इसीलिये आध्यात्मज्ञानियों ने ससारी जीवों के उनकी आभ्यतर, शुद्धिजन्य उत्क्राति, अशुद्धिजन्य अपक्राति के आधार पर अनेक वर्ग किये हैं। इस वर्गीकरण को शास्त्रीय परिभाषा में 'गुणस्थान क्रम' कहते हैं। आत्मा के विकास की क्रमिक अवस्थाओं को गुणस्थान कहते हैं।

इन गुणस्थानों का क्रम ससारी जीवों की आतरिक शुद्धि के तरतम भाव के मनोविश्लेषणात्मक परीक्षण द्वारा सिद्ध करके निर्धारित किया गया है। गुणस्थानों की सख्या चौदह है।

मोहनीय कर्म के उपशम अथवा क्षय करने में उद्यत बने हुए श्रेष्ठ मुनि दर्शन सप्तक की सात प्रकृतियों को छोड़कर शेष इक्कीस मोहनीय कर्म की प्रकृति का उपशम अथवा क्षय करने के लिये श्रेष्ठ ध्यान की प्रक्रिया प्रारभ करते हैं। इसमें सपूर्ण रूप से धर्मध्यान के चारों ही भेदों की प्रधानता होती है। रूपातीत ध्यान के कारण अश मात्रा में शुक्लध्यान का प्रथम भेद 'पृथक्त्व-वितर्क-सविचार' की प्रधानता होती है। इसमें उत्तम ध्यान की प्रक्रिया प्रारभ होने के कारण स्वाभाविक आत्मशुद्धि होने लगती है।

मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय होने पर जीव बारहवें गुणस्थान की अवस्था प्राप्त करते ही द्वितीय 'एकत्व-वितर्क-अविचार' शुक्लध्यान को ध्याता है। मोहनीय कर्म का क्षय क्षपक श्रेणी से ही किया जाता है। इसमें साधक घातिकर्मों का क्षय करके केवलज्ञान को प्राप्त करता है। बाद में आउज्जीकरण 'केवलीसमुद्घात' तथा 'योग निरोध' की प्रक्रिया करके शुक्लध्यान का तीसरा भेद 'सूक्ष्मक्रियानिवर्ती' नामक शुक्लध्यान करते हैं या होता है।

जब सयोगीकेवली मन, वचन, और काया के योगों का निरोध कर योगरहित होकर शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं, तब वे अयोगीकेवली कहलाते हैं और उनके स्वरूप विशेष को अयोगीकेवली गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान में मोक्ष प्राप्त करने की प्रक्रिया प्रारभ होती है। इसमें चौथे शुक्लध्यान 'समुच्छिन्न क्रिया' नामक ध्यान को ध्याते हैं। यह ध्यान ही मोक्ष का प्रवेश द्वार है।

साधक ध्यान के द्वारा सवरनिर्जरा करके समस्त कर्मों का क्षय करता है। समस्त कर्मों को क्षय करने वाला सिद्धत्व को प्राप्त करता है। सिद्ध परमात्मा की अवस्था ध्यान से ही प्राप्त होती है।

सभी दर्शनों में चित्तवृत्तिनिरोध को ध्यान कहा है, जब कि जैन दर्शन में योगनिरोध को ध्यान कहा है। योग का निरोध होने पर जीव मोक्षावस्था को प्राप्त कर सकता है।

ध्यान के बल से जीव को ज्ञान जन्य, चारित्रजन्य तथा तपोजन्य अनेक प्रकार की लब्धियाँ प्राप्त होती हैं। सभी दर्शनों में लब्धियों का प्रयोग करने के लिये इन्कार किया गया है। ध्यान से शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त होती है। ध्यान ही एक ऐसा रसायन है, जो समस्त कर्मों को जलाकर सिद्धत्व को प्राप्त करा सकता है। इसलिये आत्मलक्ष्यी साधक के लिये 'अरिहत और सिद्ध' का ही ध्यान करना चाहिए। ध्येय के अनुसार साधन अपनाये जाते हैं। हमारा ध्येय मोक्ष को प्राप्त करना है। उसके लिये अरिहत और सिद्ध ध्यान ही श्रेयस्कर है। और यही स्वय को जानने की कुजी है।

प्रस्तुत शोध प्रबंध में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी ध्यानयोग का विचार किया गया है। ध्यानसाधना में मन का केन्द्रीकरण अत्यावश्यक माना जाता है। मन को केन्द्रित करने के लिये मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया में ध्यान की स्थिति तक पहुँचने में तीन मानसिक स्तरों से गुजरने का दिग्दर्शन किया है। मानसिक स्तर निम्नलिखित हैं - चेतनमन, चेतनोन्मुख मन और अचेतन मन।

मनोविज्ञान की दृष्टि से जिस वस्तु पर चेतना का प्रकाश सबसे अधिक केंद्रित होता है वही ध्यान का विषय है। ध्यानावस्था में मन को ही क्रमश स्थिर किया जाता है। उसके लिये मन की तीन दशाएँ वर्णित की गई है- १. अवधान, २ सकेंद्रीकरण और ३ ध्यान। ध्यान में विचारों का स्वरूप अधिक तीव्र और केंद्रित होता है। इसीलिये मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी ध्यान, मन की एक विशिष्ट कृत-केन्द्रित क्रिया है।

ध्यान के विषय में सभी विचारकों एव तत्त्वचिंतकों का एक ही मतव्य है कि मन की चचलता को स्थिर करना। यह स्थिर अवस्था ही ध्यान है। ध्यान में मन की प्रक्रिया विशिष्ट है।

ध्यान की प्रक्रिया से शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है। इसके लिये शुद्ध आचरण की आवश्यकता है। जितना आचरण पवित्र व शुद्ध होगा, उतनी ध्यानावस्था सुलभ होगी। यही मेरा निश्चय मत है।

वर्तमानकालीन परिस्थितियों में ध्यान प्रक्रिया को जीवन में उतारना अत्यावश्यक है। क्योंकि ध्यान एक ऐसी मौलिक प्रक्रिया है, जो चैतन्य की अनत क्षमताओं का उद्घाटन करती है और जीवन की विकीर्ण शक्तियों को केंद्रित करती है।

ध्यान एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा आत्मा में छिपी परमात्मा की आभा मुखरित होती है। ध्यान ही एक चावी है, जिससे अन्त करण का ताला खुलता है। साधना के मार्ग में ध्यान वैसा ही है, जैसा आकाश में सूर्य। ध्यान ही साधुता की जड़ है।

सीसं जहा सरीरस्स, जहा मूल दुमस्स य।
सव्वस्स साधुधम्मस्स, तहा झाण विधीयते।।

ध्यान का सबंध भीतर से है। बाहर से नही। ध्यान भीतर भीतर ले जानेवाला है। भीतर इतना जाता है कि कुण्डलिनी जग जाती है, षट्चक्र भेदन हो जाते हैं, सहस्रकमल रस से भीग जाता है, अन्दर में आनन्द का सागर हिलोरें लेने लगता है, एक ब्रह्मनाद होता है और व्यक्ति सर्वज्ञ हो जाता है। उसे केवलज्ञान का प्रकाश मिल जाता है, जिससे जन्म मरण का चक्र कट जाता है और मोक्ष पा लेता है।

मुख पद्म अन्तस्थः एवं उष्मा व्यञ्जन ध्यान

T. Vallabh
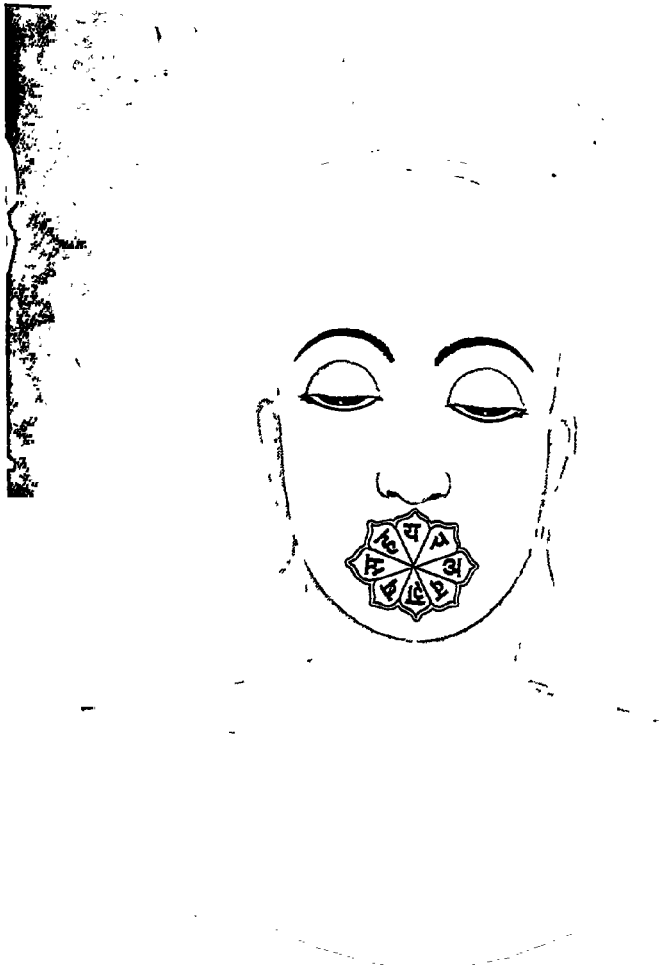
पारिभाषिक शब्दावली

अंत:करण - गुण दोष के विचार एवं स्मरणादि व्यापारों में जो बाह्य इंद्रियों की अपेक्षा नहीं रखता है, जो चक्षु आदि इंद्रियों के समान बाह्य में दृष्टिगोचर भी नही होता, ऐसे अभ्यतर करण (मन) को अत करण कहते हैं।

अंतकृत् - जो अष्ट कर्मों को नष्ट कर, सिद्ध पद प्राप्त करते हैं, वे अंतकृत् कहलाते हैं।

अतकृत् दशांग - प्रत्येक तीर्थंकर के तीर्थ में होने वाले १०-१० अतकृत् केवलियों का वर्णन जिसमें किया गया है, वह अतकृतदशांग है।

अग - तीर्थंकर द्वारा उपदिष्ट और गणधर द्वारा ग्रथित सूत्र (श्रुत)

अगप्रविष्ट - भगवान के द्वारा कथित अर्थ की गणधरों के द्वारा जो आचारादि रूप से अंगरचना की जाती है। अथवा जिन शास्त्रों की रचना तीर्थंकरों के उपदेशानुसार गणधर स्वय करते हैं।

अंगबाह्य - गणधरों के शिष्य-प्रशिष्यादि उत्तरवर्ती आचार्यों के द्वारा अल्पबुद्धि शिष्यों के अनुग्रहार्थ की गई संक्षिप्त अंगार्थ रचना। अथवा -गणधरों के अतिरिक्त अगों का आधार लेकर स्थविरों द्वारा प्रणीत शास्त्र।

अंगोपाग नामकर्म - जिस कर्म के उदय से जीव के अंग और उपाग आदि रूप में गृहित पुद्गलों का परिणमन होता है।

अतरग क्रिया - स्वसमय और परसमय के जानने रूप ज्ञान क्रिया को अतरग क्रिया कहते हैं।

अतरात्मा - जो आठ मदों से रहित होकर देह और जीव के भेद को जानते हैं, वे अंतरात्मा हैं। अथवा-सकर्म अवस्था में भी ज्ञानादि उपयोग स्वरूप शुद्ध चैतन्यमय आत्मा में, जिन्हें आत्मबुद्धि प्रादुर्भूत हुइ है, वे अतरात्मा कहलाते हैं। चतुर्थ गुणस्थान से लेकर १२ वें गुणस्थान तक के गुण इनमें होते हैं।

अत शल्य - जिसके अत करण में अपराध रूपी काँटा चुभ रहा है, किंतु लज्जा व अभिमान आदि के कारण जो दोष की आलोचना नही करता है, वह साधु अत.शल्य है।

अकर्म भूमि - जहाँ असि, मसि, कृषि आदि न हो, किन्तु कल्पवृक्षों से निर्वाह होता हो, उन्हें 'अकर्म भूमि' कहते हैं। अकर्मभूमि तीस हैं। उनमें से एक हैमवत, एक हैरण्यवत, एक हरिवर्ष, एक रम्यकवर्ष, एक देवकुरू और उत्तरकुरू - ये छह जम्बूद्वीप में हैं और इससे द्विगुण-बारह धातकी खण्ड द्वीप में और बारह अर्द्धपुष्कर द्वीप में हैं।

अक्रियावादी - जो अवस्थान के अभाव का प्रसग प्राप्त होने की सभावना के अवस्थान से रहित किसी भी अनवस्थित पदार्थ की क्रिया को स्वीकार नही कर सकते, वे अक्रियावादी हैं।

अकेवली - छद्मस्थ- केवलज्ञान प्राप्ति के पूर्व की अवस्था।

अकरणोपशमना - जैसे पर्वत पर प्रवाहित होने वाली सरिता के पाषाण में बिना किसी प्रकार के प्रयोग के स्वयमेव गोलाई आदि उत्पन्न हो जाती है, वैसे ससारी जीवों की अध प्रवृत्तिकरण प्रभृति परिणाम स्वरूप क्रिया विशेष के बिना ही केवल वेदना के अनुभव आदि से कर्मों से जो उपशमन- उदय परिणाम के बिना अवस्थान होता है वह अकरणोपशमना है।

अकाल मृत्यु - असमय में, बद्ध आयुस्थिति पूर्ण होने के पूर्व ही, जीवन का नाश होता है।

अकषाय - जिस जीव के सपूर्ण कषायों का अभाव हो चुका है, वह अकषाय अथवा अकषायी है।

अगति - गति नाम कर्म का अभाव हो जाने से सिद्ध गति अगति कही जाती है।

आगारी - आगार का अर्थ घर है। आरभ और परिग्रह रूप घर से जो सहित है, वह गृहस्थ अथवा आगारी है।

अगीतार्थ - जिसमें छेद सूत्र का अध्ययन नही किया है, या अध्ययन करके भी जिसे विस्मृत हो गया है, ऐसा श्रमण अगीतार्थ है।

अगुरुलघु - गुरु या लघुता के न होने का नाम। न बड़प्पन और न छोटापन।

अगुरुलघु गुण - जीवादिक द्रव्यों की स्वरुप प्रतिष्ठा का कारण जो अगुरुलघु नामक स्वभाव है और उसके प्रति जो समय है।

अघाति कर्म - आत्मा के अनुजीवी गुणों का या वास्तविक स्वरूप (ज्ञान दर्शन चरित्रादि) का घात करने वाले कर्म को अघाति कर्म कहते हैं। वे चार हैं - (१) वेदनीय (२) आयुष्य (३) नाम और (४) गोत्र अथवा जीव के प्रतिजीवी गुणों के घात करने वाले कर्म। उनके कारण आत्मा को शरीर की कैद में रहना पड़ता है।

अघातिनी प्रकृति - जो प्रकृति आत्मिक गुणों का घात नही करती है।

अचक्षुदर्शन - चक्षुरिन्द्रिय के सिवाय शेष चार इन्द्रियों और मन से होने वाला सामान्य प्रतिभास या अवलोकन।

अचक्षु दर्शनावरण - अचक्षु दर्शन को आवरण करने वाला कर्म।

अचौर्य महाव्रत - ग्राम, नगर या अरण्य आदि किसी भी स्थान पर किसी के रखे, भूले या गिरे हुए द्रव्य के ग्रहण की भी इच्छा नही करना।

अजघन्य बंध - एक समय अधिक जघन्य बध से लेकर उत्कृष्ट बंध से पूर्व तक के सभी बध।

अजीव - जिस में "चेतना" न हो, अर्थात् जड़ हो, उसे अजीव कहते हैं।

अजीव क्रिया - अचेतन पुद्गलों के कर्म रूप में परिणत होने को अजीव क्रिया कहते हैं।

अट्ठम तप - तीन दिन का उपवास, तेला।

अणु - पुद्गल का ऐसा अविभागी अश, जिसका आदि, मध्य, अन्त एक -दूसरे से भिन्न नही है, और जो अतीन्द्रिय है।

अणु - जो प्रदेश मात्र में होने वाले स्पर्शादि पर्यायों को उत्पन्न करने में समर्थ है, ऐसे पुद्गल के अविभागी अश को अणु कहा जाता है।

अणुव्रत - हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य और परिग्रह का यथाशक्ति एकदेशीय त्याग। यह शील गृहस्थ श्रावकों का है।

अतिक्रम - मानसिक शुद्धि के अभाव को अतिक्रम कहते हैं, अथवा दिग्व्रत में जो दिशाओं का प्रमाण स्वीकार किया गया है, उसका उल्लघन करना, यह दिग्व्रत का अतिक्रम है।

अतिचार - व्रतभग के लिए सामग्री एकत्रित करना या एक देश से व्रत का खडन करना।

अतीन्द्रिय सुख - इद्रिय और मन की अपेक्षा न रखकर आत्म मात्र की अपेक्षा से जो निर्बाध सुख प्राप्त होता है, वह अतीन्द्रिय सुख है।

अतिशय - सामान्यतया मनुष्य में होने वाली असाधारण विशेषताओं से भी अत्यधिक विशिष्टता।

अर्थावग्रह - विषय और इद्रियों का संयोग पुष्ट हो जाने पर "यह कुछ है" ऐसा जो विषय का सामान्य बोध होता है उसे अर्थावग्रह कहते हैं। अथवा - पदार्थ के अव्यक्त ज्ञान को अर्थावग्रह कहते हैं।

अधःप्रवृत्तिकरण - अध प्रवृत्तिकरण परिणाम वे हैं, जो अधस्तन समयवर्ती परिणाम उपरितन समयवर्ती परिणामों के साथ कदाचित समानता रखते हैं उसका दूसरा नाम यथाप्रवृत्तकरण भी है। ये परिणाम अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में पाये जाते हैं।

अधःप्रवृत्तिकरण विशुद्धि - प्रथम समय के योग्य अध प्रवृत्त परिणामों की अपेक्षा द्वितीय समय के योग्य परिणाम अनत गुणे विशुद्ध होते हैं। इनकी अपेक्षा तृतीय समय के योग्य परिणाम अनत गुणे विशुद्ध होते हैं। इस तरह अतर्मुहूर्त के समयों के प्रमाण है। उन परिणामों में समयोत्तर क्रम से अनंत गुणी विशुद्धि समझनी चाहिए।

अधर्मद्रव्य - जो स्वय ठहरते हुए जीव और पुद्गल द्रव्यों के ठहरने में सहायक होता है।

अधर्मास्तिकाय - जो स्वय ठहरते हुए जीव और पुद्गल द्रव्यों के ठहरने में सहायक होता है।

अधिगम - जिसके द्वारा पदार्थ जाने जाते है, ऐसे ज्ञान को अधिगम कहते हैं।

अधिगम सम्यग्दर्शन - परोपदेश से, जीवादि तत्त्वों के निश्चय से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, वह अधिगम सम्यग्दर्शन है।

अद्धाकाल - चद्र, सूर्य आदि की क्रिया से परिलक्षित होकर जो समयादि रूप काल अढ़ाई द्वीप में प्रवर्तमान है, वह अद्धाकाल है।

अद्धापल्योपम - उद्धारपल्य के रोमखडों में से प्रत्येक रोमखड के कल्पना के द्वारा उतने खड करें जितने सौ वर्ष के समय होते हैं और उनको पल्य में भरने को अद्धापल्य कहते हैं। अद्धापल्य में से प्रति समय रोमखडों को निकालते-निकालते जितने काल में वह पल्य खाली हो, उसे अद्धापल्योपम कहते हैं।

अध्यवसाय - स्थितिबध के कारणभूत कषायजन्य आत्मपरिणाम।

अद्धासमय - काल के अविभागी अश को अद्धासमय कहते हैं।

अद्धासागर - दस कोटाकोटी अद्धापल्योपमों का एक अद्धासागर होता है।

अध्ययन - जो शुभ अध्यात्म (चित्त) को उत्पन्न करता है, वह अध्ययन हैं। अथवा जो निर्मल चित्त वृत्ति को लाता है, उसका नाम अध्ययन है, अथवा जिसके द्वारा बोध, सयम और मोक्ष की प्राप्ति होती है, वह अध्ययन है।

अध्रुवसत्ता प्रकृति - मिथ्यात्व आदि दशा में जिस प्रकृति का सत्ता का नियम न हो यानी किसी समय सत्ता में हो और किसी समय सत्ता में न हो।

अन्त· कोडाकोडी - कुछ कम एक कोडाकोडी।

अनत - आय रहित और निरतर व्यय-सहित होने पर भी जो राशि कभी समाप्त न हो अथवा जो राशि एक मात्र केवलज्ञान का ही विषय हो, वह अनत कहलाती है।

अनतकाय - जिन अनंत जीवों का एक साधारण शरीर हो और जो अपने मूल शरीर से छिन्न-भिन्न होकर पुन उग जाते हैं।

अनंतवीर्य - वीर्यांतराय कर्म का सर्वथा क्षय हो जाने पर जो अप्रतिहत सामर्थ्य उत्पन्न होता है, वह अनतवीर्य है।

अनन्तानुबधी - जो जीव के सम्यक्त्व गुणों का घात करके अनन्त काल तक ससार में परिभ्रमण करावे, उस कषाय को अनन्तानुबधी कहते हैं।

अनगार - अपवाद रहित ग्रहण की हुई व्रतचर्या। गृह रहित साधु।

अनर्थदंड विरति - जिन कार्यों के करने से अपना कुछ भी प्रयोजन सिद्ध न हो, केवल पाप का ही सचय हो, ऐसे पापोपदेश को छोड़ना या त्याग करना अनर्थदड विरति कहलाता है।

अनपवर्तनीय आयु - जो आयु किसी भी कारण से कम न हो। जितने काल तक के लिए बाधी गई है, उतने काल तक भोगी जाए, वह आयु अनपवर्तनीय या अनपवर्त्त्य आयु कहलाती है।

अनभिग्रहिक मिथ्यात्व - सत्यासत्य की परीक्षा किए बिना ही सब पक्षों को बराबर समझना।

अनशन - यावज्जीवन या परिमित काल के लिये तीन या चार प्रकार के आहार का त्याग करना।

अनाचार - विषयों में आसक्ति रखने को अनाचार कहते हैं।

अनादि अनन्त - जिस बध या उदय की परम्परा का प्रवाह अनादि काल से निराबाध गति से चला आ रहा है, मध्य में न कभी विच्छिन्न हुआ है और न आगे कभी होगा, ऐसे बंध या उदय को अनादि अनंत कहते हैं।

अनादि-सान्त - जिस बध या उदय की परम्परा का प्रवाह अनादिकाल से बिना व्यवधान के चला आ रहा है लेकिन आगे व्युच्छिन्न हो जाएगा वह अनादि-सान्त है।

अनाभोग-मिथ्यात्व - अज्ञानजन्य अतत्त्वरुचि।

अनाहारक - ओज, रोम और कवल इनमें से किसी भी प्रकार के आहार को न करने वाले जीव अनाहारक होते हैं।

अनिवृत्तिकरण गुणस्थान - जिस गुणस्थान में विवक्षित एक समय के अंदर वर्तमान सर्वजीवों के परिणाम परस्पर भिन्न न होकर समान हो, वह अनिवृत्तिकरण गुणस्थान है।

अनिर्हारिम - जो साधु अरण्य में ही पादोपगमनपूर्वक देह त्याग करते हैं, उनका शव संस्कार के लिये कही बाहर नही ले जाया जाता, अत वह देह त्याग अनिर्हारिम कहलाता है।

अनुकपा - तृषित, बुभुक्षित प्राणी को देखकर उसके दु ख से स्वय दु खी होना और मन में उसके उद्धार का चिंतन करना, अनुकपा है।

अनुप्रेक्षा - शरीर आदि के स्वभाव का चिंतन करना अथवा पठित अर्थ का मन से अभ्यास करना अनुप्रेक्षा स्वाध्याय है।

अनुभाग - कषायजनित परिणामों के अनुसार कर्मों में जो शुभाशुभ रस प्रादुर्भूत होता है, वह अनुभाग है।

अनुभाग बध - जैसे मोदक में स्निग्ध, मधुर आदि रस एक गुणे दुगुणे आदि रूप से रहता है, उसी प्रकार कर्म में भी जो देशघाती व सर्वघाती, शुभ या अशुभ, तीव्र या मदादि रस होता है, वह अनुभाग बध है। अथवा - कर्मरूप गृहीत पुद्‌गल परमाणुओं की फल देने की शक्ति व उसकी तीव्रता मदता का निश्चय करना अनुभाग बध कहलाता है।

अनुमान - साध्य के साथ अविनाभाव सबध रखने वाले साधन से साध्य का ज्ञान अनुमान है।

अनुयोग - अर्थ के साधु सूत्र की जो अनुकूल योजना की जाती है, उसका नाम अनुयोग है, अथवा सूत्र का अपने अभिधेय में जो योग होता है, वह अनुयोग है।

अनुत्कृष्ट बध - एक समय में कम उत्कृष्ट स्थिति बध से लेकर जघन्य स्थिति बध तक के सभी बध।

अनुश्रेणी - लोक के मध्यभाग से लेकर ऊपर, नीचे और तिरछे रूप में जो आकाश प्रदेशों की पक्ति अनुक्रम से अवस्थित है, वह अनुश्रेणी है।

अनुसारी - गुरु के उपदेश से किसी भी ग्रथ आदि, मध्य या अत के एक बीज पद को सुनकर उसके उपरिवर्ती समस्त ग्रथ को जान लेना, अनुसारी कहलाता है

अनेकात - एक वस्तु में मुख्यता और गौणता की अपेक्षा अस्तित्व-नास्तित्व आदि परस्पर विरोधी धर्मों का प्रतिपादन।

अन्नपान निरोध - मानव व पशु आदि प्राणियों को भोजन के समय पर उन्हें भोजन-पान न देना अन्न-पान निरोध नामक अतिचार है।

अन्यत्व भावना - जीव के शरीर से पृथक् होने पर उस शरीर से सबद्ध पुत्र-मित्र-कलत्रादि उससे सर्वथा भिन्न रहने वाले हैं, जीव का उनके साथ किसी भी प्रकार का सबध नही है, इस प्रकार की भावना अन्यत्व भावना है।

अन्यथानुपपत्ति - साध्य के अभाव में हेतु घटित न होने को अन्यथानुपपत्ति कहा है।

अन्तरकरण - एकआवली या अन्तरमुहूर्त प्रमाण नीचे और ऊपर की स्थिति को छोड़कर मध्य में से अन्तर्मुहूर्त प्रमाण दलिकों को उठाकर उनको बधने वाली अन्य सजातीय प्रकृतियों में प्रक्षेप करने का नाम अन्तरकरण है। इस अन्तरकरण के लिए जो क्रिया की जाती है और उसमें जो काल लगता है उसे भी उपचार से अन्तरकरण कहते हैं।

अन्तर्मुहूर्त - मुहूर्त से एक समय कम और आवली से एक समय अधिक अर्थात् सबसे छोटा या सूक्ष्म काल 'समय' है। ऐसे असख्य समय का ए[illegible] काल होता है। हृष्टपुष्ट तन्दुरुस्त और निश्चित पुख्त वय के मनवाले हृदय की एक धडकन में जो समय लगता है उसे प्राण कहते हैं।

९ स्तोक (४९ प्राण) = १ लव। और ७७ लव (७७३ प्राण) = १ मुहूर्त अथवा दो घड़ी (४८ मिनिट) इससे कम काल को अन्तर्मुहूर्त कहते हैं। उसे भिन्न मुहूर्त भी कहते हैं।

अन्तरात्मा - आठ मद रहित होकर देह और जीव के पार्थक्य को जानने वाला।

अन्तराय - ज्ञानाभ्यास के साधनों में विघ्न डालना विद्यार्थियों के लिये प्राप्त होने वाले अभ्यास के साधनों की प्राप्ति न होने देना आदि अन्तराय कहलाता है।

अन्तराय कर्म - जो कर्म आत्मा की दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य रूप शक्तिओं का घात करता है या दानादि में अन्तरायरूप हो, उसे अन्तराय कर्म कहते हैं।

अन्यलिंग सिद्ध - परिव्राजक आदि अन्य लिंगों से सिद्ध होने वाले जीवों को अन्यलिंग सिद्ध कहा जाता है।

अपकर्षण - कर्म प्रदेशों की स्थितियों को हीन करने का नाम अपकर्षण है।

अपृकायिक जीव -जल ही जिनका शरीर हो, वह अपृकायिक जीव कहलाते हैं।

अप्रतिपाति अवधि ज्ञान - जो अवधिज्ञान केवलज्ञान की प्राप्ति तक स्थित रहता है और अलोक के एक प्रदेश को भी देखता है, वह अप्रतिपाती अवधिज्ञान है।

अपध्यान - राग, द्वेष के वशीभूत होकर दूसरों के वध, बधन, छेदन एवं पापकारी विचार करना अपध्यान है।

अपर्याप्ति - अपर्याप्ति नाम कर्म के उदय से युक्त जो जीव है, वह अपर्याप्त है और पर्याप्तियों की अपूर्णता या उनकी अर्धपूर्णता का नाम अपर्याप्ति है।

अपर्याप्तक - जिस जीव की पर्याप्तियाँ पूरी न हुई हों अर्थात् जिस जीव ने स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूरा न बाध लिया हो और जो स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूरी होने से पहले ही मरने वाला हो, वह अपर्याप्तक कहलाता है। अपर्याप्तक अवस्था में मरने वाले जीव तीन पर्याप्तियाँ पूर्ण करके चौथी (श्वासोच्छ्वास) पर्याप्ति अधूरी रहने पर ही मरते हैं, पहले नही। क्योंकि आगामी भव की आयु बाध कर ही जीव मृत्यु प्राप्त करते हैं और आयु का बन्ध उन्ही जीवों के होता है, जिन्होंने आहार, शरीर और इन्द्रिय ये तीन पर्याप्तियाँ पूर्ण कर ली हों।

अपवर्ग - जहाँ जन्म, जरा और मरणादि दोषों का अत्यत विनाश हो जाता है, वह मोक्ष।

अपवर्तन - कर्मों की स्थिति एव अनुभाग फलनिमित्तक शक्ति में हानि।

अपवर्त्तना - वद्ध कर्मों की स्थिति तथा अनुभाग में अध्यवसाय क्षेत्र से कमी कर देना।

अपवर्तनाकरण - जिस वीर्य विशेष से पहले बधे हुए कर्म की स्थिति तथा रस घट जाते हैं, वह अपवर्तनाकरण है।

अनुभाग वध - जैसे मोदक में स्निग्ध, मधुर आदि रस एक गुणे दुगुणे आदि रूप से रहता है, उसी प्रकार कर्म में भी जो देशघाती व सर्वघाती, शुभ या अशुभ, तीव्र या मदादि रस होता है, वह अनुभाग वध है। अथवा - कर्मरूप गृहीत पुद्गल परमाणुओं की फल देने की शक्ति व उसकी तीव्रता मदता का निश्चय करना अनुभाग वध कहलाता है।

अनुमान - साध्य के साथ अविनाभाव सवध रखने वाले साधन से साध्य का ज्ञान अनुमान है।

अनुयोग - अर्थ के साधु सूत्र की जो अनुकूल योजना की जाती है, उसका नाम अनुयोग है, अथवा सूत्र का अपने अभिधेय में जो योग होता है, वह अनुयोग है।

अनुत्कृष्ट वध - एक समय में कम उत्कृष्ट स्थिति बध से लेकर जघन्य स्थिति वध तक के सभी वध।

अनुश्रेणी - लोक के मध्यभाग से लेकर ऊपर, नीचे और तिरछे रूप में जो आकाश प्रदेशों की पक्ति अनुक्रम से अवस्थित है, वह अनुश्रेणी है।

अनुसारी - गुरु के उपदेश से किसी भी ग्रथ आदि, मध्य या अत के एक बीज पद को सुनकर उसके उपरिवर्ती समस्त ग्रथ को जान लेना, अनुसारी कहलाता है

अनेकात - एक वस्तु में मुख्यता और गौणता की अपेक्षा अस्तित्व-नास्तित्व आदि परस्पर विरोधी धर्मों का प्रतिपादन।

अन्नपान निरोध - मानव व पशु आदि प्राणियों को भोजन के समय पर उन्हें भोजन-पान न देना अन्न-पान निरोध नामक अतिचार है।

अन्यत्व भावना - जीव के शरीर से पृथक् होने पर उस शरीर से सबद्ध पुत्र-मित्र-कलत्रादि उससे सर्वथा भिन्न रहने वाले हैं, जीव का उनके साथ किसी भी प्रकार का सबध नही है, इस प्रकार की भावना अन्यत्व भावना है।

अन्यथानुपपत्ति - साध्य के अभाव में हेतु घटित न होने को अन्यथानुपपत्ति कहा है।

अन्तरकरण - एकआवली या अन्तरमुहूर्त प्रमाण नीचे और ऊपर की स्थिति को छोड़कर मध्य में से अन्तर्मुहूर्त प्रमाण दलिकों को उठाकर उनको बधने वाली अन्य सजातीय प्रकृतियों में प्रक्षेप करने का नाम अन्तरकरण है। इस अन्तरकरण के लिए जो क्रिया की जाती है और उसमें जो काल लगता है उसे भी उपचार से अन्तरकरण कहते हैं।

अन्तर्मुहूर्त - मुहूर्त से एक समय कम और आवली से एक समय अधिक अर्थात् सबसे छोटा या सूक्ष्म काल 'समय' है। ऐसे असंख्य समय का एक श्वासोच्छ्वास काल होता है। हृष्टपुष्ट तन्दुरुस्त और निश्चित पुख्त वय के मनवाले उमर लायक मनुष्य के हृदय की एक धडकन में जो समय लगता है उसे प्राण कहते हैं। ऐसे ७ प्राण = १ स्तोक

९ स्तोक (४९ प्राण) = १ लव। और ७७ लव (७७३ प्राण) = १ मुहूर्त अथवा दो घड़ी (४८ मिनिट) इससे कम काल को अन्तर्मुहूर्त कहते हैं। उसे भिन्न मुहूर्त भी कहते हैं।

अन्तरात्मा - आठ मद रहित होकर देह और जीव के पार्थक्य को जानने वाला।

अन्तराय - ज्ञानाभ्यास के साधनों में विघ्न डालना विद्यार्थियों के लिये प्राप्त होने वाले अभ्यास के साधनों की प्राप्ति न होने देना आदि अन्तराय कहलाता है।

अन्तराय कर्म - जो कर्म आत्मा की दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य रूप शक्तिओं का घात करता है या दानादि में अन्तरायरूप हो, उसे अन्तराय कर्म कहते हैं।

अन्यलिंग सिद्ध - परिव्राजक आदि अन्य लिंगों से सिद्ध होने वाले जीवों को अन्यलिंग सिद्ध कहा जाता है।

अपकर्षण - कर्म प्रदेशों की स्थितियों को हीन करने का नाम अपकर्षण है।

अप्कायिक जीव -जल ही जिनका शरीर हो, वह अप्कायिक जीव कहलाते हैं।

अप्रतिपाति अवधि ज्ञान - जो अवधिज्ञान केवलज्ञान की प्राप्ति तक स्थित रहता है और अलोक के एक प्रदेश को भी देखता है, वह अप्रतिपाती अवधिज्ञान है।

अपध्यान - राग, द्वेष के वशीभूत होकर दूसरों के वध, बधन, छेदन एवं पापकारी विचार करना अपध्यान है।

अपर्याप्ति - अपर्याप्ति नाम कर्म के उदय से युक्त जो जीव है, वह अपर्याप्त है और पर्याप्तियों की अपूर्णता या उनकी अर्धपूर्णता का नाम अपर्याप्ति है।

अपर्याप्तक - जिस जीव की पर्याप्तियाँ पूरी न हुई हों अर्थात् जिस जीव ने स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूरा न बाध लिया हो और जो स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूरी होने से पहले ही मरने वाला हो, वह अपर्याप्तक कहलाता है। अपर्याप्तक अवस्था में मरने वाले जीव तीन पर्याप्तियाँ पूर्ण करके चौथी (श्वासोच्छ्वास) पर्याप्ति अधूरी रहने पर ही मरते हैं, पहले नही। क्योंकि आगामी भव की आयु बाध कर ही जीव मृत्यु प्राप्त करते हैं और आयु का बन्ध उन्ही जीवों के होता है, जिन्होंने आहार, शरीर और इन्द्रिय ये तीन पर्याप्तियाँ पूर्ण कर ली हों।

अपवर्ग - जहाँ जन्म, जरा और मरणादि दोषों का अत्यत विनाश हो जाता है, वह मोक्ष।

अपवर्तन - कर्मों की स्थिति एव अनुभाग फलनिमित्तक शक्ति में हानि।

अपवर्तना - बद्ध कर्मों की स्थिति तथा अनुभाग में अध्यवसाय क्षेत्र से कमी कर देना।

अपवर्तनाकरण - जिस वीर्य विशेष से पहले बधे हुए कर्म की स्थिति तथा रस घट जाते हैं, वह अपवर्तनाकरण है।

अपवर्तनीय आयु - बाह्य निमित्त से जो आयु कम हो जाती है, उसको अपवर्तनीय आयु या अपवर्त्य आयु कहते हैं। तात्पर्य यह है कि, जल में डूबने, शस्त्रघात, विषपानादि बाह्य कारणों से १००-५० आदि वर्षो के लिए बाधी गई आयु को अतर्मुहूर्त में भोग लेना आयु का अपवर्त्तन है। इस आयु को जनसाधारण अकालमृत्यु भी कहते हैं।

अपरविदेह - मेरु पर्वत से पश्चिम की ओर जो विदेह क्षेत्र का आधा भाग अवस्थित है, वह अपरविदेह है।

अपरावर्तमाना प्रकृति - किसी दूसरी प्रकृति के बध, उदय अथवा दोनों के बिना जिस प्रकृति के बध, उदय अथवा दोनों होते हैं।

अपरिग्रह - मोह के उदय से "यह मेरा है" इस प्रकार की ममत्व बुद्धि परिग्रह है, और परिग्रह से निवर्त होना अपरिग्रह है।

अपरिग्रह महाव्रत - धनधान्यादि सर्व प्रकार का यावज्जीवन मन-वचन-काया से त्याग करना।

अपूर्वकरण - वह परिणाम, जिसके द्वारा जीव राग-द्वेष की दुर्भेद्य ग्रथी को तोड़कर लाघ जाता है।

अपूर्व स्थिति बन्ध - पहले की अपेक्षा अत्यन्त अल्प स्थिति के कर्मों का बाधना अपूर्व स्थिति बध कहलाता है।

अप्रत्याख्यान - जिन कर्म के उदय से अल्प प्रत्याख्यान भी न हो सके।

अप्रत्याख्यानावरण कषाय - जो कषाय आत्मा के देशविरति गुण-चरित्र

(श्रावकपन) का घात करे, अर्थात् जिसके उदय से देशविरति आशिक त्यागरूप अल्प प्रत्याख्यान न हो सके, उस कषाय को अप्रत्याख्यानावरण कहते हैं। इस कषाय के प्रभाव से श्रावक धर्म की प्राप्ति नही होती।

अप्राप्यकारी - पदार्थों के साथ बिना सयोग किए ही पदार्थ का ज्ञान करना।

अप्रमत्तसंयत - सर्व प्रकार के प्रमादों से रहित और व्रत, गुण, शील से युक्त, सद्ध्यान में लीन, ऐसे श्रमण अप्रमत्तसयत हैं।

अप्रशस्त विहायोगति - जिस कर्म के उदय से ऊँट, गर्दभ, शृगाल आदि के सदृश निंद्य विचार पैदा हो, वह अप्रशस्त विहायोगति है।

अबंधकाल - पर-भव सम्बन्धी आयुकर्म के बधनकाल से पहले की अवस्था।

अबंध प्रकृति - विवक्षित गुणस्थान में वह कर्म प्रकृति न बधे किन्तु आगे के स्थान में उस कर्म का बध हो, उसे अबध प्रकृति कहते हैं।

अबाधाकाल - बधन के पश्चात् भी कर्म जितने समय तक बाधा नही पहुँचाता उदय में नहीं आता है - उतना समय अबाधाकाल कहलाता है।

अभव्य - वे जीव जो अनादि तथाविध पारिणामिक भाव के कारण किसी भी समय मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता ही नही रखते।

अभयदान - मरण आदि के भय से ग्रस्त जीवों की रक्षा करना।

अभिगम - श्रमण के स्थान में प्रविष्ट होते ही श्रावक द्वारा आचरण करने योग्य पाँच विषय इस प्रकार हैं - (१) सचित्त द्रव्यों का त्याग (२) अचित्त द्रव्यों की मर्यादा करना। (३) उत्तरासग करना।(४) साधु दृष्टिगोचर होते ही करबद्ध होना। (५) मन को एकाग्र करना।

अभिग्रहिक मिथ्यात्व - तत्त्व की परीक्षा किए बिना ही किसी एक सिद्धात का पक्ष लेकर अन्य पक्ष का खडन करना।

अभिग्रहीत मिथ्यात्व - कारणवश, एकान्तिक कदाग्रह से होने वाले पदार्थ के अयथार्थ श्रद्धान को अभिगृहीत मिथ्यात्व कहते हैं।

अभिनिवेशिक मिथ्यात्व - अपने पक्ष को असत्य जानकर भी स्थापना करने के लिए दुर्निवेशक (दुराग्रह) करना।

अभीक्ष्ण - सतत, निरन्तर, सम्यग्ज्ञान में नित्य लीन, सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति में सतत निमग्न।

अमनस्क - द्रव्य-भाव स्वरूप मन से रहित जीवों को अमनस्क कहते हैं।

अमूर्त - जीव-जिन विषयों को इन्द्रियों से ग्रहण कर सकता है, वे मूर्त होते हैं, उनसे भिन्न शेष सभी अमूर्त हैं।

अयोगीकेवली - जो शुक्ल ध्यान रूप अग्नि या घातिया कर्मों को नष्ट करके योग से रहित हो जाते हैं, वे अयोगी केवली या अयोगकेवली कहलाते हैं।

अवग्रह - पदार्थ और उसे विषय करने वाली इद्रियों का योग्य देश में संयोग होने के अनंतर उसका जो सामान्य प्रतिभास रुप दर्शन होता है, उसके अनतर वस्तु का जो प्रथम बोध होता है, वह अवग्रह है।

अवधिज्ञान - मन और इन्द्रिय की अपेक्षा न रखते हुए केवल आत्मा के द्वारा रूपी अर्थात् मूर्त-द्रव्य का जो ज्ञान होता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं।

अवसर्पिणीकाल - कालचक्र का वह विभाग जिसमें प्राणियों के संहनन और संस्थान क्रमश हीन होते हैं, आयु और अवगाहना घटती जाती है तथा उत्थान, कर्म बल, वीर्य, पुरुषाकार तथा पराक्रम का ह्रास होता जाता है। इस समय में पुद्गलों के वर्ण, गध, रस और स्पर्श भी हीन होते जाते हैं। शुभ भाव घटते हैं ओर अशुभ भाव बढ़ते हैं। इसके छ विभाग हैं - (१) सुषम-सुषम (२) सुषम (३) सुषम-दु षम (४) दु षम-सुषम

(५) दु षम और (६) दु पम-दु पम। अवसर्पिणीकाल १० कोडाकोडी सागरोपम का होता है।

अवाय - ईहा के द्वारा ग्रहण किए गए पदार्थ के विपय में कुछ अधिक जो निश्चयात्मक ज्ञान होता है, उसे अवाय कहते हैं। जैसे यह रस्सी ही है, सर्प नही। इसका समय अन्तर्मुहूर्त है।

अविग्रह गति - विग्रह का अर्थ रुकावट या वक्रता है। जिससे जीव की गति वक्र या मोड़ रहित होती है, वह अविग्रह गति है। एक समय वाली गति अविग्रह गति है।

अविपाक निर्जरा- जिस कर्म का उदय सप्रति प्राप्त नही हुआ है, उसे तपश्चरण आदि रूप औपक्रमिक क्रिया विशेष के सामर्थ्य से बलपूर्वक उदयावलि में प्रवेश कराके आम्र आदि फलों के पाक के सदृश वेदन करना अविपाक निर्जरा है।अथवा -उदयावलि के बाहर स्थित कर्म को तप आदि क्रियाविशेष के सामर्थ्य से उदयावली में प्रविष्ट कराके अनुभव किया जाना।

अविभाग प्रतिच्छेद - वीर्य शक्ति के अविभागी अश या भाग। वीर्य परमाणु, भाव परमाणु इसके दूसरे नाम हैं।

अविरति - हिंसादि पापों से निवृत्त होने का नाम विरति है और इस प्रकार की विरति का अभाव अविरति है। अथवा दोषों से विरत न होना। यह आत्मा का वह परिणाम है जो चारित्र ग्रहण करने में विघ्न डालता है।

अविचार - व्यजन, अर्थ, योग, से रहित ध्यान (व्यजन=प्रदेश परिणति से प्राप्त अवस्था, अर्थ = प्रदेशत्व को छोड़ अन्य समस्त गुणों की परिणति, योग = मन, वचन, काय)

अव्यवहार राशि - जो जीव अनतकाल से निगोद में ही पड़े हों, जिन्होंने कभी निगोद को नही छोड़ा हो, उन्हें अव्यवहार राशि कहते हैं।

अव्याबाध - जो अनुपम, अपरिमित, अविनश्वर, कर्ममल से रहित, जन्म, जरा, रोग, भय आदि की बाधा से रहित सुख है, वह अव्याबाधा सुख है।

अरिहत - राग द्वेष रूप शत्रुओं को पराजित करने वाले सशरीर परमात्मा व विशिष्ट महिमा - सपन्न पुरूष।

अरूपी - जो शब्द, रूप, रस, गध और स्पर्श रहित हैं, वे अरूपी हैं।

अलोक - लोक के बाहर जितना भी अनत प्रकाश है, वह सब अलोकाकाश अथवा अलोक कहलाता है।

अल्पतर बध - अधिक कर्म प्रकृतियों का बध करके कम प्रकृतियों के बध करने को अल्पतर बध कहते हैं।

अल्पबहुत्व - पदार्थों का परस्पर न्यूनाधिक-अल्पाधिक भाव।

अश्वकर्णकरण काल - घोड़े के कान को अश्वकर्ण कहते हैं। यह मूल में वड़ा और ऊपर की ओर क्रम से घटता हुआ होता है। इसी प्रकार जिस करण में क्रोध से लेकर लोभ तक चारों सज्वलनों का अनुभाग उत्तरोत्तर अनत-गुणहीन हो जाता है, उस करण को अश्वकर्ण कहते हैं। इसके आदोलकरण और उद्वर्तनापवर्तनकरण ये दो नाम और देखने को मिलते हैं।

अश्रुत निश्रित - बिना शास्त्राभ्यास के स्वाभाविक विशिष्ट क्षयोपशम के वश, जो औत्पातिकी, वैनयिकी आदि चार बुद्धि से विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न होता है, वह अश्रुतनिश्रित अभिनिबोधिक मतिज्ञान है।

असंख्य प्रदेशी - वस्तु के अविभाज्य अश को प्रदेश कहते हैं। जिस में ऐसे प्रदेशों की सख्या असख्य हो, वह असख्य प्रदेशी कहलाता है। प्रत्येक जीव असख्य प्रदेशी होता है।

असख्याताणु वर्गणा - असख्यात प्रदेशी स्कन्धों की वर्गणा।

असयम - षट्काय के जीवों का घात करने एव इन्द्रिय और मन को नियन्त्रित न रखने का नाम असयम है।

असंज्ञी - जो जीव मन के न होने से शिक्षा, उपदेश और आलाप आदि ग्रहण न कर सके। अथवा जिन्हें मनोलब्धि प्राप्त नही है अथवा जिन जीवों के बुद्धिपूर्वक इष्ट-अनिष्ट में प्रवृत्ति निवृत्ति नही होती है, वे असज्ञी हैं।

असत् - उत्पाद, व्यय व ध्रौव्य स्वरूप से विपरीत सत्-असत् है।

असाता वेदनीय - जिस कर्म के उदय से आत्मा को अनुकूल विषयों की अप्राप्ति और प्रतिकूल इन्द्रिय विषयों की प्राप्ति में दु ख का अनुभव होता है, उसे असातावेदनीय कर्म कहते हैं।

अस्ति काय - 'अस्ति' शब्द का अर्थ है - 'प्रदेश' और 'काय' शब्द का अर्थ है 'राशि' - प्रदेशों की राशी।प्रदेशों की राशी वाले द्रव्यों को 'अस्तिकाय' कहते हैं। अस्तिकाय पाँच हैं। यथा - धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुदुगलास्तिकाय। यह लोक पाँच अस्तिकाय रूप हैं। धर्मास्तिकाय 'गति' में सहायक है। अधर्मास्तिकाय 'स्थिति' में सहायक है। आकाशास्तिकाय 'अवकाश' या 'स्थान' में और जीवास्तिकाय 'उपयोग' में सहायक है। पुद्गलास्तिकाय सडन-गभन-पूरण-विध्वसन में सहायक है।

प्रत्येक 'अस्तिकाय' के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण की अपेक्षा पाँच-पाँच भेद हैं।

असुर - जिनका स्वभाव अहिंसा आदि के अनुष्ठान में अनुराग रखनेवाले सुरों से विपरीत होता है, वे असुर हैं।

अहिंसा अणुव्रत - मन, वचन और काय से तथा कृत, कारित और अनुमोदना से त्रस जीवों की सकल्पिक हिंसा का परित्याग करना।

अहोरात्र - तीस मुहूर्त प्रमाण काल।

अज्ञान - मिथ्यात्व के उदय के साथ विद्यमान ज्ञान ही अज्ञान है।

अज्ञान मिथ्यात्व - जीवादि पदार्थों को "यही है" "इसी प्रकार है" इस तरह विशेष रूप से न समझना।

अज्ञान व्यवहार - देशातर-स्थिर गुरु को अपने दोषों की आलोचना कर लेने के लिए किसी अगीतार्थ के द्वारा आगम भाषा में पत्र लिखकर भेजने एव गुरु के द्वारा उसे भी उसी प्रकार गूढ़ पदों में ही निश्चित अर्थ के भेजने को अज्ञान व्यवहार कहा जाता है।

अक्षर - ज्ञान का नाम अक्षर है और ज्ञान जीव का स्वभाव होने के कारण श्रुतज्ञान स्वय अक्षर कहलाता है।

अक्षीण महानरा - तपस्या-विशेष से प्राप्त होने वाली एक दिव्य शक्ति। लाभातराय कर्म के उत्कृष्ट क्षयोपशमन युक्त जिस ऋद्धि के प्रभाव से ऋद्धिधारी प्राप्त अन्न को जब तक स्वय न खा ले, तब तक उस अन्न से शतश व सहस्रश व्यक्तियों को भी तृप्त किया जा सकता है।

अकाम निर्जरा - अनिच्छापूर्वक दु ख के सहने से जो कर्म निर्जरा होती है, वह अकाम निर्जरा है।

आकाश - जो धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और सभी जीवों को स्थान देता है, वह आकाश है।

आगम - पूर्वपरविरोधादि दोषों से रहित, शुद्ध, आप्त के वचन को आगम कहते हैं।

आऊज्जीकरण - केवली-समुद्घात के पहले किए जाने वाला शुभ-व्यापार-योग अथवा मन वचन काय की शुभ क्रिया, एक अन्तर्मुहूर्त तक कर्म पुद्गल को उदयावलिका में डालने रूप उदीरणा विशेष।

आगाल - द्वितीय स्थिति के दलिकों को अपकर्षण द्वारा प्रथम स्थिति के दलिकों में पहुँचाना।

आचार - जिस में श्रमणों के आचार, भिक्षा-विधि, विनयफल, शिक्षा, भाषा, अभाषा, चरण, सयमयात्रा आदि का कथन किया गया है, उसका नाम आचार है।

आर्जव धर्म - माया का परित्याग कर निर्मल अत करण से प्रवृत्ति करना आर्जव धर्म है।

आतप - सूर्य आदि के निमित्त से जो उष्ण प्रकाश होता है वह आतप है।

आतापना - ग्रीष्म, शीत आदि से शरीर को तापित करना।

आत्म-तत्त्व - मन की विक्षेप रहित अवस्था का नाम आत्मतत्त्व है।

आत्म-प्रवाद - आत्मा के अस्तित्व, नास्तित्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्म एव षट्जीवनिकायों के प्रतिपादित करने वाले पूर्व का नाम आत्म प्रवाद है।

आत्मांगुल - भरत, ऐरावत क्षेत्रों में समुत्पन्न विभिन्न काल वर्ती मानवों के अगुल को उस समय के अगुल प्रमाण को आत्मागुल कहा जाता है। यह प्रत्येक व्यक्ति का अपना अगुल होता है।

आनुपूर्वी - जिस कर्म के उदय से जीव विग्रहगति में अपने उत्पत्ति स्थान पर पहुँचता है, उसे आनुपूर्वी कहते हैं।

आयंबिल - जिसमें विगय-घृत, दही, दूध, तेल, और मिष्टान त्यागकर केवल दिन में एक बार अन्न खाया जाए और गरम पानी पिया जाए वह आयबिल है।

आर्य - जो गुणों से युक्त हो, अथवा गुणीजन जिन की सेवा शुश्रुषा करते हैं, वे आर्य।

आयु कर्म - जिस कर्म के अस्तित्व से जीव जीता है और क्षय होने से मरता है, उसे आयु-कर्म कहते हैं।

आवली - असख्यात समय की एक आवली होती है।

आवश्यक - जो अवश्य ही करने योग्य है, वह आवश्यक है।

आवीचि मरण - 'वीचि' नाम तरंग का है। तरग के समान जो निरंतर आयुकर्म के निषकों का प्रतिक्षण क्रम से उदय होता है, उसके अनुभव को आवीचि मरण कहते हैं।

आराधक - जो पाँच इद्रियों को अपने अधीन रखता है, मन, वचन, काय की प्रवृत्ति में पूर्ण सावधान है, तप, नियम व सयम में जो सतत सलग्न है, वह आराधक कहलाता हैं।

आरभ - जीवों को कष्ट पहुँचाने वाली जो प्रवृत्ति है, वह आरभ है।

आरभिकी क्रिया - पृथ्वीकाय आदि जीवों के संहार रूप आरभ ही जिस क्रिया का रूप हो, वह आरभिकी क्रिया है।

आलबन - सपूर्ण लोक ध्यान के आलबनों से भरा है। ध्याता श्रमण जिस किसी भी वस्तु को आधार बनाकर मन से चिंतन करता है, वही वस्तु उसके ध्यान का आलबन बन जाती है।

आलोचना - गुरु के सम्मुख दस दोषों से रहित अपने प्रमाद जनित दोषों का निवेदन करना।

आशातना - ज्ञानियों की निंदा करना, उनके बारे में झूठी बातें कहना, मर्मच्छेदी बातें लोक में फैलाना, उन्हें मार्मिक पीडा हो ऐसा कपट-जाल फैलाना आशातना है।

आसन्न भव्य - निकट काल में ही मोक्ष को प्राप्त करने वाला जीव।

आसेवना कुशील - सयम के विपरीत आराधना या असयम का सेवन करने वाले श्रमण को आसेवना कुशील कहते हैं।

आस्रव - शुभाशुभ कर्मों के आगमन द्वार को आस्रव कहते हैं। शुभाशुभ परिणामों को उत्पन्न करने वाली प्रवृत्तियों को द्रव्यास्रव और कर्मों के आने के द्वार रूप जीव के शुभाशुभ परिणामों को भावास्रव कहते हैं।

आहार - शरीर नाम कर्म के उदय से देह, वचन और द्रव्यमन बनने योग्य नो कर्म वर्गणा का जो ग्रहण होता है, उसे आहार कहते हैं। दूसरे शब्दों में ३ शरीर और ६ पर्याप्तियों की जीव की शक्ति विशेष की परिपूर्णता।

आहारक - ओज, रोम और कवल इनमें से किसी भी प्रकार के आहार को ग्रहण करने वाले जीव को आहारक कहते हैं।अथवा समय-समय जो आहार करे उसे आहारक कहते हैं।

आहारक-शरीर - चतुदर्श पूर्वधर मुनि विशिष्ट कार्य हेतु, जैसे किसी भी वस्तु में सदेह समुत्पन्न हो जाए या तीर्थंकर के ऋद्धि दर्शन की इच्छा हो जाए तब आहारक वर्गणा द्वारा जो स्व-हस्त प्रमाण पुतला (शरीर) बनाते हैं वह आहारक शरीर है।

इभ्य - जिसके पास सचित सुवर्ण-रत्नादि राशि है।

इत्वर-अनशन - परिमित समय तक के लिए जो त्याग किया जाता है, वह इत्वर अनशन है। भ ऋषभदेव के समय में उत्कृष्ट १२ महिने से अधिक (सवत्सर) अनशन तप था। भ अजीत से लेकर भ पार्श्व तक उत्कृष्ट ८ मास का अनशन था। भ महावीर के समय ६ मास का अनशन था।

ईर्यापथ क्रिया - ईर्या का अर्थ योग है। एकमात्र उस योग के द्वारा जो कर्म आता है, वह ईर्यापथ-कर्म है। ईर्यापथ-कर्म की कारणभूत क्रिया ईर्यापथ है।

ईर्यासमिति - ज्ञान, दर्शन एव चरित्र की अभिवृद्धि के निमित्त युग परिमाण भूमि को दिन में सम्यक् प्रकार से निहारते हुए विवेकपूर्वक चलना तथा स्वाध्याय व इद्रियों के विषयों का वर्जन करते हुए चलना।

ईहा - अवग्रह के द्वारा ग्रहण किए गए सामान्य विषय को, विशेष रूप से निश्चय करने के लिए जो विचारणा होती है, उसे ईहा कहा जाता है। इसका काल अन्तर्मुहूर्त है। जैसे-यह रस्सी है या सर्प है।

इंगिनी अनशन - आगम विहित एक क्रिया विशेष का नाम इगिनी है। उसे स्वीकार करने वाला साधक आयु की हानि को जानकर जीवजतु रहित एकात स्थान में रहता हुआ चारों प्रकार के आहार का परित्याग करता है। वह छाया से उष्ण प्रदेश में व उष्ण से छाया प्रदेश में सक्रमण करता हुआ सावधान रहकर एव ध्यान में रत रहकर प्राणों का परित्याग करता है।

इद्र - अन्य देवों में नही पाई जानेवाली असाधारण महिमादि ऋद्धियों के धारक ऐसे देवाधिपति।

इंद्रिय - परम ऐश्वर्य को प्राप्त करने वाली आत्मा को इद्र के लिंग या चिह्न को इद्रिय कहते हैं। अथवा जो जीव को अर्थ उपलब्धि में निमित्त होती है। अथवा आवरण कर्म का क्षयोपशम होने पर स्वय पदार्थ का ज्ञान करने में असमर्थ-स्वभाव रूप आत्मा को पदार्थ का ज्ञान कराने में निमित्त-भूत कारण, अथवा जिसके द्वारा आत्मा को जाना जाए अथवा अपने-अपने स्पर्शादिक विषयों में दूसरे की (रसना आदि की) अपेक्षा न रखकर इन्द्र के समान जो समर्थ एव स्वतत्र हों उन्हें इन्द्रिय कहते हैं।

इद्रिय सयम - पाँचों इद्रियों के विषयों में आसक्ति का अभाव इद्रिय-सयम है।

उच्च गोत्र - जिस कर्म के उदय से जीव उत्तम कुल में जन्म लेता है, वह उच्च गोत्र कर्म है।

उच्छ्वास निश्वास - सख्यात आवली प्रमाण काल को उच्छ्वास निश्वास कहते हैं।

उत्तर प्रकृति - कर्मों के मुख्य भेदों के अवान्तर भेद ।

उत्तर गुण - मूलगुण की रक्षा के लिए की जानेवाली प्रवृत्तियाँ मूलगुणों से भिन्न पिंड-विशुद्धि, समिति, भावना, तप प्रतिमा, अभिग्रह आदि साधुओं के उत्तरगुण हैं। और श्रावक के लिए दिशाव्रतादि।

उत्कटासन - दोनों घुटनों के मध्य में मस्तक झुकाकर ठहरना उत्कट आसन है।

उदय - उदयकाल आने पर शुभाशुभ फल का भोगना उदय कहलाता है। अर्थात् बाधी गई कर्म की स्थिति के अनुसार अथवा अपवर्तना, उद्वर्तना आदि करणों से कम हुई अथवा बढ़ी हुई स्थिति के अनुसार यथासमय उदयावली में प्राप्त कर्म का वेदन होना उदय कहलाता है अथवा काल प्राप्त कर्म परमाणुओं के अनुभव करने को उदय कहते हैं।

उदयकाल - अबाधाकाल व्यतीत हो चुकने पर जिस कर्म के फल का अनुभव होता है, उस समय को उदयकाल कहते हैं। अथवा कर्म के फलभोग के नियतकाल को उदयकाल कहा जाता है।

उदीरणा - उदयकाल प्राप्त हुए बिना ही आत्मा के सामर्थ्य विशेष से कर्मों को उदय में लाना उदीरणा है। अर्थात आबाधाकाल व्यतीत हो चुकने पर भी जो कर्मदलिक

पीछे से उदय में आने वाले होते हैं, उनको प्रयत्न - विशेष से उदयावली में लाकर उदय प्राप्त दलिकों के साथ भोग लेना उदीरणा कहलाता है। अथवा उदयकाल को प्राप्त नहीं हुए कर्मों का आत्मा के अध्यवसाय विशेष-प्रयत्नविशेष से नियत समय से पूर्व उदय-हेतु उदयावली में प्रविष्ट करना, अवस्थित करना या नियत समय से पूर्व कर्म का उदय में आना अथवा अनुदयकाल को प्राप्त कर्मों को फलोदय की स्थिति में ला देना।

उद्वर्तना - बद्ध कर्मों की स्थिति और अनुभाग में स्थिति विशेष, भावविशेष और अध्यवसाय विशेष के कारण वृद्धि हो जाना।

उद्वलन - यथाप्रवृत्त आदि तीन करणों के बिना ही किसी प्रकृति को अन्य प्रकृति रूप परिणमना।

उद्धार पल्य - व्यवहार पल्य के एक-एक रोमखड के कल्पना के द्वारा असख्यात कोटि वर्ष के समय जितने खड करके उन सब खडों को पल्य में भरना उद्धारपल्य कहलाता है।

उर्ध्वलोक - मध्यलोक के ऊपर जो खड़े किए हुए मृदग के समान लोक है, वह उर्ध्वलोक है।

उपचय - गृहित कर्म पुद्गलों के अबाधाकाल को छोड़कर आगे ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का स्वरूप से सिंचन करना, क्षेपन करना उपचय है।

उपपात - देव और नारकों का जन्म उपपात कहलाता है।

उपपात जन्म - उत्पत्तिस्थान में स्थित वैक्रिय पुद्गलों को पहले पहल शरीररूप में परिपात करना उपपात जन्म कहा जाता है।

उपभोग परिभोग व्रत-अन्न,पान,खाद्य,स्वाद व गध माला आदि (उपभोग) तथा वस्त्र, अलकार, शयन, आसन, गृह, यान और वाहन आदि (परिभोग) बहुत पापजनक वस्तुओं का सर्वथा परित्याग करना तथा अल्प सावद्य वस्तुओं का प्रमाण करना।

उपभोगातराय - उपभोग की सामग्री होते हुए भी जीव जिस कर्म के उदय से उस सामग्री का उपभोग न कर सके, उसे उपभोगातराय कर्म कहते हैं, जो पदार्थ बार-बार भोगे जाए उन्हें उपभोग कहते हैं, जैसे मकान, वस्त्र, आभूषण आदि।

उपयोग - चेतना का व्यापार-विशेष ज्ञान और दर्शन। अथवा-जीव का बोध रूप व्यापार अथवा जीव का जो भाव वस्तु के ग्रहण करने के लिए प्रवृत्त होता है, जिसके द्वारा वस्तु का सामान्य और विशेष स्वरूप जाना जाता है, अथवा आत्मा के चैतन्यानुविधायी परिणाम को उपयोग कहते हैं।

उपवास - अशन, पान, खादिम और स्वादिम वस्तुओं का त्याग करना।

उपशम - आत्मा में कारणवश कर्म का फल देने की शान्ति के प्रकट न होने को

उपशम कहते हैं। अथवा-आत्मा में कर्म की निज शक्ति का कारणवश प्रगट न होना अथवा प्रदेश और विपाक दोनों प्रकार के कर्मोदय का रुक जाना उपशम है।

उपशमन - कर्म की जिस अवस्था में उदय अथवा उदीरणा सभव नही होती है।

उपशम श्रेणी - जिस श्रेणी में मोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियों का उपशम किया जाता है।

उपशांत कषाय - सपूर्ण मोह कर्म का उपशम करने वाले ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती जीव को उपशांत कषाय कहते हैं।

उत्सर्ग मार्ग - बाल, वृद्ध आदि श्रमण के द्वारा भी मूलभूत सयम का विनाश न हो, प्रस्तुत दृष्टि से जो शुद्ध आत्म-तत्त्व को साधन भूत अपने योग्य कठोर सयम का आचरण करता है, वह उत्सर्ग मार्ग है।

उत्सर्पिणी काल - जिस काल में जीवों के सहनन और सस्थान क्रमश अधिकाधिक शुभ होते जाएँ, आयु और अवगाहना बढते जाएँ तथा उत्थाण-कर्म-वल-वीर्य-पुरुषाकार पराक्रम की वृद्धि होती जाए, वह 'उत्सर्पिणी' काल है। इस काल में पुद्गलों के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श भी क्रमश शुभ होते जाते हैं। अशुभतम, अशुभतर और अशुभ भाव क्रमश· शुभ, शुभतर होते हुए शुभतम हो जाते हैं। यह काल १० कोडाकोडी सागरोपम का होता है।

उत्सेधांगुल - आठ यव मध्यों का एक उत्सेधागुल होता है।

उपासकदशा - जिस अग में श्रमणोपासकों के अणुव्रत, गुणव्रत, पौषध, उपवास आदि की विधि, प्रतिमा की चर्चा है।

उपांग - अगों के विषय को स्पष्ट करने वाले श्रुतकेवली या पूर्वधर आचार्यों द्वारा रचे गये आगम। इनकी सख्या १२ है।

१) औपपातिक, २) राजप्रश्नीय, ३) जीवाभिगम, ४) प्रज्ञापना, ५)सूर्यप्रज्ञप्ति, ६) जबूद्वीप प्रज्ञप्ति, ७) चद्रप्रज्ञप्ति ८) निरयावलिका, ९) कल्पावतसिका, १०) पुष्पिका, ११) पुष्पचूलिका और १२) वृष्णिदशा।

उपोद्घात - जिसका प्रयोजन उपक्रम से उद्दिष्ट वस्तु का प्रबोध करना होता है, वह उपोद्घात है।

एकरात्रि प्रतिमा - मुनि द्वारा एक चौविहार अष्टम भक्त में जिनमुद्रा (दोनों पैरों के बीच चार अगुल का अतर रखते हुए सम अवस्था में खडे रहना), प्रलम्ब बाहू, अनिमिष नयन, एक पुद्गल-निरुद्ध दृष्टि और झुके हुए बदन से एक रात तक गाँव आदि के बाहर कायोत्सर्ग करना।

विशिष्ट सहनन, धृति, महासत्त्व से युक्त भवितात्मा गुरु द्वारा अनुज्ञात होकर इस प्रतिमा को अंगीकार कर सकता है।

एकत्व वितर्क विचार - शुक्ल ध्यान का भेद, अर्थ, व्यजन, योग की सक्रान्ति से रहित केवल एक द्रव्य, गुण या पर्याय का चिन्तवन।

एकावली तप - विशेष आकार की कल्पना से किया जानेवाला तप। इसका क्रम यत्र के अनुसार चलता है - एक परिपाटी (क्रम) में १ वर्ष २ महिने और २ दिन का समय लगता है। इसकी ४ परिपाटी होती हैं। कुल ४ वर्ष ८ महिने और ८ दिन का समय लगता है। प्रथम परिपाटी के पारणे में विकृति का वर्जन आवश्यक नही होता है। दूसरी में विकृति-वर्जन, तीसरी में लेप त्याग और चौथी में आयविल आवश्यक होता है।

एकाशन- जिस नियम विशेष में एक आसन में स्थिर होकर जो भोजन किया जाता है वह एकाशन है, अथवा दिन में एक बार आहार ग्रहण करना एकाशन कहलाता है।

एकेद्रिय - वे जीव, जिनके एकेंद्रिय जाति नाम कर्म का उदय होता है, और जिन में एक स्पर्शन इद्रिय (त्वचा) ही पाई जाती है।

एषणा समिति - कृत, कारित एव अनुमोदना दोषों से रहित दूसरों के द्वारा दिए गए प्रासुक व प्रशस्त भोजन को ग्रहण करना एषणा समिति है।

एवभूत नय - जो द्रव्य जिस प्रकार की क्रिया से परिणत हो, उसका उसी प्रकार से निश्चय कराने वाले नय को एवभूत नय कहते हैं।

ओज आहार - जन्म के समय जो सर्वप्रथम आहार ग्रहण किया जाता है, वह ओज आहार है।

औदारिक शरीर - जिस शरीर को तीर्थंकर आदि महापुरुष धारण करते हैं, जिससे मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है, जो औदारिक वर्गणाओं से निष्पन्न मास, हड्डी आदि अवयवों से बना होता है, स्थूल है आदि, वह औदारिक शरीर कहलाता है।

औदारिक मिश्र - प्रारभ किया हुआ औदारिक शरीर जब तक पूर्ण नही होता, तब तक वह कार्मण शरीर के साथ औदारिक मिश्र कहलाता है।

औद्देशिक - परिव्राजक, श्रमण, निर्ग्रंथ आदि को दान देने के उद्देश्य से बनाया गया भोजन, वस्त्र अथवा मकान।

औत्पातिक बुद्धि - अदृष्ट, अश्रुत व अनालोचित ही पदार्थों को सहसा ग्रहण कर कार्यरूप में परिणत करनेवाली बुद्धि।

औपशमिक भाव - मोहनीय कर्म के उपशम से होनेवाला भाव।

औपशमिक सम्यक्त्व - दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियों के उपशम से आत्मा में जो परिणाम होता है उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। अथवा - अनन्तानुबधी कषाय चतुष्क और दर्शनमोहत्रिक कुल सात प्रकृतियों के उपशम से जो तत्त्व रुचि व्यजक आत्म परिणाम प्रगट होता है। वह औपशमिक सम्यक्त्व है।

औपशमिक चारित्र - चारित्र मोहनीय की पच्चीस प्रकृतियों के उपशम से व्यक्त होने वाला स्थिरात्मक आत्म परिणाम।

औदयिक भाव - कर्म के उदय से उत्पन्न भाव औदयिक भाव है।

कंदर्प - राग के आधिक्य से हास्य-मिश्रित अशिष्ट वचनों को बोलना।

कथा - तप व सयम गुणों के धारक जो समस्त प्राणियों के हितार्थ जिन पवित्र अख्यानों का निरूपण करते हैं, वह कथा है।

कनकावली तप - स्वर्णमणिओं के भूषण विशेष आकार की कल्पना से किया जानेवाला तप। इसका क्रम यत्र के अनुसार चलता है। एक परिपाटी में एक वर्ष पाँच महिने और १२ दिन लगते हैं। पहली परिपाटी के पारणे में विकृति-वर्जन आवश्यक नही है। दूसरी में विकृति का त्याग, तीसरी में लेप का त्याग और चौथी में आयबिल किया जाता है। (चित्र न २) सब मिलाकर चार परिपाटी में ५ वर्ष नव मास अठारह दिन लगते हैं।

कन्दमूल - एक सूई के अग्रभाग पर आ जाए इतने निगोद में असख्यात प्रतर हैं, एक २ प्रतर में असख्यात श्रेणियाँ हैं, एक श्रेणी में असख्यात गोले हैं, एक एक गोले में असख्यात शरीर हैं और एक शरीर में अनत जीव हैं।

कर्म - मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग से जीव द्वारा जो कुछ किया जाता है उसे कर्म कहते हैं, अर्थात् आत्मा की रागद्वेषात्मक क्रिया से आकाश प्रदेशों में विद्यमान अनन्तानन्त कर्म के सूक्ष्म पुद्‌गल चुम्बक की तरह आकर्षित होकर आत्म-प्रदेशों से सश्लिष्ट हो जाते हैं, उन्हें कर्म कहते हैं। इनके ८ भेद हैं - १) ज्ञानावरणीय २) दर्शनावरणीय ३) वेदनीय ४) मोहनीय ५) आयु ६) नाम ७) गोत्र ८) अन्तराय।

कर्म उदीरणा - जो कर्म सामान्यत भविष्य में फल देने वाले हैं, उन्हें तपादि द्वारा उसी समय उदय में फलोन्मुख कर झाड़ देना।

कर्म भूमि - जिन क्षेत्रों में असि (शस्त्र और युद्ध विद्या), मसि (लेखन और पठन पाठन) और कृषि तथा आजीविका के दूसरे साधन रूप कर्म (व्यवसाय) हों, उन्हें 'कर्मभूमि' कहते हैं। कर्मभूमि पन्द्रह हैं। उनमें से जम्बूद्वीप में एक भरत, एक ऐरवत और एक महाविदेह हैं। धातकी खण्ड द्वीप में दो भरत, दो ऐरवत, और दो महाविदेह हैं। अर्द्ध पुष्कर द्वीप में दो भरत, दो ऐरवत और दो महाविदेह हैं, इस प्रकार पन्द्रह कर्मभूमि हैं। इन्हें भोगभूमि कहते हैं।

कर्मवर्गणा - कर्म स्कन्धों का समूह।

कर्मरूप परिणमन - कर्म पुद्‌गलों में जीव के ज्ञान, दर्शन आदि स्वाभाविक गुणों को आवरण करने की शक्ती का हो जाना।

करण - जीव की विशिष्ट शक्ति कर्म बधादि के परिणमन करने में समर्थ होती है, अथवा जीव का परिणाम विशेष करण है।

करण अपर्याप्त - पर्याप्त या अपर्याप्त नामकर्म का उदय होने पर भी जब तक करणों-(शरीर, इद्रिय आदि पर्याप्तियों) की पूर्णता न हो तब तक वे जीव करण अपर्याप्त कहलाते हैं।

करणानुयोग - लोक-आलोक के विभाग, युगों के परिवर्तन और चार गतियों के स्वरूप को स्पष्ट दिखलाने वाले ज्ञान को करणानुयोग कहा जाता है।

करण पर्याप्त - करण पर्याप्त के दो अर्थ हैं। करण का अर्थ है इन्द्रिय। जिन जीवों ने इद्रिय पर्याप्ति पूर्ण कर ली है, वे करण पर्याप्त हैं। चूकि आहार और शरीर पर्याप्ति पूर्ण किए बिना इद्रिय पर्याप्ति पूर्ण नही हो सकती है, इसलिए तीनों पर्याप्तियाँ ली गई हैं अथवा जिन जीवों ने अपनी योय पर्याप्तियाँ पूर्ण कर ली हैं वे करण पर्याप्त कहलाते हैं।

करण लब्धि - अनादिकालीन मिथ्यात्व-ग्रथि को भेदने में समर्थ परिणामों या शक्ति का प्राप्त होना।

कषाय - जो आत्मा के गुणों को कषे (नष्ट करें) अथवा जो जन्म-मरण रूपी ससार को बढावें। कष का अर्थ है जन्म-मरणरूप ससार, उसकी आय अर्थात् प्राप्ति जिससे हो उसे कषाय कहते हैं। अथवा - जो सम्यक्त्व, देश चरित्र, सकलचरित्र और यथाख्यात चरित्र को न होने दे वह कषाय कहलाता है।

कषायकुशील - अन्य कषायों के उदय पर विजय पाकर भी जो केवल सज्वलन कषाय के वशीभूत हैं, वे कषाय-कुशील कहलाते हैं।

कषाय समुद्घात - कषाय की तीव्रता से जीव के प्रदेश शरीर से तिगुना फैलाए जाते हैं, वह कषाय समुद्घात है।

कषाय सलेखना - परिणामों की विशुद्धि का नाम कषाय सलेखना है, जिसमें क्रोधादि कषायों को कृश किया जाता है।

कापोतलेश्या - कबूतर के गले के समान रक्त तथा कृष्ण वर्ण के लेश्याजातीय पुद्गलों के सम्बन्ध से आत्मा के ऐसे परिणामों का होना कि जिससे मन, वचन, काया की प्रवृत्ति मे वक्रता ही वक्रता रहे, सरलता न रहे। दूसरों को कष्ट पहुँचे ऐसे भाषण करने की प्रवृत्ति, नास्तिकता रहे। इन परिणामों को कापोतलेश्या कहा जाता है।

कार्मण शरीर - जो सभी शरीरों की उत्पत्ति का बीजभूत शरीर है - उनका कारण है - वह कार्मण शरीर है। अथवा ज्ञानावरण आदि कर्मों से बना हुआ शरीर।

कार्मण काययोग - कार्मण काय के द्वारा होने वाला योग अर्थात् अन्य औदारिक आदि शरीर वर्गणाओं के बिना सिर्फ कर्म से उत्पन्न हुए वीर्य-शक्ति के निमित्त से आत्म-प्रदेश-परिस्पन्दन रूप प्रयत्न होना कार्मण काय योग कहलाता है। कार्मण शरीर की सहायता से होने वाली आत्मशक्ति की प्रवृत्ति को कार्मणयोग कहते हैं।

काय- जिसकी रचना एवं वृद्धि औदारिक, वैक्रेय आदि पुद्‌गलों के स्कध से होती है, अथवा जो नाम कर्म के उदय से निष्पन्न होता है अथवा जाति नाम कर्म के अविनाभावी त्रस और स्थावर कर्म के उदय से होने वाली आत्मा की पर्याय विशेष।

कायक्लेश - कायोत्सर्ग, विविध प्रकार के आसन आदि से शरीर को कष्ट पहुँचाना।

काय-गुप्ति - शयन, आसन, आदान-निक्षेप, स्थान और गमन आदि क्रियाओं को करते समय शरीर की प्रवृत्ति को नियमित रखना, सावधानीपूर्वक उन कार्यों को करना, कायगुप्ति है।

काय योग - शरीरधारी आत्मा की शक्ति के व्यापार विशेष को काययोग कहते हैं, अथवा जिसमें आत्म प्रदेशों का सकोच-विकोच हो, उसे काय कहते हैं और उनके द्वारा होने वाला योग काययोग कहलाता है। अथवा औदारिक आदि सात प्रकार के कार्यों में जो अन्वय रूप से रहता है, उसे सामान्यत काय कहते हैं और उस काय से उत्पन्न आत्मप्रदेश परिस्पन्द लक्षण वीर्य के द्वारा जो योग होता है वह काययोग है।

कायोत्सर्ग - शरीर के ममत्व का परित्याग कर आत्मस्थ होना अथवा जिनेश्वर देवों के गुणों का मन में उत्कीर्तन करना।

काय-स्थिति - एक काय को अर्थात् औदारिक आदि शरीर को न छोड़कर उसके रहने तक विविध भवों को ग्रहण करते हुए जितना काल व्यतीत होता है, वह कायस्थिति है।

कारक-सम्यक्त्व - जिनोक्त क्रियाओं-सामायिक प्रतिक्रमणादि को करना कारक सम्यक्त्व है।

काल - जो पच वर्ण, पच रस, दो गध, अष्ट स्पर्श से रहित, छ प्रकार की हानि-वृद्धि स्वरूप, अगुरु-लघु गुण से सयुक्त होकर वर्तना-स्वय परिणमते हुए द्रव्यों के परिणमन में सहकारिता-लक्षण वाला है, वह काल है।

कीलिका संहनन - हड्डियों की रचना में मर्कटबध और वेष्टन न हो, किन्तु कील से हड्डियाँ जुडी हो, उसे कीलिका सहनन कहते हैं।

कांक्षा - इस लोक संबधी और परलोक सबधी विषयों की आकाक्षा कांक्षा है, यह सम्यग्दर्शन का अतिचार है।

किट्टीकरण - किट्टी का अर्थ कृश करना है। अत जिस करण में पूर्व स्पर्धकों और अपूर्व स्पर्धकों में से दलिकों को ले-लेकर उनके अनुभाग को अनन्त गुणहीन करके अतराल से स्थापित किया जाता है, उसको किट्टीकरण कहते हैं।

किट्टीवेदन काल - किट्टियों के वेदन करने, अनुभव करने के काल को किट्टीवेदन काल कहते हैं।

किल्विष - जो देव अत्यवासियों के समान होते हैं, वे किल्विष हैं। किल्विष नाम पाप का है। पाप से युक्त देव किल्विषिक कहलाते हैं।

क्रिया - क्रिया नाम गति का है। जो प्रयोग गति, विस्त्रसा गति और मिश्र गति के भेद से ३ प्रकार की है। (मनुष्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ तीन हैं - कायिक, वाचिक और मानसिक)। क्रिया के तीन वर्गीकरण मिलते हैं - १) सूत्रकृतागानुसार तेरह क्रियाएँ हैं (२८२) २) स्थानाग के अनुसार मुख्य और गौण क्रियाओं के भेद से बहत्तर हैं। तत्त्वार्थ सूत्र के अनुसार २५ क्रियाएँ हैं। तत्त्वार्थ सू ६ अ ६ सूत्र)

क्रियावादी - कर्ता के बिना क्रिया सभव नही है। एतद्र्थ उसका समवाय आत्मा में है, ऐसा कहने वाले क्रियावादी हैं। इसी उपाय से वे आत्मा आदि के अस्तित्व को जानते हैं।

कुधर्म - मिथ्यादृष्टियों से प्ररूपित जिसमें हिंसादि पापों की मलिनता होती है, वह धर्म नही, कुधर्म है।

कुब्ज सस्थान - जिस सस्थान वाले का शरीर कुवड़ा हो, वह कुब्ज सस्थान कहा जाता है।

कुल - दीक्षा प्रदान करने वाले आचार्य की शिष्य परपरा अथवा पिता की वश वृद्धि को कुल कहा जाता है।

कुलकर - कर्मभूमि के प्रारभ में जो कुलों की व्यवस्था करने में दक्ष होते हैं, वे कुलकर हैं। भ ऋषभदेव के पिता नाभिराय कुलकर थे।

केवल दर्शन - ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एव अतराय इन ४ घनघाती कर्मों का क्षय होने पर समस्त पदार्थों के भूत, भविष्यत् एव वर्तमानकाल के पर्यायों को हस्तामलकवत् देखने की शक्ति का प्रकट होना केवल दर्शन है। केवल का अर्थ है अद्वितीय। जो अद्वितीय केवलज्ञान और केवलदर्शन के धारक होते हैं, वे केवली, जिन, अरिहत, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी आदि कहलाते हैं।

केवली समुद्घात - आयुकर्म की स्थिति अल्प और वेदनीय की स्थिति अधिक होने पर उसे अनाभोगपूर्वक अर्थात् बिना उपयोग से आयु को समाप्त करने के लिए केवली भगवान के आत्म-प्रदेश मूल शरीर से बाहर निकलते हैं, वह केवली समुद्घात है।

केवलज्ञान - ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एव अतराय इन चार घनघाती कर्मों का क्षय होने पर समस्त पदार्थों के भूत, भविष्यत् एव वर्तमानकाल के पर्यायों को हस्तामलकवत् जानना, केवल ज्ञान है। अथवा - ज्ञानावरण कर्म का नि शेष रूप से क्षय हो जाने पर जिसके द्वारा भूत, वर्तमान और भावी त्रैकालिक सब द्रव्य और पर्यायें जानी जाती हैं, उसे केवलज्ञान कहते हैं। किसी की सहायता के बिना सम्पूर्ण ज्ञेय पदार्थों का विषय करने वाला केवलज्ञान है।

केशाग्र - आठ रथरेणु का देवकुरू और उत्तरकुरू क्षेत्र के मनुष्य का केशाग्र होता है। उनके आठ केशाग्रों का हरिवर्ष और रम्यक्वर्ष के मनुष्य का एक केशाग्र होता है तथा उनके आठ केशाग्रों का हेमवत और हैरण्यवत क्षेत्र के मनुष्य का एक केशाग्र होता है, उनके आठ केशाग्रों का पूर्वापर विदेह के मनुष्य का एक केशाग्र होता है और उनके आठ केशाग्रों का भरत, ऐरवत क्षेत्र के मनुष्य का एक केशाग्र होता है।

कोडाकोडी - एक करोड़ को एक करोड़ से गुणा करने पर प्राप्त राशी।

क्रोध - समभाव को भूलकर आक्रोश में भर जाना, दूसरों पर रोष करना क्रोध है। अंतरंग में परम उपशम रूप अनन्त गुण वाली आत्मा में क्षोभ तथा बाह्य विषयों में अन्य पदार्थों के सम्बन्ध से क्रूरता, आवेश रूप विचार उत्पन्न होने को क्रोध कहते हैं। अथवा अपना और पर का उपघात या अनुपकार आदि करने वाला क्रूर परिणाम क्रोध कहलाता है।

कृतकरण - सम्यक्त्त्व मोहनीय के अंतिम स्थिति खण्ड को खपाने वाले क्षपक को कृतकरण कहते हैं।

कृष्ण लेश्या - काजल के समान कृष्ण वर्ण के लेश्या जातीय पुद्गलों के सम्बन्ध से आत्मा में ऐसे परिणामों का होना जिससे हिंसा आदि पाँचों आस्रवों में प्रवृत्ति हो, मन, वचन, काया का सयम न रहना, गुण-दोष की परीक्षा किए बिना ही कार्य करने की आदत बन जाना, क्रूरता आ जाना आदि।

ग्रंथ - जिस के द्वारा अथवा जिसमें अर्थ को गूंथा जाता है, वह ग्रंथ है।

ग्रंथि - जैसे किसी वृक्ष विशेष की कठोर गाठ अतिशय दूर्भेद्य होती है, उसी प्रकार कर्मोदय से उत्पन्न जो जीव के घनीभूत राग द्वेष परिणाम उस गांठ के सदृश्य दुर्भेद्य होते हैं, अत उन्हें ग्रंथि कहते हैं।

गन्ध - जिस कर्म के उदय से शरीर में शुभ-अच्छी या अशुभ-बुरी गन्ध हो, उसे गन्ध कहते है।

गति - जिसके उदय से आत्मा मनुष्यादि गतियों में जाए अथवा नारकी, तिर्यंच, मनुष्य, देव की पर्याय प्राप्त करता है, उसे गति नाम कर्म कहते हैं। अथवा - चारों गतियों - नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव में गमन करने के कारण को गति कहते हैं।

गतित्रस - गतित्रस उन जीवों को कहते हैं जिनका उदय तो स्थावर नामकर्म का होता है, किन्तु गतिक्रिया पाई जाती है।

गणधर - लोकोत्तर ज्ञान दर्शनादि गुणों को धारण करने वाले तीर्थंकरों के प्रधान शिष्य, जो उनकी वाणी को सूत्र रूप में संकलित करते हैं।

गणि - ११ अगों के ज्ञाता को गणि कहते हैं, अथवा जो गच्छ का स्वामी हो वह गणि कहलाता है।

गर्भजन्मा - गर्भ से उत्पन्न होने वाले जीवों को गर्भजन्मा कहते हैं।

गव्यूत - दो हजार धनुष्यों को गण्यूत (कोश) कहते हैं।

गर्हा - दूसरों के समक्ष जो आत्मनिंदा की जाती है, वह गर्हा है।

गुण - जो द्रव्य के आश्रय से रहा करते हैं तथा स्वय अन्य गुणों से रहित होते हैं, वे गुण हैं।

गुणव्रत - श्रावक के द्वादश (वारह) व्रतों में से छठा, सातवाँ और आठवाँ गुणव्रत कहलाता है। (श्रावक के वारह व्रत)

गुणरत्न-सवत्सर तप - जिस तप में विशेप निर्जरा होती है अथवा जिस तप में निर्जरा रूप विशेष रत्नों से वार्षिक समय बीतता है। इस क्रम में तप के दिन एक वर्ष से कुछ अधिक होते हैं, अत सवत्सर कहलाता है। इसके क्रम में प्रथम मास में एकातर उपवास, द्वितीय मास में पष्ठ भक्त, इस प्रकार बढते हुए सोलहवें महिने में १६-१६ का तप किया जाता है। तप काल में दिन में उत्कटुकासन से सूर्याभिमुख होकर आतापना ली जाती है और रात में वीरासन से वस्त्र रहित रहा जाता है। तप में १३ मास ७ दिन लगते हैं और इस अवधि में ७३ दिन पारणे के होते हैं।

गुण संक्रमण - पहले बधी हुअी अशुभ प्रकृतियों को वर्तमान में बधनेवाली शुभ प्रकृतियों के रूप में परिणत कर देना। इसका क्रम इस प्रकार है - प्रथम समय में अशुभ प्रकृतियों के जितने दलिकों का शुभ प्रकृति में सक्रमण होता है, उसकी अपेक्षा दूसरे समय में असख्यात गुणा अधिक दलिकों का सक्रमण होता है। इस प्रकार आगे-आगे के समय में असख्यात गुण अधिक दलिकों का ही संक्रमण होता है।

गुणस्थान - ज्ञान आदि गुणों की शुद्धि एव अशुद्धि के न्यूनाधिक भाव से होने वाले जीव के विशेष स्वरूप को गुणस्थान कहते हैं। अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि जीव के स्वभाव को गुणस्थान कहते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो, दर्शन मोहनीय आदि कर्मों के उदय, उपशम, क्षयोपशम आदि अवस्थाओं के होने पर उत्पन्न होने वाले जिन भावों से जीव लक्षित होते हैं, उन भावों को गुणस्थान कहते हैं।

गुणस्थान क्रम - आत्मिक गुणों के न्यूनाधिक क्रमिक विकास की अवस्था।

गुणश्रेणी - परिणामों की विशुद्धि की वृद्धि से अपवर्तनाकरण के द्वारा उपरितन स्थिति से हीन करके अतर्मुहूर्त काल तक प्रतिसमय उत्तरोत्तर असख्यात गुणी वृद्धि के क्रम से कर्म प्रदेशों की निर्जरा के लिए जो रचना होती है, वह गुणश्रेणी है। अथवा जिन कर्मदलिकों का स्थितिघात किया जाता है उनको समय के क्रम से अन्तर्मुहूर्त में स्थापित

कर देना गुणश्रेणी है। अथवा ऊपर की स्थिति में उदय क्षण से लेकर प्रतिसमय असंख्यात गुणे- असख्यात गुणे कर्मदलिकों की रचना को गुणश्रेणी कहते हैं।

गुणश्रेणी निर्जरा - अल्प-अल्प समय में उत्तरोत्तर अधिक-अधिक कर्म परमाणुओं का क्षय करना।

गुण हानि - प्रथम निषेक अवस्थित हानि से जितना दूर जाकर आधा होता है उस अन्तराल को गुण हानि कहते हैं। अथवा अपनी-अपनी प्रथम वर्गणा के वर्ग से एक-एक अविभागी प्रतिच्छेद अनुक्रम से बंधता है, ऐसे स्पर्धकों के समय का नाम गुण हानि है।

गुप्ति - सम्यग्दर्शन पूर्वक मन वचन एव काय योगों के निग्रह करने को गुप्ति कहते हैं।

गोचरी - जैन श्रमणों का विधिवत् आहार-याचन। दूसरे शद्बों में इसे भिक्षाटन या माधुकरी भी कह सकते हैं।

गोत्र कर्म - जो कर्म जीव को उच्च, नीच कुल में जन्मावे अथवा जिस कर्म के उदय से जीव में पूज्यता, अपूज्यता का भाव उत्पन्न हो, जीव उच्च-नीच कहलाए, उसे गोत्र कर्म कहते हैं। इसके दो भेद हैं -१) उच्च गोत्र २) नीच गोत्र

ग्रैवेयेक - लोकरूप पुरुष के ग्रीवा के स्थान पर अवस्थित विमानों को ग्रैवेयक कहते हैं।

गृहस्थ - श्रावकोचित नित्य एवं नैमित्तिक अनुष्ठानों को करने वाले मानवों को गृहस्थ कहा है।

घातिकर्म - आत्मा के अनुजीवी गुणों का, आत्मा के वास्तविक स्वरूप का घात करने वाले कर्म।

चक्रवर्ती - चक्ररत्न का धारक व अपने युग का सर्वोत्तम श्लाघ्य पुरुष। चक्रवर्ती भरत क्षेत्र के छ खण्ड का एक मात्र अधिपति प्रशासक होता है। ३२ हजार मुकुटबध राजाओं का स्वामी होता है। चक्रवर्ती के १४ रत्न होते हैं - १) चक्र २) छत्र ३) दड ४) असि ५) मणि ६) काकिणी ७) चर्म ८) सेनापति ९) गाथापति १०) वर्धकी ११) पुरोहित १२) स्त्री १३) अश्व १४) गज। नवनिधियाँ भी होती हैं।

चतुर्दश पूर्व - उत्पाद, अग्रायणीय, वीर्यप्रवाद, अस्ति-नास्ति प्रवाद, ज्ञान प्रवाद, सत्य प्रवाद, आत्म प्रवाद, कर्म प्रवाद, प्रत्याख्यान प्रवाद, विद्या प्रवाद, अवन्ध्य, प्राणावाय, क्रिया विशाल और लोक बिंदुसार यह चौदह पूर्व दृष्टिवाद नामक बारहवें अग के अतर्गत हैं। विम्ववविद्या का ऐसा कोई भी विषय नहीं है, जिसका वर्णन पूर्व में नहीं किया गया हो। यत्र, मंत्र, तंत्र, शद्ब शास्त्र, ज्योतिष, भूगोल, रसायन, रिद्धि-सिद्धि आदि समस्त विषयों की चर्चा पूर्व में होती हैं।

चतुर्थ भक्त - उपवास। चार प्रकार के आहार का त्याग।

चतुर्गति - नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव आदि भवों में आत्मा की ससृति।

चरणानुयोग - गृहस्थ एव श्रमणों के चरित्र की उत्पत्ति, वृद्धि एव रक्षा के विधान करने वाले अनुयोग को चरणानुयोग कहते हैं।

चक्षुदर्शन - चक्षु के द्वारा होने वाले पदार्थ के सामान्य धर्म के बोध को चक्षुदर्शन कहते हैं।

चतु स्थानिक - कर्म प्रकृतियों में स्वाभाविक अनुभाग से चौगुने अनुभाग-फलजनक शक्ति का पाया जाना।

चारण लब्धि - जिस लब्धि से आकाश में उड़ने की विशिष्ट शक्ति प्राप्त होती है, वह चारण लब्धि है। इस लब्धि के दो भेद हैं- १) जघाचरण और २) विद्याचरण

चारित्र मोहनीय - आत्मा के स्वभाव की प्राप्ति या उसमें रमण करना चरित्र है। यह आत्मा का गुण है। आत्मा के इस चरित्र गुण को घात करने वाले कर्म को चरित्र मोहनीय कहते हैं।

चूलिका - चोरासी लग्न चूलिकाग की एक चूलिका होती है।

चूलिकाग - चोरासी लाख नयुत का एक चूलिकाग होता है।

चौवीसी - अवसर्पिणी या उत्सर्पिणी काल में होने वाले २४ तीर्थंकर।

चद्रप्रज्ञप्ति - चद्रमा के, आयु प्रमाण, परिवार, चद्र का गमन विशेष, उससे उत्पन्न होने वाले दिन-रात्रि का प्रमाण आदि की जिनमें प्ररूपणा है, वह।

च्यवन - ऊपर से गिरकर नीचे आना। ज्योतिष्क और वैमानिक देव आयुष्य पूर्ण कर ऊपर से नीचे आकर उत्पन्न होते हैं इसलिए इनका मरण च्यवन कहलाता है। वैमानिक ओर ज्योतिषी देवों के मरण को च्यवन या च्युति कहते हैं।

छट्ठ तप - दो दिन का उपवास, बेला।

छद्मस्थ - ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अतराय को छद्म कहते हैं। इसमें जो रहते हैं, वह छद्मस्थ कहलाते हैं। जब तक आत्मा को केवलज्ञान की प्राप्ति नही होती तब तक वह छद्मस्थ ही कहलाती है।

छेद - जिन बाह्य क्रियाओं से धर्म में बाधा न आती हो तथा निर्मलता में वृद्धि होती हो, व्रत, समिति, गुप्ति, विभाग, खंड, विनाश, प्रायश्चित, अथवा - सयम की विशुद्धि हेतु दोष लगने पर उसका परिष्कार करने का नाम छेद है।

छेदोपस्थापनीय संयम - जिस चरित्र में पूर्व पर्याय को छेदकर, उसे खण्डित कर महाव्रतों में स्थापित किया जाता है, वह छेदोपस्थापन चरित्र है। अथवा - पूर्व सयम पर्याय को छेदकर फिर से उपस्थापन (व्रतारोपण) करना।

छेवट्ट संहनन - जिस हड्डियों की रचना में मर्कटबध, वेष्टन और कील न होकर यों ही हड्डियाँ आपस में जुड़ी हों, उसे छेवट्ट संहनन कहते हैं। छेवट्ट को सेवार्त अथवा छेदवृत्त भी कहते हैं।

जघन्य बंध - सबसे कम स्थिति वाला बध।

जंघाचारण स्थिति - अष्टम (तेला) तप करने वाले भिक्षु को यह दिव्य शक्ति प्राप्त होती है। इस लब्धि का धारक पद्मासन लगाकर जघा पर हाथ लगाता है, और तीव्र गति से आकाश में उड़ जाता है। तिर्यक् दिशा की एक ही उड़ान में वह तेरहवें रुचकवर द्वीप तक पहुँच सकता है। यह द्वीप भरत क्षेत्र से असंख्यात योजन दूर है पुन लौटता हुआ रास्ते में नदीश्वर द्वीप में एक बार विश्राम लेता है। यह प्रथम उड़ान शक्तिशाली होती है। यदि वह उड़ान ऊर्ध्व दिशा की ओर हो तो वह एक ही छलाग में मेरुपर्वत के पाण्डुक उद्यान में पहुँच सकता है और पुन लौटते समय नदनवन में एक बार विश्राम लेता है। इस लब्धि वाला तीन बार आँख की पलक झपके जितने समय में एक लाख योजन वाले जबूद्वीप में २१ बार चक्कर लगा सकता है।

जबूद्वीप प्रज्ञप्ति - जिसमें जबूद्वीपस्थ भोगभूमि और कर्मभूमि में उत्पन्न हुए विविध प्रकार के मनुष्य तिर्यंच जीवों का तथा पर्वत, ग्रह, नदी, वेदिका, वर्ष आवास आदि का वर्णन है।

जम्बूद्वीप - इस विराट विश्व में असख्य द्वीप और असख्य समुद्र हैं। प्रत्येक द्वीप को समुद्र और समुद्र को द्वीप घेरे हुए हैं। जबूद्वीप उन सब के बीच में है। यह पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण एक-एक लाख योजन है। इसमें सात वर्ष-क्षेत्र हैं - (१) भरत (२) हेमवत (३) हरि (४) विदेह (५) रम्यक् (६) हैरण्यवत् (७) ऐरवत। भरत दक्षिण में, ऐरवत उत्तर में और विदेह (महा-विदेह) पूर्व व पश्चिम में हैं।

जरायु - गर्भ में प्राणी के शरीर को आच्छादित करने वाला विस्तृत जो रुधिर, मास रहता है, वह जरायु है। जो जरायु में उत्पन्न होते हैं, वे जरायुज कहलाते हैं।

जाति भव्य - जो भव्य मोक्ष की योग्यता रखते हुए भी उसको प्राप्त नही कर पाते हैं। उन्हें ऐसी अनुकूल सामग्री नही मिल पाती है जिससे मोक्ष प्राप्त कर सकें।

जातिस्मरणज्ञान - पूर्व जन्म की स्मृति करानेवाला ज्ञान। यह मतिज्ञान का ही एक भेद है। इस ज्ञान के बल पर व्यकित एक से नौ पूर्व जन्मों को जान सकता है। एक मान्यता यह भी है कि, जातिस्मरण ज्ञान से प्राणी को अपने ९०० पूर्व भवों का स्मरण हो सकता है।

जिन - जयतीति जिन । स्वरूपीय लब्धि में बाधक राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोध आदि भाव कर्मों को एवं ज्ञानावरणादि रूप घाति द्रव्य कर्मों को जीतकर अपने अनन्तज्ञान दर्शन आदि आत्म-गुणों को प्राप्त कर लेने वाले जीव जिन कहलाते हैं।

जिनकल्पिक - गच्छ से पृथक् होकर उत्कृष्ट चरित्र साधन के लिए प्रयत्नशील होना। यह आचार जिन-तीर्थंकरों के आचार के सदृश कठोर होता है, अत जिनकल्प कहा जाता है। इसमें साधक जगल आदि एकात स्थान में एकाकी रहता है। रोग आदि के उपशमन के लिए प्रयत्न नही करता। सर्दी, गर्मी आदि प्राकृतिक कष्टों से विचलित नही होता। देव, मानव, तिर्यंच आदि के उपसर्गों से भयभीत होकर अपना मार्ग नही बदलता। अभिग्रह पूर्व भिक्षा ग्रहण करता है और रात दिन ध्यान तथा कायोत्सर्ग में लीन रहता है। यह साधना विशेष सहनन युक्त साधक के द्वारा विशिष्ट ज्ञान सपन्न होने के पश्चात् ही हो सकती है।

जिनमार्ग - वीतराग द्वारा प्ररूपित धर्म।

जीव - जो प्राणों को धारण करे, उसे जीव कहते हैं। प्राण के दो भेद हैं - द्रव्य प्राण और भाव प्राण। द्रव्यप्राण के १० भेद स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये५ इद्रियों, तीन बल (काय, वचन, मन) तथा आयु और श्वासोच्छ्वास, ज्ञान, दर्शनादि स्वाभाविक गुणों को भावप्राण कहते हैं। इन दोनों प्राणों से जीता था, जीता है और जीएगा उसे जीव कहते हैं।

जीवविपाकी प्रकृति - जो प्रकृति जीव में ही उसके ज्ञानादि स्वरूप का घात करने रूप फल देती है।

जीवसमास (जीवस्थान) - जिन समान पर्याय रूप धर्मों के द्वारा अनत जीवों का सग्रह किया जाता है, उन्हें जीवसमास या जीवस्थान कहते हैं।

जुगुप्सा - जिस कर्म के उदय से अपने दोषों का सवरण और पर के दोषों का प्रकाशन किया जाता है, वह जुगुप्सा नो-कषाय है।

नयुत - चौरासी लाख नयुताग का एक नयुत होता है।

नयुताग - चौरासी लाख प्रयुत के समय को नयुताग कहते हैं।

नरक - अधोलोक के वे स्थान जहाँ घोर पापाचरण करने वाले जीव अपने पापों का फल भोगने के लिए उत्पन्न होते हैं। नरक सात हैं - (१) रत्नप्रभा - कृष्णवर्ण भयकर रत्नों से पूर्ण (२) शर्कराप्रभा - भाले, बरछी आदि से भी तीक्ष्ण ककरों से परिपूर्ण (३) बालुकाप्रभा - भड़भूजे की भाड़ की उष्ण बालू से भी अधिक उष्ण बालू (४) पकप्रभा - रक्त, मास और पीब जैसे कीचड़ से व्याप्त। (५) धूमप्रभा - राई, मिर्च के धूएँ से भी अधिक खारे धूएँ से परिपूर्ण (६) तम प्रभा-घोर अधकार से परिपूर्ण (७) महातम प्रभा - घोराति-घोर अधकार से परिपूर्ण।

नलिन - चौरासी लाख नलिनाग का एक नलिन होता है।

नलिनाग - चौरासी लाख पद्म का एक नलिनाग होता है।

नाम कर्म - जिस कर्म के उदय से जीव नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव आदि कहलाए, उसे नाम कर्म कहते हैं।

नाम-निक्षेप - नाम के अनुसार वस्तु में गुण न होने पर भी व्यवहार के लिए जो पुरुष के प्रयत्न से नामकरण किया जाता है, वह नाम-निक्षेप है।

नारक - जिसको नरक गति नामकर्म का उदय हो अथवा जो जीवों को क्लेश पहुचाए वह नारक है। दूसरे शब्दों में द्रव्य, क्षेत्र, काल एव भाव से जो स्वय तथा परस्पर में प्रीति को न प्राप्त करते हों।

नाराच संहनन - जिस हड्डियों की रचना में दोनों तरफ मर्कट बध हो, लेकिन वेष्टन और कील न हो, उसे नाराच सहनन कहते हैं।

नाली - साढ़े अड़तीस लव के समय को नाली कहते हैं।

निकाचन - उद्वर्तना, अपवर्तना, सक्रमण और उदीरणा इन चार अवस्थाओं के न होने की स्थिति का नाम निकाचन है।

निकाचित कर्म - जिन कर्मों का फल बध के अनुसार निश्चित रूप से भोगा जाता है।

निकाचित प्रकृति - जिस प्रकृति में कोई भी करण नही लगता उसे निकाचित प्रकृति कहते हैं।

निद्रा - जिस शयन में सुखपूर्वक जागरण होता है, उसे निद्रा कहते हैं।

निदान - भोगाभिलाषा में फसकर तपस्या को बेच देने की क्रिया निदान है। किसी देवता अथवा राजा आदि मनुष्य की ऋद्धि व सुखों को देखकर या सुनकर उसकी प्राप्ति के लिए अभिलाषा करना कि, मेरे ब्रह्मचर्य व तप आदि के फलस्वरूप मुझे भी ऐसी ऋद्धि व वैभव प्राप्त हो, और अपने तप अनुष्ठान को उसके लिए बद्ध कर देना निदान है। निदान शब्द का अर्थ - निश्चित अथवा बाध देना। उच्च तप को निम्न फल की अभिलाषा के साथ बाध लेना। महान ध्येय को तुच्छ सकल्प-विकल्प रूप भोग प्रार्थना के लिए जोड़ देना।

निधत्ति - कर्म की उदीरणा और संक्रमण के सर्वथा अभाव की स्थिति।

निर्जरा - आत्मा के साथ क्षीर, नीर की तरह आपस में मिले हुए कर्म पुद्गलों के एक देश क्षय होने को निर्जरा कहते हैं। आत्म-प्रदेशों से कर्मों का एक देश पृथक् होना द्रव्य-निर्जरा और द्रव्य निर्जरा के जनक अथवा द्रव्यनिर्जरा जन्य आत्मा के शुद्ध परिणाम को भावनिर्जरा कहते हैं।

निर्हारिम - जो साधु उपाश्रय में पादोपगमन अनशन करते हैं, मृत्यूपरांत उनके शव को अग्नि सस्कार के लिए उपाश्रय से बाहर लाया जाता है, अत वह देह त्याग निर्हारिम कहलाता है। निर्हार का अर्थ है - बाहर निकालना।

निक्षेप - लक्षण और विधान (भेद) पूर्वक विस्तार से जीवादि तत्त्वों के जानने के लिए न्यास से विरचना करना निक्षेप है।

निर्विश्यमान - परिहार विशुद्धि सयम को धारण करने वालों को कहते हैं।

निर्विष्टकायिक - परिहार विशुद्धि सयम धारकों की सेवा करने वाले।

निश्चय सम्यक्त्व - जीवादि तत्त्वों का यथारूप से श्रद्धान करना, निश्चय सम्यक्त्व है। यह आत्मा का वह परिणाम है, जिसके होने पर ज्ञान विशुद्ध होता है।

निह्नव - मा । वश ज्ञानदाता गुरू का नाम छिपाना, अमुक विषय को जानते हुए भी मैं नही जानता, उत्सूत्र प्ररूपणा करना आदि निह्नव कहलाता है।

नीच गोत्र - जिस कर्म के उदय से जीव नीच कुल में जन्म लेता है, उसे नीच गोत्र कर्म कहते हैं।

नील लेश्या - अशोक वृक्ष के समान नीले रग के लेश्या पुद्गलों से आत्मा में ऐसा परिणाम उत्पन्न होना कि जिससे ईर्ष्या, असहिष्णुता, छल, कपट आदि होने लगें।

नोकषाय - जो कषाय तो न हो, किंतु कषाय के उदय के साथ जिसका उदय होता है अथवा कषायों को पैदा करने में, उत्तेजित करने में सहायक हो, उसे नोकषाय कहते हैं।

नौ योजन - ३ ६ कोस। चार कोस का १ योजन होता है।

न्यग्रोध परिमडल सस्थान - शरीर की आकृति न्यग्रोध (वटवृक्ष) के समान हो, अर्थात् शरीर में नाभि से ऊपर के अवयव पूर्ण - मोटे हो और नाभि से नीचे के अवयव हीन-पतले हो, उसे न्यग्रोध-परिमडल सस्थान कहते हैं।

तर्क - जिस ज्ञान के द्वारा व्याप्ति के साध्य-साधन रूप अर्थो के सबध का निश्चय करके अनुमान में प्रवृत्ति होती है, वह तर्क है।

तत्त्व - प्रयोजन भूत वस्तु के स्वभाव को तत्त्व कहते हैं।

तत्त्वार्थ - जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये तत्त्वार्थ कहे हैं जोकि विविध गुण पर्यायों से सयुक्त हैं।

तापस - जटाधारी वनवासी पचाग्नि तप करने वाले साधुओं को तापस कहा है।

तिर्यगायु - जिस कर्म के उदय से जीव का तिर्यंच पर्याय में अवस्थान होता है, वह तिर्यगायु कर्म है।

तिर्यंच - जो मन, वचन, काया की कुटिलता को प्राप्त हैं, जिनके आहार आदि सज्ञाएँ सुव्यक्त हैं, निकृष्ट अज्ञानी हैं, तिरछे गमन करते हैं और जिनमें अत्यधिक पाप की बहुलता पाई जाती है, उन्हें तिर्यंच कहते हैं।

तीर्थ - जिससे ससार समुद्र तैरा जा सके। तीर्थंकरों का उपदेश, उसको धारण करनेवाले गणधर व ज्ञान, दर्शन, चरित्र को धारण करनेवाले साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध सघ को भी तीर्थ कहा जाता है। तीर्थंकर केवल ज्ञान प्राप्त करने के

नंतर ही उपदेश करते हैं और उससे प्रेरित होकर भव्य जन साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका बनते हैं।

तीर्थंकर- ससार सागर को स्वय पार करने तथा दूसरों को पार करानेवाले महापुरुष तीर्थंकर कहलाते हैं। दूसरे शब्दों में तीर्थ का प्रवर्तन करनेवाले आप्त पुरुष।

तीर्थंकर नाम गोत्र - जिस नाम कर्म के उदय से जीव तीर्थंकर रूप में उत्पन्न होता है।

तिर्यग्लोक - एक लाख योजन के सातवें भाग मात्र सूची अगूल के बाहुल्य रूप जग प्रतर को तिर्यग् लोक कहते हैं।

तेजस् समुद्घात - जीवों के अनुग्रह और निग्रह करने में समर्थ ऐसे तेजस् शरीर के कारण भूत समुद्घात को तेजस् समुद्घात कहते हैं।

तेजोलेश्या - तोते की चोंच के समान रक्त वर्ण के लेश्या पुद्गलों से आत्मा में होनेवाले वे परिणाम जिनसे नम्रता आती है, धर्मरुचि दृढ होती है, दूसरे का हित करने की इच्छा होती है आदि।

तेजसवर्णगा - जिन वर्गणाओं से तेजस शरीर बनता है।

तेजोलब्धि - उष्णता प्रधान एक सहारक शक्ति विशेष। यह शक्ति विशेष तप से ही प्राप्त की जा सकती है। यह आत्मा की एक प्रकार की तेजस् शक्ति है। इस लब्धि के प्रभाव से योगियों को ऐसी शक्ति प्राप्त हो जाती है कि, कभी क्रोध आ गया तो वे बायें पैर के अगूठे को घिसकर एक तेज निकालते हैं, जो अग्नि के समान प्रचड होता है। विरोधी को वही जलाकर भस्म कर देते हैं। इसमें कई योजनों तक में रही हुई वस्तु को जलाकर भस्म कर सकते हैं। उत्कृष्ट शक्ति प्रयोग में १६।। महाजन पदों को एक साथ भस्म करने की शक्ति भी इस लब्धिधारक में होती है। इसकी शक्ति अणुबम से भी अधिक विस्फोटक है।

तैजस शरीर - तैजस पुद्गलों से बने हुए आहार को पचाने वाले और तेजोलेश्या से युक्त साधक के शरीर को तैजस शरीर कहते हैं।

त्रसकाय - जो शरीर चल फिर सकता है और जो त्रस नामकर्म के उदय से प्राप्त होता है।

त्रस नामकर्म - जिस कर्म के उदय से जीव को त्रसकाय की प्राप्ति होती है।

त्रस रेणु - आठ उर्ध्वरेणु का एक त्रसरेणु होता है।

त्रिदंडी तापस - मन, वचन और कायरूप तीनों दडों से दडित होनेवाला तापस।

त्रिस्थानिक - कर्म प्रकृति के स्वाभाविक अनुभाग से तिगुना अनुभाग।

त्रुटिताग - ८४ लाख पूर्व वर्षों को एक त्रुटिताग कहते हैं। अथवा चौरासी लाख पूर्व के समय को त्रुटिताग कहते हैं।

तृतीय सप्तअहोरात्र प्रतिमा - साधु द्वारा सात दिन तक चौविहार एकातर उपवास, गोदुहासन, वीरासन या आम्र कुब्जासन (आम्रफल की तरह वक्राकार स्थिति में बैठना) से ग्रामादि के बाहर कायोत्सर्ग करना।

दड समुद्घात - सयोगी केवली गुणस्थान वर्ती जीव के द्वारा पहले समय में अपने शरीर के बाहुल्य प्रमाण आत्म प्रदेशों को ऊपर से नीचे तक लोक पर्यंत रचने को दड समुद्घात कहते हैं।

दर्शन - सामान्य धर्म की अपेक्षा जो पदार्थ की सत्ता का प्रतिभास होता है, उसे दर्शन कहते हैं। सामान्य विशेषात्मक वस्तुस्वरूप में से वस्तु के सामान्य अश के बोधरूप चेतना के व्यापार को दर्शन कहते हैं। अथवा - सामान्य की मुख्यता पूर्वक विशेष को गौण करके पदार्थ के जानने को दर्शन कहते हैं।

दर्शनोपयोग - प्रत्येक वस्तु में सामान्य और विशेष इस प्रकार के दो धर्म पाये जाते हैं। उनमें से सामान्य धर्म को ग्रहण करनेवाले उपयोग को दर्शनोपयोग कहते हैं।

दर्शन मोहनीय - जो पदार्थ जैसा है, उसे वैसा ही समझना दर्शन है, अर्थात् तत्त्वार्थ श्रद्धा को दर्शन कहते हैं। यह आत्मा का गुण है। इसको घात करनेवाले -आवृत करनेवाले कर्म को दर्शन मोहनीय कहते हैं।

दया - प्राणियों के प्रति अनुकपा करने को - उनके दु ख को देखकर स्वय दु ख का अनुभव करना और उनकी रक्षा करने की भावना हृदय में आना दया है।

दत्ति - हाथ से अखड धारा पूर्वक दी गई भिक्षा दत्ति कहलाती है। भिक्षा का विच्छेद होनेपर पात्र में एक कण गिरजाए तो भी दत्ति मानी जाती है। इस प्रकार दत्तियों की सख्या के अनुसार भोजन ग्रहण करना चाहिए।

दर्शनाचार - नि शकितादि आठ अगोयुक्त सम्यक्त्व का परिपालन करना दर्शनाचार है।

दर्शनावरण कर्म - जो कर्म आत्मा के दर्शन गुण को आच्छादित करे, उसे दर्शनावरण कर्म कहते हैं। इसके नौ भेद हैं (१) चक्षुदर्शनावरण (२) अचक्षुदर्शनावरण (३) अवधिदर्शनावरण (४) केवल दर्शनावरण (५) निद्रा (६) निद्रा-निद्रा (७) प्रचला (८) प्रचला-प्रचला (९) स्त्यानर्द्धि

दशवैकालिक - मनक नामक पुत्र के हितार्थ आचार्य शय्यभव के द्वारा अकाल में रचे हुए १० अध्ययन स्वरूप श्रुत को दशवैकालिक कहा जाता है।

दान - अपने और दूसरे के अनुग्रह के लिए जो धनादि का त्याग किया जाता है, वह दान है।

दानांतराय - दान की सामग्री पास में हो, गुणवान पात्र दान लेने के लिए सामने हो, दान फल भी ज्ञात हो, दान की इच्छा भी हो, फिर भी जिस कर्म के उदय से जीव को दान देने का उत्साह नही होता, उसे दानातराय कहते हैं।

दिग् विरति व्रत - यह जैन श्रावक का छट्ठा व्रत है। इसमें श्रावक दस दिशाओं में मर्यादा से अधिक गमनागमन का त्याग करता है।

दीपक सम्यक्त्व - जिनोक्त क्रियाओं से होनेवाले लाभों का समर्थन करना, दीपक सम्यक्त्व है।

दीक्षा - समस्त आरंभ परिग्रह के परित्याग को और व्रत ग्रहण को दीक्षा कहा है।

दुःख - अंतरग में असाता वेदनीय कर्म का उदय होने पर तथा बाह्य द्रव्यादि के परिपाक का निमित्त मिलने से जो चित्त में परिताप परिणाम होता है, उसे दु ख कहते हैं।

दु:खविपाक - जिनमें दु ख के विपाक से युक्त जीवों के नगर, उद्यान, वनखड, चैत्य, समवसरण, माता-पिता, धर्माचार्य, धर्मकथा, इहलौकिक और परलौकिक ऋद्धि विशेष नरक गतिगमन का वर्णन है, वह दु ख विपाक है।

दूर भव्य - जो भव्य जीव बहुत काल के बाद मोक्ष प्राप्त करनेवाला है।

देव - देवगति नामकर्म के उदय होनेपर नाना प्रकार की बाह्य विभूति से द्वीप समुद्र आदि अनेक स्थानों पर इच्छानुसार क्रीडा करते हैं। विशिष्ट ऐश्वर्य का अनुभव करते हैं, दिव्यवस्त्राभूषणों की समृद्धि तथा अपने शरीर की साहजिक काति से जो द्वीप्तिमान रहते हैं वे देव कहलाते हैं। ये चार प्रकार के हैं - भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क, वैमानिक।

देशचरित्र - हिंसादि पापों से की जानेवाली एकदेश विरति का नाम देशचरित्र है।

देशविरति - ग्राम-नगर आदि के जितने देश का प्रमाण निश्चित किया गया है, उसका नाम देश है। उसके बाहर गमन का परित्याग करना देशविरति है। अथवा - अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय न होने के कारण जो जीव देश (अश) से पापजनक क्रियाओं से अलग हो सकते हैं वे देशविरति कहलाते हैं।

देशना - छह द्रव्य, सात तत्त्व, पाँच अस्तिकाय और नौ पदार्थों के उपदेश को देशना कहते हैं।

देशावगासिक व्रत -दिग्व्रत में जो दिशा का प्रमाण किया गया है, उसमें प्रतिदिन सक्षेप करना, देशावगासिक व्रत है।

द्रव्य - जो अपने स्वभाव को न छोड़ता हुआ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से सबद्ध रहकर गुण और पर्याय से सहित होता है, वह द्रव्य है। जो गुणों का आश्रय होता है, वह द्रव्य है।

द्रव्य कर्म - ज्ञानावरणादि रूप से परिणत पुद्गल पिण्ड को द्रव्य कर्म कहा जाता है। अथवा ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणाम को प्राप्त हुए पुद्गल।

द्रव्य प्राण - इद्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास।

द्रव्यलेश्या - पुद्‌गल विपाकी वर्ण नामकर्म के उदय से जो लेश्या-शरीरगत वर्ण होता है, वह द्रव्यलेश्या है। कृष्ण, नील व पीतादि द्रव्यों को ही द्रव्यलेश्या कहा जाता है। अथवा वर्ण नामकर्म के उदय से उत्पन्न हुए शरीर के वर्ण को द्रव्यलेश्या कहते हैं।

द्रव्य निक्षेप - जो भावी परिणाम विशेष की प्राप्ति के प्रति अभिमुख हो- उसकी योग्यता को धारण करता हो, वह द्रव्य निक्षेप है।

द्रव्यमन - पुद्‌गल विपाकी वर्ण नामकर्म के उदय से जो पुद्‌गल मन रूप में परिणत होते हैं, उन्हें द्रव्यमन कहा जाता है।

द्रव्यार्थिक नय - जो विविध पर्यायों को वर्तमान में प्राप्त करता है, भविष्य में प्राप्त करेगा और भूतकाल में प्राप्त किया है, उसका नाम द्रव्य है। इस द्रव्य को विषय करनेवाला नय द्रव्यार्थिक नय है।

द्रव्यास्त्रव - ज्ञानावरणादि के योग्य पुद्‌गलों के आगमन को द्रव्यास्त्रव कहते हैं।

द्रव्येंद्रिय - निवृत्ति और उपकरण को द्रव्येंद्रिय कहते हैं। पुद्‌गलों के द्वारा जो बाहरी आकार की रचना होती है, उसे तथा कदम्ब पुष्प आदि के आकार से युक्त उपकरण -ज्ञान के साधन को द्रव्येंद्रिय कहते हैं।

द्वादशागी - तीर्थंकरों की वाणी का गणधरों के द्वारा ग्रथ रूप में होनेवाला सकलन अग कहलाता है। वे बारह हैं। पुरुष के शरीर में मुख्य रूप से दो पैर, दो जघाएँ, दो ऊरू, दो गात्रार्द्ध (पार्श्व), दो बाहु, एक गर्दन और एक मस्तक होते हैं, उसी प्रकार श्रुत रूप पुरुष के बारह अग हैं। उनके नाम (१) आचाराग (२) सूत्रकृताग (३) स्थानाग (४) समवायाग (५) विवाह-प्रज्ञप्ति (भगवती) (६) ज्ञाताधर्म कथाग (७) उपासक दशाग (८) अन्तकृतदशाग (९) अनुत्तरौपपातिक (१०) प्रश्नव्याकरण (११) विपाकश्रुत और (१२) दृष्टिवाद।

द्वितीय स्थिति - अन्तर स्थान से ऊपर की स्थिति को कहते हैं।

द्वितीयोपशम सम्यक्त्व - जो वेदक सम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबधी कषाय और दर्शन-मोहनीय का उपशम करके उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त होता है, उसे द्वितीयोपशम सम्यक्त्व कहते हैं।

द्विस्थानिक - कर्म प्रकृतियों के स्वाभाविक अनुभाग से दुगुना अनुभाग।

दृष्टिवाद - जिस श्रुत में सभी पदार्थों की प्ररूपणा की जाती है, वह दृष्टिवाद है।

पद्म - चोरासी लाख पद्‌माग का एक पद्म होता है।

पद्म लेश्या - हल्दी के समान पीले रग के लेश्या पुद्‌गलों से आत्मा में ऐसे परिणामों का होना जिससे काषायिक प्रवृत्ति काफी अशों में कम हो, चित्त प्रशान्त रहता हो, आत्म-सयम और जितेन्द्रियता की वृत्ति आती हो।

पद्माग - चौरासी लाख उत्पल का एक पद्माग होता है।

पदानुसारिणी - तपस्या विशेष से प्राप्त होनेवाली एक दिव्यशक्ति। इस लब्धि के प्रभाव से सूत्र के एक पद को सुनकर आगे के बहुत से पदों का बिना सुने ही अपनी बुद्धि से ज्ञान कर लेता है। जैसे, एक चाँवल के दाने से पूरे चाँवलों के पकने का पता चलता है। उसी प्रकार एक बात सुनते ही पूरी बात का ज्ञान होता है और एक पद से अनेक पदों का ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता इस लब्धिधारी में होती है।

परमाणु - पुद्गल द्रव्य का चरम सूक्ष्म भाग परमाणु कहलाता है। इसे विभक्त नही किया जा सकता। परमाणु के दो प्रकार हैं - (१) निश्चय परमाणु और (२) व्यवहार परमाणु।

परमात्मा - सर्वदोष रहित, कैवल्य सम्पन्न शुद्धात्मा।

परिहार विशुद्धि सयम - परिहार का अर्थ है तपोविशेष और उस तपोविशेष से जिस चरित्र में विशुद्धि प्राप्त की जाती है, उसे परिहार विशुद्धि सयम कहते हैं। अथवा जिसमें परिहार विशुद्धि नामक तपस्या की जाती है, वह परिहार विशुद्धि सयम है।

परीषह - साधु या श्रमण जीवन में विविध प्रकार से होनेवाले शारीरिक कष्ट।

पर्याप्तक - जिस जीवन में जितनी पर्याप्तियाँ सम्भव हैं वह जब उतनी पर्याप्तियाँ पूरी कर लेता है, या करने की योग्यता हो, उसे 'पर्याप्तक' कहते हैं। एकेन्द्रिय जीव, आहार, शरीर, इद्रिय और श्वासोच्छ्वास - इन चार पर्याप्तियों को पूरी करने पर, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय और चौरिन्द्रिय और असज्ञी पचेन्द्रिय, उपर्युक्त चार पर्याप्तियों और पाँचवी भाषा पर्याप्ति पूरी करने पर तथा सज्ञी पचेन्द्रिय उपर्युक्त पाँच और छठी मन पर्याप्ति पूरी करने पर 'पर्याप्तक' कहे जाते है।

पर्याप्ति - जीव की वह शक्ति जिसके द्वारा पुद्गलों को ग्रहण करने तथा उनको आहार, शरीर आदि के रूप में बदल देने का कार्य होता है।

पल्य - अनाज वगैरे (वगैरह) भरने के गोलाकार स्थान को पल्य कहते हैं।

पल्योपम - काल की जिस लम्बी अवधि को पल्य की उपमा दी जाती है, उसको पल्योपम कहते हैं। एक योजन लम्बे, एक योजन चौड़े एवं एक योजन गहरे गोलाकार कूप की उपमा से जो काल गिना जाता है उसे पल्योपम कहते हैं।

परोक्ष - मन और इद्रिय आदि बाह्य निमित्तों की सहायता से होनेवाला पदार्थ सम्बन्धी ज्ञान।

पश्चादानुपूर्वी - अत से प्रारभ कर आदि तक की गणना करना।

पाद - छह उत्सेधागुल का एक पाद होता है।

पादोपगमन - अनशन का वह प्रकार, जिसमें श्रमणों द्वारा दूसरों की सेवा का और स्वय की चेष्टाओं का त्याग कर पादप-वृक्ष की तरह निश्चेष्ट होकर रहना। इसमें चारों प्रकार के आहार का त्याग होता है। यह निर्हारिम और अनिर्हारिम रूप से दो प्रकार का है।

पाप - जिसके उदय से जीव को दु ख की प्राप्ति हो और आत्मा को शुभ कार्यों से पृथक रखे उसे पाप कहते हैं। पाप अशुभ प्रकृति रूप है और अशुभ योगों से बधता है।

पारिणामिक भाव - जिसके कारण मूल वस्तु में किसी प्रकार का परिवर्तन न हो किन्तु स्वभाव में ही परिणत होते रहना पारिणामिक भाव है। अथवा कर्म के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम की अपेक्षा न रखनेवाले द्रव्य की स्वाभाविक अनादि पारिणामिक शक्ति से ही आविर्भूत भाव को पारिणामिक भाव कहते हैं।

पाँच दिव्य - तीर्थंकर, विशिष्ट महापुरुष या केवलियों के आहार ग्रहण करने के समय प्रकट होनेवाली पाँच विभूतियाँ (१) विविध रत्न (२) वस्त्र (३) फूलों की वर्षा (४) गधोदक और (५) देवताओं के द्वारा दिव्य घोष।

पिंड प्रकृति - अपने में अन्य प्रकृतियों को गर्भित करनेवाली प्रकृति।

पुण्य - जिसके उदय से, जीव को सुख का अनुभव होता है, उसे द्रव्यपुण्य और जिस कर्म के उदय से जीव में दया, करुणा, दान, भावनादि शुभ परिणाम आते हैं, उसे भाव पुण्य कहते हैं। पुण्य शुभ प्रकृति रूप है और शुभयोग से बधता है, अथवा जिस कर्म के उदय से जीव को सुख का अनुभव होता है।

पुण्यकर्म - जो कर्म सुख का वेदन कराता है।

पुण्य प्रकृति - जिस प्रकृति का विपाक -फल शुभ होता है।

पुद्गल परावर्त - ग्रहण योग्य आठ वर्गणाओं (औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजसशरीर, भाषा, श्वासोच्छ्वास, मन, कार्मण वर्गणा) में से आहारक शरीर वर्गणा को छोड़कर शेष औदारिक आदि प्रकार से रूपी द्रव्यों को ग्रहण करते हुए एक जीवद्वारा समस्त लोकाकाश के पुद्गलों का स्पर्श करना।

पुद्गलविपाकी प्रकृति - जो कर्म प्रकृति पुद्गल में फल प्रदान करने के सन्मुख हो अर्थात् जिस प्रकृति का फल आत्मा पुद्गल द्वारा अनुभव करे। औदारिक आदि नामकर्म के उदय से ग्रहण किए गए पुद्गलों में जो कर्म प्रकृति अपनी शक्ति को दिखाए, वह पुद्गलविपाकी प्रकृति है।

पूर्व - चौरासी लाख पूर्वांग का एक पूर्व होता है।

पूर्वांग - चौरासी लाख वर्ष का एक पूर्वांग होता है।

पूर्वानुपूर्वी - जो पदार्थ जिस क्रम से उत्पन्न हुआ हो या जिस क्रम से सूत्रकार के द्वारा स्थापित किया गया हो, उसकी उसी क्रम से गणना करना।

प्रकृति - कर्म के स्वभाव को प्रकृति कहते हैं।

प्रकृति-बंध - जीव के द्वारा ग्रहण किये गए कर्म-पुद्गलों में भिन्न-भिन्न शक्तियों-स्वभावों का पैदा होना, प्रकृति बंध कहलाता है। अथवा कर्म परमाणुओं का ज्ञानावरण आदि के रूप में परिणत होना।

प्रत्तर - श्रेणि के वर्ग को प्रतर कहते हैं।

प्रतिशलाकापल्य - प्रतिसाक्षीभूत सरसों के दानों से भरा जाने वाला पल्य।

प्रत्यक्ष - मन, इन्द्रिय, परोपदेश आदि पद निमित्तों की अपेक्षा रखे बिना एकमात्र आत्मस्वरूप से ही समस्त द्रव्यों और उनके पर्यायों को जानना।

प्रत्याख्यानावरणीय - जिस कषाय के प्रभाव से आत्मा को सर्वविरति चरित्र प्राप्त करने में बाधा हो, अर्थात् श्रमण (साधु) धर्म की प्राप्ति न हो, उसे प्रत्याख्यानावरणीय कहते हैं। इस कषाय के उदय होने पर एक देश त्याग रूप श्रावकाचार के पालन करने में तो बाधा नही आती है, किंतु सर्वत्याग साधु का पालन नही हो सकता है।

प्रत्येक वनस्पति - जिसके एक शरीर में एक ही जीव हो, उसे प्रत्येक वनस्पति कहते हैं। जैसे पत्ते, केले, सेव, आम आदि।

प्रथमस्थिति - अन्तर स्थान के नीचे की स्थिति।

प्रदेश - कर्म दलिकों को प्रदेश कहते हैं। पुद्गल के एक परमाणु के अवगाह स्थान की सज्ञा भी प्रदेश है।

प्रदेश बंध - जीव के साथ न्यूनाधिक परमाणु वाले कर्म स्कधों का सबध होना, प्रदेश बध कहलाता है।

प्रदेशोदय - जिसके उदय से आत्मा पर कुछ असर नही होता है, वह प्रदेशोदय है। अथवा बधे हुए कर्मों का अन्य रूप से अनुभव होना। अर्थात् जिन कर्मों के दलिक बाधे हैं उनका रस दूसरे भोगे जानेवाले सजातीय प्रकृतियों के निषेकों के साथ भोगा जाए, बद्ध प्रकृति स्वय अपना विपाक न बता सके।

प्रमाणांगुल - उत्सेधागुल से अढ़ाई गुणा विस्तार वाला और चार सौ गुणा लम्बा प्रमाणागुल होता है।

प्रमाद - आत्मविस्मरण होना, कुशल कर्मों में आदर न रखना, कर्तव्य-अकर्तव्य की स्मृति के लिए सावधान न रहना।

प्रयुत - चौरासी लाख प्रयुताग का एक प्रयुत होता है।

प्रयुताग - चौरासी लाख अयुत के समय को एक प्रयुताग कहते हैं।

प्रायश्चित - साधना में लगे दोष एव पाप की विशुद्धि के लिए हृदय से पश्चात्ताप करना, प्रायश्चित है। इसके दस प्रकार है- (१) आलोचना - लगे दोष को गुरु या रत्नाधिक के समक्ष यथावत् निवेदन करना (२) प्रतिक्रमण - सहसा लगे दोषों के लिए साधक द्वारा स्वत प्रायश्चित करते हुए कहना कि, "मेरा पाप मिथ्या हो" (३) तदुभय -

आलोचना और प्रतिक्रमण (४) विवेक - अनजान में आधाकर्म दोष से युक्त आहारादि आ जाए तो ज्ञात होते ही उसे उपयोग में न लेकर उसका त्याग करना (५) कायोत्सर्ग - एकाग्र होकर शरीर की ममता का त्याग करना। (६) तप -अनशन आदि बाह्य तप। (७) छेद - दीक्षा पर्याय को कम करना। इस प्रायश्चित के अनुसार जितना समय कम किया जाता है, उस अवधि में दीक्षित छोटे साधु दीक्षा पर्याय में उस दोषी साधु से बड़े हो जाते हैं। (८) मूल - पुनर्दीक्षा (९) अनवस्थाप्य - तप विशेष के पश्चात् पुनर्दीक्षा (१०) पाराश्चिक - सघ बहिष्कृत साधु द्वारा एक अवधि विशेष तक साधुवेष परिवर्तित कर जन-जन के बीच अपनी आत्मनिंदा करना।

पिण्डस्थ ध्यान - शरीर में अवस्थित आत्मा का ध्यान, प्रमेय की प्रधानता को सन्मुख रखकर किया हुआ ध्यान, इसमें वस्तु का आलम्बन होता है। (पिंड =शरीर) इसके अतर्गत ५ धारणाएँ हैं- (१) पार्थिवी (२) आग्नेयी (३) श्वसना (वायवी) (मारुती) (४) वारुणी और (५) तत्त्ववती।

पौषध - एक अहोरात्र के लिए चारों प्रकार के आहार और पाप पूर्ण प्रवृत्तियों का त्याग करना।

बन्ध - मिथ्यात्व आदि कारणों द्वारा काजल से भरी हुई डिबिया के समान पौद्गलिक द्रव्य से परिव्याप्त लोक में कर्मयोग्य पुद्गल वर्गणाओं का आत्मा के साथ नीर-क्षीर अथवा अग्नि और लोहपिंड की भाति एक दूसरे में अनुप्रवेश-अभेदात्मक एक क्षेत्रावगाह रूप सबध होने को बध कहते हैं। अथवा -आत्मा और कर्म परमाणुओं के सबध विशेष को बध कहते हैं। अथवा अभिनव नवीन कर्मों के ग्रहण को बंध कहते हैं।

बधकाल - परभव सबधी आयु के बधकाल की अवस्था।

बधस्थान - एक जीव के एक समय में जितनी कर्म प्रकृतियों का बध एक साथ (युगपत्) हो उनका समुदाय।

बध हेतु - मिथ्यात्व आदि जिन वैभाविक परिणामों (कर्मोदय जन्य आत्मा के परिणाम क्रोध आदि) से कर्म योग्य पुद्गल कर्मरूप परिणत हो जाता है।

बधन करण - आत्मा की जिस शक्ति-वीर्य विशेष से कर्म का बध होता है।

बादर - जो जीव बादर नामकर्म के उदय से बादर शरीर में रहते हैं अर्थात् जो काटने से कट जाए, छेदने से छिद जाए, भेदने से भिद जाए, अग्नि में जल जाए, छद्मस्थ के भी दृष्टिगोचर हो, उसे बादर कहते हैं। इसके भी पाँच भेद हैं पृथ्वीकाय, अपूकाय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय।

बादर अद्धा पल्योपम - बादर उद्धार पल्य में से सौ-सौ वर्ष के बाद एक-एक केशाग्र निकालने पर जितने समय में वह खाली हो, उतने समय को बादर अद्धापल्योपम कहते हैं।

बादर अद्धा सागरोपम - दस कोटा-कोटी बादर अद्धा पल्योपम के काल को बादर अद्धा सागरोपम कहा जाता है।

बादर उद्धार पल्योपम - उत्सेधागुल के द्वारा निष्पन्न एक योजन प्रमाण लम्बे, एक योजन प्रमाण चौड़े और एक योजन प्रमाण गहरे, एक गोल पल्य गड्ढे को एक दिन तक के उगे बालाग्रों से ठसाठस भरकर कि जिसको न आग जला सके, न वायु उड़ा सके और न जल का ही प्रवेश हो सके, प्रति समय एक-एक बालाग्र के निकालने पर जितने समय में वह पल्य खाली हो जाए, उस काल को बादर उद्धार पल्योपम कहते हैं।

बादर उद्धार सागरोपम - दस कोटा-कोटी बादर उद्धार पल्योपम के काल को बादर उद्धार सागरोपम कहा जाता है।

बादर काल पुद्गल परावर्त - जिसमें बीस कोटा-कोटी सागरोपम के एक कालचक्र के प्रत्येक समय को क्रम या अक्रम से जीव अपने मरण द्वारा स्पर्श कर लेता है।

बादर भाव पुद्गल परावर्त - एक जीव अपने मरण के द्वारा क्रम से या विना क्रम के अनुभाग बध के कारण भूत समस्त कषाय स्थानों को जितने समय में स्पर्श कर लेता है।

बादर द्रव्य पुद्गल परावर्त - जितने काल में एक जीव समस्त लोक में रहनेवाले सब परमाणुओं को आहारक शरीर वर्गणा के सिवाय शेष औदारिक शरीर आदि सातों वर्गणा रूप से ग्रहण करके छोड़ देता है।

बादर क्षेत्र पुद्गल परावर्त - एक जीव अपने मरण के द्वारा लोकाकाश के समस्त प्रदेशों को क्रम से या विना क्रम से जैसे बने वैसे जितने समय में स्पर्श कर लेता है, उसे बादर क्षेत्र पुद्गल परावर्त कहते हैं।

बाल मरण - अज्ञान दशा-अविरत दशा में मृत्यु।

बाल तपस्वी - अज्ञान पूर्वक तप का अनुष्ठान करनेवाला। अथवा आत्मस्वरूप को न समझकर अज्ञानपूर्वक काय क्लेश आदि तप करनेवाला।

बीजाष्टक -ह्रं ह्रां ह्रीं ह्रुं ह्रूं ह्रें ह्रै ह्रौं अष्टराष्टक, इनमें से ह्रींको माया बीज कहते हैं।

भव विपाकी प्रकृति - भव की प्रधानता से अपने फल देनेवाली प्रकृति

भद्र प्रतिमा - ध्यानपूर्वक तप करने का एक प्रकार। पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर की ओर मुख कर क्रमश प्रत्येक दिशा में ४-४ प्रहर तक ध्यान करना। यह प्रतिमा दो दिन की होती है।

भद्र ध्यान - जो जीव भोगों को त्यागकर धर्म का चिन्तवन करता है और चिन्तवन करते हुए भी इच्छानुरूप भोगों का सेवन करता है, उसका भद्रध्यान मानना चाहिए मर्यादित भोग-सेवन करते हुए भी धर्म ध्यान।

भव्य - जिसमें मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता है। जो मोक्ष प्राप्त करते हैं, अथवा जिनमें सम्यग्दर्शन आदि भाव प्रगट होने की योग्यता है।

भाव - जीव और अजीव द्रव्यों का अपने-अपने स्वभाव रूप से परिणमन होना।

भावकर्म - जीव के मिथ्यात्व आदि वे वैभाविक स्वरूप जिनके निमित्त से कर्मपुद्गल कर्म रूप हो जाते हैं।

भावप्राण - ज्ञान, दर्शन, चेतना आदि जीव के गुण।

भावलेश्या - भोग और सक्लेश से गत आत्मा का परिणाम विशेष। सक्लेश का कारण कषायोदय है। अत कषायोदय से अनुरजित योग प्रवृत्ति को भाव लेश्या कहते हैं। मोहकर्म के उदय या क्षयोपशम या उपशम या क्षय से होनेवाली जीव के प्रदेशों में चचलता को भावलेश्या कहते हैं।

भेद विज्ञान - शरीर और आत्मा दो अलग अस्तित्व हैं, इनका आमूलेप मात्र भ्रम है, जो विज्ञान इसे युक्ति युक्त प्रतिपादित करता है वह स्व-पट-विज्ञान।

भोग-उपभोग - एक बार भोगे जानेवाले पदार्थों को भोग और बार-बार भोगे जानेवाले पदार्थों को उपभोग कहते हैं।

भोगातराय - भोग के साधन होते हुए भी जिस कर्म के उदय से जीव भोग्य वस्तुओं का भोग नही कर सकता, उसे भोगातराय कहते हैं। जो पदार्थ एक बार भोगे जाए उन्हें भोग कहते हैं। जैसे भोजनादि।

मतिअज्ञान - मिथ्यादर्शन के उदय से होनेवाला विपरीत मति उपयोग रूप ज्ञान।

मतिज्ञान - मन और इन्द्रियों की सहायता द्वारा होनेवाले पदार्थ के ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं। मतिज्ञान को अभिनिबोधिक ज्ञान भी कहते हैं। अथवा इद्रिय और मन के द्वारा यथायोग्य स्थान में अवस्थित वस्तु का होनेवाला ज्ञान।

मन - विचार करने का साधन।

मनः पर्याप्ति - जिस शक्ति से जीव मन के योग्य मनोवर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करके मन रूप परिणमन करे और उसकी शक्ति विशेष से उन पुद्गलों को वापस छोड़े उसकी पूर्णता को मन पर्याप्ति कहते हैं।

मन.पर्याय ज्ञान - मन के चिंतनीय परिणामों को जिस ज्ञान से प्रत्यक्ष किया जाता है, उसे मन पर्याय ज्ञान कहते हैं।

मनुष्य - जो मन के द्वारा नित्य ही हेय-उपादेय, तत्त्व-अतत्त्व, आप्त-अनाप्त, धर्म-अधर्म आदि का विचार करते हैं, कर्म करने में निपुण हैं, उत्कृष्ट मन के धारक हैं, विवेकशील होने से न्याय-नीतिपूर्वक आचरण करनेवाले हैं, उन्हें मनुष्य कहते हैं।

मनोद्रव्य योग्य उत्कृष्टा वर्गणा- मनोद्रव्य योग्य जघन्य वर्गणा के ऊपर एक-एक प्रदेश बढते-बढते जघन्य वर्गणा के स्कन्ध के प्रदेशों के अनन्तवें भाग अधिक प्रदेश वाले स्कन्धों की मनोद्रव्य योग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है।

मनोद्रव्य योग्य जघन्य वर्गणा - श्वासोच्छ्वास योग्य उत्कृष्ट वर्गणा के बाद की अग्रहण योग्य उत्कृष्ट वर्गणा के स्कधों से एक प्रदेश अधिक स्कधों की मनोद्रव्य योग्य जघन्य वर्गणा होती है ।

मनोयोग - जीव का वह व्यापार जो औदारिक, वैक्रिय या आहारक शरीर के द्वारा ग्रहण किए हुए मनप्रायोग्य वर्गणा की सहायता से होता है अथवा काययोग के द्वारा मनप्रायोग्य वर्गणाओं को ग्रहण करके मनोयोग रूप परिणत हुए वस्तु विचारात्मक द्रव्य को मन कहते हैं और उस मन के सहचारी कारणभूत योग को मनोयोग कहते हैं अथवा जिस योग का विषय मन है अथवा मनोवर्गणा से निष्पन्न हुए द्रव्यमन के अवलबन से जीव का जो सकोच विकोच होता है वह मनोयोग है।

मरण - आयुष्य पूर्ण (पुरा) होने पर आत्मा का शरीर से पृथक् होना, अथवा शरीर से प्राणों का निकलना तथा बधे हुए आयुष्य में से प्रति समय आयु-दलिकों का क्षय होना 'मरण' कहलाता है।

महाकमल - चौरासी लाख महाकमलाग का एक महाकमल होता है।

महाकमलाग - चौरासी लाख कमल के समय को एक महाकमलाग कहते हैं।

महाकुमुद - चौरासी लाख महाकुमुदाग का एक महाकुमुद होता है।

महाकुमुदाग - चौरासी लाख कुमुद का एक महाकुमुदाग होता है।

महाभद्र प्रतिमा - ध्यानपूर्वक तप करने का एक प्रकार। चारों ही दिशाओं में क्रमश एक-एक अहोरात्र तक कायोत्सर्ग करना।

महालता - चौरासी लाख महालताग के समय को एक महालता कहते हैं।

महालताग - चौरासी लाख लता का एक महालताग कहलाता है।

महाशलाका पल्य - महासाक्षी भूत सरसों के दानों द्वारा भरे जानेवाले पल्य को महाशलाकापल्य कहते हैं।

महाव्रत - हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य और परिग्रह का मन, वचन और काया से जीवन पर्यंत परित्याग। हिंसा आदि को पूर्णरूपेण त्याग किए जाने से इन्हें महाव्रत कहा जाता है। गृहस्थवास का त्याग कर साधना में प्रवृत्त होनेवालों का यह शील है।

महासर्वतोभद्र प्रतिमा - इस तप का आरभ उपवास से होता है और क्रमश सात उपवास (षोडश भक्त) तक पहुँच जाता है। बढ़ने का इसका क्रम लघु की भाति ही है। अतर केवल इतना ही है कि लघु में उत्कृष्ट तप द्वादशभक्त और इसमें षोडश भक्त है। एक परिपाटी का कालमान १ वर्ष १ महिना और १० दिन है। इसकी चार परिपाटियाँ हैं, इसकी आराधना वीर कृष्ण ने की थी। इसका क्रम यन्त्र के अनुसार चलता है।

महासिंह निष्क्रीडित तप- तप करने का एक विशेष प्रकार। सिंह गमन करता हुआ जिस प्रकार पीछे मुड़कर देखता है, उसी प्रकार तप करते हुए आगे बढ़ना और साथ ही

पीछे किया हुआ तप भी करना। यह महा और लघु दो प्रकार का होता है। प्रस्तृत क्रम में अधिकाधिक सोलह दिन का तप होता है और फिर उसी क्रम से उतार होता है। समग्र तप में १ वर्ष ६ महिने और ९८ दिन लगते हैं। इस तप की भी ४ परिपाटी होती है। इस का क्रम यत्र के अनुसार चलता है।

मान - गर्व, अभिमान। झूठे आत्मप्रदर्शन को मान कहते हैं। अथवा जिस दोष से दूसरे के प्रति नमने की वृत्ति न हो, छोटे बड़े के प्रति उचित नम्रभाव न रखा जाता हो, जाति कुल, तप आदि के अहकार से दूसरे के प्रति तिरस्कार रूप वृत्ति हो, उसे मान कहते हैं।

माया - कपट भाव, अर्थात विचार और प्रवृत्ति में एकरूपता के अभाव को माया कहते हैं। आत्मा का कुटिल भाव। दूसरे को ठगने के लिए जो कुटिलता या छल आदि किए जाते हैं, अपने हृदय के विकारों को छिपाने की जो चेष्टा की जाती, वह माया है। अथवा विचार और प्रवृत्ति में एकरूपता के अभाव को माया कहते हैं।

मार्गणा - मार्गणा उन अवस्थाओं को कहते हैं जिनमें गति आदि से जीवों को देखा जाता है, उनकी उसी रूप में विचारणा, गवेषणा करना मार्गणा कहलाती है।

मिथ्यात्व - तत्त्व के प्रति विपरीत श्रद्धा। अथवा पदार्थों का अयथार्थ श्रद्धान।

मिथ्यात्व-मोहनीय - जिसके उदय से जीव को तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप की रुचि ही न हो, उसे मिथ्यात्व-मोहनीय कहते हैं। इस कर्म के उदय से जीव सर्वज्ञ प्रणीत मार्ग पर न चलकर उसके प्रतिकूल मार्ग पर चलता है। समार्ग से विमुख रहता है, जीवाजीवादि तत्वों पर श्रद्धा नही रखता है और अपने हिताहित का विचार करने में असमर्थ रहता है। अर्थात् हित को अहित और अहित को हित समझता है।

मिश्र मोहनीय - इसका दूसरा नाम सम्यक्त्व मिथ्यात्व मोहनीय है। जिस कर्म के उदय से जीव को यथार्थ की रुचि या अरुचि न होकर दोलायमान स्थिति रहे, उसे मिश्र मोहनीय कहते हैं। इसके उदय से जीव को न तो तत्त्वों के प्रति रुचि होती है और न अतत्त्वों के प्रति अरुचि हो पाती है। इस रुचि को खट्टीमीठी वस्तु के स्वाद के समान समझना चाहिए। मिथ्यात्व के अर्धशुद्ध दलिकों को भी मिश्र मोहनीय कहते हैं।

मुक्त - सपूर्ण कर्म क्षय कर जन्म-मरण से रहित होना।

मुक्त जीव - सपूर्ण कर्मों का क्षय करके जो अपने ज्ञानदर्शनादि भाव प्राणों से युक्त होकर आत्मस्वरूप में अवस्थित हैं, वे मुक्तजीव कहलाते हैं।

मुहूर्त - दो घटिका या ४८ मिनिट का समय।

मूल प्रकृति - कर्मों के मुख्य भेदों को मूल प्रकृति कहते हैं।

मोक्ष - सपूर्ण कर्मों के क्षय होने को मोक्ष कहते हैं। सपूर्ण कर्म-पुद्गलों का आत्म प्रदेशों से पृथक् हो जाना द्रव्यमोक्ष और द्रव्य मोक्ष जन्य आत्मा के विशुद्ध परिणामों को भावमोक्ष कहा जाता है।

मोहनीय कर्म - जो कर्म जीव को स्व-पर विवेक में तथा स्वरूपरमण में वाधा पहुचाता है अथवा जो कर्म आत्मा के सम्यक्त्व और चरित्रगुण का घात करता है, उसे मोहनीय कर्म कहते हैं। इसके २८ भेद हैं।

यथाख्यात सयम - समस्त मोहनीय कर्म के उपशम या क्षय से जैसा आत्मा का स्वभाव बताया है, उस अवस्था रूप वीतराग संयम।

यथाप्रवृत्त करण - जिस परिणाम शुद्धि के कारण जीव आयुकर्म के सिवाय शेष सात कर्मों की स्थिति पल्योपम के असख्यातवें भाग कम एक कोडा-कोडी सागरोपम जितनी कर देता है। जिसमें करण से पहले के समान अवस्था (स्थिति) बनी रहे, उसे यथाप्रवृत्तकरण कहते हैं।

यवमध्य भाग - आठ युका का एक यवमध्य भाग होता है।

युग - पाच वर्ष का समय।

यूका - आठ लीख की एक यूका (जू) होती है।

योग - मन, वचन और काया के व्यापार को योग कहते हैं। वीर्यान्तराय के क्षय या क्षयोपशम से मनोवर्गणा, वचनवर्गणा और कायवर्गणा के पुद्‌गलों का आलम्बन लेकर आत्म-प्रदेशों में होने वाले परिस्पन्द-कम्पन या हलन-चलन को भी 'योग' कहते हैं। इसी योग को 'प्रयोग' भी कहते हैं। अथवा - साध्वाचार का पालन करना सयम योग है। आत्मप्रदेशों में परिस्पन्दन होने को योग कहते हैं। आत्मप्रदेशों में अथवा आत्मशक्ति में परिस्पन्दन मन, वचन, काया के द्वारा होता है, अत मन, वचन, काया के कर्म व्यापार को अथवा पुद्‌गलविपाकी शरीर नामकर्म के उदय से मन, वचन, काय से युक्त जीव का कर्मों को ग्रहण करने में कारणभूत शक्ति को योग कहा जाता है।

योग निरोध - योगों के विनाश की योग निरोध सज्ञा है।

योजन - चार गव्युत या आठ हजार धनुष्य का एक योजन होता है।

योनि - योनि शब्द 'यु मिश्रणे' धातु से बना है। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है - 'युवन्ति अस्यामिति योनि ' अर्थात् जिसमें तैजस कार्मण शरीर वाले जीव, औदारिकादि शरीर योग्य पुद्‌गल स्कान्ध के समुदाय के साथ मिश्रित होते हैं, उसे 'योनि' कहते हैं। अर्थात् जीवों की उत्पत्ति स्थान को योनि कहते हैं। वह योनि प्रत्येक जीवनिकाय के वर्ण, गध, रस, स्पर्श के भेद से अनेक प्रकार की है।

यौगालिक - मानव सभ्यता के पूर्व की सभ्यता, जिसमें मनुष्य युगल रूप में जन्म लेता है, वे यौगालिक कहलाते हैं। उनकी आवश्यक सामग्रियों की पूर्ति कल्पवृक्षों से होती है।

वर्ग - समान दो सख्याओं का आपस में गुणा करने पर प्राप्त राशि। सजातीय प्रकृतियों के समुदाय। अविभागी प्रतिच्छेदों का समूह।

पीछे किया हुआ तप भी करना। यह महा और लघु दो प्रकार का होता है। प्रस्तुत क्रम में अधिकाधिक सोलह दिन का तप होता है और फिर उसी क्रम से उतार होता है। समग्र तप में १ वर्ष ६ महिने ओर ९८ दिन लगते हैं। इस तप की भी ४ परिपाटी होती है। इस का क्रम यत्र के अनुसार चलता है।

मान - गर्व, अभिमान। झूठे आत्मप्रदर्शन को मान कहते हैं। अथवा जिस दोष से दूसरे के प्रति नमने की वृत्ति न हो, छोटे बड़े के प्रति उचित नम्रभाव न रखा जाता हो, जाति कुल, तप आदि के अहकार से दूसरे के प्रति तिरस्कार रूप वृत्ति हो, उसे मान कहते हैं।

माया - कपट भाव, अर्थात विचार और प्रवृत्ति में एकरूपता के अभाव को माया कहते हैं। आत्मा का कुटिल भाव। दूसरे को ठगने के लिए जो कुटिलता या छल आदि किए जाते हैं, अपने हृदय के विकारों को छिपाने की जो चेष्टा की जाती, वह माया है। अथवा विचार और प्रवृत्ति में एकरूपता के अभाव को माया कहते हैं।

मार्गणा - मार्गणा उन अवस्थाओं को कहते हैं जिनमें गति आदि से जीवों को देखा जाता है, उनकी उसी रूप में विचारणा, गवेषणा करना मार्गणा कहलाती है।

मिथ्यात्व - तत्त्व के प्रति विपरीत श्रद्धा। अथवा पदार्थों का अयथार्थ श्रद्धान।

मिथ्यात्व-मोहनीय - जिसके उदय से जीव को तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप की रुचि ही न हो, उसे मिथ्यात्व-मोहनीय कहते हैं। इस कर्म के उदय से जीव सर्वज्ञ प्रणीत मार्ग पर न चलकर उसके प्रतिकूल मार्ग पर चलता है। समार्ग से विमुख रहता है, जीवाजीवादि तत्वों पर श्रद्धा नही रखता है और अपने हिताहित का विचार करने में असमर्थ रहता है। अर्थात् हित को अहित और अहित को हित समझता है।

मिश्र मोहनीय - इसका दूसरा नाम सम्यक्त्व मिथ्यात्व मोहनीय है। जिस कर्म के उदय से जीव को यथार्थ की रुचि या अरुचि न होकर दोलायमान स्थिति रहे, उसे मिश्र मोहनीय कहते हैं। इसके उदय से जीव को न तो तत्त्वों के प्रति रुचि होती है और न अतत्त्वों के प्रति अरुचि हो पाती है। इस रुचि को खट्टीमीठी वस्तु के स्वाद के समान समझना चाहिए। मिथ्यात्व के अर्धशुद्ध दलिकों को भी मिश्र मोहनीय कहते हैं।

मुक्त - सपूर्ण कर्म क्षय कर जन्म-मरण से रहित होना।

मुक्त जीव - सपूर्ण कर्मों का क्षय करके जो अपने ज्ञानदर्शनादि भाव प्राणों से युक्त होकर आत्मस्वरूप में अवस्थित हैं, वे मुक्तजीव कहलाते हैं।

मुहूर्त - दो घटिका या ४८ मिनिट का समय।

मूल प्रकृति - कर्मों के मुख्य भेदों को मूल प्रकृति कहते हैं।

मोक्ष - सपूर्ण कर्मों के क्षय होने को मोक्ष कहते हैं। सपूर्ण कर्म-पुद्गलों का आत्म प्रदेशों से पृथक् हो जाना द्रव्यमोक्ष और द्रव्य मोक्ष जन्य आत्मा के विशुद्ध परिणामों को भावमोक्ष कहा जाता है।

मोहनीय कर्म - जो कर्म जीव को स्व-पर विवेक में तथा स्वरूपरमण में बाधा पहुचाता है अथवा जो कर्म आत्मा के सम्यक्त्व और चरित्रगुण का घात करता है, उसे मोहनीय कर्म कहते हैं। इसके २८ भेद हैं।

यथाख्यात सयम - समस्त मोहनीय कर्म के उपशम या क्षय से जैसा आत्मा का स्वभाव वताया है, उस अवस्था रूप वीतराग सयम।

यथाप्रवृत्त करण - जिस परिणाम शुद्धि के कारण जीव आयुकर्म के सिवाय शेष सात कर्मों की स्थिति पल्योपम के असख्यातवें भाग कम एक कोडा-कोडी सागरोपम जितनी कर देता है। जिसमें करण से पहले के समान अवस्था (स्थिति) बनी रहे, उसे यथाप्रवृत्तकरण कहते हैं।

यवमध्य भाग - आठ युका का एक यवमध्य भाग होता है।

युग - पाच वर्ष का समय।

यूका - आठ लीख की एक यूका (जू) होती है।

योग - मन, वचन और काया के व्यापार को योग कहते हैं। वीर्यान्तराय के क्षय या क्षयोपशम से मनोवर्गणा, वचनवर्गणा और कायवर्गणा के पुद्‌गलों का आलम्बन लेकर आत्म-प्रदेशों में होने वाले परिस्पन्द-कम्पन या हलन-चलन को भी 'योग' कहते हैं। इसी योग को 'प्रयोग' भी कहते हैं। अथवा - साध्वाचार का पालन करना सयम योग है। आत्मप्रदेशों में परिस्पन्दन होने को योग कहते हैं। आत्मप्रदेशों में अथवा आत्मशक्ति में परिस्पन्दन मन, वचन, काया के द्वारा होता है, अत मन, वचन, काया के कर्म व्यापार को अथवा पुद्‌गलविपाकी शरीर नामकर्म के उदय से मन, वचन, काय से युक्त जीव का कर्मों को ग्रहण करने में कारणभूत शक्ति को योग कहा जाता है।

योग निरोध - योगों के विनाश की योग निरोध सज्ञा है।

योजन - चार गव्युत या आठ हजार धनुष्य का एक योजन होता है।

योनि - योनि शब्द 'यु मिश्रणे' धातु से बना है। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है - 'युवन्ति अस्यामिति योनि ' अर्थात् जिसमें तैजस कार्मण शरीर वाले जीव, औदारिकादि शरीर योग्य पुद्‌गल स्कान्ध के समुदाय के साथ मिश्रित होते हैं, उसे 'योनि' कहते हैं। अर्थात् जीवों की उत्पत्ति स्थान को योनि कहते हैं। वह योनि प्रत्येक जीवनिकाय के वर्ण, गध, रस, स्पर्श के भेद से अनेक प्रकार की है।

यौगालिक - मानव सभ्यता के पूर्व की सभ्यता, जिसमें मनुष्य युगल रूप में जन्म लेता है, वे यौगालिक कहलाते हैं। उनकी आवश्यक सामग्रियों की पूर्ति कल्पवृक्षों से होती है।

वर्ग - समान दो सख्याओं का आपस में गुणा करने पर प्राप्त राशि। सजातीय प्रकृतियों के समुदाय। अविभागी प्रतिच्छेदों का समूह।

वर्गणा - समान जातीय पुद्गलों का समूह।

वचनयोग - जीव के उस व्यापार को कहते हैं जो औदारिक, वैक्रिय या आहारक शरीर की क्रिया द्वारा सचय किए हुए भाषा द्रव्य की सहायता से होता है। अथवा भाषा परिणामरूपता को प्राप्त हुए पुद्गल को वचन कहते हैं और उस सहकारी कारणभूत वचन के द्वारा होने वाले योग को वचनयोग कहते हैं। अथवा - वचन पर विजय करने वाले योग को या भाषा-वर्गणा सम्बन्धी पुद्गल स्कधों के अवलबन से जो जीव प्रदेशों में सकोच - विकोच होता है, उसे वचनयोग कहते हैं।

वज्रऋषभ नाराच - वज्र का अर्थ कीली, ऋषभ का अर्थ वेष्टनपट्टी और नाराच का अर्थ दोनों ओर मर्कटबध है। जिस सहनन में दोनों तरफ से मर्कटबध से बधी हुई दो हड्डियों को भेदने वाली हड्डी की कील लगी हुई हो, उसे वज्र ऋषभ नाराच कहते हैं।

वर्ण - जिस कर्म के उदय से शरीर में कृष्ण, गौर आदि रग होते हैं, उसे वर्ण कहते हैं।

वनस्पति काय - जिन जीवों का शरीर वनस्पतिमय होता है।

वामन सस्थान - इस सस्थान वाले का शरीर वामन (बौना) होता है।

विकल प्रत्यक्ष - चेतना शक्ति के अपूर्ण विकास के कारण जो ज्ञान मूर्त पदार्थों के समग्र पर्यायों, भावों को जानने में असमर्थ हो।

विग्रह गति - जीव की एक जन्म से दूसरे जन्म में जाते समय बीच में होने वाली गति दो प्रकार की होती है- ऋजु और विग्रह (वक्र)। ऋजु गति एक समय की होती है। मृत जीव की उत्पत्ति-स्थान विश्रेणि में होता है तब उसकी गति विग्रह (वक्र) होती है। इसीलिए वह दो से लेकर चार समय तक की होती है। जिस विग्रहगति में एक घुमाव होता है उसका कालमान दो समय का, जिसमें दो घुमाव हो उसका कालमान चार समय का होता है। (स्थानाग वृत्ति, पत्र ५२ विग्रह गति वक्रगतिर्यदा विश्रेणिव्यवस्थितमुत्पत्ति स्थान गन्तव्य भवति तदा या स्यात्)

विपाक - कर्म प्रकृति की विशिष्ट अथवा विविध प्रकार के फल देने की शक्ति को और फल देने के अभिमुख होने को विपाक कहते हैं।

विपाक काल - कर्म प्रकृतियों का अपने फल देने के अभिमुख होने का समय।

विपुलमति मनःपर्यायज्ञान - चिंतनीय वस्तु के पर्यायों को विविध विशेषताओं सहित स्फुटता से जानना।

विभंग ज्ञान - इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना केवल आत्मा के द्वारा रूपी द्रव्यों को जानना अवधिज्ञान है। मिथ्यात्वी का यही ज्ञान विभग कहलाता है।

विरति - हिंसादि सावद्य व्यापारों अर्थात् पापजनक प्रयत्नों से अलग हो जाना।

विराधक - जो व्रत ग्रहण किए हैं, उनका सम्यक् रूप से पालन नही करने वाला तथा दुष्कृत्यों की आलोचना कर प्रायश्चित करने से पूर्व ही मृत्यु को प्राप्त हो जाने वाला।

विशेषबन्ध - किसी खास गुण स्थान या किसी खास गति आदि को लेकर जो बध कहा जाता है उसे विशेषबन्ध कहते हैं।

विसयोजना - प्रकृति के क्षय होने पर भी पुन बध की सभावना बनी रहे।

विद्याचारण - षष्ठ (बेला) तप करने वाले भिक्षु को यह दिव्य शक्ति प्राप्त होती है। इसकी शक्ति प्रारभ में कम, बाद में अधिक होती है। वह यदि तिरछे लोक में उड़ान भरे तो आठवें नदीश्वर द्वीप तक जा सकता है। नदीश्वर द्वीप जाते समय उसे बीच में मानुषोत्तर पर्वत पर विश्राम लेना पड़ता है, और दूसरी उड़ान में वह नदीश्वर द्वीप पहुचता है। परतु लौटते समय उसे विश्राम की आवश्यकता नही होती। इसी प्रकार ऊर्ध्व दिशा की ओर उड़ान भरते समय पहले नदनवन में विश्राम लेकर दूसरी उड़ान में पाडुक वन पहुचता है। उसे लौटते समय विश्राम की आवश्यकता नही होती। इस लब्धि वाला तीन बार आख की पलक झपके जितने समय में एक लाख योजनवाले जबूद्वीप में ३ बार चक्कर लगा सकता है।

विहायोगति - जिस कर्म के उदय से जीव की चाल हाथी, बैल आदि की चाल के समान शुभ अथवा ऊट, गधे की चाल के समान अशुभ होती है, उसे विहायोगति कहते हैं।

वीर्यांतराय - वीर्य याने पराक्रम। जिस कर्म के उदय से जीव शक्तिशाली और निरोग होते हुए भी कार्य विशेष में पराक्रम न कर सके, शक्ति सामर्थ्य का उपयोग न करे, उसे वीर्यांतराय कहते हैं।

वीरासन - पाटे पर बैठकर दोनों पैर जमीन से लगा लिए जाए और पाटा हटा लेने पर उसी प्रकार अधर बैठा रहना वीरासन है।

वेद - जिसके द्वारा इद्रियजन्य, संयोगजन्य सुख का वेदन किया जाए, अथवा मैथुन सेवन करने की अभिलाषा को वेद कहते हैं। अथवा वेद मोहनीय कर्म के उदय, उदीरणा से होने वाले जीव के परिणामों का सम्मोह (चंचलता) जिससे गुण-दोष का विवेक नही रहता।

वेदक सम्यक्त्व - क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में विद्यमान जीव जब सम्यक्त्व मोहनीय के अतिम पुद्गल के रस का अनुभव करता है, उस समय के उसके परिणाम को वेदक सम्यक्त्व कहते हैं। इसके बाद जीव को क्षायिक सम्यक्त्व ही प्राप्त होता है।

वेदनीय कर्म - जिस कर्म के द्वारा जीव को सासारिक इद्रिय जन्य सुख-दु.ख का अनुभव हो, वह वेदनीय कर्म कहलाता है। इसके दो भेद हैं - १) सातावेदनीय, २) असातावेदनीय।

वैक्रिय वर्गणा - वे वर्गणाए जिनसे वैक्रिय शरीर वनता है।

वैक्रिय शरीर - जिस शरीर के द्वारा छोटे-वड़े, एक-अनेक, विविध-विचित्र रूप बनाने की शक्ति प्राप्त हो तथा जो शरीर वैक्रिय शरीर वर्गणाओं से निष्पन्न हो।

वैयावृत्य - आचार्य, उपाध्याय, शैक्ष, ग्लान, तपस्वी, स्थविर, साधर्मिक, कुल, गण और सघ की आहार आदि से सेवा करना।

व्यजनावग्रह - अव्यक्त ज्ञान रूप अर्थावग्रह से पहले होने वाला अत्यन्त अव्यक्त ज्ञान।

व्यवहार राशि - जिस जीव ने एक वार भी निगोद को छोड़कर त्रस आदि की गति पाई हो, उसे व्यवहार राशि कहते हैं।

व्यवहार सम्यक्त्व - कुगुरु, कुदेव और कुमार्ग को त्यागकर सुगुरु, सुदेव और सुमार्ग को स्वीकार करना, उनकी श्रद्धा करना, व्यवहार सम्यक्त्व कहलाता है।

रजोहरण - जैन मुनियों का एक उपकरण, जो कि भूमि-प्रमार्जन आदि कामों में आता है।

रस - जिस कर्म के उदय से शरीर में तिक्त, मधुर आदि शुभाशुभ रसों की उत्पत्ति हो, उसे रस कहते हैं।

रस गारव - मिष्ट भोजन करने का गर्व करना।

रस घात - बधे हुए ज्ञानावरणादि कर्मों के फल देने की तीव्र शक्ति को अपवर्तनाकरण के द्वारा मद कर देना ।

रस बध - जीव के द्वारा ग्रहण किए हुए कर्म-पुद्‌गलों में फल देने के तरतमभाव का होना रस-बध कहलाता है।

रसविपाकी - रस के आश्रय अर्थात् रस (अनुभाग) की मुख्यता से निर्दिश्यमान विपाक जिस प्रकृति का होता है, उस प्रकृति को रस विपाकी कहते हैं।

रसाणु - पुद्‌गल द्रव्य की शक्ति का सबसे छोटा अश।

रसोदय - बधे हुए कर्मों का साक्षात् अनुभव करना।

राजू - प्रमाणागुल से निष्पन्न असख्यात कोटा-कोटी योजन का एक राजू होता है। अथवा - श्रेणी के सातवें भाग को राजू कहते हैं।

ऋजुमति - पर के मन में स्थित मन, वचन, काय से किए गए अर्थ के ज्ञान से निवर्तित सरल बुद्धि ऋजुमति मन पर्यवज्ञान है।

ऋजुता - कपट से रहित मन, वचन, काय की सरल प्रवृत्ति ऋजुता कहलाती है।

ऋजुसूत्र - तीनों कालों के पूर्वापार विषयों को छोड़कर जो केवल वर्तमान-कालभावी विषय को ग्रहण करता है, वह ऋजुसूत्र नय है।

ऋषभ नाराच - इस हड्डियों की रचना-विशेष में दोनों तरफ हड्डी का मर्कटवध हो, तीसरी हड्डी का वेष्टन भी हो, लेकिन तीनों को भेदनेवाली हड्डी की कीली न हो, उसे ऋषभ नाराच सहनन कहते हैं।

ऋद्धि गारव - धन, सम्पत्ति, ऐश्वर्य को ऋद्धि कहते हैं और उससे अपने को महत्त्वशाली समझना ऋद्धि गारव है।

रूपातीत ध्यान - अपने चित्त को अन्य समस्त चिंतवनों से हटाकर किसी एक पदार्थ से बद्धमूल करना, बिना किसी आलम्बन के किसी पदार्थ का ध्यान, जिसमें शुद्ध, कर्ममल रहित, अमृत और ज्ञानमय शरीर से सयुक्त चेतन और आनद स्वरूप आत्मा का स्मरण होता है।

रूपस्थ ध्यान - वस्तुविरक्त ध्यान, स्वसवेद्य ध्यान, जिन लोकातिशायी आत्मस्वरूप में जिनेन्द्र अवस्थित हैं उसका ध्यान, इसमें वस्तु का आलम्बन सर्वथा छूट जाता है, यह दो प्रकार का है '- १) परगत = परमेष्टि का ध्यान, २) स्वगत = निजात्मा का ध्यान।

रोचक सम्यक्त्व - जिनोक्त क्रियाओं में रुचि को रोचक सम्यक्त्व कहते हैं।

लगुडासन - पैर की एड़ी और मस्तक का शिखास्थान पृथ्वी पर लगाकर समस्त शरीर धनुष की भाति अधर रखना लगुडासन है।

लघु सर्वतोभद्र प्रतिमा - अकों की स्थापना का वह प्रकार जिसमें सब ओर से समान योग आता है, उसे सर्वतोभद्र कहा जाता है। इस तप का उपवास से प्रारभ होता है और क्रमश बढते हुए द्वादश भक्त (५ उपवास) तक पहुच जाता है। दूसरे क्रम में मध्य के अक को आदि अक मानकर चला जाता है और पाच खडों में उसे पूरा किया जाता है। आगे यही क्रम चलता है। एक परिपाटी का कालमान ३ महिने १० दिन है। इसकी ४ परिपाटिया होती हैं। इसका क्रम यत्र के अनुसार चलता है।

लघुसिंह निष्क्रीडित तप - तप करने का एक प्रकार। सिंह गमन करते हुए जैसे पीछे मुड़कर देखता है, उसी प्रकार तप करते हुए आगे बढ़ना और साथ ही पीछे किया हुआ तप भी करना। यह लघु और महा दो प्रकार का होता है। प्रस्तुत क्रम में अधिकाधिक नौ दिन तपस्या होती है और फिर उसी क्रम से तप का उतार होता है। समग्र तप में ६ महिने और ७ दिन का समय लगता है। इस तप की भी चार परिपाटी हैं। इसका क्रम यंत्र के अनुसार चलता है।

लता - चौरासी लाख लताग के समय को एक लता कहते हैं।

लतांग - चौरासी लाख पूर्व का एक लताग होता है।

लब्धि - ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष को लब्धि कहते हैं।

लब्धि त्रस - वे जीव जिन्हें त्रस नामकर्म का उदय होता है और जो चलते-फिरते भी हैं।

लब्धि पर्याप्त - जो जीव अपनी-अपनी योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण करके मरते हैं, पहले नही, वे लब्धि पर्याप्त है।

लब्ध्य पर्याप्त - वे जीव जो स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण किए विना ही मर जाते हैं।

लव - सात स्तोक का समय।

लवण समुद्र - जैन भूगोल के अनुसार मनुष्य क्षेत्र अढ़ाई द्वीपों तक फैला हुआ है। मध्य में जम्बूद्वीप है जो एक लाख योजन लम्बा, एक लाख योजन चौड़ा वृत्ताकार है। उसके चारों ओर लवण समुद्र है।

लाभातराय - दाता उदार हो, दान की वस्तु विद्यमान हो, लेने वाला भी कुशल हो, फिर भी जिस कर्म के उदय से इष्ट वस्तु की प्राप्ति न हो, उसे लाभातराय कहते हैं।

लीख - भरत और ऐरवत क्षेत्र के मनुष्यों के आठ केशाग्रों की लीख होती है।

लेश्या - एक प्रकार का पौद्गलिक पर्यावरण है। जीव से पुद्गल और पुद्गल से जीव प्रभावित होते हैं। जीव को प्रभावित करने वाले पुद्गलों के अनेक वर्ग हैं, उनके एक वर्ग का नाम लेश्या है। लेश्या शब्द का अर्थ आभा, काति, प्रभा, छाया है। छाया पुद्गलों से प्रभावित होने वाले जीव परिणामों को भी लेश्या कहा जाता है। शरीर के वर्ण और आभा को लेश्या और विचार को भावलेश्या कहा है। अथवा - जीव के ऐसे परिणाम जिनके द्वारा आत्मा कर्मों से लिप्त हो अथवा कषायोदय से अनुरजित योग प्रवृत्ति।

लोक - धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुद्गल और जीव की अवस्थिति।

लोभ - ममता- परिणामों को लोभ कहते हैं। धन आदि की तीव्र आकाक्षा या गृद्धता बाह्य पदार्थों में 'यह मेरा है' इस प्रकार की अनुराग बुद्धि, ममता आदि रूप परिणाम।

शय्यातर - साधु जिस व्यक्ति के मकान में सोते हैं, वह शय्यातर कहलाता है।

शल्य - जिससे पीड़ा हो। वह तीन प्रकार का है। १) मायाशल्य-कपटभाव रखना। २) निदान शल्य - राजा, देवता आदि की ऋद्धि को देखकर या सुनकर मन में इस प्रकार दृढ़ निश्चय करना कि, मुझे भी मेरे तप, जप का फल हो तो, इस प्रकार की ऋद्धियां प्राप्त हों। ३) मिथ्यादर्शन शल्य - विपरीत श्रद्धा का होना।

शलाकापल्य - जिस पल्य को एक-एक साक्षीभूत सरसों के दाने से भरा जाता है, उसे शलाकापल्य कहते हैं।

शिक्षा व्रत - पुन -पुन सेवन करने योग्य अभ्यास प्रधान व्रतों को शिक्षा व्रत कहते हैं। वे चार हैं - १) सामयिक व्रत, २) देशावकासिक व्रत, ३) पौषधोपवास व्रत और ४) अतिथि सविभाग व्रत।

शीर्ष प्रहेलिका - चौरासी लाख शीर्ष प्रहेलिकाग की एक शीर्ष प्रहेलिका होती है।

शीर्ष प्रहेलिकाग - चौरासी लाख चूलिका का एक शीर्ष प्रहेलिकाग कहलाता है।

शुक्ल ध्यान - ध्यान की परम उज्ज्वल, निर्मल दशा। जिस ध्यान में बाह्य विषयों का संबध होने पर भी मन उनकी ओर नही जाता, एव पूर्ण वैराग्य दशा में रमता है। इस ध्यान की स्थिति में यदि कोई साधक के शरीर पर प्रहार करें, छेदन-भेदन करें, तब भी उसके मन में सक्लेश पैदा नही होता। शरीर को पीड़ा होने पर भी उस पीड़ा की अनुभूति नहीं होती। देह होने पर भी विदेह-मुक्त-सा अनुभव करे। स्वरूप की दृष्टि से उसके ४ भेद हैं। १) पृथक्त्व वितर्क सविचार, २) एकत्व वितर्क सविचार, ३) सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती, ४) समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति।

शुक्ल लेश्या - शख के समान श्वेतवर्ण के लेश्या जातीय पुद्गलों के सम्बन्ध से आत्मा के ऐसे परिणामों का होना जिनसे कषाय उपशान्त रहती है, वीतराग-भाव सम्पादन करने की अनुकूलता आ जाती है।

श्रुतज्ञान - जो ज्ञान श्रुतानुसारी है जिसमें शब्द और अर्थ का सम्बन्ध भासित होता है, जो मतिज्ञान के बाद होता है तथा शब्द और अर्थ की पर्यालोचना के अनुसरणपूर्वक इद्रिय व मन के निमित्त से होने वाला है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं।

श्रुतअज्ञान - मिथ्यात्व के उदय से सहचरित श्रुतज्ञान।

श्रुतज्ञानावरण कर्म - श्रुतज्ञान का आवरण करने वाला कर्म।

श्रेणि - सात राजू लबी आकाश के एक-एक प्रदेश की पक्ति।

शैलेशी अवस्था - चौदहवें गुणस्थान में जब मन, वचन और काय योग का निरोध हो जाता है, तब उसे शैलेशी अवस्था कहते हैं। इसमें ध्यान की पूर्णता होने से मेरू सदृश्य निष्प्रकम्पता व निश्चलता आती है। अथवा - मेरू पर्वत के समान निश्चल अथवा सर्व संवर रूप योग निरोध की अवस्था।

शैलेशीकरण - वेदनीय, नाम और गोत्र इन तीन कर्मों की असख्यात गुणश्रेणि से और आयुकर्म की यथास्थिति से निर्जरा करना।

श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका - आठ उत्श्लक्ष्णिका की एक श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका होती है।

श्वासोच्छ्वास - शरीर से बाहर की वायु को नाक के द्वारा अदर खीचना और अन्दर की हवा बाहर निकालना श्वासोच्छ्वास कहलाता है।

श्वासोच्छ्वास काल - रोगरहित निश्चिन्त तरुण पुरुष के एक बार श्वास लेने और त्यागने का काल।

क्षपक श्रेणि - मोहनीय कर्म का क्षय करता हुआ आत्मा जिस श्रेणि -अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्म सपराय और क्षीणमोह इन ४ गुण रूप सोपान पर आरूढ होता है, वह क्षपक श्रेणि है ।

क्षमा - क्रोध की उत्पत्ति के निमित्तभूत बाह्य कारण के प्रत्यक्ष में होने पर भी किंचित् मात्र भी क्रोध न करना क्षमा है ।

क्षय - कर्मों की आत्यतिक निवृत्ति अर्थात पूर्ण रूप से नष्ट हो जाना क्षय है । अथवा -विच्छंद होने पर पुन बध की सभावना न होना ।

क्षयोपशम - वर्तमान काल में सर्वघाती स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय और आगामी काल की दृष्टि से उन्ही का सद्अवस्थी रूप उपशम व देशघाती स्पर्धकों का उदय क्षयोपशम है। अर्थात् कर्म के उदयावली में प्रविष्ट मन्दरस स्पर्धक का क्षय और अनुदयमान रस स्पर्धक की सर्वघातिनी विपाकशक्ति का निरोध ।

क्षायिक भाव - कर्म के आत्यन्तिक क्षय से प्रगट होने वाला भाव।

क्षायिक सम्यक्त्व - अनन्तानुबधी कषाय चतुष्क और दर्शनमोहत्रिक इन सात प्रकृतियों के क्षय से आत्मा में तत्त्व रुचि रूप प्रगट होने वाला परिणाम ।

क्षायिक सम्यग्दृष्टि - वेदक सम्यग्दृष्टि होकर प्रशम सवेद आदि से सहित होते हुए जिनेंद्र भगवान की भक्ति भाव के प्रभाव से जिस की भावनाएँ वृध्दिगत हुई हैं, ऐसा मानव जहाँ केवलि भगवान विराजमान हैं, वहाँ मोह की क्षपणा को प्रारभ करता है, पर निष्ठापक वह चारों गतियों में से किसी भी गति में हो सकता है, अर्थात् सातों प्रकृतियों का पूर्णतया क्षय करके सम्यक्त्व प्राप्त करने वाले जीव ।

क्षायोपशमिक ज्ञान - मतिज्ञानावरणादि और वीर्यांतराय कर्म के सर्वघाती स्पर्धकों के उदयाभावी क्षय से तथा अनुदय प्राप्त उन्ही के सदवस्था रूप उपशम से होने वाले मतिज्ञान आदि ज्ञानों को क्षायोपशमिक ज्ञान कहा जाता है । अथवा - अपने -अपने आवरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला ज्ञान ।

क्षायोपशमिक भाव - कर्मों के क्षयोपशम से प्रकट होने वाला भाव ।

क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि - मोहनीय कर्म की प्रकृतियों में से क्षय योग्य प्रकृतियों के क्षय और शेष रही हुई प्रकृतियों के उपशम करने से सम्यक्त्व प्राप्त करने वाले जीव को कहते हैं।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व - मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के क्षय तथा उपशम से और सम्यक्त्व मोहनीय के उदय से आत्मा में होने वाले परिणाम को क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं।

क्षीण कषाय - जिसके सभी कषाय नष्ट हो चुके हैं, वह स्फटिक मणिमय पात्र में स्थित जल के समान निर्मल मन की परिणति से सहित हुआ है, वह क्षीण कषायी है।

संक्रमण - एक कर्म रूप में स्थित प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश का अन्य सजातीय कर्म रूप में बदल जाना अथवा वीर्य विशेष से कर्म का अपना हो दूसरी सजातीय कर्म प्रकृति स्वरूप को प्राप्त कर लेना।

सख्या - भेदों की गणना को सख्या कहते हैं।

सघ - गण का समुदाय-दो से अधिक आचार्यों का शिष्य समूह सघ कहलाता है। श्रावकों के समूह को भी सघ कहते हैं।

संज्वलन कषाय - जिस कषाय के उदय से आत्मा को यथाख्यात चरित्र की प्राप्ति न हो, अर्थात् जो कषाय परिषह तथा उपसर्गों के द्वारा श्रमण धर्म के पालन करने को प्रभावित करे, असर डाले, उसे सज्वलन कहते हैं। यह कषाय सर्वविरति चरित्र पालन करने में बाधा डालती है।

सज्ञा - नोइद्रियावरण कर्म के क्षयोपशम या तज्जन्य ज्ञान को अथवा अभिलाषा को सज्ञा कहते हैं।

संज्ञी - बुद्धिपूर्वक इष्ट-अनिष्ट में प्रवृत्ति-निवृत्ति करने वाले जीव। अथवा सम्यग्ज्ञान रूपी सज्ञा जिनको हो, उन्हें संज्ञी कहते हैं। जिनके लब्धि या उपयोग रूप मन पाया जाए उन जीवों को सज्ञी कहते हैं।

सथारा - अतिम समय में आहारादि का परित्याग करना।

सभव सत्ता - किसी कर्म प्रकृति की अमुक समय में सत्ता न होने पर भी भविष्य में सत्ता की सभावना मानना।

सयम - सावद्य योगों-पापजनक प्रवृत्तियों से उपरत हो जाना, अथवा पापजनक व्यापार - आरभ - समारभ से आत्मा को जिसके द्वारा सयमित-नियमित किया जाता है उसे सयम कहते हैं अथवा पाच महाव्रतों रूप यमों के पालन करने या पाच इद्रियों के जय को सयम कहते हैं।

सवर - आस्रव के निरोध को सवर कहते हैं। आते हुए नये कर्मों को रोकने वाले आत्मा के परिणाम को भाव सवर और कर्मपुद्गलों के आगमन के रुक जाने को द्रव्य सवर कहते हैं।

सवेध - परस्पर एक समय में अविरोध रूप से मिलना।

संलेखना - शारीरिक तथा मानसिक एकाग्रता से कषायादि का शमन करते हुए तपस्या करना।

संस्थान - जिस कर्म के उदय से शरीर के जुदे-जुदे शुभ या अशुभ आकार बने, उसे सस्थान कहते हैं। इसके छ भेद हैं - १) समचतुरस्र सस्थान, २) न्यग्रोध-परिमडल सस्थान, ३) सादि संस्थान, ४) कुब्ज संस्थान, ५) वामन सस्थान, ६) हुड सस्थान।

ससारी जीव - जो अपने यथायोग्य द्रव्य प्राणों और ज्ञानादि भाव प्राणों से युक्त होकर नरकादि चतुर्गति रूप ससार में परिभ्रमण करते रहते हैं। उन्हें ससारी जीव कहते हैं।

सहनन - जिस कर्म के उदय से शरीर में हड्डियों की सधिया दृढ़ होती हैं उसे सहनन कहते हैं। हड्डियों की रचना-विशेष को सहनन कहते हैं। इसके छह भेद हैं- १) वज्र ऋषभ नाराच, २) ऋषभ नाराच, ३) नाराच, ४) अर्द्ध नाराच, ५) कीलिका, ६) छेवट्ट।

सकल प्रत्यक्ष - सपूर्ण पदार्थों को उनकी त्रिकालवर्ती पर्यायों सहित युगपत् जाननेवाला ज्ञान।

सत्ता - बधे हुए कर्म का अपने स्वरूप को न छोड़कर आत्मा के साथ लगे रहना सत्ता कहलाती है। अथवा - बध समय का सक्रमण समय से लेकर जब तक उन कर्म परमाणुओं का अन्य प्रकृति रूप से सक्रमण नही होता या उनकी निर्जरा नही होती तब तक उनका आत्मा से लगे रहना।

सप्रतिकर्म - अनशन की अवस्था में उठना, बैठना, सोना, चलना आदि शारीरिक क्रियाए करना। ये क्रियाए भक्त-प्रत्याख्यान अनशन की अवस्था में ही होती है, शेष में नही।

समचतुरस्त्र सस्थान - सम का अर्थ समान, चतु का अर्थ चार और अस्त्र का अर्थ कोण होता है। अर्थात् पालथी मारकर बैठने से जिस शरीर के चारों कोण समान हों, अर्थात् आसन और कपाल का अतर, दोनों घुटनों का अतर, दाहिने कधे और बाये जानु का अतर, बाये कधे और दाहिने जानु का अतर, समान हो, उसे समचतुरस्त्र कहते हैं।

समाचारी - साधुओं के लिए आवश्यक करणीय क्रियाए व व्यवहार।

समिति - सयम के अनुकूल प्रवृत्ति को समिति कहते हैं। वे पाच हैं। १) ईर्या- ज्ञान, दर्शन व चरित्र की अभिवृद्धि के निमित्त युग परिणाम भूमि को देखते हुए एव स्वाध्याय व इद्रियों के विषयों का वर्णन करते हुए चलना। २) भाषा-भाषा दोषों का परिहार करते हुए पाप रहित एव सत्य, हित, मित और असदिग्ध बोलना। ३) एषणा- गवेषणा, ग्रहण और ग्रास सबधी एषणा के दोषों का वर्जन करते हुए आहार-पानी आदि औधिक उपधि और शय्या, पाट आदि औपग्रहिक उपधि का अन्वेषण। ४) आदान- निक्षेप-वस्त्र, पात्रादि उपकरणों को सावधानीपूर्वक लेना व रखना। ५) उत्सर्ग-मल, मूत्र, खेल, थूक, कफ आदि का विधिपूर्वक, पूर्वदृष्ट एव प्रमार्जित निर्जीव भूमि पर विसर्जन करना।

समुद्घात - मूल शरीर को छोड़े बिना ही आत्मा के प्रदेशों का बाहर निकलना।

समाधि-मरण - मृत्यु के सन्निकट आ जाने पर चारों प्रकार के आहार का त्याग करके आत्मध्यान करते हुए प्रसन्नतापूर्वक प्राणों का त्याग करना। १ पडित मरण और

सकाम मरण भी इसे कहते हैं। इसकी प्राप्ति विषयादि से विरक्त समाधिस्थ विज्ञों को इच्छापूर्वक होती है। तथा मृत्यु समय में भी अन्य समयों की तरह प्रसन्न ही रहते हैं। २ श्रुत चरित्र-धर्म में स्थित रहते हुए निर्मोह भाव में मृत्यु।

समय - काल का वह अविभाज्य अश जिसका कभी भी विभाग न किया जा सके। (काल का सूक्ष्मतम अविभाज्य अश।)

समवसरण - तीर्थंकर परिषद अथवा वह स्थान जहा तीर्थंकर का उपदेश होता है।

सम्यक्त्व - जीवादि नवतत्त्वों के श्रद्धान करने को सम्यक्त्व कहते हैं।

सम्यक्त्व मोहनीय - जिसका उदय तात्त्विक रुचि का निमित्त होकर भी औपशमिक और क्षायिक भाववाली तत्त्वरुचि का प्रतिबध करता है, उसे सम्यक्त्व मोहनीय कहते हैं। यद्यपि यह कर्म शुद्ध होने के कारण तत्त्वरुचि रूप सम्यक्त्व में व्याघात नही पहुचाता, परतु आत्मस्वभाव रूप औपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व नही हो पाता है और सूक्ष्म पदार्थों के विचारने में शका हुआ करती है, जिससे सम्यक्त्व में मलीनता आ जाती है।

सविपाक निर्जरा - यथाक्रम से परिपाक काल को प्राप्त और अनुभव के लिए उदयावली के स्रोत में प्रविष्ट हुए शुभाशुभ कर्मों का फल देकर निवृत होना।

सर्वतोभद्र प्रतिमा - सर्वतोभद्र प्रतिमा की दो विधियों का वर्णन उपलब्ध होता है। एक विधि के अनुसार क्रमश दशो दिशाओं की ओर अभिमुख होकर एक-एक अहोरात्र का कायोत्सर्ग किया जाता है। भ महावीर ने इसे किया था। दूसरी विधि के अनुसार इसके लघु और महा ये दो भेद हैं।

सर्वौषधि - तपस्या विशेष से प्राप्त होने वाली एक दिव्य शक्ति। सर्वौषधि लब्धि के धारक तपस्वी के शरीर के समस्त अवयव, मल, मूत्र, नख, केश, दात, थूक आदि से सुगध आती है तथा उसके स्पर्श से रोग शात हो जाते हैं। इस लब्धिधारी का समूचा शरीर ही जैसे पारस होता है, अमृतमय होता है। जहा से भी, जो भी वस्तु लो तो वह तुरत चमत्कार दिखलाती है। वर्षा का बरसता हुआ व नदी का बहता हुआ पानी और पवन तपस्वी के शरीर से सस्पृष्ट होकर रोग नाशक व विष सहारक हो जाते हैं। विष-मिश्रित पदार्थ यदि उनके पात्र या मुह में आता है तो वह भी निर्विष हो जाता है। उनकी वाणी की स्मृति भी महाविष के शमन की हेतु बनती है। उनके नख, केश, दात आदि शारीरिक वस्तुएं भी दिव्य औषधि का काम करती है।

सागरोपम - दस कोड़ा कोड़ी पल्योपम का एक सागरोपम होता है।

साता वेदनीय - जिस कर्म के उदय से आत्मा को इद्रिय विषय संबधी सुख का अनुभव हो, उसे सातावेदनीय कहते हैं।

सादि अनंत - जो आदि सहित होकर भी अनत है।

सादिबध - वह बध जो रुककर पुन होने लगता है।

सादि सान्त - जिस बध का उदय बीच में रुककर पुन प्रारंभ होता है और कालान्तर में पुन व्युच्छिन्न हो जाता है।

सादि सस्थान - शरीर में नाभि से ऊपर के अवयव हीन-पतले और नाभि से नीचे के अवयव पूर्ण मोटे हों उसे सादि-सस्थान कहते हैं। न्यग्रोध-परिमडल-सस्थान से विपरीत शरीर अवयवों की आकृति इस सस्थान वालों की होती है।

साधारण वनस्पति (निगोद) - साधारण वनस्पति को ही निगोद कहते हैं। एक शरीर का आश्रय करके अनत जीव जिसमें रहे अर्थात् एक ही शरीर को आश्रित करके जिन जीवों के आहार, आयु, श्वासोच्छ्वास आदि समान हो, उन्हें निगोद कहते हैं। जैसे जमीकद, कदमूल, आलू, रतालू, पिंडालू, मूली, गाजर, लहसून, प्याज (कांदा), कोमल फल, अकुरे के वाला धान्य, (सेवार) (काइ) इत्यादि। निगोद के दो प्रकार हैं - १) व्यवहार राशि, २) अव्यवहार राशि।

सान्निपातिक भाव - दो या दो से अधिक मिले हुए भाव।

सान्तर स्थिति - प्रथम और द्वितीय स्थिति के बीच में कर्म दलिकों से शून्य अवस्था।

सामायिक - राग द्वेष के अभाव को समभाव कहते हैं और जिस सयम से समभाव की प्राप्ति हो, अथवा ज्ञान-दर्शन-चरित्र को सम कहते हैं और उनकी आय-लाभ प्राप्ति होने को समाय तथा समाय के भाव को अथवा समाय को सामायिक कहा जाता है।

सास्वादान सम्यक्त्व - उपशम सम्यक्त्व से च्युत होकर मिथ्यात्व के अभिमुख हुआ जीव जब तक मिथ्यात्व को प्राप्त नही करता, तब तक के उसके परिणाम विशेष को सास्वादान सम्यक्त्व कहते हैं। सास्वादान को सासादान भी कहते हैं।

सासादान सम्यग्दृष्टि - जो औपशामिक सम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबधी कषाय के उदय से सम्यक्त्व से च्युत होकर मिथ्यात्व की ओर अभिमुख हो रहा है, किंतु अभी मिथ्यात्व को प्राप्त नही हुआ उतने समय के लिए वह जीव सासादान सम्यग्दृष्टि कहलाता है।

सिद्ध - कर्मों को सर्वथा क्षय कर जन्म मरण से मुक्त होने वाली आत्मा।

सिद्धि - सपूर्ण कर्मों के क्षय से प्राप्त होने वाली अवस्था।

सुषम - अवसर्पिणी काल का द्वितीय आरा जिसमें केवल सुख ही होता है, दु ख की मात्रा किंचित भी नही होती।

सुषम-दु षम - अवसर्पिणी काल का तीसरा आरा, जिसमें सुख की मात्रा अधिक होती है, और दु ख की मात्रा कम होती है।

सुषम-सुषम - अवसर्पिणी काल का पहला आरा जिसमें सब प्रकार के सुख ही सुख अर्थात् अत्यधिक सुख होता है।

सूत्र - महावीर द्वारा कथित आगम साहित्य सूत्र कहलाता है।

सूक्ष्म - जो सूक्ष्म नामकर्म के उदय से सूक्ष्म शरीर में रहते हैं अर्थात् जो जीव काटने से कटे नही, छेदने से छिदे नही, भेदने से भिदे नही, अग्नि में जले नही, दूसरी वस्तु से रुके नही, दूसरी वस्तु को रोके नही, छद्मस्थ को नजर आये नही और केवली भगवान् के ज्ञानगम्य हों उसे सूक्ष्म कहते हैं। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति ऐसे सूक्ष्म के पाच प्रकार हैं। वे सपूर्ण लोक में भरे हुए हैं।

सूक्ष्म अद्धापल्योपम - सूक्ष्म उद्धार पल्य में से सौ-सौ वर्ष के बाद केशाग्र का एक-एक खड निकालने पर जितने समय में यह पल्य खाली हो जाता है उतने समय को सूक्ष्म अद्धापल्योपम कहते हैं।

सूक्ष्म अद्धासागरोपम - दस कोटा-कोटी सूक्ष्म अद्धापल्योपम का सूक्ष्म अद्धा-सागरोपम कहलाता है।

सूक्ष्म उद्धार पल्योपम - द्रव्य क्षेत्र की अपेक्षा असख्यात गुणी सूक्ष्म अवगाहनावाले केशाग्र खडों से पल्य को ठसाठस भरकर प्रति समय उन केशाग्र खडों में से एक-एक खड को निकालने पर जितने समय में वह पल्य खाली हो उतने समय को सूक्ष्म उद्धार पल्योपम कहते हैं।

सूक्ष्म उद्धार सागरोपम - दस कोटा कोटी सूक्ष्म उद्धार पल्योपम का एक सूक्ष्म उद्धार सागरोपम होता है।

सूक्ष्म काल पुद्‌गल परावर्त - जितने समय में एक जीव अपने मरण के द्वारा उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के समयों को क्रम से स्पर्श कर लेता है।

सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति - शुक्ल ध्यान का तृतीय चरण जिसमें सूक्ष्म शरीर योग का आश्रय देकर दूसरे शेष योगों का निरोध होता है।

सूक्ष्म क्रिया निवृत्ति शुक्लध्यान - जिस शुक्लध्यान में सर्वज्ञ भगवान द्वारा योग निरोध के क्रम में अन्तत सूक्ष्म काययोग के आश्रय से अन्य योगों को रोक दिया जाता है।

सूक्ष्म क्षेत्र पुद्‌गल परावर्त - कोई एक जीव ससार में भ्रमण करते हुए आकाश के किसी एक प्रदेश में मरण करके पुन उस प्रदेश के समीपवर्ती दूसरे प्रदेश में मरण करता है, पुन उनके निकटवर्ती तीसरे प्रदेश में मरण करता है। इस प्रकार अनन्तर-अनन्तर प्रदेश में मरण करते हुए जब समस्त लोकाकाश के प्रदेशों में मरण कर लेता है तब उतने समय को सूक्ष्म पुद्‌गल परावर्त कहते हैं।

सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम - बादर क्षेत्र पल्य के बालाग्रों में से प्रत्येक के असख्यात खड करके पल्य को ठसाठस भर दो। वे खड उस पल्य में आकाश के जितने प्रदेशों को स्पर्श

करें और जिन प्रदेशों को स्पर्श न करें उनसे प्रति समय एक-एक प्रदेश का अवहरण करते-करते जितने समय में स्पृष्ट और अस्पृष्ट सभी प्रदेशों का अवहरण किया जाता है, उतने समय को एक सूक्ष्म पल्योपम कहते हैं।

सूक्ष्म क्षेत्र सागरोपम - दस कोटा कोटी सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम का एक सूक्ष्म क्षेत्र सागरोपम होता है।

सूक्ष्म द्रव्य पुद्गल परावर्त - जितने समय में समस्त परमाणुओं को औदारिक आदि सातों वर्गणाओं में से किसी एक वर्गणा रूप से ग्रहण करके छोड़ देता है।

सूक्ष्म भाव पुद्गल परावर्त - जितने समय में एक जीव अपने मरण के द्वारा अनुभाग बध के कारणभूत कषाय स्थानों को क्रम से स्पर्श कर लेता है।

स्तिबुकसक्रम - अनुदयवर्ती कर्म प्रकृतियों के दलिकों को सजातीय और तुल्य स्थिति वाली उदयवर्ती कर्म प्रकृतियों के रूप में बदलकर उनके दलिकों के साथ भोग लेना।

स्थविर - साधना से स्खलित होते हुए साधकों को पुन उसमें स्थिर करने वाले। स्थविर तीन प्रकार के होते हैं।

(१) प्रवज्या स्थविर - जिन्हें प्रव्रजित हुए बीस वर्ष हो गए हों।

(२) जाति - स्थविर - जिनका वय ६० वर्ष का हो गया हो।

(३) श्रुत स्थविर - जिन्होंने स्थानाग, समवायाग आदि का विधिवत् ज्ञान प्राप्त कर लिया हो।

स्थविर कल्पिक - गच्छ में रहकर साधना करना। तप और प्रवचन की प्रभावना करना। शिष्यों में ज्ञान, दर्शन और चरित्र आदि गुणों की वृद्धि करना। वृद्धावस्था में शारीरिक शक्ति क्षीण होने पर आहार और उपधि के दोषों का परिहार करते हुए एक ही स्थान में रहना।

स्थावर - जो जीव स्थावर नामकर्म के उदय से स्थितिशील हैं अर्थात् जो सर्दी-गर्मी आदि दु खों से अपना बचाव करने के लिए चलने-फिरने की योग्यता न रक्खे, उनको स्थावर कहते हैं। इनको सिर्फ स्पर्शेन्द्रिय होती है। इसके दो भेद हैं - (१) सूक्ष्म और (२) बादर।

स्थितकल्पी - जो अचेलक्य, औद्देशिक, शय्यातर पिंड, राजपिंड, कृतिकर्म व्रत, ज्येष्ठ, प्रतिक्रमण, मास और पर्यूषण इन दस कल्पों में स्थित हैं।

स्थिति - विवक्षित कर्म के आत्मा के साथ लगे रहने का काल।

स्थिति घात - कर्मों की बड़ी स्थिति को अपवर्तनाकरण द्वारा घटा देना (जो कर्मदलिक आगे उदय में आने वाले हैं उन्हें अपवर्तना द्वारा अपने उदय के नियत समयों से हटा देना)।

स्थिति बध - जीव के द्वारा ग्रहण किए हुए कर्म-पुद्गलों में अमुक समय तक अपने अपने स्वभाव का त्याग न कर जीव के साथ रहने की काल-मर्यादा का होना स्थिति बंध है।

स्थितिबध अध्यवसाय - कषाय के उदय होने वाले जीव के जिन परिणाम विशेषों से स्थितिबध होता है, उन परिणामों को स्थितिबध अध्यवसाय कहते हैं।

स्थितिस्थान - किसी कर्म प्रकृति की जघन्य स्थिति से लेकर एक-एक समय बढ़ते उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त स्थिति के भेद।

स्पर्द्धक - वर्गणाओं के समूह को स्पर्द्धक कहते हैं।

स्पर्श - जिस कर्म के उदय से शरीर का स्पर्श, कर्कश, मृदु, स्निग्ध, रुक्ष आदि रूप हो, उसे स्पर्श कहते हैं।

हुहु - चौरासी लाख हुहु - अग का एक हुहु होता है।

हुहु अंग - चोरासी लाख अवव की सख्या।

हेतुविपाकी - पुद्गलादि रूप हेतु के आश्रय से जिस प्रकृति का विपाक - फलानुभव होता है।

ज्ञान - जिसके द्वारा जीव त्रिकाल विषयक भूत, वर्तमान और भविष्य सबधी समस्त द्रव्य और उनके गुण और पर्याय को जाने। अथवा सामान्य विशेषात्मक वस्तु में से उनके विशेष अश को जानने वाले आत्मा के व्यापार को ज्ञान कहते हैं।

ज्ञानावरण कर्म - जो कर्म आत्मा के ज्ञान, गुण को आच्छादित करें, उसे ज्ञानावरण कर्म कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं। (१) मतिज्ञानावरण (२) श्रुतज्ञानावरण (३) अवधिज्ञानावरण (४) मन पर्यायज्ञानावरण (५) केवलज्ञानावरण।

ज्ञानोपयोग - प्रत्येक पदार्थ को उन-उनकी विशेषताओं की मुख्यता से विकल्प करके पृथक-पृथक ग्रहण करना।

ज्ञाताधर्म कथा - जिस अग श्रुत में उदाहरणभूत पुरुषों और उनके नगर, उद्यान एवं चैत्य आदि का कथन किया गया है, वह ज्ञाताधर्म कथा है।

संदर्भ ग्रंथ सूचि

अथर्ववेद श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय - मडल, औंध, १९

अणुयोग द्वार सूत्र सुधर्मास्वामी कृत 'टी' हेमचद्र, राय धनपति सिंह बहादुर का आगम सग्रह भाग ८८, १९३६

अनुत्तरौपपातिक दशासूत्रम् आ आत्मारामजी महाराज साहब (अनुवादक), जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर, प्रथम, १९३६

अनुयोगद्वार सूत्र (टीका भाषातर) गणधर श्री सुधर्मास्वामी, १९३६

अभिधम्मपिटके धम्मसङ्गणिपालि भिक्खु ज काश्यप, पालि पब्लिकेशन बोर्ड (सिरिनवनालन्दा महाविहारस), बिहार, १९६०

आवश्यकनिर्युक्तिदीपिका (भाग - १) श्रीमन्माणेक्यसूरिश्वरजी, जैन ग्रथ माला, गोपीपुरा - सूरत, १९३९

आवश्यकसूत्रम् - (पूर्व भाग) भद्रबाहुस्वामी - निर्युक्ति जिनदास गणि चूर्णीकर, जैनबधू मुद्रणालय, रतलाम, इदौर, १९२८

अद्वैत वेदान्त डॉ राममूर्ति शर्मा, नैशनल पब्लिसिंग हाऊस, २३ दरियागज, दिल्ली - ६, १९७२

आचाराङ्ग सूत्रम् (प्रथम श्रुत) आत्मारामजी महाराज, आ श्री. आत्मारामजी जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना, प्रथम, १९६३

आचाराङ्ग सूत्रम् (प्रथम श्रुतस्कध) श्री सौभाग्यमलजी म सा (अनुवादक), श्री जैन साहित्य समिति, नयापुरा, उज्जैन, प्रथम, २००७ विक्रमाब्द

आचाराङ्गसूत्र सूत्रकृताङ्गसूत्र च श्री भद्रबाहुस्वामी (निर्युक्ति) श्री शीलाङ्काचार्य (टीका), मोतीलाल बनारसीदास इण्डोलाजिक ट्रस्ट, दिल्ली, प्रथम, १९७८

आप्त-परीक्षा श्रीमद्विद्यानदस्वामी, वीर सेवा-मदिर, सरसावा, जिला सहारनपुर, प्रथम, १९४६

आयुर्वेदतत्त्वसदीपिका (सुश्रुतसहिता), महर्षिणा सुश्रुतेन, चौखम्बा, सस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१, तृतीय, १९६९

उत्तराध्ययनसूत्रम - (भाग १ से ३) आत्मारामजी महाराज, जैन शास्त्रमाला, कार्यालय, लाहौर, १९३९, ४१, ४२

१०८ उपनिषद ब्रह्मविद्याखड प श्रीराम शर्मा, सस्कृति सस्थान, बरेली, (उ प्र), १९६१ अक्टूबर

१०८ उपनिषद ज्ञानखड प श्रीराम शर्मा, सस्कृति सस्थान, बरेली (उ प्र), १९६१ अक्टूबर

१०८ उपनिषद् साधना खड· प श्रीराम शर्मा, सस्कृति सस्थान, बरेली (उ प्र),

उपासकदशाग सूत्र (टीका सहित) श्री आत्मारामजी म सा , आ श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना, प्रथम, १९६४

उपमिति भवप्रपचाकथा (विभाग ३) · सिद्धर्षिगणि, श्री जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर, १९२६

उपमिति भवप्रपचा कथा (भाग १, २, ३) सिद्धर्षिगणि, श्री जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर,प्रथम, द्वितीय, १९२५, १९२४ (भाग-२)

ओघनिर्युक्ति · भद्रबाहु स्वामी (टी द्रोणाचार्य), आगमोदय समिति, नन्दीसूत्र, १९२२

ओघानिर्युक्ति भद्रबाहु स्वामी (टी. ज्ञानसागरसूरी), देवचंद्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्डाख्या सस्था, सूरत, १९७४

औपपातिक सूत्र : टीकाकार घासीलालजी म सा , अ. भा श्वे स्था. जैन शास्त्रोद्धार समिति प्रमुख शातिलाल मगलभाई, अमदाबाद, प्रथम, १९५९

अतगडदसासूत्र . अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन सस्कृतिरक्षक सघ, सैलाना (मध्यप्रदेश), १९६३

अतकृतदशा सूत्र · श्री आत्मारामजी म सा., आ श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना, प्रथम, २०२७

ऋग्वेद-सहिता श्रीपाद दामोदर सातवळेकर, औंध (सातारा), १९९४

चार्वाक दर्शन आचार्य आनन्द झा, हिंदी समिति सूचन विभाग, लखनऊ (उ. प्र) प्रथम, १९६९

छादोग्योपनिषद् (सानुवाद शाकर भाष्यसहित) . गीता प्रेस, गोरखपुर, पचम, २०२३

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति टीकाकार घासीलालजी म सा , अ भा श्वे स्था जैन शास्त्रोद्धार समिति, प्रमुख बलदेवभाई डोसाभाई पटेल, अहमदाबाद, प्रथम, १९८०

जीवाभिगमसूत्र (भा १, २, ३) टीकाकार घासीलालजी म अखिल भारतीय श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन शास्त्रोद्धार समिति प्रमुख, अहमदाबाद, प्रथम, (भाग १) १९७१ (भाग ३) १९७४

जीवाजीवाभिगम सूत्र : चतुर्दश पूर्वधर श्रुतस्थविर- (टी.मलयगिर्याचार्य) नगीनभाई छेलाभाई जवेरी, जव्हेरी बाजार, (मुंबई), प्रथम, १९१९

ठाण मुनि नथमल, जैन विश्व भारती, लाडनू (राजस्थान) २०३३

नन्दीसूत्र देववाचक क्षमा श्रमण (टी मलयगिर्याचार्य) आगमोदय समिति, सूरत १९२३

नियमसार (हिंदी, गुजराती अनुवाद), श्री कुदकुदाचार्य, श्री हिंमतलाल जैन, श्री मगनलाल जैन, श्री सेठी दिगंबर जैन ग्रथमाला, ववई, प्रथम, १९६०

निशीथ सूत्रम (चूर्णि) (भा १, २, ३, ४), श्री जिनदास महत्तर, सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा, प्रथम, १९५७

नदीसूत्रम (सटीक) श्री आत्मारामजी म सा, आ श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना, प्रथम, १९६६

न्यायदर्शन गौतम, मिथिला विद्यापीठ प्रधानेन प्रकाशितम्, वाराणसी, १९६७

तत्त्वसार वीर राघवाचार्य, १९७७

तत्त्वार्थ सूत्र उमा स्वाती (सुखलालजी सघवी), जैन सस्कृति सशोधन मडल, हिंदू विश्वविद्यालय, बनारस, द्वितीय १९५२

तत्त्वार्थाधिगम्सूत्रम् उमास्वामी, कपूरचद ताराचद, जावाल (सौराष्ट्र) प्रथम, १९५५

तैत्तिरीयोपनिषद शाड्करभाष्य, गीता प्रेस, गोरखपुर, सप्तम २०१९

तैत्तिरियारण्यकम् (दि भा) कृष्णयजुर्वेदीय, आश्रन्दाश्रम मुद्रणालय, तृतीय, १९६९

दशाश्रुतस्कन्ध सूत्रम् आ श्री आत्मारामजी महाराज साहेब (अनुवादक), जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लाहोर, प्रथम, १९३६

दसवैयालियसुत्त उत्तरज्झयणाइ आवस्सयसुत्त भदतविजय (स पुण्यविजयजी मुनि), श्री महावीर जैन विद्यालय, बबई (महाराष्ट्र), प्रथम १९७७

दसवेआलीयं (बीओ भाग) आचार्य तुलसी, जैन श्वेताम्बर तेरापथी महासभा, कलकत्ता, स २०२०

दसवेयालियसुत्त, उत्तराज्झयणाइ आवस्सयसुत्त, सिरिसेज्जभवथेरभदंत एव अठोगयेरभदत, महावीर जैन विद्यालय, बबई, १९७७

दशवैकालिकसूत्रम् · आत्मारामजी म जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर, प्रथम, १९४६

दशवैकालिक सूत्रम् टीकाकार हरिभद्रसूरि, नगीनभाई घेलाभाई जव्हेरी, ४२६ जव्हेरी बाजार, बम्बई, १९१८

पंचास्तिकाय श्री कुदकुंदाचार्य, श्रीमद्राजचद्र आश्रम, अगास, तृतीय, वि स २०२४

पचकल्पाभाष्य (पचकल्याण भाष्यम्) खमासमणसिरि सघदासगणि, आगमोद्धारक ग्रथमाला एव कार्यवाहक- शा रमणलाल जयचद्र, कपडवज, (जि. खेडा) वि. स. २०२८

प्रशस्तपाद भाष्यम् न्यायकदलीव्याख्या, श्रीधर भट्ट, निदेशक, अनुसधान सस्थानस्य सपूर्णानद सस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, द्वितीय, शकाब्दे, १८९९

प्रज्ञापनासूत्र (भा १, २, ३, ४आदि) टीकाकार घासीलालजी म सा , अ. भा श्वे स्था जैन शास्त्रोद्धार समिति प्रमुख शातिलाल मगलदास भाई, अहमदाबाद, प्र १, १९७४, द्वि २ १९७५, तृ ३, १९७७, च ४, १९८८

ब्रह्मसूत्र स्वामी श्री हनुमानदासजी षट्शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६९

बृहद्सहिता वराहमिहिर, चोखम्बा विद्याभवन, वाराणसी १९७७

ब्रह्मसूत्रभाष्यम् · श्री शकर भगवत्पादाचार्य, श्री कामकोटी कोशस्थानम्, ४, फ्रान्सिस जोसेफ स्ट्रीट, मद्रास-१, १९५४

ब्रह्मसूत्रशारीरभाष्यार्थ (आ १, २, ३, भा १, २, ३) विष्णु वामन बापटशास्त्री, पुणे १९२४

बृहद कल्पसूत्रम् (द्वितीयो भाग) · आर्य भद्रबाहुस्वामी, श्री जैन आत्मानद सभा, भावनगर, १९३६

बृहद् कल्पसूत्र (१ से ६ भाग) : आ भद्रबाहुस्वामी, श्री आत्मानद जैन सभा, भावनगर, १९३३,३६,३६,३८,३६,३८

बृहदारण्योपनिषद् (सानुवाद शांकर भाष्यसहित) गीता प्रेस, गोरखपुर, चतुर्थ, स २०२५

भगवती सूत्र (१ से ७ भाग) म. सुधर्मस्वामी (स घेवरचद बाठिया), अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन सस्कृति रक्षक सघ, सैलाना (म प्र), १९६६, ६७, ६८, ७०, ७२, ७२

भगवती आराधना (भा १, २) सेठ लालचद हीराचद, जैन संस्कृति - सरक्षक-सघ, सोलापूर (महाराष्ट्र)

भगवती सूत्र - अवचूरि · जैन पुस्तकोद्धारककोशस्य कार्यवाहक सूरत, प्रथम, १९७४

भागवत महापुराणम् (१, २, खड) महर्षि वेद व्यास, गीता प्रेस, गोरखपुर, तृतीय, स २०१३

मज्जीवाजीवाभिगमोपा श्री मलयगिर्याचार्य, शा नगीनदास घेलाभाई जव्हेरी, इ स १९१९

मज्झिम-निकाय (हिंदी) राहुल-सांस्कृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ (बनारस) प्रथम, १९३३

मनुस्मृति श्री गुरुदेव प्रकाशन, पुणे (महा)

मन्महाभारतम् (भाग १, ३, ४) महर्षि श्रीकृष्ण द्वैपायन, गीता प्रेस, गोरखपुर, प्रथम, वि स २०१३

मनुस्मृति (मराठी) ध. ह सुरधकर, श्री गुरुदेव प्रकाशन, पुणे-२ (महा)

मन्महाभारतम् महर्षि श्रीकृष्ण द्वैपायन, गीता प्रेस, गोरखपुर, विक्रमाब्द-२०१४, २०१५

मत्स्यपुराणम् श्रीमन्महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास, कलकत्ता, प्रथम, १९५४

महावीर चरित्रम् (प्राकृत) श्रेष्ठि देविचद लालभाई जैन-पुस्तकोद्धार सस्था

महापुराणम् श्री जिनसेनाचार्य, अयोध्याप्रसाद गोयलीय, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, दुर्गाकुड रोड, बनारस, १९५१

महापुराण (भा १, २) महाकवि पुष्पदत विरचित, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्रथम, १९७९

मिलिन्दपण्हो आर डी वेडेकर, युनिव्हर्सिटी ऑफ बॉम्बे, बम्बई, प्रथम, १९४०

मीमासा दर्शन श्रीराम शर्मा, सस्कृति सस्थान, ख्वाजा कुतुब, वेदनगर, द्वितीय, १९७६

मुण्डकोपनिषद् शकराचार्य, गीता प्रेस, गोरखपुर, अष्टम, स २०१९

ववहार सुत्त मुनि 'कमल', आगम अनुयोग प्रकाशन, राजस्थान, प्रथम, १९८०

विनय-पिटक (हिंदी) राहुल सास्कृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ, प्रथम, १९३५

श्रीविपाक सूत्रम् (अनुवादक) श्री आत्मारामजी म जैन शास्त्रमाला कार्यालय, जैन स्थानक, लुधियाना, वि स २०१०

व्यवहार सूत्रम् (भाष्य मलयगिरी भाग १, २, ३) भद्र बाहु स्वामी, जैन श्वेताबर सघ सहाय्येन, वकील केशवलाल प्रेमचद, बी ए., एल एल बी , हाजा पटेलनी पोळ-अहमदाबाद, १९२६

विपाकसूत्रम् श्री ज्ञानमुनिजी म सा , जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लुधियाना (पजाब) प्रथम, विक्र २०१०

विशेषावश्यकभाष्य (गुजराती) (भाग-१) आ हेमचद्राचार्य, आगमोदय समिति, मुबई, प्रथम, १९२४

विशेषावश्यक भाष्य (प्रथम) श्री जिन भद्रगणि क्षमाश्रमण रचित एव कोट्याचार्यकृत वृत्ति, डॉ नथमल टाटिया, रिसर्च इन्स्टिट्यूट ऑफ प्राकृत जैनालाजी और अहिंसा, वैशाली (बिहार) १९७२

विशेषावश्यक भाष्यम् (भाग १ अश १, २) दिव्यदर्शन कार्यालय, काहुशीनी पोल, अहमदाबाद, वि स २४८६

विशेषावश्यक भाष्यम् (भाग -२मूल) जिनभद्रगणि, दिव्यदर्शन कार्यालय, अहमदाबाद, वि स २४८६

विशेषावश्यक भाष्य -१ श्री जिनभद्रगणि, प्राकृत विद्यापीठ, वैशाली(बिहार) १९७२

विसुद्धिमग्ग (मूल) आ बुद्धघोष, बौद्धभारती, वाराणसी, प्रथम, १९७७

विशुद्धि मार्ग (भाग - १, २ हिंदी), आचार्य बुद्धघोष (भिक्षु धर्मरहित), महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी, ई स. १९५६-१९५७

वैशेषिक दर्शनम् श्री कणाद मुनि, मणिलाल इच्छाराम देसाई, दि गुजरात प्रिंटिंग प्रेस, मुबई, वि स १९६९

वैदिक योगसूत्र प हरिशकर जोशी, चौखबा सस्कृत सिरीज ऑफिस, वाराणसी, वि स २०२४

यजुर्वेद श्रीपाद दामोदर सातवलेकर स्वाध्याय मडल, औंध, (सातारा) वि स १९८४

रायपसेणीय सूत्र · टी घासीलालजी म सा , अ भा श्वे स्था जैन शास्त्रोद्धार समिति प्रमुख शांतिलाल मगलदासभाई, अहमदाबाद, प्रथम, १९६५

शतपथ ब्राह्मणम् सायणाचार्य - भाष्यकार, चौखम्बा सस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, द्वितीय, इ स १९६४

शिव सहिता डॉ चमनलाल गौतम, सस्कृति सस्थान, बरेली, (उ प्र) द्वितीय १९७५

श्वेताश्वतरोपनिषद शकराचार्य, गीता प्रेस, गोरखपुर, द्वितीय, स २०००

षट्खडागम श्री भगवान पुष्पदत भूतबली प्रणीत, जैन श्राविकाश्रम, सोलापूर, १९६५

षट्खंडागम श्रीवीरसेनाचार्य - धवल टीका समन्वित ., श्रीमन्त सेठ शिताबराय लक्ष्मीचद जैन-साहित्योद्धारक फड कार्यालय, विदिशा (म प्र) १९५८

षट्खडागम (चतुर्थखड वेदनानामधेये) कृति अनुयोगोद्धारक श्री भगवत्पुष्पदत भूतबलि, श्रीमत सेठ शिताबराय लक्ष्मीचद, जैन साहित्योद्धारक फड कार्यालय, अमरावती ई स १९४९

षट्खडागम (वोल्युम १३) (पचम खड) पुष्पदत भूतवलि, श्रीमत शेठ शितावराय लक्ष्मीचद जैन साहित्योद्धारक फड कार्यालय, भेलसा (म भा) इ स १९५५

षट्खडागम ख १५, श्रीवीरसेनाचार्य धवलटीका समन्वित, श्रीमत सेठ शितावराय लक्ष्मीचद जैन साहित्योद्धारक फड कार्यालय, भेलसा, (म प्र) १९५७

सभाष्यतत्त्वार्थसूत्र आ श्रीविजयदर्शनसूरि, प्रथम, इ स १९५५

सभाष्य तत्त्वार्थाधिगम सूत्र, श्री उमास्वामी, श्रीमद् राजचद्र आश्रम, इ स १९३२

सभाष्य तत्त्वार्थाधिगम सूत्र मणिलाल, रेवाशकर जगजीवन जौहरी, परमश्रुतप्रभावक जैन मडल, जौहरी बाजार खाराकुवा, बवई (महा) १९३२

सार्थ मनुस्मृति प रामचद्र शास्त्री अवादास जोशी, श्री गुरुदेव प्रकाशन, ७, रविवार पेठ, पुणे

साख्यसूत्रम् डॉ रामशकर भट्टाचार्य (सपादक), भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, स २०२२

साख्यकारिका विद्यासुधाकर डॉ हर दत्त शर्मा, द ओरियनटल बुक एजन्सी, पूना, १९३३

साख्यदर्शनम् (सूत्रम), विज्ञान भिक्षु, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, स २०२२

साख्यसूत्रम् विज्ञानभिक्षुभाष्यान्वित, स डॉ श्री रामशकर भट्टाचार्य भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, वि स २०२२

साख्यदर्शन प्रवचन भाष्य भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९६६/वि सं-२०२२

साख्यतत्त्व कौमुदी "तत्त्व प्रकाशिका" हिंदी व्याख्या, डॉ गजानन शास्त्री मुसळगावकर, चौखम्भा सस्कृत सस्थान, वाराणसी, द्वितीय, वि स २०३५

साख्यतत्त्व - कौमुदी श्री वाचस्पति मिश्र, चौखम्भा संस्कृत सस्थान, वाराणसी, द्वितीय, १९७९

सुत्तपिटक सयुक्त-निकाय (हिंदी) भिक्षु जगदीश काश्यप, त्रिपिटकाचार्य भिक्षु रक्षित, महाबोधि-सभा, सारनाथ, बनारस, प्रथम, १९५४ ई स

सुत्तनिपात (हिंदी-पाली), भिक्षु धर्मरत्न, अनुवादक भिक्षु सघरत्न, महाबोधि, वाराणसी, द्वितीय, १९६०

सुत्तपिटके - अङ्गुत्तरनिकायपालि, भिक्खु जगदीसकस्सपो, बिहार राजकीयेन पालिपकासन मडलेन, १९६०

सूयगडागसुत्त (प्रथम भाग) श्री भद्रबाहुस्वामी (मुनि पुण्य विजयजी), प्राकृत ग्रंथ परिषद, अहमदाबाद ९, वाराणसी १९७५

संयुत्तनिकाय (महावग्ग-पालि) ५: भिक्खु ज काश्यप, पालि पब्लिकेशन बोर्ड (बिहार गवर्नमेंट), १९५९

स्थानाङ्गसूत्र - दीपिका वृत्ति (भाग १) सुरतवास्तव्य-श्रेष्ठि देविचंद लालभाई पुस्तकोद्धार कोटी कार्यवाहक

सन्मति तर्क (प्रकरण) आचार्य सिद्धसेन दिवाकर (अनुवादक) सुखलाल सघवी, डॉ बेचरदास दोशी, गुजरातविद्यापीठ, अहमदाबाद ९, १९५२

स्थानाङ्गसूत्र - (भाग १, २) आ आत्मारामजी महाराज साहब, आ आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना, वि. स २०३२

ज्ञाताकर्मकथागसूत्र प शोभाचद्र भारिल, श्री तिलोक रत्न स्थानकवासी जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी (अहमदनगर), ई. स १९६४

अर्थागम (प्रथम खड, आ सूत्र, स्था, सम,) पुप्फ भिक्खु स फूलचदजी म प्यारेलाल ओमप्रकाश जैन, देहली-६, प्रथम, ई. स १९७१

अर्धमागधी कोष (भा १-४) स. शतावधानी जैनमुनि श्री रत्नचदजी म , श्री श्वेताम्बर स्था जैन कॉम्फरन्स, केसरीचंद भडारी, राजवाड़ा चौक, इदौर, ई. स १९२३

अनत तरफ दौड आ अ ल. भागवत, श्री गजानन बुक डेपो प्रकाशन, प्रथम, दादर (मुबई) २८, १९७५

अध्यात्मकल्पद्रुम श्रीमुनि सुदर सूरि, श्री जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर, द्वितीय, ई स १९११

अध्यात्म गीता बुद्धिसागर सूरि, अध्यात्म ज्ञान प्रचारक मंडल, पादरा, (गुजरात) ई स १९२५

अध्यात्मबिंदु . मुनिश्री मित्रानंदविजयजी (सपादक) लालभाई दलपतभाई भारतीय सस्कृति विद्यामदिर, अहमदाबाद, प्रथम, १९७२

अध्यात्मबिंदु - स्वोप्रज्ञवृत्या श्री हर्षवर्धनोपाध्याय, लालभाई दलपतभाई भारतीय सस्कृति विद्यामदिर, अहमदाबाद-९

अध्यात्मतत्त्वालोक श्री न्यायविजयमुनि महाराज साहब, श्री सुरेंद्र लीलाभाई झवेरी, बडोदरा, दूसरी १९३४

अध्यात्मसार उ. यशोविजय, केशरबाई ज्ञान भडार-स्थापक, सघवी नगीनदास करमचद, वि स. १९९४

अध्यात्मसार भावानुवाद मुनि श्री चद्र शेखरविजयजी, कमल प्रकाशन ट्रस्ट, २७७७ सस्कृति भवन, निशापोळ, रिलीफ रोड, अहमदाबाद-१, १९७९

अध्यात्मसार - अध्यात्मोपनिषद ज्ञानसार प्रकरण रत्नत्रयी, श्रीमद्यशोविजयगणि प्रवर प्रणीता, केशरबाई ज्ञान भंडार, स्थापक संघवी-नगीनदास करमचद, प्रथम, वि. स १९९४

अध्यात्मयोग और चित्तविकलन वेंकट शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, प्रथम, विक्रमाब्द २०१४

अभिधम्म कोश (भा ३, ४) आचार्य वसुबधु, बौद्धभारती, वाराणसी, १९७२

अभिधानचिंतामणि श्री हेमचद्राचार्य, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, प्रथम,१९६४

अभिधान राजेंद्र कोश श्रीमद्विजयराजेंद्र सूरीश्वर, श्री जैन श्वेताम्बर समस्त - सङ्घेन महापरिश्रमत , रतलाम १९१३ (भा.४)

अभिज्ञान शाकुतल कालिदास, महाजन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, तृतीय, १९६० इ स

अष्टपाहुड श्री कुदकुदाचार्य श्री मदनलाल हीरालाल दिगबर जैन पारमार्थिक दृष्टातर्गत, मारोठ (राज) १९५९

अष्टागयोग साधना आणि सिद्धी (मराठी) स्वामी वीरानद, रघुवशी प्रकाशन, ३४७१/१२३ पंतनगर, घाटकोपर, (मुबई ७५)

आत्मयुग का जैन दर्शन प दलसुख मालवणिया, समति ज्ञानपीठ, आगरा, १९६६

आगम और त्रिपिटक एक अनुशीलन मुनि श्री नगराजजी, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता, प्रथम १९६९ ई स

आगम सारिणी ग्रथ श्री ज्ञानचदजी स्वामी, लखमशी केशवजी कच्छ, पत्रीवाला, द्वितीय, १९४०

आचार्य श्री तुलसी अभिनदन ग्रंथ, आ श्री तुलसी धवल समारोह समिति, वृद्धिचद जैन, दिल्ली

आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रथ, जैन श्वेताम्बर तेरापथी महासभा, कलकत्ता -१, १९६१

आत्म प्रकाश श्रीमद् बुद्धिसागर सूरीश्वरजी, श्री अध्यात्म ज्ञान प्रसारक मडल, मुंबई, तृतीय, सवत- २०१०

आत्मवाद मुनि फूलचद्र 'श्रमण' आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना, प्रथम, १९६५

आत्मानुशासन · गुणभद्र, कार्मेंट्री बाय-प्रभाचद्र, गुलाबचद्र, हीराचद्र दोशी, सोलापूर,, प्रथम, १९६१

इसिभासियाइ सुत्ताइ : अर्हतर्षि सुधर्मा ज्ञानमदिर, १७० कादावाडी बबई न ४, वि सं २०२०, १९६३

कबीर साहब का बीजक, ग्रथ · कबीर साहब, सत्यनाम प्रेस, स १९८३

कर्मग्रंथ (१) (हिंदी) : श्री देवेंद्रसूरि (टिका · मिश्रीमलजी म सा), श्री मरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति, जोधपुर, (ब्यावर) १९७४

कर्म प्रकृति सामान्य परिचय मुनि जयंतविजय 'मधुकर', अ भा श्री राजेंद्र जैन नवयुवक परिषद केंद्र, श्री मोहनखेड़ा तीर्थ, १९७९

कर्मप्रकृति · अभयचद्र सिद्धात चक्रवर्ती, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दुर्गाकुड मार्ग, वाराणसी-५, १९६८

कल्पसूत्र · सपादक महोध्याय विनयसागर, देवेंद्रराज मेहता, प्राकृतभारती, जयपुर, प्रथम, ई स १९७७

कल्पसूत्र · श्रुतकेवली भद्रबाहु, श्री अमर जैन आगम शोध सस्थान, सिवाना

कल्पसूत्र · सपादक देवेंद्रमुनि शास्त्री, श्री अमर जैन आगम शोध सस्थान, सिवाना, प्रथम, ई स. १९६८

कर्मग्रथ (देवेंद्रसूरि - भाग २) व्याख्याकार-मुनि श्री मिश्रीमलजी म , श्री मरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति, जोधपुर (ब्यावर), १९७५

कषाय-पाहुड (भा. १ से १३) (गुणधराचार्य चूर्णि यति-वृषभाचार्य, जयधवल टीकाकार-वीरसेनाचार्य-मत्री साहित्य विभाग, भा दि. जैन संघ, चौरासी मथुरा, द्वितीय इ. स १९७४

कषाय पाहुड सूत्र श्री आचार्य गुणधरभट्टारक, श्री वालचद देवचद शहा, श्रुत भंडार व ग्रथ प्रकाशन, सन १९६८, फलटण (सतारा)

कामसूत्रम श्री वात्स्यायन मुनि, जयकृष्णदास-हरिदास गुप्त, चौखंबा संस्कृत सिरीज ऑफिस विद्याविकास प्रेस, बनारस, द्वितीय, विक्रम सवत १९५६

कार्तिकेयानुप्रेक्षा · स्वामीकुमार, श्रीमद् राजचद्र आश्रम स्टे. अगास, गुजरात, प्रथम -द्वितीय, इ स १९७८

कुन्द-कुन्द भारती श्री कुदकुदाचार्य, श्रुतभंडार व ग्रंथ प्रकाशन समिति, फल्टन, ई स १९७०

उपमितिभवप्रपचा कथा (पूर्वार्द्धम् उत्तरार्द्धम्) सिद्धर्षि, शाह नगीनभाई घेलाभाई जव्हेरी, ४२६ जव्हेरी बाजार, बम्बई, प्रथम, पू. १९१८ उ. १९२०

उपाध्याय श्री पुष्करमुनि अभिनंदन ग्रथ : प्रधान सं. देवेंद्रमुनि शास्त्री, डॉ. ए. डी बत्रा, राजस्थान केसरी, अध्यात्मयोगी श्री पुष्करमुनि अभिनदन ग्रंथ प्रकाशन समिति, मुबई, उदयपुर

उपासकाध्ययन श्री सोमदेव सूरि, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, काशी, प्रथम, १९६४

उच्च प्रकाशना पथे (पच सूत्र) श्री हरिभद्र (भानूविजयजी) दिव्यदर्शन कार्यालय, कालुशीनी पोळ, अहमदावाद-१, तृतीय, वि स २०२७

उत्तरी भारत की सत-परपरा . आ परशुराम चतुर्वेदी, भारती भडार लीडर प्रेस, इलाहाबाद, द्वितीय, स २०२१

उत्तरपुराण (हिंदी) . आचार्य गुणभद्र, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, द्वितीय १९६८

एसो पच णमोक्कारो युवाचार्य महाप्रज्ञ, आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन, चूरू (राज) द्वितीय, १९८०

ओम्कार ह भ प श्रीराम रामचद्र गणोरे (हरिदास) हरिराम आश्रम मठ, पुणे, प्रथम, १९७६ ई स

ओंकार एक अनुचिंतन श्री पुष्करमुनिजी महाराज साहब, सार्वभौम साहित्य सस्थान, शक्तिनगर, दिल्ली - ६, १९६४

ॐकार किमया (मराठी) स कृ देवघर, प्रसाद प्रकाशन, पुणे ३०

खवग-सेढी (सोपज्ञवृत्ति विभूषिता) आ. श्रीमद्विजय प्रेमसूरीश्वर, श्री भारतीय - प्राच्यतत्त्व प्रकाशन समिति, पिंडवाडा (राज), प्रथम, वि स २०२२

गीता विज्ञान श्री अरविंद, दिव्य जीवन साहित्य प्रकाशन, पाडिचेरी - २, ई स १९६५, २४ नवम्बर

गुणस्थान क्रमारोह श्रीमद् रत्नशेखरसूरि (स्वोपज्ञकृति) दिव्यदर्शन ट्रस्ट कुमारपाल वि शाह, बम्बई, वि स २०३८

गोम्मटसार (जीवकाड या कर्मकाड) भाग-१-२ श्री नेमिचद्र सिद्धात चक्रवर्ति, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, काशी, प्रथम १९७८, ७९

गोम्मट सार (जीवकाड - भाग १-२) . श्रीमन्नेमिचंद्र, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९४४

गोरक्ष सहिता डॉ चमनलाल गौतम (अनुवादक), संस्कृति सस्थान

घेरड सहिता . सस्कृति सस्थान कुतुब (वेदनगर), बरेली (उ प्र), १९७५

चौद गुणस्थान नगीनदास गिरधरलाल सेठ, सेठ नगीनदास गिरधरलाल, शातिसदन २५८, मुबई, प्रथम

छादोग्योपनिषद · गीता प्रेस, गोरखपुर, पचम, सं २०२३

जम्बु स्वामी चरिउ वीर कवि, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, प्रथम, १९४४

जीवन भाष्ये (भाग-२) जे.कृष्णमूर्ति, ओरिएट लॉगमन लिमिटेड,नई दिल्ली १

जीवनयोग सुश्री विमला ठकार, मोतीलाल बनारसीदास, पटना, प्रथम १९७३

जे. कृष्णमूर्ति, प्रथम और अंतिम मुक्ति : डॉ दयाशरण शुक्ल (अनुवादक), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पटना, वाराणसी, प्रथम, १९७५

जैन आगम साहित्य : श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री, श्री तारक गुरु जैन ग्रथालय, उदयपुर (राज) प्रथम, १९७७

जैन आचार : डॉ. मोहनलाल मेहता, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान, वाराणसी, प्रथम, १९६६

जैन आचार, सिद्धात और स्वरूप · देवेंद्र मुनि शास्त्री, श्री तारक गुरु जैन ग्रथालय, शास्त्री सर्कल, उदयपुर (राज), प्रथम, १९८२

जैन तर्क भाषा . उपाध्याय यशोविजयजी स.-प सुखलाल सघवी, द सचालाल साघी जैन, ग्रथमाला, अहमदाबाद, १९३८

जैन तत्त्व प्रकाश श्री अमोलकऋषिजी म. सा , श्री अमोल जैन ज्ञानालय, धुलिया (महा) नवम, १९६८

जैन दर्शन की रूपरेखा · एस गोपालन, वाईली ईस्टर्न लिमिटेड, दिल्ली

जैन दर्शन आत्मद्रव्यविवेचनम् · डॉ मुक्ताप्रसाद पटरिया, प्राच्य विद्या-शोध अकादमी, दिल्ली, प्रथम १९७१

जैन धर्म दर्शन डॉ मोहनलाल मेहता, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, प्रथम, १९७३

जैन धर्म में तप, स्वरूप और विश्लेषण · मुनि श्री मिश्रीमलजी म., श्री मरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति, जोधपुर-ब्यावर, १९७२

जैन धर्म का मौलिक इतिहास (प्रथम भाग-तीर्थंकर खड), आ हस्तिमलजी म सा , जैन इतिहास समिति, जयपुर (राज) प्रथम, १९७१

जैन योग · मुनि नथमल, आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन, लाडनू, प्रथम, १९७८

जैन योग ग्रंथ चतुष्य : आ. श्री हरिभद्रसूरि, मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन, पीपलिया बाजार, ब्यावर, प्रथम, १९८२

जैन लक्षणावली - (भाग-१) जैन पारिभाषिक शब्दकोश : वीर सेवामदिर, दिल्ली-६, १९७२

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (१ से ६) डॉ मोहनलाल मेहता, प्रो. हिरालाल कापडिया, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, जैनाश्रम, हिंदू युनिव्हरसिटी, वाराणसी - ५, प्रथम, १९६८

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग-२) : डॉ. जगदीशचद्र जैन व मोहनलाल मेहता, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान जैनाश्रम, वाराणसी-५, १९६६

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग-१) प. वेचरदास दोशी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान, जैनाश्रम, वाराणसी-५, १९६६

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग-३) आगमिक व्याख्याए डॉ मोहनलाल मेहता, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान, जैनाश्रम, वाराणसी-५, १९६७

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग-४) - कर्म साहित्य व आगमिक प्रकरण डॉ मोहनलाल मेहता व हिरालाल र. कापडिया, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान, जैनाश्रम, वाराणसी-५, १९६८

जैनेंद्र सिद्धात कोश (भाग-१ से ४) क्षु जिनेंद्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी - ५, १९७०, ७१, ७२, ७३

झाणज्झयण (ध्यान शतकम्) श्री जिन भद्रगणि क्षमाश्रमण, ओरियटल रिसर्च ट्रस्ट, १६ मॅन्गपन स्ट्रीट, मद्रास-१

तत्त्वार्थ सूत्र उमा स्वामी, विवेचक - सुखलालजी सघवी, जैन सस्कृति सशोधन मडल, हिंदू विश्वविद्यालय, बनारस-५, द्वितीय, १९५२

तत्त्वार्थवार्तिकम् (राजवार्तिक द्वितीय, प्रथम भाग) · भट्टाकलकदेव, भारतीय विद्यापीठ, काशी, वि स २०१४

तत्त्वानुशासन श्रीमन्नागसेनाचार्य, श्री नवीनचंद अबालाल शहा, जैन साहित्य विकास मडल, बबई-५७, ई स १९६१

तत्त्वानुशासन (ध्यान शास्त्र) श्री रामसेनाचार्य - प्रणीत, दरबारीलाल जैन, कोठिया, मत्री वीरसेवा मदिर ट्रस्ट, २१, दरियागंज, दिल्ली-६, प्रथम-१९६३

तत्त्वज्ञानतरङ्गिणी भट्टारक ज्ञानभूषण, अमर ग्रंथमाला, उदासीन आश्रम, तुकोगज, इदोर, वि स २४८०

तत्र महासाधना डॉ. चमनलाल गौतम, सस्कृति सस्थान, बरेली (उ. प्र) द्वितीय, १९७६

तत्र और सत डॉ राममूर्ति त्रिपाठी, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद-३, १९७५

तप अने योग नगीनदास गिरधरलाल सेठ, श्री जैन सिद्धात सभा, प्रथम, १९६४

तिलोक काव्य सग्रह कविकुल भूषण पूज्यपाद श्री तिलोक ऋषिजी म , श्री रत्न जैन पुस्तकालय, पाथर्डी (अहमदनगर), प्रथम, १९५६

तिलोक शताब्दी अभिनदन ग्रथ - श्री रत्न जैन पुस्तकालय, पाथर्डी, ई स १९६१

द व्हरायटीज् ऑफ द मेडिटेटीव्ह एक्सपीरियन्स : डॅनियन गॉलमेन, रीडर ॲण्ड कपनी, १९७७

दार्शनिक अध्यात्म तत्त्व स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक, स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक, वेदानुसधान सदन, जि. अहमदनगर, १९५७

डिसक्रिप्टिव्ह कॅटलॉग ऑफ मॅन्युस्क्रिप्ट इन द जैन भंडारस् ऐट् पाटन, ओरियन्टल इन्स्टिटय़ूट, बरोडा, १९३७

दीघनिकायो (भाग-२) : एन. के. भागवत

देवीवाणी स्वामी विवेकानद, श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपूर, द्वितीय

द्वात्रिंशद् - द्वात्रिंशिका श्री यशोविजय विरचित, श्री दानप्रेम रामचद्र सूरीश्वर आराधना भवन, रतलाम (म प्र), १९८१

द्वात्रिंशद् - द्वात्रिंशिका · सिद्धसेन दिवाकर, श्री विजय सुशील सूरि, बगडीय हसमुखलाल दिपचद, कार्यवाहक विजय लावण्यसूरि ग्रथमाला, ज्ञानोपासक समिति

धवल-गिरि · न्यायरत्न धुं. गो विनोद, सिद्धाश्रम शातिमदिर, विजयानगर कॉलोनी, पुणे, दूसरी, १९६४

धर्मबिंदु · आ श्री हरिभद्रसूरि, हिंदी जैन साहित्य प्रचारक मंडल, अहमदाबाद, १९५१

धर्म-दर्शन की रूपरेखा : डॉ. हरेंद्र प्रसाद सिन्हा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली-पटना-बिहार

धर्मरत्न प्रकरण श्री गुणस्थान - क्रमसिंह, चद्रकुलांबरनिशाकर श्री शातिसूरि सकलित स्वोपज्ञवृत्ति समेत, दिव्य दर्शन ट्रस्ट, C/o कुमारपाल वि. शाह, मुबई ४०० ००४, वि. स. २०३८

धर्मरत्नाकर श्री जयसेन, लालचद हिराचंद जैन सस्कृति संरक्षक सघ, सोलापूर, ई स. १९७४

धर्मों की फुलवारी · श्री कृष्णदत्त भट्ट, सेवा सघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी, १९६३, ६४, ६५

धर्मामृत (अनगार) : पं. आशाधर, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, काशी, प्रथम, १९७७

धर्मामृत (सागर) : प प्रवर आशाधर, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, काशी, प्रथम, १९७८

धम्मपद · अ. धर्मानद कोसम्बी अ रामनारायण वि पाखु, गुजरात पुरातत्त्व मदिर, अहमदाबाद, प्रथम, १९२४

धम्मपद · त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित, मेसर्स खेलाडीलाल सकटाप्रसाद, कचौडी गली, वाराणसी - १, १९६८

ध्यान अने जीवन (भाग-१-२) श्री विजय भुवन भानु सूरीश्वरजी म , दिव्यदर्शन कार्यालय काळुशीनी पोल, अहमदावाद-१, वि स २०३०

ध्यान कल्पतरू श्री अमोलक ऋषिजी म , श्री अमोल जैन ज्ञानालय, धुलिया, १९५७

ध्यान दीपिका तपागच्छीय श्रीमान सकलचद्रजी उपाध्याय, एस देवीदास, खडगपुर, ई स १९६१

ध्यान योग स्वामी अखडानद सरस्वती, सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

ध्यान योग - प्रकाश रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ (हरियाना), १९७५

ध्यान योग रहस्य स्वामी शिवानद, श्री बाबूभाई लाखाणी, लाखाणी बुक डेपो, रामचद्र बिल्डिंग, ४३७, राजा राममोहन राय रोड, गिरगाव, मुबई न ४

ध्यान विचार बुद्धि सागर सूरि, श्री अध्यात्मज्ञान प्रसारक मडल, द्वितीय, १९२४

ध्यान शतक जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण (भानुविजयजी-हि गु), दिव्यदर्शन कार्यालय, काळुशीनी पोल, अहमदावाद-१, वि स २०२८

ध्यानस्तव श्री भाष्कर नदी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम-१९७३

ध्यान-सम्प्रदाय डॉ भरतसिंह उ , नैशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

नवकार स्वाध्याय (प्राकृत विभाग) · अनु श्री जम्बूविजयजी (स तत्त्वानंद विजयजी), जैन साहित्य विकास मडल, ११२ घोडबदर रोड, बम्बई-५७, प्रथम, १९६१

नवीन मनोविज्ञान लालजीराम शुक्ल, नदकिशोर एड ब्रदर्स, वाराणसी, तृतीय, १९६०

निर्ग्रंथ - प्रवचन चौथमलजी म सा , श्री दिवाकर दिव्य ज्योति कार्यालय, ब्यावर (राज), द्वितीय, १९६६

नियमसार श्रीमद्भगवत्कुद्कुदाचार्य देव, श्री सेठी दिगम्बर जैन ग्रंथमाला, बम्बई, प्रथम, १९६०

पउमचरियम् - (भाग-१) विमलसूरि, प्राकृत ग्रथ परिषद, वाराणसी, १९६२

पद्मपुराणम् (पद्मचरितम्) श्रीमद्रविषेणाचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, काशी, ई स. १९५८ जुलाई

परमात्म प्रकाश तथा योगसार (गुजराती) · योगीदुदेव, श्री वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर

परमात्म प्रकाश · श्रीमद् योगीन्दुदेव, श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, मुंबापुरी, वि स १९७२

पातञ्जल-योग-दर्शनम् तथा हारिभद्र योगविंशिका : आत्मानद जैन पुस्तक प्रचारक मडल, आगरा, प्रथम, १९२२

पातजल योगदर्शनम् (व्यासदेव-भाष्य-भोज वृत्ति) महर्षि व्यासदेव, दी फाइन आर्ट प्रिंटिंग प्रेस, अजमेर, प्रथम, १९३२

पातजल योगदर्शनम् (गुजराती) : गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद, तृतीय, १८९३

पातजल योगसूत्रम् · भोजदेवकृत भारतीय विद्या प्रकाशन २२/३९ पचगगा घाट, वाराणसी

पाश्चात्य तत्वज्ञानाचा इतिहास (खड-१, २, ३) · डॉ ग. ना जोशी, महाराष्ट्र विद्यापीठ ग्रथ निर्मिति मंडल, नागपूर, प्रथम, १९७५ ई स.

पातजल योगप्रदीप · श्री स्वामी ओमानदतीर्थ, गीता प्रेस, गोरखपुर

पातजल योग-दर्शनम् · श्री ब्रह्मलीन मुनि महाराज, चेतन प्रकाशन मदिर, बडौदा

पारसी धर्म क्या कहता है? बौद्ध धर्म क्या कहता है? ताओ और कनफ्यूशस धर्म क्या कहता है? श्री कृष्णदत्त भट्ट, सर्व सेवा सघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी, प्रथम, द्वितीय, १९६३, १९६५

पालि साहित्य का इतिहास · डॉ भरतसिंह उपाध्याय, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, तृतीय, १९७२

पासणाह चरिउ · प्रा प्रफुल्ल कुमार मोदी, प्राकृत ग्रथ परिषद, वाराणसी, १९६५

पुराणपर्यालोचनम् - (१ गवेषणात्मक, २ समीक्षात्मक) : डॉ श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी, चौखभा सूरभारती प्रकाशन, वाराणसी, १९७६

पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय (भव्य प्रबोधिनी टीका सहित) · श्री मन्महामुहिम अमृतचदसूरि, पन्नालाल बाकलीवाल, भारतीय जैन सिद्धात प्रकाशिनी सस्था, कलकत्ता, वि स २४५२

पुष्करमुनि अभिनदन ग्रंथ · श्री देवेंद्रमुनि म. सा (सपादक), राजस्थान केसरी अध्यात्मयोगी श्री पुष्करमुनि अभिनंदन ग्रंथ प्रकाशन समिति, बम्बई, उदयपुर, १९७६

पचसूत्र हरिभद्र सूरि (टी. चिरन्तनाचार्य) रामचंद्र येसु शेडगे द्वारा मुद्रयित्वा, वि स १९७०

पचसूत्र (गुजराती) चिरतनाचार्य, दिव्यदर्शन कार्यालय, अहमदावाद, तृतीय, वि स २०२७

पचसग्रह प हिरालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम, १९६०

पचाध्यायी पूर्वार्ध सोमचद्र अमथालाल शाह, कलोल, प्रथम

पचाध्यायी (उत्तरार्द्ध) सोमनाथ अमथालाल शाह, कलोल, प्रथम

प्रतिक्रमण - प्रथत्रयी गौतमस्वामी (टीका प्रभाचद्र), स्वस्ति श्री जिनसेन भट्टारकपदाचार्य महास्वामी, कोल्हापुर, प्रथम, वि स २४७३

प्रमाण-नय-तत्त्वालोक वादिदेवसूरि, तिलोक रत्न स्था जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी (अहमदनगर), द्वितीय, १९७२

प्रवचनसार श्री कुदकुदाचार्य, श्रीमद् राजचद्र आश्रम, अगास, तृतीय, १९६४

प्रशमरतिप्रकरण श्री उमास्वामी, श्री परमश्रुतप्रभावक मडल, बम्बई १९५०

प्रवचनसारोद्धार (भाग-१-२) श्रीमन्नेमिचन्द्रसूरि, साराभाई नवाव (हरकोर चत्रभुज), पालीताणा

प्रश्नोपनिषद् शकराचार्य (शाकर भाष्य), गीता प्रेस, गोरखपुर, नवम, सं २०१९

प्रश्नव्याकरणसूत्र रतनलाल दोशी, अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन सस्कृति रक्षक सघ, सैलाना (म प्र), प्रथम, १९७५

प्राकृत साहित्य का इतिहास डॉ जगदीशचद्र जैन, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, प्रथम, १९६१

प्रेमयोग विवेकानद, श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपूर, द्वितीय, १९७२

बहिरग-योग योगेश्वरानद सरस्वतीजी महाराज (व्यासदेवजी महाराज), योग निकेतन ट्रस्ट, शिवानद नगर (उ प्र)

बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास डॉ गोविंदचद्र पाडेय, हिंदी समिति सूचना विभाग, लखनऊ (उ प्र), द्वितीय, १९७६

भगवद्गीता सकलनकर्ता और अनुवादक केशवदेव झा, दिव्यजीवन साहित्य प्रकाशन, पाडिचेरी, प्रथम, १९६५

भगवती आराधना - (भाग १, २) आचार्य शिवार्य, सेठ लालचद हिराचंद जैन सस्कृति सरक्षक संघ, सोलापूर (महा), १९७८

भगवती सूत्र - अवचूरि चौकसी मोतीचद्र मगनभाई, सूरत, प्रथम, १९७४

भगवतीसूत्रम - (भाग-१) · अभयदेव सूरि (प बेचरदास-टीका), निर्णयसागर मुद्रणालय, मुबई (महा), वि स १९७४

भगवद्गीता · राधाकृष्णन्, राजपाल एड सज, काश्मीरी गेट, दिल्ली, तृतीय, १९६७ मार्च

भक्तियोग स्वामी विवेकानद, श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर, चतुर्थ, १९७३

भागवत मुहूर्त श्री अरविंद, अदिति कार्यालय, पांडिचेरी, १९६७

भारतीय दर्शन उमेश मिश्र, हिंदी समिति, सूचना विभाग, लखनऊ (उ प्र), तृतीय, १९६४

भारतीय दर्शन · वाचस्पति गैरोल, लोकभारती प्रकाशन, १५ए महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद, प्रथम, १९६२

भारतीय दर्शन शास्त्र का इतिहास, डॉ नरेंद्रदेव सिंह शास्त्री, डॉ. हरिदत्त शास्त्री, साहित्य भडार, मेरठ (उ प्र), तृतीय, १९७७

भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान : डॉ हिरालाल जैन, मध्यप्रदेश साहित्य परिषद, भोपाल, १९६२

भारताची आध्यात्मिक विचारधारा स्वामी विवेकानद, श्रीराम कृष्ण आश्रम, नागपूर

भारतीय मानसशास्त्र व पातजल योग दर्शनम् कृष्णाजी केशव कोल्हटकर, बा. ग ढवळे, चिराबाजार, मुबई, द्वितीय, शके १८८१

भारतीय तत्वज्ञान श्रीनिवास हरि दीक्षित, सुविचार प्रकाशन मडल, महाराष्ट्र विद्यापीठ, पुणे - नागपुर, १९६९

मध्य एशिया और पजाब में जैन धर्म · हिरालाल दुग्गड, जैन प्राचीन साहित्य प्रकाशन मदिर, शाहदरा, दिल्ली

मनोनुशासनम् आ तुलसी, आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन, तृतीय

मनोविश्लेषण और उसके जन्मदाता · सतोष गार्गी, परितोष गार्गी, प्रगति प्रकाशन, प्रोग्रेसिव पब्लिशर्स, १४-डी, नई दिल्ली, १९५१

मनोविज्ञान के मूल सिद्धांत · चौधरी बलबीर सिंह, एस. नगीन एण्ड कम्पनी, पब्लिशर्स एंड प्रिंटर्स, जालन्धर, १९५६

मरुधर केसरी मुनिश्री मिश्रीमलजी म अभिनदन ग्रंथ, मरुधर केसरी अभिनंदन ग्रथ-प्रकाशन समिति, जोधपुर, वि सं. २४९५

महाबध (भाग-४, ५, ६, ७) महाधवल सिद्धांत शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९४४

महापुराण (भाग-१,२ पूर्वार्ध, उत्तरार्ध) : पुष्पदत (अनुवादक) डॉ. देवेन्द्रकुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, पू १९७९, उ १९७९

महापुराण (मराठी अनुवाद सहित) आचार्य जिनसेन, सेठ लालचद हिराचद श्री जैन सस्कृति सरक्षक सघ, सोलापूर (महा) प्रथम, १९७५

महावीर की साधना का रहस्य मुनि नथमल, आदर्श साहित्य सघ प्रकाशन, १९७५ ई स

श्री महावीर चरित्रम् श्रीमद गुणचद्र सूरिवर्य, देवचद्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार सस्था, जव्हेरी वाजार-मुवई, १९२९

मुक्तिदूत श्री वीरेंद्रकुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, द्वितीय, १९४७, १९५०

मुक्ति सोपान गुणस्थान - रोहण अटीशत द्वारी अमोलक ऋषिजी म सा , राजा बहादुर लालाजी, श्री सुखदेव सहायजी, ज्वालाप्रसादजी, द हैदराबाद, प्रथम, १९१५

मोक्ष शास्त्र अर्थात् तत्त्वार्थ सूत्र · कुद्कुदाचार्य - गुजराती टा रामजी माणिकचद दोशी, श्री जैन स्वाध्याय मदिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र), द्वितीय, वि स २४४५

मोक्ष शास्त्र अर्थात् तत्त्वार्थ सूत्र श्री उमास्वामी आचार्य, श्री दिगवर जैन स्वाध्याय मदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मत्र-योग डॉ चमनलाल गौतम, सस्कृति सस्थान, बरेली (उ प्र) १९७३

मत्र-शक्ति डॉ रुद्रदेव त्रिपाठी, गोयल एड कपनी, दरिबा, दिल्ली, द्वितीय, १९७९

मृत्यु और उस पर विजय श्री अरविंद, अदिती कार्यालय, पाडिचेरी-२, इ स १९६५

योगानुभव सुखसागर योगविंशिका श्री हरिभद्र सूरिकृत (टीकानुवाद), श्रीमद् बुद्धि सागर सूरि ज्ञानमदिर, विजापुर (उ गुजरात), वि स १९९७

योगशास्त्रम् हेमचद्राचार्य (सोपज्ञम्), श्री धर्मशक्ति प्रेमसुबोध ग्रथमाला, अहमदाबाद, १९७२

योगसार · श्रीमद योगीन्दुदेव - विरचित, डॉ आ ने उपाध्ये, प्राध्यापक, राजाराम कॉलेज, कोल्हापुर, १९६०

योगशास्त्रम् स्वोपज्ञविवरण सहितम हेमचद्राचार्य, श्री धर्म भक्ति प्रेम सुबोध ग्रथमाला, अहमदाबाद, १९७२

योगप्रदीप : न्यायविशारद न्यायतीर्थ उपाध्याय श्री मगलविजयजी महाराज, हेमचंद सवचद शाह, कलकत्ता, प्रथम, वि स १९९६

योग एक चिंतन उपाध्याय श्री फुलचद्र 'श्रमण', आ श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना

योगबिदु श्री हरिभद्रसूरि डॉ. कृष्णकुमार दीक्षित, लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामदिर अहमदाबाद, १९६८

योगदर्शन · डॉ सपूर्णानद, हिंदी समिति सूचना विभाग, लखनऊ (उ प्र) १९६५

योगदर्शन . प श्रीरामजी शर्मा, आचार्य, संस्कृति सस्थान, बरेली,(उ प्र)१९७८

योगप्रवेश . विश्वास मडलिक, योगप्रकाशनमाला, योग विद्या धाम, पुणे

योग - मनोविज्ञान . शाति आत्रेय, दि इटरनॅशनल स्टॅण्डर्ड पब्लिकेशन, वाराणसी-२, १९६५

योग रहस्य . श्री गुलाबराय महाराज, परमहस परिव्राजकाचार्य परमयोगी श्री जनार्दन स्वामी, अमरावती, १९७२

योगवाशिष्ठसार डॉ क्षितीशचंद्र चक्रवर्ती, हिंदी साहित्य कुटीर, वाराणसी, प्रथम, स. २०३४

योगवाशिष्ठ भाषा (हिंदी भाग-१, २) निरजनजी, तेजकुमार बुक डेपो, प्रायव्हेट लिमिटेड, लखनऊ, तेरहवा, १९७५

योगवाशिष्ठ - १ श्रीमद्वाल्मिकी महर्षि, निर्णयसागर, मुबई, प्रथम, १९११

योगवाशिष्ठ मॉडर्न थॉट, बी एल अत्रे, द इडियन बुक शॉप, बनारस, द्वितीय, ई स १९५४

योग-शतक हरिभद्र सूरि, विद्यासभा गुजरात, अहमदाबाद, प्रथम, १९५६

योग शतक हरिभद्र सूरि, मुनि पुण्यविजयजी, लालभाई दलपतभाई भारतीय सस्कृति विद्यामदिर, अहमदाबाद

योग -शतक तथा ब्रह्म सिद्धात समुच्चय श्री हरिभद्र सूरि, लालभाई दलपतभाई, भारतीय सस्कृति विद्यामदिर, अहमदाबाद-१, १९६५

योग शास्त्र (हिंदी) : श्री हेमचद्राचार्य, श्री निर्ग्रंथ साहित्य प्रकाशन संघ, दिल्ली-६, प्रथम, १९७९

योग शास्त्र (स्वोपज्ञभाष्य) · श्री हेमचद्राचार्य, श्री निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन सघ, दिल्ली-६

योग शास्त्र श्री हेमचद्राचार्य (स्वोपज्ञम्), श्री धर्मभक्ति-प्रेमसुबोध ग्रंथमाला, अहमदाबाद

योगसार · श्रीमद् योगीन्दुदेव, श्रीमद् राजचंद्र आश्रम, अगास, १९६०

योगसार - प्राभृत : अमितगति, जुगलकिशोर मुख्तार (सपादक), भारती ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, १९६८

योग स्वाध्याय . श्री किरणभाई (संपादक)

योगदृष्टि समुच्चय - योगविंशिका श्री हरिभद्रसूरि, लालभाई दलपतभाई भारतीय सस्कृति विद्यामदिर, अहमदावाद-९, १९७० ई स

योग दृष्टि समुच्चय (गुजराती) श्री हरिभद्राचार्य, विवेचक-डॉ भ म मेहता

योगा एड वेस्टर्न सायकॉलॉजी (अग्रेजी) जिरेल्डाइन कास्टर, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पटना-वाराणसी, तृतीय, १९६८

योगा सायकॉलॉजी (अग्रेजी), स्वामी अभेदानद, रामकृष्ण वेदात पाथ, कलकत्ता, प्रथम, १९६०

योगानुभव सुखसागर तथा योगविंशिका आ श्री ऋद्धिसागरसूरि, श्रीभद्र बुद्धिसागरसूरि जैन ज्ञानमदिर, विजापुर (गुजरात)

योगोपनिषद् प ए महादेव शास्त्री, द अडयार लायब्रेरी और रिसर्च सेंटर, अडियार (मद्रास) १९६८

युक्त्यनुशासन श्रीमत्स्वामी समन्तभद्राचार्यवर्य, वीर सेवा मदिर, सहारनपुर, १९५१

वाल्मीकि रामायण तिलक शिरोमणि भूण्णेति टीका त्रयम्, गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, सासुन बिल्डिग, एलफिस्टन सर्कल, कोट (मुबई)

विवेक चूड़ामणि आ शकर, गीता प्रेस, गोरखपुर, तेरहवा, स २०१८

विवेक आणि साधना प केदारनाथ, श्री केदारनाथजी स्मारक ट्रस्ट, विजयानगर पुणे-३०, तृतीय, १९७९

विश्वधर्म दर्शन श्री सावलिया विहारीलाल वर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९७५

विश्वतत्त्व प्रकाश भावसेन त्रैविद्य, जैन सस्कृति सरक्षक सघ, सोलापुर, प्रथम, १९६४

वैदिक साहित्य और सस्कृति वाचस्पति गैरोला, सवर्तिका प्रकाशन, इलाहाबाद, द्वितीय, १९७०

वैदिक धर्म क्या कहता है? (भाग-१, २, ३) श्री कृष्णदत्त भट्ट, सर्व सेवा सघ प्रकाशन, राजघाट वाराणसी, प्रथम, द्वितीय, १९६३, १९६५

वैदिक साहित्य और सस्कृति आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा संस्थान ३७ बी रविंद्रपुरी, दुर्गाकुड, वाराणसी-५, चतुर्थ-१९७३

वैराग्य शतक बाबू हरिदास वैद्य, हरिदास एड कपनी प्रा लिमिटेड, मथुरा (उ प्र), १९७७

रजनीश ध्यान योग · सकलन स्वामी जगदीश आचार्य मा योग भारती, ओम् रजनीश ध्यान केन्द्र प्रकाशन, ३१ भगवान भुवन, इजरायल मोहल्ला, मस्जिद बदर रोड, बम्बई, प्रथम, १९७७

राजयोग स्वामी विवेकानद, श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर, तृतीय

राजेन्द्र ज्योति अ भा श्री राजेंद्र जैन नवयुवक परिषद्, श्री मोहनखेड़ा तीर्थ, (राजगढ़) (धार) - १९७७

ललित विस्तरा . हरिभद्रसूरीश्वरजी, शा चतुरदास चिमनलाल, दिव्यदर्शन कार्यालय, अहमदाबाद, १९६३

ललित विस्तरा . (परमतेज भाग-१, २) श्री हरिभद्रसूरीश्वर, 'दिव्यदर्शन' साहित्य, अहमदाबाद, प्रथम, ई स १८५८

ललित विस्तर डॉ पी एल वैद्य, मिथिला विद्यापीठ प्रधानेन प्रकाशित, दरभगा, १९५८

लोकविभाग श्री सिंहसूरर्षि, गुलाबचद हिराचद दोशी, जैन सस्कृति सरक्षक सघ, सोलापुर (महा), प्रथम, १९३२

शब्दानुशासनम् - 'श्रेय पदस्थ सिद्ध्यर्थ येन कर्मादि गोचरा', आचार्य श्रीमलयगिरि, लालभाई दलपतभाई, भारतीय विद्यामदिर, अहमदाबाद, प्रथम, १९६७

शतकत्रयम् भर्तृहरि, लक्ष्मी वेंकटेश्वर मुद्रणालय, मुबई, सं १८९२

श्री शात सुधारस महोपध्याय श्री विनयविजयजी विरचित, महावीर जैन विद्यालय, मुबई ३८, चतुर्थ १९७६

शाति पथ प्रदर्शन क्षुल्लक जिनेंद्र वर्णी, विश्व जैन मिशन, पानीपत्त, द्वितीय, वि स २०२०

शुद्धोपयोग दयाग्रथ श्रेणिक सुबोध कृष्णगीत, श्री बुद्धिसागरसूरि, श्री अध्यात्म ज्ञान प्रसारक मडल, पादरा (गुजरात), ई स. १९२४

शास्त्रवार्ता - समुच्चय . श्रीमद् हरिभद्रसूरि, चौखम्बा प्राच्यविद्या ग्रथमाला, वाराणसी, प्रथम, १९७७

षड्दर्शन - रहस्य · पं रंगनाथ पाठक, बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद, पटना

षोडशकप्रकरणम् · (टी यशोभद्रसूरि) ले. हरिभद्रसूरि, चुनीलाल लक्ष्मीचद धारशीभाई, गोपीपुरा - सूरत, वि स १९९२

सत्यबोध कविवर्य पूज्यपाद श्री तिलोक ऋषिजी म , श्री जैन धर्म प्रसारक सस्था, सदर बाजार, नागपुर, द्वितीय, १९३३

समकालीन भारतीय दर्शन श्री लक्ष्मी सक्सेना, सभाजीत मिश्र, शिवानद शर्मा (सपादक), उत्तरप्रदेश हिंदी ग्रथ जैन अकादमी, प्रथम, लखनऊ, १९७४

समयसार श्रीमद् भगवत् कुदकुदाचार्य, श्रीमद् राजचद्र आश्रम, अगास, द्वितीय, १९७४

समाधितत्र और इष्टोपदेश श्री पूज्यपाद, वीर सेवा मदिर, दरियागज, दिल्ली, वि स २०११, ई स १९५४

समाधितत्र (गुजराती) श्री देवनदी पूज्यपादस्वामी, श्री वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर

सर्वांग योगसार स्वामी रामकृष्णानद चैतन्य, श्री नारायण महादेव भिडे, अमळनेर, गीताजयती शके १८८५

सर्वार्थसिद्धि श्रीमदाचार्य पूज्यपाद, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, दरियागज (दिल्ली), द्वितीय, १९७१

द सायन्स ऑफ मेडिटेशन रोहित मेहता, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली-वाराणसी-पटना, प्रथम, १९७८

सर्व दर्शन सग्रह माधवाचार्य (डॉ उमाशकर शर्मा भाष्यकार), चौखबा विद्याभवन, वाराणसी, द्वितीय, १९७८

सरल मनोविज्ञान (हिंदी) नदकिशोर अँड सन्स, वाराणसी, ग्यारहवा, १९६४

सामान्य मनोविज्ञान डॉ एस एस माथुर, विनोद पुस्तक मदिर, आगरा, द्वितीय, १९६६

सामायिक सूत्र उपाध्याय अमरमुनि, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, तृतीय, १९६९

सलेखाना इज नॉट सुइसाइड नगीन जे शहा, द्वितीय, १९७६

सार्थ ज्ञानेश्वरी शकर वामन दाडेकर, स्वानद प्रकाशन, पुणे, षष्टम, १९७६

सिख धर्म क्या कहता है? यहूदी धर्म क्या कहता है? इस्लाम धर्म क्या कहता है? ईसाई धर्म क्या कहता है? श्रीकृष्णदत्त भट्ट, सर्व सेवा सघ प्रकाशन वाराणसी राजघाट, वाराणसी, प्रथम, द्वितीय, १९६३, १९६५

सिरि पासनाह चरियं श्री देवभद्रसूरि, अहमदाबाद

सिद्ध सिद्धात पद्धति महादेव दामोदर भट, सखाराम रघुनाथ आघारकर, केशव वामन जोशी, पुणे (महा)

सिद्धातसार सग्रह नरेंद्र सेनाचार्य, लालचद हिराचंद दोशी जैन सस्कृति सरक्षक सघ, सोलापुर (महा) द्वितीय, १९७२

सुभाषित रत्न सदोह आ अमितगति, लालचद हीराचद जैन सस्कृति सरक्षक सघ, १९७७

सूरिमित्रकल्प समुच्चय अनेक पूर्वाचार्य प्रणीत (मुनि जम्बू विजय), जैन साहित्य विकास मडलम्, मुबई ४०००५६, प्रथम, १९७७

स्थितप्रज्ञ दर्शन · आ विनोबा, सत्साहित्य प्रकाशन, चौथी, नई दिल्ली, ई स. १९५६

स्वयभू स्तोत्र : स्वामी समंतभद्र, वीर-सेवा-मदिर, सरसावा (सहारनपुर), प्रथम, १९५१

स्याद्वादमञ्जरी : श्री हेमचद्र, शेठ मणीलाल रेवाशकर जगजीवन जौहरी, बम्बई, ई स १९३५

संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ : स्व चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा, रामनारायण लाल बेबी प्रसाद, इलाहाबाद, तृतीय, १९६७

सस्कृत साहित्य का इतिहास (खं -१) : आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा सस्थान, १९७३

हठयोग प्रदीपिका · डॉ चमनलाल गौतम, सस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब, वेद नगर, बरेली, द्वितीय, १९७८

हरिवंश पुराण · श्री मज्जिनसेनाचार्य (हिंदी अनु), भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, द्वितीय, १९७८

हरिभद्र योगभारती : श्री हरिभद्रसूरि, दिव्यदर्शन ट्रस्ट, गुलालवाडी, मुंवई, प्रथम, वि सं २०३६

हितोपदेश श्री विष्णु शर्मा, गङ्गाविष्णु श्रीकृष्णदास लक्ष्मीवेंकटेश्वर, कल्याण-मुबई, १९०५

हिंदी विश्वकोश · नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

हिंदू सायकॉलॉजी (अग्रेजी) स्वामी अखिलानंद, रूटलेज एंड केगन, पॉल लिमिटेड, लंदन, तृतीय, १९६०

ज्ञानयोग : विवेकानंद, श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर, तृतीय, ई. स. १९७३

ज्ञानसार : श्रीमद् यशोविजय उपाध्याय, भोगीलाल बुलाखीदास दलाल, मंत्री प्रकाशन विभाग, अहमदाबाद, द्वितीय, वि. सं २००७

ज्ञानसार (गुजराती) : उपा. यशोविजयजी (गुज. गंभीर विजयजी), शाह हरीचद छगनलाल, भावनगर, द्वितीय, १९०९

ज्ञानार्णव : श्री शुभचद्राचार्य, श्रीमद् राजचंद्र आश्रम, अगास, चतुर्थ, इ. स. १९७५, वि. सं. २०३१

ज्ञानेश्वरी : वि. ना. जोशी, राजवैद्य-यशवंत चिंतामण पुणे, कोल्हापुर, १९४८

श्रमण भगवान महावीर : गणि कल्याण विजयजी, क. वि. शाखसंग्रह समिति, जालोर (मारवाड़), वि सं. १९९८

श्रमणसूत्र · उपाध्याय अमरमुनि, सन्मति ज्ञानपीठ, एज्युकेशन प्रेस, आगरा, द्वितीय, १९६६

श्रावक धर्म डॉ नरेंद्र भानावत, सम्यक्ज्ञान प्रचारक मडल जयपुर, १९७०

श्रावकाचार सग्रह आचार्य शातिसागर, जिनवाणी जीर्णोद्धारक सस्था, फलटण, प्रथम, १९७६

श्रावकाचार श्रीवसुनंद्याचार्य, गाधी देवचद चतुरचद, कोल्हापुर, (जैनेंद्र छापखाना), १९०७

श्रावकाचार सग्रह -१ प पू चारित्र चक्रवर्ती आ १०८ शातिसागर दिगबर जैन जिनवाणी जीर्णोद्धारक सस्था, फलटण (महा) प्रथम, १९७६

श्रावकाचार सग्रह (भाग-२) हिरालाल सिद्धातालकार न्यायतीर्थ, लालचद हिराचद, जैन सस्कृति सरक्षक सघ, सोलापुर (महा), प्रथम, १९५६

श्रावकाचार सग्रह (भाग-३) स अनु प हिरालाल शास्त्री, सेठ लालचंद हिराचद, अध्यक्ष जैन सस्कृति सरक्षक सघ, सोलापुर, प्रथम, १९७७

श्रावकाचार सग्रह - १, २, ३, ५ लालचद हिराचद, जैन सस्कृति सरक्षक सघ, सोलापुर (महा), प्रथम, १९७४

श्री प्रतिक्रमण सूत्र (भाग-१) भद्रकरविजयजी धुरधरविजयजी (स.), जैन साहित्य विकास मडल, मुबई (विलेपारले), वि स २००७

श्री पासनाह चरिय भद्रसूरि, लीच वास्तव्य नालचद्र ठाकरसी, अहमदाबाद, १९४५

तीर्थंकर मासिक स डॉ नेमीचद जैन, हीरा भैया प्रकाशन, ६५ पत्रकार कॉलोनी, कनाडिया मार्ग, इंदौर (म प्र), अप्रैल १९८३, वर्ष १२, अक १२

जिनवाणी ध्यान विशेषाक स डॉ नरेंद्र भानावत, सम्यग्ज्ञान प्रचारक मंडल, जयपुर,

जिनवाणी (ध्यान परिशिष्टाक) सम्पादक-डॉ नरेंद्र भानावत, सम्यग्ज्ञान प्रचारक मडल, जयपुर, नवम्बर १९७२, वर्ष २९, अक ११.